सरस्वती-वरदपुत्र पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ

• • • •

आवरण परिचय

आवरण-पर सोरईके १८२ वर्ष प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरका चित्र है, जो कुछ वर्षो वाद मूर्ति-रहित किसी कारणवश हो गया तथा उसमें प्राईमरी स्कूल लगने लगा और जिसमें व्याकरणाचार्यजी ने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की।

प्रधान सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

सम्पादक

पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल • पं० बलभद्र जैन, न्यायतीर्थ
डॉ० राजाराम जैन • श्री नीरज जैन
डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु • डॉ० सुदर्शनलाल जैन
डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी • डॉ० शीतलचन्द्र जैन

प्रबन्ध-सम्पादक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

प्रकाशक

सरस्वती-वरदपुत्र : पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य
अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समिति, वाराणसी-१०

प्रकाशक

● सरस्वती-वरदपुत्र पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ
प्रकाशन समिति, वाराणसी–१०

● वीर नि० सं० २५१५ सन् १९८९

● मूल्य १५१) रुपया

मिलने का पता

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
बीना इटावा (सागर) म० प्र०

● वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
बी० ३२/१३ बी० नरिया काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

मुद्रक

● बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–२२१०१०

पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

प्रकाशकीय

जैन समाजके वरेण्य विद्वान्, साहित्यकार, समाजसेवी और राष्ट्रसेवी ८५ वर्षीय 'सरस्वती वरदपुत्र' सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, साहित्य-जैनदर्शन शास्त्री और न्यायतीर्थका 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' द्वारा हमने अभी तक अभिनन्दन नही किया, जबकि उन जैसे प्राय सभी विद्वानोको अभिनन्दन-ग्रथ भेंट कर समाज सम्मानित कर चुका है, यह भूल कुछ दिनोसे कोचती रही।

इसके लिए हमने परोक्ष पत्र व्यवहार किया और प्रत्यक्षमें अनेक प्रतिष्ठित महानुभावोकी बैठक बुलाकर परामर्श किया। सभीने एक स्वरसे श्रद्धेय पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रथ भेंट करनेकी अपनी सम्मति प्रकट की। उसके लिए एक समिति बनानेका भी निर्णय ले लिया गया।

सौभाग्यसे १७ फरवरी १९८९ को श्री पावन तीर्थक्षेत्र कुण्डलगिरि (दमोह) मे अखिल भारत-वर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्का नैमित्तिक अधिवेशन श्रीमान् पं० भँवरलालजी जैन न्यायतीर्थ, जयपुरकी अध्यक्षतामे सम्पन्न हुआ। इसमें श्री बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसी भी सम्मिलित हुए थे। वहाँ इन्होने कई विद्वानोसे श्रद्धेय पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करनेकी चर्चा की। इन सभी विद्वानोने उसका समर्थन एवं अनुमोदन सहर्ष किया।

इसके उपरान्त हमारा काम था एक सुयोग्य विद्वानोके सम्पादक-मण्डलका चयन करना। हर्ष है कि जिन विद्वानोका सम्पादक-मण्डलमें चयन किया गया था उन सभीकी हमे स्वीकृति प्राप्त हो गयी और इसके लिए उन्होने अपना अहोभाग्य समझा।

सम्पादक-मण्डलकी प्रथम बैठकमे व्यवस्थित कमेटीका निर्माण किया गया। और उसका नाम सर्व-सम्मतिसे **'सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन-समिति'** रखा गया। इसका कार्यालय–महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–१० निश्चित किया गया।

सम्पादक-मण्डलने भी अपनी कई बैठकें की और जिनमे उसने अभिनन्दन-ग्रंथमें देय सामग्रीका सम्पादन किया। श्रद्धेय पण्डितजीके ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ आदि में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण एव चिन्तनयुक्त लेखो व निबन्धोको इसमे दिया गया है।

इस कार्यमे सम्पादकोके सिवाय सदस्यो, सहयोग-राशि प्रदाताओ और शुभकामना / सस्मरण / समीक्षाप्रेषकोंके हम अत्यन्त आभारी है।

महावीर प्रेसने ग्रथको अल्प समय (एक माह) में छापकर हमे दे दिया उसके लिए उसे हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

विनीत

सांसद डालचन्द्र जैन
अध्यक्ष

बाबूलाल जैन फागुल्ल
मंत्री तथा प्रबन्ध सम्पादक

सरस्वती वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन–समिति

अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

परम संरक्षक

माननीय श्री मोतीलालजी वोरा, मुख्य मंत्री म०प्र०

संरक्षक

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री
स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोला
समाजरत्न साहु श्रेयास प्रसाद जैन, बम्बई
श्री निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ
श्री वीरेन्द्र हेगडे, धर्मस्थल
श्री विजयकुमार मलैया, दमोह
साहु अशोककुमार जैन, दिल्ली
श्री त्रिलोकचन्द्र कोठारी, कोटा
श्री अमरचन्द्र पहाडिया, जयपुर

अध्यक्ष

श्री सेठ डालचन्द्र जैन (सासद) सागर

उपाध्यक्ष

स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी
श्रीमती वृजमनी देवी, गोरखपुर
(धर्मपत्नी राय देवेन्द्रप्रसाद)
रायबहादुर देवकुमार सिंह, इन्दौर
श्री महाराजा बहादुर सिंह, इन्दौर
श्री रतनलाल गंगवाल, कलकत्ता
श्री जयकुमार इटोरया, दमोह
स० सिं० सुमेरचन्द्र, जबलपुर
सिं० आनन्द कुमार, बीना
प्रो० फूलचन्द्र सेठी, खुरई
श्री देवेन्द्रकुमार मोटरवाले, सागर
लाला शिखरचन्द्र, दिल्ली
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, जयपुर
प० बालचन्द्र काव्यतीर्थ, नवापराराजिम
श्री खेमचन्द्र मोतीलाल बीडी वाले, सागर
श्री महेन्द्रकुमार मलैया, सागर
लाला प्रेमचन्द्र जैन, दिल्ली
श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ
सेठ बाबूलाल जैन सोरई वाले, सागर
मनोरकुमार बैटरी वाले, सागर
श्रीमन्त सेठ राजेन्द्रकुमार जैन, विदिशा
श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ

कोषाध्यक्ष

सिंघई जीवनकुमार जैन, सागर

मंत्री

बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

परामर्शदाता मण्डल

पं० फूलचन्द्र शास्त्री, हस्तिनापुर
प० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
ब्र० माणिकचन्द्र चवरे, कारंजा
प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
श्री यशपाल जैन, दिल्ली
श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली
प० भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर
डॉ० भागीरथ त्रिपाठी वागीश शास्त्री, वाराणसी
डॉ० नथमल टाटिया, लाडनूं
पं० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली
प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद
डॉ० हरीन्द्रभूषण, उज्जैन
प्रो० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी
पं० हीरालालजी कौशल, दिल्ली
पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, जयपुर
डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर
प० श्यामसुन्दर शास्त्री, फिरोजाबाद
डॉ० दामोदर शास्त्री, दिल्ली
श्री बाबूलाल पटोदी, इन्दौर
श्री दलसुख भाई मालवणिया, अहमदाबाद
डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी
श्री नारायणशकर त्रिवेदी, एडवोकेट, सागर
श्री विमलराम जैन, दिल्ली
डॉ० प्रेम सुमन, उदयपुर
श्री गुलाबचन्द्र 'पुष्प' टीकमगढ
डॉ० रतनचन्द्र जैन, भोपाल
श्री सुरेशचन्द्र जैन, भोपाल
डॉ० हीरालाल जैन, रीवा
डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई
श्री ताराचन्द्र प्रेमी, फिरोजपुरझिरका
डॉ० आशा मलैया, सागर
पं० जवाहरलाल, भिण्डर
डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्रीमहावीरजी
पं० सत्यन्धरकुमार सेठी, उज्जैन
डॉ० श्रेयास कुमार जैन, बडौत
डॉ० कुसुम पटोरिया, नागपुर
श्रीमती विमला जैन, भोपाल
श्रीमती कस्तूरी बाई बरुकुल, वाराणसी
(मानेश्वरी जयप्रकाश जैन)

प्रकाशन समितिके पदाधिकारी
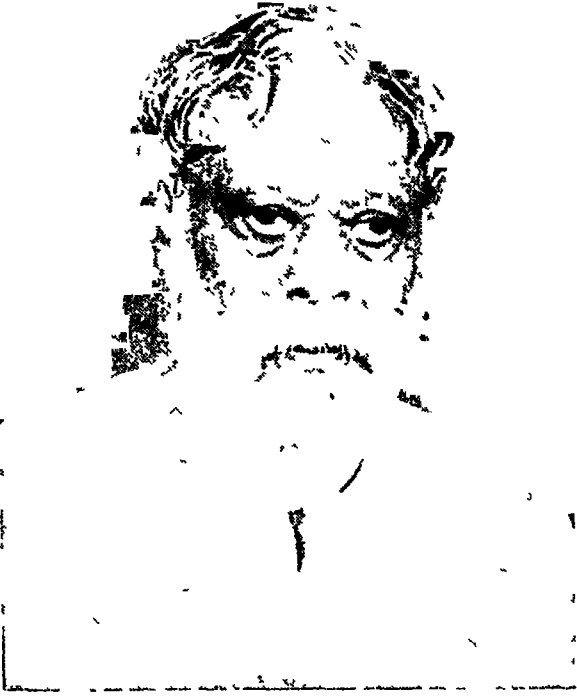
सेठ डालचन्द्रजी जैन (सासद)
अध्यक्ष

सेठ बाबूलालजी धामौनीवाले, सागर
स्वागत समितिके अध्यक्ष
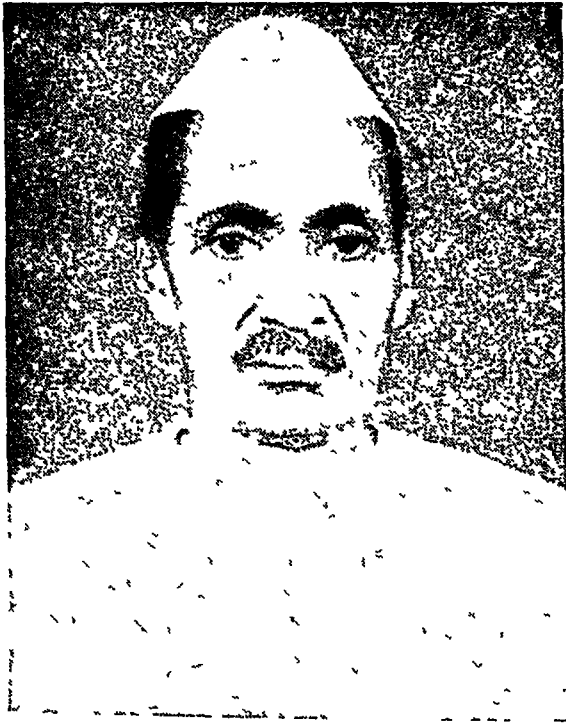
सिंघई जीवनकुमारजी जैन, सागर
कोषाध्यक्ष
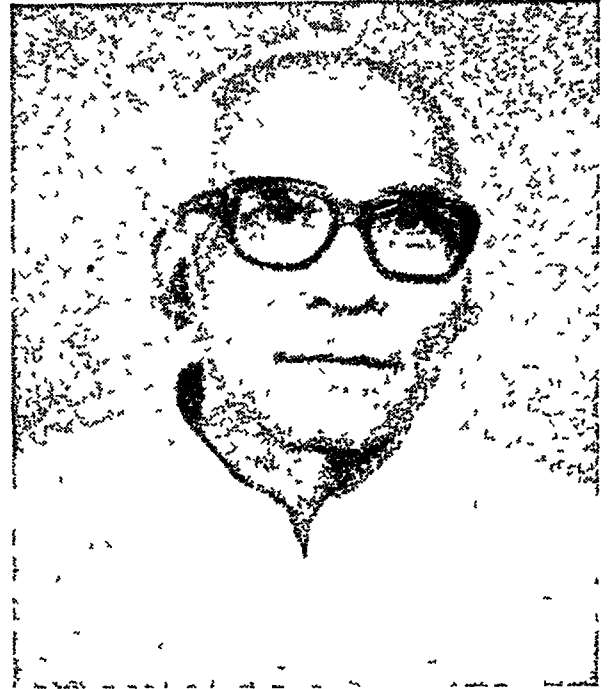
श्री बाबूलाल जैन, फागुल्ल, वाराणसी
प्रकाशन मंत्री

आत्म-कथ्य

सम्माननीय पं० वशीधर जी व्याकरणाचार्य समाजके एक ऐसे मनीषी विद्वान् हैं, जिनकी प्रवृत्तियाँ चतुर्मुखी हैं। वे स्वतन्त्रता-सेनानी हैं, जो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी द्वारा उद्घोषित ९ अगस्त, १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलनमें सक्रिय लिप्त रहे और ९, १० माह सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोंमे रहे।

समाज सेवामें भी व्याकरणाचार्य जी पीछे नही रहे। दस्सा-पूजाधिकार जैसे आन्दोलनोमे आगे होकर कार्य किया। स्थानीय संस्था, विद्वत्परिषद और श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला आदि संस्थाओंके माध्यमसे मंत्री एव अध्यक्ष पद पर रहकर दीर्घकाल तक आपने समाजकी सेवा करके सेवाका एक मानदण्ड स्थापित किया है।

सबसे बडी उनकी सेवा है साहित्य-साधना। उन्होने जब अनुभव किया कि आगम-वाक्योंका अन्यथा अर्थ किया जा रहा है और उन्हे तोडा-मरोडा जा रहा है तब उन्होंने विद्वद्गोष्ठीका आह्वान किया तथा युक्ति और आगम पुरस्सर चर्चा की। इतना ही नही, जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा, जैनदर्शनमे कार्यकारण-भाव और कारक व्यवस्था, जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार, खानिया (जयपुर) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा प्रभृति ग्रन्थ लिखकर आगमपक्षको पुष्ट एव स्पष्ट किया। आज भी वे उसी साहित्य-साधनामें निरंतर संलग्न है। यद्यपि वे आरम्भसे स्वतन्त्र वस्त्रव्यवसायी हैं। किन्तु अब उसे पुत्रोको सौंपकर एकमात्र जिन-वाणीकी सेवा-साधनामें लगे रहते है।

१७ फरवरी १९८९ को श्री दि० जैन क्षेत्र कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर, दमोह) मे भा० दि० जैन विद्वत्परिषदका नैमित्तिक अधिवेशन विद्वद्वर प० भँवरलाल जी न्यायतीर्थ, जयपुरकी अध्यक्षतामे आयोजित था। अधिवेशनकी समाप्ति पर कुछ विद्वानोमे चर्चा हो रही थी कि माननीय प० वंशीधरजी व्याकरणा-चार्यको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाना चाहिए। उनकी विद्वत्ता और सेवायें अभिनन्दित विद्वानोमे कम नही है। वे विद्वान् थे—श्री बाबूलालजी फागुल्ल शास्त्री, वाराणसी, डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुर और डॉ० भागचन्द्र जी 'भागेन्दु' दमोह। मैं भी वहाँ आ गया था। फागुल्लजी तथा कासलीवालजी तो बोले कि "हम पूरा सहयोग देगे।" मैने कहा कि "बहुत अच्छा है, अवश्य होना चाहिए"। यह चर्चा आगे बढी और फागुल्लजी ने एक रूपरेखा भी बनाकर मेरे पास भेज दी। मैं उस समय श्रीमहावीरजीमे था। वहाँ दो बैठकें बुलाई। १७ मई १९८९ को हुई बैठकमे निम्न निर्णय लिए गये —"सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति' का गठन तथा समितिमे निम्न पद रखे गये। १ — १—परम संरक्षक, २—संरक्षक, ३—अध्यक्ष, ४—उपाध्यक्ष, ५—महामंत्री और ६—सदस्य। २ —सम्पादक मण्डलका गठन, जिसमे १—डॉ० प० पन्नालाल साहित्याचार्य, २—डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवाल, ३—पं० बलभद्र न्यायतीर्थ, दिल्ली, ४—डॉ० भागचन्द्र 'भागेन्दु', दमोह, ५—श्री नीरज जैन, सतना, ६—डॉ० राजाराम जैन, आरा, ७—डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी, ८—डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी, ९—डॉ० शीतलचन्द्र जैन, जयपुर और १०—मैं (प्रधान सम्पादक)। जब अभिनन्दन-ग्रन्थके नामकी चर्चा आयी तो पर्याप्त विचार-विमर्शके पश्चात् उसका नाम "सरस्वतीके वरदपुत्र पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ" रखनेका निर्णय लिया। प्रस्तुत ग्रन्थपर एक फोल्डर निकालनेका भी अधिकार प्रधान सम्पादक जीको दिया गया। ३ —ग्रन्थमे सामान्यतः अध्यायोंके विषय-विभाजनका निर्णय भी लिया गया। ४.— यह भी निर्णय लिया गया कि एक ग्रन्थ-समर्पण समितिका गठन किया जायें तथा सदस्यता शुल्क १००/०० रुपये रखा जाय और ग्रन्थमें उनके नाम दिये जायें।

श्रीमहावीरजीसे जब मैं बीना चला आया तो ग्रन्थकी सामग्री तथा अर्थसंग्रहपर विचार-विमर्श करनेके लिए सम्पादक-मण्डलकी दो बैठकें बीनामे बुलाईं। अन्तिम चौथी बैठककी १५ उप-बैठकें हुई। यह अन्तिम बैठक ११ अगस्त से १५ अगस्त तक पाँच दिन चली और पर्याप्त ऊहापोह हुआ। ग्रन्थमें देय सामग्री पर १५ वाचनाये हुई। इनमे कई वाचनायें दिनमे तीन बार और रात्रिमे १२ बजे तक मान्य सम्पादकोने की। सम्पादकोको व्याकरणाचार्य जीके लिए अभिनन्दन-ग्रन्थके हेतु भी तैयार करना पडा, क्योंकि वे नही चाहते थे कि उन्हे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाये। पर सम्पादक मण्डल उसके औचित्यको जानता था। समाजके सैकडो महानुभावोने तो हर्ष भी प्रकट किया। आदरणीय राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, एडवोकेट, गोरखपुरने तो एक पत्रमे लिखा है कि "आपने समाजकी भूलको ठीक किया है।" इस प्रकार इस ग्रथको सम्पादक-मण्डलने सजगताके साथ तैयार किया है।

हमे प्रसन्नता है कि हमारे स्नेही सभी सम्पादक-मित्रोने इस ग्रन्थको इस सुन्दर रूपमे प्रस्तुत करनेमे जो अपना बहुमूल्य समय, शक्ति और प्रतिभाका सहयोग किया है उसके लिए हम उनके हृदयसे आभारी हैं। सुहृद्वर डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवालने तो अपना विद्वत्तापूर्ण महत्त्वका सम्पादकीय लिखकर हमे अधिक आभारी बनाया है।

हमारे आदरणीय श्री डालचन्द्र जी जैन, ससद सदस्यने समितिके अध्यक्ष पदको स्वीकार कर जो बल प्रदान किया है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। जब हम २७ सितम्बर, '८९ को सिंघई जीवनकुमार जैन, कोषाध्यक्ष एव श्री विनीतकुमार कोठियाके साथ उनके आवासपर सागरमे उनसे मिले तो वडे गद्‌गद्‌भावसे भेंट की और एक घण्टे तक अभिनन्दन-ग्रन्थकी चर्चा की। उसकी प्रगतिसे उन्हें वडा सन्तोष हुआ। हमे खुशी है कि आपका आरम्भसे अन्त तक सहयोग एव मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

प्रिय बाबूलाल जी फागुल्लको हम कितना धन्यवाद दें। यह अभिनन्दन-ग्रथ उन्हींके विचारो और प्रयत्नोका सुफल है। यदि हम इसे एक आश्चर्य माने तो अत्युक्ति न होगी, जो कुछ माहो (लगभग छह-सात माह) में तैयार हो गया। लोग वर्षों पूर्वसे अभिनन्दन ग्रन्थोका विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओमे देते और पत्रव्यवहार करते हैं। इतना ही नही, आयोजनकी तिथि भी प्रकाशित करते हैं। पर अभिनन्दन-ग्रथ तैयार नही हो पाते। वास्तवमे अभिनन्दन-ग्रन्थोका प्रकाशन ही दुष्कर है। वह ऐसा कार्य है, जो परस्पराश्रित है। लेखक स्वय समयपर लेख भेजें और सम्पादक उन्हें सम्पादित कर समयपर उन्हे प्रेसमें भेज दे। इतना होनेपर भी प्रेस और प्रूफरीडर विलम्ब कर देते है। प्रेस समयपर छापकर नही देता। वह दूसरे ग्रन्थोंके प्रकाशनमे संलग्न रहता है। किन्तु हमे प्रसन्नता है कि ये सब प्रत्यवाय इस अभिनन्दन-ग्रन्थमे नही आए। इस सबका श्रेय श्री बाबूलाल जी फागुल्ल, सचालक, महावीर प्रेस, वाराणसीको है, जिन्होने यह सब आदि-से-अन्त तक किया। उन्होने पत्रव्यवहारसे लेकर छपाई पर्यन्त सारा कार्य तन्मयता और आत्मीयतासे किया। इसका सूत्र-पात भी उन्होने किया। फागुल्ल जीने अपने दीर्घकालीन अभिनन्दन-ग्रन्थोके प्रकाशनानुभवको भी इसमे उडेल दिया है। मेरा उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

इस अवसरपर मैं श्रद्धेया काकीजी श्रीमती कस्तूरीबाई (धर्मपत्नी, स्व० मौजीलाल जी जैन) और उनके परिवार (प्रिय भाई जयप्रकाश, सौ० शशि बहू, चि० राजू और आयु० अन्नो, वाराणसी) को नही भूल सकता, जिनके पास एक-सवा माह घुलमिल कर रहा और सभी सुविधाये मुझे प्रदान की। मैं उनका अनुगृहीत हूँ। मुझे सदैव उनका स्नेह मिला और मिलता रहता है।

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
प्रधान सम्पादक

सागर में १९-३-९० को श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर (महिलाश्रम) के कलशारोहण के अवसर पर सरस्वती वरदपुत्र पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ समारोह के अध्यक्ष श्री रतनलालजी गंगवाल

संदेश

पं० वंशीधरजी जैनदर्शनके स्वतन्त्र चेता व गम्भीर विचारक, अपनी निर्भीक लेखनीसे एक लम्बे समय तक अपनी चेतनाका प्रवाह करते रहे तथा आज भी ८४ वर्षकी आयुमें निरन्तर सक्रिय हैं। खानियाँ तत्त्वचर्चामें आपके योगदानको भुलाया नहीं जा सकता। आज जो निश्चय और व्यवहार का झगड़ा खड़ा किया जा रहा है उसका समाधान बहुत पहले ही पण्डितजीने अपने ग्रन्थ "जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार" में कर दिया था। ऐसे सरस्वती पुत्रको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंटकर समाज स्वयंको गौरवान्वित कर रहा है। मैं इस अवसरपर अपनी शुभ कामनाएँ अर्पित करता हूँ।

श्री रतनलाल गंगवाल, नई दिल्ली
(अध्यक्ष दिगम्बर जैन महासमिति

सम्पादकीय

"विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" इस उक्तिके अनुसार विद्वानोका समादर सदासे ही होता आया है। विद्वान् किसी एक देश, किसी एक धर्म, किसी एक जाति अथवा किसी एक सम्प्रदायका नही होता, क्योकि उसके प्रवचनो, लेखो, पुस्तको एवं वाणीसे सभी लाभान्वित होते है, इसलिये वह जहाँ भी चला जाता है वही उसका सम्मान होने लगता है।

हमारे आचार्य, साधु एवं पंडित अपनी जातिसे नही, बल्कि अपने गुणोंसे समादृत होते हैं। उनकी न कोई जाति पूछता है और न प्रदेशका नाम जानता है। उनकी ज्ञान-साधना ही उनका परिचय है, उनकी लेखनी ही उनके गुणोको उजागर करने वाली है और उनकी वाणी ही उनके जीवनपर प्रकाश डालने वाली होती है। जैसे हीरेको कितना ही छुपाया जावे वह कभी भी नही छिपता है उसी प्रकार साधु एवं विद्वान् भी यदि अपने आपको छिपाना चाहे तो गुणीजन उनको स्वयं खोज लेते है और फिर उनकी प्रशस्तियाँ पढ़ने लगते है।

ऐसे ही एक विद्वान् है पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य। वे पण्डित है, ज्ञानके अगाध भण्डार है, सशक्त लेखनीके धनी है, वाणीमें अपने विचारोको सम्यक् रूपसे प्रकट करनेकी क्षमता है, समाज एवं देशके लिये उन्होंने जेल यातनाओंको सहा, समाजमें आगम-परम्पराको सशक्त बनानेके लिये सदैव आगे रहे तथा अपने ८४ वसन्तोमेंसे ६० वसन्त समाजसेवा एवं ज्ञानाराधनामे व्यतीत किये। लेकिन फिर भी उनमें कीर्ति, यश एवं अभिनन्दनकी कभी चाह पैदा नही हुई और स्वान्तः सुखाय अपनी सम्यक् प्रवृत्तियोमें लगे रहे।

ज्ञानाराधनामें लगे हुए विद्वानों, सन्तोंको खोज निकालना भी सरल कार्य नही है, क्योकि वर्तमान युगमें मानव अपनी यशःकामनाके पीछे इतना पडा रहता है कि जीवनमे एक पुस्तक लिखनेपर वह अपने आपको सबसे बडा लेखक समझने लगता है तथा चाहता है कि समाज एवं देश उनकी प्रशंसाओंका पुल बांध दे तथा उनका एक कार्य ही जीवन भरकी कमाईका साधन बन जावे। लेकिन पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्यका स्वभाव एवं प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत है। वे यशसे दूर भागते रहे और अपने अभिनन्दनसे हमेशा घबराते रहे। यदि डॉ० कोठिया साहब उनसे बार-बार अनुरोध नही करते, हम उन्हे अपना अभिनन्दनीय मानकर अपने बहुमूल्य कृतित्वसे समाजको लाभान्वित करनेका अनुरोध नही करते तो सम्भवतः वे अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशनकी स्वीकृति भी नही देते। तब हमने उनसे कहा कि अभिनन्दन-ग्रन्थमें आपकी प्रशंसा नहीं-के-बराबर होगी, अपितु आपकी लेखनीके चमत्कारका दिग्दर्शन मात्र होगा। आपके द्वारा जो कुछ लेख लिखे जा चुके हैं, लेकिन जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें छपनेके पश्चात भी तिरोहित हो गये हैं। [illegible] जिनसे अभिनन्दनसे अनजाना बन गया है और जिनके प्रकाशनकी वर्तमान वातावरणमें बहुत आवश्यकता है, उन्हे [illegible] प्रकाशनसे समाजको परिचय मिल सकेगा। इसलिये एक बार पुनः उनका स्वयं लेखनीसे समीक्षात्मक विवरण करनेकी आवश्यकता है। यह मात्र आपका अभिनन्दन नहीं है लेकिन इन सिद्धान्तो एवं मान्यताओंको प्रकाशमें लाना है जो समयके प्रवाहमें विलीन हो रहे हैं। हमें बडी प्रसन्नता है कि पण्डितजी सा० ने हमारे इस अनुरोधको स्वीकार कर लिया और अपना साहित्य एवं पुराने लेखोंकी कतरनोंको जो उनके पास थी, उन्हे डॉ० कोठियाजीको हस्तगत कर दी।

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थका [illegible] है। पण्डितजी [illegible]

पुत्र हैं, जिनकी लेखनी एवं वाणी दोनो मे जिनवाणीके अमर सन्देश भरे पडे हैं। जो आचार्य समन्तभद्रके शब्दों में ·

"अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्य विना च विपरीतात्" के रूपमें लिखे गये हैं। तथा जिनका जितना अधिक अध्ययन होगा उतना ही वे सरस बनकर समाजके खूनमे समा जायेंगे।

इन्ही तथ्योको ध्यानमे रखकर अभिनन्दन ग्रन्थको ६ खण्डोमे विभाजित किया है। उन खण्डोमेंसे केवल दो खण्डोमें पण्डितजीके जीवन एव व्यक्तित्वपर देश एव समाजके माने हुये सेवाभावी प्रतिष्ठित श्रेष्ठियो एव विद्वानोके सस्मरण, लेख एवं शुभकामनाएँ दी गई है। सीमित पृष्ठोके कारण बहुतसे महानुभाव ऐसे रह गये जो पण्डितजीके गुणो, उनकी लेखनी एव वाणीसे परिचित हैं लेकिन हम उनसे सन्देश, शुभ कामना अथवा सस्मरण नही माग सके। लेकिन जीवन-परिचय, भेटवार्ता एव उनके व्यक्तिपरक लेखोसे हम उनके विशाल व्यक्तित्वका अनुमान लगा सकते है। उनकी शैशवास्था, बाल्यावस्था अभावो एव निर्धनतासे जकडी हुई थी। ज्ञानार्जन जहाँ दिवास्वप्नके समान था। माता-पिताकी छत्रछाया बचपनमें नही रही थी। ऐसी स्थितिमें पण्डितजीका व्याकरणाचार्य तक शिक्षा प्राप्त करना कितना कष्टप्रद एव दुरूह रहा होगा यह तो भुक्तभोगी ही जान सकता है।

दूसरे खण्डमे पण्डितजीकी कृतियोकी विस्तृत समीक्षा दी गयी है। सभी समीक्षाएँ अधिकारी विद्वानो द्वारा की गयी है और पण्डितजीके मौलिक लेखन पर प्रकाश डालनेवाली है। समीक्षा करनेवाले विद्वानोके नाम निम्न प्रकार हैं।

जैन तत्त्व मीमासाकी मीमासा	प० बलभद्र न्यायतीर्थ, देहली
भाग्य एव पुरुषार्थ · एक नया अनुचिन्तन	डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर
जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा	डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी
जैनदर्शनमे कार्यकारण भाव एव कारक व्यवस्था	श्री नीरज जैन, सतना प० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर
जैनदर्शनमे निश्चय और व्यवहार	स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति जी डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
पर्यायें क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी	डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी प० विजयकुमार शास्त्री, श्रीमहावीरजी

यद्यपि प० वशीधरजी व्याकरणाचार्यने पहले ही अपनो रचनाओमें उन ग्रन्थोकी समीक्षा लिखी थी जो आगमसम्मत विचारोसे कुछ हटकर लिखे गये थे तथा जिनके कारण समाजके वातावरणमे विरोधके स्वर सुनाई देने लगे थे। सर्वप्रथम पण्डितजीने ही समीक्षात्मक पुस्तके लिखनेका श्रेय प्राप्त किया। ऐसी पुस्तकोकी समीक्षा करनी यद्यपि दुरूह कार्य है फिर भी समीक्षकोने जिस रूपमें इन पुस्तकोकी समीक्षाएँ लिखी उनसे पुस्तकोका मूल्याकन करनेमे बडा सहयोग मिलेगा और इन पुस्तकोका वास्तविक उद्देश्य आम जनताके सामने आ सकेगा।

अभिनन्दन ग्रन्थके शेष चार खण्डोमें पण्डितजीके चयनित निबन्धोको प्रस्तुत किया गया है। ये चारो खण्ड ही इस ग्रन्थकी आत्मा हैं जो धर्म और सिद्धान्त, दर्शन और न्याय, साहित्य और इतिहास, सस्कृति और समाज जैसे विभिन्न शीर्षकोमें विभाजित है। इन खण्डोमे दिये गये निबन्धोसे पण्डितजीके बहुमुखी कर्तृत्व क्षमताका परिचय मिलता है। वे केवल समीक्षात्मक पुस्तके लिखनेवाले विद्वान् ही नही, अपितु जैनधर्मके विविध पक्षोको अपनी सशक्त लेखनी द्वारा उजागर करनेवाले है।
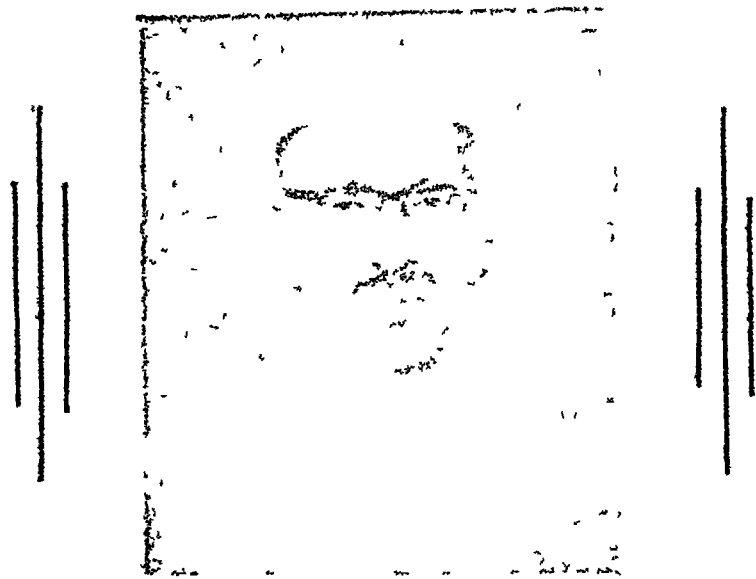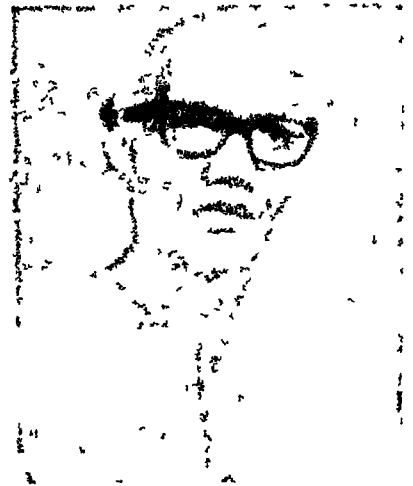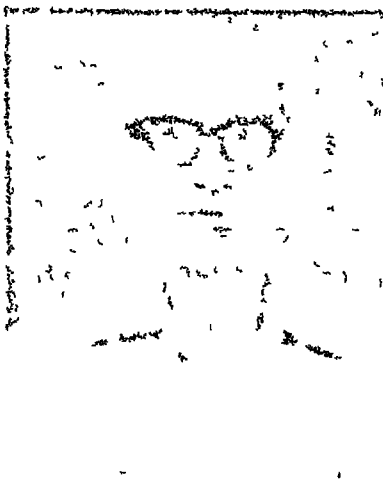
श्री नीरज जैन

डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी
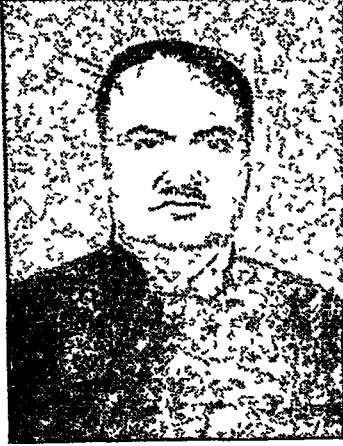
डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु

डॉ० सुदर्शनलाल जैन
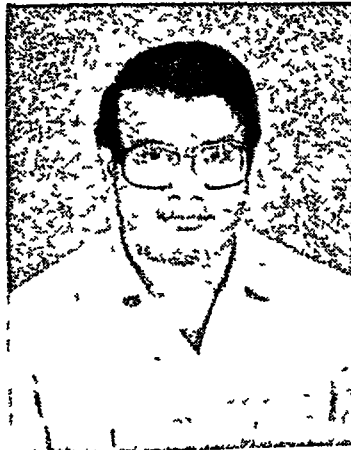
डॉ० शीतलचन्द्र जैन

ग्रन्थका तीसरा खण्ड पण्डितजीके धर्म एवं सिद्धान्त विषय पर लिखे गये १६ लेखोसे अलंकृत है। इस खण्डमे सभी लेख ऐसे है जिनमे जैन धर्म एवं सिद्धान्त विषयका मौलिक चिन्तन भरा पडा है भगवान् महावीरकी धर्म तत्त्व देशनासे लेकर आत्मतत्त्व पर चिन्तन परक लेखके साथ ही निश्चय और व्यवहारनयपर पण्डितजीके चार दिशा बोधक लेख है जिनको पढनेसे इस विवादास्पद विषयको समझनेमें पर्याप्त सहयोग मिलता है। जैन धर्ममे भव्य और अभव्य बडे टेक्निकल शब्द हैं। अभव्य शब्द समझनेवालेके लिये धार्मिक अपशब्द है जिसको पचापाना जैनोंके लिये कठिन होता है। कोई भी अपने आपको अभव्य कहलानेके लिये तैयार नही है। पण्डितजीने इसपर अपने लेखमें अच्छा प्रकाश डाला है। इसी खण्डमे पण्डितजीका एक खोज पूर्ण लेख "पर्यायें क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी" विषयपर है। पण्डितजीके स्वरमे अनेकान्त सिद्धान्तका प्रतिपादन है। पर्यायोको क्रमबद्ध ही बतलाना भगवान् महावीरके उस सिद्धान्तके विरुद्ध है जिसमे वस्तुतत्त्वके निरूपणमे अनेकान्त शैलीको अपनानेपर बल दिया गया है। इसी खण्डमे "भुज्यमान आयुमें अपकर्षण एवं उत्कर्षण" विषयपर पण्डितजीका लेख पाठकोंमें उत्सुकता पैदा करनेवाला है। इसी खण्डमे 'जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' भाग एकमे दिये गये उपयोगी प्रश्नोत्तर १, २, ३ व ४ की सामान्य-समीक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण लेख भी दिये गये है। जो पाठकोको सही दिशाका बोध करायेंगे।

चतुर्थ खण्ड मे पण्डितजीके जैनदर्शन और जैन-न्यायपर आधारित ११ लेखोका संग्रह है। जिनमें जैनदर्शनके विभिन्न पक्षोको उद्घाटित किया गया है। सर्वप्रथम भारती दर्शनो पर एक सामान्य लेख है जिससे सभी दर्शनोका सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके पश्चात् पण्डितजीके सभी लेख जैन-न्यायपर आधारित हैं जिनमे प्रमाण और नयका कथन, अनेकान्त एवं स्याद्वाद वस्तुका स्वरूप, सप्त तत्त्व और छ. द्रव्योपर पण्डितजीके विचार उनके गहन अध्ययनका निचोड है। वैसे किसी भी दर्शनकी गुत्थियोको सुलझाना सहज कार्य नही है फिर भी पण्डितजीने इन विषयोको सरल बनानेका स्तुत्य प्रयास किया है।

पंचम खण्डमें ९ लेख जैन साहित्य एवं इतिहास परक है। इनमे एक लेख "षट्खण्डागम सजद पदपर विमर्श" शीर्षक पर है। आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके समयमे संजद शब्दको लेकर बडा आन्दोलन चला था और समाज दो धाराओमें बँट गया था। पण्डितजीका यह लेख उसी समयका लिखा हुआ है और आज ऐतिहासिक बन गया है। इसी खण्डमे एक लेख इतिहास परक है वह पाठकमे उत्सुकता पैदा करता है।

छठा खण्ड संस्कृति एव समाजपरक है जिनकी संख्या ६ है। भगवान महावीरका समाज दर्शन लेख तथा जैन मन्दिर और हरिजन ये दोनो ही लेख अपने समयके बहुचर्चित विषयपर आधारित है। तथा उनसे पण्डितजीके विचारोंकी झलक मिल सकती है।

इस प्रकार अभिनन्दन ग्रन्थका अधिकाश भाग स्वय पण्डितजी द्वारा लिखित सामग्रीका नव सम्पादित संकलन है। उससे उनकी अमूल्य साहित्यिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक एवं सामाजिक विषयोसे ओत-प्रोत सामग्रीकी रक्षा हो सकेगी तथा आगे आनेवाली पीढियोंको उनके स्वाध्यायका लाभ मिल सकेगा। अभिनन्दन ग्रन्थकी सीमित पृष्ठ संख्याको देखते हुये पण्डितजीके बहुतसे लेखोको इसमे सम्मिलित नही किया जा सका। उनका भी सुसम्पादित होकर आना आवश्यक है इसके अतिरिक्त जिन लेखकोंके लेखोको हम इस अभिनन्दन ग्रन्थमें स्थान नही दे सके उन विद्वान् लेखकोसे हम क्षमा चाहते है।

अभिनन्दन ग्रन्थके प्रधान सम्पादक डॉ० दरबारीलालजी कोठिया है। यद्यपि सम्पादकीय लेख लिखना उन्हीके अधिकार क्षेत्रमें आता है। लेकिन उन्होने यह गुरुतर भार मुझे सौंपा है उसके लिये मैं उनका एवं

सम्पादक मण्डलके सभी विद्वानोका आभारी हूँ। अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादनमे सभी सम्पादकोने जो रुचि दिखायी है तथा अपना अमूल्य समय देकर पूरे ग्रन्थका सम्पादन किया है, यह सब पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके प्रति उनकी अनन्य निष्ठा एव श्रद्धाका ही सुपरिणाम है। माननीय डॉ० कोठियाजी एव बाबूलालजी फागुल्ल दोनों ही विशेष-रूपसे धन्यवादके पात्र है, वास्तवमें उन्हीकी लगन एव रुचिके कारण यह अभिनन्दन ग्रन्थ इतने अल्प समयमें हमारे सामने मूर्त्तरूपमें आ सका।

अन्तमे अभिनन्दन ग्रन्थके सभी सम्पादक एव सदस्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके दीर्घ-जीवनकी कामना करते हुये यही अपेक्षा करते है कि उनकी लेखनी इसी प्रकार अनवरत रूपसे चलती रहे और समाजका मार्ग दर्शन करती रहे।

(डॉ०) कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
कृते सम्पादक मण्डल

विषय-क्रम

खण्ड १ : आशीर्वचन, संस्मरण, शुभकामनाएँ

खण्ड २ : जीवन परिचय, भेंट वार्ता, व्यक्तित्व तथा कृतित्व

खण्ड ३ : धर्म और सिद्धान्त

खण्ड ४ : दर्शन और न्याय

खण्ड ५ : साहित्य और इतिहास

खण्ड ६ : संस्कृति और समाज

आशीर्वचन • संस्मरण •

शुभ कामनाएँ

सत शिरोमणि पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज

शु भा शी ष

बहुश्रुत विद्वान्

●आचार्य विद्यानन्दजी महाराज

सिद्धान्ताचार्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बहुश्रुत विद्वान् हैं। वे स्वतन्त्र चिन्तक हैं। उन्होंने आगमानुकूल और गम्भीर भाषामे ग्रन्थोकी रचना की है। उन्हे हमारा शुभाशीर्वाद है।

मङ्गल आशीर्वाद

●श्री १०८ मुनि ब्रह्मानन्द सागरजी महाराज

पण्डितजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट किया जा रहा है, यह उनके योग्य है।

मैं पाँच माह एक चातुर्मासमे बीना रहा। मुझे पण्डितजीके तीन गुण याद आ रहे। प्रथम गुण उनका नि स्वार्थ भावसे ज्ञानदान देना है। उन्होने मुझे पाँच माह नियमित स्वाध्याय कराया है। उनके समझानेकी शैली उत्तम है। सामान्य व्यक्ति भी उनकी सरल शैलीसे विषयको समझ लेता है।

उनका दूसरा गुण है गुरु भक्ति और विनय। पाँच माहमें वे रोज आते और बडी भक्ति तथा विनयके साथ स्वाध्याय कराते थे। हमने उनमे बडी विनम्रता एव निरभिमानता देखी।

उनमे तीसरा गुण है समयकी नियमितता। एक मिनट भी वे विलम्ब नही करते। जो समय उन्होने नियमित किया उस समयपर अवश्य आ जाते थे। विषय आरम्भ कर देते थे। बहुत ही मितभाषी और गम्भीर हैं। हमारा उन्हें शुभाशीर्वाद है।

श्रद्धा-सुमन

●क्षुल्लक चित्तसागरजी, घांटोल

विद्वत्वर्य वयोवृद्ध पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दनार्थ एक ग्रन्थ प्रकट होने जा रहा है ऐसा 'जैन गजट' मे पढा। अतः भाव हुए कि कुछ पंक्ति श्रद्धासुमनरूप भेजूँ। इसका फल यह है।

महासभाकी भी मीटिंगोमे तथा विद्वानोंकी मीटिंगोमे मैंने गृहस्थकालमें पण्डितजीको प्रथम देखा था। सामान्य बातचीत भी हुई थी, पत्र-व्यवहारसे परिचय बढा। यात्रा प्रवासमें एक दिन उनके घर पर आतिथ्य भी अनुभवमे आया था। वह इतना सरल, ऋजु और शालीन था कि वह मैं कभी भी भूल नहीं सकता।

व्याकरणाचार्य पण्डित होते हुए अपनी आजीविकाके लिए उन्होने कपडेका धधा पसन्द किया था और खूब-खूबीसे चलाते है। शायद समाजका रुख पहलेसे ही उनकी पैनी दृष्टि पा गई थी। समाज मनीषियोको जिस दृष्टिसे देखता है, परखता है और आर्थिक सकटोसे विडम्बना रूप तरीकोसे बचाना चाहती है वह सब अब सभी विदित है। अत परिणामत आज विद्वान् शेष नही बन रहे है और भविष्यमे वहाँ एक बडा शून्य मात्र ही नजर आयेगा। यह है हमारी धन पूजाका कुफल! भाग्यहीनता!

सोनगढकी गलत प्ररूपणाके बारेमें पण्डितजीकी सशक्त कलम से खूब लिखा, किन्तु समाजने उसे कितना प्रोत्साहन दिया इसकी कथनी अतिकरुण है। कोई सहृदयी होता तो उसे कहनेका मौका मिलता किन्तु वहाँ भी निर्जनता है।

विद्वान् उपयोगी दीपक है। उसका सरक्षण हमारी सस्कृतिका रक्षण है। जितनी उदासीनता इस बारेमें रहेगी इतने कटु परिणाम हमें ही भोगने पड़ेगे।

जैनागमके मर्मज्ञ मनीषी

● स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी, मूडविद्री

जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् समाजमान्य विद्वद्वर्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य जैन आगमके मर्मज्ञ प्रकाण्ड मनीषी है। प्रशम-हृदयी व परम भद्र परिणामी है इस वृद्धावस्थामे इस समय समाजमे सर्वाधिक चर्चित विषयपर आपने सन्तुलित लेखनी चलाई है। जैनागमके अधिकारी विद्वान् द्वारा गम्भीर विपयोका अध्ययन व मनन करके जो पुस्तके लिखी गई है वे महत्त्वपूर्ण है। और उससे धर्म-सस्कृतिकी रक्षा हो सकती है। वे स्वस्थ रहें यही हमारा उन्हें साधुवाद है।

बहुमुखी प्रतिमाके धनी

● कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी जैन मठ, श्रवणबेलगोला

सारस्वत, स्वतन्त्रता-सग्रामी, सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन ग्रन्थ-प्रकाशनकी योजना ज्ञात कर वडी प्रसन्नता हुई।

आदरणीय पण्डितजीका जीवन जैन सिद्धान्तके चिन्तन, मनन एव लेखनमे ही अधिक सलग्न है। आप बहुमुखी व्यक्तित्वके प्रतिभावान् विद्वान् है। आपकी लिखी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकोमे एव पत्र-पत्रिकाओ-मे प्रकाशित आपके दार्शनिक, सैद्धान्तिक एव सामाजिक लेखोमे आपका व्यक्तित्व सर्वत्र झलकता है। आपने जीवनमे सचित ज्ञानके वितरणको ही औचित्य समझा। परिणामस्वरूप कई मौलिक ग्रन्थ आपके प्रकाशमें आये। आज चौरासी वर्षकी आयुमे भी आप अपनी उसी प्रक्रियामे रहकर चौरासीसे मुक्त होनेके सत् प्रयत्न-मे लगे है। अत आप जैसे सारस्वतोके जीवनकी अनेक उपादेय घटनाओके साथ सिद्धान्त, दर्शन आदिके महत्त्वपूर्ण लेखोसे भरा यह अभिनन्दन-ग्रन्थ ज्ञानवर्धक होनेसे सग्रहणीय रहेगा।

हमारी भावना है कि आप चिरायु हो और आपके जीवनवृत्त एव व्यक्तित्वका दर्शक यह अभिनन्दन-ग्रन्थ समाजके जिज्ञासुओके लिए नूतन स्रोत बने।

भद्रं भूयात्—वर्धतां जिनशासनम्। इत्याशीर्वाद।

●

न्यायाचार्य पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी
(जिनकी छत्र-छायामे पण्डितजीने अध्ययन किया)

"मै प० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यको बाल्यावस्थासे जानता हूँ। उत्तम प्रकृतिका मनुष्य है। जैनधर्ममे अकाट्य श्रद्धा है। कभी भी आगमविरोधी उपदेश नही देते।"

—गणेशप्रसाद वर्णी

बीर, ९ नवम्बर, १९४६

प्रधान मंत्री,
भारत
नई दिल्ली
१ सितम्बर, १९८९

सन्देश

पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य के उपलक्ष्य में प्रकाशित किए जा रहे अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिए कृपया सभी संबंधितों को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ सम्प्रेषित करें।

राजीव गांधी

गृह-मंत्री,
भारत
नई दिल्ली–११०००१
१६ सितम्बर, १९८९

सन्देश

यह बड़े हर्ष का विषय है कि आप वयोवृद्ध स्वतंत्रता-सेनानी और विद्वत्वर पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य के अभिनन्दन का आयोजन कर रहे है। इस प्रशंसनीय प्रयास के लिए आप साधुवाद के पात्र है।

पं० बंशीधरजी ने आजादी की लड़ाई और साहित्य-साधना के साथ ही समाज-सुधार के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य किये है वे नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा के स्थायी स्रोत है। मैं पं० बंशीधरजी की दीर्घायु के साथ ही आपके प्रयास की सफलता की मंगल-कामना करता हूँ।

बूटा सिंह

राष्ट्रीय स्तरके मनीषीका अभिनन्दन

● साहु अशोक कुमार जैन, अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन तीर्थरक्षा कमेटी

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आदरणीय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यका राष्ट्रीय स्तरपर सम्मान किया जा रहा है और इस अवसरपर अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रकाशन की भी योजना है।

निस्सन्देह पं० बंशीधरजी जैन समाजके मूर्धन्य विद्वानोमेसे है। देश, समाज और जैन वाड्मयके प्रति उनकी सेवाएँ अमूल्य है। समाजका यह गौरव है कि उसे प० बशीधरजी जैसे महान् मनीषी, चिन्तक और विचारकका सान्निध्य प्राप्त है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्वकी जितनी भी सराहना की जाय, थोडी है। इस महान् योजनाके साथ आपने मुझे भी जोडा है, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। मेरी कामना है कि आदरणीय पण्डितजी चिरायु हो तथा समाज उनके ज्ञानसे निरन्तर लाभान्वित होता रहे। पण्डितजीके प्रति मेरी आदरपूर्ण विनयाजलि।

समारोह एव अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन योजनाकी पूर्ण सफलताकी शुभ कामनाओके साथ।

मूल आम्नायके संरक्षक विद्वान्

● श्री निर्मलकुमार जैन सेठी, अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन महासभा

मुझे जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जैन आगमके महान् विद्वान व मूल आम्नायको सुरक्षित रखनेकी आनमे विद्वत् वर्गमे जो भावसे ज्यादा चिन्ता है ऐसे महान् व्याकरणाचार्य व जैन संस्कृतिके उन्नायक पण्डित बशीधरजीको समाजने अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करनेका निश्चय किया है यह महासभाके लिये अत्यन्त ही प्रसन्नता की बात हैं। सच तो यह है कि महासभाको आगे बढकर दो दशकोके पहले ही पण्डितजीको यह आदर देना चाहिये था।

वे चिरायु हो, यही कामना है।

सरस्वतीके भण्डारको भरते रहें

● श्री डाल्रचन्द्र जैन, सासद तथा अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन परिषद

सरस्वती वरदपुत्र पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्य जैन समाजके ख्याति प्राप्त विद्वान् है। उनकी अविरल सेवाओके फलस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है। यह समाजको गौरवकी बात है।

आदरणीय पण्डितजी जैनदर्शन और जैन सिद्धान्तके अधिकारी विद्वान् तो है ही लेखक, ग्रन्थकार, सफल सपादक और समाज-सेवी व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता सग्राम सेनानी भी है। वे सदैव समाज एव सस्थाओ से साबद्ध रहे है और इस वृद्धावस्थामे भी चिन्तन और लेखनकी दिशामे सतत सलग्न है।

श्री वीरप्रभुसे प्रार्थना है कि वह श्रद्धेय पण्डितजीको स्वस्थ जीवन और दीर्घायु प्रदान करें, ताकि वह सरस्वतीके भण्डारको भरते रहें।

मैं इस प्रयासकी सफलताकी कामना करता हूँ।

कर्मठ जिनवाणी सेवक

● श्री निर्मलचन्द सोनी, अजमेर

अभिनन्दन समारोह समितिने जैन विद्वज्जगत्के कर्मठ जिनवाणी सेवक श्री सरस्वती पुत्र पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यको उनकी ज्ञानाराधनाके उपलक्षमें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण करनेका उपक्रम किया है वह अत्यन्त उपयुक्त एव सराहनीय है। आगम सेवकोका समाज जो भी सम्मान करे वह थोडा है।

मैं पण्डितजीसे व्यक्तिगत कभी परिचित नही हुआ हूँ, फिर भी उनकी लेखनीसे प्रसूत आगमनिष्ठ, तर्कपूर्ण लेखावली तथा ग्रन्थावलीसे अवश्य प्रभावित हूँ।

प्रकाश्य अभिनन्दन ग्रन्थ उनकी व्यक्तिगत स्याद्वादगर्भित रचनाओंका एक प्रामाणिक सग्रह होगा और उसे विद्वद्गण और स्वाध्यायनिष्ठ जनता अपनायेगी तथा स्वाध्याय करेगी, ऐसी आशा है।

आदरणीय पण्डितजीके प्रति मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हुआ उनके स्वस्थ एव चिरायुष्यकी मंगल-कामना करता हूँ।

जैन विद्वानोंमें कीर्तिमान

● श्री देवकुमार सिंह, कासलीवाल, इन्दौर

आदरणीय पण्डितजीने जैन विद्वानोंमें कीर्तिमान स्थापित कर विशेष स्थान प्राप्त किया है, उस परिप्रेक्ष्यमे उनका अभिनन्दन समयोचित एवं प्रशसनीय है।

आदरणीय पण्डितजी स्वस्थ्य एव दीर्घायु हों, ऐसी वीर प्रभुसे प्रार्थना है।

समाजकी महान् विभूति

● श्री रमेशचन्द्र जैन, कार्यकारी निदेशक, टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बशीधरजी शास्त्री व्याकरणाचार्य जैन समाजके मूर्धन्य विद्वानोंमें हैं। उनके ज्ञानके आलोकसे जैन वाड्मयकी आभा चारो ओर फैली है। समाज गौरवान्वित और धन्य हुआ है। ऐसे विद्वान्, मनीषी और साहित्यके साधकका आप अभिनन्दन कर रहे हैं, यह नितान्त हर्षका विषय है।

जैनदर्शनके अधिकारी विद्वान् पण्डित बशीधरजीका जीवन प्रेरणाका अजस्र स्रोत है। ८४ वर्षकी अवस्थामे भी यह कर्मठ व्यक्तित्व साहित्य-साधनामें सलग्न है। ज्ञान, ध्यान, चिन्तन और मननके सागरको मथकर पण्डितजीने जिस सुधारसका पान समाजको कराया है, समाज उससे कभी उऋण नही हो पायेगा। पण्डितजी हमारी विभूति हैं। प्रभु उन्हें चिरायु करें, वे स्वस्थ रहे, यही उनके चरणोमे मेरी विनयाजलि है।

मंगल कामना

● स० सि० धन्यकुमार जैन, कटनी

पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना पुरानी पीढीके पण्डित वर्गमेंसे एक विद्वान् हैं। आज उनकी आयु ८४ वर्षकी है। पुरानी पीढीके विद्वानोंमें प्राय कुछ ही विद्वान् बचे हैं। इन्होने अपने जीवनकालमे राष्ट्र, समाज, जाति और धर्मकी सेवा की है। अपनी स्वतन्त्र-विचारधारा, चिन्तन-मनन और लेखनकी उनकी अपनी विशेष शैली रही है। जैन आगम पर उन्होने साहित्य सृजन किया है। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण योजनाका मैं स्वागत करता हूँ। वे दीर्घजीवी हो, समाज और धर्मकी चिरकाल तक वे सेवा करें—इसकी मैं मगल कामना करता हूँ।

सही अर्थोंमें सरस्वती वरदपुत्र

● श्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर

श्रद्धेय पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्य सही अर्थोंमें सरस्वती वरदपुत्र हैं। मुझे उन्हें सुननेका अवसर प्राप्त हुआ, उनकी स्पष्ट भाषा, तार्किक शैली श्रमण-परम्परासे कभी विमुख नही हुई। वे जिनवाणी एवं आचार्योंके कथनमें किसी प्रकारकी मिलावट नही चाहते। उन्हें कभी पद एव प्रतिष्ठाका मोह नही रहा।

जिनवाणी-माताके निष्पृह चिन्तकके रूपमें अपना जीवन जिया। खानिया तत्त्वचर्चामे आपने जैनदर्शन और जैन सिद्धान्तका जिस प्रकार गम्भीर विचारकके रूपमे स्वतन्त्र चिन्तन दिया उसने विद्वानोको सोचनेके लिये नई दिशा प्रदान की। जो भ्रमित हो रहे थे उन्हें सही राह बताई।

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीने बुन्देलखण्डको जैन वाङ्मयके अनेको विद्वान् दिये। आज समाजमें जो सर्वाङ्ग पण्डितोकी कमी महसूसकी जा रही है व उनके स्थानपर साप्ताहिक, पाक्षिक एवं मासिक शिक्षण-शिविरोमें भाषण सुनकर कथित पण्डित निर्मित हुए है, उन्होंने धर्म एव वाड्मयका जितना अहित किया है, शताब्दियोसे उतना नही हुआ।

पूज्य पण्डित बशीधरजी वर्तमान युगके स्वतन्त्र चिन्तक, जिनकी कथनी व करनीमें कोई भेद नही, हमारी अपूर्वनिधि है। उनका अभिनन्दन करके विद्वत्जन एवं समाज अपना ऋण हलका कर रहा है। सम्पूर्ण समाज पण्डितजीको हृदयसे नमन करता हैं।

सेवा ही जिनका लक्ष्य है

● श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, अध्यक्ष, श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका नाम जैन समाज, दर्शन, साहित्यके क्षेत्रमें एक जाना-माना/सुपरिचित नाम है। व्यवसायी होते हुए भी आप साहित्य और समाजकी सेवामे जिस प्रकार जुडे हुए है वह श्लाघनीय है। सच तो यह है कि प्रारम्भसे ही "सेवा" आपके जीवनका एक अभिन्न अग रही है, देश-सेवा, समाज सेवा, साहित्य सेवा ये ही तो लक्ष्य/उद्धेश्य रहे है आपके जीवनके। अध्ययन-मनन-चिन्तन-लेखनमें आप आज भी सक्रिय एव सलग्न है। ऐसे कर्मठ प्रेरणास्पद व्यक्तित्वके प्रति मैं अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हुआ उनके स्वस्थ और सक्रिय दीर्घ-जीवनकी कामना करता हूँ।

गार्हस्थ्य, संन्यास और विद्वत्ताकी त्रिवेणी

● राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, एडवोकेट, गोरखपुर

मुझे यह जानकर वडी प्रसन्नता हुई कि जीवनपर्यन्त जैनसमाज तथा जैनसाहित्यकी सेवा करनेवाले स्वनाम धन्य सिद्धान्ताचार्य पडित बशीधरजो व्याकरणाचार्य, शास्त्री एव न्यायतीर्थकी सेवाओको स्मरण करने और उनके प्रति आभार ज्ञापनार्थ अभिनन्दन ग्रन्थका प्रकाशन होने जा रहा है।

श्रद्धेय पडितजीका नाम तो मैने बहुत सुन रखा था पर उनके दर्शनका सौभाग्य मुझे डॉ० दरबारी-लालजी कोठियाके अभिनन्दन ग्रंथ समारोहके समय हुआ। पडितजीसे बात करनेपर मै उनकी विद्वत्ता, गहन अध्ययन, जैनदर्शनमे उनकी गहरी पैठ देखकर आश्चर्यचकित रह गया।

दूसरी वार पडितजीके घरपर दो दिन ठहरनेका सौभाग्य मिलनेपर उनके निकट साहचर्यका अवसर प्राप्त हुआ। गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा सन्यास तीनोका आश्चर्यजनक समिक्षण पडितजीमें देखकर वहुत ही प्रभावित हुआ। उनकी दिनचर्या प्रात ३ बजेसे प्रारम्भ होती है। अध्ययन, चिन्तन लेखनके प्रति उनका समर्पण बडा प्रेरणादायक रहा। गृहस्थ जीवनमे ऐसी रुचि तथा अध्यात्मसे प्रेम दोनो गुण एक साथ बहुत कम देखनेको मिलते है। पंडितजीका मधुर भाषण तथा सादा जीवन अनुकरणीय है। मेरे जैसे सामान्यजन-को पडितजीने जैनदर्शन जैसे गूढ विषयको सरल तथा वोधगम्य भाषामे थोड़े समयमे ही ग्राह्य करा दिया। यह उनकी विलक्षणता है।

अन्तमे पडितजीके दीर्घायु होनेकी हार्दिक कामना करते हुए पुनः प्रसन्नता व्यक्त करना चाहता हूँ कि पडितजी जैसे महान् धर्मसेवी, स्वतन्त्रता सग्राम सेनानी, साहित्यिक तथा समाजसेवीकी सेवाओंके प्रति

आभार प्रकट करनेके लिए अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनका निर्णय उचित ही है। यह अभिनन्दन पंडितजीका नही है बल्कि साहित्य तथा दर्शनका अभिनन्दन है ऐसी मेरी भावना है। मेरा बारम्बार नमन।

जिनवाणीके परम आराधक

● श्रीमन्त सेठ राजेन्द्रकुमार जैन, एडवोकेट, विदिशा

परम आदरणीय श्रद्धेय प० बशीधरजीका अभिनन्दन उनकी ही नही, प्रत्युत उनकी विद्वत्ताकी महिमाका परिचायक है। आदरणीय पडितजीने अपना जीवन जिनवाणीमें लगातार सार्थक किया है। इसके परम लक्ष्यसे उनका जीवन जीवत होगा। जिनवाणीका परमलक्ष्य वीतराग विज्ञानताका है और इससे समन्वित जीवन ही जीवत होता है। ऐसे जीवनको पीकर भवचक्रकी परवाह नही रहती। जिनवाणीका यही भाव भाषण उनके जीवनमें आवे, यह भावना है और यही उनका वास्तविक सम्मान है।

जैनजगत्के गौरव पुंज

● श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ

श्रद्धेय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य, सिद्धान्तचार्य समग्र जैन जगतके चोटीके मूर्धन्य विद्वान् एव गौरव पुज है। श्रद्धेय पं० जी आरम्भसे अब तक चौरासी वर्षकी उम्र होने पर भी जैनधर्मकी महती न्याय-पूर्ण समीचीन आर्पमार्गकी सैद्धान्तिक सेवा कर रहे हैं। श्रद्धेय प० जीने कानजी पथके विरुद्ध खानिया तत्त्व चर्चामें प्रमुख भाग लिया था और उस विषय पर सप्रमाण अनेक ग्रन्थ लिखे है। वे उनकी अनेकातमयी आर्पमार्ग पर दृढ श्रद्धाको प्रतिष्ठापित करते है।

मैं वीर प्रभुसे मगल कामना करता हूँ कि आप दीर्घजीवी हो एव आर्षमार्ग वीतरागमार्गके अनुयाइयोको समुचित मार्गदर्शन देते रहे।

अनुकरणीय साहित्य-साधना

● श्री प्रेमचन्द्र जैन, अध्यक्ष-राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली

हमे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि विद्वद्वर्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यको अखिल भारतीय स्तरपर समाज अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करनेको जा रही है। पण्डितजीकी सेवाओको देखते हुए समाजका यह निर्णय नि-सन्देह प्रशंसनीय है।

व्याकरणाचार्यजी आरम्भसे ही स्वतत्र चिन्तक और विचारक है। उन्होने शिक्षाको कभी आजीविका-का साधन नही बनाया। अतएव वे स्वतत्र व्यवसायी रहते हुए देश, समाज, साहित्य और धर्मकी सेवामे सलग्न है। आपने गजरथ विरोधी आन्दोलन व अनेक आन्दोलनोमे भाग लिया। बामौराका दस्सा पूजा-धिकारको ऐतिहासिक मुकदमा भी आपने लडा। आप गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसीके वर्षों मत्री रहे। अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिपद्के अनेक वर्षो तक मत्री व अध्यक्ष रहे। गुरु गोपालदास वरैया शताब्दी समारोह आपके अध्यक्ष कालमे सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

आप सफल पत्रकार, लेखक और सम्पादक भी है। शान्तिसिन्धु और सनातन जैन पत्रोका आपने योग्यतापूर्वक सम्पादन किया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमे सैकडो लेख आपने लिखे हैं। उनमे अनेक लेख तो बहुत ही चिन्तनपूर्ण और गभीर है। जैनतत्त्व-मीमासाकी समीक्षा, जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा, जैनदर्शनमे निश्चय और व्यवहार जैसी पुस्तकें तो जैनसाहित्यकी अमूल्य निधि है। तात्पर्य यह है कि आपकी समाजकी सेवा और साहित्यकी साधना निश्चय ही वर्तमान और भावी पीढीके लिए अनु-करणीय है।

समाज और साहित्यकी तरह आपकी राष्ट्र-सेवा भी उल्लेखनीय है। सन् १९३१ से ही आप राष्ट्रीय कार्योंमे सक्रिय सहयोग देने लगे थे। सन् १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलनमे आपने सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोमे असह्य कष्ट सहे। खादीको अपनाकर भी अन्य खादीधारी नेताओसे बचे रहे। भारत सरकारने आपको स्वतन्त्रता सेनानीके रूपमे ताम्रपत्रपर अंकित प्रशस्ति पत्र द्वारा सम्मानित किया है।

समाजके विश्रुत विद्वान् स्वर्गीय पं० बालचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० प० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य आपके परिवारके सदस्य (भतीजे) हैं। आपके पुत्र भी सुयोग्य व धार्मिक विचारधाराके है। ऐसे देश, समाज, साहित्य और धर्मसेवी विद्वान्को अभिनन्दन ग्रन्थ भेटकर समाज निश्चय ही गौरवान्वित होगा।

श्रद्धा-सुमन

● श्री ताराचन्द्र, प्रेमी, महामंत्री भा० दि० जैन संघ, मथुरा

मुझे यह ज्ञातकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि परम श्रद्धेय भाई साहब प० बशीधरजीको अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करनेका समाजने निर्णय लिया है।

वस्तुत वे उसके योग्य है। उनकी सामाजिक, सास्कृतिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ किसीसे छिपी नही हैं। दस्सा पूजाधिकारमे उनका प्रमुख भाग रहा है। समाजमे खासकर बुन्देलखण्डमे गजरथोकी भरमार थी और उनमें कितना ही अपव्यय होता था, जिससे समाजमे शिक्षा जैसे विधेयात्मक कार्य नही हो पाते थे। पण्डितजीने इस दिशामे कदम उठाया और गजरथोका विरोध किया। सहस्रो लोगोने उनका समर्थन किया। फलत आज गजरथोमे कमी हो गयी है और उनमे सुधार हुआ है। शिक्षाका प्रसार एव प्रचार भी हुआ है।

पण्डितजीकी राष्ट्र-भक्ति भी कम नही है। सन् १९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलनमे भाग लेनेपर वे जेल भी गये। आज उनका नामोल्लेख बडे गर्वके साथ स्वतन्त्रता-सेनानियोमे किया जाता है।

हम उन्हे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए उनके शतायु होनेकी मगल-कामना करते है।

जैन आगमके जागरूक प्रहरी

● स० सिं० जिनेन्द्रकुमार जैन गुरहा, खुरई

जैन आगमके जागरूक प्रहरी धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्र-सेवाके सभी क्षेत्रोमे प० जीकी स्तुत्य सेवा सदा स्मरणीय है। आर्षप्रणीत जिनागम एव आध्यात्मिक ग्रन्थोके अध्ययन, मनन और चिन्तनमे ८४ वर्षकी इस आयुमे भी प० जी सतत सलग्न है। सावधानीसे अपनी लेखनीसे जैनसाहित्य एवं रचनाये, समाज एव विद्वानोको अर्पित कर रहे है और उनका आह्वान कर रहे हैं कि वे जिनागमके प्रतिकूल प्रचार व आचरण न करें, जो कि आजकल चल पडा है। यह अनेकान्त विरोधी "एकान्त मत" समाजमे अनेक विवादो-विकारो को जन्म दे रहा है। सन् ६३ मे जयपुर (खानिया) में 'इन नये' व "पुरातन" विचार वाले विद्वानोके मध्य तत्त्व चर्चाका आयोजन निष्कर्ष पूर्ण नही रहा। फलत. आगम अनुकूल विद्वानोको 'शका पक्ष" व इन "एकान्तियो" समाधान पक्ष-बना डाला है, जिससे तत्त्व निष्पन्न होनेकी अपेक्षा उलझ गया। इसी हेतुसे प० जीने व अन्य समाजके विद्वानोने इस "सोनगढ" पक्षकी समीक्षा करनेका संकल्प लेकर लेखन कार्य किया है। "खानियाँ तत्त्व चर्चाकी समीक्षा", "जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार", "पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी" तथा समय-समय पर जैन पत्रिकाओमे प्रचुर शोधपूर्ण लेख लिखे हैं।

उनकी कृतियाँ गम्भीर मनन, चिन्तन, अध्ययनकी विषय है जो कि निष्पक्ष भावसे पढने पर "बोध गम्य" है। जैन सस्कृति-सस्कार अक्षुण्य रहे। श्रद्धेय प० जी दीर्घायु हो यही शुभ कामना है।

सिद्धान्तके लौह पुरुष

● श्री भगतराम जैन, मत्री, अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद, दिल्ली

प० बशीधर शास्त्रीका स्थान जैनसमाजमे उच्चकोटिके विद्वानोमेसे है।

प० बशीधर शास्त्रीजी अ० भा० दिगम्बर जैन परिषदसे प्रारम्भसे जुडे हुए है। इन्होंने परिषदकी रीतिनीतिका सदैव समर्थन किया है। अब भी वह परिषद केन्द्रकी प्रबन्धसमितिके सदस्य है। उनपर किसी दबाव या प्रलोभनने उनके विचारोमे कोई परिवर्तन नही होने दिया।

कपडेके व्यापारमे व्यस्त होते हुए भी अपनी धार्मिक लगनमें लग्नशील हैं। प्रतिष्ठा प्राप्तिकी भावना-से दूर रहते है। सादगीका जीवन सरल स्वाभावी सभी विशेपताये इनमे पाई जाती हैं। समाजमें इनके द्वारा लिखित ग्रन्थोका अपना स्थान है।

मुझपर उनका बडा स्नेह है। मुझे जब भी बीना जानेका अवसर मिलता है मै सीधा उन्हीके यहाँ पहुँचता हूँ। सामाजिक चर्चाएँ भी होती है।

अपनी श्रद्धाके सुमन अर्पित करते हुए उनके दीर्घजीवनकी कामना करता हूँ।

नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठाकी प्रतिमूर्ति

● सिं० आनन्दकुमार जैन पूर्व अध्यक्ष नगर पा० एव स्थानीय जैन हितोपदेशिनी सभा, बीना

पण्डितजी वाराणसीमे अध्ययन समाप्तकर सन् १९२८ मे बीना आये थे और तभीसे उन्होने बीनाको अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

जैनदर्शनके मौलिक चिन्तक एव विचारकके रूपमें जहाँ एक ओर आपकी प्रतिभाका उद्भव हुआ, वही दूसरी ओर महात्मा गान्धीके स्वतन्त्रताके राष्ट्रीय आन्दोलनोसे आपका हृदय उद्वेलित होने लगा। धर्म एवं राष्ट्र एक दूसरेके सम्पूरक होते है। इस भावनासे अनुप्राणित होकर आप राष्ट्रीय कार्योंमे सक्रिय हो गये और सन् १९४२ मे आन्दोलनमे आप सागर व नागपुर,अमरावतीकी जेलमे न जाने कितने कष्ट सहे।

युगकी आवश्यकताको दृष्टिगत रखते हुए आपने सन्मार्ग प्रचारिणी समिति द्वारा देवगढ और केवलारी गजरथ विरोधी आन्दोलन किये।

एक स्वतन्त्र व्यवसायीके रूपमें अपना जीविकोपार्जन करते हुए अपने पाडित्यको अर्थोपार्जनका माध्यम नही बनाया। आपकी विद्वत्ता और चिन्तनशीलता उच्चकोटिकी है। साथ ही दो बातें, जो मैंने आपके जीवनमे देखी, वे हैं—कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकता। समाज, राष्ट्र और धर्मके त्रिकोणपर आपने अपनी इन विशेषताओ को आजीवन जीवन्त बनाये रखा है। एक महान् लेखक और साहित्य-मनीषीके रूपमे भी आप विश्रुत हैं। आज भी साहित्यप्रणयनका महानयज्ञ इस ८४ वर्षकी वयोवृद्धावस्थामें अनवरत चालू है।

अपने ठोस और आगम तर्कोके द्वारा-एकान्त नयका बहुत स्पष्ट और सूझबूझ पूर्वक सैद्धान्तिक खण्डन कर आर्ष परम्परा और आजके तथाकथित धार्मिक साहित्यमे आये दोषोका निराकरण न केवल अपने चिन्तन-शील निबन्धो / लेखोके द्वारा किया अपितु "जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार" जैसी कृतियाँ लिखकर समाज, शासन एवं धर्मका महान उपकार किया है।

बीनाकी स्थानीय सस्था श्री नाभिनन्दन दि०जैन हितोपदेशिनी सभाके आप वर्षों मन्त्री पदपर आसीन होकर, इस सभाको जीवनदान देकर समुन्नत किया था।

पण्डितजी शान्तिप्रिय, अनुशासनप्रिय और मितभाषी है। इन्ही गुणोका प्रभाव आपके परिवारपर पडा। समाजके मार्ग दर्शक एव राष्ट्रके नि स्पृह सेवक शतायु होनेकी मगल कामना करता हुआ अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

सादा जीवन उच्च विचार

● स० सिं० सुमेरचन्द्र जैन, जबलपुर

पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना (सागर) बुंदेलखण्डके महान् जैन विद्वान है। सन् १९५० मे पण्डितजी का पहला परिचय खुरईमे महावीर जयतीके शुभअवसरपर हुआ था। उस समय रात्रिको आपके भापणको सुननेका लाभ मिला था। पण्डितजीका जीवन वहुत ही सादगी पूर्ण है। घरपर या दुकानपर हमने हमेशा ही चिन्तन-मनन करते हुएदेखा। ता० ११-५-८९ को हम बीनामे पचकल्याण गजरथके शुभ अवसरपर मिले थे। तब हमने आपसे दिगम्बर जैन समाज बीनाके सघटन बाबत चर्चा की थी। अच्छा यह हुआ कि इस कार्यमे सफलता मिली। पण्डितजीने अपने जीवनमे अनेक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थोको लिखा है, जिनमें आपने अनेक जैन विषयोपर अच्छा प्रकाश डाला है। हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते तथा शुभकामना करते है कि आप शतायु हो।

समाजके वरिष्ठ विद्वान

● श्री बालचन्द्र चौधरी, चौधरी सदन, सतना

राष्ट्र व समाजके वरिष्ठ विद्वान् महामनीषी पं० बशीधर व्याकरणाचार्यको उनकी राष्ट्रीय, सामाजिक साहित्यिक और धार्मिक सेवाओंके उपलक्ष्यमे समाज अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंटकर अभिनन्दित एवं सम्मानित कर रहा है, यह उचित एव स्तुत्य निर्णय है। मैं उन्हें हार्दिक शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ। वे दीर्घजीवी होकर समाज और साहित्यकी सतत सेवा करते रहे।

तीर्थ-भक्त पण्डितजी

● सेठ शिखरचन्द्र जैन मंत्री, श्री सिद्धक्षेत्र रेंशिदीगिर

अति प्रसन्नता हुई, जब हमे ज्ञात हुआ कि समाज द्वारा पण्डितजीको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। पण्डितजीका इस क्षेत्रसे पूर्वका नाता व लगाव है। उनके ही भतीजे प० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाकी जन्मस्थली यह पावन तीर्थ भूमि पण्डितजीके अभिनन्दनके शुभावसरपर उनके दीर्घजीवनकी कामना करती है। पण्डितजीका तीर्थोके प्रति लगाव व भक्ति उनकी प्रतिभासे स्वयमेव झलकती है यही कारण है कि उनने सस्थाओ व तीर्थोकी अनवरत सेवा की है। उनका ध्यान तीर्थोके सरक्षण व सम्वर्धन हेतु बना रहे इसी कामनाके साथ।

प्रतिभाशाली विद्वान्

● डॉ० कपूरचन्द्रजी जैन, महामत्री, दि० जैन सिद्धक्षेत्र अहारजी

आदरणीय प० भी समाजके प्रतिभाशाली विद्वान मूर्धन्य लेखक एव ओजस्वी वक्ता है। उनके द्वारा ग्रन्थ लेखन एव विद्वत्तापूर्ण भाषणों द्वारा किया गया धर्मका प्रचार तथा सामाजिक सेवायें इतनी अधिक है जो भुलाई नही जा सकती। मैं उनके स्वास्थ्य एव दीर्घायुकी कामना करता हूँ।

वे स्वस्थ और दीर्घजीवी हों

● श्री अक्षयकुमार जैन, पूर्व सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

श्रद्धेय पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्यने समाज, साहित्य और दर्शनको जो दिया है उसके लिए हम सब सदा ऋणी रहेंगे। उनके अभिनदनके अवसरपर मैं अपनी विनयाजली प्रस्तुत करता हूँ। प्रभु पण्डितजीको स्वस्थ और दीर्घजीवी करे, यही कामना है।

आगमनिष्ठ विद्वान्

● श्री महावीरप्रसाद जैन नृपत्या, जयपुर

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि जैन समाजके वरिष्ठ एव आगमनिष्ठ विद्वान् पडित बशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। विद्वान् समाजकी धरोहर होते हैं तथा वे धर्म एव सस्कृतिके सरक्षक माने जाते है। पण्डितजी सा० ने अपना समस्त जीवन जैन परम्पराओको सुरक्षित रखने तथा उसके सवर्धनमें लगाया है। वे सरस्वतीके वरद पुत्र है, जिनकी लेखनी अजस्र प्रवाहित होती रहती है।

मैं उनके अभिनन्दनके अवसरपर अपनी हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हूँ तथा भावना भाता हूँ कि शतायु होकर इसी प्रकार जिनवाणीकी सेवा करते रहें।

हार्दिक मनोभावना

● मान्य ब्र० पं० माणिकचन्द्र चवरे, अधिष्ठाता महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा

विद्वद्वर्य पडित श्री बशीधरजी व्याकरणाचार्य अपने विषयके निश्चित ही अध्यवसायी, विशेषज्ञ और विशिष्ट विचारोके धनी है। विद्वत् परिषदके मान्य अध्यक्ष रह चुके हैं। जीवनमे पूरी सादगी है। उपजीविका के निमित्त वस्त्र-व्यवसाय करते हुए भी स्वाध्याय-विशेषमे सतत निमग्न रहते है। खुरई सस्थाके निमित्त जब-जब बीना पहुँचना हुआ, आपको सदाही स्वाध्याय मग्न पाया। आपसे भेट करके हमेशा प्रसन्नता पायी। हमें सातिशय वात्सल्य प्राप्त हुआ।

प० पू० स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजकी परमकृपासे हुई प्रसिद्ध 'खानियाचर्चा'के समय पूर्वपक्ष बलशाली रूपमे रखनेमें आपके पक्षने कोई कसर नही रखी, उत्तरदाताओको उत्तर देनेके लिए जो भारी शक्ति और उपयोग लगाने पडे उनका साक्षात्कार पदसे समय होता ही है। प्रश्नोत्तरोकी इस विस्तृत प्रक्रियासे सूक्ष्म प्रमेयोकी सूक्ष्मतम घटाएँ प्रामाणिक अभ्यासियोके लिए अपूर्वरूपमे उपलब्ध हुई। एक अद्भुत अध्ययन-की वस्तु सिद्धान्त वेत्ताओ द्वारा समाजको प्राप्त हुई। दोनो पक्षोका मैं स्वय ऋण ही मानता हूँ।

इस अभिनन्दनकी प्रशस्त पुण्यवेलामे विद्वद्वर पण्डितजीको निरामय दीर्घायुमे निर्विकल्प ज्ञानध्यानके लिए पूरी अनुकूल साधन-सामग्री उपलब्ध रहे, यह हार्दिक मनोकामना करता हूँ।

निर्भीक वक्ता

● प० ब्र० गोरेलाल शास्त्री, उदासीनाश्रम, द्रोणगिरि

सरस्वतीवरदपुत्र पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य वास्तवमे सरस्वतीके वरदपुत्र है। वे निर्भीक वक्ता, लेखक, मित्रजनोकी झूठी प्रशशासे विमुक्त हैं। उन्हें मैंने नजदीकसे देखा, प्रवचन सुना। उनके कथनमे विद्वत्ता व निर्भीकता टपकती है। वे व्याकरणाचार्य तो हैं ही। सब विषयोमे उनकी अबाधगति है। सोरई जैसे एक छोटे ग्राममें जन्म लेकर महान् विद्वान् हो गये। विद्वत्ताकी अपेक्षा वे सर्वोपरि विद्वान् है। मेरी शुभकामना है कि पण्डितजी शतायु होकर समाज और राष्ट्रको ज्ञान देते रहे।

मैं अभिनन्दन करता हूँ

●प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हस्तिनापुर

मान्य श्री प० बशीधर जी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट कर उनके अभिनन्दनकी तैयारी हो रही है, वह स्वागत योग्य है' वे इसके योग्य है। इसलिये मैं उनके अभिनन्दनका स्वागत करता हूँ और उनका स्वय अभिनन्दन करता हूँ।

स्वतन्त्र विचारक एवं चिन्तक

● प० भँवरलाल न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीर वाणी', अध्यक्ष, विद्वत्परिषद्

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्के भूतपूर्व मन्त्री एव अध्यक्ष, सिद्धान्ताचार्य, व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ, साहित्यशास्त्री आदि अनेक उपाधिधारी विद्वान् प० बशीधरजी बीनाका अभिनदन-ग्रन्थ प्रकाशनकी योजना एक प्रशसनीय कार्य है। यह अभिन्दन किसी व्यक्तिविशेषका नही, माँ सरस्वतीके एक उपासकका अभिनन्दन है, सम्मान है। पूज्य प० जी स्वतन्त्र विचारक है, चिंतक है और निर्भीकतापूर्वक अपने विचारोको प्रकट करते है। वृद्धावस्थामे भी अपने चिन्तन-मननके आधारपर तर्कों द्वारा अपने मन्तव्यको लोगोके गले उतारनेमे सक्षम है।

सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचन्द्रजी द्वारा रचित 'जैन तत्त्वमीमासा' के उत्तरमे आपने 'जैनतत्त्व मीमासा की मीमासा' की रचना की थी। जैनदर्शनमे कार्य-कारणभाव और कारक व्यवस्था नामक पुस्तक भी आपने लिखी है। आपने अनेक पत्रोंमें सैद्धान्तिक निबन्ध भी लिखे है। अभी वीरवाणीमे आपने "आगममे कर्मबन्धपर विचार" शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसके उत्तरमे समागत विद्वानोके विचारोपर "कर्म सम्बन्धी स्वकीय दृष्टिका स्पष्टीकरण" शीर्षक लेख द्वारा आपने अपने मन्तव्यको समझानेका सफल प्रयत्न किया है। विचार-भेद / मान्यता-भेद भले ही आपकी रचनाओसे हो, पर आपका चिन्तन तर्क प्रधान है।

पं० बशीधरजी जहाँ सैद्धान्तिक चर्चाओमें अपनी विशेषता रखते है वहाँ सामाजिक महत्त्वपूर्ण सुधारवादी क्रान्तिकारी विचारोमे भी कम नही है। आप दस्सा पूजाधिकार, गजरथ-विरोध आदि आन्दोलनोमे भी अगुआ रहे है। साथ ही राष्ट्रके स्वतत्रता-आन्दोलनमे खूब भाग लिया है और सेवा की है। सन् १९३१ मे ही गाधीजीके आन्दोलनमे कूद पडे थे और सन् १९४२ में कृष्ण-मन्दिर की यात्रा भी की है, यातनाये सही है।

आपका जन्म ८४ वर्ष पूर्व हुआ। बचपनमे ही माता-पिताका वियोग सहना पड़ा। कठिन श्रम करके एक ऊँचे दर्जेके विद्वान् बने। परिस्थिति और संकटोमे जूझने वाले ही तपे स्वर्णके समान निखरते है। पडित जी ऐसे ही तपे, निखरे हुए पुरानी पीढीके विद्वान् हैं जिनपर समाजको गर्व है। पडितजी स्वस्थ दीर्घजीवी हो और माँ सरस्वतीकी इसी प्रकार सेवा करते रहे, यह मेरी हार्दिक कामना है।

मैंने जैसा देखा-समझा

● श्री नेमीचन्द्र पटोरिया, एम० ए०, एल-एल० बी०, बम्बई

समाज-मान्य विद्वान् श्री प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य समाजके जाने माने अग्रणी विद्वान् है। वे न किसी गुट या किसी तबकेसे जुडे या बँधे है। वे केवल उसीसे जुडे है जो सिद्धान्त व तर्क-सगत प्रतीत होता है। वे अपने विचार सरल और स्पष्ट शब्दोमे बिना लगाव व दुरावके कह देते हैं इसीमे उनकी विशेषता है।

कभी-कभी उनके गभीर विचार साधारण गृहस्थके पल्ले कम पडते है, किन्तु विद्वद्-मडलीमें उनके विचारोका उचित समादर होता है।

आरम्भसे ही मेरे मनपर इनका प्रभाव पडा कि ये विद्वान् सरल प्रकृतिके है। परिधानमे, खानपानमे, बोलचालमे, व्याख्यानमें वे सरलताके प्रतीक मुझे लगे। मानो वे एक खुली पुस्तक है। कही कोई छिपाव या दुराव नही है, जो कहते हैं स्पष्ट सरल शब्दोमें कहते है।

इनके विचारोसे कोई इन्हे पुरातन-पथी मानता है, कोई इन्हे नूतन व उग्रवादी। किन्तु उनके हृदयके द्वार सिद्धान्त और तर्कमें कसे विचारोके लिये सतत खुले रहते है।

हमारे चरित्र-नायक सब झझटोसे दूर आदर्श और धर्ममय गृहस्थ-जीवन यापन करते है। वे किसी सस्था या गुटसे जुडे नही है, स्वतत्र व्यवसाय करते है, इससे इनके विचारोमे स्वतत्रताका हम पुट पाते है और जो कहते है, स्पष्ट और बेलगाव, चाहे सुननेवालेको प्रिय हो या न हो। 'सत्य शिव' से डूबे उनके विचार रहते हैं, 'सुन्दर' पर उनका ध्यान नही हैं।

मेरी समझमे आवश्यकता है ऐसे मनीषी विद्वानोके लेख, व्याख्यान और विचारोका संकलन, जो सुसपादित और प्रकाशित हो, जिससे सर्वसाधारण और विशेषकर नवयुवकोको समुचित मार्ग दर्शन मिले।

मैं अभिनन्दनीय विद्वान्के स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवनकी कामना करता हूँ।

सफल कार्यकर्ता और यशस्वी विद्वान्

● पं० नाथूलाल जैन शास्त्री, प्राचार्य, सरहुकमचद दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर

सस्कृत राष्ट्र भाषा या लोकभाषा प्रयत्न करनेपर भी नही हो सकी, इसका कारण उसके व्याकरणकी क्लिष्टता हैं, बिना मुखाग्र किये उसके व्याकरणका उपयोग सभव नही हैं। सभी सस्कृत पद्योका अर्थ भी सरलतापूर्वक बता देना किसी भी सस्कृतज्ञ विद्वान्की शक्तिके बाहर हैं। मस्कृतमे लिख लेना और बोल लेना भी सहज नही हैं। ऐसी सस्कृत व्याकरणको प्रारभसे आचार्यके पट्खड तक सपूर्ण अध्ययन कर उसमें उत्तीर्णता प्राप्त कर लेनेका शायद प्रथम श्रेय प०जीको ही प्राप्त है। क्योकि अन्य जो भी प्रसिद्ध विद्वान् है, उसमें अधिक व्याकरण, न्याय आदिके षट्खड उत्तीर्ण नही हुए है, फिर भी उन्हें व्याकरण, न्याय आदिके आचार्य पदसे सबोधित किया जाता है। पडितजी साहित्य, जैन दर्शन आदिके भी निष्णात विद्वान् है। राष्ट्रीय आन्दोलनमें सक्रिय भाग लेकर ६-७ बार आपने कारावास भी भोगा है। अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिपद्के अध्यक्ष, नगर काग्रेस कमेटीके अध्यक्ष आदि विशिष्ट पदोपर रहकर आपने राष्ट्र, समाज एव साहित्यके क्षेत्रमे खूब सेवायें की है। जैन शासनमे निश्चय और व्यवहार, जैन दर्शनमे कार्यकारण भाव आदि विषयोपर आपके चिन्तनपूर्ण लेख एव ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। जयपुर खानिया तत्त्वचर्चामे आपका प्रमुख भाग था। पण्डितजी सफल कार्यकर्ता और यशस्वी विद्वान् है। वे आर्थिक दृष्टिसे सपन्न और स्वावलम्बी होनेसे श्रीमान एव धीमान् दोनो है। हमारा विद्वत् समाज आपसे गौरवान्वित है। इस अभिनन्दनके सुअवसरपर मै उनका हार्दिक अभिनदन एव चिरायु कामना करता हूँ।

कर्मठ विद्वान्

● डॉ० लालबहादुर जैन, शास्त्री अध्यक्ष, शास्त्री परिषद्, दिल्ली

दिगम्बर जैन समाजके प्रसिद्ध विद्वानोमे श्री पण्डित वशीधरजी व्याकरणाचार्यका अपना एक स्थान है, जिन्होने अपने बौद्धिक परिश्रम और आगमिक सिद्धान्त ज्ञानसे मिथ्यावादियोके प्रचार-प्रसारको खण्डित करके जिनवाणीकी रक्षा की है। आपका अभिनन्दन ग्रन्थ तो वस्तुत बहुत पहले ही प्रकाशित होना था। परन्तु जो कुछ होना है वह प्राय अपने समयके अनुसार ही होता है। आदरणीय पण्डितजीकी ज्ञान-गरिमा और गम्भीर आगम ज्ञानसे प्रभावित होकर मै पुन-पुन उनका अभिनन्दन करता हूँ।

क्या तुम्हारे सहपाठी देव हैं ?

● पं० अमृतलाल जैन, शास्त्री, साहित्य-जैन दर्शनाचार्य, लाडनू

सन् १९३३ की बात है। मै उस समय श्री गो० दि० जैन सि० महाविद्यालय, मोरेनाका छात्र था। उस समय वहाँ केवल चार ही विशिष्ट विद्वानोके नाम गिनाये जाते थे—सर्वश्री न्यायालङ्कार, वादीभकेसरी, प० मक्खनलालजी शास्त्री, पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री, इन्दौर, बशीधरजी पण्डीत, सोलापुर (आप अपने नामके आगे पण्डीत लिखा करते थे, न कि पण्डित) और प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, सहारनपुर। प० बशीधर-जी व्याकरणाचार्यका नाम नही सुना था। आप अपने भतीजे प० बालचन्द्रजी सि० शास्त्री, प्राचार्य दि० जैन विद्यालय, जारखी (आगरा) से मिलने गये थे। वहाँसे लौटते समय आप मोरेना विद्यालयमे पधारे थे। आपसे मिलकर सभी (बुन्देलखण्डी) छात्रोको—जो प्राय· बडी कक्षाओके थे—यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई थी कि आप दि० जैन समाजके सर्वप्रथम व्याकरणाचार्य है। आपने लगातार ग्यारह वर्ष परिश्रम करके प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और आचार्यके सभी खण्डोमें प्रथम श्रेणीमे उत्तीर्ण होकर 'आचार्य' उपाधि प्राप्त की थी। (पू० प० गणेशप्रसादजी वर्णी और प० माणिकचन्द्रजीने आचार्यके सभी खण्ड पास नही किये थे।) फलत उक्त छात्रोने आपके अभिनन्दनार्थ सभा करनेका विचार किया। किन्तु । वहाँ उस समय कोई बुन्देलखण्डी विद्वान्, विद्वानोकी कोटिमे गणनीय नही हो सकता था।

आप असाधारण विद्वान् है फिर भी निरहङ्कार और मिलनसार है—ऐसा अनुभव करके मैं भी आपसे मिला। पूछनेपर मैंने आपसे कहा मैं बमराना (झाँसी) का निवासी हूँ यहाँ गतवर्ष आया था। इस वर्ष सर्वार्थ-सिद्धि, प्रमेयरत्नमाला, पुरुदेवचम्पू, वाग्भटालङ्कार, शाकटायन और अंग्रेजी पढता हूँ। प्राय· मासिक आदि सभी परीक्षाओमे मेरे नम्बर धर्म आदि विषयोमे सहपाठियोसे अधिक आते है, पर व्याकरणमे सबसे कम ३३ या ३४। आपने पूछा—ऐसा क्यों ? क्या तुम्हारे सहपाठी देव है ? मैंने उत्तर दिया—देव तो नही है, पर वे सभी खूब रटते हैं, मैं रटता नही, केवल समझनेका प्रयत्न करता हूँ। आपने समझाया—कि सूत्र रटना चाहिये, सूत्र रटे बिना व्याकरणका ज्ञान नही हो सकता और इसके बिना संस्कृतसे अनभिज्ञ रहोगे। ये बातें मेरी समझमे आ गईं और आपका यह प्रश्न—'क्या तुम्हारे सहपाठी देव है ? मेरे मनमे घर कर गया। इसलिये मैंने उसी दिनसे सूत्र रटना प्रारम्भ कर दिया, साधन प्रक्रियाको तो पहलेसे ही समझ रखा था। फलत त्रैमासिक आदि सभी परीक्षाओमे और सोलापुर एव महासभाकी परीक्षाओमे भी ८०-८० नम्बर प्राप्त हुए तथा प्रथम पुरस्कार भी। उस वर्ष दोनो ही परीक्षालयोसे कुल मिलाकर अठारह रु० पुरस्कार या पारितोपिकके रूपमें मिले थे। यह आपके 'क्या तुम्हारे सहपाठी देव है ?—इस प्रश्नके प्रभावसे ही हुआ। तभीसे आपके साथ मेरा सम्बन्ध बना हुआ है।

एकान्तका विरोध आपका लक्ष्य

● पं० जवाहरलाल जैन, भीण्डर (राजस्थान)

परमश्रद्धास्पद बंशीधरजी ग्यारह वर्षों तक काशी महाविद्यालयमे पढे थे। आज आप भारतके प्राचीनतम विद्वानोमेसे एक है। स्याद्वादकी रक्षा आपका लक्ष्य सदा रहा है। आचार्य शिवसागर महामुनिकी छत्र-छायामे हुई तत्त्वचर्चा (खानियाजी—जयपुर)मे आप तथा रतनचन्द्र मुख्तार प्रमुख थे। पूज्य स्व० रतनचन्द्र मुख्तार मेरे गुरुवर थे। उनके प्रति बंशीधरजीकी वर्षोसे अपार श्रद्धानिष्ठ मैत्री रही थी। इसका पुष्टप्रमाण यह भी है कि जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा प्रथम भाग नामक ग्रन्थार्थ आपने पूज्य स्व० मुख्तार सा० की स्मृतिमे उन्हें ही समर्पित किया है। आगमके सर्वोपरि शाश्वत अनुगामी, करणानुयोगके

पारगामी मनीषी मुख्तार सा०के प्रति इतनी अनन्य निष्ठा आप (बंशीधरजी) की निकट भव्यताको सूचित करती है।

बंशीधरजीसे कादाचित्क होनेवाले पत्राचारसे तो वर्षोंसे मेरा परिचय था। प्रत्यक्ष परिचय मई, जून ८७ मे धवला वाचनाके कालमे ललितपुरमे हुआ। चर्चाओ-परिचर्चाओंके दौरान आप बहुत सरल स्वाभावी, समता शान्तिसे प्राश्निकके प्रश्नोका समाधान करनेवाले सूरि प्रतीत हुए। एकान्तका विरोध आपका ध्येय रहा; जो प्रशस्य ही है। आगममे विभिन्न स्थलो पर किये गये समीचीन अर्थोंका परिमार्जन आपकी करणीय कार्योंकी लिस्टमे निहित है। धवलामें शोधन विषयक आपने मुझे हिदायत भी ललितपुरमे ही दी थी। आर्ष-मार्गके उद्योतक पण्डित बंशीधरजीके दीर्घजीवित्व, स्वस्थता, सदा प्रसन्नता आगम प्रणयन तल्लीनता, मुनि मार्ग पोषणकी अनवरत साधना तथा अनेकान्त सम्पोषणका सातत्यकी सदा कामना करता हूँ।

आपका मार्ग सदा प्रशस्त रहे। शुभास्ते पन्थान । भद्रम् भूयात्।

सरलता व सहजताके धनी

● प० राजकुमार जैन शास्त्री, दमोह

ज्ञानवृद्ध एव वयोवृद्ध प० बंशीधरजीको व्याकरणाचार्यके नामसे समूचा प्रबुद्ध व विद्वत् वर्ग अच्छी तरह जानता है। उन्होने अपने समस्त बीते हुए जीवनको सरस्वतीके सरक्षण व सम्वर्धनमे समर्पित तो किया ही है साथ ही बहुजन हिताय, बहुजन सुखायकी सूक्तिको कृतार्थ करके चरितार्थ कर दिया। समाज, धर्म और राष्ट्रहितमे अपने जीवनको समर्पित किया। वे बडे सरल एव सहज हैं। मैं प्रभुसे यही कामना करता हूँ कि वे चिरायु हो और अपने अक्षुण्ण ज्ञानकोषको मुक्त हस्तसे वितरित करते रहें।।

समाजके लिये गौरव

● पं० भगवानदास जैन शास्त्री, रायपुर

समाजके मूर्धन्य विद्वान् व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन समाजके लिये गौरवकी ही बात है।

विद्वान् समाज व राष्ट्रके दर्पण होते हैं। वे समाजके प्रतिनिधि, पथप्रदर्शक एवं उन्नायक होते हैं। उन्हीके विचारो व प्रेरणाओसे समाजको बल मिलता है। समाज उनकी सेवाओसे कभी उऋण नही हो सकता।

पण्डित बंशीधरजी मेरे अनन्य मित्र व अन्यतम सहपाठी है। हम दोनो स्याद्वाद जैन विद्यालय, काशी-के एक ही छात्रावासमे रहते थे। यद्यपि विद्यार्थी जीवनके पश्चात् मात्र ५-६ बार उनसे भेट हो सकी, किन्तु मैं उनकी स्वतन्त्र विचार-बुद्धि, विनयशीलता तथा स्वाभिमानी स्वभावसे अच्छी तरह परिचित हूँ। मुझे याद है कि एक बार रसोइयेसे अनबन हो जानेके कारण उन्होने अपने हाथोंसे ही भोजन बनाना प्रारम्भ-कर दिया था।

आपकी समालोचक बुद्धि छात्र जीवनसे ही विकसित हुई। आपने अपने विचारोकी अभिव्यक्तिके लिये ६ स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी, जो समाजके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुईं।

आपके सम्बन्धमे यही कहा जा सकता है कि—

स जातो येन जातेन येन तत्त्व समीक्षितम्।
परिवर्तनि संसारे मृत को वा न जायते ।।

इन्ही विचारोंके साथ मैं अपनी अशेष मगल कामनायें व्यक्त करता हूँ कि श्री व्याकरणाचार्यजी यशस्वी, सुदीर्घ, नीरोगतापूर्ण जीवनका उपभोग प्राप्त करें तथा समाजकी निरन्तर सेवा करते रहें।

अनुपम व्यक्तित्वकी मूर्ति

● श्री गुलाबचन्द्र 'पुष्प', प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ

'सोरई' ग्रामकी धरा धन्य है, जहाँ संवत् १९६२ में शील-सप्तमीकी पावन बेलामे पं० मुकुन्दलालजी-की धर्मपत्नी श्रीमती राधाबाईकी पवित्र कूँखसे जैनसिद्धान्तके आराधक एव देशभक्तका जन्म हुआ। शिशुका नाम रखा गया बशीधर। वंशीधर सचमुचमे बशीधर थे, जिनकी बशीको सुनकर लोगोकी भीड लग जाती थी। आज भी जिनके आगम-ज्ञानको पाकर जनता आत्म-विभोर हो जाती है।

प्राथमिक शिक्षा जन्मभूमि-सोरईके प्राइमरी स्कूलमे पायी और उच्च शिक्षा उस प्राचीन नगरी वाराणसीके स्याद्वाद महाविद्यालयमे ग्रहण की, जहाँ सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जन्म लेकर उसे पावन एव विश्रुत किया। सान्निध्य मिला अध्यात्मवेत्ता पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैसे महान् गुरुका। फिर क्यो नही प्रकाण्ड विद्वान् होते। व्याकरण, साहित्य, न्यायके प्रखर विद्वान् होते हुए भी जैनागमके आप अद्वितीयवेत्ता और साधक है। आपने आगमके रहस्यको खोला और 'जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार' जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। सामाजिक और सास्कृतिक प्रवृत्तियोमें भी आप अग्रणी है। देशभक्ति भी आपमे कूट-कूट कर भरी हुई है। फलत आप 'स्वतन्त्रता सेनानी' भी हैं।

ऐसे व्यक्तित्वका सम्मान करना राष्ट्र और समाजके लिए सर्वथा उचित है। हमे प्रसन्नता है कि उनकी सेवाओके उपलक्ष्यमे उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट किया जा रहा है। हम उनके दीर्घ जीवनकी कामना करते हुए अपनी विनयाञ्जलि अर्पित करते है।

जैनधर्म और सिद्धान्तके अधिकारी विद्वान्

● प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन निदेशक-जैन विद्या सस्थान, श्रीमहावीरजी

व्याकरणाचार्य प० बशीधर न्यायतीर्थ उन कतिपय विशिष्ट विद्वानोमेसे एक है जो सुदीर्घ कालसे भारतीय समाजके राष्ट्रीय और आध्यात्मिक अभ्युत्थानमे अपना बहुमुखी योग देते रहे है।

आप जैनधर्म और सिद्धान्तके मर्मज्ञ और अधिकारी विद्वान् है। तत्त्वोकी चर्चा, उनका समीक्षण, निश्चय और व्यवहार, भाग्य और पुरुषार्थ तथा पर्यायोकी क्रमबद्धता जैसे महत्त्वपूण और जटिल विषयोपर प्राजल भाषामे लिखी हुई आपकी अनेक कृतियो और पत्र-पत्रिकाओमें प्रकाशित होते रहनेवाले लेख, जहाँ आपकी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभाका प्रकाश करते है वहाँ उनसे समाजके उदीयमान युवावर्गको दिशा और प्रेरणा मिलती है।

अनेक पत्र-पत्रिकाओके सम्पादन तथा समारोहोके आयोजनोसे आप समाजके निकट सम्पर्कमें आते रहे है। इससे समाज को निश्चय ही बहुआयामी लाभ मिले है।

देशके स्वातन्त्र्य सग्राममे आपने जो कर्मठता दिखायी है वह आजकी पीढीको अनेक समस्याओसे घिरे हुए भारतकी विकासोन्मुख प्रवृत्तियोमे सजीव योग देते रहनेकी प्रेरणा देती रहेगी।

आप जैसे प्रबुद्ध मानवका अभिनन्दन और सम्मान निश्चय ही समाजके गौरवको बढानेवाला एक प्रशस्त कार्य है। इसे जितने उत्साह और वैभवके साथ सम्पन्न किया जा सके, करना चाहिये। यह हम सब लोगोका परम कर्तव्य है।

अभिनन्दनके इस बडे अवसरपर मै चौरासी वर्षीय महामना पं० बशीधर जीके लिए अपनी शुभकाम-नाएँ अर्पित करता हूँ। वे दीर्घायु हो और स्वस्थ रहते हुए समाजकी आध्यात्मिक सेवाके बहुविध क्षेत्रोमें अपना सहज-स्वभावी योग देते रहे।

सादा जीवन और उच्च विचारके धनी

● प० सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन

अभी मैं विद्वत्परिषद तथा महासमितिके अधिवेशनो मे आगरा गया था। तब बनारसके सम्मानीय विद्वान् बाबूलालजी फागुल्लने चर्चामे कहा कि सेठीजी आपको यह जानकार हर्ष होगा कि हम समाजके प्रसिद्ध विद्वान् माननीय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य जैसे महाविद्वान् ही सेवाओ व समर्पित जीवनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ एक अभिनदन ग्रन्थ प्रकाशित करनेकी योजना बना रहे है जिसमे आपका भी सहयोग वाछनीय है। यह सुनते ही मेरे हृदयने आवाज दी कि आज भी जैन समाजमे विद्वानोके प्रति अगाध श्रद्धा और उच्चतम भावनायें है जो किसी-न-किसी रूपमे अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करके श्रद्धासुमन उनके चरणोमे अर्पित करना चाहता है। जैन समाजने व्यक्ति विशेषको महत्त्व कभी नही दिया है। यह समाज हमेशा गुणोकी ही पूजा करता आ रहा है। सम्मानीय पण्डितजीका यह अभिनन्दन ग्रन्थ वर्तमान पीढीके लिए ही नही किन्तु भावी पीढीके लिए भी प्रेरणा दायक होगा—ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

श्रद्धेय पण्डित बशीधरजी जैन जगत्के विद्वानोमे एक आदर्श और उत्कृष्ट विचारोके विद्वान् है। मैंने उनके प्रत्यक्ष दशन द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्रपर होनेवाले गजरथ महोत्सव के समय किये थे। उस समय अखिल-विश्व जैन मिशनका अधिवेशन था, तब मुझे भी जानेका सौभाग्य मिला था। प्रथम प्रवचनमे ही मैं श्रद्धेय पण्डितजीके विचारोसे काफी प्रभावित हुआ। मै उनके निवास स्थानपर पहुँचा। कई धार्मिक और सामाजिक चर्चायें आपसे मैने की। जिससे ज्ञात हुआ कि आप कर्मकाण्डी विद्वान् नही है। आपका झुकाव अन्तंजीवन की टटोलपर है, और वास्तवमे वे भगवान् कुन्दकुन्दके विचारोके अनन्य भक्त विद्वान् है। आपका चिंतन बहुत विशाल है और गृहस्थ होते हुए भी आपके विचारोसे मैंने यह निर्णय लिया कि आप सही रूपमे निर्लिप्त जीवनके धनी हैं। द्रोणगिरिके बाद किसी व्यक्तिगत प्रसगको लेकर कई बार आपके घरपर ठहरनेका मुझे सौभाग्य मिला है। आपका आतिथ्य सत्कार भी बडा बेजोड है। महाविद्वान् होते हुए भी मैंने हमेशा आपको विनम्रताकी मूर्तिके रूपमे ही देखा। न आपके जीवनमे कोई दिखावा है और न किसी भी प्रकारका प्रदर्शन। सादा जीवन और उदार विचार ही आपके जीवनका लक्ष्य है। आपने अपने जीवन कालमें साहित्यिक सेवायें तो की है, लेकिन आपने राष्ट्रीय आन्दोलनमे भी सक्रिय रहकर जैन समाजका मस्तक ऊँचा किया है। जीवन मे जेल जानेका भी आपको सौभाग्य मिला है। जैन समाजमे समय-समयमे अनेक आन्दोलन चले है लेकिन उन आन्दोलनोमे आपने अपने आपको कभी नही उलझाया हमेशा आप ज्ञाता और दृष्टाके रूपमे ही रहे और आज भी है। आप अद्‌भुत प्रतिभाके धनी विद्वान् है अत विद्वत् परिषद जैसी महान् सस्थाका नेतृत्व करके आपने समाजको ही मार्ग दर्शन नही दिया, विद्वानोको भी मार्ग दर्शन देकर जैन दर्शनकी अनुकरणीय सेवा की है। विद्वानोको आज भी आपकी विद्वत्ताके प्रति श्रद्धा और गौरव है। और विद्वज्जन उनको अभिनन्दनीय मानकर उनके प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करते है। ऐसे महाविद्वान्के चरणोमे श्रद्धा प्रकट करता हुआ मैं भी अपने आपको धन्य मानता हूँ। और भगवान् महावीरसे प्रार्थना करता हूँ कि 'माननीय पण्डितजी शतजीवि बनकर इसी तरह समाज, देश व राष्ट्रको मार्ग दर्शन देते रहे।

शुभकामनाएँ

● प्रो० फूलचन्द्र सेठी, खुरई

पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाके सम्बन्धमे अभिनन्दन-ग्रन्थ छप रहा है। मैं श्रद्धेय पण्डित-जीकी दीर्घायुकी शुभकामनाएँ प्रेषित कर रहा हूं। ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हो तथा जैनधर्मकी सेवा अपनी लेखनी द्वारा निरतर करते रहे।

धर्म और समाजके सच्चे हितचिन्तक

● प० हीरालाल जैन 'कौशल' मन्त्री–अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

सम्माननीय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य समाजके सर्वप्रथम व्याकरणाचार्य है। उस समय यह विषय अत्यन्त कठिन मानकर इस ओर छात्र जाते ही न थे। ऐसे विद्वान्को सस्थाओमे स्थानकी कमी न थी, पर पण्डितजी समाजके उन गिने चुने विद्वानोमेसे है, जिन्होने समाजको अपने जीवनयापनका आधार न बनाकर स्वतन्त्र (कपडेके) व्यवसायको अपनाया और उसमे अपनी ईमानदारी तथा सद्व्यवहारसे अपनी गहरी साख बनाई एवं सम्मानपूर्वक उन्नति करके अपनी स्थितिको सुदृढ बनाया। साथ ही अपनी योग्यता, सतत अध्ययन एव गम्भीर चिन्तनके द्वारा समाजके प्रथम श्रेणीके वरिष्ठ विद्वानोमे अपना सम्माननीय स्थान बनाया। आप समाजकी प्रत्येक गतिविधिसे सदा जुडे रहे और उसमे योगदान देते रहे।

व्याकरणाचार्यजी व्याकरणके अपूर्व विद्वान् होनेके साथ ही दर्शन तथा अध्यात्म आदिके भी प्रकाड पण्डित है। वे अपनी पैनी दृष्टि एव सूक्ष्म पकडके द्वारा प्रत्येक विषयका गम्भीरतासे मथन करते है, तथा विषयका विश्लेषणकर सप्रमाण उसपर लेखनी उठाते है। उनके लिखित ग्रन्थोमे यह सब बाते स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

वे शान्तस्वभावी, निरभिमानी, उदारहृदय, दिखावट-बनावटसे दूर सादगीपसन्द व्यक्ति है। धर्मके दृढ श्रद्धानी है पर कुरीतियो, कुप्रथाओ तथा पोपडमके सदा विरोधी रहे है। धर्म व समाजके सच्चे हितचिन्तक है। समाजकी सुप्रतिष्ठित संस्थाओके अध्यक्ष एव मन्त्री आदि जिम्मेवारीके पदोपर रहकर आपने समाजकी अनुपम सेवा की है। समाजके द्वारा आप कई बार सम्मानित हो चुके है।

आप सच्चे देश भक्त भी है। आपने स्वतंत्रता आन्दोलनमे जेल जाकर देशको स्वतत्र करानेमे अपना योगदान दिया। विद्वानोमें वे ऐसे प्रथम विद्वान है। आपका जीवन वस्तुत एक आदर्श एव अनुकरणीय है।

इस आयुमे भी आप साहित्य एव समाज सेवाके कार्यमे लगे रहते है। भगवानसे प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हो तथा इसी प्रकार समाजका हित करते रहे।

मंगल कामनाएँ

● पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, जयपुर

पूज्य पडितजी पुरानी पीढीके विद्वानोमें अग्रगण्य है। जिस प्रकार आपने आर्षमार्गकी परम्परा निभाते हुए समाजको सत्साहित्य दिया उसी प्रकार स्वतन्त्रता सेनानीके रूपमे राष्ट्रको अपने कातिकारी एव सुधारवादी विचारधारासे प्रभावित किया। युगानुसार नूतन-प्राचीन विचारोके सामंजस्यसे युवापीढीको धर्मकी ओर आकृष्ट किया है। सादा जीवन एव उच्च विचार ही आपके जीवनका लक्ष्य रहा है।

मेरी मंगल-कामना है कि आप युगो-युगोतक हमे मार्गदर्शन देते रहे। बिना बाँसुरीके भी श्री बंशीधर अपनी मनमोहन तान सुनाते रहे।

आपका अभिनन्दन जिनवाणीका अभिनन्दन है

● डॉ० कन्छेदीलाल जैन, सम्पादक 'जैन सन्देश', रायपुर

आपके सम्मानमे अभिनन्दन-ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है। यह जानकारी मुझे वाराणसीसे प्राप्त पत्रकसे हुई। प्रसन्नता हुई। आपने समाजसे स्वतत्र रहकर कार्य किया, यह अच्छी बात है, गौरवपूर्ण है। समाज पर निर्भर न रहकर अपनी विद्वत्ताका उपयोग किया। परन्तु यदि आप व्यवसायके स्थानपर अध्यापन-कार्य करते तो आपकी प्रतिभा तथा योग्यताका इससे कई गुना लाभ समाजको मिलता। आपका अभिनन्दन प्रकारान्तरसे जिनवाणीका अभिनन्दन है। इस कार्यक्रमके आयोजनकी रूपरेखासे मुझे प्रसन्नता हुई।

लौह लेखनीके धनी

● पं० हेमचन्द्र शास्त्री, अजमेर

सम्भवत सन् १९३१ का सत्र शुरू हुआ था। मैंने जम्बू विद्यालय, सहारनपुरसे प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर श्री० स्याद्वाद दि० जैन विद्यालय, बनारसमे प्रवेश पानेके लिये विद्यालयका प्रवेश फार्म भेजा था। मुझे वहाँ प्रवेश मिल गया और वहाँका छात्र बन गया। उस समय विद्यालयकी प्रतिष्ठा शिक्षा जगतमें आदरणीय रही।

विद्यालयके स्नातक अबतक न्यायाचार्य तो हुए थे सो भी अपूर्ण थे। परन्तु अन्य व्याकरण-साहित्य आदि विषयके कोई विद्वान् जैन समाजमें नही थे। सर्वप्रथम इन विषयोके विद्वानोंमे यदि किन्हीका नाम गिना जा सकता है तो वे है श्री प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य और श्री प० परमानन्दजी साहित्याचार्य। श्री पं० परमानन्दजी पचकूलामे कार्यरत रहे और वे अब हमारे बीचमें नही हैं।

सर्वप्रथम मैंने इन दोनो वरिष्ठ स्नातकोको विद्यालयमें देखा। वहाँका सात्विक जीवन और शिक्षाकी लगन अपूर्व ही थी। आज उसीका फल है कि मेरा भी जीवन जिनवाणी आराधनामें व्यतीत हो रहा है।

श्री व्याकरणाचार्यजी अत्यन्त सरल, मृदुस्वभावी, दुबले पतले, सयमशील, सतत ज्ञानाभ्यासी, कर्मठ छात्र रहे। आप किसी सामाजिक सस्थामे कार्य न कर गृह-व्यवसायी रहे। परन्तु आश्चर्य है कि आपकी जिनवाणी साधना वहाँ भी सतत चलती रही और उसीका शुभ परिणाम है कि आपका वृद्ध जीवन अब भी जिनवाणीको पूर्णत समर्पित है।

आपकी लौह लेखनी व्याकरणाचार्य होते हुए भी जैनदर्शनके गूढतम विषयोपर चलती रही है, जिससे आगम स्याद्वाद सूर्य आव्योमित हुआ है तथा मिथ्या धारणाएँ नष्ट हुई है। आपका लिखित साहित्य आपको अमरता प्राप्त कराता रहेगा। पडितजीकी रचनाओको हृदयगम कर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ।

श्री पडितजी दीर्घजीवी होकर इस प्रकार स्वाध्यायिओको मार्गदर्शन देते रहे। मैं उनके स्वस्थ एव निराकुल जीवनके लिये वीरप्रभुसे प्रार्थना करता हूँ।

समस्त समाजने पडितजीका अभिनन्दन करनेका जो उपक्रम किया है वह उनकी जिनवाणी सेवाके अनुरूप है। मैं ग्रन्थके उत्तम प्रकाशनके लिये समितिको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

जैन आगमके उच्चकोटिके विद्वान्

● प० प्रकाश हितैषी, सम्पादक—सन्मति सन्देश, दिल्ली

आदरणीय व्याकरणाचार्य प० बशीधरजी शास्त्रीको मैं ६० वर्षसे जानता हूँ क्योकि आपके निवास स्थल बीना (इटावा) मे मैंने प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य और प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री भारतके स्वतन्त्रता सग्राममे प्रमुख सेनानी माने जाते थे। फलस्वरूप उन्होने जेल यात्रायें भी की है। उस समय उनकी निर्भीकता एव देशकी स्वतन्त्रताके प्रति समर्पण उल्लेखनीय रहा है। उन दिनो इन दोनो विद्वानोकी राम-लक्ष्मण जैसी जोडी लोग कहा करते थे।

समाज सुधारमे भी ये अग्रगण्य थे। मरणभोज एव अन्य सामाजिक बुराइयोका भी खुलकर विरोध करते थे। अनावश्यक होनेवाले गजरथ—पचकल्याणकोका भी इन्होने खूब विरोध किया था। वे कहा करते थे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाके लिए ये प्रतिष्ठाएँ धनका अपव्यय है। इनका विरोध करनेके लिए इन्होने एक समितिका भी निर्माण किया था। आप समाज सेवामे विश्वास करते थे, लोकेषणासे सदा दूर रहते थे।

आप आगमके उच्चकोटिके विद्वान् हैं। ये हमेशा स्वतन्त्रजीवी रहे हैं। इन्होंने कभी भी सामाजिक संस्थाओंकी गुलामी स्वीकार नही की। इनका विचार है कि स्वतंत्र रहकर ही समाज सेवा की जा सकती है।

अनेक पुस्तके लिखी हैं। व्यवसाय करते हुए भी आपकी कलम निरन्तर चलती रहती है। वे दीर्घजीवी रहकर जनकल्याणकारी प्रमेय दे, यही मगल कामना है।

जैन दर्शनके बंशीधर

● पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, प्राचार्य श्री दि० जैन स० महाविद्यालय, सागर

जिस प्रकार बशीधर (श्रीकृष्ण) ने गीताकी वशी ध्वनित कर, केवल अर्जुनको ही नही, किन्तु विश्वके मानवोंको पुरुषार्थ करनेके लिये जागृत किया, कर्तव्य पालन करनेके लिये प्रेरित किया और गीताका उपदेश देकर कल्याणके पथका प्रदर्शन किया। गीतामे यह कथन ध्यातव्य है—

स्वेस्वे कर्मण्यभिरत, ससिद्धि लभते नर।
स्वकर्मनिरत सिद्धि, यथा विन्दति तच्छृणु ॥

अर्थात्—स्वभावजन्य गुणोके अनुसार प्राप्त होनेवाले अपने-अपने कर्मोंमें सर्वदा प्रवृत्त होनेवाला पुरुष तदनुसार सिद्धिको प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जैनदर्शनके क्षेत्रमे वशीधरने अपने तत्त्वज्ञानकी वशीको ध्वनित कर मानव समाजको जागृत किया, कर्तव्यमे निष्ठ होनेके लिये प्रेरित किया एव स्वकीय जीवनमे महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मौलिक समीक्षात्मक ग्रन्थोका सृजन कर मानवको स्याद्वादात्मक आत्मकल्याणके मार्गपर प्रगति करनेके लिये यथार्थ पथिक वनाया है। अत हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्वके विपयमे मंगलकामना करते है।

"दीर्घायुरस्तु शुभमस्तु सुकीर्तिरस्तु
सद्बुद्धिरस्तु धनधान्यसमृद्धिरस्तु ॥"

सिद्धान्त रक्षक

● डॉ० श्रेयासकुमार जैन, महामंत्री–अ० भा० दि० जैन शास्त्रिपरिपद्, वडौत (उ० प्र०)

आगम और अध्यात्मके तलस्पर्शी ज्ञानवाले महामनीषी सिद्धान्ताचार्य पण्डित वंशीधर व्याकरणाचार्यका व्यक्तित्व सिद्धान्त सरक्षकके रूपमें चिरस्मरणीय रहेगा, क्योकि विगत पचास वर्षोंमे जिन आगम विरुद्ध मान्यताओंका प्रचलन और प्रसार हुआ, उनका निराकरण पण्डितजीने आगमके परिप्रेक्ष्यमे अपनी सिद्धहस्त लेखनीसे किया।

व्याकरण और न्यायके विपयोंकी विशद मीमासाके साथ अध्यात्मके रहस्यको उद्घाटित करने वाले एकमात्र विद्वान् है। निश्चय-व्यवहारकी आगमिक मीमासा और खानिया तत्त्व चर्चामे आगम पक्षका प्रतिनिधित्व इनके जीवनका सर्वश्रेष्ठ कृतित्व है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिपद्के प्रमुख स्तम्भोंमे इनका श्रेष्ठ स्थान है। पण्डितजीने अपने जीवनका वहुभाग देव-गुरु-शास्त्रकी मर्यादाके सरक्षणमे समर्पित किया। आर्प परम्पराका पोपण किया।

जहाँ पण्डितजीका जीवन जैन सिद्धान्तके प्रचार-प्रसारमे बीता, वहाँ उन्होंने राष्ट्रके हितमें स्वतन्त्रता सेनानीके रूपमे स्वयको समर्पित किया। पण्डितजी सस्कृति, कला, ज्ञान तथा विद्वत्ता के मूर्तिमान प्रतीक हैं। समाज तथा राष्ट्रकी धरोहर हैं।

सिद्धान्ताचार्यका अभिनन्दन सरस्वतीका अभिनन्दन है। हम मंगल कामना करते हैं कि इनकी अजस्र लेखनी दीर्घकाल तक आगम-प्रभावनाकी निमित्त बनी रहे।

स्वाभिमान और प्रज्ञाकी मूर्ति

● प० रविचन्द्र जैन, शास्त्री, दमोह

श्रद्धेय प० जी उन व्यक्तियोमें है, जो अपना जीवन स्वय निर्माण करते है। वे स्वतत्र विचारक, गम्भीरचेता, महान् अध्येता और समयानुकूल समाजसुधारक है। उन्हे अपना प्रदर्शन बिलकुल पसन्द नही है। मौन कार्य करना ही उन्हे प्रिय है। स्पष्टवादिता, भौतिकतासे दूर रहना, प्रतिफलकी अपेक्षा न करना और सेवादृष्टि रखना ये आपके सहज गुण है। राष्ट्र, समाज और साहित्य इनके लिए समर्पित जीवन इनका लक्ष्य है। इनके द्वारा की गयी, इनकी सेवा अभिनन्दनीय है।

जब भी विद्वानोका प्रकरण आता है तो पण्डितजीका सादगीपूर्ण रहन-सहन, निश्छल वृत्ति, स्वतन्त्र व्यवसाय और गरिमामण्डित व्यक्तित्व आंखोके सामने आ जाता है। इतने उद्भट विद्वान् होते हुए भी सामाजिक नौकरीसे कोसो दूर रहकर आपने अपना स्वत व्यापार किया। फिर भी उसमें अनासक्त रहते हुए राष्ट्र, समाज और साहित्यकी सेवामें सलग्न है। आपने किसीकी जी हजूरी करके अपना स्तर नीचे नही किया। स्वाभिमान आपका पहला गुण रहा है। इससे उन्हे जो मान-सम्मान मिला है वह किसी भी व्यक्तिके लिए स्पृहणीय है।

स्वतन्त्र व्यवसायी होनेपर भी आप आगम और उसके सिद्धान्तोकी रक्षामे निरन्तर सलग्न है। फलत कई ग्रन्थोकी रचना आपके द्वारा हुई है। यह भी सुयोगकी बात है कि आपके परिवारमें भारतीय स्तरके दो विद्वान भतीजो—प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और डॉ० प० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यके द्वारा भी जिनवाणीकी सेवा हो रही है। इन्होने भी अनेक ग्रन्थोका सम्पादन-हिन्दी अनुवाद और लेखन किया है। यह समाजके लिए आपकी और आपके परिवारकी उल्लेखनीय देन है।

आपकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ भी कम नही रही। गजरथविरोध, दस्सापूजाधिकार आदिमे सक्रिय भाग लिया और उनमे सफलता भी प्राप्त की। आप स्वतन्त्रता-सेनानी भी है। ऐसे जीवट एवं कर्मठ विद्वत्प्रवरको हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ है।

'तुम जियो हजारो साल, सालके होवें वर्ष हजार।'

चिन्तनशील विद्वत्प्रवर

● प० भैयालाल शास्त्री, बीना

विद्वत्प्रवर प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यसे मेरा परिचय सन् १९२५ से है, जब मैं श्री नाभिनन्दन दि० जैन पाठशाला क्षेत्रपाल ललितपुर (उ० प्र०) मे अध्ययन करता था और पण्डितजी स्याद्वादमहाविद्यालय, वाराणसीमे पढते थे। आप ग्रीष्मावकाशमे अपने साथियो—प० परमानन्दजी साहित्याचार्य, प० बालचन्द्रजी शास्त्री, प० पद्मचन्द्रजी आदिके साथ क्षेत्रपालमें ठहरते हुए अपनी जन्मभूमि सोरईको जाते थे। उस समय आपसे अनायास भेंट हो जाती थी। व्याकरण बडा कठिन विषय माना जाता था, किन्तु आपने अपने अध्ययनका विषय उसे ही बनाया था। इससे छात्रोको आश्चर्य होता था।

बीनामें श्रीमान् शाह मौजीलालजी कठरया बडे धार्मिक व्यक्ति थे। उनके एकमात्र कन्या थी, जिसके विवाहकी उन्हें चिन्ता थी। प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने उन्हें बशीधरजीका नाम सुझाया। वे बनारस गये और बशीधरजी योग्य जँचे और उनका सम्बन्ध उनकी लडकी लक्ष्मीबाईके साथ हो गया। पण्डितजी बीनामें रहने लगे और कपडेका व्यवसाय करने लगे। आपने भावमे अपनी एक बात रखी, कमती-बढ़ती

कहे, यह मुझे अखर रहा था। युवकोचित उत्साहसे प्रेरित होकर मैं बोलनेके लिए खड़ा हुआ, विद्वानोंकी भरपूर प्रशसा की साथमे विद्वत्-परिषद् और शास्त्रिपरिषद् जैसी दलवन्दीको समाप्त करनेका सुझाव भी दिया। कुछ विद्वानोने इसे अपना अपमान समझा। फलस्वरूप मेरे बोलनेके वाद ही विद्वान् दो खेमेमे बँट गये। कुछ लोगोने अपनी वाग्मिता द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि हम चाहे भले हो अलग-अलग विचारधाराओ वाले हो किन्तु एक दूसरेके लिए न्यौछावर रहते हैं। छात्रको बडोको सीख देनेका अधिकार नही है। श्रद्धेय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानोने मेरी बातका समर्थन किया और कहा कि मेरा कहना विद्वानोके लिए एक खतरेकी घटी है, जिसे सुनकर विद्वानोको आपसी मनोमालिन्यका परित्याग करना चाहिए। मेरी बातका समर्थन पूज्य पण्डित वशीधरजी, बीनाने भी जोरदार शब्दोमे किया। इस प्रकार अपने पक्षमें भी आधे वक्ताओको बोलता देखकर मेरा भय कम हो गया और कुछ प्रसन्नता भी हुई कि मेरे विचारो को आधार बनाकर विद्वानोमे एक अच्छा मन्थन हो गया। बादमे पूज्य पडित वशीधरजीने मेरा परिचय पूछा और उन्हे यह जानकर बहुत खुशी हुई कि मूलत मेरे पूर्वज भी उसी सोरई ग्रामके निवासी थे जहाँ पण्डितजीका जन्म हुआ है।

इस घटनाके बाद अनेक बार पण्डितजीसे भेट हुई। ये एक आगमनिष्ठ विद्वान् हैं। अपने दैनिक व्यवहारमें भी वे सचाई और ईमानदारीका प्रयोग करते है। उनकी वाणी सुलझी हुई और शास्त्रोक्त होती है उन्होंने जिनवाणीका अध्ययन, मनन और चिन्तन किया हैं। रूढिवादितासे वे भी दूर हे। दिगम्बरत्वके प्रति उनके मनमे अगाध श्रद्धा है। वे अनेक गुणोके पुज है। मेरे हृदय मे उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा और बहुमान है।

पांडित्यके अभिनव हस्ताक्षर

● श्री निहालचन्द्र जैन, व्याख्याता, बीना

पडित बशीधरजी—समयकी शलाकापर लिखा एक ऐसा हस्ताक्षर है, जिसने चौरासी पडावोकी यह जीवन-यात्रा निस्पृह और निर्लिप्त भावसे समाज व धर्मकी मूक सेवा करते हुए तय की। आज भी उम्रकी इस दराजपर पहुँचकर यौवनकी कर्मठता लिए ज्ञानाराधनामे सतत सलग्न एक शिल्पकारकी भाँति साहित्य-सृजनमें लगे हुये है। पडितजीने समयकी चुनौतियोको स्वीकार कर न केवल उनका करारा उत्तर दिया, अपितु अपने मौलिक चिन्तन और तर्कोंसे जैनदर्शनकी गुत्थियोको खोलनेमे लगे है।

प्राय स्थानसे व्यक्तिका परिचय जुडा होता है, परन्तु जैन जगत्मे प० बशीधर व्याकरणाचार्यजीके नामसे बीना नगरका परिचय जुडा है। पडितजीका व्यक्तित्व उस कोरी पुस्तकके समान है जिसमे ज्ञान-पाडित्य, स्वाभिमान, कर्मक्षेत्रकी ईमानदारी, राष्ट्रसेवा भाव, निर्लोभवृत्ति यश व सम्मान चाहसे दूर आदि जैसे गुणोके प्रतीक-पृष्ठ है और उन पृष्ठोपर केवल पडितजीके स्वर्ण हस्ताक्षर अकित है।

पडितजी मेरे 'पूज्य बब्बा' है। क्योंकि सोरई और मडावरा पडोसी गाँव होनेमे आप मेरे पूज्य पिताश्री से जुडे रहे और जब मै १९८३ में बीना आया तो पडितजीने उसी भावसे स्वीकारा, जैसे एक पितामह अपने नातीको देखता है। मैंने न केवल आपके पास बैठकर स्वाध्याय किया, बल्कि पडितजीके अनुभूत्य उपहारोसे अपनी झोली भरी।

वर्तमान परिप्रेक्ष्यमे पडितजीको जैसा देखा और जाना उसे कह देना भी प्रासागिक समझता हूँ।

१ आपने अपने ज्ञान और पाडित्यको कभी व्यवसाय नही बनाया।

२ नैतिकता व ईमानदारीकी प्रतिमाकी प्राण प्रतिष्ठा आपने अपने व्यवसाय व कर्मक्षेत्रमे की तथा अपने योग्य तीन पुत्रोको भी अपने गुणोंके अनुवर्ती बनाया। यही कारण है कि बीना इटावामें आपका वस्त्र

प्रतिष्ठान एक ऐसी गौरवशाली परम्परा लिए है कि एक निश्चित लाभांश लेकर एक ही दामसे वस्त्र विक्रय करते हैं तथा एक पैसेकी टैक्स चोरी नही करते ।

३. जीवनके प्रति एक रचनात्मक दृष्टि है। आपका कहना है कि यदि जीवनको पूर्ण नियम और सयमसे विताया जाय तो दीर्घायु उपहारमे मिल जाती है। यही कारण है कि आपका आहार, विहार, अध्ययन-लेखन, शयन सभी दैनिक कर्म घडीकी सुईयोसे बँधा स्वानुशासित है।

४ सोनगढकी एकान्त आँधीमे वडे-बडे नामधारी पण्डित ढुलक गये लेकिन आर्ष परम्परा और स्याद्वाद-अनेकान्तके इस सजग प्रहरीने अपनी लेखनी उठाकर उस एकान्त विचारधाराका डटकर सैद्धान्तिक खण्डन किया और एक सशक्त साहित्यका प्रणयन कर दिशा-दृष्टि दी।

यह सुयोग ही समझना चाहिए कि आपके सुयोग्य भतीजे जैन जगतके ख्यातिप्राप्त विद्वान प० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने बनारससे बीनाको अपनी कर्मस्थली बनाया और आपके परिवारमे दूध-पानीकी भाँति मिलकर समाज-सेवा एव साहित्य साधनाको ही पूर्ववत् अपनाया।

मै पंडितजीके दीर्घायुकी मगल कामना करते हुए आपकी लेखनीसे प्रसूत अन्य साहित्यिक। आध्यात्मिक ग्रन्थोके प्रणयनकी आशा करता हूँ ताकि वे आनेवाले युगकी चुनौतियोका सामना कर सके और आर्ष परम्पराके सरक्षणके प्रतिमान बन सके।

पाण्डित्यकी प्रतिमूर्ति

● पडित विमलकुमार सोरया, सम्पादक-वीतराग वाणी, टीकमगढ

वर्तमान शताब्दीके प्रथम श्रेणीके विद्वानोमे सिद्धान्ताचार्य विद्वत्रत्न पण्डित वशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीनाका नाम आदरके साथ लिया जाता है। पडितजीके सम्मानमे जो ग्रथ आज प्रकाशित किया जा रहा है वह आजसे २० वर्ष पूर्व ही प्रकाशित होना चाहिए था।

सैद्धान्तिक ज्ञानकी परिपक्वता व्याकरण और न्यायकी दीवाल पर आधारित होती है। श्रद्धेय पण्डितजी अभिधाओके प्रतिभा सम्पन्न अधिकारी विद्वान हैं यही कारण है कि जैन दर्शनके परिप्रेक्ष्यमे उनका प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका ज्ञान न्याय और व्याकरणकी तराजू पर सत्य रूपमे घटित हुआ। पण्डितजीका सैद्धातिक ज्ञान जितना अथाह है दर्शनकी गहराई भी उतनी अलौकिक है। सामान्य श्रावकसे लेकर विद्वान तकके बीचमे आपकी आध्यात्मिक चर्चामे अपना मौलिक चिन्तन अपना तथ्यपूर्ण सत्य और अपनी विचारण सिद्धान्तके आलोकमें पूर्णत प्राणवान देखी गई।

विद्वत्ता स्वरूप व्यक्तिकी प्रवृत्तिसे अनुभूत किया जाता है। एक बार मै और श्रद्धेय पण्डितजी एक साथ अशोकनगरमे किसी धार्मिक प्रसग पर आमत्रित किए गए। सौभाग्यकी बात थी कि जिस गाडीसे मै अशोकनगर जा रहा था उसी गाडी और उसी डिब्बेमे श्रद्धेय पण्डितजी भी थे। बड़ी प्रसन्नताके साथ हम पण्डितजीसे चर्चा करते हुए जा रहे थे। अशोकनगर स्टेशन आते ही समाजके शताधिक व्यक्ति बड़ी-बड़ी मालाएँ-ध्वजाएँ लिए हम दोनोको लेने बैण्ड-बाजो सहित आये हुए थे। जब पण्डितजी ने यह तमाशा प्लेटफार्म पर ट्रेनके पहुँचते हुए देखा तो मुझसे बोले सोरया जी आप गाडीसे नीचे उतरो मै बाथरूममे शुद्धि करके आता हूँ। यह बात मै समझ नही पाया और मै जैसे ही प्लेटफार्म पर डिब्बेसे उतरा लोगोने आगवानी करके मालायें पहनाना शुरू किया। उस भीड मे २/४ मिनटके लिए भूल गया कि पण्डितजी भी गाडीसे उतरकर आने वाले है। जबकि पण्डितजी पिछले दरवाजेसे उतरकर पीछेसे आना ठीक लिए, तुरन्त प्लेटफार्मसे आगे निकल गये। ट्रेन चलने लगी मुडकर देखा कि पण्डितजी नही दिखे—मैने स्वागतकर्ताओसे पण्डितजीके आने

की बात कही। पण्डितजीको लेने जब वह डिब्बेमे गए खोजा तो पता चला कि पण्डितजी तो कभीके स्टेशनसे निकलकर रिक्सेमे बैठकर शहरमे निकल गए थे। सार्वजनिक सम्मानकी आकाक्षासे दूर जिनकी यह धारणा रही हो, जो भडकीले सम्मानमे अपना सम्मान न समझ रहे हो यथार्थत उनका ज्ञान ही अपना ज्ञान है। पण्डितजीके समीप जब भी उनसे मिलने गया ओर कोई भी सैद्धान्तिक चर्चा उनसे की, उन्होने उसे इतनी गहराई और मौलिकतासे स्पष्ट किया। जो अपने आपमे प्राणवान रही—जीवनमे ऐसा प्रभावी अधिकारी विद्वान मैंने एक ही देखा। यथार्थत ऐसे ज्ञान प्रतिभाका सम्मान उस समाजका सम्मान है जिसके बीचमे पण्डितजी जैसा देदीप्यमान दिवाकर आलोकित है।

ऐसे महान् गौरवशाली विद्वानके यशस्वी सुखी दीर्घ धर्ममय जीवनकी मगल कामना करता हूँ।

अद्वितीय साहित्य साधक

● डॉ० प्रेम सुमन जैन, अध्यक्ष जैन विद्या एव प्राकृत, उदयपुर वि० वि०, उदयपुर

साहित्यकी सेवा करना और समाजको मार्गदर्शन देना ये दोनो कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न करना और फिर भी समादृत बने रहना दुष्कर कार्य है। किन्तु मध्यप्रदेशके सपूत सरस्वती-वरदपुत्र पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्यने इस साहित्य और समाजके सगमको सुकर बना दिया है। आपने विभिन्न प्राच्य-विद्याओकी उपाधियाँ प्राप्त कर सरस्वतीकी आराधना की, अनेक तलस्पर्शी ग्रन्थो और शोध-खोजपूर्ण लेखो द्वारा अनुसन्धानको दिशाबोध दिया तथा समाजकी विभिन्न समस्याओका समाधान प्रस्तुत कर उसे एकताके सूत्रमे बाँधनेका प्रशस्त प्रयास किया। अत आज यदि पण्डितजीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया जाता है तो वह सर्वथा उपयुक्त है।

पण्डितजीने साहित्य, समाज और राष्ट्रकी जो सेवाएँ की है, वे आदर्श है। जो इन राष्ट्रके नागरिक की पहिचान है। विद्यासे विनय और सादगी आती है, इस आदर्शके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं—व्याकरणाचार्यजी। मेरी उनके सुदीर्घ, स्वस्थ और सुखद जीवनके लिए हार्दिक मगल कामनाएँ हैं।

मेरे नानाजी

● श्रीमती गुणमाला जैन, भारतीय स्टेट बैंक, इन्दौर

उनके बारेमे लिखूँ, क्या न लिखूँ ? कहाँसे शुरु करूँ ? कहनेको तो इतना अधिक है कि यह लेखनी भी शायद थक जाये।

३ बजे सबेरे उठनेसे लेकर रात ९-९॥ बजे तककी उनकी दिनचर्याको मैंने बहुत नजदीक से देखा, समझा और सोचा भी। लेकिन अनुसरण नही किया। उनके सरल और यथार्थतावादी व्यक्तित्त्वके सामने अपना अस्तित्त्व ही खो बैठती हूँ। बीनामे मेरे अध्यापनका कुछ समय बीता और उनके सान्निध्यमे रहनेका सौभाग्य मिला। और उन बीती बातोका पिटारा अभी वर्तमान तक सुरक्षित रखे हुये हूँ।

नानाजीके व्यक्तित्वके समान मेरी नानीजीका भी व्यक्तित्त्व सीधा सादा था। रातभर बिस्तर पर बैठकर कहानी सुनाती थी। ऐसी कहानी सुनाती थी, जिसमें सत्य ही सत्य था, सघर्ष था और निरन्तर चलते रहनेकी प्रेरणा भी, वह उन कहानियोके नायक और कोई नही नानाजी थे। जिनपर आज पूरा समाज गर्व करता है।

कैसे बचपन बीता, कैसे बनारस पहुँचे, कैसे शादी हुयी, कैसे स्वततन्त्रता-सग्राममे भाग लिया, किसलिये राजनैतिक जीवनसे सन्यास लिया और बीना जैन समाजके लिये क्या-क्या सेवा की। यही उनमे था। यही कहानी मै एक बार नही कई बार दुहराती हूँ जब अपनोमें बैठती हूँ तब।

एक कोनेमे इच्छा जरूर दुबकी रही कि जैन [illegible]

लेकिन वह इच्छा पूरी नही हुयी । [illegible]

मे वात करूँ ?

आते-जाते उनकी [illegible] किया ।

मेरी बेटी पूर्णिमाने एक दिन मुझसे पूछा—[illegible] उत्तर

इतने शब्द थे कि बेटा मेरे नानाजी [illegible] किया ?

कचोटता रहता है कि नानाजीसे हम [illegible]

सचमुच वे समयके साथ-साथ ही [illegible]

अपने ध्येय की ओर । उन्हे मेरे श्रद्धा पूर्ण [illegible] ।

यशस्वी सारस्वत

● डॉ० आर० सी० जैन, प्रवाचक, [illegible] विभाग, [illegible] विश्वविद्यालय, उज्जैन

सरस्वती-वरदपुत्र, पण्डित वशीधरजी व्याकरणाचार्यके सम्मानमे अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। यह प्रसन्नताका विषय है । समाजका यह कर्तव्य है कि वह समय-समयपर अपने विद्वानोका अभिनन्दन कर उनका उत्साहवर्धन करें। पडित वशीधरजी व्याकरणाचार्य राष्ट्र एव समाजके एक यशस्वी और साहित्योपासक सारस्वत है । मै उनके दीर्घ-जीवनकी मगल कामना करता हूँ ।

मौन साधक

● श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट, गुना

जैनदर्शनके मनीषी विद्वान श्रद्धेय पडित वशीधरजी व्याकरणाचार्यका स्नेह, आशीर्वाद प्राप्त करने और उनके प्रवचन सुननेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है । जैन दर्शनके विद्वानोमे आपका विशिष्ट स्थान है। आपका ज्ञान असीम और चिन्तन मौलिक है । जीवन सरल, सात्विक और निश्छल हे । पडितजी परम स्वाभिमानी है, पर उनमें अहकार की गध तक नही है ।

जैन दर्शनके विद्वानोकी बाढ-सी आ गई है । मूलसे अपरिचित विद्वानोने जैन-दर्शनको इतना मथ दिया है कि नवनीत खोजनेपर भी नही मिलता । मैं आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवानसे पडितजीके शतायु होनेकी कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि श्रद्धेय पडितजी अपनी मौन साधनाका परित्याग कर अपने अमूल्य ज्ञानसे भारतीय समाज और सस्कृतिको उपकृत करने की अनुकम्पा करेंगे ।

असाधारण मेधावी

● डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन, प्रवक्ता सस्कृत, राजकीय महाविद्यालय जखिखनी, वाराणमी

आदरणीय प० वशीधर जी व्याकरणाचार्य सस्कृत व्याकरणके वेत्ता होनेके साथ जैन आध्यात्म, न्याय और दर्शनके उन रहस्योके ज्ञाता और चिन्तक है, जिनको समझनेमें सामान्य पडितोकी मेधा काम नही करती । खानिया तत्त्वचर्चा-समीक्षा, निश्चय और व्यवहार जैसे गूढ-तत्त्वोके रहस्यको खोलने वाले ग्रन्थोका प्रणयन करके नि सन्देह आपने मूल जैन आम्नायके वाड्मयके सिद्धान्तोकी सुरक्षा करनेमें महनीय योगदान किया है । आप सरस्वती और लक्ष्मी दोनोके वरदपुत्र है । आप किसी भी प्रलोभनके सामने झुके नही और आजीवन अपने आर्षसम्मत चिन्तनका परिचय देते आ रहे है । बीसवी शतीके समीक्षक विद्वान यदि उनका अनुकरण करें तो उन्हे दिशा मिल सकती है । मैं उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ ।

जिनवाणीनन्दनका अभिनन्दन

● विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचडिया, अलीगढ

आदरणीय पडितरत्न श्री बशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन उनकी गुणगरिमाका अभिवन्दन है। गुणकी वन्दना करना हमारा स्वभाव भी रहा है और परम्परा भी। जिनपथी सदा गुणोकी वन्दना किया करते है।

नन्द शब्द मौलिक है जिसका अर्थ है पुत्र। पुत्र प्राप्तिसे बडा और अन्य कोई आनन्ददायिक प्रसग नही होता है। इसी प्रसन्नतापर आधृत है आनन्द शब्द। नन्दका बहुअर्थयामी शब्द बना नन्दन। अभि उपसर्ग शुभ और विस्तारवादी है। इस प्रकार अभिनन्दन शब्दका अर्थ हुआ पुत्र प्राप्ति जैसा आनन्दातिरेक।

पडितजी जिनवाणीके वरदपुत्र है। उन्होने जिनवाणीमाताकी महनीय सेवा की है फिर न जाने कितने पुत्ररत्नोका उन्हें असाधारण आनन्द भोगनेको मिला है। इसी सत्यको आधार बनाकर उनके प्रशसक समुदायने इस शाब्दिक सत्कारको मूर्तरूप देनेका शुभ सकल्प किया हैं। भावना है कि इस शुभ सकल्प पूर्तिमे वे आशातीत सफलता प्राप्त करें, मेरी मगल कामनाएँ है और भावनाएँ भी। मेरी सम्मतिमें यह काम कम-से-कम अर्द्ध दशाब्दि पूर्व हो जाना चाहिए था। वन्दनाके अवसरपर मेरी तमाम श्रद्धा सुमन शाब्दिक वातायनसे उन्हे सम्प्रेषित है।

भावना और कामना है कि महामनीषी पडित जी दश दशाब्दियोका निर्बाध जीवन व्यतीत करें।

बुन्देलखण्डकी थाती

● प० बालचन्द्र शास्त्री, नवपारारजिम

बुन्देलखण्डकी माटी ऐसी है जिसने बडे-बडे वीरोको जन्म देकर देशको स्वतन्त्र और समृद्ध बनाया है और जैन विद्वानोको जन्म देनेमें वह विश्रुत है। यथार्थता भी यही है कि अभी जितने भी गणमान्य विद्वान है उनमेसे अधिकाश विद्वान् बुन्देलखण्डके ही है और इसका श्रेय परमपूज्य १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीजीको ही है जिनकी जन्म स्थली ग्राम हसेरा (उ० प्र०)के पास वाले गाँव सोरईमे हमारे परमविद्वान् व्याकरणाचार्य प० बशीधरजीने जन्म लेकर बुन्देलखण्डको ही गौरवान्वित किया है।

आपने जैन समाजमे व्याप्त बुराईयो, रूढियोको दूरकर तथा ज्ञानके माध्यमसे नये प्रमाण और निश्चयनय, व्यवहार नयको स्थितिको स्पष्ट किया है। खानियाँकी तत्त्वचर्चा जैसी चर्चामें भी भाग लेकर प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

देशकी स्वतन्त्रता प्राप्तिमे भी आपने प्रहरीका कामकर जेल यातनाओको भी झेला है, उसमें आपके दृढ सकल्पने ही काम किया है, और देशकी स्वतन्त्रता प्राप्तिमे सहयोगी रहे है। यह देशभक्ति भी प्रशसनीय है।

देश तथा समाजकी भारी-भारीका गई इन सेवाओका प्रतिफलमे मात्र अभिनन्दन करके ही हम सतुष्ट हो रहे है। जबकि ऐसे व्यक्तित्वके प्रति समाजका कर्त्तव्य होता है कि उनके प्रतिष्ठाके अनुरूप शोध सस्थान जैसी सस्था स्थापित कर दी जाती।

अन्तमे आपके उज्ज्वल भविष्य, यशस्वी और दीर्घायु जीवनकी भगवानसे प्रार्थना करता हू।

स्वतंत्र व्यक्तित्वके धनी

● प० कमलकुमार शास्त्री, टीकमगढ

उन दिनो मैं सागरमे रहता था। श्रद्धेय प० जीसे कोई विशेष परिचय भी नही था। उस समय मेरी उम्र ही क्या थी केवल १९–२० वर्षकी लेकिन मैं भी पडित कहलाने लगा था। मैंने सुन रखा था कि बीना मे कोई वंशीधर नामके विद्वान् रहते है। मैंने कल्पना कर रखी थी कि व्याकरणाचार्य है व्याकरणके विद्वान्, रूक्ष स्वभाव, नीरस विषयका अध्ययनसे नीरस जीवन, कडा व्यक्तित्व समाजसे दूर भागनेवाला एकाकीमन पसद करनेवाले होते है। फिर वे कपडेकी दुकान करते है। और मैं भी डरता सा था कि व्याकरणके विद्वान् हैं वैसे ही रूखे स्वभावके होते हैं इनसे क्या मिलना। ऐसे ही बहुत दिन बीत गये। मैं सागर छोडकर पपौरा विद्यालयमें अध्यापक हुआ। सन १९६५ की बात है उसी समय पपौराजीमे भारत वर्षके प्रसिद्ध मुनिसंघ आचार्य शिवसागरजी का चातुर्मास सम्पन्न हुआ। श्रद्धेय प०जीको आमत्रित किया गया। पहलीवार ही उनके दर्शन किए थे। सफेद खद्दरका कुर्ता, खद्दरकी धोती और सफेद टोपी, लम्बा कद, मिलनसार जीवन, सरलताकी प्रति-मूर्ति, हंसमुख चेहरा, विनोद पूर्ण वार्तालाप, अगाध पाडित्य, मीठी वाणी, मधुर व्यवहार, सादा जीवन, उच्च-विचार, स्वतनता प्रेमी और जिन्होंने शिक्षा को कभी आर्थिक आधार नही माना। आजीविकासे भी स्वतत्र और स्वतत्र विचारोसे भरा हुआ व्यक्तित्व। मेरी पुरातन धारणाओ से बिलकुल विपरीत पाया मैंने उनको। अत देखकर प्रसन्नता हुई। और जब आपका भाषण हुआ सभा मच-मुग्ध हो सुन रही थी। आपकी सम्यग्दर्शन की व्याख्या सम्यग्दृष्टि और उसका दर्शन (विचार) क्या है इसकी विवेचना प० जी कर रहे थे। उन्होने कहा कि मै सम्यग्दर्शनकी व्याख्या किताबो, शास्त्रो और पुराणोके माध्यमसे नही बताऊँगा। मैं तो सम्यग्दृष्टिके उन बहिरग विचारोकी चर्चा कर रहा हूँ जिसे वह व्यावहारिक जीवनमे उतारता। गहरे मत जाइए मैं कहता हूँ कि एक सम्यग्दृष्टि दुकान पर धोती लेने जाता है। वही दूसरा व्यक्ति भी था। सम्यग्दृष्टिने धोती दिखानेको कहा, दूसरा व्यक्ति भी धोती ही लेना चाहता है दोनोंने धोती देखी, दूसरा कहता है कोई अच्छी सी किनार वाली धोती दिखाइए जबकि इसका सूत कपडा बडा सुन्दर था। सम्यग्दृष्टि बोला भाई किनार पहनोगे या धोती मुझे किनारसे मतलब नही मुझे धोती चाहिए शरीर को ढकनेके लिये। क्या मखमली, क्या सूती। दूसरा बिगड पडा ऐसा क्यो कहते हो। यही तो बात है जिसने जीव और पुद्गलके स्वरूपको ठीक-ठीक समझा होगा वही इन बातोको समझ पायेगा यही तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमे अन्तर है। हृदयसे जिस दिन ये भेद भाव निकल जायगा अच्छा क्या और बुरा क्या दोनो दूर पडे होंगे। समताका रस बह रहा होगा, अगरगमें समझो वही सम्यग्दर्शन विद्यमान है। इस तरह प० जीके प्रवचनने मुझे आकर्षित किया फिर तो कई बार बीनामे आपसे मिला। आपकी लिखी हुई जैन तत्त्व मीमासाकी मीमासा, निश्चय और व्यवहार आदि किताबें पढी, चर्चा हुई। तबसे ही प० जीका बहुत भक्त हू।

उनके दीर्घजीवनकी मगल कामना करता हूं।

सादर अभिनन्दन

● पं० लक्ष्मणप्रसाद जैन न्या० ती० शास्त्री, मडावरा

नय, प्रमाण—सापेक्ष साधित पक्ष स्याद्वाद—अनेकान्तक धर्म-धर्मी समन्वित वस्तु स्वभावी। अनेकान्त विश्व शान्ति, सुगमता एक मात्र साधनोपाय।

अहिसा, कर्मवाद अनीश्वर वाद इत्यादि जैनधर्मकी असाधारण विशेषताओ पर क्रम, अक्रमवद्ध पर्यायोंके समालोचक, तथा श्री भगवान कुन्दकुन्दाम्नाय-समानुयायि-वंशीधरजी पु० प०जीका सादर अभिनन्दन।

आदर्श विद्वान्

● श्री नेमिचन्द्र जैन, प्राचार्य गुरुकुल, खुरई

पंडित बंशीधर जी जैनधर्मके ज्ञाता-भारतीय विद्वानोंमे मूर्धन्य हैं। इन्होंने काशीस्थ स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयमे रहकर व्याकरण शास्त्रका गहन अध्ययन किया और व्याकरणाचार्यकी उच्चतम उपाधि प्राप्त की। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करनेके बाद अधिकाश विद्वान समाज या शासनके आश्रित हो जाते हैं। परन्तु पंडितजीने न समाजपर अवलम्बित रहे और न शासनपर। स्वयका कपडेका व्यापार करते हुए सम्पन्नता अर्जित की तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भी। इन्होंने व्यापार करते हुए भी निरन्तर स्वाध्याय करते हुए कई ग्रन्थो की रचना की हैं जो वर्तमानमे पठनीय, विवेचनीय एव विचारणीय हैं। पंडितजीका अगाध पाण्डित्य सम्पूर्ण भारतके विद्वानो द्वारा प्रशसित हैं। पंडितजी अप्रतिम प्रतिभाके धनी, स्वावलम्बन पूर्ण जीवन जीनेवाले, स्वतन्त्र विचारक, श्रेष्ठ लेखक एव समालोचक हैं। उनका जीवन वस्तुत आदर्श एव अनुकरणीय है। वे शतायु हों, ऐसी हार्दिक मगल कामना है।

सरस्वती के अनुरागी

● प० जम्बूप्रसाद शास्त्री, मडावरा

आपके गुणो एव सरस्वतीकी महान सेवारती देखकर जो समाज एव विद्वत्गुणोंने आपके अभिनन्दन करनेकी योजना बनाई है, सो अति श्लाघ्य है। आपने जो जैनोमे भी एकान्तवादका गलत प्रचार हो रहा है। उसे अपने साहित्य द्वारा जैसे निश्चय-व्यवहार, निमित्त, उपादान व क्रमबद्ध पर्याय आदिकी सार्थकता व उपयोगिताको सिद्ध किया है। और फैले हुए अज्ञान अन्धकारको दूर करनेका प्रयत्न किया है तथा आपने अपने जीवनमें—विद्या एव अर्थका अच्छी तरहसे सचय किया है। इसी तरहसे आपने विद्या, एव अर्थका दान भी अच्छी तरहसे किया। यह आपकी महानता है। यह सरस्वती और लक्ष्मीका एक स्थानमे सम्बन्ध जोडा इसलिए आपने जो साहित्य लेखन किया और उसका अपने ही द्वारा स्थापित किये फण्डसे प्रकाशित कराया। इससे आपको साहित्य प्रकाशनके लिये परमुखापेक्षी नही बनना पडा, स्वतन्त्रतासे आपने समाजकी और धर्मकी जो सेवाएँ की हैं वह सदा स्मरणीय रहेंगी। आपके गुणोकी क्या प्रशसा की जाय।

मनुष्य गुणोसे ही उन्नत होता है उच्च आसन पर बैठनेसे नही, आपका हमारा सम्बन्ध चिरकालसे है अनेक जगह वाचनाओमे मिलनेसे, अनेक तत्त्वचर्चा आदि करनेका भी शुभ अवसर मिला। आपका हमारे ऊपर घनिष्ठ स्नेह है और हमारी भी आपके प्रति अति-श्रद्धा। ऐसे माननीय सरस्वतीके अनुरागी, वरद-पुत्रके प्रति सविनय विनयाञ्जली समर्पित और आरोग्यता सहित चिरायु होनेकी कामना करता हूँ।

देश श्रुत और समाजसेवी

● श्रीमती पुष्पलता 'नाहर' बाँसातारखेडा

आदरणीय प० बशीधर जी शास्त्री बीना देशप्रेम, श्रुतज्ञान और समाजसेवाके अनुपम आगार हैं। उत्तम व्यवसायी होकर भी आपके द्वाराकी गयी श्रुतसेवा श्लाघ्य है।

आगमके आप मर्मज्ञ विद्वान् हैं। विद्वानोका अभिनन्दन समाजका अभिनन्दन है। उनकी सेवाओको ध्यानमें रखते हुए उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये जानेकी योजना स्तुत्य एंव सराहनीय है।

चौरासी वर्षीय वयोवृद्ध विद्वान् प० बंशीधर जी शास्त्रीके अभिनन्दन समारोहके अवसर यहाँकी महिला-समाज कामना करती है कि शास्त्रीजी अधिकसे अधिक आयु प्राप्त करें, स्वस्थ रहें और स्वस्थ रह-कर चौरासीके चक्रसे निर्वृत्त हो।

महान व्यक्तित्वके धनी

● पं० विजयकुमार जैन, साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, श्रीमहावीरजी

वर्तमान जैन विद्वत् समाजमे श्री प० बंशीधर व्याकरणाचार्य एक ऐसे विद्वान् है जिनका नाम हृदय पटलपर अंकित होते ही राष्ट्रसेवा, समाज सेवा, साहित्य सेवा एव अनवद्य विद्वत्ताका मूर्त रूप साक्षात्कृत् हो जाता है। आपकी गभीर मनीषा एव सरलताके प्रति श्रद्धाभावसे हृदय ओतप्रोत और माथा अवनत हो जाता है। आप है जैन समाजके प्रथम प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य। कितने भाग्यवान है पं० व्याकरणाचार्यजी, कि सरस्वती और लक्ष्मी जिनके आजू-बाजू सेवाके लिये खडी हैं। राष्ट्रके प्रसिद्ध स्वतत्रता सेनानी होते हुए भी आजकी कुटिल राजनीतिसे पूर्णत विरक्त। समाजमें व्याप्त धार्मिक कुरूढियोपर आपने सक्रिय प्रहार किया और गजरथ जैमी अपव्ययी प्रवृत्तिका दृढतासे विरोध किया। वर्णी ग्रन्थमालाके अनेक वर्षो मंत्री रहकर जहाँ आपने अद्वितीय साहित्य सेवा की, वही खानिया तत्त्व चर्चा-समीक्षा, जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार जैसे चिन्तनीय ग्रन्थोकी रचनामे जैन आगमका विलोडनकर आपने जिनवाणीकी अपूर्व सेवा की है। इन ग्रन्थरत्नोंके माध्यमसे जैनागमके क्षेत्रमे उठी भ्रान्तियोको आपने अपनी समन्वयात्मक समीक्षासे दूर कर सम्यक् तत्त्वबोध प्रधान किया। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष पदसे आपने जैन विद्वानोको साहित्य व समाज सेवा एवं जैन तत्त्व ज्ञानके प्रसार की नयी दिशा दी है।

ऐसे ज्ञानपुञ्ज, सहृदय एव सरल चेता पं० जी का अभिनदन करते हुए कामना है शताधिक वर्षों तक साहित्य, समाज सेवा व जैन तत्त्वज्ञानका उद्घाटन करते हुए, हम सबके लिये अविरल प्रेरणा प्रदान करते रहे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

● प० हरिश्चन्द्र शास्त्री, श्री गो० दि० जैन सिं० स० महावि० मुरैना

श्रद्धास्पद पूज्य पंडित जी समाजके मान्य विद्वानोमे एक है। आप व्याकरण शास्त्रके साथ-साथ जैन सिद्धान्त एव जैनदर्शनके भी महान् ज्ञाता हैं। इसका प्रमाण है आपके द्वारा लिखे गये दार्शनिक एव सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। आप स्वय एक दिनचर्या है। मै पण्डितजीसे तो कुछ प्राप्त नही कर सका, पर उनके दर्शनसे ही अपने आपको धन्य मानता हूँ।

ऐसे पूज्य पडितजीके प्रति मैं मन, वचन, कायसे उनके चिरायु होनेकी मगल शुभकामना करता हुआ, उनके चरणोमें प्रणाम करता हूँ।

जिनवाणीके अपूर्व सेवक

● पं० जमुनाप्रसाद शास्त्री, कटनी

मान्यवर श्रीमान् प बशीधरजी जैन व्याकरणाचार्य हमारे बचपनके चिर परिचित है। उनका साधारण जीवन, उच्च विचार, अनुपम ज्ञान, सरल स्वभाव सदा रहा। पं० जीने सदैव धर्म समाज एव राष्ट्रकी सेवा तन मन धनसे की। आप स्वतन्त्रताके महासमरके सेनानी भी थे। जीवन एक विनम्र व्यापारीके रूपमे बिताया। आपके किये यश और अपयश एक-सा रहा कोई विकार नही। गृह लक्ष्मीके वियोग होनेपर भी आपने अपना मार्ग नही छोडा और जिनवाणीकी अपूर्व सेवा कर रहे है। आपको कोई लोभ देकर विचलित नहीं कर पाया। ऐसे सेवाभावी गुरु बंशीधर व्याकरणाचार्य युग-युग जियें—उनका नाम अमर रहे।

धर्म, समाज और राष्ट्र-सेवाके संगम

● डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' प्रभारी जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

देशके जैनागम-अध्येताओंमें 'व्याकरणाचार्य' पदमें विश्रुत पं० बंशीधर जी शास्त्रीका नाम सर्वोपरि है। आपने आगमका मर्म समझा है। आगमके विरोधमें दिये गये वक्तव्योंका निर्भीकता पूर्वक परिहार भी किया है। आगमकी यथार्थताका उद्घाटन करनेमें आप कभी पीछे नहीं रहे। खानिया तत्त्वचर्चामें आपका नाम विशेष रूपसे चर्चित रहा है। 'जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार' पर्यायें क्रमबद्ध भी हैं और अक्रमबद्ध भी आदि ग्रन्थ आपके आगम स्नेह की ही देन हैं।

समाज सेवाके तो आप सजग प्रहरी हैं। अशिक्षा, अल्पशिल्पसे ग्रस्त प्रदेशमें बहुव्ययसाध्य बहुलतासे होनेवाले गजरथ जैसी प्रवृत्तियोंका भी समाजके हितोंको ध्यानमें रखते हुए आपने विरोध किया है। समाजके किसी वर्गका जैनी हो, भले ही वह दस्सा ही क्यों न हो, उसे अर्हंत-पूजाका अधिकार दिलानेमें हमेशा आप प्रयत्नशील रहे हैं।

देश-सेवाके तो आप अग्रदूत ही हैं। देशके लिए आपने महर्ष जेल-यातनाएं सही हैं। राष्ट्रमें आज स्वतन्त्रता संग्राम सेनानीके रूप में आपका बड़ा सम्मान है।

चौरासी वर्षकी अवस्थामें भी आप नित्य प्रातः चार बजे सोकर उठ जाते हैं। अनवरत २ घंटे अध्ययन करते हैं। आहार इतना अल्प रह गया है मानो शरीरकी स्थितिके लिए ही आहार लेते हों। आप धर्म, समाज और देश सेवाके संगम स्थल हैं।

ऐसे धर्म, समाज और राष्ट्रसेवी मनीषीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करनेका निर्णय समाजके गौरवका विषय है। पूर्ण हर्षोल्लासके साथ इस समारोहका आयोजन होना चाहिए।

इस अवसरपर मैं वर्द्धमान भगवानसे कामना करता हूँ कि अभिनन्दनीय श्री पं० व्याकरणाचार्यजी स्वस्थ रहें और दीर्घतम आयु प्राप्त कर इसी प्रकार धर्म, समाज और राष्ट्रकी सेवा करते रहें।

देश और समाजकी निधि सरलता की मूर्ति को।
शत शत नमन अर्पित 'सुमन' श्रुतसेवियोंके चमन को ॥

शुभकामनाएँ

● डॉ० श्रीमती रमा जैन, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ, छतरपुर

मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रो० सुमतिप्रकाश जैन शास० महाविद्यालय बीनामें कार्यरत है। इस निमित्तसे एक बार मुझे अपने पति (डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी) के साथ बीना जानेका अवसर मिला। हम लोगोंके आगमनकी सूचना मिलते ही पूज्य पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने हम लोगोंको भोजनके लिए निमन्त्रित किया। हम लोग उनकी और उनके पूरे परिवारकी आतिथ्यभावनाको देखकर गद्गद हो गये। भोजनोपरान्त दोपहरको जब पंडितजी अपने भतीजे पं० दुलीचन्द्रजीको समयसारका पारायण करा रहे थे, मैं भी उसमें सम्मिलित हो गयी। उस समय प्रकृत विषयमें प्रस्तुत शंकाओंका समाधान पंडितजीने विद्वत्तापूर्ण ढंगसे किया। उनकी तार्किक एवं दार्शनिक शैलीने मुझे अपने गुरु स्व० पं० नेमीचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यका स्मरण दिला दिया।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पं० श्री न केवल व्याकरणके आचार्य हैं, अपितु न्याय एवं जैन दर्शनके भी आचार्य हैं। आज भी उनका स्मरण आते ही ऐसा लगता है कि पुनः अवसर मिले और मैं उनके प्रवचनमें सम्मिलित होकर कुछ ज्ञानकण प्राप्त करूँ।

ऐसे बहुश्रुत विद्वान् पण्डितजी शतायु हों, यही मेरी मंगल कामना है।

निरभिमान व्यक्तित्व

● पं० भैया शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, शिवपुरी

● पं० शान्तिदेवी शास्त्री, शिवपुरी एव उनके परिवारके समस्त सदस्यगण

इतिहासके पृष्ठोको पलटकर देखें तो आचार्य परम्परा तथा पण्डित परम्परा कुन्दकुन्द स्वामीसे लेकर आज तक अविच्छिन्न रूपसे चली आ रही है। आचार्य परम्परामे उनकी स्तुति, शिलाखण्डो या ताम्रपत्रो पर प्रशस्तिके रूपमे उत्कीर्ण की जाती रही। लगभग ४०-५० वर्षोसे विद्वानो व श्रीमानोके सम्मानमें—अभिनन्दन या स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित कर अभिनन्दन परम्पराका उदय हुआ जो अब द्रुतगतिसे समाजके सामने गतिवान होता जा रहा। विद्वानोके कृतित्व एव व्यक्तित्वके प्रति सम्मान ज्ञापित करनेकी परम्परा एक स्वच्छ एव मानद परम्पराके रूपमे अनुकरणीय बनती जा रही है, इस परम्पराके निर्वाहमे आज तक लगभग पचास मुनियो, विद्वानोका या श्रेष्ठि वर्गका सम्मान किया जा चुका है उनका यह सम्मान इतिहासमें अमर रहेगा। इस गौरवपूर्ण परम्पराके उपक्रममे इसी दशकमे चार पाँच विद्वानोका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जा चुकी है। कुछ विद्वानोके अभिनन्दनकी बात सुनी जा रही है। कुछ विद्वानोंके अभिनन्दन ग्रन्थ अधूरे है, कुछ के प्रेसमे, कुछ पूर्ण होकर सामने आ रहे है इसी श्रृंखलामे प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ पाठकोके हाथमे है।

वस्तुत सरस्वती और लक्ष्मीके वरदपुत्र श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्य जिस गरिमाके उत्कृष्ट स्थान पर है वे स्वय अपनेमे एक ही हैं, उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक अनूठा और अनोखा है। पं० श्री स्वतन्त्र व्यवसायी होकर सुधारकके रूपमे अपने विचारोके स्वतन्त्र रहे है यही कारण है कि गजरथ विरोधी आन्दोलन, राष्ट्रीय आन्दोलन, जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा बडी निडरतासे तलस्पर्शी—तर्कपूर्ण रूपमे लिखी गई। उनका जीवन समाज सुधारकी दिशा बोधमे बीता है, निर्भीकतासे समाजमे व्याप्त कुरीतियोके उखाड फेंकनेमें शखनाद किया है तो इन्ही मनीषी विद्वानने किया। "विद्वान् समाजका दर्शक होता है" इस तथ्यको सिद्ध कर दिया है।

उनकी मधुर वाणीमें सरलता है मन और मस्तिष्कमे साहस है। उनमे देवशास्त्र गुरुके प्रति अटूट श्रद्धा है, भक्ति है। अप्रतिहत प्रतिभा उनकी सगिनी है।

ऐसे सिद्धान्ताचार्य पण्डितवर्य जो स्वाभिमानकी गरिमासे गरिष्ठ एवं वरिष्ठ है उनके प्रति अनेक शुभ कामनाएँ है कि वे दीर्घायु होकर समाजको दिशा बोध करते रहे।

मेरी उन्हें शुभ मंगल कामनाएँ

● पण्डित मुन्नालाल जैन, शास्त्री संस्कृत-प्रवक्ता, श्री तारणतरण जैन उ० मा० वि०, गजबासौदा

श्रद्धेय परम-पूज्य पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य जीनाका जीवन-चरित्र प्रशंसनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय है। लक्ष्मी एव सरस्वती दोनोंका योग विशेष पुण्यसे ही मिलता है। पर आपमे दोनोंकी कृपा है। प्राकृतिक सौम्यता एव मुस्कराहट अन्तरकी भद्रता तथा मन्द कषायके प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद' वाली बात आपके जीवनमे चरितार्थ दिखती है।

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समितिने आपके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनका जो निर्णय लिया है एव श्री दरबारीलालजी कोठिया को उसका प्रधान सम्पादक बनाया गया है। मैं अभिनन्दन ग्रन्थके प्रकाशन पर पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके दीर्घ आयु होने की मंगल कामना करता हूँ।

समाजकी नब्जके पारिखी

● आचार्य जिनेन्द्र, सासनी (अलीगढ)

"चारित्त खलु धम्मो" के अनुसार आज भी प्राचीन कडीके मोती यत्र-तत्र देखने / दर्शन करनेको प्राप्त हो जाते है। ऐसे ही प्रेत शास्त्र व्याकरण/चारित्रके धनी प० वशीधरजीके दर्शन मुझे उनके स्थायी ,निवास बीना (मध्य प्रदेश) मे हुए।

प० जी सस्कृत भाषाकी कठिनतम विधा व्याकरणसे आचार्य है। उस समय व्याकरणसे आचार्य करना जैन समाजके लिये तो कौतुक/गौरवकी ही बात मानी जाती।

अगस्त १९७३ मे नाभिनन्दन सस्कृत विद्यालय, बीना में मात्र ३ माहके लिये पढाने गया। प्राचार्य प० मोतीलालजी थे। प० बशीधरजीके पास प्रतिदिन बैठता था। उन्हे देखकर मुझे स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके वैयाकरण दिवाकर जोशीजीकी उक्ति याद आती कि बेटे, व्याकरण पढना—लोहे के चने चबाना है, क्योकि यह लोक कहावत है—

डाल गले मे गुथरी, निश्चय जानो मरण।
कु, चु, टु, तु, पु रटिये, तब आवे व्याकरण॥

किन्तु श्रद्धेय प० बशीधरजी जहाँ इतने कठिन विषयके विद्वान् है वही एक बडे प्रतिष्ठित वस्त्र-व्यवसायी भी है। मैने देखा पर्यूषणमे जव प० जी धर्म-ध्यानमे अधिक समय लगाते तो ग्राहक दुकानके बाहर बैठे रहते कि जब प० जीकी दुकान खुलेगी तभी हम खरीददारी करेगे। उनकी नैतिकता और विश्वास इसका कारण था।

प० जी गम्भीर विचारक एवं समाज धर्मके ज्ञाता है। मै गाडरवाडा दशलक्षण पर्वमे प्रवचन करने गया। वापिस आया तो वहाँकी समाजके एक दलाल महोदय एव मुशीजीका पत्र आया कि हमारी भेट/दक्षिणा वापिस करो या फला सस्थाकी दानकी रसीद भेजो। मै आश्चर्य/असमजसमे था कि जिस समाजने भक्तिभावसे प्रवचन सुना और पैर छू-छूकर स्टेशन तक भेजने आये, उनके नुमाइन्दोकी ऐसी हरकत ?

मैने प० जीसे इस घटना चक्रका जिक्र किया तो प० जी गम्भीर मुद्रामें विचारपूर्वक बोले शास्त्रीजी आप समस्त दक्षिणा वापिस भेज दो। यह समाज सेवा है। समाजका अनुभव अभी आप और करगे। उनके अन्तर्मनकी अनुभूति मैने समझ ली और तुरन्त वैसा ही किया।

आज सोचता हूँ कि पण्डितजी जैसे व्याकरणविद्, धर्मशास्त्रके ज्ञाता वैतनिक समाज-सेवासे दूर कैसे रहे ? वे सचमुच समाजकी नब्जके पारिखी है। तभी तो उन्होने मूक चिन्तन/लेखनके साथ-साथ स्व व्यवसायी/स्वावलम्बी रहनेका निश्चय किया। वे सचमुच सरस्वती पुत्र है। उनके साथ रहकर एक अनुभवजन्य ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वे सदैव स्वाध्याय करते हैं और गम्भीर विषयोपर लेखनी चलाते है। सत्य धर्मका पालन व्यापारमे करनेका मूलमत्र तो कोई पण्डित श्री वशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना वालोंसे पूछे। उन जैसे मनीपीका मै अभिनन्दन एव अभिवन्दन करता हूँ। मेरी शतश. उन्हें शुभ कामनाएँ है।

अभिवन्दनीय पण्डितजी

● श्री श्रेयास जैन, पत्रकार टीकमगढ (म० प्र०)

श्रद्धेय प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य एक ऐसे सारस्वत है, जिनकी सरस्वती चतुर्मुखी है। हम देखते है कि उन्होने समाज, राष्ट्र, साहित्य सभी क्षेत्रोंमे अपनी सरस्वती का सफल उपयोग किया है। उन्होने समाजको विखण्डित करने वाली रूढियोको दूर करनेमे सक्रिय कदम बढाया है। १९४२ के 'भारत छोड़ो'

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलनमे न केवल भाग ही लिया है, अपितु ९, १० माह जेलमें भी रहे। अपने क्षेत्रमे कांग्रेसके सदस्य बनकर राष्ट्रकी निरन्तर सेवा की है।

आश्चर्य यह है कि आपने इन सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियोके साथ आर्ष सम्मत सैद्धान्तिक, दार्शनिक और तार्किक लेखो एव ग्रन्थो द्वारा सम्यग्ज्ञानका भी प्रचार किया है।

ऐसी बहुमुखी सेवाओके उपलक्ष्यमे उनका अभिवन्दन एव अभिनन्दन नितान्त आवश्यक था। आज समाज उनका अभिनन्दन कर रहा है, यह परम प्रमोदकी वात है। मैं भी एक लघु पत्रकारके नाते इस अवसर पर उनका अभिवन्दन करते हुए अपने श्रद्धा-पुष्प अर्पित करता हूं कि वे हम लोगोको दीर्घकाल तक मार्ग दर्शन करते रहें।

शान्तिप्रिय क्रान्तिकारी समाज-सेवक

● डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० पूर्व विधायक, छतरपुर

समाज सेवाके क्षेत्रमे

जैन तीर्थ क्षेत्र देवगढमे जब एक विशाल गजरथका आयोजन हुआ, तब सागरके जैन जातिभूषण सिं० कुन्दन लालजी तथा पूज्य प० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री (प्रधानाध्यापक श्री गणेश दि० जैन सस्कृत विद्यालय, सागर) के साथ मैं भी देवगढ गया। आदरणीय सिघईजीका स्नेहिल आदेश और प० जीकी साथ ले चलनेकी स्वीकृति, दोनो मेरे लिये वरदान थे। वही पूज्य पं० वशीधरजीके सर्वप्रथम दर्शन हुए। नव स्थापित "सन्मार्ग प्रचारिणी सभा" के मचसे गजरथकी असामयिकतापर इनके भाषणसे मैं इनपर मन-ही-मन नाराज हो गया, क्योकि उस समय गजरथ मेरी दृष्टिमे सबसे बडा धार्मिक कार्य था। इतने बडे रथकार सा० क्या वर्तमानको नही जानते ? यही पं० एक समझदार हैं ? इत्यादि कल्पनाएँ मनमे उठती रही। पर इनको भी तो सुनना चाहिये, सुननेमे क्या हर्ज है ? सोचकर इनका भाषण सुना और कहकर चला आया कि विरोध ही करना है तो वडे जोरसे वोलना चाहिये। प० जीकी गम्भीरता और हमारा लडकपन कैसे मेल खाते ?

आगे चलकर सागर जिलेके केवलारी ग्राममे भी गजरथका आयोजन हुआ, मैं विद्यालयकी ओरसे श्री प० मूलचन्द्रजी विलौआ सुपरिण्टेण्डेण्ट सा० की सहायतार्थ भेजा गया। प० वशीधरजीका विचार-मच वहाँ भी लगा और हमारे विद्यालयका तम्बू भी इन्हीके पास लगा। फिर वही गजरथ-विरोधी भाषण। अबकी वार तो न सुनना चाहते तो भी सुनना पडते थे। सुवह ४ बजे प० जीका भाषण भगवन्नामस्मरणके साथ प्रारभ हो जाता। इनके साथ प० जीके तत्कालीन परम मित्र माननीय प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री थे, वे भी बारी-बारीसे विरोधी भाषण देते थे। मैंने पहले दिन सोचा इन पण्डितोको कोई अच्छा काम नही आता ? पर जब चाहे-अनचाहे इनके भाषण दो दिन सुने, और सोचा तब मेरी समझमे आ गया कि मैं ही गलतीमे था। मेरी विचार-धारामें परिवर्तन आया और मैंने अपने विद्रोह विचार एक कवितामे व्यक्त कर दिये। कविताका अन्तिम छन्द था—

> "कल्याणक की पूर्णविधि को मनगढन्त होते देखा।
> ऐसे भी गजरथ धर्म अग है, मूर्खों को कहते देखा॥"

पाठक स्वय ही सोच सकते हैं। इस कवितामे गजरथकी खुली आलोचना थी। इससे बौखलाकर एक सज्जन आये, कौन है यह कविता वाला विद्यार्थी ? मैंने कह दिया साहब आखिर इतना बिगडने की क्या बात है ? वे बोले—तुमने नही सुना वह कह रहा था ऐसे भी गजरथ धर्म अग है, मूर्खोंको कहते देखा। मैंने कहा हाँ, यह बात तो सुनते ही गलत लगना स्वाभाविक है, परन्तु गम्भीरताके साथ अगर आप सोचे तो शायद आप

भी उससे सहमत हो जावेंगे, क्योकि आप एक भद्र एव विचारशील व्यक्तित्वके धनी दिखते हैं। आपके अन्तरंगकी बात भगवान जानें ? अपनी प्रशसा सुनकर वे शान्त होकर चले गये।

विचार मचके बाहर हुई इस शाब्दिक मुठभेडको मैं कभी भूल नही पाता। प० जीकी शान्त विचार-शैलीने मुझे भी गजरथ-विरोधी बना दिया। परन्तु दु ख की बात यह है कि जैन समाजपर उसका कोई असर नही है। अत तीर्थ क्षेत्रोपर चलने वाले गजरथका समर्थन परवश करना पडता है। जबकि शिक्षा सस्थाओंके पुनरुज्जीवनमे व्ययका सदुद्देश बताते हैं। पर जब यह छलना मात्र होती है तब मन-ही-मन घुटन होने लगती है कि समाज कब पण्डितजी जैसे विचारकोंके सद् विचारोसे लाभ लेगा ?

इस गजरथ महोत्सवमें प्रतिष्ठाचार्य प० हरिप्रसादजी पठा (टीकमगढ़ वाले) थे, जो बादको दिगम्बर मुनि हो गये। समाजके अनेक प्रतिष्ठित जन इसमे पधारे थे।

राष्ट्रीयताके क्षेत्रमे

पण्डितजीकी शान्तिप्रिय क्रान्तिकारिताका दूसरा उदाहरण उनके द्वारा सन् १९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलनमे भी भाग लेनेका है, जिसमें उन्होने बडी शालीनताके साथ अपने राष्ट्रीय विचारोको अभिव्यक्ति दी और जेल की सजा पाई।

सांस्कृतिक सरक्षाके क्षेत्रमे

तीसरा उदाहरण जैन सास्कृतिक परम्पराके सरक्षणमें सक्रिय योगदानका है। "जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा" ग्रन्थमे उनके विचार बहुत स्पष्ट हैं। सोनगढी सिद्धान्तोंके सम्बन्धमे जैन समाज केवल इतना जानता था कि कहान जी भाईने केवल जैनागमकी अस्पष्ट व्याख्याको सुस्पष्ट किया है, विस्तृत किया है, ताकि लोग आगमिक रहस्योको सरलतासे समझ सकें। इसमें मिलावट या अर्थान्तरका प्रश्न ही नही है, ऐसा मैं भी मानता था। परन्तु जब पण्डितजी जैसे अध्येताओने गम्भीर अध्ययनके बाद निष्कर्ष निकाला कि जहाँतक कानजी भाई की कथनी है, वह पूर्वाचार्योंके प्रतिपादनकी व्याख्यामात्र नही है किन्तु उसका खण्डन है तब मुझे आश्चर्य हुआ। विद्वानोकी दृष्टिमें या जैनागमिक परम्परापर भीतरी आक्रमण था। परिणामत मूल मान्यताओंकी सास्कृतिक सरक्षाके लिये शान्तिपूर्ण ढगसे प्रयास करनेका निर्णय दिगम्बर जैन सस्कृति सेवक समाज द्वारा लिया गया। इस प्रयासका श्री गणेश माननीय प० वशीधरजी द्वारा प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैन तत्त्व मीमासा की मीमासा" लिखकर किया गया। उक्त मीमासाकी मीमासा ग्रन्थमे पण्डितजी-को गहन दार्शनिक एव तार्किक प्रतिभाके दर्शन होते हैं।

सस्कृति-सेवक समाजके सकल्पके अनुसार पण्डितजी समयसार, समयसार कलश और मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसे ग्रन्थोका विश्लेपणात्मक अध्ययन (कानजी भाईकी विचार धाराके साथ तुलनात्मक रूप मे) प्रस्तुत करनेमे समर्थ हो, दीर्घायु हो, यही मगल कामना है।

जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान्‌का सम्मान

● श्री महेन्द्रकुमार 'मानव', छतरपुर

जैन समाजमें पाडित्यका अभाव देखकर पूज्य वर्णीजीने काशीमें स्याद्वाद विद्यालयकी स्थापना की थी। पूज्य वर्णीजीके जीवनकालमे ही उनका सपना पूरा हुआ था और समाजमे जैनधर्मके अनेक प्रकाण्ड पण्डित बने। इन पण्डितोकी सेवाओसे जैन वाङ्मयका अध्ययन, शोध और विवेचना हुई। इसी कडीमे प० वशीधर-जीका नाम आता है। उन्होने व्याकरणसे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। साथ ही जैनधर्मके गहन ग्रन्थोका भी

अध्ययन किया। उनके अध्ययनका परिचय उनके द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें लिखित सामयिक, तार्किक शोधपूर्ण लेखोसे मिलता है। पडितजी एक ऐसे दीपक है, जिन्होने एक साधारण परिवारमें जन्म लेकर अपने पूरे परिवारको पंडित बना दिया। 'दीपक-से-दीपक जलता है' यह उक्ति उनके जीवनसे चरितार्थ हुई। उनके भतीजे पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री अभी कुछ ही दिन पूर्व दिवंगत हुए है। वे तो स्वर्गीय हो गये परन्तु षट्खंडागम-धवल सिद्धान्त जैसे गहन आगम ग्रन्थका सम्पादन एव अनुवाद करके अपनी अक्षय कीर्तिको भूतलपर छोड गये। पंडितजीके ही दूसरे भतीजे प० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य जैन समाजके अब एक मात्र न्यायके विश्रुत विद्वान् है।

जैन समाजमे सैद्धान्तिक मान्यताओको लेकर उठे हुए विवादके बादलोको प० बशीधरजीने 'जैनतत्त्व मीमासा की मीमासा' जैसे स्पष्ट ग्रन्थ की रचना कर सन्मार्ग प्रकाशित किया है।

यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि बुन्देलखड जैसे पिछडे और गरीब प्रान्तने ही जैनधर्मके मूर्धन्य बहु पडितोको जन्म दिया है जिनके ज्ञानसूर्यके प्रकाशसे पूरे भारतका जैन समाज उपकृत हुआ है।

पडितजीसे मिलनेका मुझे कई बार अवसर मिला है। उनके पाडित्यसे तो मै प्रभावित हुआ ही, लेकिन उनकी सादगीने भी मेरे मनपर अमिट छाप छोडी है। एक सम्मेलनमे हम लोग धर्मशालामे ठहरे हुए थे। शामको पंडितजी अथऊ कर रहे थे। जबतक पडितजीने शामके भोजनमे मुझे शामिल नही कर लिया तबतक वे नही माने। पडितजीकी दी हुई पूडियो और सागका स्वाद आज भी मेरे स्मरणमे है। पडितजी दीर्घायु हो और जैन वाङ्मयकी निरन्तर सेवा करते रहे, यही कामना है।

सालेकी भौआके लिए भावाञ्जलि

● शाह प्रेमचन्द्र जैन, बीना

हमारे 'भौआ'के साथ मेरे बचपनकी कुछ यादें जुडी है, जिनसे भौआका सम्बन्ध है और मेरा भी। बुन्देलखण्डमे बहनोईको 'भौआ' शब्दसे सम्बोधन और आदर व्यक्त किया जाता है। हमारे बडे दद्दा श्री शाह मौजीलालजीके दामाद ही हमारे भौआ है और वे है लब्ध प्रतिष्ठ एवं ख्यातिप्राप्त जैन समाजके शीर्ष विद्वान् पण्डित श्री बशीधरजी व्याकरणाचार्य।

हम-सब एक ही मकानमे रहनेके कारण उगते सूरजसे डूबने तक और डूबनेसे उगने तक छोटी-बडी बातो, घटनाओ और निकटस्थ जीवनसे जुडे है। मेरे बचपनकी यात्रा और भौआके राजनैतिक, सामाजिक और व्यावसायिक जीवनके एक समूचे व्यक्तित्वकी यात्रा मेरी दृष्टिमें है जो बढती उमरके साथ भूली-बिसरी झलकियोको फिर याद करनेसे स्फूर्ति देती है, प्रफुल्लता और प्रेरणा देती है। कुछ-न-कुछ छाप, उनका प्रभाव मेरे जीवनपर पडा है। निकटता-समीपता और सगतका असर जरूर होता है, यही मेरा सौभाग्य है।

हाँ, तो मैं ६-७ सालका रहा हूँगा। खेलता फिरता और दौड लगाता। घरके भीतर हमजोलीके भानजे-भानजी सनतकुमार और बिमलाके साथ खेलते। घरमे खूंटी पर टँगी बिगुलको उतारते और फूंकते। बिगुल बजाते और कंधेपर टाँगनेका शौक करते। बच्चे थे बडोकी नकल करते, कभी नेता बनते, कभी मिलिट्रीवाले बनते। बिगुल हमे एक खिलौना था।

भौआका घर उन दिनो बीनाकी राजनैतिक गतिविधियोका अड्डा था। सारे कांग्रेसी कार्यकर्ता और नेता इकट्ठे होते। सन् १९४२ की क्रांति और भौआकी बीना स्टेशन पर गिरफ्तारी मेरी बचपनी आँखोमें खेल सी समाई। स्टेशनसे घर तक नही आ पाये कि उन्हे स्टेशन पर ही गिरफ्तार कर लिया गया। हमे 'बेन'के रोनेकी आवाज मिली। बुन्देलखण्डमे बहनको 'बेन' या 'जिज्जी' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है।

हमारे शाह खानदानमें बडे लोग 'लद्दा वेन' और हम छोटे लोग 'वेन' कहते थे। कहते थे, इसलिए कि उनका नाम लक्ष्मीबाई था और वे भी अबसे पन्द्रह वर्ष पूर्व स्वर्गस्थ हो चुकी है।

बेन के साथ हम लोग ताँगापर स्टेशन पहुँचे। शामका वक्त था। उन दिनो वीना एक छोटा कस्वा था। इटावासे स्टेशन पहुँचते-पहुँचते रात हो गई थी। कस्वामे विजली नही थी, पर पूरे कस्वेमे यह खवर बिजलीकी भाँति फैल गई कि पण्डितजीको गिरफ्तार कर लिया है। लोग उमड पडे स्टेशनकी ओर। स्टेशन-पर भारी भीड और अग्रेजी पुलिसका बन्दोवस्त। हुजूम वढता जाता था। गहराता कोलाहल नारो-पर-नारे का तेज स्वर। इकलाब-जिन्दावाद, पण्डितजी जिन्दावाद। जनताका जोश और आक्रोश, भीडसे वचानेके लिए एक ऊँचे मचपर पण्डितजी जनताको सम्बोधन दे रहे थे। हम लोग उनतक नही पहुँच पाये। मचके चारो ओर रस्सियोसे घेरा गया था। दूरसे देखा, दूरसे सुना। उन दिनो बीनामें लाउडस्पीकर उपलब्ध नही थे। क्या कह रहे है, समझमे नही आया। भाषण खत्म होते ही सिपाही उन्हे उतार ले गये। कहाँ ले गये? कहाँ ले जायेंगे? पता नही। सव लोग कह रहे थे—जेल ले जायेंगे। रात स्याह हो चली थी भीड-लौटने लगी। हम लोग भी लौट आये। कस्वेमें उदासी थी, मुहल्लेमें मायूसी और घर-पडोसमे अजीव सन्नाटा।

रात सोचनेमे चली गई। अग्रेज मिलिट्रीका आतक, पण्डितजीकी जेल यात्रा और आन्दोलनका विगुलनाद, बिगुल अव मुझे खिलौना नही रहा। विद्रोह, विरोध और आन्दोलनका अलख जगानेवाला एक शस्त्र।

'बिगुल वज उठा आजादीका गगन गूँजता नारोसे' आज जव कभी यह गीत सुनते हैं पण्डितजीके घर टँगी बिगुल याद आ जाती है।

भौआकी जेल यात्रामे सनत दिवगत हो गया। एक शोक यह भी और एक याद यह भी।

उनकी जीवन यात्रामे राजनीतिके कई पडाव हुए। सामाजिक सेवामें चलते रहे। विद्वत्ताका घर भरते रहे। सरस्वतीकी साधनामें अबतक सलग्न। सरस्वतीका यह वरदपुत्र वृद्धावस्थामें अब कलमके सिपाही है उनके कमरेमें अब विगुल नही, कलमदान है। वे आत्म-विश्वासके घनी है, दीर्घ जीवन जीने और बहुत कुछ करने की ललक है। उनके द्वारा भरे घट और उनका जीवन घट भरा रहे। हम सब पीते रहें, रीते नही। यही भावाञ्जलि भौआके दीर्घ जीवन यात्राके लिये है।

कन्या राशिका चमत्कार

● प० स्वतन्त्र जैन, गंजवासौदा

[पूर्व भाग]

बहुत पुरानी बात है और मेरे बचपनकी बात है, स्व० प० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य दि० महाविद्यालय इन्दौरमे न्यायतीर्थकी पढाईमे सलग्न थे। उस समय मैं भी इन्दौरमें प्रवेशिका खण्ड २ मे पढता था। एक दिन प० जीने व्यग (किन्तु सत्य) मे कहा, देखो यह कन्या राशिका ही चमत्कार मानना चाहिये कि प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यका विवाह श्री मौजीलालजी बीनाकी लडकीसे हो गया है। मजेकी बात यह है कि दोना (वरवधू) की कन्या राशि है, और पण्डितजीको घर जमाई रख लिया है। पण्डित महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य तो बनारस पहुँचनेपर सुहृद्वर प० डॉ० कोठियाके साथ बादमें हुये थे। बात आयी-गयी-सी हो गयी, और समय अपनी अरोक गतिसे भागता रहा।

अब फरवरी सन् १९४१ का जमाना आ गया। इसी साल सूरतमे जैनमित्रादि कार्यालयोमें नियुक्ति

हुयी थी। जूनमें कुछ दिनोंका अवकाश लेकर मैं सिरोज आया। मामाजीने कहा, तुम बीना चले जाओ, लडका देख आओ, कस्तूरीका सम्बन्ध करना है, मैंने कहा ठीक है। अब बीना मैं किसके यहाँ ठहरूँ यह प्रश्न मेरे सामने था। इस समय मुझे प० महेन्द्र कुमारजीको वात याद आयी "कन्या राशिका चमत्कार", क्यो न मैं चमत्कार वालोका मेहमान बनूँ? शामको मै बीना आ गया। आते ही मैंने अपना परिचय दिया। पण्डितजी वडे खुश हुये, और अपने आत्मीयभावसे मुझे बहुत ही प्रभावित किया, मैं गद्-गद हो गया। लडका मुझे पसन्द नही आया, किन्तु पण्डितजीके अपार स्नेहको लेकर लौट आया। यह जून सन् १९४१ की बात है। यही पूज्य प० वशीधरजीसे प्रथम परिचय था।

सन् १९४८ मई मासमे सोनगढ़मे विद्वत् परिषद्का अधिवेशन हुआ। यह कानजी स्वामीके उदय-कालका अवसरपर था। इस अधिवेशनमे समाजके चोटीके मूर्धन्य अनेक विद्वान् पहुँचे थे। वहाँसे लौटते समय प० बशीधरजी सूरत आये। मेरे ही घर ठहरे थे, आपको जैनमित्रकी पुरानी फायलोकी आवश्यकता थी। वे फायले कार्यालयसे लाकर उन्हें दे दी थी, दो दिन ठहरकर बीना चले गये। पूज्य पण्डितजीके आगमनपर मुझे बहुत ही आनन्द मिला। फिर तो पूज्य पण्डितजी समय-समयपर कई बार मिले। परिचयने निकटता-घनिष्ठताका रूप ले लिया। फिर तो पण्डितजीके घर कई बार आना-जाना होता रहा।

[उत्तर भाग]

पूज्य पण्डितजी जैन समाजकी नजरोसे ओझल रहे और अपनी ख्याति एवं प्रसिद्धिसे दूर रहे। यही कारण है कि सामान्य जैन समाज आपको न जान सका। ६० वर्षों तक चारो अनुयोग ग्रन्थोका आलोडन एव मन्थन कर आपने नवनीत निकाला। मैंने स्वयं देखा है कि पण्डितजी ठीक ३ बजे उठकर या तो कुछ लिखते है या किसी ग्रन्थका पारायण करते है। जबकि मैं ६ बजे उठता था जबकि मै पण्डितजीके घर मेहमानके रूपमे होता था। खानिया तत्त्वचर्चामें आपका प्रमुख हाथ था। जैनदर्शन और जैनसिद्धान्तके आप अधिकारी विद्वान है। वीरवाणी पत्रिकामें कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी लेख माला कई अकोमे निकलती रही। ऐसी लेखमालाका पुस्तकाकार छपना बहुत आवश्यक है। हमारे समाजमे गुण-ग्राहकता नही जैसी है। यही कारण है कि पण्डितजीको ८४ वर्षकी आयुमे अभिनन्दन ग्रन्थ देनेका निर्णय समाजने लिया, यह पण्डितजी अभिनन्दनीय है ही किन्तु वे इससे अधिक अभिवन्दनीय एवं अभिनन्दनीय है।

अभिनन्दनकी पावन मागलिक बेलापर मैं पूज्य पण्डितजीके सुखी, स्वस्थ जीवन और शतायुष्यकी मगल कामना करता हूँ।

समाजके मार्गदर्शक

● श्री लालजी जैन, बी० कॉम, अनुभाग अधिकारी विभाग, परीक्षा का० हि० वि० वाराणसी नियत्रक कार्यालय

यह परम प्रसन्नताकी बात है कि समाजने पडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन करनेका निर्णय लिया है और उनके व्यक्तित्व, कृतित्व एव दार्शनिक योगदान स्वरूप एक अभिनन्दन ग्रथ प्रकाशित करनेका निश्चय किया है।

आदरणीय पडितजी सादगीको प्रतिमूर्ति एवं भद्रपरिणामी व्यक्ति हैं। अध्ययन-अध्यापनके क्षेत्रसे दूर रहते हुए भी पडितजीने जैनवाड्मयकी जो सेवा की है, वह अपने आपमे एक मिसाल है। केवल स्वाध्यायके बलपर पडितजीने जैन सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, इतिहास आदिका जो दिग्दर्शन अपने लेखो एवं कृतियोमें कराया है वह अत्यन्त ग्राह्य एव आगमानुकूल है। तथ्योका जो विवेचन पडितजीने प्रस्तुत किया वह सागोपाग एवं सरल है। सुधीजन ही नही अपितु सामान्यजन भी उसका लाभ उठा सकते हैं। दार्शनिक

विवेचनमे तो मौलिकता कूट-कूट भरी हुई है। लेखोके अध्ययनसे यह पता नही चलता कि वे स्वयकी उनकी कृति नही है। सामान्य पाठक भी यदि उनका अध्ययन मनोभावसे करे तो उसे ऊबनका अनुभव नही होता और उसके पठनकी ओर वह अग्रसर होता जाता है।

यह पण्डितजीके गहन अध्ययन एवं स्वाध्यायका ही परिणाम है कि वे खानिया तत्त्वचर्चापर आगमानुकूल समीक्षा प्रस्तुत कर सके। उनकी रचनाओको तो समाजके लिए अलगसे प्रकाशित करनेका प्रयास करना चाहिये।

ऐसे विद्वान्का समाज कितना ही अभिनन्दन करे, वह थोडा है। पण्डितजी शतायु हो एव हम-लोगोका मार्गदर्शन इसी प्रकारसे करते रहे, यही मेरी शुभकामना और जिनेन्द्र भगवानसे प्रार्थना है।

एक जागरूक मनीषी

● प० खुशालचन्द्र बडेराय, शास्त्री, तेजगढ

यह हमारा धर्म एव कर्तव्य होता है कि अपने लिये जिनके द्वारा कुछ प्राप्त हो उनका गुणस्मरण अवश्य ही करें।

प० जीने अपना सारा जीवन जैनधर्म एव समाज-सेवामें लगाया है और आज भी सजग भावसे सलग्न है। आपने समाजमे लगे समाज और धर्म विरोधी तत्त्व रूपी घुनको निकाल फेंकने हेतु जो सतत प्रयत्न किये वे आज भी स्मरणीय है।

केवलारी गजरथ : एक अतीतकी झाँकी—पत्रो द्वारा लगातार प्रचार एव प्रसारको देखकर श्री प० जीने अपने विचारोको दबाना एक अपमान तथा कायरता द्योतक समझ जोरदार आन्दोलन उठाया एव पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री बनारस, भागचन्द्रजी इटोरया दमोहको आश्वस्त किया और लिखा क्या दमोह जिलेकी केवलारी बस्तीमे जहाँपर मात्र एक ही घर जैनसमाजका हो वहाँपर गजरथ जैसे महान और पवित्र धार्मिक अनुष्ठानकी स्थापना की जाय। यह नाटक नही कि कही भी किसी हालतमे खेला जा सके।

श्री भागचन्द्रजी इटोरयाने अपने स्थानीय कार्यकर्त्ताओ को आमन्त्रित कर सलाह मसवरा करके प० मूलचन्दजी "वत्सल" पन्नालालजो चौ०, भागचन्द्रजी इटोरया एव मैं भी तैयार होकर प० जीके साथ केवलारी शाहपुरसे पहुँचे। श्री सिं० धरमचन्द्रजी गजरथकारसे मिले तब उन्होने कहा कि रथ चलेगा। इससे मेरा तथा गाँवका बदनाम होगा। बहुत समझाया गया अनेको उदाहरणो द्वारा विषय सामग्री प्रस्तुत करनेपर भी सिं० जी सहमत नही हुए।

अन्ततोगत्वा रथ चलनेकी शुभवेला आ गई। सर्वमडली सहित प० जी केवलारी पहुँचे। चर्चा विरोधकी चल रही थी कि प० फूलचन्द्रजी अनशन प्रारम्भ कर एक मडपमें बैठ गये। समाजमें खलबली मच गई। प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री प्र० पा० कटनी जैन पाठशाला आये और बड आश्वासनोके बीच प० जीका अनशन तुडवाया। आम सभा हुई जिसमे सर्वसम्मतिसे १५१ आदमियोकी एक कमेटी बनी और निर्णय हुआ कि इस कमेटीकी स्वीकृतिपर ही गजरथ चलेंगे।

इसी बीच बाबू जमुनाप्रसाद कलरैया सवजज नागपुरसे पधारे। चर्चाके दौरान लोगोने कहा बुन्देल-खण्डमे दस्साओको पूजन प्रक्षाल आदिका अधिकार नही है। तब प० बंशीधरजीने अपनी गद्‌गद वाणीमे कहा इधर गजरथ पचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ हो उधर पुजारियोका अभाव हो दोनोही बाते शर्मसे मर मिटनेकी है उस दिनसे दस्साओकी पूजनका अधिकार दिया गया। प० बशीधरजी एक लगनशील, कर्मठ, उदारमना है। आपका जैन साहित्यमे पूर्ण आधिपत्य है। हम आपके दीर्घजीवी होनेकी कामना करते है।

वंशीधरो जयतात्

श्री अमृतलालो जैनः साहित्य-जैनदर्शनाचार्यः, लाडनूं

(शार्दूलविक्रीडितम्)

झाँसीमण्डलवर्तिनी विजयते धन्या पुरी 'सोंरई'
यत्राजायत नव्यभव्यभवने राधा–मुकुन्दात्मजः ।
स्तुत्यानेकशरीरचिह्नविदितप्रज्ञाप्रकर्षोदयः
श्रीवंशीधरनामलब्धगरिमा जातोऽभिनन्द्योऽधुना ॥ १ ॥

स्याद्वादात्तसमस्तशास्त्रविषयज्ञानो गणेशाश्रयो
नैकोपाधिविभूषितो गुरुसमप्राज्ञप्रसादादभूत् ।
आचार्यत्वमवाप्य य प्रथमतो लेभे प्रतिष्ठा परा–
मश्रान्त श्रमतो न कोऽत्र सुमति प्राप्नोति शुम्भद्यश. ॥ २ ॥

पश्चाद् यः प्रविहाय शिक्षणगृहं व्यापारलग्नोऽपि सन्
न्याय्य मूल्यमुपैति नोनमधिकं कस्मादपि ग्राहकात् ।
तस्मात् सोऽपि परत्र याति न जन.·क्रेतु पट कर्हिचिद्–
व्यापारेऽपि जन स एव सफलो जायेत यो न्यायवान् ॥ ३ ॥

व्यापारार्थमुपस्थितोऽपि विपणौ ग्रन्थं न यो मुञ्चति
प्राप्ते क्रेतरि सत्वर वितनुते कार्यं तदीयं तत ।
निश्चिन्त पुरतो निधाय मनसा तच्चिन्तने लीयते
तत्त्वं वेत्ति स एव यस्य हृदयं नित्य निमग्नं श्रुते ॥ ४ ॥

लोकश्लाघ्यगुणौघमण्डनयुता याता यदा गेहिनी
स्वर्गं वित्स[1] समस्तसंसृतिभवा नि सारता भावयन् ।
अन्त शोकनिपीडितोऽपि नितरा व्यक्त न चक्रे बहिः
सत्य ते विरला समस्तभुवने मुञ्चन्ति धैर्यं न ये ॥ ५ ॥

सत्तर्कार्कनिपीडिताखिलजगच्छास्त्रार्थिघूकोच्चयो–
नानालेखविलेखनोत्थयशसा शुक्लीकृताशाम्बरः ।
वक्ता श्रेष्ठतमश्च चर्चचतुरो ग्रन्थप्रणेता महान्–
श्रीवंशीधरपण्डितो विजयते विश्वम्भराविश्रुत. ॥ ६ ॥

वर्षीयानपि यो युवेव नितरामुत्साहसम्पन्नधी
कार्याकार्यविवेकसूर्यमहिमप्रध्वस्तचिन्तानिशः ।
लक्ष्मीः साऽथ सरस्वती भगवती य नोज्झतः कर्हिचित्
सोऽय विज्ञसमाजमस्तकमणिर्वंशीधरो भाग्यभाक् ॥ ७ ॥

(पथ्यार्या)

आचार्यो व्याकरणे तीर्थ न्याये तथा च साहित्ये ।
य शास्त्री स विपश्चित्—प्रवरो वंशीधरो जयतात् ॥ ८ ॥

●

---

१. ज्ञः स०–इति पाठोऽपर. ।

सरस्वतीके वरद-पुत्र हे ! बंशीधर व्याकरणाचार्य

प० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ, 'साहित्यरत्न' जयपुर

१

वन्दन है, अभिनदनीय हे !
विज्ञ मनीषी परम उदार !
साक्षात् गुण-ज्ञान पयोनिधि !
सादा जीवन उच्चविचार ।।

२

स्याद्वाद-विद्यालय काशी
गुरु 'गणेश' से पाया ज्ञान ।
दर्शन औ साहित्य-न्यायके
बने प्रखर उद्भटविद्वान् ।।

३

शुष्क विषय व्याकरण कठिन अति
उसके भी आचार्य महान ।
बिना बाँसुरी, हे बशीधर !
करा दिया गीता का ज्ञान ।।

४

आगम औ सिद्धात ग्रन्थ के
सफल प्रवक्ता व्याख्याकार ।
बतलाया है "जिन शासन में
महत्त्वपूर्ण निश्चय व्यवहार ।।"

५

पूर्ण स्वतंत्र विचारक लेखक !
मथन और मनन मे लीन ।
मौलिक सत् साहित्य रचा अति
आर्ष-मार्ग अनुसार प्रवीण ।।

६

विद्वत् परिषद् मार्ग-प्रदर्शक ।
दृढ श्रद्धानी आस्थावान ।।
पत्रकार निर्भीक साहसी
शुद्ध समालोचक गुणवान ।।

७

सेवा में निःस्वार्थ समर्पित
मिला सहज सम्मान अपार ।
भारत छोडो आदोलन मे
जेल गये कितनी ही बार ।।

८

सभी धार्मिक औ सामाजिक
संस्था से सवर्धित आज ।
पाकर एक मूक सेवक को
गौरवान्वित हुआ समाज ।।

९

जन-सेवा मे बीते जीवन
सुखी स्वस्थ हो सब परिवार
मगलमयी कामना येही
देखो अभी बसत हजार ।।

१०

श्रद्धा से मस्तक झुक जाता
देख समूचे अद्भुत कार्य
सरस्वती के वरदपुत्र हे !
बंशीधर व्याकरणाचार्य ।।

•

सविनय-अभिनन्दन

सौ० रत्नप्रभा पटोरिया

१

हे सरस्वती के वरदपुत्र ! चिर जियो, तुम्हारा अभिनन्दन ।
मेरा शत शत वन्दन, चिर जियो, करूँ मैं अभिनन्दन ॥

२

जब गाँधीजी ने स्वतन्त्रता का,
भारत में बिगुल बजाया था ।
उस समय तुम्ही ने मोह त्याग,
अपना अनुराग लुटाया था ॥

३

सन् बयालीस मे सहे कष्ट,
जिसका हिसाब नही लेखा था ।
दुःख सहे सीकचो के भीतर,
निज राष्ट्र-विजय-हित सोचा था ॥

४

ले ज्ञान दीप निज कर मे तब,
कई ग्रन्थ लिखे अनुवाद किये ।
ये स्याद्वाद नय और प्रमाण,
इन सब को अति ही सरल किये ॥

५

स्वदेश, जैन-दर्शन के हित,
जो कार्य अनेको सुदृढ किये ।
शब्दों मे उन्हें न बाँध सकूँ,
वे अनुपम अमर प्रकाश लिये ॥

६

चन्दा और तारे चमकेंगे,
जब तक इस पृथ्वी के ऊपर ।
यश गान तुम्हारा गायेंगे,
मिल कोटि कोटि कण्ठो से सब ॥

हे सरस्वती के वरद पुत्र ! चिर जियो तुम्हारा अभिनन्दन ।
मेरा वन्दन शत-शत, वन्दन, चिर जियो करूँ मैं अभिनन्दन ॥

९

आगम से आपको प्यार यथा
है देश-प्रेम भी वैसा ही।
तन से तनकर चलकर दिये जेल
नहि किया प्यार था तन से भी ॥
है राष्ट्र प्राणप्रिय इन्हे सतत्
प्यारा है इनको नही चाम।
तन-मन से सेवा करते हैं
आवश्यक हो तो देत दाम ॥

१०

वैशिष्टय आपके जीवन का
शिक्षा न जीविका का साधन।
व्यवसाय बुद्धि के आगे नत
लक्ष्मी करती नित आराधन ॥
लक्ष्मीपति हैं पर विष्णु नही
बिनु मुरली के हैं कृष्ण, राम।
बीना है कर्मभूमि इनकी
इनके घर लक्ष्मी का विराम।

११

श्रुतदेवी और लक्ष्मी का
वरदान इन्हे ही प्राप्त हुआ।
भू पर अनेक विद्वान् किन्तु
विरलो का यो संयोग हुआ ॥
विधि का ही कहिए यह विधान
जग में जो कि है आज नाम।
श्रीमन्त और धीमन्त सभी
आकर करते सविनय प्रणाम ॥

१२

ये सरस्वती के वरदपुत्र
हित-मित भाषी हैं ज्यो चन्दन।
अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर
हम करते विद्वत्-अभिनन्दन ॥
ये सत्य और शिव सुन्दर भी
इनको मेरे साष्टाग प्रणाम।
'सुमन' रहे सुख भरे जगत मे
मिलता रहे इन्हे आराम ॥

विनय सुमन

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल, भिषगाचार्य, जयपुर

बंशीधर है नाम बाँसुरी तुमने बजाई कभी नही।
किन्तु बाँसुरी तान सुनी जो बाजी तुम्हारी प्रति दिन ही ॥
बशीधर गोपाल कहाते गौ तुमने पाली न कभी।
लेकिन जिनवाणी दोहन कर ज्ञानामृत तुमने पाया ही ॥
नागदमन बशीधर कीना मिथ्यात्व दमन कर तुम हो जी।
अज्ञान कंस के नाशक बन जिनवाणी यश फैलाया जी ॥
तत्त्वज्ञान तुमने पाकर साहित्य रचा ज्ञानेन्दु बने।
जिससे निश्चय व्यवहार उभय उपयोगी है मन्तव्य बने ॥
क्रम-अक्रम पर्यायों का विश्लेषण तुमने कीना है।
हे वंशीधर विन अक्षर की बशी से तुम्ह पिछाना हैं ॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र मै करूँ कामना प्रति दिन ही।
शत शत वर्षो की आयु पा तुम वास करो अब निज में ही ॥

●

सरस्वती के वरद्पुत्रका शत शत अभिनन्दन है

प० बाबूलाल जैन फणीश, पावागिरि ऊन

सरस्वती के वरद पुत्र का शत शत अभिनन्दन है।
दीप्तपुंज "श्री बशीधर" को बारम्वार नमन है॥

(१)

जिसने निज के जीवन को कष्ट कटको मे पाया।
जो काटो में पलकर भी 'मुकुन्द' गुलाबसा खिल आया॥
झाँसी मण्डल सोरई ग्राममे, मुकुन्दलाल प्रतिभा चमकी।
सरल मूर्ति माँ 'राधा' ने भी उर से 'बन्शी' मोहन सी दमकी॥
'स्याद्वाद' वाराणसी गङ्गा मे व्याकरणाचार्य ज्ञान किया।
धर्मशास्त्र से न्यायतीर्थ बन जीवन ज्योति जगा लिया॥
दिग्दिगन्त उज्ज्वल जीवन पा चमके नित कुन्दन है।
ज्ञान पूज्य श्री बशीधर को बारम्वार नमन है॥

(२)

मध्य प्रदेश बीना नगर को स्व आश्रय पथ पाया।
महावीर की दिव्य देशना से जगको पाठ पढाया॥
सत्य. अहिंसा जैन सस्कृति से जन जन को उन्नत बनाया।
अध्यक्षी पद से विद्वद् परिषद को नित्य आपने महकाया॥
पूज्य गणेश वर्णी माला मे अपना हाथ बटाया।
जैन वाङ्मय सरस्वती को तत्त्व मीमासा से चमकाया॥
विश्व शाति नित प्रतीक बन चमके तुम चन्द्र वदन है।
राष्ट्र धर्म के दृढ सकल्पी का महके जीवन नन्दन है॥

(३)

आप विशाल जैनधर्म के साहित्याकार महान हो।
आप सुपथ दर्शक जैन जाति के युग करुणाधार हो॥
स्वाभिमान गौरव के स्वामी दिग्गज लेखाकार हो।
परम विशाल जिनागम के पोषक उत्तम पत्राचार हो॥
स्याद्वाद और अनेकान्त से जग को पथ बतलाया।
भूले भटके मानव को भी धार्मिक जीवन पनपाया॥
सर्वोदय से नित्य आपका महका जीवन चन्दन है।
वात्सल्य मूर्ति श्री बशीधर का शत शत अभिनन्दन है॥

(४)

विज्ञ श्री दरबारीलाल ने शरण आपका पाया।
और मनीषी बालचन्द्र ने गुणगान आपका गाया॥

शोभा राम ने शोभा पाकर प्रेम सलिल वर्षाया।
निर्वाण भारती मेरठ द्वारा सिद्धान्ताचार्य पद पाया॥
विविध अनेको कार्यों से नित, दार्शनिक जीवन पाया।
अपनी प्रतिभा के पराग से गौरवान्वित होकर आया॥
जब तक नभ में चन्दा सूरज चमको सदैव स्पदंन है।
प्रशम मूर्ति श्री बशीधर को नत "फणीश" वन्दन है॥

●

वंशीधर की वंशी गूज, उठी

पं० जीवन्धर जैन, बीना

ब—ना सदा मितव्ययी जीवन
शी—ल व्रतो को अपनाया
ध—रम मरम में जीवन बीता
र—खा मोह निश्चय नय का
जी—वन में व्यवहार न छोडा
व्या—मोह हुआ दोनो नय का
क—र्त्तव्य निष्ठ होकर महान्
र—ख लिया सुपथ जीवन पथ का
णा—निमित्त और न उपादान
चा—ही दोनो की सार्थकता
र—म गये तत्त्व चर्चा में जब
य—ह खनिया मे जाकर ठहरे
बी—णा का तार झनझना उठा
ना—म हुआ रोशन इनका
फिर स्याद्वाद अरु अनेकान्त की
ध्वनि सुनाई सब को दी
फिर पंडितगण सब मौन रहे
बंशीधर की वशी गूज उठी

●

शब्द-सुमन से अभिनन्दन है

हास्य कवि हजारी लाल 'काका' सकरार

बनें श्रेष्ठ आचार्य व्याकरण का तन मन से किया मनन है,
पण्डित श्री बशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

सवत् उन्निस सौ बासठ की भादो सुदी सप्तमी आई,
श्री सिंघई मुकुन्दलाल के द्वारे बजने लगी बधाई,
जिला ललितपुर की सोरई मे उस दिन उत्सव गया मनाया,
राधादेवी की गोदी में यह बालक आकर मुस्काया,
जिसने भी देखा बालक को प्रमुदित हुआ सभी का मन है,
पडित श्री बशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

होनहार बिरवान के अक्सर पात चीकने ही होते हैं,
बढने वाले बालक अक्सर अपना समय नही खोते है,
ग्यारह वर्ष बनारस में ही वर्णीजी से शिक्षा पाई,
न्यायतीर्थ साहित्यशास्त्री आदि अनेको पदवी पाई,
सिद्धान्ताचार्य की उपाधि के साथ मिला था काफी धन है,
पडित श्री बशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

सरस्वति का भडार भर दिया जब से कलम उठाई कर मे,
ऊँचा किया बुन्देलखड का नाम आपने भारत भर मे,
जैन सस्थाओ में हरदम ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाये,
स्वतंत्रता के आदोलन मे जेल यात्रा भी कर आये,
इसीलिये उपराष्ट्रपति ने किया आपका अभिनन्दन है,
पण्डित श्री बशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

यो तो त्याग चुके पण्डित जी जीवन से सारा आडम्बर,
ऐसा लगता है, घर मे रहते हो अम्बर सहित दिगम्बर,
कवि 'काका' की एक विनय है अब तो ऐसा अवसर लायें,
कर में पिछी कमंडल लेकर सच्चा अभिनन्दन करवायें,
नर जीवन का सार यही है कहता यही जैनदर्शन है,
पडित श्री बशीधर जी का शब्द सुमन से अभिनन्दन है,

●

सुमनाञ्जलि देते हैं

पं० पूर्णचन्द्र 'सुमन' दुर्ग

जनक मुकुन्दलाल, मातृ राधा के सलौने लाल
ग्वाल बाल नही फिर भी बंशीधर कहाते हो।
प्रकृति से सुरम्य सोरई ग्राम में जन्म लेकर
वंशी की तो बात क्या अब वीणा वाले कहाते हो ॥

स्याद्वाद, महाविद्यालय, वाराणसी मे अध्ययन को
पूज्य सन्त वर्णीजी के सानिद्ध मे रहे हो।
अनवरत वर्ष एकादश—अध्ययन कर
शास्त्री न्यायतीर्थ व्याकरणाचार्य कहाये हो ॥

आपके चिन्तन और लेखन की तो कोई मिसाल नही
मौलिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक, लेख सभी प्रमाण हैं।
निश्चय और व्यवहार खानिया तत्त्व चर्चा
तत्त्व मीमासा की मीमासा आदि महान् है ॥

देश की आजादी मे भी आप तनमन से जुटे
जेलों के कष्टो को कुछ भी नही माने हैं।
नागपुर, सागर, अमरावती—कारागार
उन्नीससौ बियालीस के आन्दोलन जाने है ॥

समाज की सेवा के कार्य भी अछूते नही
अनेक सस्थाओ के मत्री सभापति रहे है।
विद्वद् परिषद् वर्णी ग्रथमाला—आदि के
महत्त्वपूर्ण सचालन के—गौरव आप बने है ॥

समाज-सुधारक, पत्रकार, दार्शनिक
समन्वयवादी—स्याद्वादी वक्ता हैं।
ओजस्वी-सरल-मधुरवाणी से ओतप्रोत
जैन सिद्धान्त के प्रखर-प्रवक्ता है ॥

आपका स्वभाव इतना सरल और प्रभावक है
सहज ही सभीजन—आपके हो जाते है।
ज्ञान के तो इतने अगाध भण्डार है
आतिथ्य सेवा मे बेजोड पाते है ॥

इतनी वृद्धवय मे भी लेखनी को विराम नही
अनवरत–सैद्धान्तिक गुत्थियाँ सुलझाते हैं।
ऐसे महान् महनीय विज्ञ प० जी के
चरणो मे "सुमन" सुमनाञ्जलि देते है ॥

चाँद और सितारो का जबतक निवास रहे।
तबतक चिरायु रहें—ऐसी शुभ कामना भाते है ॥

हे सरस्वती के वरद्पुत्र विद्वद्वर तुमको शत प्रणाम

पं० विजयकुमार जैन, श्रीमहावीरजी

हे सरस्वती के वरद पुत्र, विद्वद्वर! तुमको शत प्रणाम।
हे जिन-वाणी के परम भक्त! व्याकरण विज्ञ, तुमको प्रणाम॥

चिन्तन-सागर से मोती चुन, प्रज्ञा से उनको चमकाया।
उद्भ्रान्त जगत के आँगन मे लो तुमने उनको बिखराया।
जिनवाणी का नित मन्थन कर तुमने जो अमृत पाया है।
तत्त्वार्थी जन को जो तुमने उसका आस्वाद कराया है।
सत्यार्थी तुम तत्त्वार्थी तुम स्वाध्याय निरत है ख्यात नाम।
विख्यात हुए विद्वद्गण मे तुमको हम सबका नित प्रणाम॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र

पुरुषार्थी बन जीवन मे तुमने नित नियतिवाद को ठुकराया।
लख भारत माँ को पराधीन सेनानी जीवन अपनाया।
लखकर कुरूढियो को तुमने विद्रोही बिगुल बजाया है।
शासन-समाज हो स्वच्छ सदा—यह गीत आपने गाया है॥
अपने बलबूते पर चलकर तुम बने सदा ही एकनाम।
अभिनव चिन्तन की सरणि पकड तुम बढे तुम्हे है नित प्रणाम॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र

हे ज्ञानपुञ्ज! तुमने श्रुत के मथन का पथ नित अपनाया।
पुरुषार्थ और व्यवसाय बुद्धि लख लक्ष्मी ने भी अपनाया॥
हे राष्ट्रभक्त! हे धर्मभक्त! तुमने सुनाम यह पाया है।
'वर्णी गणेश' पथ-चिह्नो पर तुमने अपने को पाया है॥
विद्वत्ता के हे मूर्तरूप तुमसे समाज है ख्यातनाम।
हे पुरुषार्थी व्यवसायी हे! विद्वद्वर तुमको नित प्रणाम॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र

अभिनन्दनीय हे विद्वद्वर 'स्याद्वाद' तुम्हे नित है भाया।
मिथ्या अभिमानी जन-मन जब एकान्तदृष्टि दूषित पाया।
तब सुनयवाद का दीपक ले उनको सन्मार्ग दिखाया है।
जिन आगम का हाँ सही मर्म तुमने उनको बतलाया है॥
हे तत्त्वसमीक्षक चिन्तक हे तुम निज जीवन में हो अकाम।
हे सत्य-तत्त्व के नवदृष्टा तुमको समाज का नित प्रणाम॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र

हे विज्ञ, जिओ तुम युगयुग तक जो सत्पथ तुमने अपनाया।
उस पर बढकर निज जीवन का तुमने रहस्य है जो पाया।
वह शान्ति-क्रान्ति का रूप आज जनजन के मन को भाया है।
हे सौम्य, आपने अपने को उससे विमुक्त, कब पाया है?
तुमसे सुविज्ञ को पाकर के है धन्य आज यह धराधाम।
अभिनन्दन रत जन-जन का मन तुमको करता है नित प्रणाम॥
हे सरस्वती के वरद पुत्र

बंशीधरके ही प्रकाश से जिनवाणी है जगमग दमकी

श्री हीरालाल जैन, बीना

लेकर जनम सभी जगती पर
बढते-फलते अपने रूप-
जो समृद्ध धरा पा लेता
वह बन जाता दिव्य-स्वरूप

बढना, फलना वह कहलाता
जो निज बल से बढ़ जाता
साधन और विपुलता पाकर
अपना कुछ नही गढता करता।

उपवन का हर पादप भाई
नही जरूरी छाया फल दे
पर फलदार वृक्ष बिन माँगे
पन्थी को सबही दे डाले।

जैन-जगत-के इस उपवन मे
नन्हें पौधे से बन तरुवर-
छाया अरु फल दोनो मिश्रित
दिये समाज को शाश्वत् प्रियवर।

पाया समाज ने रतन अनोखा
जिसकी आभा प्रतिक्षण चमकी
"बंशीधर" के ही प्रकाश से-
जिनवाणी है जगमग दमकी।

निश्चय और व्यवहार द्वन्द को
सरल-सहजता से समझाया
दोनो का निष्पादन करके
पय से पानी सम निितराया।

है आकाक्षा यह समाज को
अपनी आभा और ज्ञान से
कर आलोकित और प्रकाशित
रहें निरन्तर चिरभिमान से।

युग गाये गुण गान

श्री गोकुलचन्द्र "मधुर", हटा

अभिनदन है विज्ञ आपका, रहे सदा सम्मान
पडित बशीधर जी का युग, गायेगा गुणगान।

(१)

सचमुच मे बुन्देलखण्ड का, गौरव मय इतिहास
सन्त, सूरमा, गुणी जनो का, हरदम रहा निवास
इसी धरा के विद्वद्वर श्रीमन व्याकरणाचार्य
जिनवाणी की सेवा करके, किये महा सत्कार्य
धन्य ग्राम सोरई जिसकी रज, सचमुच बडी महान
पडित बंशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

(२)

पुण्यवान वो पिता सिंघई जी श्री मकुन्दी लाल
धन्य मात राधादेवी की गोदी हुई निहाल
जिसने ऐसे सुत को जन्मा, जीवन धन्य बनाया
जिसकी विद्वत्ता को लख कर, जन मानस मुसकाया
जैन तत्त्व का ज्ञाता अनुपम है उद्भट विद्वान
पडित बशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

(३)

तुम समाज के गौरव, तुम हो महा धरोहर थाती
तुमनें सच्चे मन से पढ ली, जैनधर्म की पाती
देते रहे मार्ग दर्शन, पूरी करना आशायें
हे साहित्य प्रणेता, किस विधि से एहसान चुकायें
"मधुर" आपकी बनी रहे, इस भूतल पर मुस्कान
पडित बशीधर जी का युग गायेगा गुण गान

●

गुरुवर जीवें वर्ष हजार

प० बिहारीलाल मोदी, शास्त्री, बड़ामलहरा

श्रेष्ठ सुधी आगमके ज्ञाता, अध्यातमके उद्भट विद्वान् ।
सरल स्वभावी अतिमृदुभाषी, मिलनसार अरु श्रेष्ठ पुमान ॥
जगत हितैषी, जन-जन के प्रिय, विशाल हृदय अरु चतुर सुजान ।
ऐसे पण्डित बशीधर को, करता हूँ शत शत वन्दन ॥ १ ॥

खानिया तत्वचर्चा की जिसने, लिखी समीक्षा सोच विचार ।
बारीकी से किया विवेचन, शंका समाधान द्वारा विस्तार ॥
भजन किया भ्रमित भावो को, लिखकर निश्चय व्योहार ।
ऐसे पण्डित प्रवर गुरु का, अभिनन्दन करता शत बार ॥ २ ॥

ओजस्वी वाणी के द्वारा, जैनधर्म का किया प्रसार ।
विद्वज्जन मे रहे अग्रणी, दिशाबोध का खोला द्वार ॥
"लाल बिहारी" करे कामना, गुरुवर जीवें वर्ष हजार ।
श्रद्धा सुमन समर्पित करता, पादपद्म में बारम्बार ॥ ३ ॥

●

आपको करें समर्पित

प० धरणेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, दमोह

(१)

हे ! विद्वत्वर सुयश,
आपका क्या हम गायें ।
हे ! गौरव गुण खान,
आपके गुण क्या गायें ॥

(२)

काव्य, तर्क, व्याकरण,
शास्त्र के ज्ञाता नामी ।
पूज्यनीय वर्णी गणेश,
के पथ अनुगामी ॥

(३)

छात्र और संस्थाओ के,
अति ही हित चिंतक ।
जैन जगत व विद्वानो के,
अति ही शुभ चिंतक ॥

(४)

कृपा दृष्टि पड गई,
जिधर कल्याण हुआ है ।
कदम जिधर पड गये,
उधर उत्थान हुआ है ॥

(५)

देश धर्म हित सदा,
आपने कष्ट सहे है ।
गाँधी जी के साथ,
आप भी जेल गये है ॥

(६)

आज आपके अभिनदन पर
सब हम हर्षित ।
विनय सहित कुछ सुमन,
आपको करें समर्पित ॥

●

जैन साहित्याराधनामें समर्पित

- श्री सुरेश जैन I A. S., सचालक, लोक-शिक्षण, भोपाल
- श्रीमती विमला जैन, मुख्य न्यायिक दण्डाधिकारी, भोपाल

हमे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि सकल जैन समाजने सरस्वतीके वरदपुत्र श्रद्धेय प० वशीधर जी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दन-ग्र थ भेंट करनेका निर्णय लिया है। यह अत्यन्त ही सराहनीय कार्य है।

श्रद्धेय पडितजी विगत साठ वर्षकी सुदीर्घ समयावधिसे अतुलनीय निष्ठा, लगन और रुचिसे जैन साहित्याराधनामे समर्पित है। वे अभी भी जिनवाणीकी साधनामे अनवरत सलग्न है। यह उनकी जीवटता एव कर्मठताका प्रतीक है। गुरुणा गुरुकी यह साधना तथा योगदान निश्चित ही स्तुत्य है। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ समूचे समाजकी एक अद्वितीय एव अमूल्य धरोहर है।

भगवान्से प्रार्थना है कि पण्डितजी स्वस्थ और जागरूक रहकर सतत रूपसे अपना आशीर्वाद हमें प्रदान करते रहे।

श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं

- पं० गुलजारीलाल जैन, शास्त्री, सागर

पूज्य काकाजीके विषयमे कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना होगा, क्योकि समाजमें चाहे वह बुद्धिजीवी हो या व्यवसायी सभी केवल 'बीना वाले पं० जी ऐसा कह देनेपर समझ ही नही जाता बल्कि वह भाव-विभोर हो जाता है और अगर रिश्तेदार हुआ तो गर्वका अनुभव करने लगता है।

मुझे गर्व इससे भी अधिक है क्योकि जिस मिट्टीमें उनका जन्म हुआ उसी मिट्टीमें मेरा जन्म हुआ हैं और मेरे पितामह एवं पिताजीसे वैसा ही संबन्ध रहा जैसा कि किसी कुटुम्बी या भाई-भाई मे रहता है।

पूज्य काकाजीकी विशेषता है कि वे भटा-भाजी छोडनेके उपदेशक पडितजी नही, वरन् धर्मतत्त्वके वेत्ता और उसके उपदेशकके रूपमें है इसके अतिरिक्त राजनैतिक जीवन गौरवपूर्ण है।

सामाजिक जीवन आपका कुटुम्बीजनोके उठानेमें तो लगा और लग रहा है। प्रत्युत रिश्तेदारोको ऊपर उठानेका प्रयत्न किया। समाजकी कुरीतियोसे सदैव आपका संघर्ष चलता रहा व चल रहा है। जब दस्सा पूजाधिकारका प्रबल समाजमे आया तो उसका आपने पुरजोर समर्थन किया। हमें प्रसन्नता है कि समाज आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही है। आपके पादकमलोंमे हमारे श्रद्धासुमन अर्पित है।

पण्डित परम्पराके मूर्धन्य मनीषी

- डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, आरा

पण्डित-परम्पराके पोषण, जिनवाणीकी सेवा तथा प्रचार-प्रसारमें प० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यका महनीय योगदान है। चौरासी वर्षकी अवस्था होनेपर भी आय सतत चिन्तन, मनन और लेखनमें सलग्न रहते हैं। प्राचीन पद्धतिके विद्वान् होते हुए भी पण्डितजीका चिन्तन किसी आधुनिक विचारकसे कम नही है। उनकी राष्ट्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक सेवाओके उपलक्ष्यमें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करनेका निर्णय स्तुत्य है तथा पण्डितजी को यह समाज और विद्वत् समुदायके लिए विशेष गौरवकी बात है।

मान्य पण्डितजीके दीर्घायुष्यकी कामनाके साथ उन्हें मेरी हार्दिक मंगल-कामनाएँ हैं।

किमाश्चर्यमतः परम

● पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर

वाराणसीके एक संस्कृतज्ञ विद्वान्के मुखसे व्याकरणकी क्लिष्टताके विषयमे हमने सुना है कि

कारक कठिन कण्ठ नहिं आवे
तब समास मुगरा ले धावे।
तद्धित बाप बाप चिल्लावे
हा हा कर कृदन्त थर्रावे॥

इतना कठिन व्याकरण विषय होने पर भी श्री पं० बंशीधरजीने व्याकरणाचार्य-सागरको अपने बुद्धि-बलसे पारङ्गत किया।

सन् १९४५ मे श्री नाभिनन्दन दि० जैन विद्यालय, बीनामे प्रधानाध्यापक पदपर सरस्वती सेवाका शुभावसर प्राप्त किया। उस समय हमारे हृदयमें विचार आया कि यहाँपर एक व्याकरणाचार्य रहते है, जो वस्त्रके व्यापारी हैं। उनके सान्निध्यमे व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। सबसे प्रथम आपने व्याकरणका महत्त्व दर्शाते हुए हमे व्याकरणके अध्ययनमे उत्साहित किया। आपने व्याकरणका महत्त्व व्यक्त किया—

विना व्याकरणं वाणी, रमणी रमण विना।
विवेकेन विना लक्ष्मी., न सुखाय कदाचन॥ १॥
व्याकरणेन पदे शुद्धि, पदशुद्धार्थनिर्णय।
निर्णयात् तत्त्वत. ज्ञानं, तत्त्वज्ञानान्तरे शिवम्॥ २॥

एक वैयाकरण विद्वान् पिता अपने पुत्रसे कहता है—

यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनं श्वजनं माभूत्, सकलं शकल सकृत् शकृत्॥

तात्पर्य—पिता अपने पुत्रसे कहता है, कि हे पुत्र। यदि तुम अन्य विषय नही पढना चाहते हो तो मत पढो, परन्तु व्याकरण विषय अवश्य पढो, जिससे कि शब्दोकी सिद्धि और उनके अर्थोका स्पष्ट बोध हो सके। यदि तुम व्याकरणसे शब्दोका स्पष्ट अर्थ नही जान सके तो स्वजन (अपने भाई) को श्वजन (कुत्ता), सकल (सब) को—शकल (खण्ड या टुकडा) और सकृत् (एक बार) को शकृत् (मलमूत्र) समझकर अर्थका अनर्थ-कर जाओगे।

व्याकरणके इन महत्त्वपूर्ण श्लोकोंको सुनकर व्याकरणके पठन-पाठनमे हमारा उत्साह अत्यन्त वृद्धिगत हो गया। तदनन्तर हमने आपसे दैनिक-अध्ययन कर "वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी" ग्रन्थका तीन वर्षोमें सम्पूर्ण पारायण कर लिया।

इस महान् विद्यादानरूप उपकारके उपलक्ष्यमे हम आपके प्रति भूय भूय. कृतज्ञता व्यक्त करते है।

'न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति।'

स्याद्वाद महाविद्यालयमें अध्ययन समाप्त करनेके उपरान्त आपने किसी शिक्षा केन्द्रमें अध्यापन नही किया, अपितु निमित्तकारणोंके मिलने पर विद्वद्वरने स्वतन्त्र व्यवसाय करना अपना लक्ष्य बनाया। 'अनभ्यासे विषं विद्या' इति नीतिके अनुसार आत्मामे अधीत विद्याका विस्मरण हो जाना चाहिये था पर आप अनुभूत विषय—न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त और दर्शनको विस्मृत नही कर सके यह आश्चर्यका विषय है।

स्तुत्य निर्णय

- सिघई श्री जयप्रकाश जैन, वडकुल, वाराणसी
- श्रीमती शशि जैन वडकुल, वाराणसी

हमे जब यह ज्ञात हुआ कि समाजके वरेण्य विद्वान् सिद्धान्ताचार्य प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०) को अखिल भारतीय स्तर पर समाज अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित कर रही है, तो हम लोगोको हार्दिक प्रसन्नता हुई।

हमारा परिवार पण्डितजीसे पिछले ७०, ७५ वर्षसे सुपरिचित ही नही है, उनके आत्म-स्नेहसे ओत-प्रोत रहा है। हमारे बाबा पूज्य सिघई पन्नालालजी वडकुल श्रद्धेय पण्डितजीके ज्येष्ठ भ्राता सिं० प० हजारीलालजी कोठिया (आदरणीय दाऊ डॉ० प० दरबारीलाल कोठियाके पिताजी) को अपने पुत्रो (पूज्य चाचा रूपचन्द्रजी, चाचा राजधरलालजी, चाचा डालचन्द्रजी और पिताजी श्री मौजीलालजी) को पढाने हेतु नैनागिरजी (सिद्धक्षेत्र श्री रेशिंदीगिर, छतरपुर) से सन् १९१४ में लिवा लाये थे। तभीसे पण्डितजीसे हमारे परिवारका नैकटच है। वे अपने बडे भाईके पास आते-जाते रहते थे। हमारे बाबा उनसे बडा स्नेह रखते थे। यद्यपि आज न हमारे बाबाजी है, न तीनो चाचा है और न पिताजी है फिर भी उनका हमसे लगाव है। खास कर दाऊ (डॉ० कोठिया) और पिताजी बचपनमें तथा वाराणसी-सेवाकालमें एक साथ वर्षों (लगभग तीन दशक) रहे। पिताजी काशी विश्वविद्यालयके कई कालेजोमें प्रधान कार्याधिकारी और दाऊ इसी विश्वविद्यालयके सस्कृत कालेजमे प्रवक्ता और बादको रीडर (जैन-बौद्धदर्शन) रहे। आज पिताजीके न रहनेपर भी दाऊ बनारस आनेपर घर ही ठहरते है और वही स्नेह बना हुआ है, जो पिताजीके साथ था। आज पूरा परिवार (माताजी, चिरजीव राज् और आयुष्मती अन्नो) बहुत खुश है कि श्रद्धेय काकाजी—प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य को समाज अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके सम्मान कर रहा है।

श्रद्धेय पण्डितजीने राष्ट्र, समाज और साहित्यकी अपूर्व सेवा की है। राष्ट्रको गुलामीसे मुक्त करानेमे सन् ४२ के स्वतत्रता-आन्दोलनमे जेल-यातना सही, दस्सापूजाधिकार आदि सामाजिक आन्दोलनोमें समाजका मार्गदर्शन किया और आगम-पक्षको सुदृढ करनेके हेतु अनेक ग्रन्थ लिखकर जिन-वाणीकी साधना की। इस प्रकार पण्डितजी समाज द्वारा सम्मान पानेके नि सन्देह योग्य है। उन्हे हमारे श्रद्धा-सुमन अर्पित है।

नैतिकताकी प्रतिमूर्ति

- वैद्यराज प० सुरेन्द्रकुमार जैन आयुर्वेदाचार्य, बीना

मेरा आदरणीय पण्डितजीके साथ चार दशकोसे सुसयोग चला आ रहा है। कभी-कभी उनसे कोई चर्चा छिड गयी तो घटो वह चलती रही। भले ही चर्चा तात्त्विक हो या सामाजिक। वे चर्चामें इतने डूब जाते है कि दुकानदारीकी ओर भी उनका ध्यान नही जाता। उनके ज्ञानके तलको स्पर्श करना दुष्कर है। वैयाकरण होकर भी बडे सूक्ष्म प्रज्ञ तार्किक एवं दार्शनिक है। आचार्योंकी कठिन पक्तियोंके रहस्यको समझनेमें उन्हें देर नहीं लगती है। ऐसी असाधारण उनकी प्रज्ञा एव विद्वत्ता है।

पण्डितजीने कही किसी विद्यालयमे अध्यापन न कर आरम्भसे बीनामे ही वस्त्र व्यवसाय किया है। उनकी उल्लेखनीय विशेषता है कि वे एक भाव पर विक्रय करते है और ग्राहक विश्वासपूर्वक खरीदते हैं। उनके क्रय-विक्रयमे एक पैसेका अन्तर नही होगा, चाहे आठ वर्षका बच्चा ही उनकी दुकान पर पहुँचे।

वस्त्र-व्यवसायके अलावा समस्त लोकव्यवहारोमे भी उनकी असाधारण नैतिकता समाई हुई है।

मैं उनके भूरि गुणोकी प्रशसा करता हुआ उनके स्वास्थ्य एव शतायुष्यकी शुभ कामना करता हूँ।

पूज्य पण्डितजीसे एक वार्ता

● श्री श्रेयासकुमार जैन, पत्रकार, ककरवाहा (टीकमगढ़)

आदरणीय कोठियाजीका ७६वें जन्म दिन पर १३ जून ८७ को ककरवाहा, (टीकमगढ) मे अमृत-महोत्सवका आयोजन था। उसके पश्चात् उन्हे बोना तक पहुँचानेकी जिम्मेवारी मुझे सौंपी गई।

बीना पहुँचने पर मैंने पडितजीके २४ घण्टेकी दैनिक, अनुशासित, व्यवस्थित दिनचर्या देखी, आश्चर्य हुआ। मैंने पूज्य पण्डितजीसे कहा कि मैं आपके सम्बन्धमे आपसे वार्ता करना चाहता हूँ। मैंने कहा कि आपने आजादीके समरमे सघर्ष किया है। अत वार्ता उद्देश्य यही है कि युवा पीढी सघर्षशील व्यक्तिके जीवन से प्रेरणा ले।

पहले पण्डितजी साहबने मुझे प्रेमसे बैठाया, घर-परिवार एवं अन्य चर्चायें की। तत्पश्चात् बोले—पूछो, क्या पूछना है ?

प्रश्न—आप जैन जगत्के प्रमुख विद्वानोमे से एक है। ऐसे समय, जबकि हर व्यक्ति डॉक्टर, इजीनियर, वकील आदि बननेकी आकाक्षा रखता था। सस्कृत जैसे कठिनतम विषयको पढ़नेका प्रेरणास्रोत क्या रहा ?

प० जी—जिस समय हमने पढनेका विचार किया उस समय दो बाते थी, एक धार्मिक भावना और दूसरा साधनोका अभाव।

प्रश्न—जैन दर्शनमे ही आपने आगम और अध्यात्मको छोडकर व्याकरणको प्रमुखता क्यो दी ?

प० जी—मेरी दृष्टि सिद्धान्त और धर्मको स्पष्ट करनेकी रही हैं। इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्यिक नही।

प्रश्न—मानव-जीवन क्या है अर्थात् उसका रहस्य क्या है, जबकि आपने जिन्दगीके हर पहलूको नजदीकसे देखा है ?

उत्तर—मनुष्यता उसे कह सकते है, जिसका आधार नैतिक हो। यानि मनुष्यको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे राजनीतिक, आर्थिक, जीवन-सचालन आदि जितनी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं उन सबमे कर्त्तव्य भावना एवं नैतिकता रखनी चाहिए।

प्रश्न—विद्यार्थी-जीवनकी कोई अविस्मरणीय घटना है ?

प० जी—कोई नही।

प्रश्न—एक ओर जैन पुराने मन्दिर और शास्त्र जीर्ण हो रहे है और दूसरी ओर नित नये मन्दिर व नया साहित्य सृजन किया जा रहा है। इस सम्बन्धमे आपकी क्या राय है ?

पं० जी—आज मन्दिरोका निर्माण आवश्यक नही है। समाजको इधरसे ध्यान हटाकर सस्कृतिके विकास और पुराने मन्दिरोके जीर्णोद्धार तथा शास्त्रोकी सुरक्षाकी ओर ध्यान लगाना चाहिये।

प्रश्न—प० जी साहब, आपने स्वतत्रता आन्दोलनमे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्वतत्रताके पूर्व एव आजकी राजनीतिमे आप क्या अतर महसूस करते है ?

प० जी—जिस समय देशको स्वतत्र बनाना था उस समय जो लोग आन्दोलनमे कूदे उनकी एक ही भावना थी देशको स्वतत्र बनाना ओर उन्होने इस सम्बन्धमे जो भी कार्य किये व्यक्तिगत लाभ और हानिकी उपेक्षा करके किये। जबकि आज प्रत्येक व्यक्ति चाहे राजनीतिक हो, चाहे वह गैर राजनीतिक हो सभी व्यक्तिगत लाभाकाक्षासे पीडित है। इनके सामने राष्ट्रके सरक्षण, उत्थान आदिका कोई महत्त्व नही हैं।

प्रश्न—प० जी साहब, अब एक निजी प्रश्न पर आ गया हूँ। आपने प्रारम्भसे व्यापारिक क्षेत्रमें ही क्यों पदार्पण किया ? नौकरी या अन्य क्षेत्रको क्यो नही चुना ?

प० जी—मेरी दृष्टि सर्विसकी ओर तो रही है, परन्तु वह आजीविकाकी दृष्टिसे नही रही। जैन सस्कृतिकी सेवा और उसके उत्कर्षकी भावनासे रही। मेरी भावना व्यापारिक क्षेत्रमे आनेकी मजबूरीमें हुई और मजबूरी यह थी कि मेरे ससुर साहब ऐसी कठिनाईमें नही डालना चाहते थे जिस कठिनाईका निराकरण करनेके लिये उन्होने मुझे अपना दामाद बनाया था।

प्रश्न—आपने अनुभव किया होगा कि आजका युवा वर्ग शीघ्र उद्वेलित हो जाता है। आपके विचारसे इसके क्या कारण हो सकते है ?

प० जी—आज उद्वेलित तो सभी लोग हो रहे है और इसका कारण यह है कि उनका एक तो भोग और संग्रह अनर्गल हो गया। दूसरे धार्मिक शिक्षण सस्थान जिस आशासे खोले गये थे उससे निकले हुए विद्वानोने अपना कर्त्तव्य निष्ठासे नही निभाया है। इसीलिये ये धर्मके विषयमे समाजको प्रभावित नही कर पा रहे हैं। इसके अलावा-सामाजिक बन्धन जो समाजके हितमें थे वे भी वर्तमान उच्छृखल वातावरणसे टूट गये। फलत जो बुरायइाँ फैली उनपर अब नियन्त्रण नही रहा। आजकलकी शिक्षा भी व्यक्तिको उच्छृंखल ही बना रही है।

प्रश्न—आजका ज्वलत सामायिक प्रश्न पजाब समस्या है, उसपर आपको क्या राय है ?

पं० जी—पजाब समस्या या अन्य राष्ट्रीय समस्यायें राजनीतिक पार्टियोकी देन हैं। व्यक्ति या जातियाँ स्वभावत. स्वार्थी हैं राष्ट्रीय भावनाका सभीमें अभाव है इसीलिये ऐसी समस्याओंका लगातार महात्मा गांधी जैसे व्यक्तित्वको जीवनमे उतारने वाले व्यक्ति ही हल कर सकते हैं।

प्रश्न—पण्डितजी साहब, युवा-पीढीको आपका सन्देश क्या है ?

पं० जी—मै किसीको भी सदेश देनेमे सक्षमताका अनुभव नही कर रहा हूँ।

पण्डितजीसे हुई इस वार्तासे विभिन्न पहलू उजागर होते हैं। मैं उनका अभिनन्दन करते हुये जीवेत् शरद शतम्की कामना करता हूँ।

आगमके पक्षधर

● वैद्य पं० धर्मचन्द्र शास्त्री, इन्दौर

श्रीमान् प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य, वीनाका नाम स्वर्णाक्षरोमें लिखे जाने योग्य है। उन्होने आगमका पक्ष लेकर जो लेख अथवा ग्रन्थ लिखे है उनसे पण्डितजीकी आगम-विज्ञता एव निष्ठा समाजके सामने आयी हैं। उनका 'वीर वाणी'मे प्रकाशित 'आगममे कर्मबन्धके कारण' लेख कर्म बन्धपर बहुत ही स्पष्ट और नया प्रकाश डालनेवाला है।

इसी प्रकार अन्य लेख भी उनकी दार्शनिक और आगमिक विद्वत्ताको प्रकट करते हैं। सोनगढ विचारधाराके समर्थनमे लिखी गयी "जैन तत्त्वमीमासा"में लिखी गयी आपकी "जैन तत्त्वमीमासाकी-मीमासा" आगम पक्षको स्पष्ट करती और उसका समर्थन करती है।

"खानिया (जयपुर) तत्त्वचर्चा"का पुस्तकका आपने 'खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा' शीर्षक-से लिखे ग्रन्थ द्वारा जो उत्तर दिया है वह पूर्णतया आगमाधारसे दिया गया सटीक एव सप्रमाण उत्तर है।

इस तरह पण्डितजीकी विद्वत्ताका लाभ जैन समाजको जो मिला है वह स्तुत्य है। उन्हे हम अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके अपने कर्त्तव्यका निर्वाह कर रहे हैं। उन्हें हमारे शत-शत नमन है।

बहु आयामी व्यक्तित्व

● डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई

सम्माननीय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यका व्यक्तित्व बहु आयामी है। स्वतन्त्र वस्त्र-व्यवसायसे लेकर राष्ट्रके स्वतन्त्रता-आन्दोलन तकमे उन्होने असाधारण योगदान किया है। उनका वस्त्र-व्यवसाय इतना नैतिक है कि वे आज पूरे प्रदेशमे बडे आदर और श्रद्धाके साथ देखे जाते है। एक तो उनका कोई प्रतिद्वन्दी नही है और कोई हो भी तो उसके भी हृदयमे उनकी नैतिकताकी धाक सुस्थिर है। उनके ग्राहक बडी सख्यामे है और वह निरन्तर बढ रही है। उनका विश्वास भी इतना है कि किसान दश-दश, बीस-बीस हजार रुपया बैकमे न रखकर उनके पास रख जाते है और पण्डितजी उन रुपयोको एक-एक लिफाफेमे उनके नामसे अलग रखते है। किसान जब भी समय-बेसमय आता है वे रुपये उसे थमा दिये जाते है। पण्डितजीकी इस नीतिको उनके सुपुत्रोने भी अपना रखा है। 'एक भाव' की दुकान चलाना और किसानो तथा ग्राहकों-का ऐसा विश्वास अर्जित करना आजके समयमें कम है।

पण्डितजीकी निस्पृहता इतनी है कि स्वतन्त्रता सेनानियोको शासनने कई सुविधाओंके साथ जमीनें भी दी थी। पर पण्डितजीने उनकी चाह न करके उपेक्षा कर दी। जब उन्हें समझाया गया कि 'अन्य हजारों स्वतन्त्रता-सेनानियोको भी ये सुविधाएँ दी गयी हैं, आप भी स्वीकार करें।' तब पण्डितजीने उन्हें स्वीकार किया।

समाज और उसकी संस्थाओको मन्त्री, अध्यक्ष आदि पदोसे जो मार्ग-दर्शन दिया है वह उल्लेखनीय है। चाहे विद्वत्परिषद्, वर्णी ग्रन्थमाला जैसी सार्वजनिक सस्थाएँ हो और चाहे स्थानीय नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशनी सस्था हो, सभीका पण्डितजीने निष्ठाके साथ सचालन किया है।

साहित्य-साधना तो उनके जीवन व्यापी है और आज भी ८५ वर्षकी अवस्थामे उसमे तन्मयताके साथ लगे हुए है। वस्तुत वे असाधारण प्रतिभा और बहु आयामी व्यक्तित्वके धनी है।

उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पणके अवसरपर हमारे बहुश नमन है। वे स्वस्थ मेधा, स्वस्थ वाणी और स्वस्थ शरीरसे युक्त शत वर्ष जीवी हो।

अभिनन्दनीयका अभिनन्दन

● प० रवीन्द्रकुमार जैन, विशारद, दमोह

हमने श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीको बहुत देरमें पहचाना। उनका अभिनन्दन इससे बहुत पहले हो जाना चाहिए था। किन्तु 'जब जागे तभी सवेरा' की उक्तिके अनुसार उनका अब अभिनन्दन हो रहा है, यह खुशीकी बात है।

पण्डितजीसे कोई ऐसा क्षेत्र नही छूटा, जिसमे उन्होने अधिकारपूर्वक कार्य न किया हो। राष्ट्रीय क्षेत्रमे की गयी उनकी सेवा और त्यागको कभी भुलाया नही जा सकेगा। वे 'स्वतन्त्रता-सेनानी'के रूपमें प्रदेशमें तथा देशमे हमेशा याद किये जायेंगे।

समाजके क्षेत्रमे उन्होने दस्सापूजाधिकारके आन्दोलनमे सक्रिय भाग लिया और वह अधिकार उन्हें दिलाया। वे आज हमारे साथ बराबरीमे है।

साहित्य-साधना तो उनकी अनूठी है। वे आज भी आगमके पक्षधर है और आगमानुसार अनेक विषयोका स्पष्टीकरण करनेमे सलग्न है।

हम उन्हें श्रद्धाके साथ नमन करते और उनके स्वस्थ एव शतायुष्क जीवनकी कामना करते है।

विशिष्ट प्रतिभाके धनी

● डॉ० शीतलचन्द्र जैन, प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य सस्कृत महाविद्यालय, जयपुर

व्याकरणाचार्यजीके नामसे प्रसिद्ध प० बंशीधरजीको भारतके जैन विद्वानोमें उनकी स्वयकी विशिष्ट विचार शैलीके कारण एक पृथक् मूर्धन्य मनीषी विद्वान्‌की कोटिमें गिना जाता है।

आप मात्र चारो अनुयोगोके ही ज्ञाता नही है, अपितु आप स्वतन्त्र विचारक, समाज सुधारक, स्वतन्त्रता-सेनानी और निर्भीक वक्ताके रूपमें भी जाने जाते हैं।

सौभाग्यसे सरस्वतीके साधक-आराधक मनीषी पूज्य पण्डितजीके अभिनन्दन-ग्रन्थके सम्पादक मण्डलमें मुझे भी स्थान मिला हुआ है। अत पण्डितजीके प्राय. सभी विधाओंसे सम्बन्धित लेख पढनेको मिले। उन लेखोके पढनेसे मुझे कभी ऐसा आभास होने लगता था कि ऐसी विचारधारा जैन शास्त्रोमे तो नही मिलती। परन्तु जब लेखको पूर्ण पढ करके पूज्य गुरुवर्य प० डॉ० दरबारीलालजी कोठियासे एव स्वय व्याकरणाचार्य-जीसे विचार-विमर्श होनेपर पूरा सिद्धान्त गले उतरनेमें देरी नही लगती थी। मेरी स्वयकी मान्यता है कि व्याकरणाचार्यजीकी चाहे खानिया तत्त्वचर्चा हो या कार्यकरणभाव और कारकव्यवस्था आदि ग्रन्थ, सभी उनकी स्वयकी विशिष्ट विचार-शैलीसे युक्त हैं। जैसे कि पण्डित "जैन दर्शनमे कार्यकारण भाव और कारक-व्यवस्था" नामक ग्रन्थमें व्यवहारनयकी चर्चामे उन्होने कहा है कि आगममे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है परन्तु अभूतार्थका अर्थ असत्य ग्रहण करना नही है अपितु अभूतार्थका अर्थ है कि वह (व्यवहार) वस्तुके स्वाश्रित और अभेदात्मक स्वरूपको ग्रहण नही करके पराश्रित व भेदात्मक स्वरूपको गहण करता है। इसलिये व्यवहारनय अभूतार्थ कहा है। इसी प्रकार प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी द्वारा 'सन्मति-सन्देश', वर्ष १६, अक २ मे प्रकाशित "उपादानकारण ही कार्यका नियामक होता है" इस लेखके उत्तरमे इसी पुस्तकके परिशिष्टमे जो उत्तर दिया है वह उत्तर इतना साधार एव युक्ति-युक्त है कि उपादान और निमित्त दोनोकी नियामकताको सिद्ध करता है।

वस्तुत पण्डितजीके सभी ग्रन्थ एव लेख आगम एव न्यायके विशिष्ट ग्रन्थोके समझनेके लिये मार्ग-दर्शकका कार्य करते है। जैनदर्शनमें कार्यकारण और कारक व्यवस्था जैसो पुस्तक विश्वविद्यालयमे दर्शन-शास्त्रके छात्रोके पाठ्यक्रममे निर्धारित करने योग्य है।

ऐसे विशिष्ट विचार शैलीके धनी मनीषी विद्वान् व्याकरणाचार्य हम सभी नवीन शैलीके विद्वानोके लिये दीर्घकाल तक मार्गदर्शक बने रहे इस भावनाके साथ मैं उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।

मंगल कामना

● शाह खूबचन्द्र जैन, बीना

मुझे इस बातसे अत्यन्त प्रसन्नता है कि प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अभिनन्दन होने जा रहा है। आठ वर्षकी छोटी आयुमे न उनके ऊपर माँका साया था और न ही पिताका। तभीसे उनके जीवनमे सघर्षोकी शुरुआत हुई और आज तक सघर्ष किये जा रहे है। आदर्शकी बात यह है कि उनका सघर्ष स्वय केन्द्रित कभी नही रहा। सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलनमे, दस्सा पूजाधिकारके मामलेमे, गजरथ विरोधी आन्दोलनमे तथा कई राष्ट्रीय तथा सामाजिक सस्थाओमें आपने सक्रिय भूमिका निभाई। आज भी वे अपनी लेखनीसे आगमानुकूल जिनवाणीकी गहराई नापनेका प्रयास किये जा रहे है। वे हमारे बहनोई होनेके कारण वैसे भी अभिनन्दनीय है। समस्त समाजके द्वारा अभिनन्दन किया जाना उनके द्वारा अबतक किये गये सघर्षो एवं जिनवाणीकी सेवाका परिणाम है। वे शतायु हो तथा अपने लक्ष्यको प्राप्त करें यही मगल कामना है।

एक निस्पृही साधु-सम वास्तविक गृहस्थ

● श्री सुलतान सिंह जैन, एल० एल० बी०, बुलन्दशहर

आपकी शिक्षा ऐसे गुरुके आश्रममे हुई कि आप उनके ही समान निर्भीक जैनदर्शनके माने हुए विद्वान् वन गये। पं० वंशीधरजी, व्याकरणाचार्यने पू० क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी छत्रछायामे स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीसे व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री आदि उपाधियाँ प्राप्त कर अपना जीवन प्रारम्भ किया।

आपकी जीवन-यात्राको हम तीन भागोमें बाँट सकते है। (१) स्वतन्त्रता-सेनानीके रूपमे (२) सामाजिक-सुधारकके रूपमे और (३) तत्त्व-निर्णायकके रूपमें।

१ स्वतन्त्रता सेनानी—१९३० में महात्मा गाँधीने पूर्ण स्वतन्त्रताका नारा लगाया। १९३१ मे नमक कानून तोडनेका आवाहन किया, आप तभीसे इस सग्राममें कूद पडे। १४४२ के देशव्यापी भारत छोडो आन्दोलनमे आप ९-१० माह तक सागर व नागपुरकी जेलोमे भी रहे। आप प्रान्तीय काग्रेस कमेटीके सदस्य रहे और वर्षों नगर काग्रेस कमेटीके अध्यक्ष रहे।

२. समाज-सुधारक—जहाँ देशमे स्वतन्त्रताकी लहर दौड रही थी, वही समाजमे सुधारोकी बाढ-सी आ रही थी। आपने दस्सा पूजाधिकारका पूर्ण समर्थन किया। जो लोग वर्षोसे धर्मकी अभिलाषासे तडप रहे थे, उन्हें उनका अधिकार दिलानेमें पूर्ण सहयोग दिया।

आप वर्षो सनातन जैन पत्रके सम्पादक रहे। पत्रका सम्पादन बडी तत्परता, निर्भीकता और लगनसे किया। मेरा परोक्ष परिचय तभीसे आपसे है क्योकि मेरे पिता श्री मगतराय जैन, साधु भी सनातन जैन समाजके एक अग थे। प्रत्यक्ष दर्शन आपके शास्त्रीय परिपद्के ललितपुर अधिवेशनमे हुए।

आपका व्यक्तित्व बडा सरल है, आपने अपनी विद्याको जीवन-यापनका साधन नही बनाया, वरन् अपने स्वतन्त्र व्यापारमे सलग्न रहे हैं।

३. तत्त्व-निर्णायक—सोनगढसे निश्चय-एकान्त-मिथ्यात्वकी बाँग आ० कुन्दकुन्दके समयसारके नामपर लगी। स्वभावतया विद्वानोका उधर ध्यान आकर्षित हुआ। लगभग सभी विद्वानोने उसका विरोध किया। समाजका दुर्भाग्य रहा कि स्वर्णकी चमकमे एक-आध विद्वान् सोनगढके हाथ बिक गया।

यही नही, कुछ श्रेष्ठी वर्ग भी ऐसे ही मोहमे और आत्माकी बातके लोभमे आ गये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आल्हा-ऊदल सुनकर आदमी वीर रसमें बह जाता है। खानियाँ तत्त्वचर्चामे व्याकरणाचार्यजीका प्रमुख हाथ रहा है। जयपुरखानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाका पहला भाग ४ प्रश्नोका प्रकाशित हो चुका है। दो भाग और होने हैं, जो प्राय. तैयार हैं, जिनका प्रकाशन समाजका सहयोग चाहता है। इस पुस्तककी एक प्रति अवश्य होनी चाहिये और पहली तीन पुस्तकोकी कम-से-कम तीन-तीन प्रतियोका होना आवश्यक है। एक मन्दिरपर इस हिसावसे १००) का खर्चा आता है जो कुछ भी नही है। इन पुस्तकोके निकलनेपर अगले भागोका प्रकाशन सुगम हो जायेगा और समाजको सावधान करता रहेगा।

इतना देशभक्त और जिनवाणी भक्त होते हुए भी न तो देशवासियोने इस निस्पृही व्यक्तिको ऊँचा उठाया, न दि० जैन समाज उसको याद कर सका। अव उनकी आँखें खुली है और उनको कुछ लताड़ा है, साथ ही अब भी थपकी दे रहे है जिसका ज्वलन्त उदाहरण २०-७-८९ का जैन सन्देशका सम्पादकीय है।

अन्तमें मान्य गुरुदेवकी दीर्घायुकी मंगल-कामना करते हुए, उनके चरणोमें नत-मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

श्रद्धेय पण्डितजीका स्तुत्य अभिनन्दन

● पं० कमलकुमार शास्त्री, 'कुमुद', खुरई

श्रद्धेय प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यका सदा स्मरण किया जावेगा। उन्होंने आगमकी रक्षा की है और उसे विकृत होनेसे बचाया है। निश्चयएकान्तका जो धुआँधार प्रचार किया गया उसमे सामान्यजनोकी बात ही क्या, अच्छे-अच्छे सिद्धान्ताचार्य विद्वान् भी उसमें बह गये।

व्याकरणाचार्यजीने निमित्तको अकिंचित्कर बतानेवालोंका डटकर मुकाबला किया और उसके लिए 'जैन दर्शनमे कार्य कारणभाव और कारक व्यवस्था' ग्रन्थमे सिद्ध किया कि कार्योत्पत्तिमे निमित्त उतना ही भागीदार है जितना उपादान। उपादानको निमित्त न मिले तो वह अनन्तकाल तक उपादान ही बना रहेगा, उपादेय नही बन पायेगा। रोटीके बननेमे आटा उपादान है पर उसमे पानी, रोटी बनाने वाला, उरसा, बेलन, आग, लकडी आदि सहकारी कारण न मिले तो आटा त्रिकालमे रोटी नही बन सकेगा। भव्य जीवको देव-शास्त्र-गुरुका सान्निध्य न मिले और अन्तरगमे दर्शनमोहनीयका उपशम-क्षय-क्षयोपशमका निमित्त न मिले तो उसे सम्यग्दर्शन अनन्तकालमे भी प्राप्त नही हो सकता। इस प्रकार व्याकरणाचार्यजीने निमित्तो-को कार्यकारी सिद्ध करके उपादानोपादेय भावकी तरह निमित्त-नैमित्तिक कार्यकारणभावको भी आवश्यक एवं अनिवार्य सिद्ध किया है। यही आगमकी प्ररूपणा है।

व्याकरणाचार्यजीने अपनी कृतियो द्वारा स्तुत्य प्रयास करके आगमको विकृत होनेसे बचाया है। वे समाज द्वारा अवश्य अभिनन्दनीय है। हम उनके स्वास्थ्य एव शतायुष्यकी हार्दिक कामना करते हैं।

देश, समाज एवं राष्ट्रकी अनुपम विभूति

● श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी ● श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी

श्रद्धेय पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्यके अगाध ज्ञानकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है। वे आगम ग्रंथोके महाज्ञाता और पारखी है। उनकी लेखनीमें बल है कि किसी भी प्रकारकी गुत्थीको इतनी सरलतासे आगम प्रमाणोके आधार पर अकाट्य बना देते है और विषयका प्रतिपादन ऐसी सूक्ष्म रीतिसे करते है कि सामान्य पाठक भी सहजतासे हृदयंगम कर लेता है।

जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार, जैन तत्त्वमीमासा-की मीमासा जैसी महान् कृतियाँ है जिनका सभी क्षेत्रोमें समादर हुआ है और उन्हे यश भी मिला है। और उनकी ज्ञानाराधनाकी साधना सफल हुई है। यही नही, देश और राष्ट्रकी सेवामे भी वे अग्रणी रहे है यही कारण है कि वे धुनके पक्के, चिन्तनशील एव विचारक है साथ ही सहृदय भी। सबको अपना बना लेनेकी उनकी कला भी अनूठी है। हम लोगो के प्रति उनका सहज स्नेह है।

ऐसे प्रतिभाशाली समाजसेवी, राष्ट्रभक्त चिन्तक मनीषीका इस अभिनदन ग्रथ समर्पणकी वेलामे हृदयसे मगलकामना है कि वे स्वस्थ तथा दीर्घायुष्य प्राप्त कर हम सबको मार्गदर्शन देते रहें ताकि धर्म, समाज, राष्ट्रकी सेवा होती रहे। इसी भावनाके साथ मैं अपने श्रद्धा-सुमन, विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

●

वे अद्वितीय व्यक्ति हैं

● श्री देवेन्द्र कुमार जैन, मोटरवाले, सागर

पूज्य पण्डितजीकी दिनचर्या नियमित है। उनका वस्त्र-व्यवसाय न्याययुक्त और प्रत्येकके लिए विश्वासोत्पादक है। उदारता और वात्सल्य तो उनमे ऐसे है कि वे कभी उनके करने मे चूकते नही है। विद्वानो के प्रति उनका अनन्य स्नेह रहता है। अपने सिद्धान्त के वे पक्के है। जब मेरी बच्ची आयुष्मती नलिनीका विवाह उनके मझले पुत्र चि० विवेक कुमारके साथ हुआ तो उन्होंने भेटमे एक रुपया और एक नारियल स्वय लिया तथा अन्य सभी बरातीजनोको भी एक रुपया और एक नारियल मात्र दिलाया। क्या गृह, क्या दुकान, क्या जीवन-व्यवहार और क्या धार्मिक जीवन सबमे एकरूपता है। मैं उन्हें एक आदर्श पुरुष मानता हूँ। उनके अभिनन्दनके अवसरपर उन्हे श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हुआ उनके शतायु होने की शुभ-कामना करता हूँ।

सहजता एवं धीरजकी मूर्ति

● श्री लखमीचद सिंघई, एम. काम , एल. एल. बी. एडवोकेट, खुरई

पण्डितजी स्वतन्त्र चिन्तक और गम्भीर विचारक है। "सुखी जीवनके लिये स्वतंत्र विचार होना चाहिये।" (दार्शनिक गेटे)। स्वतत्र विचार हेतु निष्कर्मण्यताका त्याग होना आवश्यक है, जिसे पण्डितजीने अपने जीवनमें कभी नही आने दिया। जीवनमें अपनी जगह न ढूंढ पानेवाले आदमियोकी प्रवृत्तिको पडितजी ने कभी फटकने नही दिया। पंडितजी शुरूसे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेससे सजीव जुडे रहे। स्वतत्रता-संग्रामके सैनिक रहे।

मैंने बहुत पाससे पंडितजीके जीवन व नियतको देखा और पहचाना है, सिद्धान्तोसे समझौता पडितजीने सीखा ही नही। बीना-इटावाका पोस्ट-आफिस पडितजीके निवासके पास रहा आया। पडितजीका खाता उसमे था। खातेमेसे जालसाजीसे कुछ रुपया पोस्ट-आफिस कर्मचारियोने हेरा-फेरी कर दिया। लम्बे समयके बाद पडितजीको पता चला। मुझे वकालत शुरू किये करीब ३ वर्ष हुये थे, पण्डितजीने मुझे कार्यवाही विधिगत तौरसे करने हेतु कहा। मैंने उन्हे आग्रह किया कि मात्र कुछ ही रुपयोका गडबड हुआ है, न्यायालयमें समय व पैसा दोनो का भारी खर्चा होता है। आपको इतना समय कहाँ है। पण्डितजीने एक ही उत्तर दिया कि यदि हम कार्यवाही नही करेंगे तो यह गलत आदत न जाने कितने लोगोको क्षति पहुँचावेगी। इसलिये मात्र छोटी रकम न देखकर प्रजातान्त्रिक प्रणालीके स्वतत्र भारतमे न्याय व कानूनका डर बना रहे, अपनेको कार्यवाही करना है। न्यायाधीश महोदय श्री ए० के० अवस्थी थे, जिनके न्यायालयमें प्रकरण चला। साक्ष्यमें पोस्ट-आफिसके अधीक्षकको खर्चा भरना पडा। वह खर्चा हेरा-फेरी की गई राशिसे दोगुनेसे ज्यादा होता था, न्यायाधीश महोदयने भी पडितजीसे प्रकरण समाप्त करने हेतु सुझाव दिया, क्योकि प्रकरणकी विषय-वस्तु मात्र छोटी-सी राशि थी, किन्तु पंडितजीने इकार कर दिया। केवल इसलिये कि ऐसा करने वालोको भविष्यमें ऐसा न हो, इसके लिये ही मात्र उन्होने कानूनी कार्यवाही चाही है। आगे चलकर जब पोस्ट-आफिसके सबधित कर्मचारियोको प्रकरणमे फसते व नौकरीसे निकाले जानेकी स्थिति देखी तो पडितजीने क्षमा कर दिया और सारा खर्चा व राशि छोड दी। करीब २ वर्षतक पेशियोमे आनेकी चिन्ता नही की और प्रकरण वापिस ले लिया, यह विनम्रता एवं क्षमाका गुण पडितजीमे देखा। यह घटना करीब सन् १९७२ की है।

महामनस्वी विद्वद्रत्न

● डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह

सरस्वती-वरदपुत्र, श्रद्धेय प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य अपनी ऊर्जस्वित् क्रियाशीलता, अप्रतिम विद्वत्ता, मौलिक चिन्तना, युक्त्यागम तर्क-पुरस्सर लेखन-क्षमता, निर्भीक वक्तृता, अदम्य साहस, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अटल निष्ठा, राष्ट्रीय/सार्वभौम विचारधारा और तदनुरूप प्रवृत्तियोसे समवेत होनेके कारण विगत आठ दशाब्दियोके जीवन्त इतिहास हैं। उनके व्यक्तित्वमे तीर्थंकर महावीर का जीवनदर्शन, महात्मा गाधीकी राष्ट्रीय प्रेरणा, सन्तप्रवर गणेशप्रसाद वर्णीका समाजोत्थान और शिक्षाप्रसार तथा ऐसे ही अनेक सन्तो-मनीषियों के दिव्य ललाम कृतित्वका चारुतम निदर्शन हुआ है।

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य सग्रामके सजग प्रहरी और गम्भीर अध्येता श्री व्याकरणाचार्यजीके व्यक्तित्व और उनकी कार्यशैलीके विषयमें यथेष्ट जानकारी मुझे अपनी छात्रावस्थाके प्रारभिक दिनो (सन् १९५१) मे ही हुई। उन दिनो वे अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् के मत्री थे और प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सयुक्त मत्री। वि० प० कार्यालय सागरमें क्रियाशील था। विद्वत्परिषद्के कार्यकलापोको नियन्त्रित तथा प्रोत्साहित करनेके निमित्त वे समय-समय पर सागर पधारते थे। प० पन्नालालजी से विचार-विमर्श करते समय व्याकरणाचार्यजीकी सूझबूझ और सस्था सचालनकी कुशल पद्धतिसे मैं बहुत प्रभावित था। १९५२ में पूज्य वर्णीजी नैनागिरजीमे विराजमान थे। प० जी इसी समय विधान सभाके चुनावमे प्रत्याशी थे। हमलोग सागर विद्यालयकी ओरसे नैनागिर गये थे। वहाँ पहुँचे विद्वानोसे पूज्य वर्णीजीने जिन गुण-गरिष्ठ शब्दोमें प० व्याकरणाचार्यजीके चुनाव सन्दर्भकी चर्चा की, उससे ध्वनित हुआ कि—वर्णी जैसे सन्तके मनमे व्याकरणाचार्यजी कितने गहरे पैठे हैं।

समाजमे व्याप्त अशिक्षाके कुहर शिक्षाकी उपेक्षा, कुरूढियोंके व्यामोह और विशृखलित प्रवृत्तियोंसे व्याकरणाचार्यजी न केवल चिन्तित रहे हैं, प्रत्युत इनके निरसन हेतु उन्होने सदैव प्रयत्न किये हैं। व्याकरणाचार्यजीका ८४ वर्षीय जीवन इन्ही प्रवृत्तियोका सागोपाग प्रतिबिम्ब है। वे समाज सेवा और राष्ट्र सेवामे भी अग्रणी है।

समाजके समीचीन विकासके लिए आपने श्री नाभिनन्दन जैन हितोपदेशिनी सभा, सन्मति प्रचारिणी सभा आदि सस्थाओको सगठित करके विद्याप्रसार और सस्कार सृजन किया तथा बहुव्ययसाध्य गजरथ जैसे आयोजनो की अनावश्यकता/व्यर्थता, साबित की है। सर्वप्राणि-साम्यभावके प्रतिपादक जैनधर्मके अनुयायियोमे पारस्परिक भेद-दस्सापूजा प्रकरण आदिको दूर करने हेतु कठोर प्रयत्न किये और उनमे अच्छी सफलता प्राप्त की। उनके द्वारा सम्पादित पत्रिकाएँ ऐतिहासिक दस्तावेज हैं।

जैनदर्शनके मूल तत्त्वोकी विवेचनामे बढती हुई स्वेच्छाचारिताको रोकनेके लिए आपने समाजको आन्दोलित किया, यथार्थको निरूपित करनेवाले अनेक ग्रथ लिखे और आर्षमार्ग प्रतिपादक साहित्य-सृजनमे अभी ८४ वर्षकी वृद्धावस्थामें भी निरत है। वस्तुत यह कार्य अभिनव और प्रकृष्ट योगदान व्याकरणाचार्यजीका समग्र जीवन चिन्तन-लेखन, समाज-राष्ट्र-सेवा और स्वावलम्बी व्यवसायसे ओत-प्रोत है। शिक्षा और लेखनको उन्होने कभी अर्थोपार्जनका माध्यम नही बनाया है।

ऐसे निर्भीक महामनस्वी विद्वद्रत्नको यद्यपि 'सिद्धान्ताचार्य' प्रभृति सम्मानोसे विभूषित किया गया है, पुनरपि उनके समग्र व्यक्तित्व और सार्थक सृजनसे युगको परिचित कराने और पूज्य प० जीके दिव्य-

ललाम कृतित्वके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु उनका अखिल भारतीय अभिनन्दन और एतदर्थ अभिनन्दन ग्रन्थका प्रकाशन-समर्पण एक चिर अपेक्षित महनीय कार्य है।

मैं, इस अवसर पर, पूज्य पं० जीके महनीय योगदानको गौरवपूर्वक नमन कर उनके चिरायुष्ककी कामना करता हूँ—'जीवेत् शरद' शतं, भूयश्च शरदः शतात्' इति।

जैनतत्त्वोंके समीचीन विश्लेषक

● श्री विजयकुमार मलैया, अध्यक्ष—जैन पचायत, दमोह

श्रद्धेय पं० बशीधरजीकी पर्यायवाची बन गयी हैं उनकी उपाधि—'व्याकरणाचार्य'। वे सर्वत्र इसी सम्बोधनसे पहचाने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व और वैदुष्यके सृजनमे पूज्य वर्णीजीका महत्त्वपूर्ण अवदान है।

'समयसार' प्रभृति आर्ष ग्रन्थोके हार्दको वर्णीजीने जिस रूपमे व्याख्यात किया, वही पद्धति पं० व्याकरणाचार्यजीने जैन तत्त्वोंके समीचीन प्रस्तुतिकरणमे अपनायी है। पं० जीका यह प्रयत्न जैन सस्कृति संरक्षणकी दिशामें नितरा अभिनन्दनीय है। उनके प्रति हमारी कोटिश मगल कामनाएँ।

क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

● श्री जयकुमार इटोरया, अध्यक्ष—दमोह किराना व्यापारी संघ
अध्यक्ष—इटोरया सार्वजनिक न्यास एवं उपाध्यक्ष—दमोह जैन पंचायत

देशके अन्य भागोकी अपेक्षा बुन्देलखण्ड आज भी पिछडा हुआ है। अबसे पचास वर्ष पूर्वके इसके पिछडेपनकी तो केवल कल्पना की जा सकती है। किन्तु आज जिन बातोको कल्पनाके बल पर साक्षात् करने-का प्रयास करते हैं सौभाग्यसे 'खद्योतवत् सुदेष्टारो, हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्'—की भाँति उन परि-स्थितियोंके प्रत्यक्ष-दृष्टा कही-कही अब भी विराजमान है। ऐसी ही विभूतियोमेसे एक हैं—सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य।

राष्ट्रमे महात्मा गाधी, सुभाषचन्द्र बोस और सामाजिक धरातल पर क्षु० गणेशप्रसादजी जैसे महापुरुष एक निजी विशिष्ट शैलीमे राष्ट्र और समाजके उत्थानमे जुटे थे। बुन्देलखण्डका जैन समाज भी साधनहीन था। शिक्षाके एक तो यहाँ साधन ही नही थे और फिर समाजका भी ध्यान इस ओर नही था। हाँ, बाहरी शान-शौकत/दिखावेवाले/झूठी मान प्रतिष्ठा वाले कामोमे जरूर ही समाज दत्तचित्त था। अत. पू० वर्णीजीके कार्यो-को सामने रखकर पूज्य व्याकरणाचार्यजीने समाजमें अलख जगाया। यहाँकी समाज गजरथ-आयोजनमे बहुत धन व्यय करती थी, बच्चोकी शिक्षा आदि पर उसका ध्यान प्राय नही था। फलत इस बहु व्ययसाध्य अनावश्यक आयोजनको समाप्त करने / स्थगित कराने / निश्चित अन्तरालके बाद आयोजित करानेके लिए व्याकरणाचार्यजीने सुव्यवस्थित ढंगसे आन्दोलन चलाया। केवलारीके रथोके समय उन्होने जो आन्दोलन चलाये थे और उनमें जो सफलता मिली थी, उसकी अच्छी यादें मुझे आज भी तरोताजा हैं। क्योकि मेरे बड़े भैया (स्व०) भागचन्द्रजी इटोरया, दमोह ऐसे सभी कार्योमें श्रद्धेय पं० जीके सक्रिय समर्थक और अनुयायी थे। मैं भी एक नन्हें सिपाहीकी भूमिकामें उनके साथ रहता था।

पं० जीके इन आन्दोलनोका प्रभाव इतना अवश्य परिलक्षित हुआ कि उन दिनो रथ चलानेकी गति-में अन्तराल आ गया था। समाजका आचार-विचार कैसा हो रहा है और हमारी प्राथमिक आवश्यकताएँ क्या हैं ? इस ओर ध्यान देनेके लिए अब पुन जोरदार आन्दोलनकी जरूरत है।

मैं पूज्य पं० जीकी सस्कृति-सेवाको अत्यन्त गौरवके साथ प्रणाम करके भगवान जिनेन्द्र देवके शासन-से प्रार्थना करता हूँ कि पूज्य पं० जी चिरायु हो तथा उनका सन्देश घर-घर पहुँचे।

वे सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय हैं

● श्री वीरेन्द्र कुमार इटोरया, मत्री, जैन पचायत, दमोह

● श्री महेन्द्र कुमार सिंघई, कोषाध्यक्ष, जैन मिलन, दमोह

परय आदरणीय सरस्वती-वरदपुत्र प० वशीधरजी व्याकरणाचार्यने राष्ट्र, समाज एवं जैन साहित्यकी निरन्तर सेवा एव उपासना हेतु जो अपने जीवनके ६० वर्षोसे भी अधिकका समय प्रदान किया है वह चिरस्मरणीय है। आपके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ एव साहित्य सुदीर्घ काल तक जैन जगत, अध्यात्म प्रेमी समाज एव शोध छात्रोको मार्गदर्शन करते रहेगे।

कुरूढिवादी प्रथाओ एव सामाजिक कुरीतियोकी समाप्ति हेतु अपने जीवनमें निरन्तर संघर्ष आपकी एक विशेषता रही है।

स्वतंत्रता सग्रामके दौरान मातृभूमिकी रक्षा एव राष्ट्रीय भावनाओंके वशीभूत होकर आपने जो सघर्ष किया है एव वर्षो जेलकी यातनायें सहन की है वे प्रशसनीय है, फलत सम्पूर्ण राष्ट्र आपकी सेवाओंका ऋणी है।

अपनी ८४ वर्षीय उम्रमे भी आप लेखन चिंतन अध्ययन एव ज्ञान-दानकी जो सेवायें प्रदान कर रहे हैं वे अभिनन्दनीय है। आपका पूर्ण जीवन सादगी पूर्ण होते हुए भी जीवन का हर क्षण समाज एव राष्ट्र हेतु समर्पित है, अत आप सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है। अभिनन्दन ग्रथ समर्पण मात्रसे हम आपकी सेवाओसे उऋण नही हो सकते, यह तो मात्र प्रतीक है। आपके एव आपके कार्योके प्रति हमारी अपार श्रद्धा है। हमारी शुभकामनाये एवं नमन स्वीकार करे।

मूलाम्नाय-संरक्षण हेतु सदैव जागरूक

● सिंघई देवकुमार रायेलीय

अध्यक्ष, सिंघैन चम्पाबाई ध० प० सिं० तुलसीरामजैन पारमार्थिक न्यास, कटनी

श्रद्धेय प० व्याकरणाचार्यजीने आजीवन समाज-सुधार, समाजोत्थान, शिक्षा-प्रसार, सस्कृति सरक्षण, मूलाम्नाय रक्षण और राष्ट्र सेवाके महनीय कार्य किये हैं। इसलिए मैं अनेकश उनके कार्योकी अभिवन्दना करता हूँ और उनके यशस्वी दीर्घजीवनकी आकाक्षा करता हूँ उनका कोटिश अभिनन्दन करता हूँ।

राष्ट्र भारतीके सजग प्रहरी

● चौधरी शिखरचन्द्र जैन, साहित्यरत्न मत्री, श्री पार्श्वनाथ जैन मन्दिर ट्रस्ट, रीठी, कटनी

मान्यवर प० बशीधरजीने शिक्षा, साहित्य, दर्शन, समाज सुधार और राष्ट्रदेवताकी महती आराधना की है। वे राष्ट्रभारतीके सजग प्रहरी हैं। वे चिरायु प्राप्त कर मानवमात्रके आदर्श रहें। उनका कोटिश अभिनन्दन करता हूँ।

विनयाञ्जलि

● पं० अमृतलाल जैन शास्त्री, दमोह

सरस्वती पुत्र प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ जैनदर्शन एवं सस्कृत साहित्यके अद्वितीय विद्वान् है। आप जैन समाजमे आद्य व्याकरणाचार्य है। आपने अनेक विषयोका गहन चिन्तन किया है। आपके लेख विद्वद्वर्गमें बडी श्रद्धाके साथ पढे जाते है। आप आर्षमार्गानुयायी तथा उसके समर्थक विद्वान् है। निश्चय व्यवहार और कार्यकारणभावको लेकर आपके जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए वे सर्वत्र समादृत हुए है। ८४ वर्षकी अवस्थामें भी आप युवाओके समान लेखन और चिन्तनमे जागरूक है।

अभिनन्दनकी बेलामे मैं आपके प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

सेठ हुकमचन्द्र बम्हौरीवाले, सागर

श्रीमती सुधारानी जैन, सागर
(धर्मपत्नी सेठ डालचन्द्र जैन)
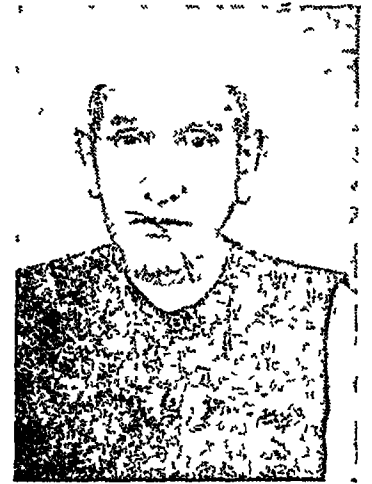
श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ

श्री नरेन्द्रकुमार जैन, हैदराबाद

श्रीमती शकुन्तला, सागर
(धर्मपत्नी श्री इन्द्रचन्द जैन)

शाह अमृतलाल जैन, बीना

श्री जयकुमार इटोरया, दमोह

श्रीमती वृजमनी देवी, गोरखपुर
(धर्मपत्नी राय देवेन्द्रप्रसाद)

स्व० शाह निर्मलकुमार, बीना

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

शाह खूबचन्द्र जैन, बीना
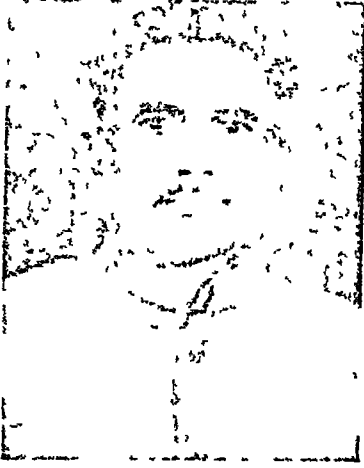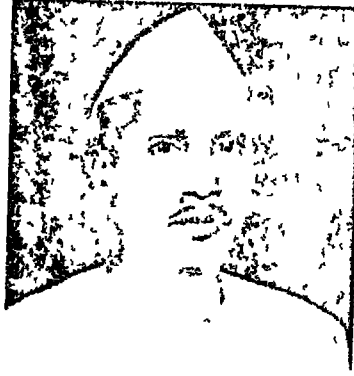
सेठ मोहनलाल बरायठावाले
सागर

सेठ दरबारीलाल, D C M वाले
सागर

श्री कोमलचन्द्र जैन, सागर

श्री सन्तोषकुमार जैन, सागर

सेठ कोमलचन्द गिदवाहा वाले
सागर

श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ
(धर्मपत्नी श्री सौभाग्यमल जैन)

श्रीमती कस्तूरीबाई बडकुल
(मातै० जयप्रकाश, वाराणसी)

श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी
(धर्मपत्नी बाबूलाल जैन फागुल्ल)

अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोगियों की नामावली

५००१) सेठ मोहनलाल बाबूलालजी धामौनी वाले, सागर
५००१) डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, बीना
३००१) सेठ देवेन्द्र कुमारजी, मोटरवाले, सागर
३००१) सेठ हुकमचन्दजी डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, सागर
३००१) श्री नरेन्द्र कुमार जैन, हैदराबाद (पं० बालचन्द्रजी शास्त्री की स्मृति मे)
२१००) अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
२१००) श्रीमती सुधारानी जैन, सागर (धर्मपत्नी सेठ डालचन्द जैन)
२०००) डॉ० मोतीलालजी जैन, खुरई
२१००) श्री दिगम्बर जैन समाज, स्टेशन मंडी, गजबासौदा
११०१) श्रीमती सुगन्धी जैन, बीना
११०१) श्रीमती नलिनी जैन, बीना
११०१) श्रीमती किरण जैन, बीना
१०००) अरिहन्त स्टील एण्ड एलायज लिमिटेड, मुजफ्फरनगर
११०१) श्रीमती शकुन्तला जैन, सागर (धर्मपत्नी श्री इन्दरचन्द जैन)
१००१) श्रीमती ताररानी खुरई (धर्मपत्नी सुदेशचन्द्र जैन)
७०१) श्री जयकुमार इटोरया, दमोह, (भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास)
५५१) श्री सौभाग्यमल जैन, लखनऊ
५५०) श्रीमती शान्तिदेवी जैन, लखनऊ (ध० प० सौभाग्यमल जैन)
५०१) श्री शीलचन्द जी पटोरिया, इन्दौर
५०१) श्री कोमलचद अशोक कुमार जैन, पिडरुआ वाले, सागर
५०१) सेठ मोहनलाल लखमीचन्दजी जैन, सागर
५०१) श्री कोमलचन्द सुबोध कुमारजी, सागर
५०१) ब्र०, पं० माणिकचन्दजी चवरे, अधिष्ठाता म० ब्र० कारंजा (महाराष्ट्र)
५०१) सेठ दरबारीलाल, विजयकुमार जैन, सागर
५०१) श्री सन्तोष कुमार जैन, सागर
५००) श्री नीरज जैन, सतना
५०१) पण्डित बालचन्दजी जैन, नवापराराजिम
५०१) शाह अमृतलालजी, प्रमोद कुमारजी, बीना
५०१) श्रीमती पुष्पा शाह, बीना (मातुश्री दिलीप, प्रदीप, शैलेष, राजा शाह)
५००) श्रीमती वृजमनी देवी, गोरखपुर (धर्मपत्नी राय देवेन्द्र प्रसाद)
५०१) श्रीमती कस्तूरीबाई बडकुल, वाराणसी (मातेश्वरी जयप्रकाश जैन)
५०१) श्रीमती पुष्पादेवी जैन, वाराणसी (धर्मपत्नी बाबूलाल जैन फागुल्ल)
५०१) सिघई जीवनकुमार अरुणकुमार जैन, सागर
५०१) श्रीमती श्रीदेवी (धर्मपत्नी सि० नेमिचन्दजी जैन, पथरिया)
५०१) श्रीमती मीना जैन, वाराणसी (धर्मपत्नी नरेन्द्र कुमारजी)
५०१) श्रीमती धर्मभागिनी गजासेनजी, वाहूबली

१०१) श्री सुहागमलजी वकील, गंजबासौदा
१०१) श्री रतीचन्द्रजी रामलालजी, (द्वारा श्री हीरालालजी जैन) गजवासौदा
१०१) श्री बालचन्द्रजी अशोक कुमार जैन, गजवासौदा
१०१) श्री नेमीचन्द्रजी वकील साहब, गजवासौदा
१०१) श्री भगवानदास ऋषभ कुमारजी जैन, गजवासौदा
१०१) श्री नन्नूमल रमेशचन्द्रजी जैन, गजवासौदा
१०१) श्री शीलचन्द्रजी जैन, दालवाले, गजबासौदा
१०१) बाबू रतनचन्द्रजी विमलचन्द्रजी सर्राफ, गजवासौदा
१०१) श्री गुलाबचन्द्रजी दीपचन्द्रजी, गजबासौदा
१०१) श्री नन्दकिशोर जैन प्राचार्य, गंजबासौदा
१०१) श्री डॉ० जवाहरलाल जैन, गजवासौदा
१०१) श्री राजकुमारजी वकील, गजबासौदा
१०१) श्री बाबूलाल जैन, गजबासौदा
१०१) डॉ० गुलाबचन्द्रजी जैन नोगई वाले, गंजबासौदा
१०१) श्री मिट्ठूलाल जैन वकील, गजवासौदा
१०१) श्री जिनेन्द्रकुमार जैन, सिरनौदा गजवासौदा
१५१) सेठ कोदूलालजी, तेंदूखेडा
१०१) श्री शचीन्द्र कुमार मोदी, तेदूखेडा
१०१) सिंघई दयाचन्द्रजी पडवारवाले, सागर
१५१) डॉ० नरेन्द्र कुमार जैन, वाराणसी
१०१) श्री कमलचन्द्र विमल कुमार समैया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री बाबूलालजी गुडा, मण्डीबामौरा
१०१) पण्डित बाबूबालजी राजकुमार, मण्डीबामौरा
१०१) भाई खुशालचन्द्रजी कठरया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री चुन्नीलालजी कठरया, मण्डीबामौरा
१०१) श्री लखमीचन्द्र प्रदीपकुमार चौधरी, मण्डीबामौरा
१०१) श्री चम्पालाल विजय कुमार नायक, मण्डीबामौरा
१०१) श्री हुकमचन्द्र अजित कुमार बडकुल, मण्डीबामौरा
१०१) श्रीमती ताराबाई पटोरिया, रायपुर
१०१) श्री ऋषभ कुमारजी एव श्रीमती स्नेहलता जैन, खुरई
१०१) श्रीमती चन्द्रा सेठी (धर्मपत्नी फूलचन्द्र सेठी), खुरई
१०१) श्री धन्नालालजी सेठी, खुरई
१०१) श्री जिनेन्द्र कुमारजी गुरहा, खुरई
१०१) चौधरी शिखरचन्द्रजी साहित्यरत्न, रीठी
१००) श्रीमती धामीदेवी नन्दलाल जैन, बम्बई
१०१) पं० विजय कुमार जैन, श्रीमहावीरजी
१०१) पण्डित दुलीचन्द्र जैन, बीना
१०१) श्री शाह् प्रेमचन्द्र जैन, बीना

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

सेठ देवेन्द्रकुमार जैन, मोटरवाले, सागर

लाला शिखरचन्द्र जैन, दिल्ली

श्री सुरेश जैन, भोपाल

श्री वीरेन्द्रकुमार इटोरया, दमोह

श्री इन्दरचन्द जैन, सागर

सिंघई देवकुमार रावेलीय, कटनी

श्रीमती पूनावाई जैन, सोरई
(पत्नी स्व० श्री परमेष्ठीदास कोठिया)

श्रीमती श्रीदेवी जैन, पथरिया
(धर्मपत्नी सि० नेमिचन्द्र जैन)

श्रीमतो विमला जैन, भोपाल
(धर्मपत्नी श्री सुरेश जैन)

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव

श्री रतनलालजी जैन, गंगवाल, दिल्ली

श्री मोतीलालजी जैन ढोलकबीडी, सागर

लाला श्रीचन्द्रजी जैन, मुजफ्फरनगर
(चियरमैन अरिहन्त स्टील एण्ड एलायज लि०)

श्री विजयकुमारजी मलैया
दमोह
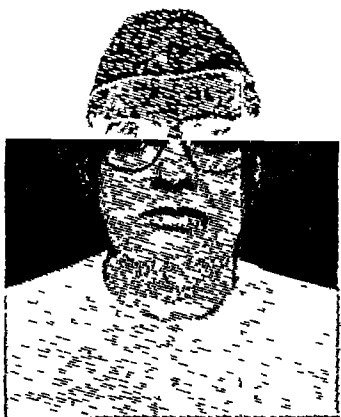
पं० बालचन्द्रजी काव्यतीर्थ, नवापारा राजिम

श्री शीलचन्द्र जैन, पटोरिया, इन्दौर

२१००) श्री रतनलालजी गंगवाल, अध्यक्ष दि० जैन महासमिति
१५०१) श्री मोतीलालजी जैन ढोलक बीडीवाले, सागर
१००१) श्री लाला शिखरचन्द्रजी जैन, दिल्ली
५०१) श्री सेठ रज्जूलाल बाबूलाल जैन सैतपुरवाले, बीना
५०१) श्री सुरेशचन्द्रजी जैन, नैनागिरि वाले भोपाल
५०१) सिं० देवकुमार राधेलीय, कटनी
५०१) श्री विजयकुमारजी मलैया, दमोह
५००) श्री बाबूलालजी पहाडे, हैदराबाद
५०१) शाह खूबचन्द्रजी, बीना
२५१) पण्डित रविचन्द्रजी जैन, दमोह
३०१) श्री दुलीचन्दजी नाहर, सागर
२०१) श्री कोमलचन्दजी, दमोह
२०१) श्री महावीर प्रसाद नृपत्या, जयपुर
२०१) पण्डित राजकुमारजी शास्त्री, निबाई
१५०) श्री शान्ति प्रसादजी जैन, टिकैतनगर
१५१) श्री सुरेश चन्द्रजी जैन, अम्बिकापुर
१५१) श्री पन्नालालजी जैन, इलाहाबाद
१५१) सिंघई हीरालालजी सेसईवाले, बीना
१५१) श्रीमती फूलन बाई जैन, बीना
१५१) डॉ० नरेन्द्र कुमार विद्यार्थी छतरपुर वाले एव सुमतिप्रकाश जैन
१५१) श्री निर्मल कुमार राजेश कुमार जैन, तेंदूखेडा
१५१) पं० पूर्णचन्द्र जैन सुमन, दुर्ग
१०१) प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर
१०१) श्री अशोक कुमार फुसकेले वकील सदन, सागर
१०१) श्री अशोक कुमारजी शिक्षक, गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री नेमिचन्द्रजी जैन, प्राचार्य, गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री सिं० राजेश कुमार जिनेश्वरदास जैन, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री डॉ० राजकुमारजी जैन, एम. बी बी एस , खुरई
१०१) श्री सिं० वीरेन्द्रकुमारजी जैन, खुरई (म० प्र०)
१०१) श्री सुमत प्रसादजी जैन, दिल्ली
१००) श्री मेवारामजी जैन, बम्बई
१०१) प्रो० निहालचन्द्रजी जैन, बीना
१११) श्री गुलाबचन्द्रजी आदित्य, भोपाल
१०१) डॉ० हीरालाल जैन, रीवा
१०१) पण्डित गुलाबचन्द्रजी 'पुष्प' टीकमगढ
१०१) श्री वीरेन्द्र प्रधान भारतीय स्टेट बैंक, सागर
१०१) श्रीमती सोमाबाई (धर्मपत्नी सिंघई भागचन्द्रजी, कटगी)
१०१) श्रीमती नन्ही बाई, पथरिया (धर्मपत्नी हेमचन्द्रजी जैन)

३०३) श्री दि० जैन आचार्य सस्कृत महाविद्यालय, जयपुर
१०१) श्री आर० सी० जैन, उज्जैन
१००) श्री विजयकुमार पाटनी, जयपुर
१००) श्री प्रेमचन्द्रजी, जयपुर
१०१) श्रीमती सुशीला जैन, जयपुर
१०१) डॉ० शीतलचन्द्र जैन, आचार्य, जयपुर
१०१) डॉ० सनतकुमार जैन, धारवाल, जयपुर
१०१) श्री शिखरचन्द्रजी जैन, दालवाले, गजवासौदा
१०१) श्री पदमचन्द्रजी जैन, गजवासौदा
१०१) श्री प्रभुदयालजी जैन, गजवासौदा
१०१) श्री रतनचन्द्रजी ज्ञानचन्द्रजी, गजवासौदा
१०१) सि० लीलाधरजी जैन, महरौनी
१०१) श्रीमती साधना जैन (धर्मपत्नी श्री राकेशजी) बक्स्वाहा
१०१) सिं० शोभारामजी जैन, सागर
१५१) श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, नीलाम्वर, मागर
१०१) श्री नाथूरामजी वडकुल, गजवासौदा
१५१) श्री कपूरचन्द्रजी, घुवारा
१५१) श्री मुन्नालालजो शिक्षक, टीकमगढ
१०१) प० वावूलालजी पठा (टीकमगढ)
१०१) श्री रतनचन्द्रजो वकील, टीकमगढ
१०१) डॉ० कपूरचन्द्र सुरेन्द्र कुमार जी जैन, पठा (टीकमगढ)
१०१) सेठ महेन्द्र कुमार जैन, पठा
१०१) श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र, अहार
१५१) भगवान महावीर वाल-सस्कार केन्द्र, टीकमगढ
५१) श्री राजेन्द्रकुमारजी सिं० गुरुकुल, खुरई (म० प्र०)
११) ज्ञानचन्द्र जी जैन, तेदूखेडा
११) श्री नेमीचन्द्रजी जैन शिक्षक, तेदूखेडा

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभाव
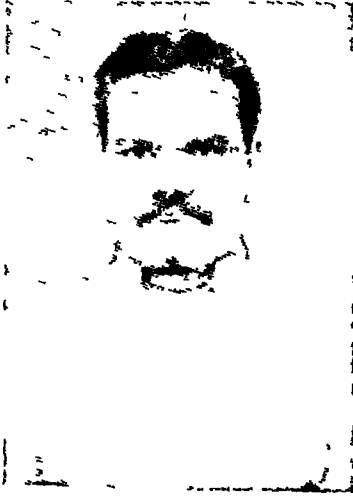
सेठ सनतकुमार जैन, सोरईवाले
सागर

श्रीमती सरोज जैन, सागर
(ध० प० सेठ सनतकुमार जैन)

श्रीमती फूलनबाई जैन, बीना

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, सागर

श्रीमती सन्ध्या जैन, सागर
(ध० प० डॉ० महेन्द्र जैन)
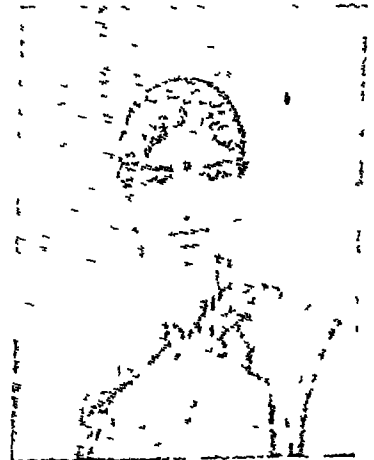
श्रीमती सावना जैन, बकस्वाहा
(ध० प० श्री राकेशकुमार जैन)

डॉ० दिलीप जैन, सागर

श्रीमती आशा जैन, सागर
(ध० प० डॉ० दिलीप जैन)

जीवन-परिचय • भेंट-वार्ता
व्यक्तित्व तथा कृतित्व

श्रद्धेय पण्डितजी : एक परिचय

● पण्डित दुलीचन्द्र जैन, वीना

कुटुम्ब : एक दृष्टिमे

श्री वशीधरजीके पिताजीका नाम पण्डित मुकुन्दीलालजी था। वह तीन भाई थे पण्डित मुकुन्दीलालजी सबसे छोटे थे। उनसे बड़े नन्नूलालजी और सबसे बडे चूरामनजी थे।

श्री चूरामनजीके दो पुत्र अच्छेलालजी और भूरेलालजी थे। अच्छेलालजीके दो पुत्र थे, एक श्री भैयालालजी तथा दूसरे श्री प० वालचन्दजी, जिन्होने षट्खण्डागमके सम्पादन और अनुवादका डॉ० हीरालालजीके साथ महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उनका स्वर्गवास अपने पुत्रो (नरेन्द्रकुमार और सुरेन्द्रकुमार) के पास रहते हुए दिनाक १७-४-८९ को हैदरावादमे हो गया। उनके तीन पुत्र है—राजकुमार, नरेन्द्रकुमार और सुरेन्द्रकुमार। राजकुमार ग्वालियरमे शासकीय विज्ञान कॉलेजमे गणितका प्रोफेसर है। अन्य दोनो पुत्र हैदराबादमे क्रमश डिप्टी चीफ इन्जीनियर और अपनी फैक्ट्रीके संचालक है। भूरेलालजीके दो पुत्र हैं—प० दुलीचन्द्र (लेखक) और फूलचन्द्र। प० दुलीचन्द्र बीनामे कपडेका व्यवसाय करते हैं व फूलचन्द्र अपनी जन्मभूमि सोरई (ललितपुर) मे व्यापार करते है। प० दुलीचन्द्रका एक पुत्र अशोककुमार है, जो बी० एस० सी, एम० ए०, एल० एल० बी० है। वह सागर युनिवर्सिटीमे कुछ समय तक सर्विस करनेके उपरान्त बीनामे ही स्वतन्त्र व्यवसायरत है। तथा फूलचन्द्रके भी एक पुत्र है—ऋषभ कुमार, जो एम० काम०, एल० एल० बी० है, और इन्दौरमे एक प्राईवेट कम्पनीमे कार्यरत हैं।

श्री नन्नूलालजीके दो पुत्र थे—अयोध्याप्रसादजी व प० शोभारामजी। पं० शोभारामजीने श्री भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी बम्बईके महोपदेशकका कार्य कई वर्षों तक किया और उसके बाद अनेक स्थानोकी पाठशालाओमे अध्यापन किया। उनके दो पुत्र हुए—परमेष्ठीदास और सुदेशचन्द्र। परमेष्ठीदासका शादीके छह महीने पश्चात् ही स्वर्गवास हो गया था। उसकी पत्नी पूनावाई पटेरा (म० प्र०) मे शासकीय कन्या विद्यालयमें अध्यापन कार्य करते हुए रिटायर होकर आजकल पटेरामें ही रह रही है। सुदेशचन्द्र एम० ए० (हिन्दी) श्री पार्श्वनाथ दि० जैन गुरुकुल खुरई (म० प्र०) मे व्याख्याता एवं उसकी धर्मपत्नी तारावाई भी वही शासकीय कन्याशालामे अध्यापिका है। उसके तीन पुत्र है। वे तीनो इन्जीनियर हैं। उनके नाम हैं—आजाद, अजित और आलोक।

प० मुकुन्दीलालजीके चार पुत्र हुए। कारेलालजी, प० हजारीलालजी, छतारेलालजी और प० वशीधरजी। इनमें आदिके तीन पुत्रोका स्वर्गवास हो चुका है। कारेलालजीका एक पुत्र था, जिसका नाम हरप्रसाद था। तीन वर्ष पहले उसका देहावसान हो गया। दूसरे पुत्र प० हजारीलालजी थे, जो स्वयं पण्डित, शास्त्र-लेखक और अध्यापक थे। नैनागिर, हडुआ आदि कई पाठशालाओमे उन्होने अध्यापन किया था। डॉ० प० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य उन्हीके सुपुत्र है। पं० मुकुन्दीलालजीके सबसे छोटे सुपुत्र हैं—पं० वंशीधरजी। इन्हीका यहाँ कुछ परिचय प्रस्तुत है। उसे प्रस्तुत करनेके पूर्व उनकी एकमात्र बहिन गौरा बाईका परिचय दे देना आवश्यक है।

गौराबाईका सम्बन्ध ग्राम भौड़ी (ललितपुर) मे सिघई पूर्णचन्द्रजीके साथ हुआ था। वह बडी दयालु और सौम्यमूर्ति थी। साथ ही वडी निश्छल और वात्सल्यमयी थी। जब भी कोई रिश्तेदार भौंड़ी पहुँचा कि उनकी आँखोंसे स्नेहके आंसुओंकी झड़ी लग जाती थी। पं० वंशीधर जी, प० बालचन्द्रजी और पं० दरबारी

लालजी उनके स्नेहके वशीभूत होकर महीनो गर्मियोके अवकाशमें भौडीमे रहा करते थे। मुझे भी कई बार भौडी जानेका अवसर मिला। उनके दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ है। उनके बडे पुत्र श्री लीलाधर व उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती बेटीबाई भी उन्हीकी तरह स्नेह रखती है। श्री लीलाधरजीने अपनी माँ गौराबाई एव पिता श्री पूर्णचन्दजीके स्वर्गस्थ होनेके पश्चात् अपना निवास अब महरौनी (ललितपुर) मे बना लिया है। उनके भी दो पुत्र तथा एक पुत्री है। एक पुत्र भागचन्द्र महरौनीमे ही वर्णी कॉलेजमें अध्यापक है तथा दूसरा पुत्र उत्तमचन्द्र भी गुढा (ललितपुर) में शिक्षक है। दोनो पुत्र सेवाभावी एव कर्मठ है।

दूसरा पुत्र कपूरचन्द्र भी, शास्त्री पास करके कई वर्षोंसे अशोकनगर, म० प्र० मे अध्यापनरत है। उसके भी दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ है। पुत्र हेमन्त व अशोककुमार है।

जन्म :

श्री वशीधरजीका जन्म भाद्र शुक्ला ७, वि० स० १९६२ मे हुआ। पिताका नाम श्री प० मुकुन्दी-लालजी और माताका नाम श्रीमती राधादेवी था। पिताजी उस क्षेत्रके माने हुए विद्वान् पण्डित, शास्त्र-प्रतिलेखक और प्रतिष्ठाचार्य थे। समाजमे जहाँ-कही जल-यात्रा, सिद्धचक्रविधान, पचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि धार्मिक कार्य होते थे उनमें उन्हें ससम्मान आमन्त्रित किया जाता था। दशलक्षण (पर्युषण) पर्वमे भी शास्त्र-वचनिकाके लिए वे समाजके आमत्रणपर जाते थे। उनके हाथके लिखे हुए शास्त्र आज भी कई मदिरोमे उपलब्ध है। लोग न्यौछावरके लिये उन्हे लिखवाते थे।

श्री वशीधरजी जब तीन माहके ही शिशु थे, पिताजीको दैवने उनसे छीन लिया था। जैसे-तैसे माताजी शिशुका पालन-पोषण कर रही थी, किन्तु १२ वर्षकी अवस्थामे उनका भी साया उनपरसे उठ गया। वे अभावो मे पले-पुषे और आगे बढे।

जन्मस्थान :

(पडितजी) वशीधरजीका जन्मस्थान सोरई है, जो बहुत पहले गढाकोटा (सागर) म० प्र० की जागीर थी और अब उत्तरप्रदेशके ललितपुर जिलेका एक प्रख्यात ग्राम है। यह प्रसिद्ध सत श्री गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि श्री १०८ गणेशकीर्ति) की जन्मभूमि हसेरा ग्राम (ललितपुर) से दो किलोमीटर पूर्वमे अवस्थित है।

१ यहाँ पहले "सौर" जातिके आदिवासी रहते थे, जो इस ग्रामके पास पाये जानेवाले घने जंगलोमें उपलब्ध जडी-बूटियो, अचार, महुआ, गुली, गोद, लाख, मूसली आदि वन्य वस्तुओका धंधा करके अपनी आजीविका चलाते थे। इन चीजोके खरीददार व्यापारी एव ठेकेदार भी यहाँ काफी सख्यामें रहते थे। सम्भवत उनके निवासके कारण (सौर + ई = सौरोकी आवास भूमि होनेसे) इस ग्रामका नाम "सौरई" पडा है।

२ कहा जाता है कि यहाँके व्यापारी उक्त चीजोको लदरा बैलोपर बहुसख्यामे लादकर मिर्जापुर ले जाते थे और वहाँके बाजारोमे उन्हें बेचते थे। तथा वहाँसे पीतल, ताँबे आदिके बर्तन खरीद कर लाते थे। ऐसे लोगोको 'सौंरया' कहते थे। अब भी वे यहाँ है और अच्छी स्थितिमें है। इनमे बहुतसे मडावरा, टीकमगढ आदि स्थानोपर चले गये है। आज यह (सौंरया) उनका वश बन गया है। पर यह सच है कि उनका उद्भव इसी ग्रामसे हुआ है। जैसे 'खण्डेला' ग्रामसे खण्डेलवाल और 'अग्रोहा' ग्रामसे अग्रवाल माने जाते है। गोलापूर्व जातिके ५८ वशोमे यह भी एक वश है।

३. सौंरईका, व्यापारिक महत्त्वके अलावा, सास्कृतिक महत्त्व भी है। यहाँ चन्देलवश राजाओंके शासनकालके दो प्राचीन मठ (मन्दिर) है, जो पत्थर-ही-पत्थरके बने है और जिनमे एक मठ जैनोका और दूसरा मठ हिन्दुओका है। जैनाके मठ (मन्दिर) में अभी भी खण्डित मूर्तियाँ विद्यमान रही हैं। इसके पास ही पूजादिके लिए उपयोगमे लाने हेतु पत्थरसे मजबूत बना एक जलकूप भी है। देख-भाल न होनेके कारण यह मठ आज अरक्षित दशामें पडा है।

४. यह 'रौनी' (रोहिणी) नदीके तटपर अवस्थित है, जो पासके बीहड जगलसे निकली है और 'धसान' नदीमे जाकर 'कर्करवाहा' ग्राम (ललितपुर) के पास मिली है।

५. 'सौंरई' का एक और महत्त्व है। वह है प्रशासनिक। इसके प्रशासनके लिए राजाका विशाल किला बना है, जो दो ओर (पश्चिम ओर उत्तर) से रौनी नदीके तटोसे घिरा है एवं विस्तृत और ऊँचे टीलेपर निर्मित है। कहा जाता है कि यह किला राजा बखतबलीने बनवाया था, जो शाहगढ (म० प्र०) के राजाके अधीन था। इस किलेसे एक रास्ता भूमिके अन्दर-ही-अन्दर बगीचेमे बनी सुन्दर वापिकाके लिए जाता है, जिससे राजाकी रानियाँ वापिकामें स्नान करनेके लिए वहाँ जाती-आती थी। दूसरा रास्ता मडावराके किले तक जाता है, जो सौरईसे ५ किलोमीटर है। किन्तु अब ये दोनो रास्ते बन्द है। मालूम पडता है कि राजनैतिक उथल-पुथल ही इन रास्तोके निर्माणका कारण रही है।

६. किलेके पूर्वी द्वारपर उससे लगा हुआ राजाके जैन दीवान द्वारा १८२ वर्ष पूर्व बनवाया दि० जैन मन्दिर है, जो वर्तमानमें जिनप्रतिमाशून्य है। ज्ञात नही, इसमें कितने वर्षोतक प्रतिमाजी विराजमान रही और कब कैसे वहाँसे उन्हे हटा दिया गया। मन्दिरके जिनप्रतिमारहित हो जानेपर उसमें शासनके द्वारा प्राइमरी स्कूल लगता रहा। इसी स्कूलमे हमारे चरित्रनायककी प्रारंभिक शिक्षा हुई, जो १५०-१७५ वर्ष वहाँ रहा जान पडता है। मन्दिरके सर्वथा जीर्ण-शीर्ण और खण्डहर हो जानेके कारण अब उसमें स्कूल भी नही लगता। स्कूल दूसरी जगह लगने लगा है। आज वह मन्दिर खण्डहरके रूपमे अरक्षित दशामे पडा है।

७ इस ग्रामके आस-पास पहले ताँबा और लोहा बडी मात्रामे निकलता रहा। अब तो कई वर्षोके अन्वेषणके बाद यहाँ फास्फोरस पत्थर, जो खाद बनानेके काममें आता है तथा यूरेनियम जैसी महत्त्वपूर्ण धातुका भी भण्डार भू-वैज्ञानिको एव कुशल इजीनियरोने खोज निकाला है और बहुलतासे उसका काम चल रहा है। इससे इस ग्रामका राष्ट्रीय महत्त्व भी बढ गया है। यह हमारे एव देशके लिए गर्वकी बात है। इसके अतिरिक्त सिमेन्टका पत्थर, स्लेटका पत्थर आदि भी यहाँ उपलब्ध हुआ है।

८ इस ग्राममे वर्तमानमे तीन दिगम्बर जैन मदिर है, २५-३० जैन घरोके अतिरिक्त लगभग तीन हजारकी यहाँ आबादी-जनसख्या है। (१) पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मदिर (जिसे बडा मदिर कहा जाता है) (२) छोटा मन्दिर और (३) बाजारका मन्दिर और तीनो ही बस्तीके बीचो-बीच स्थित है। यहाँ उल्लेखनीय है कि डॉ० प० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यने अपनी धर्मपत्नी स्व० चमेलीबाईकी स्मृतिमें ४,२००/०० रुपयोसे बाजारसे लेकर बडे मन्दिर और बडे मदिरसे छोटे मदिर तक चौडे-बडे पत्थरोकी फर्सी बिछाकर अच्छा रास्ता बनवा दिया है, जिससे आने-जानेवालोको बडी सुविधा हो गयी है। तथा २,५००/०० प्रदानकर बडे मन्दिरकी छतका भी उन्होने जीर्णोद्धार करा दिया है।

९. यह ग्राम है तो छोटा, लेकिन इसकी एक विशेषता और है। वह यह कि यह प्राच्य-विद्या प्राकृत एवं सस्कृतके विद्वानो (पण्डितो) की (आकर) खान है। व्याकरणाचार्यजी, प० शोभारामजी महोपदेशक

तीर्थक्षेत्र कमेटी वम्बई, विद्याभूषण प० रामलालजी प्रतिष्ठारत्न अशोकनगर, प० परमानन्दजी साहित्याचार्य बालाविश्राम आरा, प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (सिद्धान्त ग्रन्थोके सम्पादक-अनुवादक) हैदराबाद, पं० पद्मचन्द्रजी शास्त्री वडा मलहरा (म० प्र०) डॉ० प० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य सेवानिवृत्त रीडर का० हि० वि० वि० वाराणसी (वर्तमान बीना), प० गुलझारीलालजी न्यायतीर्थ, सागर, प० दुलीचन्द्र शास्त्री बीना आदि विद्वान् यहीकी देन है और वे विभिन्न स्थानोमे समाज एव साहित्य-साधनामे सलग्न है या सलग्न रह चुके है। इसीसे कितने ही लोग इस ग्राम सोरईको न केवल यूरेनियम आदि धातुओका खान कहते है, अपितु आध्यात्मिक विद्वानोकी खान भी कहते है।

यह भी उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि अब सोरईका यातायात कठिन नही रहा। यहाँसे ललित-पुर, सागर और बोना आदिको सरलतासे आ-जा सकते है। पक्की सडके और सडकोपर चलनेवाले वाहन प्रचुर मात्रामे उपलब्ध है।

'जननी जन्मभूमिश्चय स्वर्गादपि गरीयसी।'

यह कितना प्यारा वाक्य है। अतएव पडितजीकी जन्मभूमि सोरई तुझे शतश प्रणाम।

प्राथमिक शिक्षा

पण्डितजीको प्राथमिक शिक्षा स्थानीय प्राईमरी स्कूलमे कक्षा ४ तक हुई। जब पडितजी कक्षा २ में पढते थे तव शिक्षाधिकारी कक्षा ४ के छात्रोकी परीक्षा लेनेके लिए स्कूलमे आया। उसने कक्षा ४ के एक छात्रसे एक सवाल पूछा। वह उसका उत्तर न दे सका। यह भी वही खडे थे। इन्होने उसका उत्तर दे दिया। इस पर शिक्षाधिकारी बहुत प्रसन्न हुआ और इनसे बोला "तुम पढानेकी नौकरी करना चाहते हो तो हम नौकरी दे सकते हैं"। इन्होने उत्तर दिया कि "हम अभी आगे पढेगे"। पडितजी आरम्भसे तीक्ष्ण बुद्धि एव मेधावी छात्र रहे है।

वाराणसीमे उच्चशिक्षा :

चौथी कक्षा पास कर आप अपने मामाके पास वारासिवनी (म० प्र०) चले गये। वहाँ कुछ समय रहे। परन्तु वहाँ उच्चशिक्षाके साधन न थे। अतएव वहाँसे प० शोभारामजीके साथ सागर आ गये और सागरसे पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णी अपने साथ वाराणसी ले गये। वहाँ स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयमे उनकी छत्र-छायामे ११ वर्ष तक मुख्यतया व्याकरण और सामान्यतया साहित्य, दर्शन और सिद्धान्तका उच्च अध्ययन किया। आपने किसी भी विषयमें द्वितीय या तृतीय श्रेणी प्राप्त नही की। प्रथम श्रेणीमे ही सभी विषयोमें उत्तीर्णता प्राप्त की हैं। व्याकरणाचार्य परीक्षा तो प्रथम श्रेणी प्रावीण्य सूचीमे द्वितीय स्थानसे पास की।

ज्ञातव्य है कि सोरईसे परमानन्द, पद्मचन्द्र, लोकमन, बालचन्द्र ये भी उसी समय पढनेके लिए वाराणसी पहुँचे। इन्होने परमानन्द और बालचन्दसे कहा कि हम तीनो तीन विषयोके आचार्य बनें—हम व्याकरणाचार्य और तुम दोनो क्रमश साहित्याचार्य और न्यायाचार्य। इस तरह हम तीनो एक ही ग्रामके तीन विषयोके तीन आचार्य हो जावेंगे। इनमें पडितजी व्याकरणाचार्य और परमानन्दजी साहित्याचार्य हो गये। पर बालचन्द्रजी न्यायमध्यमा उत्तीर्ण कर अध्यापनहेतु पन्नालाल दि० जैन विद्यालय, जारखी (आगरा) में चले गये। अत वे न्यायाचार्य नही कर सके, किन्तु उत्तरकालमें वे सिद्धान्तग्रन्थोंके सम्पादक एव अनुवादक वने और उच्चकोटिका उन्होने वैदुष्य प्राप्त किया एव जीवनके अन्त तक जिनवाणीकी साधना की। हाँ, पडितजीके विचार एव भावनाको उन्हीके भतीजे डॉ० प० दरवारीलाल कोठियाने अवश्य 'न्यायाचार्य'

पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य और उनका परिवार

श्री प. बशीधर व्याकरणाचार्य

श्रीमती लक्ष्मी बाईज़ी (पत्नी)

व्याकरणाचार्यजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री विभवकुमार जैन और उनका परिवार
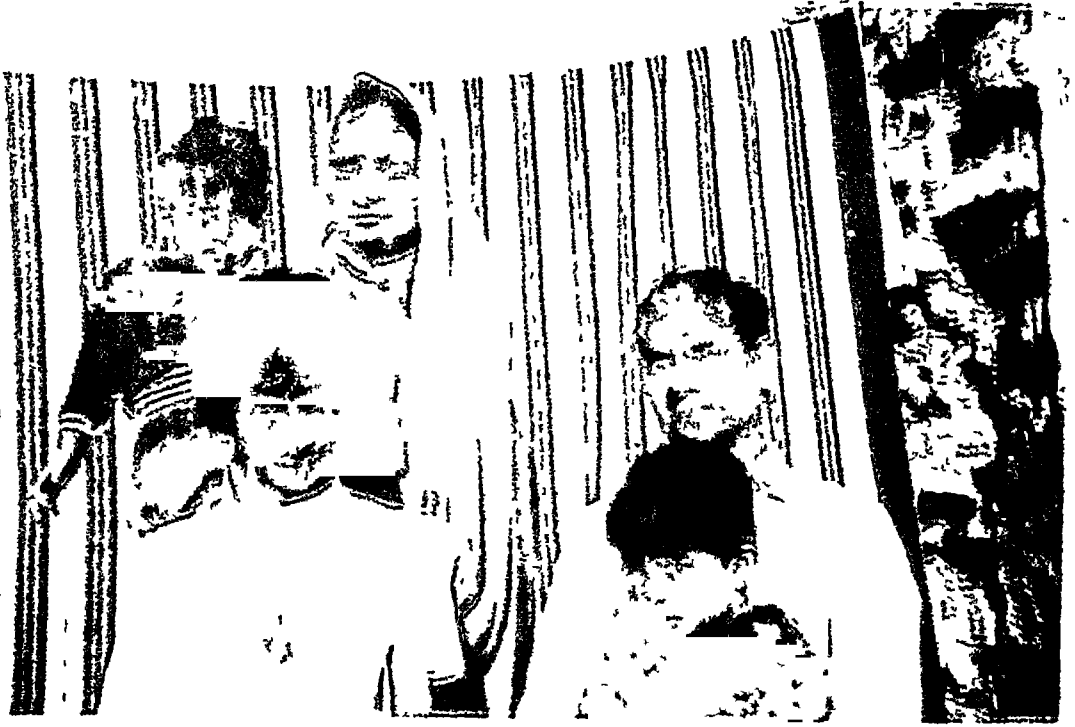
व्याकरणाचार्यजी के द्वितीय पुत्र श्री विवेककुमार जैन और उनका परिवार।

व्याकरणाचार्यजी के तृतीय पुत्र श्री विनीतकुमार जैन और उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी की ज्येष्ठ पुत्री
सौ बि्मलाबाई एव
दामाद डॉ मोतीलाल जैन
खुरई (सागर) तथा उनका परिवार
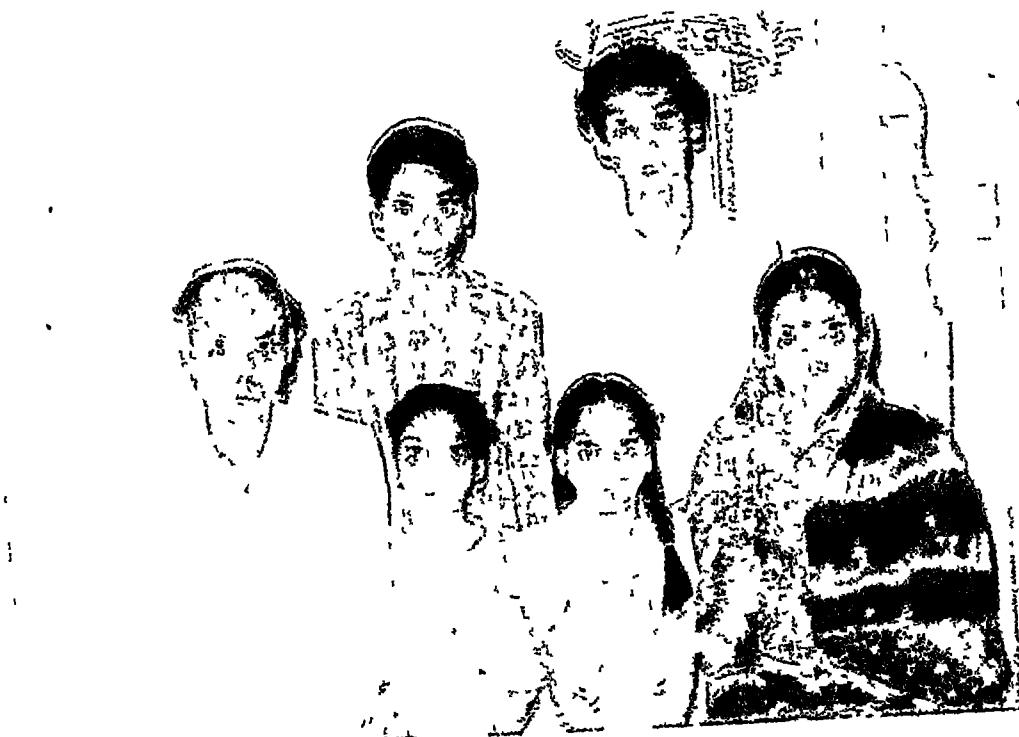
व्याकरणाचार्य की द्वितीय पुत्री सौ पुष्पाबाई एवं दामाद मास्टर मुन्नालाल जैन
टीकमगढ (म प्र.) और उनका परिवार
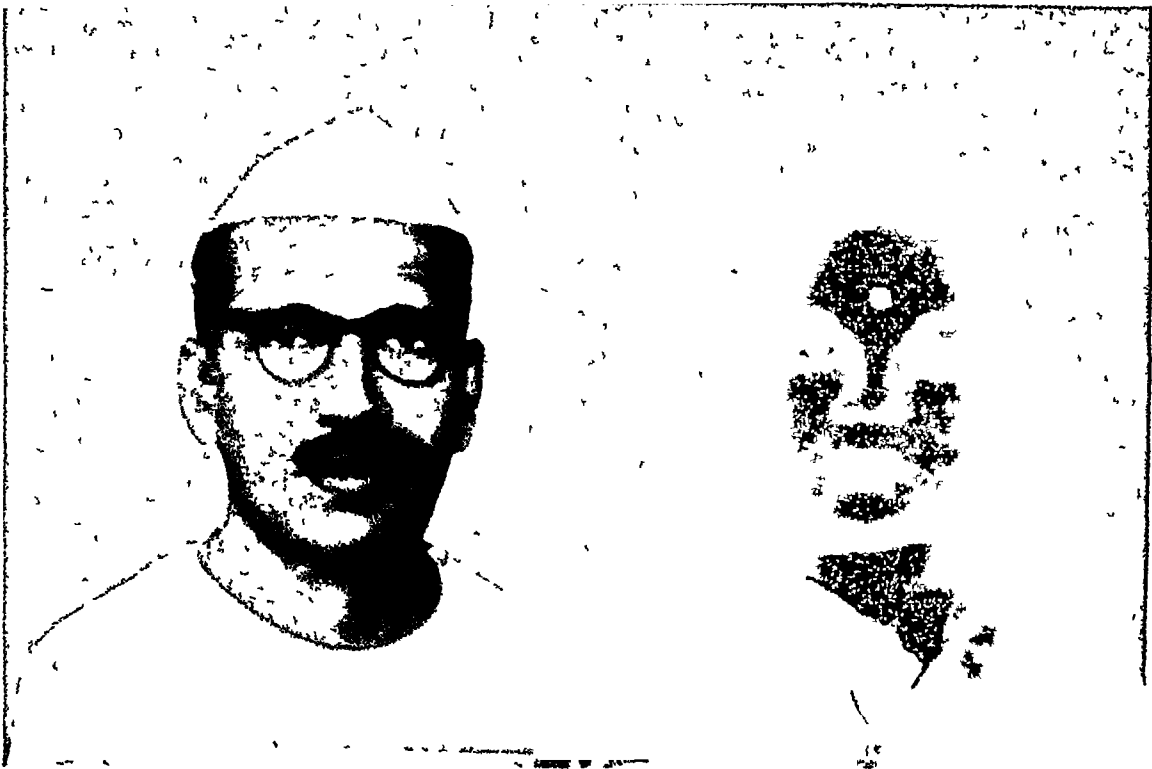
व्याकरणाचार्यजी के भतीजे डॉ दरबारी लाल कोठिया
श्रीमती चमेली बाई (पत्नी डॉ कोठियाजी)

व्याकरणाचार्यजी के भतीजे प दुलीचन्द्र जैन, बीना (म प्र) एव उनका परिवार

व्याकरणाचार्यजी के भतीजे
पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और
उनका परिवार

श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीकी कनिष्ठ पुत्री
सौ० वैजयन्ती बाई एव उनके दामाद
डॉ० हीरालाल जैन, रीवा (म० प्र०)

पण्डितजीके ज्येष्ठ भ्राता स्व० पूज्य
पं० शोभारामजीके सुपुत्र प्रिय सुरेश-
चन्द्र जैन, शिक्षक अपने परिवारके साथ

पण्डितजीके श्वसुर
शाह मौजीलालजी, बीना

पण्डितजीके काका श्वसुर
शाह अर्जुनलालजी, बीना

पण्डितजीके काका श्वसुर
शाह दयाचन्द्रजी बीना

व्याकरणाचार्यजीके ज्येष्ठ भ्राता
प० शोभारामजी, न्यायतीर्थ

करके पूरा किया। इतना ही नही, कोठियाजीने शास्त्राचार्य (जैनदर्शन), एम० ए० (सस्कृत) और पी-एच० डी० (जैन तर्कशास्त्र) की परीक्षाये देकर उनमे प्रथम एव उच्च द्वितीय श्रेणीमे उत्तीर्णता भी प्राप्त की। कहना होगा कि उच्च शिक्षा स्वय ग्रहण करने और दूसरोको उसके लिए प्रेरित करनेमे पडितजीकी रुचि और दूरदृष्टि कितनी सार्थक रही है।

गृहस्थाश्रममे प्रवेश :

जब पडितजी वाराणसीमें व्याकरणाचार्यके चार खण्ड उत्तीर्ण कर चुके थे और पचम खण्डकी तैयारीमे सलग्न थे। तब सयोगसे शाह मौजीलालजी, बीना अपने बहनोई सिंघई नन्हेलालजी टोपीवाले सागर-के साथ व्यापारिक कार्यसे वाराणसी गये। वाराणसी सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व-नाथकी जन्मभूमि है तथा समाजका प्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय भी यही है, जहाँ पडितजी उच्च अध्ययन कर रहे थे। दोनो महानुभाव दोनो स्थानोके दर्शन करते हुए स्याद्वाद महाविद्यालय पहुँचे। शाहजी अपनी लडकीके लिए योग्य लडकेकी खोजमे थे। यहाँ पडितजीसे सम्पर्क हुआ। दोनो महानुभावोको पडितजी सुयोग्य जचे। घर आकर और अपने दोनो भाईयो (शाह अर्जुनलालजी, व शाह दयाचन्द्रजी, परिवार जनो तथा रिश्तेदारोसे परामर्श करके शाहजीने निर्णय लिया कि अपनी लडकीके लिए पण्डितजी सबसे उपयुक्त और सुयोग्य लडके है। फलत पडितजीका सम्बन्ध सन् १९२८ मे शाह मौजीलालजीकी सुपुत्री लक्ष्मीबाईके साथ सम्पन्न हो गया।

पण्डितजीके अनुरूप धर्मपत्नी :

यो तो प्रत्येक पुरुषकी धर्मपत्नी उसके अनुरूप होती या बन जाती है। किन्तु पण्डितजीकी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाई स्वभावत उनकी समान-गुणधर्मा थी। उनमे गाम्भीर्य, सहज स्नेह, वात्सल्य, उदारता, दयालुता, सहनशीलता, अक्रोध, अमान, अमाया, अलोभ जैसे गुण विद्यमान थे। अस्वस्थ होने पर भी वे पण्डितजीकी दिनचर्या और आतिथ्यमे कभी शैथिल्य नही करती थी। कुटुम्बियो और रिश्तेदारोके प्रति उनके हृदयमे अगाध स्नेह एव आदर रहा। पण्डितजीको यह भी पता नही रहता था कि घरमे क्या चीज है और क्या नही है। पैरोमे कभी चप्पलें नही पहनी। लोग कहते थे कि—"देखो, लछोबाईको इतनी सम्पन्न होनेपर भी उसकी कितनी सादी वेश-भूषा है। पैरोमे चप्पलें भी नही पहनती है।" वास्तवमे लक्ष्मीबाई सतयुगी गृहणी थी और स्वय लक्ष्मी। सहनशीलता एव कुटुम्बप्रेम तो इतना था कि प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (भतीजे), डॉ० प० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य (भतीजे), प० बालचन्दके दो बच्चो और एक बच्ची तथा हमारी (प० दुलीचन्द्र, भतीजेकी) दो बच्चियोकी शादियाँ उन्होने अपने घरसे ही की। पर कभी अन्यथाभाव प्रदर्शित नही किया। यह स्त्रीस्वभावकी दृष्टिसे कम महत्त्वकी बात नही है। यह दैवकी विडम्बना है कि वे ५८ वर्षकी आयुमें ही कालकवलित हो गयी। अपने पीछे वे तीन सुयोग्य पुत्रो तथा तीन सुयोग्या पुत्रियोके भरे-पूरे परिवारको छोड गई। ऐसी सतयुगी देवी श्रद्धेया श्रीमती लक्ष्मीबाईको हमारे शत-शत नमन है।

परिवार :

पण्डितजीके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। यह सयोग ही है कि पुत्र-पुत्रियोकी सख्या समान है। पुत्र है १. विभव कुमार (४२), २ विवेक कुमार (४०), ३ विनोत-कुमार (३२)। विभवकुमार अपने पैत्रिक वस्त्रव्यवसायमे सलग्न है। दूसरा पुत्र विवेक कुमार इन्जीनियर

होकर व्हीकल फैक्ट्री जबलपुरमे कार्यरत हैं और तीसरा पुत्र विनीत कुमार, बडे भाईके साथ वस्त्रव्यवसायमे सलग्न है, इसके सिवाय वह बीमा, बैंक एव पोस्ट आफिसमे फिक्स डिपाजिट करानेका कार्य भी करता है। तीनो पुत्रोके विवाह हो चुके है। विभव कुमारका सम्बन्ध सेठ बाबूलालजी सागरकी पुत्री सुगन्धी बाई, विवेककुमारका सम्बन्ध सेठ देवेन्द्र कुमार जी सागरकी पुत्री नलिनी बाई तथा विनीत कुमारका सम्बन्ध सेठ हुकमचन्द्रजी सागरकी पुत्री किरणबाईके साथ सम्पन्न हुए है। पण्डितजीकी तीनो बहुएँ भी पुत्रोकी तरह कर्त्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी, विनम्र और आज्ञाकारिणी है। विभवके एक पुत्र चि० वीरेश कुमार और पाँच पुत्रियाँ--प्रीति, दीप्ति, नीति, स्मृति और कृति है। विवेककुमारसे दो पुत्र--विशेष और क्षितिज तथा एक पुत्री--रागोली है। और विनीतकुमारके तीन पुत्रियाँ--निधि, सोनू एव गुडिया है।

पण्डितजीकी तीनो पुत्रियोके भी सम्बन्ध हो चुके है। बडी पुत्री विमलाबाई (५७), का डॉ० मोती-लालजी खुरईके साथ, दूसरी पुत्री पुष्पाबाई (३७) का मा० मुन्नालालजी टीकमगढ और तीसरी पुत्री वैजयन्ती-बाई (३५) का डॉ० हीरालालजी रीवाके साथ हुआ है। पण्डितजीके तीनो दामाद सुयोग्य और अपने-अपने कार्यमे रत है।

मधुर एव स्नेहपूर्ण सम्बन्ध

पण्डितजीके स्वजन और परिजन सभीके साथ मधुर एव अच्छे सम्बन्ध है। कुटुम्बियोके प्रति जहाँ अगाध स्नेह है वही ससुरालमे रहते हुए अपने ससुर शाह मौजीलालजी, काका ससुर शाह अर्जुनलालजी और शाह दयाचन्द्रजी तथा चचेरे सालो--शाह अमृतलाल, शाह खूबचन्द्र, शाह फूलचन्द्र, शाह स्व० निर्मलकुमार और शाह प्रेमचन्द्र एव उनके परिवारोके साथ भी पण्डितजीके स्नेहपूर्ण सम्बन्ध बने हुए है। इनमे एकमात्र कारण उनकी लोकज्ञता, व्यवहारकुशलता और गम्भीरता है। उनका चिन्तन दूरगामी है।

ससुरालपक्ष भी पण्डितजीका सदा आदर करता है। हमे एक घटना याद आती है। जब पण्डितजी स्वतन्त्रता-सग्रामके आन्दोलनमे सन् १९४२मे जेलमे थे और घरपर उनके प्रथम पुत्र सनतकुमारका स्वर्गवास हो गया था, तब पण्डित बालचन्द्रजी शास्त्री अमरावतीसे इस दुखमे सवेदना प्रकट करनेके लिए बीना आये और आते ही वे बीमार हो गये। बुखार ठीक नही हो रहा था। पण्डितजीके ससुर शाह मौजीलालजीने अपने मुनीम श्री कन्छेदीलालजीको अमरावती भेजकर उनके बाल-बच्चोको बीना बुलवा लिया और जब तक उनकी तबियत ठीक नही हुई तब तक सभीको अपने पास रखकर उनका इलाज करवाया। जब उनकी तबियत ठीक हो गयी तब उन्हे जाने दिया। ऐसी थी शाह मौजीलालजी की आत्मीयता और सहृदयता। अभी भी शाह परिवारके पण्डितजी तथा उनके कुटुम्बके साथ प्रिय सम्बन्ध है, जो अनुकरणीय है।

विशेष गुण

पण्डितजीमे कुछ ऐसे विशेष गुण है जो अन्य में प्राय दुर्लभ होगे। इनमे कुछका यहाँ दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझता हूँ--

(क) **स्वाभिमान**--पण्डितजी व्याकरणाचार्य हुए ही थे कि उन्हे स्थानकवासी साधुओको अध्यापन करानेके लिए ब्यावर (राजस्थान) से आमन्त्रण आया। वे वहाँ गये और पहले दिन उन्हेँ थोडा पढाया'। इसपर एक महाराज बोले--"पण्डितजी, इतना ही पढायेंगे। आपसे पहलेके पण्डितजी तो दो-तीन घण्टे सुबह और इतने ही समय शामको पढाते थे। "पण्डितजीने कहा कि--"आपने इतना पढ करके भी कुछ नही पढ़ा। इसप्रकारके पढने-पढानेसे क्या लाभ। कुछ अनुभव और मनन भी होना चाहिए। यदि आपको पूर्ववत्

पढना है तो आप किसी और विद्वान्‌को बुला ले । हम तो इसी प्रकार पढावेंगे ।'' बस, उस दिनके बाद सभी साधु पण्डितजीसे यथोचित आदर करते हुए पढने लगे । पण्डितजीके अध्यापनसे सभी साधु अनुभव करने लगे कि पण्डितजीके अध्यापनसे हमारी व्युत्पत्ति और विशिष्ट ज्ञान हुआ है । सभी महाराज सतुष्ट और प्रसन्न थे । यह था पण्डितजीका स्वाभिमान । ऐसे अनेक प्रसग उनके जीवनसे जुडे हुए है ।

(ख) व्यवहारमें कठोरता, किन्तु सच्चाई—पडितजी व्यवहारमे कठोर है, पर सच्ची बात कहनेमे वे सकोच नही करते । उन्हे मीठी, किन्तु झूठी बात या चापलूसीसे बेहद नफरत है । उनसे बातचीत करनेवाला व्यक्ति कुछ समय समझता है कि पण्डितजीने इतना भी लिहाज नही किया । किन्तु विशेष परिचयमे आनेपर वही व्यक्ति स्वीकार करता है कि यह सिद्धान्त और नीतिकी बात है, जो सभीके लिए अनुपालनीय है । यह सत्य है कि ''हितं मनोहारि च दुर्लभ वच ।'' बात हितकारी भी हो और मनोहारी भी हो, दुर्लभ है । कई लोग तो यहाँ तक कह उठते हैं कि ''आप बहुत रूखे है ।'' किन्तु पण्डितजी उसकी भी परवाह नही करते । और यथार्थ कहनेपर दृढ रहते है ।

(ग) व्यवसायमें एक बात—जब पण्डितजीने कपडेका व्यवसाय आरम्भ किया तो उन्होने कपडा वेचनेमें ''एक बात'' (एक भाव) का सिद्धान्त स्थिर किया । कई लोगोने कहा कि ''पण्डितजी, आप एक बातके सिद्धान्तपर चलेंगे, तो दुकान नही चलेगी और न आप सफल हो पायेंगे ।'' पण्डितजीने कहा कि ''दुकान चले या न चले । हम सिद्धान्तका परित्याग नही करेंगे । दुकान विश्वासपर चलती है और ग्राहक विश्वस्त होकर खरीदेगा ।'' फलत पण्डितजी ''एक बात'' के सिद्धान्तमे पूर्ण सफल हुए । ग्राहकोका विश्वास जम गया । आज स्थिति यह है कि अर्द्ध शताब्दी हो गयी और उनका वस्त्रव्यवसाय दस गुना हो गया और दुकानकी विश्वसनीयता सर्वत्र हो गयी । उनके पुत्र भी उसी सिद्धान्तपर चल रहे हैं । नम्बर दो का कोई कार्य नही होता । सेल्स टॅक्स आफीसर एक तो आता नही और आये भी तो खाली हाथ चला जाता है । उसे घूस देने जैसा प्रश्न ही नही उठता । दुकान, घर आदिका सारा कार्य एक नम्बरमें ही होता है । खाते वही आदि सब सही रहते है ।

(घ) कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकता—पण्डितजीने सामाजिक एव धार्मिक संस्थाओमे दीर्घकाल तक कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकताके साथ मानद सेवायें की है । स्थानीय श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशिनी सभा द्वारा संचालित मन्दिर और विद्यालयके मन्त्री पदसे लगभग १८ वर्ष तक उनकी सुचारु रूपसे सेवा की है । उस समय जो मन्दिर और विद्यालयका कार्य अव्यवस्थित था उसे पूर्णरूपसे व्यवस्थित बनाया था । कभी-कभी पण्डितजीको सस्थाके कार्यसे सागरकी अदालतमे जाना पडता था । उस समय आप गेडाजीकी धर्मशाला-मे ठहरते थे और वहाँसे पैदल कचहरी जाते थे । वहाँ जब क्लर्कसे संस्थाके कार्यके सम्बन्धमें बात की तो वह कुछ रुपया माँगने लगा । पण्डितजीने उसे इस तरह डाटा कि वह भयभीत हो गया और क्षमा माँगकर उसने तत्काल कार्य कर दिया । इसके बाद जब-जब पण्डितजीको कचहरी जाना पडा, तब-तब उस क्लर्कने उनके कार्यको प्राथमिकता दी । आज भी हम देखते है कि वे कर्त्तव्यनिष्ठा और नैतिकतासे अपने जीवनको सजोये हुए है ।

(ङ) समयके पाबन्द—पण्डितजी समयके नियमित है । मन्दिर, स्वाध्याय, दुकान, भोजन, शयन, लेखन और बाहर गमन आदि उनका समयबद्ध है । बाहर जाना या आना है तो पण्डितजी समयपर स्टेशन पहुँच जायेंगे । गाडी भले ही लेट आये या जाये । यही उनकी समयनियमितता सभा-सोसायटियोकी है । उनके कार्यक्रमोमे विलम्ब हो सकता है पर पण्डितजीके उनमें शामिल होनेमें विलम्ब नही होता । यह कहना चाहिए

कि उनकी पूरी दिन-चर्या घडीकी सुईके अनुसार बँधी हुई है। घडी बन्द हो सकती है पर उनकी दिन-चर्यामे कोई अन्तर नही पडेगा। पण्डितजी एक-एक मिनट समयकी कद्र करते हैं। यद्यपि सुबह-शाम उनका अब टहलना छूट गया, फिर भी वे घरपर कमरेमे या बाहर गैलरीमें घूम लेते है। फलत आज ८५ वर्षकी अवस्थामे भी उनका मस्तिष्क, इन्द्रियाँ, मन और शरीर स्वस्थ एव निरोग है।

(च) राष्ट्रीय और सामाजिक सम्मान—सन् १९४२ के 'भारत छोडो" आन्दोलनमे आपने भाग लिया और गिरफ्तार होकर सागर, नागपुर तथा अमरावतीकी जेलोंमें दस-पौने-दस माह रहे। अन्तमे आपको निर्दोष घोषित कर छोड दिया गया। फलत १५ अगस्त, १९७२ मे आपको स्वतत्रता संग्राममें स्मरणीय योगदानके उपलक्ष्यमे राष्ट्रकी ओरसे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधीने ससम्मान ताम्रपत्र भेंट किया और "स्वतन्त्रता-सेनानी" के रूपमे प्रथम श्रेणीके दो टिकटोका पास भी आपको मिला। तथा प्रदेश और केन्द्रकी ओरसे पेशन भी मिलती है। सन् १९७४ मे भगवान महावीरके २५००वें निर्वाण-महोत्सवपर आपको भारतके पूर्व उपराष्ट्रपति माननीय श्री बी० डी० जत्ती द्वारा प्रशस्तिपत्र, सिद्धान्ताचार्यकी उपाधि और २,५००/– रुपयेकी सम्मान-निधिसे वीर निर्वाण भारतीकी ओरसे सम्मानित किया गया है।

(छ) स्वतन्त्र चिन्तक और लेखक—आप स्वतन्त्र चिन्तक और गम्भीर विचारक होनेके साथ उत्कृष्ट लेखक भी है। आपको आगमका पूर्ण पक्ष है। जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चामें आपने आगम-पक्षकी ओरसे प्रमुख भाग लिया था। जैन शासनमे निश्चय और व्यवहार, जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आपने लिखे है, जिनका समाजमे सर्वत्र आदर हुआ है। ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

पण्डितजी के विषयमे हम अन्तमें इतना ही कहेंगे कि वे एक ऐसे सन्तुलित वचनभाषी, कर्त्तव्यनिष्ठ, नैतिक आचारवान्, ठोस चिन्तक-लेखक, राष्ट्रसेवक, समाज-सेवक और साधक-पुरुष है, जो सदा स्मरणीय एव अभिवदनीय रहेगे। मुझे तो उनसे बहुत कुछ मिला है। मैं उन्हे अन्त.करणसे प्रणाम करता हुआ लेखनी को यही विराम देता हूँ।
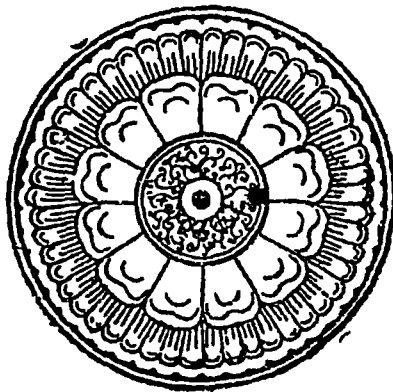
कि उनव
कोई अन
टहलना
अवस्था

लिया अ
निर्दोष
योगदा
और "
केन्द्रकी
भारतवे
२,५०

लेखक
प्रमुख
आदि

नैतिक
एव उ
को य

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य के
कुछ अविस्मरणीय क्षणों की
चित्रमय झाँकी

श्रद्धेय पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना
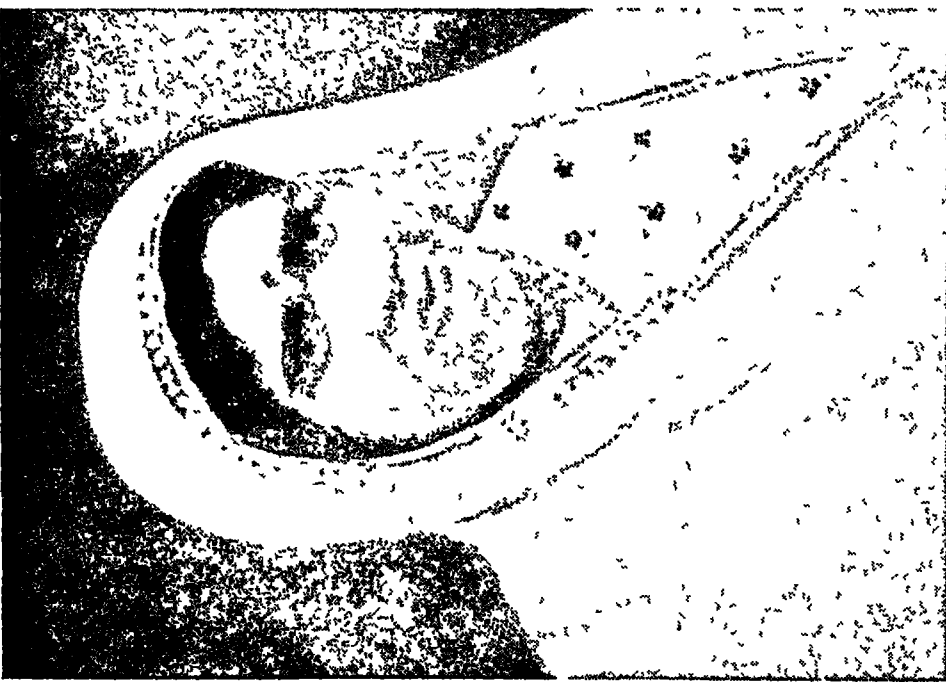
श्रीमती स्व० लक्ष्मी बाई
(ध० प० पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)
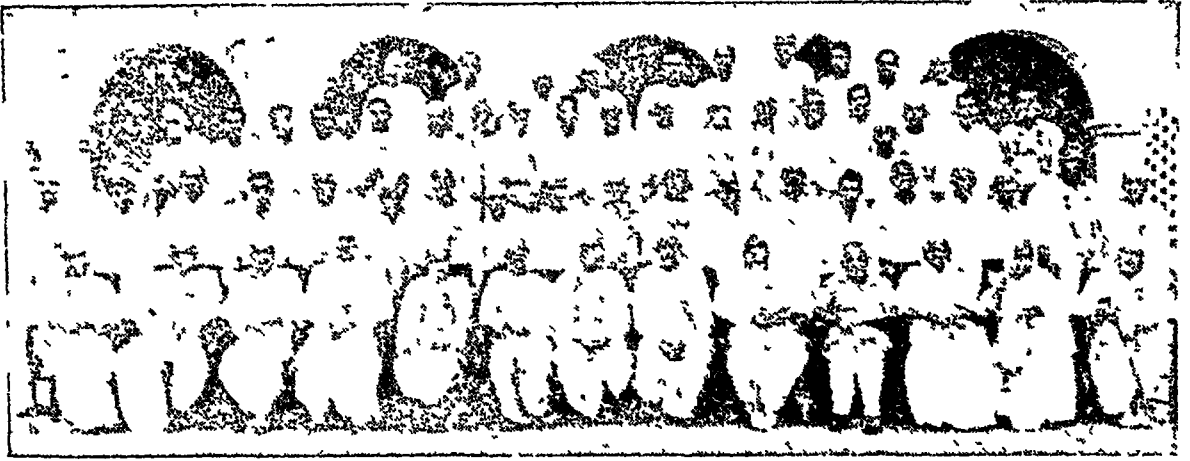
गुरुणा-गुरु पं० गोपालदासजी वैरया जन्मशताब्दिके समारोह-अवसर पर

समस्त भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वानो और श्रीमन्तोके साथ प्रथम पक्तिमे वि० प० के अध्यक्ष पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्य, साहु शान्तिप्रसाद, सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, प० कैलाशचन्द्रजी, प० फूलचन्द्रजी शास्त्री, ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्तार, प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया आदि।

पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी तथा ग० वर्णी जैन ग्रंथमाला समिति, वाराणसीकी बैठकोमे सम्मिलित सदस्यगणके साथ (१९६५-६६)
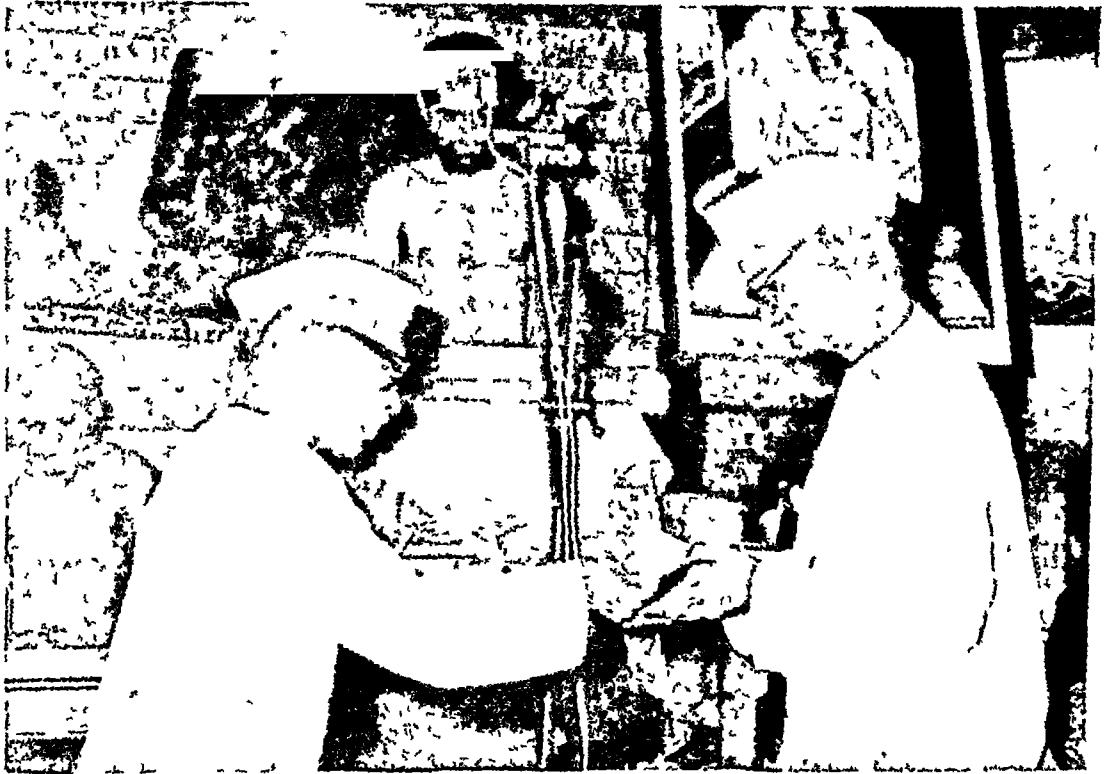
व्याकरणाचार्यजी सागर-वाचनामे मुनिसंघ समितिकी ओरसे उसके अध्यक्ष सि० जीवन-कुमार द्वारा सम्मानित

व्याकरणाचार्यजी सागर-वाचनामे सागर-समाजकी ओरसे उसके अध्यक्ष श्री सागरचन्द्र दिवाकर द्वारा सम्मानित

व्याकरणाचार्यजीको सागर-वाचनाके अवसरपर सागर समाज द्वारा दिया जा रहा सम्मान पत्र समाजके प्रतिष्ठित विद्वान् प० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री पढ रहे हैं ।

पूज्य आचार्य विद्यासागरजीके सन्निधानमे हुई सागर-वाचना वर्णी भवन, मोराजीमे आयोजित विद्वत्सम्मान समारोहमे सम्मानित व्याकरणाचार्यजी अपने सम्मानपर कृतज्ञता प्रकट करते हुए ।

सिवनी-अधिवेशनमे व्याकरणाचार्यजी अध्यक्षीय भाषण करते हुए ।

सिवनी अधिवेशन सन् १९६५

निवर्तमान अध्यक्ष नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य और निर्वाचित अध्यक्ष पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य

सागर-वाचनामे सम्मिलित विद्वानोके साथ व्याकरणाचार्यजी प्रथम पक्तिमें आसीन हैं।

श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजी अपने भ्रातृव्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यके साथ

स्याद्वाद परिवार

स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय वाराणसीके भूतपूर्व एवं वर्तमान छात्र तथा अध्यापकगण, १९६५-६६
व्याकरणाचार्यजी प्रथम पंक्तिमे दायेंसे छठे स्थान पर।

२२-१०-६३ से १-११-६३ तक जयपुर खानियामें आयोजित तत्त्वचर्चामें सम्मिलित
त्यागीवर्ग, विद्वद्वर्ग और श्रेष्ठिवर्ग।
व्याकरणाचार्यजी पहली पंक्तिमे दायेंसे तीसरे स्थान पर आसीन हैं।

भारत सरकार

श्री बंशीधर मुकुन्दीलाल

स्वतंत्रता के पच्चीसवें वर्ष

के अवसर पर स्वतंत्रता संग्राम में
स्मरणीय योगदान के लिये राष्ट्र की ओर से
प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने
यह ताम्रपत्र भेंट किया

15 अगस्त 1972
24 श्रावण 1894 शकाब्द
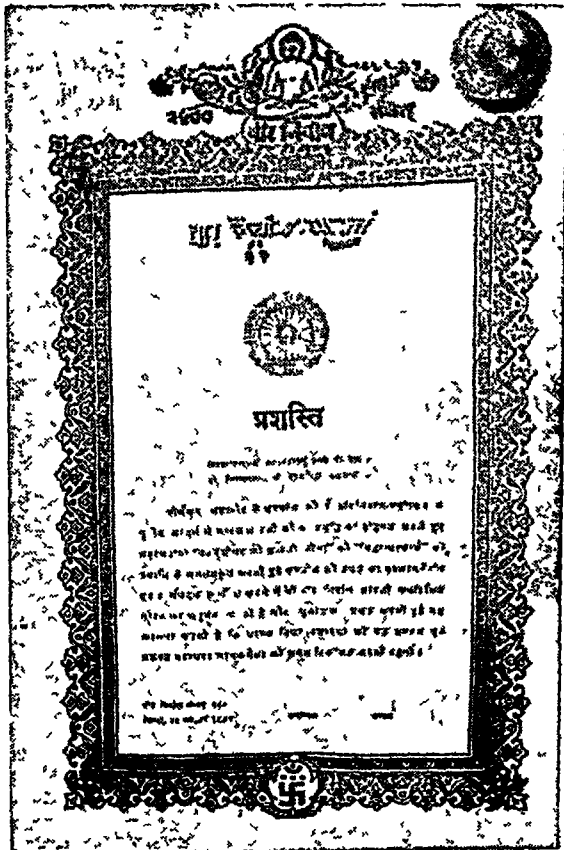
श्रद्धेय व्याकरणाचार्यके सम्मानमे
वीर निर्वाण २५००वें महोत्सव पर सन् १९७४ मे
वीर-निर्वाण-भारती द्वारा दिया गया प्रशस्ति-पत्र

११ अगस्तसे १५ अगस्त १९८९ तक आयोजित सम्पादक-मण्डलकी बैठकमें सम्पादक-मण्डल अभिनन्दन-ग्रन्थकी सामग्रीके वाचनमें व्यस्त।

साक्षात्कार

डॉ० कोठिया और व्याकरणाचार्य

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

[अभिनन्दनीय सिद्धान्ताचार्य पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्य राष्ट्र एव समाजके उन वरिष्ठ मनीषियोमे हैं, जिनकी राष्ट्रसेवा एव सैद्धान्तिक पकड बहुत गहरी है और जो सामाजिक, सास्कृतिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियोमे भाग लेनेके साथ 'स्वतत्रता-सेनानी' भी हैं। हालमे आपसे हमने जो साक्षात्कार लिया वह महत्त्वपूर्ण एव ज्ञातव्य होनेसे यहाँ दिया जाता है। —प्र० स०]

को० : स्वतंत्रता-आन्दोलनमे आपकी प्रवृत्ति कैसे हुई ?

व्या० मै सन् १९२० के अन्तमे मस्कृतका अध्ययन करनेके लिए पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यके, जो बादमें अपनी अन्तिम अवस्थामे मुनि श्री १०८ गणेशकीर्तिके नामसे दिगम्बर साधु हो गये थे, साथ वाराणसी गया था और उनकी छत्रछायामें रहकर स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालयमें सन् १९३१ के अप्रैल तक मैंने सस्कृतका अध्ययन किया।

देशमे स्वतन्त्रता आन्दोलन चल ही रहा था। अत मेरे अन्त करणमे देशकी स्वतत्रताकी भावना जागृत हुई। यत उस समय मै अध्ययनरत था, इसलिए इच्छा रहते हुए भी स्वतन्त्रता आन्दोलनमे मैंने भाग नही लिया। उसके पश्चात् सन् १९३५ तक स्थिर होकर नही रह सका। सन् १९३५ के अन्तमे बीना (म० प्र०) मे कपडेका व्यापार प्रारम्भ किया। तब काग्रेसका सदस्य बनकर उस समयके वातावरणमे काग्रेसकी नीतिके अनुसार प्रवृत्तियाँ करता रहा और सन् १९४२ मे **'भारत छोड़ो'** आन्दोलनमे कूद पडा। और जब महात्मा गाधी सहित काग्रेस कार्यकारिणीके सभी मदस्य गिरफ्तार कर लिए गये, तब आन्दोलनसे सम्पूर्ण देश अछूता न रह सका। बीनाके गाधी माने जानेवाले श्री नन्दकिशोर मेहता सर्वप्रथम गिरफ्तार कर लिए गये। उसके पश्चात् मेरी गिरफ्तारी हो गयी और मुझे सागर (म० प्र०) जेलमे भेज दिया गया।

को० सागर (म० प्र०) जेलमे आप कब तक रहे और अन्य जैलोमे कहाँ-कहाँ रहे ? उनके कुछ अनुभव भी बताईये ?

व्या० सागर जेलमे करीब आठ दिन रहा और उसके बाद मुझे कई आन्दोलनकारियोके साथ नागपुर सेंट्रल जेलमे भेज दिया गया। उस समय प० रविशकर शुक्ल और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे अनेक मध्यप्रान्तीय नेता भी उसी जेलमे थे। जेलका वातावरण बहुत अच्छा था। समय भी अच्छी तरह बीत रहा था। और भी आन्दोलनकारी उस जेलमें आते रहे। सभीको डिटेशनमे रखा गया। धीरे-धीरे केस चलनेकी प्रक्रिया चालू हुई। मुझे भी केस चलानेके इरादेसे करीव साढे छह मास वाद सागर जेलमे प्रत्यावर्तन (वापिसी) कर दिया गया। मजिस्ट्रेटने मुझे तीन माह कैदकी सजा दी। तब जेल अधिकारियोने अनेक व्यक्तियोके साथ **अमरावती** जेलमें भेज दिया। वहाँ मासूम अली जेलका सुपरिन्टेन्डेन्ट था, जो बहुत क्रूर था। उसने सागरके पं० ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी व पद्मनाभ तेलगको गुनाहखानेमें पहले ही भेज दिया था।

जिस दिन हम लोग अमरावती जेलमे पहुँचे, उस दिन शनिवार था। दूसरे दिन रविवार-की छुट्टी थी। हम सभी व्यक्ति श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्नाभ तैलगके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करनेके लिए एक साथ बैठे तथा अपना भविष्यका कार्यक्रम निर्धारित करनेकी बात हम लोगोने सोची। सब लोगोंने एक स्वरसे प० ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तेलगको गुनाहखाने भेजनेके विरोधमें कार्यक्रम निर्धारित करनेका निर्णय किया। यह तो ठीक था, पर मैंने सबके सामने यह बात रखी कि सभीको व्यक्तिगत हैसियतसे भी विरोध करनेके लिए तैयार रहना चाहिए, तो सभी पीछे हट गये।

सोमवारके प्रात' जिस समय सुपरिन्टेन्डेन्ट आनेवाला था, उसके पहले, मुझे और श्री हर्षचन्द मारौठी दमोहवालोको छोडकर सभी सुपरि० के कार्यक्रममें सम्मिलित होनेके लिए बैरकसे बाहर आ गये और उसके आदेशका पालन करने लगे। इसके पश्चात् जेलरके साथ सुपरि० बैरकमे आया और मुझसे कहा कि 'कार्यक्रममे क्यो सम्मिलित नही हुए, क्या तुम्हे गुनाहखानेमे जाना है ?' मैंने उत्तर दिया कि मै श्री ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तैलगको गुनाहखानेमें भेजनेका विरोध करता हूँ। तब उसने जेलरसे कहा कि इन्हे गुनाहखानेमे भेज दो। फिर मारौठीजीके पास वह पहुँचा और कहा कि तुम भी गुनाहखानेमें जाना चाहते हो। उन्होने उत्तर दिया कि जहाँ चाहो वहाँ भेज दो। मै भी ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी और पद्मनाभ तेलगको गुनाहखानेमे भेजनेका विरोध करता हूँ।' इस तरह हम दोनोको गुनाहखानेमे भेज दिया गया और आगे चलकर हमारी 'बी' क्लासकी सभी सुविधायें छीनकर 'सी' क्लासमे परिवर्तित कर दी गई। तीन माह कैदकी सजा पूरी होनेपर जेलके नियमोको तोडनेके आधारपर जेलके अन्दर ही मजिस्ट्रेटको बुलाकर केस चलाया। हमने जमानतपर छूटनेकी दरख्वास्त दी, जिसे मजिस्ट्रेटने अस्वीकार कर दिया। तब हम दोनोने अमरावतीमे रह रहे अपनी सम्बन्धियोके पास संदेश भिजवाया कि जमानतके लिए सेशन कोर्टमे जमानत स्वीकृत करनेके लिए दरख्वास्त देनेकी व्यवस्था करो। हम लोगोकी जमानत स्वीकार कर ली गयी और हमारे भतीजे प० बालचन्द्र शास्त्री, अमरावतीके प्रतिष्ठित सिंघई पन्नालालजी रईस-को, जो जमानतदार थे, साथ लेकर जेल आये। साथमें मारौठीके जमानतदार भी थे। इन सबको जेलके फाटकपर चार-पाँच घण्टे इन्तजार करना पडा, तब कही शामको ५ बजे हम लोगोको जमा-नतपर छोडा गया। जेलसे बाहर आनेपर केस आगे बढा। उसमे हमलोगोके वकीलने, जिनका नाम मैं भूल रहा हूँ, बिना फीस लिए केस लडा। परिणाम यह हुआ कि अदालतने हम दोनोको निर्दोष घोषित कर छोड दिया।

को० स्वतन्त्रतासे सम्बन्धित और उसके बाद उत्पन्न परिस्थितियोके सम्बन्धमें आपके क्या विचार है ?

व्या० स्वतन्त्रता आन्दोलनमें यद्यपि देशवासियोने नि स्वार्थभावसे भी भाग लिया था, परन्तु उस समय काग्रेसके जो चुनाव होते थे, उनमे काग्रेसीजन प्राय अनैतिक हथकण्डे अपनाकर सफलता प्राप्त कर लेते थे। ऐसी घटनायें हमेशा होती ही रहती थी। मै ऐसी बातोका विरोध भी करता था। पर काग्रेसके उच्च पदाधिकारी भी उसको उपेक्षित कर देते थे। ये बातें राजनैतिक नेताओके भावी आचरणोका सकेत थी।

ऐसी ही एक घटना मेरे साथ हुई थी। बीनाकी नगर काग्रेस कमेटीके सदस्योने सर्व-सम्मतिसे मध्यप्रान्तीय काग्रेस कमेटीकी सदस्यताके लिए मेरे न चाहते हुए भी मुझे उम्मीदवार

घोषित किया था। पर जिला कांग्रेस कमेटीके पदाधिकारियोंके कहनेपर एक अन्य व्यक्ति उम्मीदवार बन गया था, जिसके कारण मतदान हुआ और उसमे अनुचित तरीके भी अपनाये गये। हालाकि मै सफल हुआ, क्योकि मेरे पक्षमे श्री नन्दकिशोरजी मेहताने बडी मेहनत की थी।

आज देशका जो राजनैतिक गदा वातावरण चल रहा है, उसका कारण यही है कि लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए देशकल्याणकी उपेक्षा कर रहे है। जो शासन पार्टी है वह अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए गलत तरीके अपना रही है और दूसरी राजनैतिक पार्टियाँ भी सत्ता पानेके लिए गलत तरीके अपनानेसे नही चूक रही है। इसे देशका दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। आज जो समूचा देश भ्रष्टाचारमे डूबा हुआ है वह इसीका परिणाम है।

को० : आपकी दृष्टिमे उसे दूर करनेका क्या कोई उपाय है ?

व्या० : स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर महात्मा गाँधोने कांग्रेसी नेताओको यह सुझाव दिया था कि कांग्रेसका राजनीतिक स्वरूप समाप्त कर दिया जाये। उसे केवल लोक-संस्था ही बनी रहने दिया जाये। परन्तु कांग्रेसी नेताओने महात्माजीके उस सुझावको अस्वीकृत कर दिया था। यदि महात्माजीके सुझावको तत्कालीन कांग्रेसी नेता स्वीकार कर लेते, तो मुझे विश्वास है कि राजनीतिक पार्टियाँ और देश पतनकी ओर नही जाते। आज एक उपाय सम्भव है कि शासक पार्टी अपनेको सुधारे तो दूसरी राजनैतिक पार्टियाँ और देश सुधर सकता है। सुधार ऊपरसे ही हो सकता है, नीचेसे नही।

को० : क्या आपने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियोमें भी भाग लिया है और वे कौन-कौनसी है ?

व्या० : हाँ, लिया है। प्रथमत दस्सापूजाधिकारको ले लें। समाजमे यह प्रथा चालू रही है कि कोई व्यक्ति विधवा-विवाह कर ले, तो उसे जातिसे बहिष्कृत कर दिया जाता था और उसे धर्मसाधनके स्थान मन्दिरोमे प्रवेश नही करने दिया जाता था। ऐसे व्यक्तियोको दस्सा कहा जाता था और उनकी पीढी-दर-पीढी सन्तान भी दस्सा कही जाती थी। धीरे-धीरे इस प्रक्रियामें सुधार हुआ। पर ऐसे व्यक्तियोको मन्दिरमे पूजा करनेका अधिकार फिर भी नही था। गुरु गोपालदास वरैयाने इस विषयमें चल रहे एक अदालती केसमे बहुत पहले दस्साओके मन्दिर-प्रवेश और पूजाधिकारका दृढतासे अपनी गवाहीमे समर्थन किया था।

वर्तमानमे करीब सन् १९३८ मे, ग्राम बामौरा, जिला सागरमे एक व्यक्तिके विधवा-विवाह करनेपर मन्दिरके सब अधिकार वहाँकी समाजने उससे छीन लिए। लेकिन वह इसके विरुद्ध आवाज उठाता ही रहा। इसी सिलसिलेमे वह बीना आया और प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और मुझसे सम्पर्क स्थापित किया। उस समय पं० फूलचन्द्रजी और मैं समानरूपसे सुधारवादी दृष्टिकोणके थे। इसलिए हम लोगोने एक "सन्मार्ग प्रचारिणी समिति" की स्थापना की। हालाकि दिगम्बर जैन परिषद् पहलेसे ही इसका आन्दोलन चला रही थी। पर हमलोगोने उसे गति देनेके लिए इस समिति-की स्थापना की थी। समितिके द्वारा हमलोगोने बामौराकी समाजको समझानेका प्रयत्न किया। परन्तु जब वहाँकी समाज उस व्यक्तिको पूजाधिकार देनेके लिए तैयार नही हुई, तो बाकायदा अदालतमे केस ले जानेका निर्णय किया। केस चला। परन्तु इस क्षेत्रकी जैन समाजका बल बामौराकी समाजको मिला और उस केसमे हमे सफलता नही मिली।

को० क्या दस्सापूजाधिकारका मामला फिर आगे नही बढ़ा ?

व्या० बढा है। इसी बीच कुरवाई ग्राममे परवार सभाका अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनमे पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने दस्सापूजाधिकारका प्रस्ताव विचारार्थ रखा। अधिवेशनके सभापति पण्डित देवकीनन्दनजी सिद्धातशास्त्री थे और महामन्त्री श्रीमन्त सेठ वृद्धिचन्दजी सिवनी थे। उन्होने समाजके प्रतिरोधको देखकर उस प्रस्तावको अग्राह्य करनेके लिए एक समानान्तर प्रस्ताव तैयार किया, जिसे पण्डित फूलचन्द्रजी और पण्डित महेन्द्रकुमारजी माननेके लिए तैयार नही थे। मैं भी उस आधवेशनमे सम्मिलित हुआ था। पर परवार समाज का अग न होनेके कारण मुझे बोलनेका अधिकार नही था। इसलिए अध्यक्षकी आसन्दीके पास जाकर उनसे मैंने वह प्रस्ताव मुझे दिखानेका आग्रह किया। उस प्रस्तावको मैंने गौरसे देखा और अध्यक्ष महोदयसे उसे पास करानेका आग्रह किया। साथ ही मैंने प० फूलचन्द्रजी और प० महेन्द्रकुमारजीसे कहा कि अपने प्रस्तावको वापिस ले लो और जो समानान्तर प्रस्ताव तैयार किया गया है उसे पास होने दिया जाये। प० फूलचन्द्रजी और प० महेन्द्रकुमारजी मेरी बातको मान गये और वह समानान्तर प्रस्ताव पास हो गया। उसमे जो महत्त्वकी बात थी वह यह थी कि उस प्रस्तावमें दस्सापूजाधिकारके विषयमे उस-उस ग्रामकी पचायतोको यह अधिकार दिया गया था कि वे चाहे, तो दस्साओको पूजा करनेका अधिकार दे सकती है। इसका यह अर्थ हुआ कि परवार सभाको दस्साओका मन्दिरमें जाकर पूजा करनेका अधिकार मान्य है।

अब स्थिति यह है कि दस्सा लोग मन्दिरमे जाकर बेरोक्टोक पूजा-प्रक्षाल करते है और दिगम्बर मुनियोको आहारदान भी देते है और अब तो बेटी-व्यवहार भी होने लगा है।

को० यह तो आपकी सामाजिक गतिविधि हुई, सास्कृतिक भी कोई आपकी गतिविधि है ?

व्या० सास्कृतिक गतिविधिमें भी मैंने भाग लिया है। जब देवगढ तीर्थक्षेत्रपर श्री गनपतलालजी गुरहा खुरईकी ओरसे गजरथका आयोजन किया जा रहा था, तब सन्मार्ग-प्रचारिणी समितिने विरोध करनेका आदोलन अपने हाथमे लिया। मैं समितिका मत्री था और प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री उसके सयुक्त मत्री थे। पत्र-पत्रिकाओके माध्यमसे गजरथ-विरोधी आन्दोलनका धीरे-धीरे प्रभाव समाजमें बढता गया, जिसे अनुभव कर दिगम्बर जैन परिषद आन्दोलनमे सामने आई। परिणामत वह आदोलन परिषद्के अन्तर्गत चला गया, क्योकि सन्मार्ग प्रचारिणी समिति उसके सिद्धान्तोको स्वीकार करती थी। पर परिषद्के एक प्रमुख कार्यकर्ताने समाचारपत्रोमें यह घोषणा कर दी कि मैं और मेरी पत्नी प्रथम व्यक्ति होगे, जो रथके सामने लेटकर सत्याग्रह करेगे। इसका प्रभाव समाजपर प्रतिकूल पडा। फलत- यह आन्दोलन स्थगित करना पडा।

इसके पूर्व एक गजरथका आयोजन बारचौन (ललितपुर) में हुआ था। उसे रोकनेके लिए परवार समाजके प्रमुख प० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, श्रीमन्त सेठ वृद्धिचन्द्रजी सिवनी और सिंघई कुंवरसेनजी सिवनी (म०प्र०), मडावरा (ललितपुर, उ०प्र०) गये थे। उन्होने मडावरामे एक बैठक की, जिसमे मडावराकी समाजके साथ बारचौनके गजरथकार श्री चन्द्रभानजी भी सम्मिलित हुए थे। उस बैठकमे अनुकूल निर्णय न हो सकनेके कारण परवार समाजके उक्त तीनो प्रतिनिधियोने अनशन करनेकी घोषणा की और उस घोषणाका प्रभाव जब गजरथकारपर नही पडा, तो उन्होने गजथरकारके सामने यह प्रस्ताव रखा कि गजरथ तो किया जाये, पर पक्तिभोज बन्द करके उसमे व्यय होने वाले द्रव्यको देवगढ क्षेत्रके लिए दे दिया जाये। फिर क्या हुआ, मुझे नही मालूम। तात्पर्य यही है कि उस अवसरपर परवारसभा भी गजरथ विरोधकी हामी थी।

कौ० : केवलारी (सागर) के गजरथ-विरोधमें आपका क्या दृष्टिकोण रहा ?

व्या० . देवगढके गजरथके बाद केवलारी, जिला सागरमे भी गजरथका आयोजन हुआ था। और सन्मार्ग प्रचारिणी समितिने उसके विरोधमें भी आन्दोलन किया था तथा दमोह, टीकमगढ आदि नगरोके गजरथ विरोधी व्यक्ति भी गजरथके अवसरपर केवलारीमे इकट्ठे हुए थे। वहाँपर यह निर्णय किया गया था कि अनशन द्वारा गजरथके विरोधमे आवाज बुलन्द की जाये। इस निर्णयके अनुसार कुछ व्यक्ति, जिनमे पं० फूलचंद्रजी शास्त्री प्रमुख थे, अनशनपर बैठे, जिसका प्रभाव यह हुआ कि पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री व पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री आदि परवार समाजके प्रमुख व्यक्तियोंने गजरथके विषयमें भविष्यके लिये नीति-निर्धारण करनेकी बात सोची और सम्मेलन भी आयोजित किया। उसमें गजरथविरोधी व्यक्ति भी सम्मिलित हुए। उस सम्मेलनमे एक प्रस्ताव पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रस्तुत किया, जिसे गजरथविरोधियोंकी तरफसे स्वीकार करनेकी बात मैंने कही। पर पं० जगन्मोहनलालजीने स्वय एक सशोधन उपस्थित कर दिया। उसको भी जब मैंने स्वीकार किया, तो उसपर भी एक संशोधन उन्होने रखा। इस तरह कई सशोधन एक-के-बाद-एक वे रखते गये और सभीको गज़रथविरोधी स्वीकार करते गये; क्योकि वे गजरथविरोधी भावनाके अनुकूल थे। अन्तमे सम्मेलनमे तय हुआ कि सन्मार्ग प्रचारिणी समितिका कोई पदाधिकारी कारजा पहुँचकर पं० देवकीनन्दनजी सि० शा० के साथ विचार-विनिमय करे और योग्यतम निर्णय करनेमें पं० देवकीनन्दनजीको सहयोग दे। मैं इसी उद्देश्यसे कारजा गया। परन्तु पं० देवकीनन्दनजीने निर्णय करनेमें उत्सुकता नही दिखलाई। उसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर गजरथ निराबाध चलने लगे, जो अबतक चल रहे हैं।

यहाँ मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि केवलारी सम्मेलनमे तो सशोधन एक-के-बाद-एक रखे गये, उस सम्बन्धमे मैंने दूसरे दिन पं० जगन्मोहनलालजीसे कहा कि आपका प्रस्ताव और उसके प्रत्येक सशोधन गजरथविरोधियोने मान्य कर लिए, फिर क्यो आपने सशोधनो सहित प्रस्ताव पारित नही कराया और क्यो नये-नये सशोधन प्रस्तुत किये ? उन्होने जवाब दिया कि परवारसभाके कुरवाई अधिवेशनमें दस्सापूजाधिकारके सम्बन्धमे जो प्रस्ताव पास किया था, उसे जब पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्रकुमारजीने स्वीकार कर लिया, तो हम लोगोको शका हुई कि प्रस्तावमें कोई-न-कोई खामी अवश्य है। वही शका गजरथके विषयमे रखे गये प्रस्ताव और सशोधनोको गजरथ-विरोधियो द्वारा स्वीकार कर लिए जानेपर हम लोगोको हुई, जिससे गजरथके विषयमें नीति-निर्धारणकी बात आगेके लिए टाल दी गयी है। आगे जो कुछ हुआ, वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है।

कौ० . आपने सस्थाओकी भी सेवा और सचालन किया है, उनके विषयमें आपके कैसे अनुभव हैं ?

व्या० : बीना (सागर) मे, जहाँ मै रहता हूँ, जैन समाजकी एक सामाजिक संस्था है, जो बहुत पुरानी है। वह सस्था सास्कृतिक एव धार्मिक व्यवस्थाके साथ सामाजिक व्यवस्था भी करती है। उसका मै सन् १९३८ से १९४० तक सहायक मत्री रहा। उसके पश्चात् सन् ४१ से ४३ तक मत्री रहा। सन् ४४ मे सस्थाके अध्यक्षकी नीतिसे क्षुब्ध होकर कई पदाधिकारियोके साथ मैने मत्री पदसे त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद सन् ५३ मे इच्छा न रहते हुए सदस्योके आग्रहपर सस्थाका मन्त्रित्व पुन. सम्हालना पड़ा। फलत सन् ६८ तक मै उसका मत्री रहा। और अशक्तिवश मन्त्रित्व छोड देनेपर तीन वर्ष तक उसका उपाध्यक्ष रहा।

ज्ञातव्य है कि सन् ५३ में संस्थाका जो चुनाव हुआ, उसमें गोलालारीय समाजका योग्यतम व्यक्ति अध्यक्ष चुना गया और गोलापूर्व होते हुए भी मुझे मंत्री चुना। इसपर सुरई (सागर) की परवार समाजने बीनाकी परवार समाजके प्रति कहा कि बीनामें परवार समाजका बाहुल्य होनेपर भी गोलालारीय समाजके व्यक्तिको अध्यक्ष और गोलापूर्व समाजके व्यक्तिको मंत्री निर्वाचित करना बीनाकी परवार समाजकी अयोग्यता सूचित करता है। पर इसका कुछ भी प्रभाव बीनाकी समग्र समाजपर नहीं पड़ा और सन् ७१ तक यहाँकी समाजका ऐसा ही दृष्टिकोण बना रहा।

किन्तु सन् ७१ में संस्थाका जो चुनाव हुआ, तो परवार समाजके कुछ प्रमुख व्यक्तियों द्वारा तीनों समाजोंमें भेदकी नीति अपनाई गई। इससे मुझे ग्लानि हुई और मैंने संस्थासे ही त्यागपत्र दे दिया। खेद यही है कि हम छोटे-छोटे भेदोंमें उलझ जाते हैं और सम्पूर्ण समाजके ऐक्यके उदार दृष्टिकोणको त्याग देते हैं। यह हमारी संकुचितताका ही दोष है।

को० . क्या आप अन्य संस्थाओंसे भी संबद्ध रहे हैं ?

व्या० हाँ, मैं कई अन्य संस्थाओंमें भी संबद्ध रहा हूँ। उनमें मुख्यरूपसे दो संस्थायें हैं—(१) श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला और (२) अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्। वर्णी जैन ग्रन्थमालाके स्थापनाकालसे ही मैं उसका मंत्री रहा और पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री उसके सहायक मंत्री रहे। पर बादमें उनसे मतभेद हो जानेके कारण मैंने संस्थाके मंत्री पदसे त्यागपत्र दे दिया। पं० फूलचन्द्रजीके सुझावके अनुसार ग्रन्थमालाको पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यके व्यवस्थापकत्वमें सागर भेज दिया गया। पर कुछ कारणोंसे उन्होंने उसे पुनः वाराणसी वापिस बुला लिया। इसके पश्चात् डॉ० दरबारीलाल कोठियाको उसका मंत्री बनाया गया। डॉ० कोठियाने उसे काफी समुन्नत बनाया। परन्तु ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण हुआ कि उन्हें भी ग्रन्थमालाके मंत्रित्वसे त्यागपत्र देना पड़ा।

दूसरी संस्था भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का भी मैं कई वर्षतक मंत्री रहा और सन् १९६५ में हुए सिवनी अधिवेशनका अध्यक्ष चुना गया। श्रावस्तीमें हुए उसके नैमित्तिक अधिवेशनका भी अध्यक्ष मैं ही रहा। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे अध्यक्षकालमें गुरु गोपालदास शताब्दि-समारोह विद्वत्परिषद्ने साहू शान्तिप्रसादजी जैनकी अध्यक्षतामें दिल्लीमें मनाया और गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन भी इस अवसरपर उसने किया। विद्वत्परिषद्के ये दोनों कार्य स्मरणीय रहेंगे।

को० आपकी स्फुट प्रवृत्तियाँ और भी रही होंगी, उनके सम्बन्धमें कृपया दिशा-निर्देश करें ?

व्या० . मेरी कुछ स्फुट प्रवृत्तियाँ भी रहीं। उदाहरणार्थ—जब पं० फूलचन्द्रजी सि० शा० नातेपोते (सोलापुर) में कार्य कर रहे थे, तब वहाँकी समाजने 'शान्ति-सिन्धु' नामसे एक मासिक पत्र निकालनेका निर्णय लिया। उसका सम्पादक पं० फूलचन्द्रजीको और उपसंपादक मुझे बनाया गया। सनातन जैन समाजकी ओरसे प्रकाशित होनेवाले 'सनातन जैन' मासिकपत्र का भी सम्पादक कई वर्षों तक रहा। यह पत्र बुलन्दशहरसे निकलता था और उसके प्रकाशक थे श्री भगतराय 'साधु'।

को० : सोनगढ और उसकी विचारधाराके प्रति आपका क्या दृष्टिकोण है ? आज उसकी सर्वाधिक चर्चाका कारण क्या है ?

व्या० श्री कानजी स्वामीके आग्रहसे सोनगढमें सन् १९४७ में अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन बुलाया गया था और अधिवेशनके अध्यक्ष पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री निर्वाचित हुए

थे। विद्वानोंको भी स्वामीजीके विचारोसे परिचित होनेकी इच्छा थी। इसलिए अधिवेशनमे प्राय सभी सदस्य-विद्वान् पहुँचे थे। वहाँ प० फूलचन्द्रजी बीमार पड गये। अत उन्हे कुछ समय वहाँ रहना पडा। वहाँसे आनेके बाद उन्होने 'जैन तत्त्वमीमासा' नामसे एक पुस्तक लिखी। उनकी इच्छानुसार उसका वाचन जैन समाज बीनाके आमन्त्रणपर बीनामे एक विद्वद्गोष्ठीमे किया गया। विद्वद्गोष्ठीमे समाजके अनेक प्रमुख विद्वान् सम्मिलित हुए थे। प० फूलचन्द्रजीकी उस पुस्तकपर विद्वानोमे मतभेद फिर भी बना रहा।

उनकी उक्त पुस्तक प्रकाशित होनेपर कई विद्वानोने उसके विरोधमे पुस्तक व लेख लिखे। मैंने भी "जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा" नामक पुस्तक लिखी, जिसे पण्डित राजेन्द्र कुमारजी जैन, न्यायतीर्थ, मथुराने 'दिगम्बर जैन संस्कृति-सेवक समाज' के द्वारा वरैया ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्रकाशित किया। इसके पश्चात् मैंने दूसरी पुस्तक "जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था" के नामसे लिखी। उसका भी प्रकाशन पण्डित राजेन्द्रकुमारजीने उक्त संस्थाके द्वारा उक्त ग्रन्थमालाके अन्तर्गत किया। इसके पश्चात् "जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार" पुस्तक लिखी, जिसका प्रकाशन "श्रीमती स्व० लक्ष्मीबाई (धर्मपत्नी पण्डित बशीधर व्याकरणाचार्य) पारमार्थिक फण्ड" से हुआ। जिन विषयोको पण्डित फूलचन्द्रजीने अपनी उक्त पुस्तकमे उलझानेका प्रयत्न किया है उन्हीका इन पुस्तको द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

सोनगढने अपनी विचारधाराको केवल अध्यात्मपरक ऐकान्तिकरूपमे निरूपित किया, जो जैनदर्शनके अनुकूल नही है। उसीका नया सस्करण टोडरमल स्मारक भवन जयपुर है। दोनोने जैनदर्शनके तत्त्वोको गलत रूपमे प्रस्तुत किया है और किया जा रहा है। उन्हीपर जयपुर (खानिया) मे विद्वानोकी परिचर्चाका आयोजन किया गया था। यह सगोष्ठी कई दिन तक चली थी। पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री और श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी एक पक्षके प्रतिनिधि थे तथा न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्रजी, पण्डित मक्खन लालजी शास्त्री, पण्डित जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य और मैं (पण्डित बशीधर व्याकरणाचार्य) एक पक्षके प्रतिनिधि थे। ध्यातव्य है कि इस परिचर्चामे और भी बहुत विद्वान् सम्मिलित हुए थे। यद्यपि परिचर्चा वीतरागकथाके रूपमें आयोजित की थी, जिससे जैनागमका रहस्य खोला जा सके। किन्तु वह उससे हटकर विजिगीषुकथा बन गयी। इसलिए मुझे उस तत्त्वचर्चाकी समीक्षा करनेका संकल्प करना पडा। और उसके लिए "जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" के नामसे पुस्तक लिखनेका निर्णय किया, जिसका प्रथम खण्ड "श्रीमती लक्ष्मीबाई (ध० प० पण्डित बशीघर व्याकरणाचार्य) पारमार्थिक फण्ड" बीनासे प्रकाशित किया गया। इस खण्डमे प्रश्नोत्तर एकसे चार तककी समीक्षा की गयी है। द्वितीय खण्डमे पाँचवें प्रश्नोत्तरकी समीक्षा जो लगभग तैयार है। पर अभी उसका प्रकाशन आर्थिक व्यवस्था न हो सकनेके कारण नही हो सका। इन दो खण्डोके अतिरिक्त दो खण्ड और होगे। तीसरे खण्डमें छठे प्रश्नोत्तरोंसे लेकर आगेके कतिपय प्रश्नोत्तरोकी और चौथे खण्डमे शेष प्रश्नोत्तरोकी समीक्षा की जावेगी।

बात यह है कि सोनगढ और उसका पूर्णतया अनुयायी टोडरमल स्मारक भवन, जयपुरने दिगम्बर जैनधर्मके तत्त्वोंका ऐकान्तिक प्रचार एवं प्रसार किया और कर रहे है। इसी कारण दिगम्बर जैन समाजमें उनकी सर्वाधिक चर्चा है, क्योकि समाजमें उन्होने टूट पैदा कर दी है और जिसे रोकना जरूरी है।

व्याकरणाचार्यजी, हम आपके अत्यन्त आभारी है। आपने हमारे प्रश्नोंके जो समाधान किये है उनसे हमें ही नही, अपितु सहस्रो पाठकोको भी लाभ होगा और उन्हें कितनी ही नयी जानकारी मिलेगी।

●

विशाल व्यक्तित्वके धनी

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

जैन समाजके वरिष्ठ विद्वान् प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य ख्याति-प्राप्त मनीषी है। वे प्रथम व्याकरणाचार्य हैं। जैनागमके अच्छे व्याख्याता ही नही, किन्तु लेखनीके धनी भी है। जैन सिद्धान्त एव तत्त्वचर्चापर उनके लेख जैन पत्रोमे प्राय प्रकाशित होते रहते है। वे बडे गम्भीर विद्वान् है। जब कभी समाजमे किसी सैद्धान्तिक पक्षको लेकर चर्चा छिड जाती है अथवा किसी मान्यताको लेकर विवाद खडा हो जाता है तो पंडितजी चुप नही रहते और पूर्ण निर्भीकताके साथ अपने विचार समाजके सामने रख देते है। उनके विचार आगमके अनुसार होते हैं। उनमे नीर-क्षीरका विवेक देखा जा सकता है।

पडितजीने सन् १९६३ में सर्वप्रथम जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चामें सोनगढपक्षके विरुद्ध प्रमुख प्रवक्ताके रूपमें उपस्थित होकर अपनी विद्वत्ता एव प्रतिभाकी धाक सारे समाजमे बिठा दी थी। पडितजीने इस तत्त्वचर्चामें उस समय अपना पक्ष प्रस्तुत किया, जब सोनगढका सूर्य अपने पूर्ण क्षितिजपर था। इसके पश्चात् उनकी कलम कभी नही थकी और निश्चयनय और व्यवहारनय जैसे बहुचर्चित विषयपर एक कृति लिखकर समाजको वस्तुका सही मूल्याकन करनेमे महान् योगदान दिया।

अभी कुछ महीनो पूर्व जब आदरणीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने कुण्डलपुरमे विद्वत् परिषद्के नैमित्तिक अधिवेशनपर पडित बशीधरजी व्याकरणाचार्यको अभिनन्दनग्रंथ भेट करनेकी चर्चा चलाई, तो मैंने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए डॉ० कोठिया साहबसे इस शुभ कार्यको शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करने तथा अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करनेका प्रस्ताव भी उनके समक्ष रख दिया। इसके १-२ महीनोके पश्चात् ही श्री बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसीका अभिनदनग्रथकी पूर्ण योजनावाला पत्र मिला। इसके पश्चात् अभिनदनग्रथकी पूरी योजनाके सबधमे डॉ० कोठिया साहबसे श्रीमहावीरजी जाकर भी चर्चा की। अभिनदनग्रथके सबधमे डॉ० कोठियाजी एव फागुल्लजीके बराबर पत्र मिलते रहे। जब उन्होने मुझे प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यके व्यक्तित्व एव जीवनपर एक विस्तृत लेख लिखनेके लिये लिखा, तो मैंने निश्चय किया कि मुझे पडितजीके व्यक्तित्वकी पूरी जानकारी लेनेके लिये स्वय बीना जाना चाहिये।

आखिर मैं दि० ११ अगस्त, ८९ को प्रात ९ बजे बीना पहुँचा। स्टेशनसे रिक्शा स्टैण्ड तक आया। जब मैने रिक्शा वालोसे पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्यके घरपर चलनेको कहा, तो रिक्शा वालोने पडितजीका नाम सुनते ही मुझे रिक्शामें बैठनेको कहा और २०-२५ मिनटमें ही मुझे उनकी दुकानपर लाकर छोड दिया। दुकानपर देखा पडितजी एव उनके पास दो युवक (उनके सुपुत्र प्रिय विभवकुमार एव प्रिय विनीतकुमार) बैठे हुए हैं। मैंने अपना नाम बताया। पडितजीको पहिचाननेमें न मुझे देर लगी और न उनको। उनसे मिलनेमे बडी प्रसन्नता हुई। ट्रेनके लेट आने एव मार्गमें होने वाली असुविधाओंके बारेमे बात होने लगी। थोडी ही देरमे डॉ० कोठिया साहब भी आ गये और फिर हम सभी बातोमें डूब गये।

घर आनेपर पडितजीको समीपसे देखनेका प्रथम अवसर मिला। प्रात ३ बजेसे रात्रिके १० बजे तक उनकी दिनचर्या देखी। पडितजी ८४ पार कर चुके है। लेकिन उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। घरमें उनका अलग ही कमरा है, जिसमें वे लेखनकार्य एवं स्वाध्याय करते है। पास ही पुस्तकोका ढेर लगा है, जिनको वे कन्सल्ट करते रहते है। आज भी वे शास्त्रीय चर्चामे उतने ही जागरूक है जितने कभी अपनी युवावस्थामें रहे है। कमरेमें पुस्तकोंके अतिरिक्त कुछ प्रशस्तिपत्र, जो उन्हे समय-समय पर राष्ट्र और समाज द्वारा मिलते

रहे हैं, आचार्योंसे चित्र, जिनसे उन्हें प्रेरणा मिलती रहती है, उनका एव उनकी पत्नीका अलग-अलग बडा चित्र भी कमरेमें लगा हुआ है, जो सभवत युवावस्थाका है। उनकी पत्नीका कुछ वर्षों पूर्व स्वर्गवास हो चुका है। अपने स्वाध्याय एव लेखनके अतिरिक्त बिना नागा प्रात ८ बजे मन्दिर जी जाते तथा प्रवचन करते हैं और वहाँसे आकर दुकानमे बैठ जाते है। पर पुत्रोको परामर्शके सिवाय पडितजी कुछ नही करते। दुकान दोनो पुत्र सभालते हैं। पुत्र सुयोग्य और विनम्र हैं।

दो दिन ठहरनेके पश्चात् मैंने उनसे कहा कि मुझे आपके बारेमे कुछ जानकारी प्राप्त करनी है। यदि आपकी स्वीकृति हो, तो आज ही कुछ देर बैठ जावें। पडितजीने पहले तो कहा कि उनके पास अपने बारेमे कहनेको क्या है, क्योकि जीवनमे ऐसा कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया, जिसकी आपसे चर्चा कर सकूँ।

मैंने पंडितजीसे पुन निवेदन किया कि आपका जीवन तो समाजकी थाती (धरोहर) है। समाजको गर्व है कि उन जैसा व्यक्तित्व उसे मिला हुआ है, इसलिये उनके जीवनकी घटनाओसे वर्तमान पीढी ही नही, आगे आनेवाली पीढीको भी प्रेरणा मिलती रहेगी। जब मैंने उनसे पुन अपने खट्टे-मीठे सस्मरण सुनानेके लिये कहा, तो पडितजीने कहा कि 'ठीक है, जब आप कुछ प्रश्न पूछना ही चाहते है तो फिर मुझे प्रश्नोका उत्तर देनेमे क्या आपत्ति हो सकती है ?

प्रश्न—आपका जन्म कब और कहाँ हुआ ?

उत्तर—पडितजीने प्रश्नका उत्तर देते हुये कहा कि उनका जन्म सोरई (ललितपुर) ग्राममे सवत् १९६२ में हुआ था।

प्रश्न—मैंने सुना है आपके पिताश्रीका निधन बहुत जल्दी हो गया ?

उत्तर—पडितजीने चिन्तनमें डूबते हुये कहा कि डॉ० साहब, मेरे पिताजीका साया, जब मैं केवल तीन महीनेका शिशु था, तभी उठ गया था।

प्रश्न—उस समय घरमे कौन-कौन थे ?

उत्तर—मेरी माँ, मेरे बडे भाई छतारेलालजी एवं एकमात्र बहिन थी।

प्रश्न—घरमें फिर कमाने वाला कौन बचा ?

उत्तर—घरमे कोई कमानेवाला नही था। मेरी माँने ही जैसे-तैसे (छोटी दुकान) करके मुझे, बडे भाई व बडी बहनको पाला-पोषा।

प्रश्न—सुना है आपकी माँ भी आपको बाल्यावस्थामे ही छोडकर स्वर्ग सिधार गई ?

उत्तर—पडितजीको अपने बाल्यकालकी याद आ गई और बडे दु खके साथ कहने लगे कि जब मैं केवल ११ वर्षका था, तभी माँ गुजर गई। यही नही, माँके चार दिन पहले ही बडा भाई गुजर गया। बहनकी पहले ही शादी हो चुकी थी। डॉ० साहब, मेरा बाल्यकाल बडा संकटग्रस्त रहा। पहले तो घरमें कोई कमाने वाला था ही नही, लेकिन माँ एवं बडे भाईके मरनेके पश्चात् मैं एकदम अनाथ हो गया।

प्रश्न—उस समय आप स्कूल तो जाते ही होंगे ?

उत्तर—वहाँ स्कूल जाता था। चौथी कक्षा पास करके स्कूल जाना छोड दिया। गाँवमे चार कक्षा तक ही स्कूल था। बाहर जाकर पढनेका तो प्रश्न ही नही था।

प्रश्न—माँके मरनेके पश्चात आपका जीवन कैसे गुजरा ?

उत्तर—डॉ० साहब, जीवनका क्या गुजरना था, पहले डेढ वर्ष तक मामाके यहाँ रहा और फिर सागर चला गया।

प्रश्न—आप वाराणसी ऐसी अवस्थामें कैसे चले गये ?

उत्तर—सागरमे एक दिन बडे पण्डितजी गणेशप्रसादजी वर्णीके दर्शन हो गये। उस समय मैं कोई १४ वर्षका होऊँगा। पता नही, क्या देखकर वे मुझे अपने साथ वाराणसी ले गये और वही स्याद्वाद महाविद्यालयमे भर्ती करा दिया।

प्रश्न—बनारसमे कितने वर्ष तक पढते रहे ?

उत्तर—वर्णीजीके कहनेसे मुझे प्रवेशिकामे भर्ती कर लिया। वाराणसीमे ११ वर्ष तक अध्ययन किया। व्याकरणाचार्य वहीसे पास किया। हमारे जमानेमे धर्मशास्त्रका कोई विशेप महत्त्व नही था। प० कैलाशचन्द्रजी, प० फूलचन्द्रजी हमसे सीनियर थे और वे ही हमे कभी-कभी धर्मशास्त्र पढा दिया करते थे।

प्रश्न—विद्यालयकी कोई घटना याद हो, तो बतलाइये ?

उत्तर—एक दिन प० फूलचन्द्रजीका झगडा किसी छात्रसे हो गया। अपने साथ अभद्र व्यवहारको देखकर उन्होने त्यागपत्र दे दिया। उस समय मैं बीना आया हुआ था। जब मैं वापिस वाराणसी गया तो मैंने फूलचन्द्रजीसे त्यागपत्र नही देनेके लिये कहा। मेरी और फूलचन्द्रजीसे घनिष्ठता थी। जब कैलाशचन्द्रजी कक्षामे पढाने आये, तो हमने उनका विरोध किया और फूलचन्द्रजीका पक्ष लिया।

प्रश्न—आपके अध्ययनकालमे विद्यालय कैसे चलता था ?

उत्तर—हमारे जमानेमे विद्यालयमे करीब ४० छात्र थे, जो विभिन्न कक्षाओंमें पढते थे। सभी बोर्डिगमें रहते थे तथा विद्यालयका अच्छा वातावरण था और उसकी प्रतिष्ठा भी काफी अच्छी थी। उस समय श्री सुमतिचन्द्रजी विद्यालयके मत्री थे। वे सस्थाकी अच्छी तरह देख-भाल करते थे। सभी छात्रोमें सामंजस्य था।

प्रश्न—आपने खानिया तत्त्वचर्चामें क्यो भाग लिया ?

उत्तर—प० फूलचन्द्रजी शास्त्रीकी 'जैन तत्त्वमीमासा' पुस्तककी समाजमें बडी चर्चा रहती थी। उसका हमने बीनामें आठ दिनतक वाचन भी कराया। वाचनामे प० कैलाशचन्द्रजी, प० जगमोहनलालजी प० लालबहादुरजीने तथा मैंने भाग लिया। विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी मीटिंग भी वहाँ थी। विद्वत् परिषद्की ओरसे पुस्तकपर विचार करनेके लिये एक सम्मेलन बुलाया था। अन्तमे वाचनामे प० फूलचन्द्रजीके प्रयासकी तो सराहना की गयी। किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोका विरोध भी किया गया।

प्रश्न—मैंने सुना है कि आपने 'जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा' भी लिखी थी ?

उत्तर—आप जो कह रहे है वह सही है। मैंने बीना-वाचनाके पश्चात् 'जैन तत्त्वमीमासाकी मीमांसा' पुस्तक लिखी थी, जिसकी बादमें काफी चर्चा रही।

प्रश्न—'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा' के इतिहासके बारेमे भी कुछ प्रकाश डालें ?

उत्तर—डा० साहब, यह एक लम्बी कहानी है। खानियाँ तत्त्वचर्चा अक्टूबर सन् १९६३ मे हुई थी। इसके पूर्व मैंने कितने ही लेख लिखे थे, जिनमें जैन तत्त्वमीमासाकी आलोचना की गई थी। मेरे प्राय सभी लेख 'जैन गजट' में प्रकाशित हुये थे। लेकिन कुछ समय बाद जैन गजटने लेख प्रकाशित करना बन्द

कर दिया। तब मैंने प० फूलचन्द्रजीको एक स्थानपर बैठकर तत्त्वचर्चाकी योजना बनानेके लिये बीनामे बुलाया और वे आ भी गय। हम दोनोने मिलकर तत्त्वचर्चाकी योजना बनाई, जिसे अखबारोमें प्रकाशनके लिये भेज दिया गया।

प्रश्न—तत्त्वचर्चाके लिये आपने जयपुर ही क्यो चुना ?

उत्तर—पहले तो मैंने प० फूलचन्द्रजीसे कहा कि तत्त्वचर्चा आप जहाँ अपना गढ समझे वही चर्चा की जा सकती है। लेकिन जब देखा कि जयपुर (खानियाँ) मे आचार्य शिवसागरजी महाराजका चातुर्मास हो रहा है तो वही स्थान उपयुक्त समझा गया। सेठ हीरालालजी पाटनी निवाईवाले तत्त्वचर्चा-आयोजनका पूरा व्यय उठानेको तैयार हो गये तथा ब्र० लाडमलजीने सभी विद्वानोको हमसे बिना पूछे ही निमत्रण भेज दिये। इसके पश्चात् पहले तो तत्त्वचर्चामें प० फूलचन्द्रजीने आनेसे मना कर दिया। इसलिये विद्वानोको भी आनेसे मना कर दिया गया। लेकिन जब वे अक्टूबरमे जयपुर पहुँच गये तो विद्वानोको पुन तार देकर बुलाया गया। हम भी वहाँ पहुँच गये। हम लोगोके पहुँचनेके पूर्व ही तत्त्वचर्चाके नियम भी तय कर लिये गये थे।

प्रश्न—तत्त्वचर्चाका प्रमुख मुद्दा क्या था ?

उत्तर—सोनगढ विचारधारासे हम लोग सहमत नही थे, इसलिये उनकी विचारधारा ही तत्त्वचर्चा का मुख्य मुद्दा बन गया। यह चर्चा कई दिन तक चली।

प्रश्न—जरा, इसपर विस्तारसे प्रकाश डालिये ?

उत्तर—तत्त्वचर्चाके तीन दौर चले। हमने शंका रखी, जिसका दूसरे पक्षने जवाब दिया। उस उत्तर पर फिर हमने शका प्रस्तुत की, उसका भी उत्तरपक्षने तत्काल उत्तर दे दिया। फिर चर्चाका तीसरा दौर चला और उसकी वही स्थिति रही। लेकिन किसी विद्वानकी संतुष्टि नही हुई, क्योकि चर्चा चलते कोई १० दिन हो गये और इसलिये सभी थक-से गये। इसके बाद हम सब विद्वान् दिल्ली चले गये और वहाँ भी सोनगढ पक्षके उत्तरको हमने समीक्षा की, जिसका उत्तर भी मिला। इसके बाद तो चर्चा ही बन्द हो गई। फिर सोनगढकी ओरसे खानिया तत्त्वचर्चाका प्रकाशन किया गया, जिसको दोनो पक्षोको ओरसे छापना था।

प्रश्न—मैंने तो उस समय सुना था कि खानिया तत्त्वचर्चामें आपका पक्ष हार गया ?

उत्तर—यह तो सोनगढपक्षकी ओरसे फैलाई गई निराधार एव भ्रामक अफवाह थी। सोनगढपक्षने तो कभी कोई प्रश्न नही रखा। ऐसी कोई सोनगढपक्षकी शंका नही थी, जिसका हमने उत्तर नही दिया, लेकिन अब प्रश्न व उत्तरसे अथवा तत्त्वचर्चासे क्या फायदा ? चर्चामे कभी कोई पक्ष अपनी हार नही मानता।

प्रश्न—इसके पश्चात् आपने सोनगढ-विचारधाराका प्रभाव कम करनेके लिये और क्या किया ?

उत्तर—मैंने सोनगढको विचारधाराको गलत सिद्ध करनेके लिये बहुत-सी पुस्तके लिखी। इनमे (१) खानिया तत्त्वचर्चाको समीक्षा और उसमे सहायक (२) जैन तत्त्वमीमासाकी मीमासा, (३) जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारक-व्यवस्था तथा (४) जैन शासनमे निश्चय और व्यवहार नय (५) 'पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी' के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन पुस्तकोंके अतिरिक्त कितने ही लेख लिखे और वर्तमानमे भी लिखनेके प्रयत्नमे हूँ। समाजसे

जब आशाके अनुसार आर्थिक सहयोग नही मिला, तो २००००/-रु० का १९७४-७५ में एक पारमार्थिक ट्रस्ट स्थापित किया, जिसके द्वारा 'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा एव जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार नय' पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। लेकिन उक्त साहित्यकी उचितरूपमें बिक्री न होनेके कारण आर्थिक कमी अभी बनी हुई है।

प्रश्न—वर्तमानमें सोनगढके प्रभावके बारेमे आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—वर्तमानमे तो अधिकाश व्यक्ति सोनगढका नाम लेनेसे भी कतराते हैं। सोनगढी होना अच्छा नही माना जाता है। इसलिये मेरी दृष्टिसे समाजमे सोनगढके प्रभावमें कमी तो अवश्य आई है, पर यह नही कहा जा सकता कि उस कमीका मुख्य कारण क्या है। मेरे साहित्यका जितना एव जैसा प्रचार होना चाहिये था वैसा नही हो रहा है।

प्रश्न—वर्तमानमें जैन समाजकी स्थितिके बारेमे आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—जैन समाज अभी तक द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगके महत्त्वको नही समझ पा रहा है इसलिये जो सामाजिक वातावरण बना हुआ है वह धार्मिक दृष्टिसे और व्यावहारिक दृष्टिसे अच्छा नही है।

प्रश्न—युवकोमे धार्मिक जागृतिके सम्बन्धमे क्या आप कुछ कहना चाहेगे ?

उत्तर—संस्कृतिके महत्वको जबतक हमारे युवकगण नही समझेंगे तबतक युवकोमे धर्मके प्रति रुचि जागृत होना कठिन है। जब पूरा समाज ही धर्मके प्रति जागरूक नही है तब युवकोसे क्या आशा की जा सकती है।

प्रश्न—आजकल समाजमे जो विस्फोटक स्थिति बन गई है उसके निराकरणके क्या उपाय है ?

उत्तर—विस्फोटक स्थिति होना कोई नई बात नही है। समाजमे तो ऐसी स्थिति बनती ही रही है। ऐसा कौन-सा युग था, जिसमे पूरे समाजमे शान्ति रही हो। इसलिये यह तो ऐसा ही चलता रहेगा, इससे चिन्तित होने जैसी कोई बात नही है।

समय काफी हो गया था तथा पण्डितजी साहब भी कुछ थक-से गये थे, इसलिये आगे मैंने प्रश्न पूछना उचित नही समझा। लेकिन पण्डितजीकी हाजिर जबाबी तथा स्मरणशक्तिको देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। पण्डितजीका व्यक्तित्व एव लोकप्रियता जैन समाजमे कैसी है, क्योकि विद्वानका अपने घरमें कम सत्कार होता है और वह बाहर अधिक सम्मान पाता है। इसलिये मैं बीना समाजके वृद्ध एव क्रान्तिकारी व्यक्तियो के भी पण्डितजीके प्रति विचार जाननेके लिये उनसे मिलने चल दिया। डॉ० कोठिया साहब एव डॉ० भागेन्दु जी भी मेरे साथ हो लिये। और मुझे समाजसे मिलानेमे अत्यधिक सहृदयता दिखलाई।

पंडितजीके प्रति बीना समाजके प्रमुख व्यक्तियोंके उद्गार

सर्वप्रथम हमलोग शाह अमृतलालजी जैनसे मिले। शाह किरानाके व्यापारी हैं तथा आपकी दुकान पण्डितजीकी दुकानके पास ही है। उनकी आयु ६८ वर्षकी होगी। आपके विचार काफी विस्तृत हैं इसलिये उन्हें अलगसे प्रस्तुत ग्रन्थमे दिया गया है। वैसे शाह साहब पण्डितजीके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हैं और पण्डित जीके स्वभाव, व्यवहार, पाडित्य एव सामाजिकताके बडे प्रशसक हैं तथा पण्डितजी जैसे विशाल व्यक्तित्वको बीना नगर सहित समस्त मध्यप्रदेसकी धरोहर मानते हैं।

श्री नन्हेंलाल बुखारिया

इसके पश्चात हमलोग श्री नन्हेंलालजी बुखारियाके पास पहुँचे। बुखारियाजी पडितजीसे आयुमें बडे है। उनकी आयु ८७ वर्षकी है। अभी भी शरीरमे कडकपन है। लेकिन ज्यादातर वे घरमे ही रहते है। बुखारियाजी वर्षों तक समाजके अध्यक्ष रहे है। उनकी पत्नी श्रीमती रतनीबाई ८४ वर्षकी होगी।

जब मैंने अपने आनेका कारण बताया तो कहने लगे पण्डित बंशीधरजीके बारेमें क्या कहना है? उनका स्वभाव तो बडा मधुर है। सबसे मिलते-जुलते रहते है। विद्वान है। पर कभी-कभी वे अपनी बातपर अड जाते है और फिर अपनी ही बातको रखनेका प्रयास करते है।

प्रश्न—क्या आप बता सकेंगे कि उनके प्रति समाजमे कैसी धारणा है?

उत्तर—पण्डितजी २१ वर्षों तक बीना-समाजमें सब कार्योमे आगे रहे। वे अच्छे राजनीतिज्ञ भी रहे हैं, स्वतन्त्रता सेनानी है। इसलिये उनके बारेमे मैं क्या कह सकता हूँ?

प्रश्न—मैंने बातको आगे बढाते हुये जानना चाहा कि उनके जमानेमे सस्थायें कैसी चलती थी और आजकल कैसे चलती है? क्या इनमे आपको कुछ उतार-चढ़ाव दिखाई देता है?

उत्तर—वे अपने पलंगपर ही लेटे हुये कहने लगे कि विद्यालय तीन आधारपर चलते है—सचालक अध्यापक एवं विद्यार्थी। सस्थाये तो पण्डितजीके पूर्व भी चलती थी। लेकिन पण्डितजी द्वारा सभालनेके पश्चात् सभीने आशातीत उन्नति की है। और जब उन्होने उन्हे छोड दिया तो उनमे फिरसे शिथिलता आ गई। इसीसे आप उनके व्यक्तित्वको पहिचान सकते हैं। पण्डितजीका बीना समाजमे कोई विरोधी नही है, क्योकि वे सबको साथ लेकर चलते है।

प्रश्न—मैने सुना है कि आप भी स्वतन्त्रता-सेनानी रहे थे?

उत्तर—इस प्रश्नपर वे मुस्कराने लगे। वे कहने लगे कि मै और पण्डितजी दोनो ही जेल गये थे। सागर जेलमें हमदोनों साथ रहे। सागरसे उन्हे दूसरी जेलमें भेज दिया गया और मुझे सागर ही रखा गया। मैं सी क्लास मे था और पण्डितजी बी क्लासमें थे।

वे आगे कहने लगे कि आजकल समाजका वातावरण बहुत खराब है। यहाँकी सस्थाओंको एक-डेढ लाखकी इनकम है लेकिन झगडेकी जड भी वही है। इतनी इनकममे तो बहुत अच्छा विद्यालय चल सकता है। लेकिन उधर कोई ध्यान नही देता। उन्होने अपनी बातको जारी रखते हुये कहा कि वर्तमानमे निश्चय और व्यवहारका झगडा चल रहा है। पण्डितजी व्यवहारके पोषक है तथा उसका वे पूरा समर्थन करते है। हम पण्डित फूलचन्द्रजीकी पुस्तक "जैन तत्त्वमीमासा" पढते रहते है, लेकिन दोनो ही एकागी लिखते हैं। पण्डितजी तो बहुत बडे विद्वान हैं लेकिन हम तो बहुत कम पढ़े लिखे है। इसलिये इस सम्बन्धमें कह भी क्या सकते हैं। इतना कहनेके पश्चात् वे चुप हो गये और हम उनसे क्षमा याचना करते हुये उठकर चले आये।

सिंघई आनन्दकुमारजी

इसके पश्चात् श्री सिंघई आनन्दकुमारजी जैनसे घरपर जाकर भेट की। सिंघईजी बीना निवासी है। व्यापारी है तथा ७६ वर्ष पार कर चुके हैं। सर्वप्रथम डॉ० कोठियाजीने मेरा एव डॉ० भागेन्दुजीका परिचय कराया। मैंने सर्वप्रथम अपने आनेका कारण बतलाया तथा पण्डितजीके अभिनन्दन-ग्रथकी चर्चा की तो वे स्वत ही कहने लगे कि पण्डितजीसे मेरा सन् १९२८से परिचय है। उनकी यही शादी हुई थी। पासके

मकानकी ओर सकेत करते हुये कहा कि पण्डितजीकी इसी मकानमे शादी हुई थी । उस समय मेरी आयु १४ वर्षकी थी । उनका विवाह बहुत ही सादे ढगसे हुआ था ।

प्रश्न—पण्डितजीका यहाँ आना कैसा रहा ?

उत्तर—पण्डितजीके यहा आनेसे समाजमे बडी चेतना जागी । उन्होने पूरे दिगम्बर जैन समाजको सभाला तथा सस्थाओके सचालनमें योग दिया तथा समाजको एक सूत्रमे रखा तथा जहाँ तक हो सकता था समाजको सुधारकी दिशामे मोडनेमें सफल रहे ।

प्रश्न—क्या आप पण्डितजीके विचारोसे सहमत रहे हैं ?

उत्तर—पण्डितजीका तो सेवाभावी जीवन रहा है । उन्होने वेतनके नाममे समाजसे अथवा किसी सस्थासे एक पैसा भी नही लिया । यही नही, कभी मानपत्र भी स्वीकार नही किया । उनका जीवन पूर्ण निस्पृही जीवन रहा है । उन्होने सदैव समाजको एव युवकोको अच्छे मार्गपर लगाया । मै जब म्यूनिसिपल चैयरमैन था, तो पण्डितजीको चुनावमें खडा होनेके लिये बहुत कहा गया, लेकिन उन्होंने उसे कभी स्वीकार नही किया ।

वे कहने लगे कि बीनामें जब कभी मुनियोका विहार होता है, पण्डितजी मुनिसघकी बहुत सेवा करते हैं, उनको स्वाध्याय कराते हैं । अभी मुनि श्री सुधासागरजी महाराज आये थे, तो पडितजीने एक महीने तक समयसारकी वाचना की । निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त आदिके झगडोमें बीना समाजने सदैव पडितजीका साथ दिया है । अभी समयसारकी वाचनामे कितने ही विद्वानोको भी आमन्त्रित किया गया था । पण्डितजीने उनकी सुन्दर व्यवस्था करके बीना निवासियोका हृदय जीत लिया ।

प्रश्न—पडितजीकी और क्या विशेषता है, एक-दो गिनाइये ?

उत्तर—हमारे सागर-मडलके सभी राज्याधिकारी पडितजीकी ईमानदारी, निस्वार्थ सेवा एव सच्चाई-से प्रभावित है । कचहरीमे पडितजीने जो कुछ कह दिया उसीको सही माना जाता है । यह, क्या पडितजीकी कम विशेषता है ? इतना कहकर वे चुप हो गये और हमने भी हाथ जोडकर उनसे विदा माग ली ।

पंडित भैयालालजी शास्त्री

इसके पश्चात् मुझे पं० भैयालालजी शास्त्री बीना निवासीसे भेंट करनेका अवसर मिला । प० भैयालालजी शास्त्री प० बंशीधरजीके घरपर ही आ गये थे । आप दोनो एक ही उम्रके है । बहुत सक्रिय है । मैं जब बीना गया तो वहाँ समाजके चुनावोकी चर्चा थी । प भैयालालजी शास्त्री चुनावमे तो जीत गये, लेकिन उनकी पार्टी बहुमतमे नही आ सकी । जब मुझे बताया गया कि ये प० फूलचन्द्रजीके छोटे भाई है तो मुझे उनसे मिलनेमे और भी प्रसन्नता हुई । लेकिन विचारोमे दोनो भाई अलग-अलग है । एक व्यवहारका पूर्ण समर्थन करते है तो दूसरे प० फूलचन्द्रजी निश्चयका पक्ष करते है । जब मैंने प० भैयालालजी शास्त्रीसे प बंशीधरजीके बारेमें कुछ विचार प्रकट करनेके लिये कहा तो वे कहने लगे कि हम तो ६२ वर्षसे पं०जीके सम्पर्कमें है । हमारा तो उनको पूर्ण सहयोग रहता है । हम दोनोमे सोनगढको लेकर खूब चर्चाये होती रहती है । बड़ा आनन्द आता है चर्चा करने मे । पडितजीका बहुत ऊँचा ज्ञान है, इसलिये वे प्रत्येक बातको स्पष्ट रखते है ।

प्रश्न—पडितजी वस्त्रव्यवसायी कैसे बन गये ?

उत्तर—पडितजीका प्रारम्भसे व्यापारकी ओर ध्यान रहा । उन्होने अपने श्वसुरसे लोन लेकर वस्त्र-व्यवसाय करना प्रारम्भ किया । और उसमे पूर्ण सफलता प्राप्त की । उनकी सच्चाई एव ग्राहकोके साथ

अच्छा बर्ताव ही उनकी सफलताका मूल कारण है। चाहे कैसा ही ग्राहक आ जावे वे एक भाव बोलते है और उसे कभी कम नही करते है, इसलिये ग्राहकोका आपकी दुकानके प्रति विश्वास जम गया और वे उनके यहाँ खूब आने लगे।

ठाकुर हरनाथसिंहजी

हमारी बातचीतके बीचमे वहाँ ठाकुर हरनाथसिंहजी आ गये, जो रेल्वे सर्विसमे है और ५३ वर्षकी आयुके हैं। मूल निवासी माँझ ग्रामके है, जो रायबरेली जिलेमें है। ठाकुर साहब पडितजीके पक्के ग्राहक कैसे बने, उसे अपनी बीती बात कहकर बतलाने लगे। मै बीना स्टेशनपर झाँसी स्टेशनसे तबादला होकर बीना आया। कुछ दिनों बाद मै बीना ग्राममें कुछ कपडे खरीदनेके लिये आया। तीन-चार दुकानोपर कपडा देखा, लेकिन पसन्द नही आया तथा भाव भी तेज लगा। अन्तमे मै घूमता-घूमता पडितजीकी दुकानपर आया। वहाँ साडी देखी। पसन्द आ गई। पडितजीने साडीके १४ २५ बोले। हमने उन्हे १४ रुपये देनेके लिये कहा। लेकिन पण्डितजीने चार आना कम करके देनेमे मना कर दिया। फिर मै दूसरे दिन आया। और चार आना कमपर साड़ी देनेके लिये कहा। लेकिन पण्डितजीने फिर मनाकर दिया। फिर हम तीसरे दिन आये, यह सोचकर कि अब तो साडीको १४.२५ रुपयेमे ही ले लेंगे। लेकिन दुकानपर जब आये तब मालूम पडा कि साडी बिक चुकी है। लेकिन दुकानके एक व्यक्ति हरप्रसादजीने कहा कि तुम्हारे बापने भी साडी खरीदी है। आखिर मुझे पण्डितजीकी ईमानदारीपर विश्वास हो गया और उस समयके बाद पडितजी की दुकानसे ही कपडा खरीदने लगा। वैसे पण्डितजीकी ईमानदारी एवं एकभाव सारे नगरमे चर्चाका विषय रहते है।

ठाकुर साहबने पण्डितजीकी उदारताकी एक और घटना सुनाई। उन्होने कहा कि मेरी लडकीकी शादीमे पण्डितजीने मुझे उधार पैसे देकर उस समय मदद दी, कि जब मै चारो ओरसे निराश हो चुका था तथा जहाँ कहीसे पैसा आने थे वहाँसे नही आये। मै पण्डितजीके पास प्रात काल पहुँचा। स्नान भी नही किया था। पण्डितजीको मनकी बात कहनेमें डर-सा लग रहा था। लेकिन जब अपनी बात कहनी ही पड़ी तो पण्डितजी मेरी पूरी सहायता की और अपने घर खाना भी खिलाया तबसे आजतक हम तो पण्डितजीकी दुकानके पक्के ग्राहक बन गये है।

इसके पश्चात् मैंने पण्डित भैयालाल शास्त्रीसे पण्डितजीके बारेमे कुछ और बतानेका अनुरोध किया तो उन्होने कहा कि पण्डितजी जब विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष थे, तब मुझे उनके साथ दो-तीन स्थानोपर जानेका अवसर मिला। उनका मुझे पूर्ण वात्सल्य एव सहयोग मिला।

उन्होने आगे कहा कि सैद्धान्तिक चर्चा करनेमे पण्डितजीकी बहुत रुचि रहती है। उनका इस सबध-मे अगाध ज्ञान है और वे अपने ज्ञानको चारो ओर बिखेरना चाहते हैं।

बीनामे और भी बहुतसे वृद्ध एव युवा समाजसेवी है जो पण्डितजीके पूरे प्रशंसक एव शिष्यके रूपमे हैं। लेकिन समय कम होनेसे उनसे भेंट नही कर सका।

पण्डितजीका विशाल व्यक्तित्व सदा आगे बढता रहे तथा वे समाजकी अपने सैद्धान्तिक ज्ञानसे इसी तरह सेवा करते रहें। इसी भावनाके साथ मैं भी उनके प्रति अपनी श्रद्धा एवं सम्मान व्यक्त करता हूँ।

सोंरईके प्राचीन जिनमन्दिरका वेदिका लेख : एक दस्तावेज

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

सोरईके एक प्राचीन दिगम्बर जैन मदिरकी वेदिकाके नीचे पाषाण-पट्टीपर जो लेख खुदा हुआ है उससे इस ग्रामकी प्राचीनता, सम्पन्नता और जनबहुलतापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह मदिर कैसे बना और कैसे उजडा, इसका तो इस लेखमे कोई सकेत नही मिलता। किन्तु वृद्ध-परम्परासे सुना जाता है कि मन्दिरके निर्माता सिंघई मोहनदास राजाके वित्ताधिकारी जैसे किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे और राजाके अत्यन्त प्रिय थे। वह उनपर बहुत प्रसन्न था। राजाने उनसे आग्रह किया कि आप जिन भगवानकी भक्तिके लिए किलेसे सटा हुआ अपना जिनमन्दिर बनवा लें। सिंघई मोहनदासने राजाके प्रेम और आज्ञासे दिगम्बर जैन मदिर बनवा लिया और विधिवत् उसकी प्रतिष्ठा भी हो गई। कुछ लोगोने इसके विरुद्ध राजाके कान भर दिये और राजाने कुपित होकर मन्दिरजीसे श्रीजी हटवा दिए। कितने वर्षों तक इस मन्दिरमें श्रीजी विराजमान रहे, कहा नही जा सकता। लेखमें इतना ही उल्लेख है कि विक्रम सवत् १८६४ मे इसकी प्रतिष्ठा हुई और मन्दिरकी नीव वि०स० १८६२ में रखी गयी। दो वर्ष इस मन्दिरके निर्माणमें लगे। बादको इसमें प्राईमरी स्कूल लगने लगा।

इसमे प्राईमरी स्कूल कबसे लगा, यह जानकारी शासनके कागजातोंसे प्राप्त हो सकती है। पर अनुमानसे संप्रति इतना कहा जा सकता है कि १८२ वर्ष पूर्व बने इस मंदिरमें, कुछ वर्ष खाली पडा रहनेपर, १५० से १७५ वर्षों तक स्कूल लगता रहा है। व्याकरणाचार्य श्रद्धेय प० वंशीधरजी (८४) उनके पिताजी और पितामहने इसी स्कूलमें पढा है। हमने भी इसीमे सत्तर वर्ष पूर्व अध्ययन किया था।

इस लेखमें कई तथ्य महत्त्वपूर्ण उपलब्ध होते हैं। उनमें कुछ निम्न प्रकार है—

१ यह मन्दिर माघ वदी १३, वि०स० १८६४ मे प्रतिष्ठित हुआ था।

२ इसकी नीव अषाढ सुदी ७ बुधवार, वि०स० १८६२ मे रखी गयी थी।

३. मूल सघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दाचार्याम्नायमे जिनागमके उपदेशानुसार इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी।

४. इसके प्रतिष्ठाकारक थे वैश्यवर्ण, वश इक्ष्वाकु, गोत्र पद्मावती, [जाति] गोलापूर्व, बैंक चन्देरिया, श्री साहू किसोरी, उनके पुत्र (प्रथम) कूते सिंघई, दूसरे पुत्र अजब सिंघई, कूते सिघईके दो पुत्र, (प्रथम) श्री साहू इन्द्रमन, उसकी पत्नी मौनदे, उसका प्रथम पुत्र सिंघई धनसीघ, उसकी पत्नी दीपा, उसका पुत्र धोकल, और द्वितीय पुत्र सिघई कुवरमन, उसकी पत्नी पजो, उसके दो पुत्र, प्रथम मनराखन, द्वितीय करनजू। कूते सिंघईकी पत्नी सीता, उसके लघु पुत्र (द्वितीय पुत्र) यज्ञ (प्रतिष्ठा) कर्त्ता (कारक) श्री सिंघई मोहनदास, उसकी पत्नी जैको, उनका पुत्र श्री लाला मान्धाता। ये सभी चिरजीव हो। मन्दिरके निर्माता और प्रतिष्ठाकारक मुख्यतया श्री सिंघई मोहनदास थे।

५ लेखमें प्रतिष्ठाचार्यका नामोल्लेख नही है, जैसा कि आजकल होता है। किन्तु प्रतिष्ठा-कारकके दो हवलदारो (कार्यकर्त्ताओ-कारन्दाओ), एक श्री राउत हरीसिंघ लोधी ठाकुर, गोत खोरमपुरिया और द्वितीय हवालदार उदीनन्द साव कडोरे पचलोरो दामपवार, लडिया लालजू व मोकम व उपसाव धोकलजो, बीजकके लेखक श्री फौजदार लल्लू कड़ोरे पिपलासेवारे, बसंत कारीगर जैसोके नाम अकित है।

६. भौगोलिक एव ऐतिहासिक तथ्य भी इस लेखमें है। उस समय सोरई, जो आज उत्तरप्रदेशके ललितपुर जिलेके अन्तर्गत है, श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा राजा मरदनसिंघजु देवकी जागीर थी, जिनकी राजधानी गढाकोटा (सागर, मध्यप्रदेश) थी और उनकी जागीरदारीमे सोरईका प्रशासन ठाकुर श्री महाराजकुमार श्री दिवान दुरजन सिंघजू देव, उनकी ठकुराईन श्री महाराज कुमार श्री दुलैया हसकुंवरजू देवीके अधीन था।

ये तथ्य ऐसे हैं जो सोरईकी ऐतिहासिकता और सास्कृतिकताको प्रकट करते हैं।

मूल लेख और लेखमे उल्लिखित वशावली दोनो यहाँ दिये जाते है। लेख हमे प्रिय भाई प० दुलीचन्द्र शास्त्री एव भाई विनीतकुमारने सोरई स्वय जाकर और खण्डहर पडी वेदिकासे लाकर दिया है।

मूल वेदिका-लेख

संवत् १८६४ व्रषे नाम माग वदि १३ सुभे ता दिन श्री जिनमदिर प्रतिष्ठा अस्थापनीयत् श्री मूलसघे वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुदकुदचार्जन्याये श्रीजिनागमउपदेसनीयतु महान जग्य, जागीर श्रीमहाराजाधिराज श्रीमहाराजा श्रीराजा मरदनसिंघजू देव राजधानी गडाकोटा तस्य जागीर मधे नग्र सोरईके ठाकुर श्री महाराज कोमार श्री दिवान दुरजनसिंघजूदेव तस्य ठकुराईन श्री महाराजकोमार श्रीदुलेहिया हंसकुवरजू देव्य तत्र पुर वैहीसवर्न वस इष्वाक गोत पद्मावती गोलापूरव वैक चदेरिया श्री साहू किसोरी तस्य पुत्र श्री साहू कूतेंसिघ दुतिय सुत अजवसिंघ कूतेंसिघके सुव दोही श्री साहू इद्रन्मन तस्य भार्जा मौनदे तस्य पुत्र क्ष प्रथम सिंघही धनसिंघ भार्जा दीपा पुत्र घोकल दुतिय सुत श्री सिंघही कुवरमन भार्जा पजो सुत देव (दो) प्रथम मनराखन दुतिय करनजू कूनेंसिघके भार्जा मोता लघुसुत जग्यकरता श्री सिंघही मोहनदास भार्जा जैको तस्य पुत्र लाला मानधाता चिरजीवत ताके हवालदार करता श्री राउत हरीसिंघ लोधी ठाकुर गोत घोरमपुरिय दुतिया हवालदार उदीनद सावा कडोरे पचतौरो व दाम पवार गुर लडिया लालजु वा मौकम वा नुप सावा घोकल वीजकके लिपैया श्री फोजदार ललू कडारो पिपलासेवारे वसत कारीगर नैं श्री जिन मदिर जू की सवत् १८६२के अषाढ सुदि ७ बुधेको नो धरी सुभ।

मन्दिरके निर्माता एवं प्रतिष्ठाकारक

सिंघई मोहनदासकी वंशावली

किलेसे सटे निर्मित स्कूल वाले सोरईके दि० जैन मन्दिरकी वेदिकाके नीचे पाषाण-पट्टपर उत्कीर्ण लेखानुसार
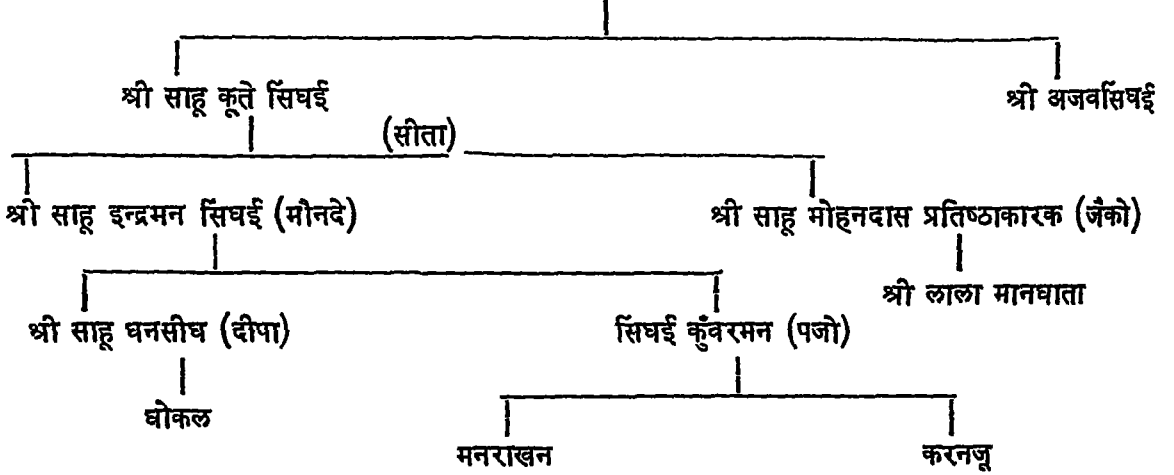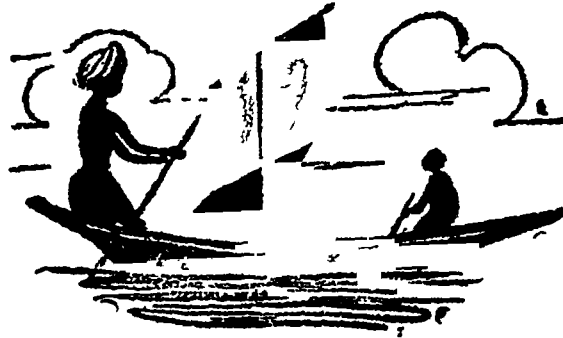
सोरई : पूज्य पिताजीकी जन्मभूमि

● श्री विनीत कोठिया, बीना

सोरई (ललितपुर), उत्तरप्रदेशके मडावरा-मदनपुर मार्गके बीच बम्हौरी ग्रामसे ३ किलोमीटर दूर स्थित है। इस स्थानका नाम "सोरई" कैसे रखा गया, इसका ज्ञान मुझे नही है, लेकिन सुननेमे आया है कि इप स्थानपर स्वर्ण भण्डार है। अत स्वर्णमयी नगरी होनेसे इसका नाम "सोरई' रखा गया। इस स्थानकी महत्ता मेरे लिए इसलिए है कि यह मेरे पूज्य पिताजीकी जन्मभूमि है।

मुझे उस समय अत्यन्त प्रसन्नता हुई जब परम आदरणीय प० दरबारीलालजी कोठियाने मुझे एव आदरणीय भैयाजी पण्डित दुलीचन्दजी, सोरई वालोको सोरई जानेका आदेश दिया। तथा उन्होने हमलोगोको कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य दिये, जिन्हें हमे सोरई जाकर पूर्ण करना थे।

पूज्य पिताजीके "अभिनन्दन-ग्रन्थ'' के लिए उनकी जन्मभूमिके सन्दर्भमें सामग्री जुटानेका काम हमे सौपा गया था। हमे कुछ जानकारी एकत्रित करनी थी जैसे कि—इस समय वहाँकी स्थिति, वहाँके जैन मन्दिरोके बारेमे जानकारी तथा उनके फोटोग्राफ इत्यादि। इन सबमें प्रमुख था वहाँके एक प्राचीन जैन मदिर, उस मदिर-के शिलालेखकी पूरी इवारत तथा उस शिलालेखका एक फोटोग्राफ भी। इस मदिरजीके बारेमे जानकारी एक-त्रित करनेकी आवश्यकता इसलिए भी थी, क्योकि पूज्य पिताजीने अपनी शिक्षा यहीसे प्रारम्भ की थी।

सोरई : यात्रा-विशेष

मैं जब आदरणीय भैयाजीके साथ सोरई-ग्रामके लिए रवाना हुआ तो अपने आपमे बहुत प्रसन्न था, क्योकि पूज्य पिताजीको जन्मभूमिके दर्शन करनेका मुझे सौभाग्य मिल रहा था। इससे पहले मैं वहाँ गया अवश्य था। लेकिन बहुत पहले, समय गुजरनेके साथ-साथ वहाँकी याद भी धुंधली पड चुकी थी। जुलाईका महीना होनेके कारण मौसम हमारे अनुकूल नही था, लेकिन हमलोगोको वहाँकी जानकारी जुटाना है, यह सोचकर हमलोग रवाना हो गये।

हमलोगोने बस द्वारा सोरईमे प्रवेश किया। आदरणीय भैयाजीने मुझे बताया कि "बहुत पहले ये बसें इत्यादि नही चला करती थी। सभीलोग यहाँसे मडावरा तक पैदल जाया करते थे, और वहाँसे अन्यत्र जानेको बस मिलती थी। कभी-कभी तो ललितपुर तक पैदल जाना पडता था। लेकिन आजकल कई साधन मौजूद है, सोरईसे बीना, सागर, मडावरा और ललितपुरको जोडने वाली पक्की सडकें है और बसें भी सब जगहको जानेके लिए मिल जाती है।"

आदरणीय भैयाजी राहमे चलते, मिलनेवाली सभी प्रमुख जगहोकी मौखिक जानकारी हमें देते रहे। उन्होने अपने जीवनके लगभग ४० वर्ष यहाँ व्यतीत किये थे। तबसे लेकर आजतक शनै-शनै वहाँ काफी परिवर्तन हो चुके थे, अत वे पहलेकी स्थिति और वर्तमान स्थितिका तुलनात्मक वर्णन कर रहे थे।

पहले हम लोग घर पहुँचे, जहाँ वर्तमानमे आद० भैयाजीके छोटे भाई श्री फूलचन्द्रजी रहते है। उन्होने इस घरके बारेमे भी बताया कि किस तरह सघर्षमयी जीवन बिताते हुए इस घरका निर्माण कराया गया था। उन्होने कुछ ऐसे स्थानोके बारेमें भी बताया जहाँ, पहले एकदम खुला मैदान था। आज वहाँ मकानोने अपना डेरा जमा लिया है। उनके कथनानुसार "जहाँ बाजार लगता है वहाँ पहले पर्याप्त जगह थी लेकिन आज मकानोकी भीडने उस स्थानको तग कर दिया है।"

सोरई : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सफरकी थकानके बावजूद हम लोग उसी दिनसे काममे जुट गये । सबसे पहले हम लोग उस प्राचीन जैन मदिरकी ओर रवाना हुए, जो बादमे स्कूलका रूप ले चुका था । इसी स्कूलमे पूज्य पिताजीकी शिक्षा आरम्भ हुई थी । जैसे ही हम लोग वहाँ पहुँचे, तो मैने मदिरजीकी ऐसी स्थिति देखी, जिसकी मुझे कदापि कल्पना नही थी । कभी वहाँ मदिर रहा होगा, लेकिन वर्तमानमे वह जीर्ण-शीर्ण हालतमे एकदम खण्डहर हो चुका था । जगह-जगह उस मदिरजीकी दीवालोपर घास उग आई थी । धरातलसे करीब १५ फुट ऊँचे टीलेपर बने उस मदिरमें जानेका मुझे रास्ता नही सूझ रहा था । ऊबड-खावड रास्तेसे ऊपर चढकर जाना पडा, तब कही हम लोग उस मन्दिरके मुख्य द्वारतक पहुँच सके । जैसे ही मै मन्दिरके अन्दर प्रवेश हुआ, तो पाया वहाँ एकदम अन्धेरा, केवल मुख्य द्वारसे मद्धिम रोशनी अन्दर प्रवेश कर रही थी, जो हमें अन्दरका रास्ता बतानेके लिए पर्याप्त थी । अन्दर मकडियोने भी अपने जाल फैला लिए थे, "कुछ देरके लिए मैं सोचमें पड गया ! जहाँ कभी मन्दिर रहा, उसके बाद प्राईमरी स्कूल रहा तब वहाँ अच्छी-खासी चहल-पहल रहती होगी, लेकिन आज एकदम वीरान् !"

मैं पुन वर्तमान स्थितिमे लौट आया और वहाँके मन्दिरजीकी प्रतिष्ठाका शिलालेख खोजने लगा । आदरणीय भैयाजीका साथ था । अत किसी किस्मकी बाधा उत्पन्न नही हुई । मन्दिरजीके फर्शपर मिट्टी आदिका जमाव भी काफी हो गया था, कारण कि मैंने देखा कि मन्दिरका ऊपरी हिस्सा ढहकर नीचे गिर गया था । जैसे ही भैयाजीने वहाँकी वेदिकाके नीचे पाषाणपर उत्कीर्ण "प्रतिष्ठा-लेख" की ओर इशारा किया तो मैंने देखा कि वहाँकी वेदिकापर इस समय कोई पत्थर नही था, हाँ केवल शिलालेखका वह पत्थर वहाँ ज्यो-का-त्यो अवश्य लगा था । समय बीतनेके साथ-साथ धूल, मिट्टी आदि उस शिलालेख एव वेदिकापर अपना स्थान बनाती रही । हम लोगोने वहाँके स्थानीय व्यक्तियोकी सहायतासे उस शिलालेखको साफ करनेकी असफल कोशिश की । तब भी उसपर खुदे हुए अक्षर अस्पष्ट थे, जो पढनेमे बिल्कुल नही आ रहे थे । अत हम लोगोने शिलालेखपर सूखे चूनेका लेप लगाया, जिससे शिलालेखके शब्द उभरकर सामने आ गये, जिन्हे अब आसानीसे पढा जा सकता था । करीब ५ फुट लम्बे और आधा फुट चौडे इस शिलालेख पर चार पक्तियोमें इस मन्दिरजीकी प्रतिष्ठा सम्बन्धी जानकारी अकित थी ।

उस शिलालेखको मैं पढता गया और आद० भैयाजीने उसकी इबारत एक कागजपर उतार ली । तत्पश्चात् उन्होने शिलालेख पढा और मैं एक दूसरे कागजपर ज्यो-का-त्यो लिख लिया, ऐसा इसलिए किया ताकि शिलालेखका सार समझनेमे हम लोगोको कोई परेशानी न हो । इसके बाद तुरन्त ही मैंने उस शिलालेखके विभिन्न दिशाओसे कुछ चित्र कैमरेकी मददसे ले लिए । शिलालेखसे ज्ञात हुआ कि यह मन्दिर १८२ साल पुराना है । शिलालेख वि० स० १८६४ मे लिखा गया था, लेकिन मन्दिरका निर्माण वि० स० १८६२ मे आरम्भ हो गया था, लगभग दो वर्ष इसे बनानेमे लगे । मन्दिरजीसे बाहर आकर मैंने मन्दिरजीके कुछ चित्र लिए । एक खास बात मुझे यह भी देखनेको मिली कि यह मन्दिर ठीक सोरईके किलेसे सटकर बना हुआ है । अत मैंने उत्सुकतावश मन्दिर एव किलेका सयुक्त चित्र अपने कैमरेमें कैद कर लिया ।

यहाँ हम लोगोका अधिकाश समय व्यतीत हो गया था । समय रहते भैयाजीने मुझे उस मकानके दर्शन कराये, जहाँ पूज्य दादीजी और पूज्य पिताजी रहा करते थे । "पुराने तरीकेका बनाकच्चा मकान, जिसमें सामनेकी तरफ दो दरवाजे थे । एक बडा ओर एक छोटा । बाहरकी ओर दरवाजेके पास ही दो आले बने

व्याकरणाचार्य की जन्मभूमि सोंरई के मनोहारी दृश्य

सोरई का भव्य पार्श्वनाथ मदिर (बडा)
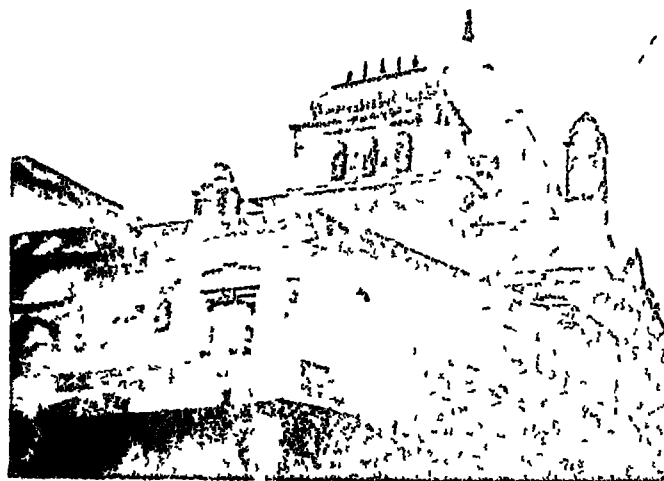
सोरई का छोटा दि० जैन मन्दिर

ण्डितजीने जिस स्कूलमें पढा है उसका एक चित्र
और जो प्राचीन मदिर रहा।
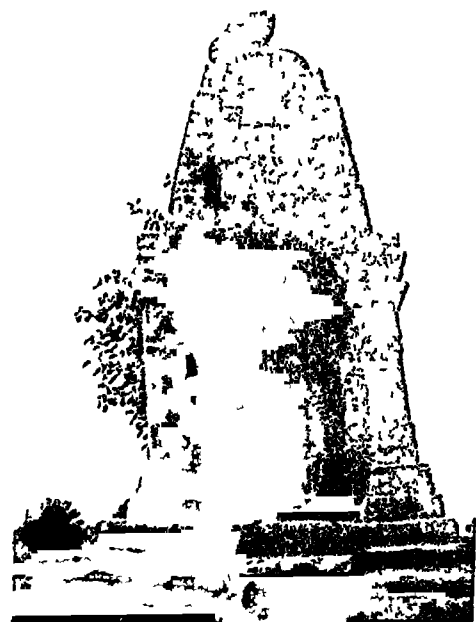
सोरई का चन्देलकालीन एक प्राचीन जैन मन्दिर, जो
अब खण्डहर के रूप मे अरक्षित स्थिति में है।

सोरई का प्राचीन किला

पण्डितजीके सोरईके मकानका एक चित्र

हुए थे तथा एक खूटी भी लगी हुई थी। अन्दर एक बडा-सा कमरा तथा इसके बाद एकदम खुला आगन, जिसे दीवालोने चारो ओरसे घेर रखा था। एक दहलान भी थी तथा पशुओ आदिके लिए पर्याप्त व्यवस्था।" आदरणीय भैयाजीने यहाँके बारेमें बताया कि किस प्रकार पूज्य पिताजी उस घरमे रहा करते थे, उन्होंने बताया कि 'वर्तमानमे बिजलीकी समुचित व्यवथा है। परन्तु उस समय बिजली नहो थी, तब पूज्य पिताजी लालटेन के उजालेमे पढाई करते थे।' बाहर निकलकर मैंने उस मकानके कुछ फोटो उतार लिए।

इसके बाद हम लोग अपने स्थानपर आ गये। आद० भैयाजी मुझे और भी बहुत-सी जानकारियाँ देते रहे कि किस प्रकार पूज्य पिताजीने अपने जीवनमे अभावो और कष्टोसे संघर्ष किया।

दूसरे दिनका काम इतना जटिल नही था, क्योकि इस दिन हम लोगोको उन सभी जैन मन्दिरोके बारेमे जानकारी एकत्रित करनी थी, जो वर्तमानमें व्यवस्थित रूपसे विद्यमान है। अब मैं सोरईके उन रास्तोसे गुजर रहा था, जिनपर पूज्य पिताजीने अपना बचपन व्यतीत किया था। मैंने वहाँ बच्चोको खेलते पाया तो उनके भी कुछ चित्र मैंने ले लिए।

जैसे ही हम लोग मन्दिरजीको जाने वाले रास्तेकी ओर मुडे तो मोडपर ही मैंने एक 'मार्गसूचक पटल' देखा, जिसे पढनेपर ज्ञात हुआ कि आदरणीय प० दरबारीलालजीने इस रास्तेका फर्शीकरण, आदरणीया भाभीजी श्रीमती चमेलीबाई कोठियाकी पुण्य स्मृतिमे, उनके नामसे कराया है। यह रास्ता ठीक एक मंदिरसे होकर दूसरे मदिरजी तक समाप्त होता है। मैंने उस पटल एव उस रास्तेका भी चित्र कैमरेमें उतार लिया। इसके बाद हम लोग बडे जैन मन्दिरजी गये। वहाँके दर्शनोपरान्त कुछ फोटो अन्दरके लिए। सुरई (गर्भगृह) के भीतर वेदिकापर भगवान पार्श्वनाथकी एक भव्य एव बडी मूर्तिके नीचे आसनपर एक श्लोक लिखा था। मैंने मूर्ति एव श्लोकका एक-एक चित्र कैमरेकी सहायतासे ले लिया। तत्पश्चात् उस श्लोकको एक कागजपर लिख लिया। बाहर आकर मैंने देखा कि इस मन्दिरजीके ठीक सामने एक जैन धर्मशालाका भी है। उस धर्मशालाका भी एक चित्र मैंने लिया। उस धर्मशालाका मुख्य द्वार बहुत ही कलात्मक बना हुआ था। उसी धर्मशालाकी छतपरसे बड़े मन्दिरजीका एक सुन्दर चित्र मैंने अपने कैमरेमे उतार लिया। इसके बाद हमलोग छोटे मन्दिरके लिये रवाना हो गये। उस मन्दिरका भी एक खूबसूरत चित्र मैंने खीच लिया। दर्शनोपरान्त अन्दरके भी कुछ चित्र ले लिये। सोरईके ये दोनो मन्दिर शिखरवन्द, कलात्मक एव व्यवस्थित बने हुए हैं।

इसके पश्चात् हमलोग वहाँके चौथे मन्दिर जिसे बाजारका मन्दिर कहा जाता है, गये। यह मन्दिर चैत्यालयनुमा बना हुआ है। सामने ही मामा श्री राजकुमारजीका घर है। उन्हीके मकानकी छतसे मैंने एक फोटो उस मन्दिरका भी ले लिया। तत्पश्चात्, वहीसे गाँवके चारो ओर मैंने नजर घुमाई तो देखा चारो ओर हरियाली-ही-हरियाली है। गाँवका यह दृश्य मनभावन लग रहा था।

इसके तुरन्त बाद ही हमलोग सोरईके किलेकी ओर रवाना हुए। किलेका भी एक खूबसूरत चित्र खीचकर, मै किलेके अन्दर प्रविष्ट हो गया तथा वहाँके कुछ बच्चोकी सहायतासे मैं किलेकी बुर्जपर जा पहुँचा। वहाँसे भी गाँवकी सुन्दरता आसमान छू रही थी। इस समय मैं गाँवके सबसे ऊँचे स्थानपर खडा था। एकदम खुली-स्वच्छ हवा, चारो ओर हरियालीकी मुस्कान और भरपूर छोटे-बडे पेड़-पौधे मनको मोह रहे थे। किलेकी बुर्जसे मैंने देखा कि वही दोनो जैन मन्दिर, जिनका उल्लेख मै पीछे कर चुका हूँ, अब एक दूसरेके बिल्कुल नजदीक नजर आ रहे हैं, साथ ही दूर हनुमानजीका मन्दिर, जैन धर्मशाला तथा उसका पूरा आँगन एव गाँव का अधिकाश हिस्सा भी। यह दृश्य सचमुच अद्भुत था, जिसे मैं कैमरेमे उतारे बिना न रह सका।

इतना काम हो जानेके बाद अब केवल एक जगह शेष रह गयी थी—"सोरईका बगीचा"। इसमें मुख्य था उस बगीचेमे स्थित मढ (मन्दिर)। शीघ्र ही हमलोग बगीचा पहुँच गये। वहाँ जाकर मैंने देखा बगीचेके बीच एक मढ बना हुआ है, पत्थरोको तराशकर तथा पत्थरो, खम्बो आदिको एकके ऊपर व्यवस्थित ढगसे रखकर इस मढका निर्माण किया गया है। मैंने उस मढका भी एक सुन्दर चित्र खीच लिया। मैंने आभास किया कि वक्त गुजरनेके साथ-साथ मढकी स्थिति बिगडती चली गयी। मैंने मढको इस समय एक ओर झुका हुआ महसूस किया। शायद उसका एक खम्भा तिरछा हो जानेके कारण तथा ऊपर रखा गोल चक्रनुमा हिस्सेके भी टुकडे हो चुके है। फिर भी खूबसूरती लिये हुए सोरइका यह ऐतिहासिक मढ़ (जैन मन्दिर) अभी भी अपने स्थानपर विद्यमान है।

सोरई आसपास

हमारा काम लगभग समाप्त हो चुका था। लेकिन उत्सुकतावश मैंने वहाँके स्थानीय व्यक्तियोंसे भी सम्पर्क किया। तरह-तरहकी जानकारी मुझे प्राप्त हुई, जिसे मै आगे लिख रहा हूँ—

सोरई ग्रामको यदि "खनिजोका गाँव" कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी, क्योंकि यहाँ—लोहा, ताँबा, सीमेंटका पत्थर, ग्रेफाइट आदि प्रचुर मात्रामें मौजूद हैं। लोहा यहाँ भारी मात्रामें उपलब्ध है। पुराने जमानेमें यहाँ लोहेका काम भी बहुत होता था, किन्तु माँगकी कमीके कारण यह काम बादमें बन्द हो गया। ताँबेकी खदानें तो गाँवमे ही स्थित है। प्रयत्न किया जाये तो ताँबेका अच्छा-खासा भण्डार मिलनेकी पूर्ण सम्भावनायें यहाँ नजर आती हैं। इससे पहले यहाँ खुदाई अवश्य हुई और ताँबा निकाला गया, परन्तु साधनोकी कमीके कारण पूर्णरूपेण सफलता नही मिल पायी।

"फास्फेट" एक महत्त्वपूर्ण पत्थर यहाँ विपुल मात्रामें उपलब्ध है। इसका काम खाद बनानेके रूपमें विशेष होता है। यहाँसे थोडी दूर एक स्थानपर, जिसे "टोरी" कहते है, फास्फेट निकालनेका काम तेजीके साथ चल रहा है। यहाँपर बाहरके एव स्थानीय करीब एक हजार मजदूर प्रतिदिन काम कर रहे है। फास्फेट पत्थरकी छोटी-छोटी गिट्टी बनाकर ट्रको द्वारा बाहर भेजनेका क्रम अभी भी जारी है।

"यूरेनियम" एक बेशकीमती खनिज, जिसकी प्राप्तिकी पूर्ण सम्भावनायें यहाँ व्यक्त की जा रही हैं। इसके लिए विदेशी सहयोगसे उसकी खोज अभी भी जारी है।

इसके अलावा सोरईसे लगा हुआ एक घना जङ्गल भी है। इस जङ्गलमें महुआ, गोद, चिरोजी एव कई प्रकारकी अनेक जडी-बूटियोका विशाल भण्डार है। यहाँके आदिवासी (सोर) इन्हीके द्वारा अपना उदर-पोषण कर रहे हैं।

भारत-सरकार द्वारा निर्मित "रोहणीबाँध" गाँवके बीच निकली रोहणी नदीपर लगभग दो किलो-मीटरका नीचेकी ओर बनाया गया है, जिससे सोरईके ग्रामके रहवासियोको तो कोई फायदा नही, लेकिन नीचे रहनेवाले गरीबोको नहरो द्वारा भरपूर पानीकी व्यवस्था उपलब्ध है।

सोरईसे पूर्व दिशाकी ओर अतिशय क्षेत्र गिरार है। वहाँ धसान नदीके किनारे बना हुआ दि० जैनमन्दिर दर्शनीय है। किसी समय यह स्थान काफी उन्नतिशील रहा है। ऐसा सुननेमें आया है कि यहाँ बहुत बडा बाजार लगता था, जिसमे बाहरी व्यापारी भी अपना व्यापार करने आते थे। अब वहाँ खण्डहर मात्र शेष है। मात्र सुन्दर मन्दिर बना हुआ है।

सोंरईसे पश्चिम दिशाकी ओर मदनपुर तरफ पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी जन्मभूमि हसेरा गाँव है। वहाँ उनके स्मारकके रूपमें एक छतरी-चबूतरा बनवाया गया है। उनकी ही छत्र-छायामें पूज्य पिताजीने ११ वर्ष वाराणसीमें अध्ययन किया था। यहाँसे चलकर आगे अतिशयक्षेत्र मदनपुर है, जहाँ पाडाशाहके बनवाये हुए कई प्राचीन मन्दिर है जो इस समय अवशेष मात्र ही दिखायी देते हैं। यहीपर फुसकेले वंशके महानुभावोके द्वारा बनवायी पचमढियाँ भी है। कुछ वर्ष पहले समाजने वहाँका जीर्णोद्धार किया, अब वहाँ पक्की सडक, धर्मशाला इत्यादि सहूलियतें मौजूद है।

इस तरह मैंने अनुभव किया कि ग्राम सोरई अतीतमें एक विश्रुत ग्राम रहा है। और अब उसका भविष्य भी उज्जवल है। इस विकसित होनेमें अब ज्यादा समय नही लगेगा।

अन्तमे मैं पूज्य पिताजीके चरणोमें अपनी और समस्त परिवारकी ओरसे श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।
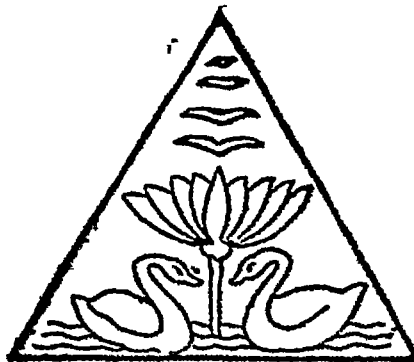
गोलापूर्वान्वय : एक परिशीलन

● डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन', एम० ए०, पी-एच० डी०, श्रीमहावीरजी

मान्यवर प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीने 'न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ' में सन् १९८२ में 'गोलापूर्व अन्वयके आलोकमे' शीर्षक शुभकामना-लेखमे गोलापूर्व अन्वयके विषयमे अनुसन्धानात्मक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है तथा आदरणीय डॉ० कोठियाजीकी ओर लक्ष्य करके लिखा है कि 'कुछ समय पहले श्री डॉ० दरबारीलालजीसे भेट होनेपर इस दिशामें काम करनेका मैंने सकेत किया था। इस ओर तत्काल उनका ध्यान भले ही न गया हो, यह विषय ऐसा है कि दृष्टि-सम्पन्न कतिपय सेवाभावी बन्धु यदि इस दिशामे प्रयत्नशील हो तो ऐतिहासिक दृष्टिसे अतिउपयोगी एक कमीकी पूर्ति हो सकती है।'

उल्लिखित अभिनन्दन-ग्रन्थमे जब मैंने पण्डितजीका उक्त शुभकामना-लेख पढा और कोठियाजीने मुझे इस दिशामे कुछ लिखनेकी प्रेरणा की, तो मेरी उक्त विषयमे अध्ययन करनेकी उत्सुकता बढी, मैंने अपनी पी० एच० डी० के लिए मध्यप्रदेशके जैन पुरातत्त्वपर काम किया था, इसलिए भी इस लेखको लिखनेमें उत्साहित हुआ। अध्ययन करनेपर जो जानकारी एकत्रित कर सका। प्रसग पाकर उसे यहाँ दे रहा हूँ। इतिहास ऐसा विषय है, जिसमें अनुसन्धानकी अपेक्षा बनी रहती है।

गोलापूर्वान्वय :

'गोलापूर्वान्वय' मे गोलापूर्व और अन्वय ये दो शब्द हैं। इनमें 'अन्वय' शब्दके अनेक अर्थ हैं। अभिलेखोमें इस शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है। यह शब्द प्राय दो अर्थोमे व्यवहृत हुआ है—(१) आचार्य परपराको दर्शानेके लिए और (२) जैन उपजातियोके नामोके निर्देश करनेके लिए। जहाँ आचार्य-परम्पराको बताना इष्ट रहा है वहाँ 'अन्वय'का पूर्ववर्ती पद किसी-न-किसी आचार्यके नामसे युक्त मिलता है। यथा—कुन्दकुन्दान्वय,[1] भद्रान्वय,[2] देशनन्दिगुरुवर्यवरान्वय[3] आदि। इनमें क्रमश आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य भद्र और देशनन्दि गुरुओके नाम पूर्वपदमे आये है। अभिलेखोमें इसका उपयोग स्वयको ऐसे अन्वयोका अनुगामी बताने के लिए किया गया है।

अन्वयका दूसरा व्यवहार कुल और जातिके लिए हुआ है। इस अर्थमें अन्वयका पूर्वपद कोई ऐसा शब्द होता है, जिसका चौरासी जैन उपजातियोमें किसी-न-किसी जैन उपजातिसे सम्बन्ध रहता है। जैसे अहारके मूर्तिलेखोमे खडिल्लवालान्वय, जैसवालान्वय, पौरपाटान्वय, गोलाराडान्वय आदि मिलते हैं। यहाँ खन्डेलवाल आदि जैन उपजातियोके अर्थमें 'अन्वय' शब्द व्यवहृत हुआ है।

आचार्य जिनसेनने पिताके अन्वयकी शुद्धिको कुल और माताके अन्वयकी शुद्धिको जाति सज्ञा दी है।[4] आचार्य कुन्दकुन्दने भी देश, जाति और कुलकी शुद्धिपर बल दिया है और उनसे युक्त आचार्यको नमन किया है।[5] उनकी दृष्टिमें शुद्धि (गुण) विहीन जाति और कुल बन्द्य नही है।[6]

आचार्य समन्तभद्रने जाति और कुलकी शुद्धिको गौरवका विषय मानते हुए भी उनके अभिमानको मदोमे परिगणित किया है और आठ मदोमें कुल और जातिके मदोका भी उल्लेख किया है।[7]

इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कुल और जाति दोनो प्राचीन रहे हैं। भले ही उनमे परिवर्तन होता रहा हो। और ऐसा समयानुसार सम्भव भी है।

डॉ० अर्गलके अनुसार जाति समान वर्गके कुटुम्बोंका समूह होती है। इसका अपना निजी नाम होता है। विवाह आदि अपने समूहमें ही होते हैं। इसका उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुषसे बताया जाता है।[8] आचार्य जिनसेनने केवल नामकर्मसे उत्पन्न मनुष्यजातिका ही अस्तित्व स्वीकार किया है। उन्होंने आजीविकाके भेदसे उसके चार भेद बताये हैं।[9] यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि आचार्य सोमदेव सूरिने जातियोंकी अनेकताका भी उल्लेख किया है तथा उन्हें अनादि बताया है।[10] तात्पर्य यह है कि 'अन्वय' का अर्थ यहाँ जाति या उपजातिपरक विवक्षित है।

मूर्तिलेखोंमें जातिपरक अन्वयोंके उल्लेख :

मध्यप्रदेशकी प्राचीन प्रतिमाओं, मन्दिरों और शिलाखण्डोंसे उनतीस अन्वयोंके नामोल्लेख प्राप्त हुए हैं। उनकी संख्या निम्न प्रकार है—

क्र०	नाम अन्वय	संख्या	क्र०	नाम अन्वय	संख्या
१.	गोलाराडान्वय	१	१६	गुर्जरान्वय	२
२.	चित्रकुटान्वय	१	१७.	प्रागवाटान्वय	२
३.	दुम्वरान्वय	१	१८	मेडवालान्वय	२
४.	देउवालान्वय	१	१९.	लमेचुकान्वय	२
५.	नेवान्वय	१	२०.	वैश्यान्वय	२
६.	परपाटान्वय	१	२१.	अवधपुरान्वय	३
७.	परवाडान्वय	१	२२.	कुटकान्वय	३
८	पुरवाडान्वय	१	२३.	पौरपाटान्वय	४
९.	मइडितवालान्वय	१	२४.	गर्गराटान्वय	५
१०.	मडवालान्वय	१	२५.	वर्द्धमानपुरान्वय	६
११.	माथुरान्वय	१	२६.	खण्डेलवालान्वय	७
१२.	माधुन्वय	१	२७.	जैसवालान्वय	१२
१३	माधुवान्वय	१	२८.	गृहपत्यन्वय	१९
१४.	वैमकान्वय	१	२९.	गोलापूर्वान्वय	२६
१५.	धीमाल	१			

इनमें कुछ अन्वयोंके उल्लेख अशुद्ध और पुनरुक्त भी हो सकते हैं।

महाकवि आशाधरने भी तीन अन्वयोंका उल्लेख किया है। उनके नाम हैं—पोरवाड, बघेरवाल और खण्डेलवाल।[11] इनमें पोरवालको पुरवाडान्वयसे समीकृत किया जा सकता है।

उपजातियोंका उद्भव

प्राचीन साहित्य और अभिलेखोंमें मध्यकालसे पूर्व उपजातियोंके नाम-निर्देश न मिलनेसे ज्ञात होता है कि इस समय तक चार वर्णोंकी व्यवस्था गुणात्मकरूपसे चलती रही है। [illegible] कालान्तरमें शिथिलता आई। समाजके आचार-विचारमें परिवर्तन हुआ और यह उपजातियोंके उद्भवका कारण बना।[12]

एक उपजातिमें, उसीमें जनमे और विवाहित सदस्य रह गये। अन्य व्यक्ति उसमें प्रवेश नही पा सके।[१३] एक उपजातिका आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज दूसरी उपजातिसे भिन्न रहने लगा। वैवाहिक क्रियायें अपनी-अपनी उपजातिमे ही सम्पन्न होने लगी।[१४]

जैन उपजातियोका उद्भव

आचार्य जिनसेनके महापुराणमे आजीविकाके भेदसे चार वर्ण बताये गये है—१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वणिक् (वैश्य) और ४. शूद्र। इनमे वणिक् वर्णका कार्य न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना कहा गया है।[१५] मध्यप्रदेशके दूबकुण्ड स्थानसे प्राप्त सवत् ११४५ के यक प्रशस्तिलेखमे ऐसे वणिक्वशका उल्लेख है, जिसके एक श्रावकको 'श्रेष्ठी' पदसे विभूषित बताया गया है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वह श्रावक जिनेन्द्रका अर्चक और सम्यग्दृष्टि था। वह चारो प्रकारके पात्रोको दान देता था।[१६] अहारसे प्राप्त संवत् १२०३ (ई० ११४६) के एक मूर्ति-लेखमे वैश्य अन्वयके श्रावकोको जिनेन्द्रकी नित्य वन्दना करते हुए बताया गया है।[१७]

इन उल्लेखोके आधारसे कहा जा सकता है कि वणिक् या वैश्य एक ही वर्णके श्रावक थे। इनमें एक वर्ग ऐसा था, जिसके श्रावक जिनेन्द्रकी आराधना करते थे। व्यापार इनकी आजीविकाका साधन था। इस वर्गके आचार-विचारमे कालान्तरमे शिथिलताने जन्म लिया, जिससे अपनी विशुद्धि बनाये रखनेके लिए इस वर्गके लोग छोटे-छोटे वर्गोमें विभाजित हो गये। इनमें कुछ वर्गोके नाम उनकी निवास-भूमियोके नामपर रखे गये। जैसे चित्रकूटके जैन वैश्योने अपने वर्गका नाम 'चित्रकुटान्वय' रखा। इसीप्रकार गुर्जर देशके श्रावकोने अपने वर्गका नाम 'गुर्जरान्वय', अवधके निवासियोने 'अवधपुरान्वय', वर्द्धमानपुरके वासियोने 'वर्द्धमानपुरान्वय', खण्डेलाके निवासियोने 'खण्डेलवालान्वय' नाम रख लिए। कालान्तरमे ये नाम जैनोकी उपजातियाँ बन गयी और ये अपने-अपने वर्गोमें सीमित हो गयी। इनके विवाह आदि व्यवहार अपने वर्गमे ही होने लगे। इस प्रकार शनै-शनै प्रत्येक वर्गके आचार-विचार, खान-पान और रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो गये। यह कबसे हुआ, यह अन्वेषणीय है। पर सबका धर्म एक रहा, जिससे वे एक-दूसरेसे सम्बद्ध रहे।

गोलापूर्व

'गोलापूर्वान्वय' के उत्तरपद 'अन्वय' की विवेचना करनेके पश्चात् विवेच्य है पूर्वपद—गोलापूर्व। इसमें भी दो पद हैं—गोला और पूर्व।

इनमें 'गोला' कोई स्थान-विशेष रहा है। गोलापूर्वान्वयी जैन मूलत इसी स्थानके निवासी थे। यह स्थान वर्तमानमें कहाँ है, इस सम्बन्धमें विद्वानोकी निम्न धारणाएँ हैं—

डॉ जगदीशचन्द्र जैन—आपने इसे दक्षिणमें गुण्टूर जिलेकी गल्लक नदीपर स्थित 'गोलि' स्थानसे समीकृत किया है।[१८] अपनी एक अन्य कृतिमें एक 'गोल्ल' देशका उल्लेख करते हुए आपने उसे गोदावरी नदीके आसपासका प्रदेश बतलाया है। यहाँके निवासी काले और कठोर वचनभाषी होते है। चैत मासमें भी यहाँ ठड पडती है।[१९]

पं० परमानन्द शास्त्री—आपने 'गोला' स्थानको 'गोल्लागढ', वर्तमान गोलाकोटसे समीकृत किया है। उन्होने गोल्लागढकी स्थिति खनियाधाना स्टेट (अब मध्यप्रदेश) मे निर्देशित की है।[२०]

श्री प्रभुलाल पोहरी—आपने वर्द्धमानपुराणमे कहे गये 'गोयलगढ' को ग्वालियर किलेके अभिलेखोमें उल्लिखित 'गोइलगढ' से समीकृत किया है और "गोलापूर्वान्वय' का उद्भव ग्वालियरसे बताया है।[२१]

पं० नाथूराम प्रेमी—आपने एक प्रतिमालेखमे आया 'गोला' नामक स्थान सूरतके निकट स्थित महुआ और रानीतालको माना है और वहाँसे इस अन्वयका उद्भव बतलाया है।[२२]

प० मोहनलाल शास्त्री—आपने ओरछा और छतरपुर दोनो या एकको गोलापूर्वान्वयका उद्भव-स्थान बताया है। आपने लिखा है कि 'ओरछा स्टेट (मध्यप्रदेश) मे अहार और पपौरा तथा छतरपुर स्टेट (म० प्र०) में छतरपुर और महोबा ऐसे स्थान हैं, जहाँसे गोलापूर्वान्वयके प्रचुर मूर्तिलेख प्राप्त हुए हैं।' ग्वालियर स्टेट (म० प्र०) में इस अन्वयके अभिलेख प्राप्त न होनेसे उन्हें ग्वालियरको उसका उद्भव स्थान मानना इष्ट नही है। उनकी दृष्टिमे यह सब क्षेत्र 'गोला' कहा जा सकता है।[२३]

श्री विद्याधर जोहरापुरकर—आपने अपने 'भट्टारक सम्प्रदाय' ग्रन्थमे 'गोलाराडान्वय' का उल्लेख किया है। पर 'गोलाराड्' कहाँ रहा, इस सम्बन्धमे कुछ नही लिखा।[२४]

डॉ० दरबारीलाल कोठिया—आपने आहार क्षेत्रके पास स्थित 'गोलपुर' नामक एक ग्रामको 'गोला' से समीकृत किया है, क्योकि आहार क्षेत्रमे इस अन्वयकी प्रचुर मूर्तिया उपलब्ध है।[२५]

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल—आपने अपने 'खण्डेलवाल जैन समाजका वृहद् इतिहास' (पृ० ५८) मे लिखा है कि इस जातिका निवास गोल्लागढ (गोलाकोट) की पूर्व दिशामे रहा है। उसकी पूर्व दिशामे रहने वाले गोलापूर्व कहलाये।

समीक्षा

डॉ० जगदीशचन्द्र जैनका 'गोला' नामक स्थानको गुन्टूर जिलेके 'गोलि' स्थानसे समीकृत करना अभिलेख आदि साक्ष्योके अभावमे तर्कसगत नही है और न गोदावरीके आसपासका प्रदेश भी उनके अभावमे 'गोला' माना जा सकता है। तमिल, केरल आदिके लोग भी काले होते हैं। अत. उनका यह आधार भी उसमें सहायक नही है।

श्री प्रभुलाल पोहरीका सवत् १८२५ में लिखे गये नवलशाहके वर्द्धमान-पुराणमे आये 'गोयलगढ' को ग्वालियरके अभिलेखोमें आये 'गोइलगढ'से समीकृत करना और उसे गोलापूर्वान्वयका उद्भव-स्थल बताना युक्त नही है। इस सम्बन्धमे निम्न बाधक हैं—

(१) तीर्थंकर ऋषभदेवका गोयलगढ आना और वहाँके वैश्योको उपदेश देना तथा उसे उनके द्वारा ग्रहण करना ये ऐसी बातें है, जिनका आदिपुराण (९वी शती) मे[२६] कोई उल्लेख न होनेसे विश्वसनीय नही कही जा सकती हैं।

(२) नवलशाह स्वय गोलापूर्व जैन थे। ऐसी कथा लिखनेमे अतिशयोक्ति भी कर सकते हैं।

(३) ग्वालियरमे गोलापूर्वान्वयके कोई प्राचीन अभिलेख प्राप्त नही हुए। श्री प्रभुलालका यह कहना भी तर्कयुक्त नही है कि तैमूर और औरगजेबने गोलापूर्व समाजके मन्दिरो और मूर्तियोकी 'इतिश्री' कर दी है, क्योकि कोई कितना ही विनाश क्यो न करे, उनके अवशेष तो मिलते, जबकि एक भी अवशेष प्राप्त नही होता।

गोलापूर्वान्वयके सम्बन्धमे प्रचलित निम्न जनश्रुति भी इस विषयमें बलिष्ठ नही है—

> गोलापूरब वानिया गोयलगढ़के जान।
> पाणाशाह ता वंशमे सर्वप्रतापी मान॥[२७]

इस जनश्रुतिमे पाणाशाहको गोलापूरब बताया गया है। पर यूबोन रिपोर्टमें इसे अग्रवाल कहा है।[२८] दूसरे, यदि यह गोलापूर्व और सर्वप्रतापी था, तो इसके प्रतिष्ठित मदिर और मूर्तियाँ अवश्य उपलब्ध होते। अत प्रमाणोके अभावमे उक्त जनश्रुति भी कोई तथ्य प्रस्तुत नही करती।

प्रेमीजीके बताये सूरतके महुआ और रानीताल भी साक्ष्योके अभावमें 'गोला', नही है। अत वे इस अन्वयके उद्भव-स्थल सिद्ध नही होते।

प० मोहनलाल शास्त्रीने टीकमगढ जिलेके अहार और पपौरा तथा छतरपुर जिलेके छतरपुर और महोबासे प्राप्त अभिलेखोके आधारपर इन स्थानोको 'गोला' मानकर उनमेसे किसी एक स्थानको इस अन्वयका उद्भव-स्थल बताया है। पर वह सदेहास्पद है। यद्यपि टीकमगढ जिलेमें स्थित अहारक्षेत्रके पास मौजूद 'गोलपुर' ग्रामको 'गोला' से समीकृत किया जा सकता है और गोलपुरके निकट स्थित अहार और पपौरा ऐसे स्थल है, जहाँ गोलापूर्वान्वयके प्रचुर प्रतिमा-लेख उपलब्ध हैं। परन्तु गोलपुरमे वैश्योकी बहुलता नही रही, जो इस समाजको जन्म देते।

डॉ० कोठियाका भी सम्भावित यह गोलपुर इस अन्वयका इसी कारण उद्भव-स्थल सभव नही है।

गोलागढको 'गोला' स्थान माननेके सदर्भमे प० परमानन्दजी शास्त्रीका कथन तर्कसगत प्रतीत होता है। इसके निम्न हेतु है—

(१) गोल्लागढको वर्तमानमे गोलाकोट कहते हैं। यह मध्यप्रदेशके शिवपुरी जिलेमे खनियाधानासे छह किलोमीटर दूर है। यहाँ एक गोल पहाडीपर गोल कोट बना हुआ है। इस कोटके भीतर ११९ मूर्तियाँ हैं, जिनकी आसनोपर वि० स० १००० से १२०० (ई० ९४३ से ११४३) तकके अभिलेख अकित है। एक विशाल जैन मन्दिर भी बना हुआ है।[२९] अत यह स्थान (गोल्लागढ) 'गोला' कहा जा सकता है।

(२) चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोल) मे उल्लिखित ई० ११६३ के एक लेखमे गोल्लदेश और वहाँके राजाके किसी कारणवश (ससारभयसे) विरक्त होकर मुनि होने तथा उनके प्रसिद्ध आचार्य 'गोल्लाचार्य' नामका उल्लेख किया गया है, जो इस सन्दर्भमे ध्यातव्य है।

(३) उक्त चन्द्रगिरिसे ही प्राप्त एक अन्य लेखमें भी उक्त प्रकारसे उल्लेख किया गया है। विशेष यह कि उपर्युक्त राजाको गोल्लदेशका प्रसिद्ध भूपाल तथा अभिनव चन्देलवशनरेन्द्रचूडामणि कहा गया है। इसके साथ ही उन्हें वीरनन्दि विबुधेन्द्रकी परम्परामे होनेवाला प्रसिद्ध आचार्य गोल्लाचार्य बतलाया गया है।[30]

इन दो शिलालेखोंसे प्रकट होता है कि गोल्लदेश चन्देलवशी राजाओ द्वारा शासित क्षेत्र था और सम्भवत इसीको 'गोला' या 'गोल्ला' कहा जाता था। अब देखना है कि यह गोल्ला या गोला (गोल्ल) देश कहाँ है, जिस पर चन्देले राजाओका शासन रहा है। इतिहासकार डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने लिखा है कि ई० ८३१ मे नन्नुक चन्देलने इस वशकी स्थापना की थी और उसने खजुराहोको अपनी राजधानी बनाया था। धग इस वशका बडा महत्त्वाकाक्षी राजा था। खजुराहोका पार्श्वनाथ मदिर इस शासकके प्रथम शासन-वर्ष ई० ९५४ मे बना था। यह मुनि वासवचन्द्रका आदर करता था।[32] इसके पौत्र विद्याधरदेवके द्वारा ई० १०२८ में खजुराहोके शातिनाथ मदिरमे आदिनाथकी विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई गई थी। कीर्तिवर्मन् चन्देलके मत्री वत्सराजने देवगढमे दुर्ग बनवाकर उसका 'कीर्तिगिरि' नाम रखा था।[33]

मदनवर्मदेव इस वशका धार्मिक निर्माण-कार्योमे अधिक रूचि लेनेवाला प्रसिद्ध शासक रहा है। जगत्सागर (छतरपुर) और पपौरा (टीकमगढ) से ई० ११४५ के, मऊ (छतरपुर) से ई० ११४६ के, खजु-

राहो (छतरपुर) तथा अहार (टीकमगढ) से ई० ११४८, ११५५ और ११५८ के तथा महोबासे ई० ११६३ के प्राप्त अभिलेखोमे वहाँ मदनवर्मदेवका राज्य बतलाया गया है।

गोल्लागढ (गोलाकोट) इसकी सम्भवतः राजधानी थी और उसके चारो ओर उसका शासन था। शिवपुरी, टीकमगढ, छतरपुर, पन्ना, सागर, झासी और भिण्ड-भदावरका क्षेत्र उसके अन्तर्गत था। अहारका मदनसागर तालाब और सोरईके पास स्थित मदनपुर इसीके नामपर रहे मालूम होते है।

हम पहले कह आये है कि गोल्लागढके पास स्थित गोलपहाडीपर गोलपरकोटेके भीतर बने जैन मन्दिरमें ११९ मूर्तिया विराजमान है। इसके द्वारा शासित यह उपर्युक्त क्षेत्र गोलपहाडीके कारण ही 'गोला' या 'गोल्लदेश' के नामसे प्रसिद्ध हुआ हो, तो आश्चर्य नही है।

इसका शासन-काल ई० ११२९ से ११६३ माना जाता है। इसने अपने देशका ३४ वर्ष शासन किया है। इसके शासन-कालमें विभिन्न स्थानोपर अनेक जैन प्रतिमा-प्रतिष्ठाएँ हुई है। यह अपने पूर्वज धग, विद्याधरदेव आदिसे अधिक जैनधर्मप्रेमी था।

चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोला) के अभिलेखोमे आचार्य वीरनन्दी 'विबुधेन्द्र' की परम्परामे दीक्षित जिन प्रसिद्ध आचार्य गोल्लाचार्यका उल्लेख किया गया है और जिन्हे गोल्लदेशाधिप तथा चन्देलराजवशचूडामणि दीक्षाके पूर्व बताया गया है, वह राजा और कोई नही, मदनवर्मदेव (ई० ११२९-११६३) चन्देल ही था और उसका शासित क्षेत्र गोल्लदेश था।

यहाँ विचारणीय है कि उसकी विरक्ति और जैनधर्ममे दीक्षित होनेका कारण क्या है? इस विषयमे दो कारण प्रतीत होते है। एक तो यह कि गोल्लागढमे कोई प्रभावशाली जैन धर्मोपदेशक भट्टारक या विशिष्ट आचार-विचार सम्पन्न विद्वान् आया हो, जिनके प्रभावपूर्ण उपदेशसे जहाँ नगरका अधिकाश वैश्य समाज प्रभावित हुआ हो और उसने अपने आचार-विचारमें परिवर्तन किया हो वहाँ राजा मदनवर्मा (ई० ११६३) भी उनके उपदेशसे इतना प्रभावित हुआ हो कि उसने राज्यको तृणवत् त्यागकर चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोला, कर्नाटक) मे जाकर दिगम्बर जैन श्रमणकी दीक्षा ले ली हो और गोल्लदेशके राजा होनेसे वे 'गोल्लाचार्य' नामसे प्रथित हुए हो। वे जैनधर्मके अतिशय भक्त थे।

दूसरा कारण यह ज्ञात होता है कि इसके राज्यपर किसी दूसरे शत्रु राजाके द्वारा आक्रमण किया गया हो और जिसका मुकाबला कर सकना सम्भव न देखकर मदनवर्मा राज्यको त्यागकर दूरवर्ती एव पावन क्षेत्र श्रवणबेलगोला पहुँचे हों तथा वहाँ चन्द्रगिरिपर आ० वीरनन्दी 'विबुधेन्द्र' की परम्परामे दीक्षित हो गये हो। दीक्षा लेनेके पूर्व यत वे गोल्लदेशनरेश थे, अत वे 'गोल्लाचार्य' नामसे प्रख्यात हुए। यही सबब है कि अभिलेखोमे मदनवर्माके वैराग्यका स्पष्ट कारण न बताकर 'केन च हेतुना', 'किमपि कारणेन' (किसी कारणसे, कुछ कारणसे) मात्र कहा गया है। वह कौन शत्रु राजा था, जिसका आक्रमण मदनवर्माके लिए अपरिहार्य रहा, यह इतिहासके आलोकमे अन्वेषणीय है। ई० ११६३ के बाद मदनवर्माके विषयमे इतिहास मौन है। इसीलिए उसके सम्बन्धमे उक्त दो कारणोकी सम्भावना की गई है।

नगरके धार्मिक वैश्य समाज भी धर्मक्षतिके भयसे सुरक्षित दूसरे स्थानोपर चले गये हो। सपादलक्ष-देशपर म्लेच्छ (साहिबुद्दीन तुरुष्कराज) द्वारा आक्रमण किये जानेपर जैसे पण्डितप्रवर आशाधर (१३०० सवत्) बहुत परिवाराके साथ पूर्व स्थान माण्डलगढको छोडकर चरित्रनाशके भयसे धारापुरीमे जा बसे थे।

"गोला" शब्दके प्रसगसे इतना प्रासगिक कहनेके उपरान्त उसके उत्तरपद "पूर्व" पर भी विचार

किया जाता है। यहाँ 'पूर्व' पदसे पूर्व दिशा लिया जाना चाहिए। जो गोल्लागढकी पूर्वदिशामें आचार-विचार सम्पन्न वैश्य समाज रहता था और जैनधर्मका पालक था वे गोलापूर्व कहे जाते थे, उनके समीप उत्तरदिशामे जो धार्मिक वैश्य समूह रहता था, उन्हे गोलालारे या गोलाराड् कहा जाता था और जो भूषणोके परिधानमें अधिक रुचि रखते थे या उस देश (गोल्लदेश) के भूषण माने जाते थे उन्हे गोल्लश्रृङ्गार या गोल्लसिंघारेके नामसे अभिहित किया जाता था। ये उस नगरके वार्ड या मुहल्ले थे। ये वर्ग व्यवसायकी दृष्टिसे शताब्दियोंसे दूसरे नगरो एव गावोमे आते-जाते रहते थे। जो व्यापारके लिए पूर्व दिशाकी ओर गये वे वही बस गये। पर उन्होने मूलनिवासके नामको नही छोडा। वे उनके अन्वय, आम्नाय या जाति बन गई। जैसा कि मूर्ति-लेखोमें उल्लिखित है। जो परिवार गोल्लागढ और गोल्लदेशको छोडकर बाहर चले गये, उनके, परिवारोमें वृद्धि हुई तथा बादको वहाँसे और परिवार भी जाते रहे। उदाहरणार्थ खण्डेलवाल समाजके अनेक परिवार आसाम, बगाल, मध्यप्रदेश आदिके नगरो-गाँवोमे जा बसे है और सब खण्डेलवाल कहे जाते है। गोलापूर्व समाजके परिवारोमे ऐसा ही एक परिवार बहोरीबन्द (जबलपुर) के शान्तिनाथ-मन्दिर एव उस विशाल मूर्तिका निर्माता एव प्रतिष्ठाकारक है, जिसने संवत् १००० या १०१० या १०७० मे मदिर तथा मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। मूर्तिके पादपीठमे जो उत्कीर्ण लेख है उसमे 'गोल्लापूर्व आम्नाय' का स्पष्ट उल्लेख है। और इस आम्नायको 'उरुकृताम्नाये' पद देकर उन्नत (श्रेष्ठ) आम्नाय बतलाया है। वह परिवार था 'तर्क-तार्किकचूडामणिश्रीमन्माधवनन्दि' से अनुग्रहीत (उपकृत) या उनका कृपापात्र साधु श्री सर्वधर और उसका पुत्र महाभोज, जो धर्म, दान और अध्ययनमे रत रहता था। वह लेख निम्नप्रकार है—

> 'स्वस्ति सवत् १० फाल्गुन वदी ९ भौमे श्रीमद्गयकर्णदेवविजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भव-महासामन्ताधिपतिश्रीमद्गोल्हणदेवस्य प्रवर्धमानस्य श्रीमद्गोल्लापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायामुरु-कृताम्नाये तर्कतार्किकचूडामणि श्रीमन्माधनन्दिनानुगृहीत साधु. सर्वधर तस्य पुत्र धर्मदानाध्ययने रत महाभोज। तेनेद कारित रम्य शान्तिनाथस्य मन्दिरम्।"
>
> —प० बलभद्र जैन, भारतके दि० जैन तीर्थं (म० प्र०), पृ० ३७।

यह परिवार गोल्लागढको छोडकर यहाँ कब आया, कहा नही जा सकता। किन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इतनी विशाल (१३ फुट ९ इच अवगाहना तथा आसन सहित १५ फुट ६ इच ऊँची) खड्गासन मूर्ति एव उसके योग्य मन्दिरके निर्माणकी क्षमता और सम्पन्नता प्राप्त करनेके लिए तथा वहाँ स्थायी होनेके लिए १००-१५० वर्षका समय तो लगा होगा। अत यह परिवार मूल निवासको छोडकर ८वी, ९वी शताब्दीमें आया होगा।

प्रतिष्ठाके समय कलचूरिवशके राजा गयकर्णदेवका राज्य और उनके प्रभाक शासक राष्ट्रकूटकुलोद्भव गोल्हणदेवका प्रभावी शासन था। गयकर्णदेवका राज्य अनुमानत ई० ११११५ से ११५३ तक माना गया है।[35] यही समय गोल्हणदेवका जानना चाहिए। प्राय यही चन्देलनरेश मदनवर्माका इतिहाससम्मत शासनकाल ई० ११२९ से ११६३ तक माना जाता है।[36] जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने गोल्हणदेवका जन्म गोल्लदेशमे होने या गोल्लदेशका राजा होनेकी सम्भावना की है और उन्हे तथा गोल्लाचार्यको एक होनेका अनुमान किया है।[37] पर वे दोनो अलग-अलग व्यक्तित्व हैं। गोल्हणदेव राष्ट्रकूटवशी थे और गोल्लाचार्य चन्देलवशी थे। गोल्हणदेव कलचूरिनरेश गयकर्ण-देवके एक शासक थे, जिनका शासन बहोरीबद (जबलपुर) क्षेत्रमे था और गोल्लाचार्य दीक्षाके पूर्व गोल्ल-देशके नरेश तथा चन्देलनरेशचूडामणि थे, जिनका शासित क्षेत्र गोल्लदेश था, जो शिवपुरी, छतरपुर,

पन्ना, झाँसी और टीकमगढ तक था। अतः गोल्हणदेको गोल्लाचार्य माननेकी सम्भावना या अनुमान संगत नही है।

हाँ, शास्त्रीजीके इस विचारसे हम सहमत है कि 'बुन्देलखण्डके जिस अञ्चलमे गोलापूर्व, गोलालारे और गोलश्रृंगारके परिवार बसते आये है वह पूरा प्रदेश गोलाराड् कहा जाता रहा है।' उन्होंने जिस प्रदेशको गोलाराड् कहा है सम्भवत' वह गोल्लदेश ही है और वह बुन्देलखण्ड (उत्तर भारत) का ही अञ्चल है, दक्षिणका नही।

सीकरसे प्रकाशित 'चारित्रधर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ में और 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' भाग ४ के पृष्ठ ४४१ पर दी गई नन्दिसंघकी पट्टावलीमें बारहवें क्रमाकपर वि० स० ३५८मे संघके पट्टपर आरूढ हुए गुणनन्दिका नामोल्लेख हुआ है। और 'चारित्रधर्मप्रकाश' मे दी गयी, पट्टावलीके अनुसार पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने गुणनन्दिको दक्षिण देशस्थ भद्दलपुरका गोलापूर्व पट्टाधीश बताकर दक्षिगमें भी गोलापूर्वान्वयका आवास अनुमानित किया है। उनकी मान्यता है कि दक्षिणके जिस प्रदेशमें गोलापूर्वान्वयका पूर्वकालमें निवास रहा है वही गोल्लदेश है और गोलाराड्, गोलापूर्व तथा गोलश्रगार तीनों अन्वयोके वंशधर वहीसे आये हैं।[३८] इस सन्दर्भमे प्रथमत विचारणीय है कि शास्त्रीजीने आचार्य गुणनन्दिको गोलापूर्व किस आधारपर बताया है ? क्योकि 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' भाग ४ के पृ० ४४१ में दी गयी नन्दिसंघकी पट्टावलीमे गुणनन्दिके दक्षिणदेशस्थ भद्दिलपुरके पट्टाधीश होनेका उल्लेख तो किया गया है, किन्तु उनके गोलापूर्व होनेका कही कोई उल्लेख नही है। शास्त्रीजीने यदि 'चारित्रधर्मप्रकाश' मे कोई उल्लेख देखा हो, तो कहा नही जा सकता, क्योकि यह ग्रन्थ अबतक लेखकको अप्राप्त है। डॉ० नेमिचन्द्र जैन शोधी-खोजी विद्वान थे। यदि आचार्योंकी जातिके उल्लेख उन्हें प्राप्त हुए होते, तो वे उसके उल्लेख अवश्य करते।

दूसरे, यदि गोलापूर्वान्वयका वि० सं० ३५८ में जन्म हो गया था तो इस अन्वयके प्राचीन प्रतिमा-लेख आदि भी मिलना चाहिए थे। यथार्थमें गोलापूर्वान्वय ही नही, अन्य कोई अन्वय भी इस समयमें नही थे। यही कारण है कि उस समयके उनके कोई लेख प्राप्त नही होते है।

तीसरे, दक्षिणमे साक्ष्योके अभावमे न गोल्लदेशकी सम्भावना की जा सकती है और न ही गोलापूर्व, गोलाराड् और गोलश्रगार अन्वयोका उसे उद्भवस्थल स्वीकार किया जा सकता है। शास्त्रीजी इससे पूर्व इसी लेखके आरम्भमें बुन्देलखण्डके महोबा-भिण्ड-भदावर अञ्चलको गोल्लदेश या गोलाराड् सम्भावित कर आये है। किन्तु अब दक्षिणमे गोल्लदेश होनेकी सम्भावना कर रहे है, जो परस्परविरुद्ध है। चन्द्रगिरिके अभिलेखोमे ही गोल्लदेशका उल्लेख किया गया है और उन्हीमे उसका शासक चन्देलनरेशचूडामणिको बताया गया है, जिसने बादको दिगम्बर मुनि-दीक्षा आ० वीरनन्दि 'विबुधेन्द्र' की परम्परामें ग्रहण की थी और वे गोल्लाचार्यके नामसे प्रथित हुए थे। यह चन्देलनरेशचूडामणि मदनवर्मदेव चन्देलनरेश था और जिसने गोल्लागढ वर्तमान गोलाकोटपर ई० ११२९ से ११६३ तक शासन किया, जिसके अन्तर्गत शिवपुरी, टीकमगढ, छतरपुर, झाँसी, मदनपुर आदिका क्षेत्र था। ध्यातव्य है कि चन्देल राजवश उत्तरभारतमें ही रहा है, दक्षिणमे नही। इतने विचार-विमर्शके बाद हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते है कि चन्देलवंशी राजा मदनवर्माके द्वारा शासित गोल्लागढ ही गोल्लाराड् या गोल्लप्रदेश है। इसी प्रदेशसे इसके शासनकालमे प्रतिष्ठित सर्वाधिक जैन मूर्तियाँ एव जैन मन्दिर उपलब्ध हुए हैं। दक्षिणके किसी स्थानसे नही प्राप्त हुए।

साहित्यिक सन्दर्भ

जैन जातियोकी सख्या चौरासी बताई गई है। इनमे 'गोला' पदसे जिनके नाम आरम्भ हुए है उनमे तीन जातियाँ हैं—[1]गोलापूर्वान्वय, [2]गोलाराड् और[3] गोलश्रृंगार। माणिक्यसुन्दरसूरिकृत सवत् १४७८ के 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र-वाग्विलास' मे इन तीनका उल्लेख नही है, केवल 'गोला' नामक जातिका क्रमाक तिरेसठपर उल्लेख है।[39]

श्री पूर्णचन्द्र नाहर द्वारा अकारादिक्रमसे प्रकाशित नामावलीमे अठारहवें क्रमाकपर 'गोलावा' जातिका नाम आया है।[40] इसीप्रकार मोहम्मदशाहके समयकी जातियोमे 'गोलावाल'[41] और कवि लावण्यसमयकी कृति 'विमलप्रबन्ध' में 'गोलवाल' जातिका नामोल्लेख हुआ है।[42] श्रीसौभाग्यनन्दिसूरि रचित सवत् १५७८ के 'विमलचरित'मे अवश्य गोलाराड्, गोलसिंगारा और गोला इन तीन जातियोंके नामोल्लेख हुए है।[43] इनमे गोलापूर्व जातिका नामोल्लेख नही हुआ है। पर प्रतीत होता है कि इनमें 'गोला' शब्द गोलापूर्व जातिके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। गोलाराड्का प्रशस्तियोंमे गुलराड्, गोलाराडिय और गोलाराडयउ नामोंसे व्यवहार हुआ है।[44]

इन गोला, गोलावाल, गोलवाल, गोलाराड् और गोलसिंगारा जातीय नामोल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि इन नामोमे उनके आदिमें प्रयुक्त 'गोला' पद उस 'गोला' नामक स्थान या देशका सूचक है जहांके वे मूल निवासी थे। चौरासी जातियोमे अग्रवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल और मेडतवाल आदि अन्वयोंके नामोंसे यह सम्भावना होती है क्योंकि ये जातियाँ भी अपने स्थानविशेषोकी प्रकाशक है।

सवत् १८२५के नवलशाहकृत हिन्दी 'वर्द्धमान पुराण' तथा बख्तराम रचित सवत् १८२७ के 'बुद्धि-विलास' ग्रन्थमे 'गोलापूर्वान्वय' का नाम सर्वप्रथम दर्शाया गया है। इसके पश्चात् गोलाराड्, गोलसिंघारे आदिका उल्लेख किया गया है।[45]

प्रतीत होता है कि 'गोला' नामक स्थानसे उद्भूत जातियोमे गोलापूर्वान्वयके श्रावक सर्वप्रथम 'गोला' स्थानसे निकले थे। इसीसे वे 'गोलापूर्व' कहे गये। 'पूर्व' शब्दके दो अर्थ है—एक पूर्व दिशा और दूसरा किसी अन्यकी अपेक्षा पहले। 'पूर्व' पदके इन दोनो अर्थोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'गोलापूर्वान्वय' के श्रावकोने गोलाराड् और गोलसिंघारे अन्वयोसे पहले 'गोला' या 'गोल' नामक नगरसे निर्गमन किया था तथा वे वहाँसे पूर्व दिशाकी ओर जा बसे थे। सर्वप्रथम श्रावकके व्रत ग्रहण करने और सर्वप्रथम 'गोला' नगरसे निर्गमन करनेके कारण तथा गोलानगरसे पश्चात् निर्गमन करने वाले एव व्रत ग्रहण करनेवाले अपने परवर्ती अन्वयोंकी अपेक्षा अपनेको अपूर्व (विशिष्ट) बतानेके लिए सम्भवत इन्होने अपने समूहको 'गोला-पूर्वान्वय' सज्ञासे अभिहित किया था। यह मान्यता सवत् १८२७ तक अक्षुण्ण रही ज्ञात होती है। इस उल्लेखसे मदनवर्मदेवके वैराग्यके सम्बन्धमे पहले की गयी कल्पना भी युक्त प्रतीत होती है।

इस प्रकार गोल्लागढ, मऊ, महोबा, खजुराहो, छतरपुर, मलहरा, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, मदनपुर, अहार, पपौरा, सोनागिरि आदि जिन स्थलोसे मदनवर्मदेव चन्देलके अभिलेख प्राप्त होते है वे स्थल तथा वर्तमान छतरपुर, टीकमगढ, पन्ना, दमोह, सागर, ग्वालियर, खनियाधाना, भिण्ड और उत्तरप्रदेशके झासी व ललितपुर जिले 'गोल्लदेश' के नामसे विख्यात रहे प्रतीत होते है। गोल्लागढ सम्भवत राजधानी थी।

इतिहासकार रतिभानुसिंह नाहरने सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड और दक्षिणमे जबलपुरके पडौसका प्रदेश मदन-वर्मदेव चन्देलके राज्यमे सम्मिलित रहा बताया है।[46] उन्होने मदनवर्मदेवका अन्त कैसे हुआ, इसका कोई उल्लेख नही किया है। पर इस सम्बन्धमें अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि ई० ११६३ में किसी कारणसे विरक्त

होकर उसने दक्षिणकी ओर प्रस्थान कर श्रवणबेलगोलमें चन्द्रगिरिपर मुनि वीरनन्दी या उनकी परम्परामे हुए किसी आचार्यसे मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। ई० ११६३ के पूर्व ही इसका राज्य गोल्लदेशके नामसे विख्यात हो गया था। परन्तु इसका नामोल्लेख अब तक चन्देल राज्यसे प्राप्त किसी भी अभिलेखमें प्राप्त नही होता।

गोल्लागढ (गोलाकोट) को गोल पहाडीपर स्थित जैनमन्दिरकी मूर्तियोके अभिलेखोके मूलपाठ इस सन्दर्भमें पठनीय है। सम्भवत उनमे गोल्लदेशका नाम उल्लिखित हो।

हम यह पुनः कहेगे कि चन्देल-शासकोका शासन उत्तरभारतमें रहा है। इस वंशका सस्थापक नन्नुक चन्देल (ई० ८३१) था। उसने खजुराहो (छतरपुर) को अपनी राजधानी बनायी थी। इस वशमे धंग (९५४ ई०), विद्याधरदेव (ई० १०२८), कीर्तिवर्मन् जैसे चन्देले राजा शासक हुए। इस सन्दर्भमे डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित 'भारतीय इतिहास एक दृष्टि' दृष्टव्य है, जो भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित है।

गोलापूर्वान्वयके गोत्र

'गोत्र' जैनदर्शनके आठ कर्मोमे सातवाँ कर्म है।[४७] धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ७७ मे गोत्रका अर्थ कुल या वश बताया गया है।[४८] परन्तु जातियोके सन्दर्भमे गोत्रका अर्थ बैक होता है। कवि नवलशाहने इसी शब्दका व्यवहार किया है। उन्होने दो सवैया और एक दोहेमें गोलापूर्वान्वयके अट्ठावन बैक बताये हैं। उनके नाम कविके शब्दोमे निम्न पद्योमें द्रष्टव्य है—

खाग, फुसकेले और चन्देरिया, मरैययौ पपौरहा, बनोनहा, सु टेटबार जानिये।
भर्तपुरिया, छोरकटे, कोठिया, दुमेले औ बरघरिया, जुझौतिया, बेरिया, बखानिये॥
इन्द्रमहा (जन), खुर्देले, भिलसैया, रौतेले, जनहारिया, निर्मोलक, तिगेले प्रमानिये।
धौनी, पैथवार, रहदेले, कपासिया, गोदरे गुगौरिया, बबोलिया जु ठानिये॥
दडकार सरखडे, साधारण, टीकाके, रावत, बदरोठिया, सोनी, सोसरा सु लीजिये।
पतरिया, घुघोलिया, गडोले, पचलौरे, सनकुटा, सोरया, हीरापुरिया सुनीजिये॥
कनकपुरिया, कनसेनियाँ, पटौरहा सु विलविले, नाहर, करैया, साधेले गणीजिये।
पडैले, सैनियाँ, दरगैयाँ, सपोतहा मझगैयाँ, लखनपुरिया, बोदरे गनीजिये॥
सिरसपुरिया, कोनियाँ ये अट्ठान बैक। 'नवल' कहे सक्षेपसे निजकुल वरणो नेक॥[४९]

कविने इन पद्योमे जिन बैकोके नाम बताये है वे क्रमश निम्न प्रकार हैं—

१ खाग, २. फुसकेले, ३ चन्देरिया, ४ मरैया, ५ पपौरहा, ६ बनोनहा, ७ टेंटवार, ८ भर्तपुरिया, ९ छोरकटे, १० कोठिया, ११ दुमेले, १२. बरघरिया, १३. जुझोतिया, १४ वेरिया, १५ इन्द्रमहा, १६. खुर्देले, १७. भिलसैया, १८ रौतेले, १९. जनहारिया, २०. निर्मोलक, २१. तिगैले, २२. धौनी, २३. पैथवार, २४. रहदेले, २५. कपासिया, २६ गोदरे, १७. गुगौरिया, २८ ववोलिया, २९ दैन्डकार, ३०. सरखडे, ३१. टीकाके, ३२ रावत, ३३ वदरोठिया, ३४. सोनी, ३५. सोसरा, ३६. पतरिया, ३७. घुघोलिया, ३८. गडोले, ३९ पचलौरे, ३० सनकुटा, ४१. सोरया, ४२. हीरापुरिया, ३३ कनकपुरिया, ४४. कनसेनियाँ, ४५ पटोरहा, ४६ विलविले, ४७ नाहर, ४८. करैया, ४९ साधेले, ५० पडेले, ५१ सेनिया, ५२. दरगैयाँ, ५३. सपोतहा, ५४. मझगैयाँ, ५५. लखनपुरिया, ५६ वोदरे, ५७ सिरसपुरिया और ५८. कोनियाँ।

गोत्र-नामकरण

अन्वयोंके सृजनमें जैसे प्रधानत उनकी चारित्रिक विशुद्धि कारण रही है, ऐसे ही गोत्रोके सृजनमें भी

सम्भवत यही कारण रहा है। अन्वयोके नामकरण जैसे उनकी मूल निवासभूमियोंपर हुए, ऐसे ही गोत्रोंके नाम भी उनके मूल निवासस्थानोके नामोपर रखे गये ज्ञात होते हैं। जिन गोत्रोंके नाम इस प्रकारके प्रतीत होते हैं उनके मूल निवासस्थानोका परिचय निम्न प्रकार है—

१ चन्देरिया . इस बैकका नाम चन्देरी, जो थूवन (थूवोन) के पास है, के नामपर रखा गया ज्ञात होता है।

२ पपौरहा मध्यप्रदेशके टीकमगढ जिलेमें टीकमगढ़से नातिदूर पपौरा एक अतिशय क्षेत्र है। यहाँ सवत् १२०२ के दो मूर्तिलेख ऐसे हैं, जिनमे गोलापूर्वान्वियका उल्लेख हुआ है। अतीतमें इस अन्वयके परिवारोकी यह आवासभूमि रही है। वे किसी कारणवश अन्यत्र चले गये। परन्तु उन्होने अपनी जन्मभूमिको नही भुलाया। उन्होंने पपौराके मूलनिवासी होनेके कारण अपने गोत्रका नाम 'पपोरहा' रखा।

३ बनोनहा यह नाम बुन्देलखण्डके 'बनेडिया' ग्रामके नामपर रखा गया जान पडता है। इस ग्रामकी स्थिति ज्ञात नही हो सकी है।

४ भर्तपुरिया सेदपा और मलहराके बीच 'भरतपुरा' एक ग्राम है। इस ग्रामके नामपर इस गोत्रका नाम प्रसिद्ध हुआ ज्ञात होता है।

५ बरघरिया यह नाम मूलत 'बरखरिया' ज्ञात होता है। रहलीके पास 'बरखेरा' ग्रामके नामपर इसका नामकरण हुआ होगा। इस ग्राममे आज भी गोलापूर्वोका आवास है।

६ बेरिया टीकमगढ जिलेमें एक 'बेरी' नामक ग्राम बताया गया है, जिसके नामपर इस गोत्रका नाम रखा गया। आगरा-शिवपुरी रोडपर बसे 'बरई' गाँवके नामपर भी यह नाम रखा जाना सभावित है।

७ इन्द्रमहा जबलपुर जिलेमें सिहोरा-मझगवाँके पास एक 'इन्द्राना' नामका ग्राम है। जहाँ जैन भी है। इस गोत्रका नाम इसी ग्रामके नामपर रखा गया ज्ञात होता है।

८ भिलसैंया टीकमगढ जिलेके 'भेलसी' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नाम रखा गया प्रतीत होता है।

९ जनहारिया इस गोत्रका नाम मूलत 'जतहारिया' होना चाहिए। टीकमगढसे पास एक 'जतारा' ग्राम है। उसके नामपर इसका नामकरण हुआ कहा जा सकता है।

१० जुझोतिया 'जुझार' ग्रामके नामपर इसका नाम रखा गया है।

११ तिगेले यह बुन्देलखण्डके 'तिगोडा' ग्रामके नामपर रखा गया।

१२ घौनी मलहराके पास 'घिनौची' ग्रामका सूचक है।

१३ पेथवार विदिशासे ५० मील दूर उत्तर-पूर्वमें स्थित पथारि ग्रामपर इसका नामकरण हुआ है।

१४ रहदेले इस गोत्रके श्रावक सम्भवत मूलरूपसे 'रहली' के वासी थे।

१५ गोदरे यह नाम या तो खनियाधानासे आठ किलो मीटर दूर स्थित 'गूडर' या 'गोदलमऊ' ग्रामके नामपर रखा गया है।

१६ गुगौरिया बण्डा तहसीलके "गूगरा" ग्राम पर यह नाम रखा गया है।

१७ ववोलिया यह नाम मूलत बमोलिया होगा और "बम्हौरी" ग्रामके नाम पर इसका नामकरण हुआ होगा।

१८ सरखडे इस गोत्रका नाम दमोह जिलेके "सरखडी" ग्रामके नाम पर रखा गया हो।

१९ टीकाके यह सागर जिले के "टीकापार" ग्रामका सूचक है।

२० रावत . सागर जिलेके 'हरावन'' ग्रामके नामपर इसका नामकरण हुआ है।

२१ ववरौठिया बण्डाका ''बरायठा'' ग्राम इसका उद्भव स्थल है।

२२ सोंसरा सागरका समीपवर्ती ''सेसई'' ग्राम इस गोत्रका मूल निवास रहा है। इसी ग्रामके नामपर इसका नाम रखा है।

२३ गड़ौले इस गोत्रके पूर्वज संभवत. शिवपुरी जिलेमे ''गुडार'' ग्रामके निवासी थे, अत यह नाम उन्होने इस ग्रामके नामपर रखा है।

२४ पचलोरे : इसका नामकरण सम्भवत शिवपुरी जिलेके ''पचरई'' ग्राम पर हुआ है।

२५ सोंरया . यह गोत्र ललितपुर जिलेके ''सोरई'' ग्रामकी देन है।

२६ हीरापुरिया यह गोत्र ''हीरापुर'' ग्रामके नामपर निर्मित हुआ है।

२७ कनकपुरिया : अपभ्रंश भाषाके विद्वान रइधूने सोनागिरिको ''कणयद्दि''—कनकगिरि कहा है। इससे ज्ञात होता है कि यह गिरितले बसा ग्राम ''कनकपुरी'' के नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। मंदिर नं० १६में विराजमान गोलापूर्वान्वयकी स० १२१३ की एक पद्मासनस्थ प्रतिमासे प्रतीत होता है कि यहाँ गोलापूर्व श्रावकोका भी आवास था। इस गोत्रका नाम इसी कनकपुरीके नामपर रखा गया है।

२८ पटोरहा इसका नाम रहलीके समीपवर्ती 'पटना' अथवा 'पटेरा' (कुण्डलपुर) के नामपर रखा गया प्रतीत होता है।

२९ विलविले : यह नाम करेलीके समीपवर्ती 'विलहरा' ग्रामके नामपर रखा गया कहा जा सकता है।

३० करैया ग्वालियरका 'करहिया' ग्राम, जहाँके निवासी वरैया-विलास ग्रन्थके लेखक पण्डित लेखराजजी थे, इसका उद्भव स्थल है।

३१ सोनो यह वकस्वाहाके निकटवर्ती 'सुनवाहा' ग्रामके नामपर निर्मित गोत्र है।

३२ कनसेनिया कटनीके पास एक प्राचीन स्थल है—'कारीतलाई'। इसका प्राचीन नाम कर्णपुर था। यह गोत्र सम्भवतः इसी ग्रामके नामपर बना है।

३३ पड़ेले 'पिडरुआ' या 'पडवार' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नामकरण हुआ है।

३४ सैंनिया सेनपा (सेंधपा) के नामपर निर्मित गोत्र है।

३५ दरगैंया इस गोत्रके निवासी मूलत. 'दरगुवा' के निवासी थे।

३६ मझगैंया . जबलपुर जिलेके 'मझगुवा' गावके नामप र इस गोत्रका नामकरण हुआ है।

३७ लखनपुरिया खानियाधानाके पास स्थित 'लखारी' ग्राम इस गोत्रका मूल निवास प्रतीत होता है।

३८ बोदरे यह गोत्र खनियाधानासे लगभग आठ मील दूर स्थित 'निबोदा' ग्रामके नामपर निर्मित ज्ञात होता है।

३९ कोनियां पाटनके पास हिरननदीके तटपर स्थित 'कोनी' ग्रामके नामपर इस गोत्रका नामकरण हुआ कहा जा सकता है।

ध्यान रहे, ये नाम उसीप्रकार प्रसिद्ध हुए, जिसप्रकार जयपुरिया, जोधपुरिया आदि नाम प्रचलित हैं। और वे गोत्र बन गये।

गोत्र-सूचीमे कुछ नाम ऐसे भी है, जो मूल निवासस्थानोके नामपर निर्मित न होकर श्रावकोंके प्रमुख व्यवसायके नामोपर निर्मित हुए है। ऐसे गोत्रोके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ कोठिया : कोठारका कार्य करने वाले श्रावकोका गोत्र।

२ दुमेले — विवाह आदिसे या अन्य किसी युक्तिसे विरोध समाप्त कर दो व्यक्तियोका मिलाप कराने वाले श्रावकोका गोत्र है।

३ कपासिया — कपासका व्यवसाय करने वालोका गोत्र

४ दंडकार — प्रशासन करके आजीविका करनेवालोका गोत्र।

५ सनकुटा — सनके व्यापारियोका गोत्र।

जिन शेष चौदह गोत्रोके नामकरणका आधार अन्वेषणीय हैं उनके नाम हैं—

१. खाग, २ फुसकेले, ३ मरैया, ४ टेंटवार, ५ छोरकटे, ६ खुर्दले, ७. रौतेले, ८ निर्मोलिक, ९ सपोतहा, १० पतरिया, ११ घुघोलिया, १२ नाहर, १३ साधेले, १४ सिरसपुरिया।

वर्तमानमे उपलब्ध गोत्र

नवलशाह द्वारा बताये ५८ गोत्रोमें निम्न गोत्र ही सम्प्रति परिचयमें आते है। यथा—

१ खाग, २ फुसकेले, ३ चन्देरिया, ४ मरैया, ५ वनोनहा, ६ टेंटवार, ७ कोठिया, ८. जुझोतिया, ९ वैरिया, १० खुर्दले, ११ गोदरे, १२ गडोले, १३ सनकुटा, १४ सोरया, १५ नाहर, १६ सांधेले, १७ पडेले, और १८ पटोरहा (पटोरिया), १९ कपासिया।

वर्तमानमे कुछ गोत्र ऐसे भी मिलते है, जिनका इस सूचीमे उल्लेख नही है। मलैया (मालवीय) और चौसरा ऐसी ही गोत्र है। सूचीमे एक सोसरा गोत्रका उल्लेख है, जो सम्भवत कालान्तरमें चौसरा हो गया है। राघेलीय गोत्र रहदेलेका अपरनाम ज्ञात होता है। मलैया, जिसे मालवीय कहा जाने लगा है, मरैया गोत्र-का अपर नाम है।

ब्राह्मण-गोत्र

नवलशाहके अठ्ठावन गोत्रोमें उपलब्घ रावत और जुझौतिया गोत्र ब्राह्मणोंमे भी पाये जाते हैं। रावत गोत्र खण्डेलवालोमे भी पाया जाता है। ब्राह्मणोमे एक "गोलापूर्व" गोत्र भी होता है। इस गोत्रके ब्राह्मण राजस्थानमे जयपुर, जोघपुर, धौलपुर, कोटा, भरतपुर, उत्तरप्रदेशमें आगरा तथा मध्यप्रदेशमें इन्दौर, खण्डवा और नरसिंहपुर जिलोमें बसे हुए हैं। मध्यप्रदेशके होशगाबादमें तो गोलापूर्व ब्राह्मणोका एक पृथक् वार्ड ही बताया गया है।

गोलापूर्व ब्राह्मण-गोत्रका उद्भव

जैन 'गोलापूर्वान्वय'के समान इस गोत्रके ब्राह्मण मूलत गोल्लदेशके निवासी ज्ञात होते हैं। सम्भवत ये भी जैनधर्मोपदेशकके उपदेशसे प्रभावित होकर जैन हो गये थे। किन्तु जैनधर्मको किसी कारणवश अगीकार करनेमें असमर्थ हो जानेसे ये पुन अपना पूर्व वैष्णव धर्म मानने लगे। जिन ब्राह्मणोने अपने धर्मको नही छोडा था, उन्होने इन्हे जाति-च्युत समझकर अंगीकार नही किया, फलस्वरूप ये ब्राह्मण गोलापूर्वगोत्रके नामसे प्रसिद्ध हुए और ये परस्परमे ही अपना सामाजिक व्यवहार करने लगे।

बताया जाता हैं कि ये मूलत कृषक है। गोपूजक है। कच्चा भोजन सजातियोके घर करते हैं। विजातियोंके घर पक्का भोजन ही ग्रहण करते है। इनके आचार-विचार अग्रवालोके आचार-विचारोके समान होते है।

गोलापूर्वान्वयके तीन भेद

नवलशाह कृत हिन्दी वर्द्धमान-पुराणमे इस अन्वयके तीन भेद (समूह) बताये गये है—१. बीसविसे, २ दसविसे और ३ पचविसे। उन्होने लिखा है—

गोलापूरब भेद त्रय, प्रथम विसविसे जान।
और दसविसे, पचविसे, कहो कहाँ तक गुणवान ।।

इन भेदोके सम्बन्धमे विद्वानोकी धारणा रही है कि ४०० परिवारोका समूह वीसविसे, दोसौ परिवारोका समूह दसविसे और १०० परिवारोका समूह पचविसे कहलाता है। नाममे ऐसा अर्थ निकलता भी है। किन्तु यहाँ यह संख्या इस अर्थमे प्रयुक्त नही हुई है। यह सख्या इनकी विशुद्धिकी प्राचीनताकी सूचक है। यहाँ "विसविसे"का अर्थ है ऐसे गोलापूर्व जो ४०० वर्षसे विशुद्ध है, जिनके कुल और जातिकी चारित्रिक विशुद्धि ४०० वर्ष पूर्वसे यथावत् बनी हुई है, जो सज्जातित्वके धनी है, जिन्हे सप्तपरमस्थानोमे प्रथम स्थान प्राप्त है।

जो केवल २०० वर्ष पूर्वसे अपनी चारित्रिक निर्मलता बनाये हुए रहे, वे श्रावक "दसविसे" और जो जाति तथा कुलकी विशुद्धिसे १०० वर्ष पूर्वसे ही विभूषित है वे "पचविसे" नामसे विश्रुत हुए।

आर्थिक सम्पन्नता और धर्म-वात्सल्य

गोलापूर्वान्वयकी आर्थिक सम्पन्नता और उसका धर्म-वात्सल्य प्रशस्य तथा अनुकरणीय रहा है। इस अन्वयके श्रावको द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियो और मन्दिरोसे इस तथ्यका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस अन्वय द्वारा की गयी प्रतिष्ठाओका विवरण निम्न प्रकार है—

स्थान	समय	संख्या	स्थान	समय	संख्या
उर्दमऊ	सवत् ११४९	१	बहोरीबन्द	स० १०००	१
,,	स० ११७१	१	मऊ	स० ११९९	२
जतारा	स० ११९९	१	जगतसागर	म० १२०२	१
अहार	सं० १२०२	१	पपौरा	स० १२०२	२
मऊ	स० १२०३	१	अहार	स० १२०३	५
छतरपुर	स० १२०५	१	अहार	स० १२०९	२
अहार	स० १२१३	१	सोनागिरि	स० १२१३	१
अहार	सं० १२१८	१	अहार	स० १२३७	३
अहार	स० १२३१	१	महोबा	स० १२१९	१
अहार	सं० १२८८	१	नावई—नवागढ (ललितपुर)	स० १२०३	१
क्षेत्रपाल (ललितपुर)	स० १२०२	१			

मध्यप्रदेशमे उनतीस अन्वयोके श्रावकोने प्रतिमा-प्रतिष्ठान-समारोह सम्पन्न कराये है। इन अन्वयोमे सर्वाधिक २६ प्रतिमा-प्रतिष्ठायें गोलापूर्वान्वय द्वारा कराया जाना उनकी आर्थिक सम्पन्नता और धर्म-वात्सल्यका द्योतक है। प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने भी इस अन्वयके धर्मवात्सल्यकी सराहना की है। प्रतिमा-प्रतिष्ठा जैसे धार्मिक कार्योमें इस अन्वयके श्रावक अन्य अन्वयोका सहयोग करनेमे भी पीछे नही रहे।[५२]

धी-सम्पन्नता

श्री-सम्पन्नताके समान धी-सम्पन्नता भी इस अन्वयकी उल्लेखनीय रही है। साहित्य-सृजन करने[५३] और करानेमे[५४] भी ये पीछे नही रहे। कुछ साहित्यकार निम्न प्रकार है—

शकर—कवि शकर अपभ्रशके विद्वान् थे। इन्होने "हरिषेण—चरिउ" की रचना की थी। यह कृति

संवत् १५२६ के भाद्र मासमें शुक्ल पक्षकी परिवा, सोमवारके दिन पूर्ण हुई थी। कविके पिता पण्डित भीमदेव गोलापूर्व थे। उन्होने लिखा है—

गोलापुव्ववंस सुपवित्त भीमदेउ पडितवउ पुत्त
संकर कया पुरह यह कहो दिक्खाकारण कीमउ चौपही
संवत् पद्रह मह हो गये वख्ति छव्वीस अधिक तह भए
भादव सुदि परिवा ससिवार दिक्खा पखु तह अक्खियउसाउ
अब यह कव्बु सपूरण भयउ सिरि हरिषेण सघ कहु जयउ ॥[५५]

पहुण—ये सानपति गोलापूर्वके सुपुत्र थे। इन्होने सवत् १५४० मे "उत्तरपुराण" की रचना कर साहित्य-समृद्धिमे योगदान किया था।[५६]

सुखदेव—ये गोलापूर्व विहारीदास पचविसेके सुपुत्र थे। इन्होने सवत् १७१७ मे "वणिक्प्रियाप्रकाश" की रचना की थी। इनके परिचयसम्बन्धी निम्न दोहे हैं—

गोलापूरब पचविसे वादि विहारीदास।
तिनके सुत सुखदेव कहि वनिकप्रियाप्रकाश ॥
संवत् सत्रहसे सत्रह बरष स वत्सरके नाम।
कवि करता सुखदेव कहि लेखक मायाराम ॥[५७]

धनराज—ये शिवपुरीके राजनन्द गोलापूर्वके पुत्र थे। इन्होने सवत् १६६४ के आसपास भक्तामर-स्तोत्रका पद्यानुवाद कर उसका "भव्यानन्दपचाशिका" नाम रखा था। यह सचित्र प्रति मुनि कातिसागरके पास बताई गई है।[५८]

खड्गसेन—ये धनराजके चाचा जिनदासके पुत्र थे। इन्होने (भक्तामरके) एक-एक काव्यपर पन्दह-पन्द्रह पद्य बनाये थे।[५९]

नवलशाह—इनके पिताका नाम सिंघई देवराय चन्देरिया और माताका नाम प्रानमती था। खटौरा इनकी जन्मभूमि थी। इनके तीन छोटे भाई थे—तुलाराम, घासीराम और खुमानसिंह। इनके पूर्वज भेलसीके निवासी थे। पूर्वजोमें भीषम साहूने स० १६९१ मे प्रतिष्ठा कराई थी। उस समय ओरछानरेश जुझारसिंह-का शासन था।[६०] इन्होने स० १८२५ मे चैत्र शुक्ल पूर्णिमाके दिन "वर्द्धमान-पुराण" की रचना की थी।[६१]

बीसवीं शतीमें हुए इस अन्वयके निर्ग्रन्थ मुनि—इस शताब्दीमे मुनि आदिसागरका नाम ध्यातव्य है। वे २८ मूलगुणोके धारक थे। सरलता व और सन्तोषवृत्ति उनके जीवनके अग थे।

क्षु० चिदानन्दजी कठोर तपस्वी एव ज्ञानप्रचारक थे। उनसे बुन्देलखण्ड बहुत प्रभावित रहा। क्षु० पद्मसागरजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी थे। इनकी समाधि द्रोणगिरिमे हुई थी।

वर्तमानमें आचार्य विद्यासागरजी महाराजके संघस्थ मुनि क्षमासागरजी, मुनि गुप्तिसागरजी, ऐलक अभयसागरजी, क्षु० उदारसागर जी तथा अन्य संघस्थ मुनि विरागसागरजी, क्षु० कामविजयनदिजीके नाम उल्लेखनीय हैं।

विद्वान्—इस अन्वयके विद्वानोमे सर्वाधिक वयोवृद्ध मनीषी प० मुन्नालालजी न्यायतीर्थ राघेलीय सागर एव सिद्धान्ताचार्य प० बशीधर शास्त्री व्याकरणाचार्य बीनाके नाम उल्लेखनीय है। अनेक साहित्यिक रचनाओ द्वारा इन्होने समाजको गौरवान्वित किया है।

दर्शन एव न्यायके क्षेत्रमे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे सेवानिवृत्त रीडर डॉ० दरबारीलाल

कोठिया न्यायाचार्य, सिद्धान्तके क्षेत्रमे षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त-ग्रन्थोके सम्पादक स्व० पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री हैदराबाद, पुराणोके सम्पादन तथा साहित्यिक रचनाओके क्षेत्रमे डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य सागर, सम्पादन-प्रकाशनके क्षेत्रमे प० मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर और इतिहासके क्षेत्रमे स्व० प० परमानन्द शास्त्री, दिल्लीकी साहित्यिक सेवाएँ जैन जगतमे सदैव स्मरणीय रहेंगी।

शासकीय शिक्षा-संस्थाओमें विभागाध्यक्षोके रूपमे डॉ० गोकुलचन्द्र वाराणसी, डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर, डॉ० रतनचन्द्र जैन भोपाल, डॉ० पवनकुमार जैन सागर, तथा महाविद्यालयोकी शैक्षणिक सेवामे सलग्न डॉ० वीरेन्द्रकुमार जैन छतरपुर, डॉ० भागचन्द्र "भागेन्दु" दमोह, प्रो० राजकुमार जैन ग्वालियर, डॉ० उदयचन्द्र जैन उदयपुर, डॉ० सनतकुमार जैन जयपुर, डॉ० श्रेयासकुमार जैन जयपुर, डॉ० विनयकुमार जैन दमोह तथा भारतीय ज्ञानपीठके शोधाधिकारी प० गोपीलाल "अमर" प्रभृतिकी शैक्षणिक सेवाओके लिए समाज उन्हे सदैव स्मरण रखेगा।

डॉ० बालचन्द्र जैन पुरातत्त्वके क्षेत्रमे, ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेके क्षेत्रमे श्री नीरज जैन, बोधकथाओके लेखन-क्षेत्रमें श्री नेमीचन्द्र पटोरिया श्रीमहावीरजी, चिकित्साके क्षेत्रमे प्रो० डॉ० नरेन्द्रकुमार पटोरिया बम्बई, वैद्य कामताप्रसाद गुढा, पत्रसम्पादनके क्षेत्रमे डॉ० नेमीचन्द्र जैन, इन्दौरकी सेवाओसे समाज लाभान्वित है। प्राचार्यके रूपमे डॉ० शीतलचन्द्र जैन जयपुर, पं० जयकुमार साढूमल और प० नेमीचन्द्र खुरईके नाम उल्लेखनीय है।

प्रतिष्ठाचार्योमे प० गुलाबचन्द्र पुष्प टीकमगढ, पं० जगनप्रसाद टीकमगढ, प० विजयकुमार शास्त्री श्रीमहावीरजी, पं० हरिश्चन्द्र साहित्याचार्य मुरैना, प० धर्मचन्द्र शास्त्री ग्वालियर, प० गोविन्ददास कोठिया अहार (टीकमगढ), स्व० प० शीलचन्द्र साढूमलके नाम उल्लेखनीय है।

राष्ट्रीय सेवा करनेवाले अधिकारियोंमे श्री सुरेश जैन आय० ए० एस०, संचालक लोकशिक्षण म० प्र० शासन भोपालका नाम बहुचर्चित है। कमिश्नर कन्हैयालाल सधीका नाम भी ससम्मान लिया जाता है।

राजनीतिके क्षेत्रमें भी इस जातिका योगदान है। श्री रतनलाल मालवीय भू० पू० केन्द्रीय उपमन्त्री, डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी, भू० पू० विधायक विंध्यप्रदेश, श्री कपूरचन्द्र घुवारा भू० पू० विधायक म० प्र०, महेन्द्रकुमार फुसकेले, श्री जयन्तकुमार मलैया भू० पू० विधायक, श्री प्रकाशचन्द्र जैन उच्च-शिक्षा राज्यमंत्री मध्यप्रदेश और सागरके श्री डुलीचन्द्र नाहर तथा श्री विजयकुमार मलैया दमोहकी राजनैतिक सेवाओसे समाज सम्मानित है।

इस समाजकी महिलाये भी शिक्षाके क्षेत्रमे पीछे नही है। डा० आशा मलैया सागर, डॉ० पुष्पलता जैन नागपुर, डॉ० सुनीता जैन आरा, डॉ० सुषमा जैन सागर, डॉ० सावित्री दमोह, डॉ० कुसुम पटोरिया नागपुर, डॉ० सुधा इन्दौर और श्रीमती शारदा जैन जयपुरके नाम शिक्षाके क्षेत्रमे और विधि तथा न्यायके क्षेत्रमे श्रीमती विमला जैन न्यायाधीश भोपाल तथा चिकित्साके क्षेत्रमे डॉ० अलका जैनके नाम उल्लेखनीय है। व्यवसाय एव उद्योगके क्षेत्रमें बालचन्द्रचन्द्र मलैया, दानवीरोमे जैनजातिभूषण सि० कुन्दनलालजी सागरके नाम इस समाजके विकासमे सदैव सम्माननीय रहेगे।

विकास

गोलापूर्वान्वयके श्रावक गोल्लागढ वर्तमान (गोलाकोट) से निकलकर सर्वप्रथम बुन्देलखण्डके अंचलोमें ही फैले। आरम्भमें ये महोबा और अहार एव पपौराकी ओर गये।

जो श्रावक महोबाकी ओर गये वे छतरपुरके निकटवर्ती स्थानोमें बसते गये। उर्दमउ, जगतसागर, मऊ, खजुराहो आदि उनकी निवासभूमिया रही। कालान्तरमें ये मलहरा, दमोह, कटनी और जबलपुर तथा

उनके आसपासके क्षेत्रोमें जा बसे। जबलपुरके पास वहोरीबन्द भी इनकी आवासभूमि रही। इन्द्राना, मझगवा, सिहौरा, बाकल, रीठी और पनागर इस अन्वयके केन्द्र स्थल रहे है। यहासे ये श्रावक पाटनकी ओर बढे हैं। दमोहसे जबलपुरकी ओर अभाना, तेंदुखेडा, कटगी नगरोमें जाकर ये रहने लगे।

जो श्रावक अहार, पपौराकी ओर आये थे वे जतारा होते हुए आगे वढे और हीरापुर, वक्स्वाहा, बम्हौरी, सुनवाहा, रुरावन, शाहगढ, बरायठा, पिढरुआ, जुझार, बैरी, भेलसी, तिगोडा, घिनौची, पथारी, गूडर, गूगरा, पचरई, सोरई, करैया, पडवार, दरगुवा, पाटन, विजावर, भरतपुरा, सेंघपा, लखारी, निबौदा आदि बुन्देलखण्डके अनेक ग्रामोमें जाकर बस गये।

जो श्रावक सागरकी ओर आये वे रहली, पटना, बरखेरा, बलेह, गढाकाकेटा, सरखड़ी और बासातार-खेडा, रजपुरा ग्रामोमे जाकर आजीधिका करने लगे।

इस प्रकार टीकमगढ, छतरपुर, दमोह, सागर, जबलपुर, शिवपुरी, ग्वालियर, इन्दौर आदि मध्य-प्रदेशके और उत्तरप्रदेशके झासी, ललितपुर जिले आरम्भमे इस अन्वयके निवास स्थान बने। कालान्तरमे आजीविकाकी दृष्टिसे बुन्देलभूमिको छोडकर इस अन्वयके श्रावक शहडोल, कोतमा, चिरमिरी, मनेन्द्रगढ, जैतहरी, बालाघाट, गोदिया, नागपुर, बम्बई, दुर्ग, भिलाई, राजनादगाव, राजिम, डोगरगाव, जयपुर, वाराणसो कुरुक्षेत्र, उदयपुर, जबलपुर आदि भारतके विभिन्न नगरोमें रहने लगे। विदेशोमें भी इस अन्वयका आवास हो गया है।

सन्दर्भ सूची

१ जैनशिलालेखसग्रह, भाग २, माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला, हीराबाग-बम्बई-४, सितम्बर १९५२ प्रकाशन, अभिलेख सख्या २०९, पृ० २६९।

२ इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृ० ३१०।

३ लेखकको स्व० प० परमानन्दजीसे प्राप्त ऊन (पावागिरि) का स० १२५८ का लेख।

४ पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुल परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते॥
— महापुराण, पर्व ३९, श्लोक ८५।

५ देसकुलजाइशुद्धा विसुद्धमणवयणकायसजुत्ता।
—आचार्यकुन्दकुन्द, आचार्यभक्ति, गाथा प्रथम।

६ णवि देहो वदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइसजुत्तो।
को वद्मि गुणहीणो णहु सवणो णेय सावओ होई॥
—वही, दर्शनपाहुड : गाथा २७।

७ ज्ञान पूजा कुल जातिं वलमृद्धिं तपो वपु।
अष्टावाश्रित्यमानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया॥
—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २५।

८ डॉ० राजेश्वरप्रसाद अर्गल, समाजशास्त्र, आगरा, ई० १९५३ प्रकाशन, पृ० २०१।

९. मनुष्जातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहितादृभेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥
—महापुराण, पर्व ३८, श्लोक ४५।

१० जातयोऽनादय' सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा ।

यशस्तिलकचम्पू, ८.१७ ।

११ सागार और अनगारधर्मामृत ।

१२ पी० एन प्रभु, सोसल आर्गनाइजेसन, तृतीय संस्करण, पृ० २९४ ।

१३. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, समाजशास्त्र, पृ० ३९३ ।

१४. डॉ० ऋषिदेव विद्यालकार, मानवविज्ञान व नृतत्त्वशास्त्र, पृ० १०४-१०५ ।

१५. ब्राह्मणा व्रतसस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात् ।
वाणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।
आचार्य जिनसेन, महापुराण, पर्व ३८, श्लोक ४६ ।

१६ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २३२-२४०, प्रशास्ति-पक्ति ३२-३३ ।

१७ प्राचीन शिलालेख, अहार, लेख कमाक ३९ ।

१८ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, भारतके प्राचीन तीर्थ, ई० १९५२ प्रकाशन, पृ० ६६ ।

१९. वही, प्राकृत साहित्यका इतिहास, ई० १९६१, चौखम्बा सस्करण, पृ० २३७, ४२७ ।

२०. अनेकान्त, वर्ष २४, किरण १, पृ० ४३ ।
जैनसन्देश, शोधाङ्क-६, पृ० २१७ ।

२१ श्री अ० भा० दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, वी० नि० सं० २४६८ प्रकाशन, प्रस्तावना पृ० ख ।

२२. जैन धातुप्रतिमालेखसग्रह, भाग १, ले० क्रमाक ५० । दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० १४१८-१४१९ ।

२३ गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृ० ग ।

२४ भट्टारक सम्प्रदाय, ले० क्र० २५२, २५७, ३१० ।

२५. डॉ०कोठियाका भाषण, ई० १९६६, अहार प्रकाशन, पृ० ३ ।

२६. जैनमित्र, वर्ष ४१, अंक ३ ।

२७. गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ख ।

२८ वही, पृ० ख ।

२९. श्री वलभद्र जैन, भारतके दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, पृष्ठ ७६ ।

३०. इत्याद्यमुनीन्द्रसन्ततिविधौ श्रीमूलसघे ततो
जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ॥
गोल्लाचार्य इति प्रसिद्धमुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिप
पूर्व केन च हेतुना भवभिया दीक्षा गृहीतस्सुधी ॥ १ ॥
वीरनन्दिविबुधेन्द्रसन्ततौ नूत्नचन्दिलनरेन्द्रवशचूडामणि ।
प्रथितगोल्लदेशभूपालक किमपि कारणेन स ॥ २ ॥
जैनशिलालेख सग्रह, भाग १, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ले० स० ४०, ४७ पृष्ठ २५, ६० ।

३१ भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० १७३-१७४ ।

३२, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० १३६ ।

३३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ० १७४ ।

३४ श्री भा० दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रस्तावना, पृ० क ।

३५ भारतके दि० जैन तीर्थ (म० प्र०), पृ० ३९ ।

३६. वही, पृ० ३९ ।
३७. डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दग्रन्थ, पृ० ५१ ।
३८ वही, पृ० ५२ ।
३९ श्री अगरचन्द्र नाहटा, जैन सन्देश, शोधाक २५, पृ० १५ ।
४० वही, पृ० १६ ।
४१ वही, पृ० १६ ।
४२. वही, पृ० १५ ।
४३ वही, पृ० १७ ।
४४ प० परमानन्द शास्त्री, जैन ग्रन्थ-प्रशस्तिसग्रह, भाग २, प्रशस्ति-सख्या १०४–१०५, पृष्ठ १२९, १३२-१३३ ।
४५ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, भाग ४, पृ० ३०५ ।
४६ प्राचीन भारतका राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास, पृ० ६३८ ।
४७ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र ५, १३ ।
४८ वर्ण-व्यवस्था, श्री शान्तिवीरनगर, श्री महावीरजी प्रकाशन, पृ० ४७ ।
४९ गोलापूर्व डायरेक्टरी, वही, प्रस्तावना, पृ० ठ ।
५० श्री यशवन्त मलैया दमोह, अनेकान्त, वर्ष २५, किरण २, पृ० ६९ ।
५१ आचार्य जिनसेन, महापुराण, भाग २, पर्व ३९, श्लोक ८५-८६ ।
५२ लेखकका अभिलेखसग्रह, ले० सं० ६४ ।
५३ अनेकान्त, वर्ष २४, किरण–१, और जैन सन्देश, शोधाक-६ ।
५४ जैनग्रन्थप्रशस्तिसग्रह, भाग १, पृ० ७६-८१ ।
५५ अनेकान्त, वर्ष २४, किरण १, पृ० ४३, किरण-३ पृ० १०६ ।
५६ जैनसन्देश, शोधाक-६ ।
५७ अनेकान्त, वर्ष २४, किरण ३, पृ० १०६ ।
५८ प० परमानन्द शास्त्री, जैनधर्मका प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० ५४७ ।
५९ अनेकान्त, वर्ष २४, किरण ३, पृ० १०७ ।
६० सोरह्-सौ इक्यानवे अगहन शुभ तिथिवार ।
नृप जुझार बुन्देलकृत तिनके राज मझार ।। —वही, पृ० १०८-१०९ ।
६१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, भाग ४, पृ० ४४४-४४६ ।

●

अप्रतिम प्रतिभाके धनी

● डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

आद्य व्याकरणाचार्य

सरस्वतीके वरद् पुत्र पडित बंशीधरजी जैन समाजके आद्य व्याकरणाचार्य है। 'गुरुणा गुरु' गोपालदासजी वरैया और पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयाससे मुरैना, वाराणसी, सागर, इन्दौर तथा कटनी आदि स्थानोंपर जैन विद्यालय तो स्थापित हो गये थे। पर उनमे व्याकरण, साहित्य और न्याय पढानेके लिए ब्राह्मण विद्वानोंको ही नियुक्त करना पडता था। यह परावलम्बनता वर्णीजीको खटकती रहती थी, जिससे वे प्रतिभासम्पन्न छात्रोको व्याकरण तथा साहित्य आदि पढनेकी प्रेरणा देते रहते थे। उसीके फलस्वरूप स्याद्वाद विद्यालयके छात्र बंशीधरजीने व्याकरण, परमानन्दजीने साहित्य, दरबारीलालजी कोठिया तथा महेन्द्र कुमारजीने न्यायदर्शन विषय लिया। सागरमे मैंने भी व्याकरणमध्यमाके बाद साहित्य विपय लिया। ये सब अपने-अपने विषयोके आचार्य बने। फलस्वरूप वाराणसीको छोड अन्य जगहोके विद्यालयोमे इन विषयोंके अध्यापनका दायित्व जैन विद्वानोने सम्हाल लिया।

आद्य व्याकरणाचार्य होनेके साथ ही पं० बशीधरजी, जैन न्यायके भी अच्छे विद्वान् है। सन् १९३० मे न्यायतीर्थकी परीक्षा देने जब वे कलकत्ता गये थे, तब मैं भी काव्यतीर्थकी परीक्षा देनेके लिए उनके साथ कलकत्ता गया था। व्याकरणाचार्य होनेके बाद प० वंशीधरजी कहो अध्यापनके लिए गये, पर दो-चार माहके बाद ही वे बीना आ गये और वहो कपडेकी दुकान चालू कर ली। अपने बुद्धि-कौशलसे उन्होने अपने व्यवसायको समुन्नत किया।

पण्डितजीका विवाह बीनामें ही शाह मौजीलालजीकी पुत्री लक्ष्मीबाईके साथ हुआ था। मौजीलालजीके सन्तानके रूपमे यही एक पुत्री थी, अत. उन्होने अपने दामाद वशीधरजीको अपने ही घर रखकर और पुत्रवत् उन्हे समुन्नत बनाया।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्के मंत्री

सम्भवत सोलापुर अधिवेशनमें आप मत्री चुने गये थे और मैं सयुक्तमत्री बनाया गया। पण्डितजीनें विद्वत्परिषदका कार्यालय अपने पास न रखकर मेरे पास रखा और मुझे मार्गदर्शन करते रहे। कार्य करनेका उत्साह था, जिससे विद्वत्परिषदका प्रभाव बढा और उसके फलस्वरूप जगह-जगह अधिवेशन आमन्त्रित होने लगे। विद्वत्परिषद्ने मथुरा, सागर, बीना तथा कटनी आदि स्थानोपर शिविर और विद्वद्-गोष्ठियाँ चालू की। प० बंशीधरजीका जीवन प्रामाणिक जीवन है। ये घूस देकर अपना कार्य सिद्ध नही करते। इसका एक प्रसग मुझे याद है।

जब पूज्य वर्णीजी इटावामे विराजमान थे। तब विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी की बैठक वहाँ आमन्त्रित हुई। बीना होते हुए हम चार-छह सदस्य इटावाको चले। झासीसे इटावा जानेवाली गाडीमे बैठना कठिन लगा, तब सब फर्स्ट क्लासमें बैठ गये। आगे चलकर चेकरने जुर्मानाके साथ फर्स्ट क्लासका चार्ज माँगा, जो बहुत था। चेकरने अन्तमे कहा कि आप कुछ रुपये दे दे, मैं रसीद नही दूँगा। आप लोग आरामसे चले जावें। पण्डितजीने चेकरसे कहा कि आप. रसीद दीजिये और पूरा पैसा लीजिये। रसीद लेकर पण्डितजीने पूरा रुपया अपनी जेबसे दिया। हमे लगा कि पण्डितजीने व्यर्थमे बहुत रुपया दे दिया। पर प्रामाणिकता भी तो कोई महत्त्व रखती है।

एक बार कटनीमे विद्वद्गोष्ठी थी। सागरसे कुछ लोग गये थे। सागरमें म्युनिसिपल चुगी रहनेसे

सब वस्तुएँ महगी रहती हैं। कटनीमे चुगी न रहनेसे सस्ती रहती हैं, अत सागरके लोगोने उपयोगी वस्तुएँ कटनीमें खरीदी। मैने प० बशीधरजीसे कहा—मैं भी कुछ खरीद लाऊँ। पण्डितजीने कहा कि यहाँ सस्ती होनेसे खरीद कर तथा विस्तरमे छिपाकर ले जाओगे। सागरकी म्युनिसिपेलटी, चुगी लेकर आपके बच्चोको फ्री शिक्षा देती है। वर्षमे कुछ थोडा-सा टेक्स देकर आपके शौचालयोको साफ कराती है और नगरमे स्वच्छता तथा प्रकाशकी व्यवस्था नि शुल्क करती है, इतने पर भी आप उसे चुगी नही देना चाहते। मेरी रायमे आप अपनी उपयोगी वस्तुएँ सागरमें ही खरीदें तो ठीक होगा। मुझ पण्डितजीकी राय उत्तम प्रतीत हुई।

वैदुष्यकी गहराई

एक बार सागरमें एक माह तक चलने वाले शिक्षण-शिविरके अन्तिम दिनोमें विद्वत्सम्मेलनका आयोजन किया गया उसका विषय था "षट्खण्डागमके तेरानवें सूत्रमे सजद पदका अस्तित्व"। इसपर एक गोष्ठी बम्बईमे हो चुकी थी। और उसके आधारपर आचार्य शान्तिसागरजीने ताम्रपत्रपर लिखी जानेवाली प्रतिसे "संजद पद" अलग करा दिया था। उस समय विद्वत्परिषद्का वर्चस्व था, अत यथार्थ निर्णय करनेके लिए कार्यालयमे पत्र आया। सम्मेलनमे पण्डित कैलाशचन्द्रजी, प० वर्द्धमान शास्त्री, पूज्य वर्णीजी तथा अन्य अनेक विद्वान थे। सम्मेलनमें प० बशीधरजी और वर्धमानजीके बीच अच्छा तर्क-वितर्क हुआ। अन्तमें विद्वत्परिषद्ने तेरानवे सूत्रमे "सजद" पदके अस्तित्वका समर्थन किया और प्रसन्नताकी बात रही कि ताडपत्रीय प्रतिमे भी उसका अस्तित्व मिल गया।

आर्षमार्गके अनुयायी

सोनगढकी विचारधाराके आप कभी समर्थक नही रहे। निश्चय और व्यवहारनय एव निमित्त और उपादानकी चर्चा आप अनेकान्तके आश्रयसे ही करते है। आपके द्वारा लिखित जैन शासनमें "निश्चय और व्यवहार" नामक ग्रन्थ विद्वत्परिषद्के द्वारा पुरस्कृत है।

आचार्य शिवसागरजीके चातुर्मासके समय खानिया जयपुरमे स्व० हीरालालजी पाटनी निवाईके सौजन्यसे उभय पक्षीय विद्वानोको एकत्रित कर तत्त्वचर्चाका आयोजन किया गया था। इस आयोजनमें प० मणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, प० बंशीधरजी, न्यायालकार, प० मक्खनलालजी, प० कैलाशचन्द्रजी, प० फूलचन्द्रजी, प० जीवन्धरजी, प० रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा प० पन्नालालजी सोनी आदि अनेक विद्वान् पधारे थे। मै भी गया था। लिखित चर्चा होती थी। सोनगढपक्षकी ओरसे प० फूलचन्द्रजी प्रधान थे और दूसरे पक्षसे प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य प्रमुख थे। दस दिन तक चर्चा चलती रही। विद्वानोका अभीक्ष्णज्ञानोपयोग दर्शनीय था। प्रकरण लम्बा है। सक्षेपमें मैं यही कहना चाहता हूँ कि इस चर्चाके निष्ठापनमे प० बशीधरजीने पूर्ण मनयोगसे कार्य किया। घरमे पितृतुल्य श्वसुर शाह मौजीलालजीका स्वर्गवास होनेपर भी वे स्थानीय चर्चासे विरत नही हुए। तथा चर्चाके तीन दौर समाप्त हो जानेपर भी उनकी लेखनी अपने लक्ष्यसे विरत नही हुई।

स्वतत्रता-सग्राम सेनानी

स्वतत्रता-सग्रामके समय आपने निर्भय हो राष्ट्रीय आन्दोलनमे भाग लिया, जेल गये और वर्तमानमें सागर जिलेके स्वतंत्रतासग्राम-सेनानियोमे आपका नाम गौरवके साथ लिया जाता है।

श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष

सन् १९६५ में पचकल्याणक-प्रतिष्ठाके समय सिवनीमे होनेवाले विद्वत् परिषदके जनरल अधिवेशनके

अध्यक्ष थे । अध्यक्षीयपदसे दिया गया आपका भाषण विद्वत् समूहमें समादृत हुआ था । इसी अधिवेशनमें भी गोपालदासजी वरैयाका शताब्दी-महोत्सव मनानेका निश्चय किया गया । फलस्वरूप डॉ० नेमीचन्द्रजी शास्त्री, आराके सम्पादकत्वमें विद्वत् परिषद्मे "गोपालदास वरैया स्मृतिग्रन्थ" प्रकाशित किया । शताब्दी-समारोह दिल्लीमें स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसादजीकी अध्यक्षतामे सम्पन्न हुआ था । यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसकी सम्पूर्ण प्रतियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गयी ।

श्रावस्ती पचकल्याणकके समय होनेवाला नैमित्तिक अधिवेशन भी आपकी ही अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ था । विद्वत्परिषद्के सभी अधिवेशनोमें उसके सदस्य बडी रुचिसे भाग लेते थे ।

सदा जागरूक

८४ वर्षकी अवस्थामें भी आप समाज-हितमे जागरूक हैं । दुकानका कार्य पुत्रोने सम्हाल लिया है । उस ओरसे निश्चिंत हो आप साहित्य-साधनामे लीन रहते हैं । मैंने देखा है कि आप प्रात चार बजेके पूर्व ही उठकर तथा स्नानादिसे निवृत हो अपने अध्ययन और लेखनके कार्यमे लग जाते हैं । वीर प्रभुसे प्रार्थना है कि यह सरस्वतीका वरद् पुत्र स्वस्थ रहता हुआ देश एव समाजका दीर्घकाल तक मार्गदर्शन करता रहे ।

वन्दनीय व्यक्तित्वके धनी

● श्री नीरज जैन, सतना

बीना नगरमे प्रवेश करते ही तिराहेसे जैन मदिरकी ओर चलनेपर बाँयें हाथ एक सामान्य-सी कपडे-की दुकान है । दुकानकी गादीपर कपडोके थानके बजाय आगमग्रन्थोका विस्तार हो और सादगी भरा, ऊँचा पूरा, एक क्षीण-काय वृद्ध पुरुष उस वातावरणमें एकाग्रतापूर्वक, सिर झुकाए अपने लेखनमे दत्त-चित्त दिखाई दे जाय, तो किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नही है । वही हैं सिद्धाताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य ।

लगभग पचासी साल पहले बुन्देलखण्डके एक निपट देहातमें जन्मा हुआ बालक बशीधर शैशवसे ही ज्ञान-पिपासु रहा । अनुकूल साधनोके अभावमे भी कैसे उसकी यह ज्ञान-यात्रा आगे बढती रही, इसका विवरण एक रोचक कथासे कम नहीं है । उस यात्रामे एक ओर जहाँ कष्ट-साध्य साधनाका दर्शन होता है, वही दूसरी ओर सासारिक महत्त्वाकाक्षाओको पीछे ढकेल कर सरस्वतीकी सेवाके लिए आगे बढनेका दृढसकल्प भी अनायास झलकता है ।

जैन विद्याकी विलुप्त प्राय स्थितिमें, रूढियोसे जकडे हुए और अज्ञान-अधकारसे भरे बुन्देलखण्डमे जिन्होने ज्ञानकी ज्योति प्रज्ज्वलित की, उन प्रात स्मरणीय युगपुरुष श्री गणेशप्रसादजी वर्णीका दिव्य अवदान ही बशीधरके लिए भी प्रश्रय-वितान बनकर छा गया । जिस सतका पारस-स्पर्श पाकर राहके अनेक मटमैले ककड धीरे-धीरे कुन्दन बनते चले गये, उसी पावन स्पर्शने बशीधरको भी अज्ञसे विज्ञ बना दिया । पूज्य वर्णीजीके द्वारा बनारसमे स्थापित स्याद्वाद् महाविद्यालयमें एक बार प्रवेश क्या मिला, बशीधरकी ज्ञान-पिपासा बढती ही चली गई । जैनदर्शन शास्त्री, साहित्यशास्त्री, व्याकरणाचार्य और न्यायतीर्थकी परीक्षाएँ एकके बाद एक शानदार ढगसे उत्तीर्ण करनेके बाद भी ज्ञानार्जनकी तृष्णा अतृप्त ही बनी रही । शायद यह पिपासा उन्हें किन्ही सुदूर ऊँचाइयो तक ले भी जाती, परन्तु तभी "घर कारागृह, वनिता बेडी और परिजन जन रख-वारोने" मिलकर उन्हें बाँध लिया ।

स्वाधीनता-संग्राम

अभी जीवनके संघर्षोंसे सामना हुआ ही था कि भारतमाताके मुक्ति-सग्रामका बिगुल पूरे जोरसे बज उठा। कुछ दिन पहले अपनोंका जो आग्रह और गृहस्थीका जो आकर्षण उन्हें ज्ञान-साधनासे खींचकर बनारस-से बीना ले आया था, मातृभूमिकी पुकारके सामने वह आकर्षण भी अशक्त ही सिद्ध हुआ। पच्चीस-छब्बीस सालकी युवावस्थामे अपनोंकी सारी चिन्ता छोडकर बंशीधर स्वतन्त्रता-सग्राममें कूद पडे। देशकी चिन्ता अपनी सारी चिन्ताओंसे ऊपर हो गई और मातृभूमिकी पुकारके सामने घर गृहस्थीकी सारी मनुहार बिखर कर रह गई। चाहे १९३१ का असहयोग आन्दोलन हो या १९३७ के एसेम्बलीके चुनाव हो, १९४१ का व्यक्तिगत सत्याग्रह हो या १९४२ का 'भारत छोडो' आन्दोलन हो, बंशीधरने तन, मन और धन सब कुछ उस महायज्ञमें होम करते समय कोई संकोच नही किया। जैसी निष्ठा और समर्पणके साथ उन्होंने ज्ञानकी आराधना की थी, वैसी ही निष्ठा और समर्पणके साथ मातृभूमिकी सेवामे भी उन्होंने अपने आपको नियोजित कर दिया।

नगर कांग्रेस-कमेटीकी अध्यक्षतासे लेकर प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटीकी सदस्यता तक उन्हें जब, जहाँ, जो काम सौंपा गया उसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे परे, एक अनोखी गरिमाके साथ निभाया। सन् १९४२ के भारत छोडो आन्दोलनमे पण्डित बंशीधरजीकी भूमिका इतनी स्पष्ट रही, उनका योगदान ऐसा अनुकरणीय रहा और उनका सेवा-सकल्प इतना दृढ रहा कि वे अपने ही साथियोंमे उदाहरण बनते चले गए। कितनोंने उन विषम परिस्थितियोंमे उनसे प्रेरणा प्राप्त की और कितने घरोंमें उनकी सहायतासे मनोबलके दीप जलते रहे, इसकी कोई सूची न कभी बनी, और न बन सकेगी। जहाँ सेवक ही मौन-व्रती हो वहाँ सेवा-कार्योंका लेखा-जोखा हो भी कैसे सकता है।

आज तो रिवाज बदल गए है। देशसेवा एक लाभजनक व्यापार बनकर रह गई है। परन्तु १९३१ से १९४६ तकके पच्चीस साल स्वाधीनता-सग्रामके ऐसे साल थे, जब इस यज्ञमें आहुतियाँ तो थी परन्तु जय-कारे नही थे, मालाएँ नही थी। समर्पित करनेके लिए तो बहुत कुछ था, परन्तु उसके बदलेमें आत्म-संतोष ही एक मात्र उपलब्धि मानी जाती थी। सागर और नागपुरके जेलोंमे बिताया गया बंदी जीवन हो या अमरावती जेलमे सही गई दुर्दम यातनाएँ, पण्डित बंशीधरका अपराजेय व्यक्तित्व कही तनिक भी झुका नही। जेलकी इन यात्राओंने उन्हें "वसुधैव कुटुम्बकम्" के नये पाठ पढाये। छुआछूत और दहेज जैसी सामाजिक कुरी-तियोंके विरुद्ध जूझनेका साहस और सकल्प प्रदान किया। यहींसे उनके व्यक्तित्वमें एक नया निखार प्रारम्भ हुआ।

बंशीधरजीके जीवनका एक चमकदार पहलू यह भी है कि उन्होंने स्वाधीनता-सग्रामकी अपनी सेवाओंको भुनानेका कभी विचार तक नही किया। उस योगदानके उपलक्ष्यमें किसी प्रतिफलके लिये वे अपने प्रमाणपत्र हाथमें लेकर कभी सत्ताधीशोंके द्वारपर दण्डवत् करने नही गये। उन्होंने यह मान लिया कि स्वतन्त्रता प्राप्तिके साथ ही वह लडाई समाप्त हो गई है, और यही सोचकर उन्होंने अपने आपको सेवाके दूसरे कार्योंमे नियोजित कर लिया। इसीलिए प्रदेशमें जब सत्ताका सदावर्त खुला और लोग तरह-तरहके जुगाड करके उसमें आगे बढनेकी कोशिशे करते दिखाई दिये, तब जो इने-गिने आस्थावान और गैरतमन्द लोग उस पंक्तिसे पृथक् रहे, उनमे पण्डित बंशीधरजी बहुत आगे थे। मूक-सेवाकी यह प्रवृत्ति ही उन्हें देशसेवाकी इस दिशामें जितना आगे ले गई थी, सरस्वतीकी सेवाके क्षेत्रमे भी उतना ही आगे बढाती जा रही है। प्रतिफल और पुरस्कारकी कोई आकांक्षा नही है, कही किसी पदका कोई व्यामोह नही है, शायद इसीलिए आज जीवनके सध्याकालमे भी वे वैसे ही सक्रिय है और उतनी ही निष्ठा और लगनके साथ अध्ययन-मनन, चिन्तन और

लेखनमे सलग्न रहते हैं । आज वर्षोंसे यही उनका जीवनव्रत है और इससे निष्पन्न आत्म-सतोष ही उनका स्व-अर्जित पुरस्कार है ।

संस्थाओंकी सेवा

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्के इतिहासमे पण्डित वशीधरजीकी अध्यक्षताका काल गरिमाके साथ अकित है । गुरु गोपालदास बरैयाका शताब्दी-समारोह उसी बीच आयोजित हुआ और उसकी सफलतामे पण्डितजीका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा । श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके मत्रीके नाते उन्होने उस सस्था-को निरन्तर आगे बढानेका प्रयास किया । उनके पश्चात् डॉ० प० दरबारीलालजी कोठियाके कार्यकालमें विकासकी वह गति बनी रही और सस्थाने स्थायित्वकी ओर एक लम्बी यात्रा तय की । इसे दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि पूज्य वर्णीजीके समर्पित शिष्यो और उनके भक्तोके परिश्रम और सहयोगसे जो सस्था सरस्वतीकी सक्रिय सेवा कर रही थी, वह अब मौन है ।

सोनगढ़-विचारधाराका खण्डन

जब सौराष्ट्रमे सोनगढसे एकान्तकी आँधी उठी और समाजके मूर्धन्य माने जाने वाले कतिपय विद्वानो-का एक स्वार्थ-प्रेरित समुदाय, आगमकी अवहेलना करता हुआ उस आँधीमे बह चला, तब उस विषम कालमे बंशीधरजीके व्यक्तित्वका वह पुराना जुझारू रूप फिर साकार होकर सामने आया ।

खानिया तत्त्वचर्चाके छद्मको अनावृत करनेका उन्होने बीडा उठाया । इस बातकी पण्डितजीने कभी कोई चिन्ता नही की कि इस दिशामे लेखन और प्रकाशनसे लेकर वितरण तक वे नितात अकेले ही खडे है । उसी छोटी-सी दुकानमें बैठकर उनका चिन्तन चलता रहा और लेखनी अविराम गतिसे दौडती रही । वे बहुत जल्दी, शायद आठ बजेके पहले ही सो जाते है और पिछले पहर दो-ढाई बजे उठकर अपने लेखनमे जुट जाते है । वर्षोंसे बिना रुके, और बिना थके उनकी साधनाका यह क्रम अनवरत चला आ रहा है । इसीका फल है कि उनके द्वारा प्रणीत साहित्यकी सूची प्रतिवर्ष लम्बी होती जा रही है । एक दिन यमुनामे विषहरे नागका उस बंशी वालेने जैसे मर्दन किया था, वैसे ही मिथ्या मान्यताके फणधरका मर्दन करनेका प्रयास यह मनस्वी बंशीधर अपनी आसदीपर बैठकर निरन्तर कर रहा है ।

पण्डितजीका यह पुरुषार्थ इस पृष्ठभूमिमें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि सोनगढ विचार-धारासे विरोध रखने वाले विद्वान् तो समाजमें अनेक है, पर उस दिशामे अपना समय और साधन लगाकर लेखन/प्रकाशन करने वाले बहुत बिरले है । सैद्धातिक आधारपर सप्रमाण लेखनी चलाने वाले तो और भी कम हैं । "आ बैल मुझे मार" की चाल कोई चलना नही चाहता । इस सदर्भमे पं० बंशीधरजीका कृतित्व सदा आदरपूर्वक याद किया जाता रहेगा ।

साहित्यका सृजन

"खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" लिखकर पण्डितजीने आगमका वह पक्ष सामने रखा है, जिसे कुछ लोग प्रयास-पूर्वक दबानेकी चेष्टामे नाना प्रकारके प्राणायाम कर रहे हैं । **'जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार'** पुस्तकके माध्यमसे पडित बशीधरजीने वस्तु-स्वरूपका सहज और सर्वमान्य निरूपण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि व्यवहारकी सर्वथा अनुपयोगिता मान लेने पर जीवनमे कितनी बडी विसंगतियाँ उत्पन्न हो सकती है । निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधक है, नयोकी ऐसी मैत्रीके विना ज्ञानकी साधनामें एक पग भी आगे बढना सम्भव नही है ।

पण्डितजीकी तीन पुस्तकें-**'जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारक व्यवस्था'**, **'पर्यायें क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी'**, तथा **'भाग्य और पुरुषार्थ'**, ऐसी पुस्तकें है जिनके माध्यमसे उन्होने आजकी अनेक विवक्षा-

विहीन और मिथ्यात्व-पोषक एकान्त स्थापनाओका न केवल निषेध किया है वरन् पूर्व पक्षकी मान्यताओको खण्ड-खण्ड करके बिखेर दिया है। विशेषता यह है कि पण्डितजीने अपने लेखनमे हर जगह सबल और सार्थक शास्त्रीय-सन्दर्भ उद्धरणके रूपमे प्रस्तुत किये हैं। उनके अर्थ करते हुए कही भी कल्पनाका आश्रय या हठाग्रह-का सम्बल उनके लेखनमे दिखाई नही देता। यदि अनाग्रही मनसे उनके लेखनको पढा जाय तो इसमें कोई सन्देह नही है कि बडा-से-बडा विरोधी भी प्रभावित होगा और अपनी मान्यताओ पर पुनर्विचार करनेके लिये विवश हो जाएगा। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारी लौकिक लाभकी आकाक्षा कुछ ढीली पडे और मानका विसर्जन होकर मार्दवकी मृदुता हमारे मनमें अवतरित हो। जब भी ऐसा होगा, जैनशासनके लिए निश्चित ही वह बडा शुभ समय होगा।

"जैनतत्त्व मीमासाकी मीमासा" पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी मौलिक पुस्तक "जैनतत्त्व-मीमासा"के प्रत्युत्तरमे, उनकी भ्रामक स्थापनाओका खण्डन करके आगमकी मान्यताओको स्थापित करनेका उद्देश्य लेकर लिखी गई पुस्तक है।

अपनी जीवन-सगिनीके चिरवियोगके अवसर पर उन्होने दानमें कुछ द्रव्य निकाल कर उसे एक ट्रस्टका रूप दिया है। उसी ट्रस्टकी ओर से वे अपने साहित्यका प्रकाशन करते है और उसमेसे कुछ भेट स्वरूप और कुछ लागत मूल्य पर सुपात्र पाठकोंके हाथो तक पहुँचाते रहते हैं। कुछ अन्य संस्थाओने भी पण्डितजोकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित की है। उनका लेखन उत्सुकतासे पसन्द किया जाता है और चावसे पढा जाता है।

मगल मनीषा

जीवनका अधिकाश भाग जैनशासनकी सेवामें लगानेके उपरान्त आज भी पण्डित बशीधरजी पूरी तरह सक्रिय, सावधान और सेवासलग्न हैं। परिवार तथा परिग्रहके प्रति उनका विशेष ममत्त्व कभी नही देखा गया। इधर कुछ वर्षोसे उन्होने स्वयको अपने ही भीतर समेटनेका अभ्यास भी किया है। सघन अधकार मे निष्कम्प शिखावाले दीपककी तरह वे अपने परिकरके बीच भी, अपनी शारीरिक अनुकूलताओंके अनुरूप, साधनामे दिन-रात सलग्न है। मैं समझता हूँ कि इस अभिनन्दनके बहाने उनके जीवनव्यापी श्रमको कागजके पन्नो पर उतारकर हम स्वय अपना ही अभिनन्दन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। ध्येयकी प्राप्तिके लिए ऐसा एकात-समर्पण, ऐसी मूक साधना और ऐसी अनवरत सलग्नता जिसे भी प्राप्त हो जाय उसका व्यक्तित्व वन्दनीय और जीवन अभिनन्दनीय हो होगा। आइये उनके स्वस्थ्य दीर्घ-जीवनकी कामना करे।

ख्याति-लाभ-मानसे परे

● प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

झासी मण्डल बुन्देली वीरता और मराठी क्रान्तिका २५ मई १८५८ तक गढ था। और यदि इस दुर्दिनपर कर्नल ह्यू रोज रास्ता बदलकर मदनपुर-घाटीकी ओर मुडकर शाहगढराजकी नूतन राजधानी मडावरापर सोरईकी सूनी गढीपर कब्जा करके आगे न आता, तो मालथौन-घाटी 'धोर्रा' पर बुन्देलावीर बान-पुरनरेश मर्दनसिंह और शाहगढनरेश वख्तबलीसिंहके सेनापतित्वमे फिरगी सेनाका सफाया करके, रणचण्डी माता लक्ष्मीबाईको दक्षिणी आकमणसे; सहज ही मुक्त कर लेते। तथा क्रान्तिकारियोका साथ देनेके लिये भेजे अकेले पडे ओरछाके दीवान नत्थूखाके सफेद झण्डा दिखाकर देशद्रोहसे अनायास ही रोक लेते एव मुग़ल साम्राज्य-विनाशके समान अग्रेजी-साम्राज्यकी भ्रूणहत्या हो गयी होती। किन्तु 'अनहोनी न होय कदाचित्' ही तथ्य रहा। तथा १९४७ तक बुन्देला वीरभूमि अग्रेजी क्रूर दमन और उपेक्षाका लक्ष्य रही। खण्डहर

किलों और गढियोसे व्याप्त इस अचलको वर्षा ऋतु आनेपर चौपालोमे आल्हाकी गूँजने और ढोलककी हुँकारने बुन्देली भावनाकी वेलको सूखने नही दिया।

मध्यमवर्ग दि० जैन समाज

'इत जमना उत नर्मदा' अचलमे श्रम तथा शस्त्रप्रवण लोदी, ठाकुर एवं किसान और शास्त्ररत ब्राह्मण और विपणन एव सस्कृति प्रधान श्रमणोकी मुख्यता है। फलत श्रमण एव ब्राह्मण (वैदिक) धर्मोके आगार ही शिक्षा, स्वास्थ्य एव समाजसंचालनके केन्द्र रहे है। दोनो धर्मोके अनुयायियोमे नित्य देवदर्शन, त्याग, सेवा और स्वाध्यायको परम्परा है। श्रमण अन्य वर्गोंकी अपेक्षा आर्थिक दृष्टिसे अधिक समर्थ है। अतएव गाँव-गाँवमें मन्दिरोके समान शिशु-शालाएँ चलाना भी इनके नित्य कार्योमे माना जाता है। धर्म-समदृष्टि इतनी अधिक है कि एक घर मुसलिम होनेपर भी ताजिये ऐसे निकलते है जैसे पूरा गाव ही मुल्लिम हो। इस सौमनस्यके कारण श्रमण-पाठशालाओमें ही बहुधा गाव भरके शिशुओका विद्यारम्भ होता है। इस प्राग्वैदिक परम्पराकी यह देन है कि वैष्णव घरमे उत्पन्न गुरुवर गणेशप्रसाद श्रमण-संस्कृतिके बौद्धिक जागरणके अग्रदूत हो सके। और प्रथम राष्ट्रपनि (महामहिम राजेन्द्र वाबू) तथा गाधीजीके अहिंसा-सत्याग्रहके प्रथम मार्शल विनोवाजीके द्वारा राष्ट्रसन्तके रूपमे मान्य हुए। 'नास्तिको वेदनिन्दक 'का आजोवन ब्रह्मचारी गणेशप्रसाद वर्णीने शिष्यरूपसे विसर्जन कराके काशीमे स्याद्वाद महाविद्यालयकी स्थापना की। और सर्वप्रथम वैश्य-न्यायाचार्य होकर पूरे बुन्देला-अचलको श्रमण-पाठशालाओकी दीपमालिकासे चमका दिया। तथा पूरे देशकी पगयात्रा करके मुस्लिम-साम्राज्यके कारण फारसी (उर्दू नही) पढनेवाले पंजाव ही क्या, पूरे उत्तर भारतके मध्यमवर्ग-को प्राकृत-सस्कृतकी ओर आकृष्ट किया।

स्याद्वाद-महाविद्यालयका स्वर्णयुग

गुरुवर गणेशप्रसाद वर्णी पद-प्रतिष्ठासे सर्वदा एव सर्वथा विमुख रहे। इस यथार्थ विरक्तिका ही यह सुफल था कि स्याद्वाद महाविद्यालयके सस्थापक होकर भी उन्होने प्रथम-अधिष्ठाता बाबा भागीरथजीको बनाया था। तथा इनके बाद धर्म-सेवामे उतरे अभिजात (श्री उमरावसिंह रईश) युवक आजीवन ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको इस महार्घपदपर प्रतिष्ठित किया था। अपने सुधारक विचारो-के कारण शीतलप्रसादजीके हट जानेपर कानपुरके राष्ट्रीय कांग्रेसके अधिवेशनमे योगदानके साथ इस श्रमण-सस्कृतिके तथा अपने गुरुकुलके नैतिक भारको सम्हाला था। विशेपता यही थी कि अध्यक्ष, मन्त्री, कोपाध्यक्ष आदि वैध पदोका भार देशके विद्याप्रेमी श्रीमानोके ऊपर ही रहता था। तथा वे भी इनके लोकोत्तर व्यक्तित्व-के कारण सेवा तथा त्यागको मुख्य मानकर चलते थे। तथा काशी विश्वविद्यालयकी स्थापनाके पूर्व ही यह विद्यालय दक्षिण तथा उत्तरके छात्रोका अनुपम केन्द्र बन गया था। यही कारण था कि राष्ट्रपिता उक्त विश्व-विद्यालयकी स्थापनाके समय इस विद्यालयमे ही आकर ठहरे थे। तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-सग्रामके स्कन्धावार (छावनी) काशी विद्यापीठकी योजना इसकी विशाल छतपर ही साकार हुई थी। तथा स्वदेशी-आन्दोलनका ओकार भी ब्र० ज्ञानानन्दजीके 'अहिंसा प्रेस' से यही हुआ था। सन् '२५ से ३९' तकके युगमे इस विद्यालय-ने न्याय, साहित्य, सिद्धान्त आदिके अनेक आचार्य देशको दिये थे। यद्यपि व्याकरण शुष्क एवं क्लिष्ट विपय माना जाता था, किन्तु इस स्वर्णयुगमे, अग्रेजो द्वारा १८५८ मे सर्वप्रथम आक्रान्त सोरई (शाहगढ राज) के ही किशोर वशीधरजीने सानन्द लेकर प्रथम वैश्य-व्याकरणाचार्य देश ओर समाजको दिया था।

प्रतिभा-परीक्षण

गुरुवर गणेशवर्णीकी दृष्टि समाजको सर्वशास्त्रोके विद्वान देना थी। फलत. व्याकरण लेनेपर वशीधर

गुरुओके सतिशय स्नेह-भाजन हुए थे। आचार्यमे व्याकरण-दर्शन पढाये जानेपर गुरुओं तथा इनको स्वय यह आभास हुआ कि यह युवक तो दर्शन और न्यायके योग्य क्षयोपशमशाली है। इस प्रतिभा-परीक्षणके वाद बशीधरजीने स्वयं स्वाध्यायद्वारा जैन न्यायके मानक महाग्रन्थोका अध्ययन किया। और काशी विश्वविद्यालय-से जैनदर्शन शास्त्री एव बगाल संस्कृत ऐसोशियेशनसे न्यायतीर्थ परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण करके सर्वांग विद्वत्ताको प्राप्त किया। तथा प्रारम्भिक किशोर सहाध्यायियोकी प्रतिभा-परीक्षणको उनकी हितकामनासे अपनाया था। इन पक्तियोके लेखकको १९२८ मे गुरुवर गणेशवर्णीने श्रमण-शिक्षासस्था-श्रमणप्रक्रमसे पकड़ स्याद्वाद महाविद्यालयकी लोकोत्तर-छात्रता वशीधरजी, परमानन्दजी तथा भैयाजी हरिप्रसादके आग्रहपर ही दिलायी थी, क्योकि उस समयतक छात्रावासमे एक भी स्थान रिक्त नही रहा था। एक दिन विद्यालयकी छत पर अभ्यास करते समय इन्होने अष्टसहस्रीकी कारिका—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धि द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥"

दिखायी और विशारद प्रथमखण्डके लघुतम छात्रको इसका अनुवाद करनेको कहा। याद नही, अनुवाद कैसा, क्या रहा होगा ? पर इन्होने अपने न्यायतीर्थ-परीक्षाप्रपत्रके साथ उसका भी न्याय-प्रथमाका परीक्षा-प्रपत्र भरवा दिया। और उच्चकक्षा-छात्र प० श्रुतसागरजीकी कृपासे दो मासमे न्यायप्रथमाकी तैयारी करके न्यायशास्त्र रुचिकर बना सका था, जिसकी पूर्णा वह साहित्यशास्त्री (ग० स० को०) तथा तृतीयवर्ष कला (का० वि० वि०) के साथ इनके समान ही न्यायतीर्थ (व० स० ए०) करके कर सका था।

न्यायबुद्धि

पं० बशीधरजीकी न्यायप्रियता शास्त्र-अध्ययन तक ही सीमित न थी। अपितु वह प्रत्येक अनुचितके प्रतिरोधरूपसे प्रस्फुटित होती थी। इसका प्रथम प्रदर्शन मुझे १९२९ मे विद्यालयमे ही देखनेको मिला था। विशेष बुद्धिमान् छात्रोको योग्यतावृत्तिया भी मिलती थी। फलत विद्यालयमे यह नियम वन गया था कि एक-से-अधिक योग्यता-वृत्ति पानेवाले छात्रोको भोजनशुल्क पाच रुपया मा० जमा करनी होगी। सयोगात् छात्रोने इसका उल्लघन किया। और एक ऐसे ही छात्रने झूठ भी नही बोला। फलत उसे तत्कालीन उप-अधिष्ठाताजीने छात्रावाससे पृथक् कर दिया। व्याकरणाचार्यने माग की थी कि 'ऐसे सभी छात्रोको पृथक् किया जाय।' इसपर उन छात्रोको छोडकर इन्हें ही पृथक कर दिया गया। किन्तु ये न्यायमार्गपर रहे और छात्रा-वास छोडकर चले गये तथा बाहर रहकर भी अपने गुरुकुलके छात्ररूपसे ही व्याकरणाचार्य पूर्ण करके उसे गौरवान्वषित किया था।

मनस्विता

सयोगात् इनका विवाह एक सम्पन्न घरानेकी एकमात्र पुत्रीके साथ हुआ था। किन्तु व्याकरणाचार्य होते ही ये व्यावरके जैन सम्प्रदायी साधुओको पढानेके लिए आमन्त्रित किये गये, तो इन्होने ससुरालकी विपुल सम्पत्तिकी उपेक्षा करके अल्पवित्त आत्मभरताको ही वरीयता दी। तथा ससुरके एकमात्र सतानस्नेहकी भावनात्मक सुकुमारताका पालन करते हुए भी व्यवसायी-बुद्धिजीवी ही रहे। तथा परम आध्यात्मिक साधक प० भागचन्दजी आदिके समान ग्राहक निवटाकर शारदा-साधनामे ही लगे रहे।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहः

व्याकरणाचार्यजीका शब्दशास्त्रका पूर्ण अध्ययन तथा श्रमणधर्म-न्यायपारगतता स्वान्त सुखाय ही रही है। यह इनका पूर्वपुण्योदय था कि मूर्धन्य विद्वान् होकर भी इन्होने जिनवाणीसे आजीविका कभी नहीं

की हैं। और अपने अबाध ज्ञान और मननका जीव-उद्धार तथा परम्परया समाज-देश उद्धारके लिए ही उपयोग किया है। इसीलिए सकुचित मान्यताओके अर्थप्रधान समाजमे ये प्रकाशस्तम्भका कार्य करते रहे है। पच-कल्याणकगजरथ आदि कालातीत प्रभावनाओका ही प्रतिरोध आपके द्वारा नही हुआ है; अपितु लक्ष्मीके सामने शारदाको झुकानेवाले अपने प्रौढ सुधार-साथियोका भी सुधार करनेमें वे अग्रणी रहे है। और द्रव्यानुयोगलोपके कारण अध्यात्महीन श्रमण-सम्प्रदायी एकाध साधु द्वारा केवल अध्यात्मके एकाध ग्रन्थके आधार पर ही अपनाये गये निश्चयैकान्तका, दृव्यानुयोगके धनी श्रमणधर्मी प्रौढ विद्वानो द्वारा समर्थन किये जानेपर व्याकरणाचार्यजी अपने एकाकी प्रयास द्वारा सिद्धान्ताचार्यकी भूमिका निभा सके है। इन्होने स्पष्ट कर दिया कि धर्मशास्त्री, कभी भी अर्थशास्त्री नही होता। और न ही वह व्यवहारैकान्ती होता है, चाहे व्यवहारैकान्ती स्वपक्षमें लानेके लिए ख्याति-लाभका भण्डार उसके सामने उडेल देवे। उसको तो वादार्थी स्वामी समन्तभद्रके चरणचिन्होपर चलकर "युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्" मात्र ही एक गति है, क्योकि ऐसा करनेपर ही उसका इष्ट, प्रसिद्ध दृष्टका साधक होता है।

अपनी इस प्रखर दृष्टिके कारण स्वजन एवं परिजनोके विरोध करनेपर भी अपने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राममे भी भाग लिया था। और १८५८ मे धोखेसे आक्रान्त सोरई (अब जिला ललितपुर) को भी अकेले ही सत्याग्रही बनाया था। अचल, गुरुकुल और अन्य प्रकारोसे वे लेखकके अग्रज है। अतः ख्याति-लाभ-मानसे परे इन एकमात्र श्रमण-पण्डितजीको प्रणाम ही करना समुचित है।

साधना-पथके निष्ठावान पथिक

● श्री यशपाल जैन, दिल्ली

मुझे यह जानकर बडा हर्ष हुआ कि पडित बशीधर व्याकरणाचार्यका दीर्घकालीन सेवाओंके उपलक्ष्यमे सार्वजनिक सम्मान किया जा रहा है और उस शुभ अवसर पर उन्हे एक अभिनन्दनग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। मैं उनका पूरे हृदयसे अभिनदन करता हूँ और उनके उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायुकी प्रभुसे कामना करता हूँ।

पडितजी जैन समाजके उन इने-गिने विद्वानोंमेसे है, जिन्होने अपनी वाणी और लेखनीसे जैन समाजको असामान्य प्रेरणा दी है और जैन वाङ्मयको समृद्ध किया है। उनकी कई पुस्तकें जैन तत्त्व-ज्ञान, जैन तत्त्व-मीमासा आदिके सम्बन्धमे बड़ी मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करती हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता प्रामाणिकता, विचारोंकी स्पष्टता और विवेचनकी मौलिकता है।

मुझे पडितजीके निकट सम्पर्कमे आनेका अवसर नहीं मिला, किन्तु जब भी उनसे साक्षात्कारका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनकी सरलता और सादगीने मुझे बहुत प्रभावित किया है। विद्वत्ता प्राय व्यक्तिको जटिल और अभिमानी बना देती है, परन्तु पडितजीके जीवनको जटिलता और अभिमान स्पर्श नहीं नहीं कर पाये। उनकी विद्वत्ता किसीको भी आतंकित नहीं करती, उसे स्नेह और आदर उत्पन्न करती है।

उत्तरप्रदेशके बुन्देलखण्ड-भागमें सोरई ग्राममें जन्मे पण्डितजीकी प्रारम्भिक शिक्षा जन्म-स्थान पर हुई। बादमें वह १४ वर्षकी अवस्थामें वाराणसी चले गये, जहाँ स्याद्वाद महाविद्यालयमें उनका [illegible] हुआ। और वहाँसे वह व्याकरणाचार्य, साहित्य-शास्त्री, जैन-दर्शन-शास्त्री और न्यायतीर्थकी उपाधियाँ [illegible] हुए।

इतनी उपाधियाँ मिलना आसान बात नही थी। इसके पीछे उनका गहन अध्ययन, परिश्रमशीलता और लगन थी। किशोरावस्थाके ये गुण उनके लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुए। वह बराबर आगे बढते गये और एक दिन उन्नतिके चरम शिखर पर पहुँच गये। आज उनकी गणना जैन समाजके उन विद्वानोमे होती है, जिनके नाम उँगलियो पर गिने जा सकते है।

पडितजी चाहते तो अपनेको जैन दर्शन और जैन साहित्य तक ही सीमित रख सकते थे, किन्तु समाजको भी उन जैसे नि स्पृही और नि स्वार्थ सेवककी आवश्यकता थी। उन्होने जैन और जैनेतर समाजोकी चेतनाको जाग्रत करनेके लिए सतत प्रयत्न किये। वह पुरातन पीढीके थे, किन्तु उन्होने यह नही माना कि जो कुछ अच्छा है, वह केवल प्राचीनताकी देन है। उन्होने वर्तमान उपलब्धियोको भी देखा और उनमें जो ग्राह्य था, उसे ग्रहण किया। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्राचीन परम्पराओ, आचार-विचारो और सस्कृतिके प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी उन्होने आधुनिक विचारोके सम्बन्धमें उदार दृष्टिकोण रखा और यथासम्भव दोनो विचार-धाराओके बीच समन्वय स्थापित किया।

पडितजीका जीवन बहुआयामी है। वह विद्वान है। समाजसेवी है, लेकिन साथ ही राष्ट्र-सेवी भी हैं। जिस समय देशमे नमकसत्याग्रहके फलस्वरूप एक नई चेतना जाग्रत हुई और सारा देश पूर्ण स्वतन्त्रताकी शपथ लेकर मैदानमे आ खडा हुआ, पडितजी भी पीछे नही रहे। देश-सेवाके कार्योंमे सक्रिय योगदान दिया और जब सन् १९४२ मे ९ अगस्तको 'भारत छोडो' आन्दोलनका सूत्रपात्र हुआ तो पडितजी राष्ट्र-सेवकोकी प्रथम पक्तिमे आ खडे हुए, जेल गये। सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोमें उन्होने नौ-दस माह कितने कष्टमे बिताये, उसकी कहानी आज भी दिल दहला देती है। पडितजी नगर काग्रेस-कमेटीके अध्यक्ष और मध्यप्रातीय काग्रेस-कमेटीके सदस्य भी रहे।

जो मुक्त हस्तसे देता है, उसका भण्डार कभी रिक्त नही होता, उल्टे समृद्ध होता है। कहते हैं, सर्वोत्तम दान विद्यादान होता है। पडितजीने अनेक पुस्तकें तो लिखी ही, विभिन्न विषयोके दर्जनो लेख भी लिखे। गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला और भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषदके वर्षों तक मत्री रहे। सिवनी तथा श्रावस्तीके विद्वत्परिषद्-अधिवेशन उन्हीकी अध्यक्षतामे सम्पन्न हुए। इन अधिवेशनोमे उन्होने जो भाषण दिये, उन्हे सुनकर श्रोता मत्रमुग्ध रह गये।

उन्होने कई पत्रोका सम्पादन भी किया।

छ दशकसे वह लगातार समाज, साहित्य, धर्म और सस्कृतिकी सेवामे सलग्न है। अध्यापनमे उन्होंने अधिक समय नही लगाया, अधिकाश समयका उपयोग अध्ययन और लेखनमे किया। वह मौलिक चिन्तक हैं और लेखनमें भी उनकी विशेष गति और मति है। यह जैनदर्शन और जैन साहित्यके अधिकारी विद्वान् हैं।

मैने एक स्थान पर लिखा है कि साधक कभी थकता नही, कभी रुकता नही। पडितजी एक महान् साधक है। चौरासी वर्षकी वयमे आज भी वह सक्रिय हे। उनका चिन्तन और लेखन अबाध गतिसे चलता रहता है।

सेवाके प्रति समर्पित व्यक्तित्वकी विशेषता होती है कि वह अपने जीवनकी प्रत्येक श्वास और प्रत्येक घडीका सदुपयोग करता है। एक क्षण भी प्रमादमें नही खोता। पडितजीका सम्पूर्ण जीवन सेवाके लिए समर्पित रहा है। इसीसे समयका उनके लिए बडा मूल्य है।

पडितजी अनेक महत्त्वपूर्ण पदो पर रहे है, अनेक सम्मान उन्हें मिलते रहे है, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि उनसे पडितजी नही, वे स्वयं गौरवान्वित हुए है।

पंडितजीसे कब-कब और कहाँ-कहाँ मिलना हुआ, अब याद नही आता, किन्तु उनके चेहरेकी सौम्यता और वाणीकी मृदुलताकी छाप अब तक मेरे मन पर बनी हुई है।

आज सार्वजनिक जीवनमे मूल्योका बडा ह्रास हो गया है। जैन समाज भी उसका अपवाद नही है। पडितजीका सर्वोत्तम अभिनन्दन यही होगा कि जैन समाज उनकी कठोर साधनाका स्मरण करे, उससे प्रेरणा लें, और अपने आचरणसे जैनधर्म, सस्कृति और दर्शनके उज्ज्वल स्वरूपको प्रस्तुत करके एक नये युगकी स्थापनामें सहायक हो।

"जीवेम शरद शतम्"—पडितजी शतायु हो।

विलक्षण प्रतिभाके मनीषी

● प्रो० उदयचन्द्र जैन, जैन-बौद्धदर्शनाचार्य, पूर्व रीडर, का० हि० वि०

श्रीमान् प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य एक लब्धप्रतिष्ठ वयोवृद्ध विद्वान् हे। आपमे अनेक ऐसी विशेषताएँ है जिनके कारण जैन समाजमे ही नही, किन्तु भारतीय समाजमें भी आपका विशिष्ट स्थान है। विद्वत्समाजमें तो आप एक प्रतिभाशाली मूर्धन्य विद्वान्के रूपमे सुप्रसिद्ध है।

आपने प्रात स्मरणीय परमपूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा सस्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमे रहकर ११ वर्प तक उच्चकोटिका अध्ययन किया है। आप जैनसमाजके प्रथम व्याकरणाचार्य है। व्याकरणाचार्यकी उपाधि प्राप्त करना कोई साधारण बात नही है। साहित्य, दर्शन, न्याय आदि विषयोमे व्याकरण अति कठिन विषय है। ऐसे कठिन विषयमे आपने प्रवीणता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया है कि दृढ संकल्प वाले व्यक्तिके लिए कोई कार्य कठिन नही होता है। अत व्याकरणाचार्यकी उपाधि आपकी विशिष्ट प्रतिभाकी सूचक है।

जैनदर्शन ओर जैनसिद्धान्तके मूर्धन्य विद्वान् होनेपर भी आपने शिक्षा-समाप्तिके अनन्तर किसी विद्यालय आदिमे सर्विस नही की, किन्तु वीनामे स्वतत्र व्यवसायको अपनाकर वणिक्पुत्रोमे भी अपना श्रेष्ठ स्थान बना लिया। ऐसा कहा जाता है कि सरस्वती और लक्ष्मीका विरोध है। परन्तु आपने इस कथनको असत्य सिद्ध कर दिया है। आप सरस्वतीके वरदपुत्र होकर भी लक्ष्मीके भी परम प्रिय पुत्र बने।

उच्चकोटिके विद्वान् होनेके साथ ही आप स्वतन्त्र विचारक और लेखक भी है। व्यवसायमे सलग्न व्यक्ति प्राय चिन्तन तथा लेखनके लिए बहुत कम समय निकाल पाता है। परन्तु आप इसके अपवाद है। यही कारण है कि आपकी लेखनोसे 'जैन शासनमे निश्चय और व्यवहार', 'जेनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था' आदि ऐसी अनेक कृतियोका सृजन हुआ है जो महत्त्वपूर्ण होनेके साथ ही पठनीय और मननीय हे। इतना ही नही, अभी ८४ वर्पकी ववस्थामे भी आप लेखन तथा चिन्तनके कार्यमें बराबर सलग्न रहते है।

जैन विद्वानोमे स्वतत्रता-सेनानी प्राय बहुत-कम मिलेगे। किन्तु आपने स्वतत्रता-सेनानी होनेका महान् गौरव प्राप्त किया है। सन् १९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलनमे आपने सक्रिय भाग लेकर सागर, नागपुर और अमरावतीकी जेलोमे ९-१० मास तक अनेक कष्टोको शान्तभावसे सहन किया है।

समाज-सेवा, देश-सेवा और साहित्य-सेवा तीनोको आपने अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य बनाया है।

सन् १९६५ मे आप भा० दि० जैन विद्वत्परिद्के अध्यक्ष चुने गये। फरवरी मासमे सिवनीमें आपकी अध्य-क्षतामें विद्वत्परिपद्का अधिवेशन हुआ। उस समय आपने श्रीमान् कोठियाजीको लिखा कि वाराणसीके सब विद्वानोको साथ लेकर सिवनी आओ। कोठियाजी आदि विद्वानोके साथ मैं भी सिवनी गया। विद्वत्परिपद्की कार्यकारिणी समितिके चुनावके समय सिवनी अधिवेशनमे आपने मुझे विद्वत्परिपद्का सयुक्तमत्री बना लिया। और प्रसन्नता है कि कुछ वर्षों तक विद्वत्परिपद्के सयुक्तमत्री पदपर रहकर कार्य करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आप हित, मित और प्रियभापी है। जब आप विद्वत्परिद्के अध्यक्ष थे तब आपने स्नेहपूर्वक एक दिन-के लिए बीना बुलाया। उस समय आपने अनेक विपयो पर विद्वत्तापूर्ण चर्चा की थी तथा मुझे भी अनेक परा-मर्श दिये थे। आपका स्नेहपूर्ण आतिथ्य तो सदा स्मरणीय रहेगा। आप श्रीमान् कोठियाजीके आदरणीय चाचाजी है। इसलिए आप जब कभी कोठियाजोके यहाँ वाराणसी आते थे तब आपसे मिलकर परम प्रसन्नता होती थी। अप्रैल सन् १९८७मे ललितपुरमे श्रद्धेय डॉ० कोठियाजीके कुलपतित्वमें हुई जैन न्याय-विद्या-वाचनाके समय भी आपसे मिलनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था।

हर्ष है कि ऐसे महान् विद्वान्की सार्वजनिक सेवाओके उपलक्ष्यमें उन्हे अभिनन्दनग्रन्थका समर्पित किया जाना एक अत्यन्त स्तुत्य कार्य है। इस सुखद अवसरपर उनकी दीर्घायुकी कामना करता हुआ उन्हे अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

बीसवीं सदीके गम्भीर-दार्शनिक विद्वान्

● प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, स्नातकोत्तर सस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० कालेज, आरा

जो स्वतन्त्र मौलिक विचारोके धनी तथा स्वाभिमानी प्रवृत्तिके विद्वान् होते हैं, वे किसीके आदेश-निर्देश और पराधीनताको स्वीकार नही करते। अमेरिकाके एक महान दार्शनिक इमर्सनके विषयमें कहा जाता हैं कि उसने नगरसे दूर एक जगली-सरोवरके किनारे एक झोपडेमें रहना और अपनी आजीविकाके लिए छोटा-मोटा कृपि-कार्य करते हुए तत्त्व-चिन्तन एव लेखनकार्य तो पसन्द किया, किन्तु राजकीय-सेवा या अन्य सस्थाओकी पराधीनतापूर्ण सेवामे रहना पसन्द नही किया। यही स्थिति है हमारे मनस्वी महापण्डित श्रद्धेय प० व शीधरजी शास्त्री व्याकरणाचार्यकी भी।

श्रद्धेय पण्डितजी जैनेतर व्याकरणाचार्योंमें प्रथम पक्तिके तथा जैन समाजमे व्याकरणाचार्योंका खाता खोलनेवाले आद्य व्याकरणाचार्य है। न्यायाचार्य, साहित्याचार्य एव सर्वदर्शनाचार्य आदि तो जैन समाजमें अनेक तैयार हुए, किन्तु व्याकरणाचार्य इने-गिने ही मिलेगे। उसका मूल कारण है कि वह विषय प्राय सभी-को नीरस एव दुरूह लगता है। इस कारण बहुत कम लोगोकी गति उसकी ओर हो पाती है।

पण्डितजीके जीवनका जब यह दृढ सकल्प बना कि यदि समाजकी ठोस सेवा करनी हो तो समाजके वेतन-भोगी सेवक मत बनो। उन्होने वही किया भी। समाजके प्रतिष्ठित पदोको प्राप्त करनेका उन्होने कभी प्रयत्न नही किया। उसके बदलेमे उन्होने बीना (सागर) जैसे छोटे-से नगरको ही अपनी कर्मभूमि मानकर वही पर कपडेके छोटे-से व्यापारको अपने परिवारकी आजीविकाका साधन बनाया तथा व्यापारिक कार्योंसे बच हुए समयको अपने स्वाध्याय एव प्रवचनमें लगाया।

पण्डितजीके कारण बुन्देलखण्डका अत्यन्त लघु नगर "बीना" भारतकी विद्वत्ताके मानचित्रमे सुर्खियो-भरा स्थान पा गया। समाजमे जब भी शास्त्रार्थ होता या कोई समस्या उठ खडी होती, सभीका ध्यान बीना-नगरके उस एकान्त साधककी ओर चला जाता और निश्चय ही वहाँसे उसका समाधान निकल आता।

इन पक्तियोका लेखक तो पपौराजी विद्यालयके अध्ययनकाल (सन् १९३८) से ही उनका नाम सुनता चला आ रहा था। सयोगसे मेरे आद्य विद्या-गुरु श्री पण्डित डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यके सौजन्यसे वे पपौराजीके एक नैमित्तिक अधिवेशनमे पधारे। अत्यन्त साधारण, किन्तु शुद्ध खद्दरधारी पण्डित बंशीधरजीको अपने बीच पाकर हम लोग कृतकृत्य थे। हमारी छात्रसभामे भी उनका उद्बोधक भाषण हुआ। शब्दावली तो मुझे स्मरण नही, किन्तु उसका साराश यही था कि "जिनवाणी एवं जैन समाजके उद्धारका भार नवीन पीढी पर है। इसके साथ ही राष्ट्रके निर्माणकी जिम्मेवारी भी उन्ही पर है। अत छात्रोको अपने अध्ययनके साथ-साथ स्वस्थ रहकर समाज एवं राष्ट्रकी सभी समस्याओको समझकर अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उनके उद्धार एव निर्माणकी दिशामे भी कार्य करनेकी योग्यता हासिल करना चाहिए।"

सन् १९५७ के आसपास मैंने डॉ० हीरालालजी एव डॉ० ए० एन० उपाध्येके आदेशसे हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थोपर शोधकार्य प्रारम्भ किया था। उस प्रसंगमे मैं महाकवि रइधूकी पाण्डुलिपियोकी खोजमें राजस्थान एवं गुजरातके बाद बीना पहुँचा था। वही मेरी उनसे प्रथम साक्षात् भेंट थी। मैने उसी समय परखा कि नवीन उन्ननीषु पीढीके प्रति वे कितने सहृदय, एव सहयोगी-प्रवृत्तिके सज्जनोत्तम व्यक्ति हैं। भले ही वहाँके शास्त्र-भण्डारमे मुझे रइधूकी कोई भी प्रति नही मिली, किन्तु उसकी खोजसे लेकर आतिथ्य तककी उनकी स्नेह-छाया मुझे अवश्य मिली।

जैन समाजमे कर्म-सिद्धान्तके ज्ञाता दो विद्वान् सर्वविदित हैं—सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्रजी शास्त्री एवं सिद्धान्ताचार्य प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य। दोनो ही शुद्ध खद्दरधारी, दोनो ही पक्के गाँधीवादी, दोनो ही जैन-सिद्धान्तके मर्मज्ञ, अभूतपूर्व प्रतिभाके धनी, दोनो ही मनस्वी एवं बेजोड स्वाभिमानी और दोनो ही राष्ट्रकी सेवामें समर्पित और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके आन्दोलनकारी होनेके कारण जेलकी यातनाओके भोगी। दोनोकी इतनी प्रगाढ मैत्री कि पूज्य प० फूलचन्द्रजी कहा करते थे कि हम दोनोकी विचार-धारामे इतना मतैक्य है कि किसी भी प्रश्नके उत्तरमें भाषामें भले ही हीनाधिक अन्तर आ जाय, किन्तु विचारोमें कभी भी अन्तर नही आ सकता। दार्शनिक-मान्यताको लेकर सम्भवत यही स्थिति आगे नही चल सकी। 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा'मे इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। किन्तु मतभेद रहते हुए भी मनभेदकी स्थितिको वे दोनो ही पसन्द नही करते। यही उनकी महानता एव बडप्पन है।

पण्डितजीका जीवन एक खुली पुस्तकके समान है। वे व्यापारी अवश्य हैं किन्तु अणुव्रतोके नियमोके प्रतिपालक भी हैं। यह आश्चर्यका विषय है कि व्यापार करते हुए भी जैन-दर्शनके गहन रहस्योका उद्घाटन वे कैसे कर पाते हैं? किन्तु निरपेक्षवृत्तिसे व्यापारमें लगे हुए पण्डितजी उसे आश्चर्य नही मानते, क्योकि वे उस पथके पथिक है, जिसे भारतके सुप्रसिद्ध जौहरी एवं चिन्तक रायचन्द्र भाई (महात्मा गाँधीके गुरु) जैसोने भी अनुसृत किया है।

बुन्देलभूमि प्रारम्भसे ही साधक विद्वानोंकी खानि रही है। उसकी प्रथम पक्तिके विद्वानोमे पण्डित बंशीधरजीका नाम चिरकाल तक प्रेरणाका अजस्र-स्रोत बना रहेगा। उन्हे हमारा शतश नमन है। वे शतायु हो।

राष्ट्र एवं समाजकी अतुलनीय विभूति

● डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, मानद निदेशक अ० शो० पी०, उज्जैन

खादीकी स्वच्छ श्वेत नुकीली टोपी, खादीके कुर्तेके ऊपर जवाहर जाकेट एव खादीकी धोती, आँखो पर चश्मा, भोला चेहरा और सतर्क नेत्र, सक्षेपमे यह है हमारे आदरणीय पण्डित वशीधरजीका बाह्य व्यक्तित्व और आन्तर व्यक्तित्व है उनका स्वाभिमानपूर्ण आगमिक एव दार्शनिक चिन्तनसे ओतप्रोत तेजस्वी रूप।

आप कहेगे पण्डितजीका नाम वशीधर क्यो है ? वशीधरका अर्थ होता है श्रीकृष्ण। इनका नाम तो जैनेन्द्र, ऋषभ, अभिनन्दन, सत्यधर आदि होना चाहिए था। इसका उत्तर यह है कि आजसे लगभग सौ-डेढ-सौ वर्ष पूर्व समाजमें जैन पण्डित नही थे। जन्म और मृत्युके समय ब्राह्मण पण्डित ही हमारे शरण थे। यही कारण है कि हमारे वयोवृद्ध पण्डित-जनोके नामोपर उन्हीकी सस्कृतिकी छाप है। जैसे पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी, बाबा भगीरथजी वर्णी, प० गोपालदासजी वरैया, प० देवकीनन्दनजी, प० जगन्मोहनलालजी, आदि। उसी परम्परामे हमारे अभिनन्दनीय पण्डितजीका नाम प० वशीधर रखा गया है।

आदरणीय पण्डितजीने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमे जैनधर्म एव दर्शनका अध्ययन समाप्त कर समाज, साहित्य एव पत्रकारिताके लिए अपनी सेवाएँ अर्पण करते हुए, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-सग्राममे भी योगदान किया।

मैं आदरणीय पण्डितजीका जीवन जैन पण्डितोके लिए आदर्श मानता हूँ। इसका कारण यह है कि उन्होने विद्याको आर्थिक आधार न बनाते हुए स्वतत्र व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलायी। इसी कारण उन्हें समाजमे विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ। आदरणीय पण्डितजी चौरासी वर्षकी आयुमें निष्प्रमादभावसे अपने जीवनके आदर्शोको पूर्ण करनेमे सलग्न है, यह बात आजके विद्वानोके लिए अनुकरणीय है।

वेदोमें "जीवेम शरद शतम्" कहकर सौ वर्षों तक जीनेका आदर्श रखा गया है। साथ ही "अदीना स्याम शरद शतम्" कहकर सौ वर्षो तक मनोवलको ऊँचा रखनेकी बात भी कही गयी है।

हम आदरणीय पण्डितजीके शतायु होनेकी कामनाके साथ उनकी आनि श्रेयस् आध्यात्मिक समृद्धिकी हृदयसे कामना करते है।

विद्वत्ता और सहृदयताके संगम

● डॉ० रतनचन्द्र जैन, रीडर—भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल

'पडित वशीधरजी व्याकरणाचार्य' यह नाम बचपनमे अपने पिताश्री (पडित बालचन्द्रजी प्रतिष्ठाचार्य)के मुँहसे सुना था। वे वडे आदरसे यह नाम लिया करते थे। व्याकरणाचार्यजीकी विद्वत्ताकी धाक मेरे पिताजीके मनमे वडे गहरे पैठी थी। उनके बारेमें बार-बार चर्चा करके पिताजी सभवत' हमलोगोको उन जैसा ही बननेकी प्रेरणा देते थे।

बचपनमे एक बार उनके दर्शन भी पिताजीने सागरमे कराये थे। खद्दरकी धोती, कुर्ता और टोपीमे भव्य लग रहे थे। उस समय उनकी आयु लगभग पैतालीस वर्ष रही होगी। दिव्य तेज मुखपर झलक रहा था। पिताजीसे वे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मिले थे। पिताजी अवस्थामें उनसे कुछ ज्येष्ठ थे।

'व्याकरणाचार्य' उपाधि भी हमारे मनमे अत्यन्त श्रद्धा पैदा करनेवाली थी। सस्कृत-व्याकरणकी क्लिष्टतासे कौन अध्येता परिचित नही है। लोहेके चने है। ऐसे विपयमे जिसने आचार्यत्व प्राप्त किया हो वह अपनी अपूर्व मेधाके कारण कितना विस्मयोत्पादक, अतएव श्रद्धाका पात्र न होगा।

पंडितजीने स्वतत्रता-सग्राममे भी भाग लिया था और जेल गये थे। सस्कृत और जैन सिद्धान्तके उद्भट विद्वान्की इस देशभक्ति और स्वातन्त्र्यप्रियताका जब हमे बोध हुआ तब हमारा मस्तक गर्वसे ऊँचा उठ गया और श्रद्धा द्विगुणित हो गई।

लम्बा अरसा बीत गया। सन् १९८० मे सागर (म० प्र०) में पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराजके ग्रीष्मयोगके अवसर पर एक महानिबन्ध-प्रतियोगिताकी घोषणा हुई थी। विषय था 'मोक्षमार्गमें निश्चय-व्यवहारकी उपयोगिता।' मेरा निबन्ध इसमे पुरस्कारयोग्य एव प्रकाशनार्थ पाया गया था। बादमें ज्ञात हुआ कि इसके तीन निर्णायकोमेसे एक व्याकरणाचार्यजी भी थे। इस विषयमे माननीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने एक रोचक किस्सा सुनाया। मेरे निबन्धकी प्रति जब व्याकरणाचार्यजीको प्राप्त हुई तब उन्होने 'निश्चय-व्यवहार' विषय देखकर अरुचिपूर्वक उसे वि० प० के कार्यालयको लौटा दिया, क्योकि एक अरसेसे एक विशेष विचारधाराके अन्तर्गत निश्चय-व्यवहारका अत्यन्त गलत प्रतिपादन किया जा रहा था। इससे व्याकरणाचार्यजीका मन अत्यन्त विरस हो गया था। किन्तु आदरणीय डॉ० कोठियाजी द्वारा उसे अवश्य पढनेकी प्रेरणा करनेपर उसे उन्होने कार्यालयसे पुन मगाया और उसे पढकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने प्रतिवेदनमे इसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। यहीसे पण्डितजीका नैकटच प्राप्त हुआ।

प्रतियोगिताका परिणाम घोषित होनेके लगभग चार माह बाद मुझे श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीका एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमे लिखा था कि बीनाके एक सज्जन मेरे महानिबन्धको पुस्तकरूपमे प्रकाशित करना चाहते है। यदि मैं इच्छुक होऊँ तो शीघ्र उनसे आकर मिलूँ। पण्डितजीका पत्र पाकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अपना अहोभाग्य समझा कि जैनदर्शनके एक वयोवृद्ध, मूर्धन्य विद्वान्ने मुझे अपने पास बुलाया है। मैंने पण्डितजीको अपने पहुँचनेकी तिथि सूचित की और उनके पास बीना पहुँचा। पहुँचनेपर मैंने उनके चरणोका स्पर्श किया। पण्डितजी बोले—'रतनचन्द्र, मुझे तुम्हारा निबन्ध बहुत अच्छा लगा। मेरा हृदय प्रसन्न हो गया।'

पण्डितजीने स्वय चलकर स्नान वगैरहका स्थान बतलाया, अपने साथ भोजन कराया और अपने विश्रामकक्षमे ले जाकर विश्राम करनेके लिए कहा। साथ ही पूछा—'विश्रामके बाद दूध-चाय क्या लोगे? जो लेना हो, नि सकोच कहना, अपना ही घर समझना।' यह कहकर पण्डितजी दुकानमे चले गये। बाजारका दिन था। दूकानमे सहयोग देना था।

पण्डितजीके इस अननुभूतपूर्व वात्सल्यमय आतिथ्यसे मैं गद्गद हो गया। लगा जैसे अपने घरमें आ गया हूँ। पण्डितजीके मानवीय व्यक्तित्वका साक्षात्कार कर मैं अपूर्व आनन्द और श्रद्धाके सागरमे डूब गया। विद्वत्ता और सहृदयताका अद्भुत सगम देखकर नेत्र सजल हो गये।

पचहत्तर वर्षकी अवस्थामे पण्डितजीकी दिनचर्या देखकर बडा आश्चर्य हुआ। पण्डितजी रात्रिको नौ बजे सो जाते है और सुबह तीन बजे उठते हैं। उठकर स्वाध्याय और लेखन करते है। उन्होने अधिकाश लेखन इसी समय किया है। यही समय उन्होने मुझे चर्चाके लिए दिया था। मैं भी तीन बजे उठ गया। पण्डितजीसे चर्चा हुई। उन्होने मेरे निबन्धमें कुछ स्पष्टीकरण सुझाये। मैंने समाधानके लिए अनेक प्रश्न उनके सामने रखे। पण्डितजीने शान्तभावसे समाधान किया। मपिडतजीको समझानेकी शैली अत्यन्त

सहृदयतापूर्ण है। जिज्ञासुकी समझमे न आनेपर वे खिन्न और उदासीन नहीं होते, अपितु बार-बार स्नेहपूर्वक समझाते हैं। मैंने उनसे कतिपय प्रश्नोंपर बहुश प्रश्न किये, किन्तु एक भी बार उत्तप्त नहीं हुए और बडे शान्तभावसे बार-बार समझाते रहे। जिज्ञासुको सत्यकी अनुभूति करा देनेकी कितनी उत्कट भावना है है पण्डितजीमें, यह मैंने अनुभव किया।

पिछले कुछ वर्षोंसे जैन समुदायमें जो एकान्तवादी विचारधारा चल पड़ी है और पूज्य वर्णीजीके द्वारा स्थापित सस्थाओंमे अध्ययन करनेवाले पण्डितजनोंने भी उसमे शामिल होकर सिद्धान्तोंका आगमविरुद्ध प्रतिपादन किया है, उससे व्याकरणाचार्यजीको जितना खेद है उतना शायद किसी अन्य विद्वान् को हो। 'जयपुर (खानिया) चर्चा'में आगमसम्मत विचारधाराकी पुष्टि करनेवाले विद्वानोंमें व्याकरणाचार्यजी प्रमुख थे। प्रतिपक्षने उक्त चर्चाका विवरण 'जयपुर तत्त्वचर्चा' नामसे दो ग्रन्थभागोंमें प्रस्तुत किया है। इसमें प्रतिपक्षने अपनी एकान्तवादी विचारधाराको ही सही ठहराया है। इसकी समीक्षा हेतु अनेक ग्रन्थोंकी रचनाका परमावश्यक, श्रमसाध्य एव प्रशसनीय कार्य व्याकरणाचार्यजीने ही किया है। सत्यका आग्रह भगवान महावीर और महात्मा गांधीका सच्चा अनुयायी ही कर सकता है। उसे लौकिक हानियोंकी परवाह नहीं होती। पण्डितजीने जिनवाणीकी जो प्रभावना की है वह स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जाने योग्य है।

पण्डितजीके प्रति मेरे मनमें अगाध श्रद्धा इसलिए है कि उनमे कोरा पाण्डित्य नहीं है। उनके पास एक मृदु तथा वात्सल्यसे परिपूर्ण निर्भय हृदय भी है, जिससे उनका पाण्डित्य सफल हुआ है। पण्डितजी दीर्घायु हो और स्वस्थ रहें, इस कामनाके साथ उन्हें मेरे कोटिश नमन एव श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं।

स्वाभिमानी विद्वान

● डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, अध्यक्ष, पालि-प्राकृतविभाग, नागपुर वि० वि० नागपुर

'सोरई' जैसे दूर-दराज गाँवमे जन्मे व्यक्तित्वने टेढी-मेढी पगडडियोंपर चलकर वाराणसीमें ज्ञान-साधना की और राष्ट्रीय तथा सामाजिक आन्दोलनोके कठोर झझावातोमे झूलते हुए, बीनाको अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया। इस लम्बी यात्राने उन्हें अनेक पडाव दिये, चिन्तन-मन्थन करनेके लिए और उसका निष्यन्द निकला स्वतन्त्रतापूर्वक अजीविकोपार्जन। इस निश्चयकी पृष्ठभूमिमे थी प० जीकी स्वाभिमानी वृत्ति और आत्मविश्वासी प्रवृत्ति। वृत्ति और प्रवृत्तिके बीच घूमता हुआ उनका मानस तेजस्वी व्यक्तित्व, कभी थका नहीं, बल्कि अविराम नैतिक पथका निष्प्रमादी, परिश्रमी, पुरुपार्थी पथिक बनकर उसने विद्वानोंकी श्रेणीमें अग्रगण्य बननेका सौभाग्य पाया।

स्वाभिमानी, पर अभिमानसे दूर, व्यापारी, पर लिप्सासे मुक्त, अध्यवसायी, पर कठघरोसे कटे हुए पण्डिजीके व्यक्तित्वने नई पीढीको जो समय-समयपर मार्गदर्शन दिया वह अपने आपमे अनूठा रहा है।

पण्डितजीकी विद्वत्ता और सहजताका परिचय मुझे, प्रथम बार तब मिला, जब बीनामे जैनतत्त्व-मीमासा (श्री प० फूलचन्द्रजी द्वारा लिखित) का प्रथम वाचन हुआ। लगभग सन् १९५८ मे। उस विद्वत् समुदायमे वे जिन मुद्दोको अपने अकाट्य तर्कोंके साथ उठाते थे, उनका परिहार सरल नहीं था। एक व्याकरणाचार्यकी सिद्धान्तशास्त्रोंमें इतनी गहरी पैठ देखने लायक ही बनती थी। सगोष्ठीकी जीवन्त उपयोगिता उनके ही परिश्रमका फल थी।

उसके बाद तो पंडितजीका स्नेह मुझे काफी मिला। श्रीलकासे वापिस आनेपर उन्होने बीनामे जो मेरा सत्कार किया कराया उससे तो मैं और भी अभिभूत हो गया। वस्तुत पण्डितजीकी गुणग्राहिताने उनकी स्वाभिमानी वृत्तिमे चार चाँद लगा दिये। अध्यापन कार्यसे दूर रहकर भी विद्वत्ताको पनपाये रखनेका जो सुन्दर उदाहरण पडितजीने प्रस्तुत किया है वह बेमिसाल है, अनुपम है। उनके इस उदाहरणका अनुकरण यदि उस समयके विद्वानोंने किञ्चित् भी किया होता तो पण्डित-परम्पराको जो अपमानके घूंट समाजने जहाँ-तहाँ पिलाये, उसका साहस उसे नही हो पाता। और पण्डित-परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी समस्या भी मुखर नही हो पाती। दीनता और नैराश्यसे उभरते तथा स्वाभिमानके साथ जीवन यापन करते हुए शैक्षणिक और सामाजिक सेवा करनेके लिए स्वतन्त्र व्यवसायमे जुट जानेके अतिरिक्त कोई दूसरा सुन्दर विकल्प नही है।

पचासी वर्षकी अवस्थामे भी पण्डितजी पूर्णतः स्वस्थ है। यह प्रसन्नताका विषय है। वे स्वस्थ रहे और अपने ज्ञानपुञ्जका प्रकाश प्रसृत करते रहे, यही हमारी मनोकामना है।

संस्मरण

• शाह अमृतलाल जैन, बीना सकलन **• डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल**

श्री शाह अमृतलालजी जैन/बीना निवासी/आयु ६७ वर्ष/व्यवसाय किरानाके व्यापारी।

श्री अमृतलालजी पण्डित बंशीधरजीके साले है। बीनानिवासी होनेके कारण पिछले ६० वर्षोसे पण्डितजीके घनिष्ट सम्पर्कमे रहे तथा उनकी प्रत्येक गतिविधिको सूक्ष्म दृष्टिसे देखा है। जब मैंने पण्डितजीके विषयमे अपने संस्मरण सुनानेको कहा तो कहने लगे पण्डितजी आरम्भमें ही कठोर अनुशासन प्रिय थे, अपने सिद्धान्तोके पक्के है तथा उनमें जरा भी ढिलाई पसन्द नही करते थे। यद्यपि मैं रिश्तेमें उनका साला हूँ लेकिन उनका मेरे साथ भी वैसा ही अनुशासन प्रिय व्यवहार रहता था, जैसा अन्य व्यक्तियोंके साथ रहता था। आरम्भमें तो मुझे उनका व्यवहार जरा सख्त लगता था लेकिन कुछ समय पश्चात् उनका वही व्यवहार हमारे लिए अनुकरणीय बन गया।

प्रश्न—आपने तथा आपके परिवारके अन्य सदस्योने पण्डितजीके जीवनका किन-किन दिशाओमे अनुकरण किया।

उत्तर—पहले तो शाहजी प्रश्नका उत्तर क्या दिया जाये, इसको सोचने लगे। लेकिन कुछ देर बाद कहने लगे कि हमारे पूर्वज तो केवल अपने व्यवसायमे ही सलग्न रहा करते थे। न सामाजिक झगडोमें पड़ते और न राजनीतिसे वे कोई सम्बन्ध रखते थे। किन्तु पण्डितजीकी सतत प्रेरणा एव मार्गदर्शनसे हम लोग सामाजिक राजनैतिक एव सार्वजनिक क्षेत्रोमे कार्य करने लगे। तथा अपना व्यापार व्यवसाय करते हुए सामाजिक सस्थाओके सभी पदोपर कुशलतापूर्वक कार्य किया तथा सभी क्षेत्रोमें पूर्ण ईमानदारीके काम करनेके कारण समाज एव सार्वजनिक क्षेत्रमे हमने जो सम्मान प्राप्त किया उसके लिए हम पण्डितजीके पूर्ण आभारी है।

प्रश्न—पण्डितजीकी लोकप्रियताके क्या उदाहरण दे सकते है ?

उत्तर—क्यो नही। बीनामें पण्डितजीकी लोकप्रियता सदैव अपने सर्वोच्च शिखरपर रही। पडितजी

बीनाकी सभी सस्थाओके मत्री, उपाध्यक्ष एव अध्यक्ष पदपर रहे । जब चुनाव होते तो पण्डितजीके और हम लोगोके सबसे अच्छे वोट आते । पण्डितजीने जब यहाँकी सस्थाओंका कार्यभार सम्हाला तो उनकी रोकडमें कुछ ही रुपये मिले थे । लेकिन जब उन्होने सस्थाओसे अपना त्यागपत्र दिया तो उन सबको लाखोंकी सम्पत्ति-वाली सस्था बनाकर छोडा । पण्डितजी तो पूर्ण निष्ठा एव ईमानदारीसे कार्य करते थे । लेकिन जब समाजके कुछ लोगोको उनकी लोकप्रियता सहन नही हुई तो परस्पर जातीयताको उलझा दिया गया । और अन्तमे पण्डितजीने सन् १९७१ मे अपना सम्बन्ध तोड लिया । और समाजके पूर्ण आग्रहके बाद भी अब वे सस्थाओका मामला हाथमें लेनेको तैयार नही होते । हमने भी पण्डितजीके साथ ही सस्थाओसे अपना हाथ खीच लिया ।

इस सम्बन्धमे मुझे एक घटना और याद आती है कि कभी-कभी सागर जिलेके कलेक्टर एव पंजीयन अधिकारी दूसरे जिलेके विभिन्न ट्रस्टोके अधिकारियोंसे कहा करते थे कि यदि ट्रस्टका प्रयास-सचालन देखना एव सीखना हो तो श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन हितोपदेशिनी सभा बीनाके मत्री प० वशीधरजीके पास जाकर सीखिये और फिर मेरे पास आइये । हिसाब-किताबमे पण्डितजी कितने पक्के एव व्यवस्थित हैं उसकी वे अधिकारीगण बराबर सराहना करते रहे ।

श्री शाहजीने पण्डितजीको लोकप्रियताकी एक और घटना सुनायी । वे कहने लगे कि सन् १९४२के आन्दोलनमें पण्डितजीकी लोकप्रियता देखकर बीनाकी पुलिसको उनको बीनामे गिरफ्तार करनेका साहस नही हुआ । लेकिन जब पण्डितजी सागरमे कचहरीका कार्य करके वापिस लौट रहे थे, तो बीना जकशनपर आपको गिरफ्तार कर लिया गया । पण्डितजीके गिरफ्तारीके समाचार बिजलीकी तरह बीना शहरमे फैल गये । और रात्रिमे ही कम-से-कम दस हजारकी भीड बीना जक्शनपर जाकर पण्डितजीकी जयके नारे लगाने लगी । पुलिसको चिन्ता हुई कि कही भीड बेकाबू होकर तोड-फोड नही कर डाले, इसलिए पण्डितजीको आग्रहपूर्वक पुलिस बाहर लाई और जब पण्डितजीने भीडको वापिस लौटनेके लिए कहा तभी लोगोने बीना जक्शन खाली किया।

आपने अन्तमे कहा कि ऐसे कितने सस्मरण सुनाये जा सकते हैं । हम तो पण्डितजीके आदर्शोपर चलने वाले हैं और हमारा पूरा परिवार उन्हे समर्पित रहा है । उनके अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित होनेके समाचार सुनकर हमे अत्यधिक प्रसन्नता हुई है । हम तो उनकी दीर्घायु एव यशस्वी जीवनकी ही मगलकामना करते है ।

जैनतत्वमीमांसाकी मीमांसा : शास्त्रीयमान्यताके परिप्रेक्ष्यमें

● पण्डित बलभद्र जैन, निदेशक—कुन्द-कुन्द भारती, नई दिल्ली

[१]

प्रस्तुत पुस्तक "जैनतत्त्वमीमासाकी मीमामा" जैनसमाजके बहुश्रुत और तत्त्वचिन्तक विद्वान् पण्डित वशीधरजी व्याकरणाचार्य द्वारा लिखी गई है। यह पुस्तक समाजके विश्रुत विद्वान् पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री द्वारा लिखिति 'जैनतत्त्व मीमासा' नामक पुस्तकके उत्तरस्वरूप लिखी गई है। इस उत्तर-प्रत्युत्तरका सन्दर्भ समझनेके लिये इसकी पृष्ठभूमिमे जाना होगा। इसमे सन्देह नही है कि दोनो ही विद्वानोकी गणना जैनममाजके उच्चकोटिके विद्वानोमे की जाती है। दोनोने जो कुछ लिखा, वह तर्कपूर्ण और सप्रमाण लिखा। उनकी भाषा संयत एव सभ्यजनोचित है। उनकी शैलीमे प्रौढता है। दोनो विद्वानोकी पुस्तकें पढनेसे जैनदर्शन-के अनेक दुरूह विषयोको समझनेका अवसर सुलभ होता है। विषय जितने गहन है, उनको अपने पक्षकी दृष्टिसे सिद्ध करनेवाले तर्क भी उतने ही गहन है। यदि उन्हे समझना है, तो उसके लिये गहन, मनन और चिन्तनकी आवश्यकता होगी। तभी यह निष्कर्ष निकल सकेगा कि किसके तर्कमे अधिक पैनापन है, किसकी प्रस्थापनाएँ नवीन है और कौन सिद्धान्त एव परम्पराके अधिक निकट है।

नि सन्देह दोनो विद्वान् दो विचारधाराओका प्रतिनिधित्व करते है। प० फूलचन्द्रजीकी विचारधारा कानजी स्वामीकी सोचके अधिक निकट है। प० बशीधरजीकी कोई स्वतन्त्र विचारधारा नही है, उनकी विचारधारा वही है, जो समाजमे परम्परागत शास्त्रीय विचारधारा है।

श्री कानजी स्वामी स्थानकवासी समाजके सौराष्ट्रके आचार्य थे। वे अपनी उग्र विचारधाराके लिये उस समाजमे भी बहुचर्चित थे। वहाँ कुछ परिस्थिति ऐसी बनी कि उन्हे दिगम्बर समाजमे आना पडा। वे दिगम्बर समाजमे किसी दिगम्बर जैन मुनि या आचार्यसे विधिवत् दीक्षा लेकर नही आये। वे सामान्य ढगसे नही आये। वे एक तूफानकी तरह आये। तूफान जब आता है, तो सूखे पत्तोकी तो गिनती क्या है, बहुत कुछ उलट पुलट हो जाता है। कानजी स्वामीके प्रबल तूफानमे छोटे-मोटे जैन विद्वानोकी तो बात ही क्या है जिन्हे जैनतत्त्वोका गहन अध्ययन नही है, इसमे बडे-बडे सिद्धान्ताचार्य और पी०-एच० डी० प्रोफेसर भी बह गये, जो यह कहनेमे भी नही चूके कि कानजी स्वामीके तो हमारे ऊपर अनन्त उपकार है। अनन्त उपकार तो केवल तीर्थंकर भगवानके होते है। सम्भवत उनके व्यक्तिगत उपकारोको वे अनन्त उपकार मानते हो।

इस तूफानमे दिगम्बर समाजके अनेक सेठ और सम्पन्न लोग भी वह गये, क्योकि इस नये जमावडेमें सम्यग्दर्शनके लिये त्याग और चारित्रकी नही, मुमुक्षु-मण्डलके स्वाध्यायमे बैठने या उससे सहानुभूति रखनेकी आवश्यकता थी। सेठ सक्रिय महानुभूति दिखा ही सकते है। इससे इस लोक और परलोक दोनो लोकोमे लाभ दिखाई देता है।

यह तो स्वीकार करना होगा कि कानजी स्वामीके इस तूफानी मिशनके कारण समाजके सर्वसाधारण वर्गमे समयसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रोके स्वाध्यायकी रुचि बढी है। किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि इस स्वाध्यायका एकमात्र श्रेय केवल कानजी स्वामीको ही नही दिया जा सकता। स्वामीजीके अवतरणसे पूर्व प्रशममूर्ति क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीके प्रभावक व्यक्तित्वके कारण त्यागीवर्गका झुकाव समयसार आदि ग्रन्थोके स्वाध्याय एव पठन-पाठनकी ओर हो रहा था। पूज्य वर्णीजी जहाँ प्रकाण्ड विद्वान् थे, वही वे चारित्र-धारी भी थे। चारित्रहीन ज्ञानका विशेष महत्त्व नही है।

श्री कानजी स्वामी और पूज्य वर्णीजी दोनो ही जैनसमाजकी महान विभूतियोमे थे, जैनसमाजके ऊपर दोनोका महान प्रभाव था। दोनोके प्रभावका अन्तर अथवा मूल्याङ्कन आदरणीय पण्डित बशीधरजीके शब्दोमे इस प्रकार किया जा सकता है—

"जहाँ कानजी स्वामीके अल्प सम्पर्कमे आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपनेको समयसारका वेत्ता और सम्यग्दृष्टि समझने लगता है, वहाँ पूज्यपाद वर्णीजीके सम्पर्कमे आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्त करणमे तत्त्वजिज्ञासुताका ही भाव उत्पन्न करता है।" —जैनतत्त्वमीमासाकी मीमासा, पृ० ३।

वास्तवमे कानजी स्वामीका व्यक्तित्व बडा प्रभावक था। सम्पूर्ण जैन समाजमें अध्यात्मके सम्बन्धमे धारावाहिकरूपमे भाषण देनेवाला ओजस्वी वक्ता कानजी स्वामीके समान दूसरा कोई नही था। किन्तु वे दूसरी समाजसे दिगम्बर समाजमे आये थे। इसलिये उनके पुराने अच्छे-बुरे सस्कार भी उनके साथ आये थे। मसलन वे आचार्यपदसे आये थे। यहाँ आकर आचार्य तो नही रहे, किन्तु उस पदका जो अहभाव था, वह निकल नही सका। फलत वे अपने आपको महाव्रती सयमी मुनियोसे भी ऊँचा समझते रहे और दूसरे लोग भी ऐसा ही समझे, इसके लिये वे मुनियोकी निन्दा भी करते थे। वे अपने आपको सुकुमार और कोमल समझते थे, इसलिये सयम और चारित्रकी कठोरतासे प्रयत्नपूर्वक अपने आपको बचाते रहे। इसीलिये वे व्यवहारचारित्रकी सदा निन्दा करते रहे और उसे बन्धका कारण कहते रहे। शुद्धोपयोगकी अपेक्षासे पुण्य शुभोपयोगको शास्त्रोमें हेय वताया है, किन्तु स्वामीजी पुण्यको विष्ठा बताते रहे। जबकि वे स्वयं पुण्यका भोग करते रहे, अपने जीवनके अन्तिम दिनोमे जव पुण्य क्षीण हो गया और भयकर रोगसे भयकर पीडा होने लगी, तो तथाकथित आत्मानुभव गायब हो गया और शरीरके मोहके कारण वेदनासे आर्तनाद करते रहे।

स्वामीजी प्रारम्भसे ही जैनधर्मकी सैद्धान्तिक विचारधाराके विरुद्ध बोलते रहे। वे कार्य सम्पादनमें पदार्थकी स्व-उपादान शक्तिकी भूमिकाको निर्णायक मानकर निमित्तको सर्वथा अकिञ्चित्कर मानते रहे। उन्होने कार्य-कारणव्यवस्थाको अमान्य कर दिया। उनकी मान्यता है कि द्रव्योका परिणमन निरपेक्ष और क्रमनियमित होता है। वे यह भी अस्वीकार करते है कि जीवके वैभाविक परिणामोके कारण कार्मण-वर्गणाएँ कर्मरूप परिणमित होती है और कर्मोदयके कारण जीवमें विभावभाव होते है। वे अकालमरणको भी नही मानते। अर्थात् उनकी मान्यतामे जैनधर्मकी सम्पूर्ण द्रव्य-व्यवस्था ही काल्पनिक है।

स्वामीजीकी इन और ऐसी ही अन्य स्वतत्र मान्यताओंके कारण जैन समाजके विद्वद्वर्गमे तीव्र रोष व्याप्त हो गया और इसके विरोधमे पत्र-पत्रिकाओमे लेख निकलते रहे। तब उनका समाधान करने और स्वामीजीकी स्वतत्र मान्यताओपर दार्शनिक मुलम्मा चढानेके लिये प० फूलचन्द्रजीने 'जैनतत्त्व मीमासा' पुस्तक लिखी। उसको जैन सिद्धान्तकी मान्यताओके विरुद्ध समझकर पण्डित बशीधरजीने 'जैनतत्त्व मीमासाकी मीमासा' नामक सयुक्तिक और सप्रमाण पुस्तक उत्तरस्वरूप लिखी। मेरी विनम्र रायमे इस पुस्तकने 'जैनतत्त्व मीमासा'का मुलम्मा उतार दिया है। यहाँ मेरा विचार 'जैनतत्त्व मीमासाकी मीमासा'की मीमासा करनेका है।

[२]

'जैनतत्त्व मीमासा'मे प० फूलचन्द्रजीने कुछ प्रस्थापनाएँकी है। किन्तु आगमविरुद्ध होनेसे पं० बशीधरजीने सही परिप्रेक्ष्यमे इनकी मीमासा की है। वे प्रस्थापनाएँ इस प्रकार है—

प्रत्येक पर्याय और उसका काल नियत है

वस्तुमें पर्याय या परिणमनरूप कार्यकी उत्पत्ति केवल उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत नित्य उपादान-शक्ति और कार्योत्पत्तिक्षणसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप अनित्य उपादानशक्तिके बलपर होती है। अनित्य उपादानशक्तिका दूसरा नाम समर्थ उपादान है। समर्थ उपादान प्रत्येक समयका अलग-अलग होता है। कार्य समर्थ उपादानके अनुसार ही होता है। स्वभाव और समर्थ उपादानमें फर्क है। स्वभाव त्रैकालिक होता है। इसीका दूसरा नाम नित्य उपादान है और समर्थ उपादान, जिस कार्यका वह उपादान होता है, उस कार्यके एक समय पूर्व होता है। ये समर्थ उपादान प्रत्येक वस्तुमे उतने ही माने जाते है, जितने कालके त्रैकालिक समय है। उनसे क्रमश. जो-जो पर्याय उत्पन्न होती है, वे नियत है, उनकी उत्पत्तिका काल भी नियत है। प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें केवल उपादानकी अपनी योग्यताके आधारपर ही उत्पन्न होता है। तब निमित्त भी वहाँपर तदनुकूल विद्यमान रहते है।

निमित्त अकिंचित्कर है

निमित्तोके सद्भावमे भी तबतक कार्यकी सिद्धि नही होती, जबतक उसके अनुरूप उपादानकी तैयारी न हो। अत. निमित्त अकिंचित्कर है। उपादानके ठीक होनेपर निमित्त मिलते ही है। उन्हे मिलाना नही पडता। अर्थात् जब कार्य अपने उपादानके बलपर उत्पन्न हो रहा हो, तब उसके अनुकूल निमित्त रहते ही है।

इन प्रस्थापनाओको अतिसंक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

—प्रत्येक पदार्थकी पर्याय नियत है, उसका काल भी नियत है, पर्यायका क्रम भी नियत है अर्थात् वह क्रमनियत अथवा क्रमबद्ध ही होती है।

—कार्य वस्तुकी अपनी उपादानशक्तिके बलपर होता है। उपादानके ठीक होनेपर निमित्त स्वत ही मिल जाते हैं, वे स्वय तो अकिंचित्कर है।

सारी जैनतत्त्व मीमासा इन्ही दो धुरियोपर चक्कर काट रही है। इन्हीमेसे अनेक नई मान्यताओका जन्म होता है। ये तो बीज हैं, जिनमेसे कोपल, पत्ते, टहनी और डालें फूटती है। जैसे निश्चय ही मान्य है, व्यवहार तो उपचार मात्र है। अत वह मान्य नही है। फलत व्यवहारचारित्र भी मोक्षमार्गमे साधक नही है, बल्कि वह आस्रव और बन्धका कारण है। आदि ऐसी ही टहनियाँ और डालें है।

पण्डित फूलचन्द्रजीकी इन प्रस्थापनाओका जो तर्क और युक्तिसगत एव परम्परा और आगम द्वारा समर्थित उत्तर दिया है और 'जैन तत्त्वमीमासा'की दार्शनिक शैलीमें जो मीमासा पण्डित वंशीधरजीने की है, उसे समझने और उसपर गहन मनन करनेकी आवश्यकता है।

कार्योत्पत्तिके समय निमित्तोंकी सत्ताको तो सभी स्वीकार करते है, किन्तु जैनतत्त्व मीमासाकार कार्योत्पत्तिमें उनकी सार्थकताको अस्वीकार करते हुए उन्हे अकिंचित्कर मानते है। वे कहते है कि प्रत्येक वस्तुके त्रैकालिक परिणमन निश्चित हैं और वे अपनी उपादानशक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते है।

इसकी मीमासा करते हुए पण्डित बशीधरने तर्क दिया है - प्रत्येक वस्तुमें परिणमन दो प्रकारके होते है—एक तो स्वप्रत्ययपरिणमन और दूसरे स्वपरप्रत्ययपरिणमन। केवल स्व-उपादानके बलपर होनेवाले परिणमनको स्वसापेक्ष या स्वप्रत्ययपरिणमन कहते है तथा स्व (उपादान) तथा पर (निमित्त) दोनोंके बलपर होनेवाले परिणमनको स्व-परसापेक्ष अथवा स्व-परप्रत्यय परिणमन कहा जाता है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यदि वस्तुमे विवक्षित रूपसे परिणमित होनेकी योग्यता नही है तो अनेक निमित्त मिलकर भी उसमे उस परिणमनको उत्पन्न नही कर सकते। उसी प्रकार विवक्षित रूपसे परिणमित होनेकी योग्यता होनेपर भी उस रूप परिणमित होनेके लिये यदि निमित्तोकी अपेक्षा अपेक्षित हो तो जबतक निमित्तोका सहयोग उसे प्राप्त नही होगा, तबतक वस्तु केवल परिणमित होनेकी योग्यताके बलपर कदापि उस रूप परिणमित नही होगी।

नियमसार गाथा १४ मे स्पष्ट कथन है कि पर्याय दो प्रकारकी होती है—एक स्वपरसापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। इनमें निरपेक्ष पर्याय स्व-उपादानके बलपर होती है और स्वपरसापेक्ष पर्याय उपादान और निमित्त दोनोके सहयोगसे होती है

समयसारकी गाथा ८० और ८१ बतानी है कि जीवके परिणामके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते है और पुद्गल कर्मोका निमित्त पाकर जीवका परिणमन होता है। जीव पुद्गलके परिणमनका और कर्म जीवके परिणमनका कर्ता नही है किन्तु निमित्त-नैमित्तिकभावसे दोनोका परिणमन होता है। जैसे यह कहा जाता है कि जब कार्य होता है, उस समय निमित्त स्वय उपस्थित हो जाता है। इसे सही परिप्रेक्ष्यमे कहा जाय तो उसे यो कह सकते है अथवा यो कहना समीचीन होगा कि जब कार्य निष्पन्न होता है, उस समय उसकी सहकारी सामग्रीको निमित्त सज्ञा प्राप्त होती है। इसे अन्वय-व्यतिरेक शैलीमे इस तरह भी कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ कार्य होगा वहाँ-वहाँ निमित्त अवश्य होगे। जहाँ-जहाँ निमित्त नही होगे, वहाँ-वहाँ कार्य निष्पन्न नही होगा।

इस विषयको समझनेके लिये समयसारकी गाथा ३०१, ३०२ तथा उनका कलश-श्लोक अत्यन्त उपयोगी होगे। इन गाथाओ और कलश श्लोकोका आशय सक्षेपमे इस प्रकार है—

जिस प्रकार शुद्ध (स्वत- सिद्ध निज निर्मल स्वभावका धारक) स्फटिकमणि परिणमनस्वभाववाला होते हुए भी स्वय (अपने आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तुके सहयोगके बिना) रक्तादिरूपताको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार शुद्ध (स्वत सिद्ध निजज्ञान स्वभावका धारक) आत्मा परिणमनस्वभाववाला होते हुए भी स्वय (अपने आप अर्थात् निमित्तभूत परवस्तुके सहयोगके बिना) रागादिरूपताको प्राप्त नही होता, किन्तु रागादि पुद्गलकर्मोका सहयोग पाकर ही वह रागादिरूप होता है।

पण्डित बशीधरजीकी यह परम्परासे समर्थित मान्यता कि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर नही होते, अपितु वे भी सार्थक होते है, आचार्य कुन्दकुन्दकी मान्यताके अधिक निकट है और वह आर्षानुमोदित है। और अपरपक्ष शास्त्रीय आधार प्रस्तुत करनेमें असफल रहा है। व्याकरणाचार्यजीकी इस सफल प्रस्थापनासे अपरपक्ष द्वारा उठाये गये अनेक कल्पित-विकल्प भी निरस्त हो जाते है। जैसे—

(१) प्रत्येक वस्तुमें कार्यरूपमे परिणत होनेकी उतनी ही उपादानशक्तियाँ विद्यमान है, जितने कालके त्रैकालिक समय सभव है।

(२) वस्तुके प्रत्येक परिणमनका समय निश्चित है।

(३) कार्योत्पत्तिमें निमित्तोका होना अकिंचित्कर है।

निश्चय और व्यवहार

निश्चय और व्यवहार—ये दो दृष्टिबिन्दु एव अपेक्षाये है। किन्तु दोनो विद्वानोमें इनके सम्बन्धमे मत-भिन्नता है। एक पक्ष निश्चयको परमार्थसत्य और व्यवहारको उपचरित कहकर उसकी अवहेलनापर

बर्ल देता है। उपचरितका अर्थ वह पक्ष अवास्तविक, कल्पित करता है। प्राय· उदाहरण दिया जाता है। जैसे किसी घडेमे घी रखा जाता है। उसे व्यवहारमे घीका घडा कहते है। घड़ा तो मिट्टीका है, घीका नही। किन्तु उपचारसे, व्यवहारके लिये उसे घीका घडा कह देते है। यह है व्यवहारको उपचरित मानने वाला पूर्वपक्ष। यहाँ पूर्वपक्षसे हमारा आशय पं० फूलचन्द्रजीसे है और उत्तरपक्षसे आशय व्याकरणाचार्यजीसे है। पहले हमें यह समझना आवश्यक है कि निश्चय और व्यवहार कहनेमे आचार्योकी दृष्टि क्या थी? इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्दने सन्तुलित दृष्टि अपनाई है। उन्होने दोनो ही दृष्टियोंसे वस्तु-स्वरूपका कथन किया है।

पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोमे द्रव्यकी परिभाषा दो प्रकारसे की है—(१) जिसकी सत्ता है अर्थात् जो सत्स्वरूप है, वह द्रव्य है और जिसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाये, वह सत्स्वरूप है। (२) जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है। द्रव्यमे अखण्ड एकरूपता या ध्रौव्यता निश्चय है, उसमे भेदरूपता या उत्पाद, व्ययरूप परिणमन व्यवहार है। वस्तुका त्रैकालिक स्वभाव अर्थात् गुण निश्चय है और पर्यायदृष्टि व्यवहार है। द्रव्यमे अभेद, अखण्ड, एकत्वकी दृष्टि निश्चय है, भेद, खण्ड, अनेकत्वकी दृष्टि व्यवहार है। वस्तु या वस्तुरूपकी सामान्यरूपता निश्चय है और विशेषरूपता व्यवहार है। समयसारकी गाथा ६, ७ में आचार्य कुन्दकुन्दने उदाहरण देकर बताया है कि आत्मा स्वरूपकी दृष्टिसे न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, बल्कि ज्ञायकस्वरूप है, यह निश्चय है। व्यवहारसे—भेददृष्टिसे आत्मामे दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। अर्थात् स्वाश्रयता-स्वसापेक्षता निश्चय है और स्वपरसापेक्षता व्यवहार है। उपादानता निश्चय है और निमित्तता व्यवहार है। वस्तुके इन निश्चय और व्यवहाररूप धर्मोको नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप निक्षेपोमें अन्तर्भूत किया गया है और उन धर्मोंके ज्ञायक ज्ञानको और उनके प्रतिपादक शब्दको नयोमें अन्तर्भूत किया गया है। और इन नयोको श्रुतप्रमाण कहा गया है। इस प्रकार व्यवहार भी निश्चयके समान वास्तविक (सद्भूत) है, उपचरित नही, जैसा कि प० फूलचन्द्रजी मानते है। जहाँ शास्त्रमे व्यवहारको उपचरित कहा गया है, वहाँ उसका अर्थ कल्पित या मिथ्या नही, बल्कि वहाँ उपचारका अर्थ पराश्रितता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी गाथा १२ की टीका करते हुए किसी प्राचीन शास्त्रसे एक गाथा उद्धृत की है—

"जइ जिणमय पवज्जइ, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थ अण्णेण उण तच्चं॥"

इसका अर्थ यह है—यदि तुम जिनमतका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको मत छोड़ो, क्योकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थका नाश हो जायेगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तुस्वरूप) का लोप हो जायेगा।

यहाँ 'तीर्थ' शब्द विशेष उल्लेखनीय है। तीर्थशब्दमें सम्पूर्ण व्यवहारमार्ग गर्भित है—जैनधर्मको धारण करनेवाले मनुष्योंकी सामाजिक संगठना मन्दिर-मूर्तियाँ, देव-गुरु-शास्त्र और उनके प्रति भक्ति, पूजा अर्चा, व्रत, उपवास, तीर्थक्षेत्र आदि। यदि व्यवहार सर्वथा मिथ्या है तो मिथ्याके आधार खड़ा धर्म भी मिथ्या होगा। फिर मिथ्याको माननेका लाभ क्या? आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं हो सकता। लोकमें भी देखा जाता है कि आदर्श तो ऊँचा होता है और व्यवहार उस आदर्शकी प्राप्तिका साधन। ये दोनों नय हैं। नय सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। निरपेक्ष नय तो मिथ्या होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्वादको दोनों नयोंके विरोधका विध्वंसक बताया है।

निश्चयनय और व्यवहारनयके समान निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयके सम्बन्धमें भी जैनतत्त्वमीमासामे भ्रान्त धारणा अपनाई है। आप लिखते है—

"इस जीवको निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति होनेपर व्यवहाररत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करनेके लिये अलगसे प्रयत्न नही करना पडता है। व्यवहाररत्नत्रय स्वय धर्म नही है। निश्चयरत्नत्रयके सद्भावमें उसमें धर्मका आरोप होता है, इतना अवश्य है। इसी प्रकार रूढिवश जो जिस कार्यका निमित्त कहा जाता है, उसके सद्भावमे भी तबतक कार्यकी सिद्धि नही होती, जबतक जिस कार्यका वह निमित्त कहा जाता है, उसके अनुकूल उसके उपादानकी तैयारी न हो। अतएव कार्यसिद्धिमे निमित्तोका होना अकिंचित्कर है।"

व्याकरणाचार्यजीने इस भ्रान्त मान्यताकी मीमांसा करते हुए आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्री और आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डसे उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इन आचार्योंने निमित्तकारणकी अकिंचित्करताके विरोध और उसकी कार्यकारिताके समर्थनमें ही अपना अभिमत प्रकट किया है। इससे यह बात निर्णीत होती है कि कार्य यद्यपि उपादानगत योग्यताके आधारपर ही होता है, परन्तु निमित्तकारणके सहयोगसे ही होता है। अतएव कार्योत्पत्तिमें निमित्त अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही होता है। स्वपरप्रत्यय कार्य उपादानगत निजी योग्यताके आधारपर होते हुए भी निमित्तकारणके सहयोगसे होता है।

इसी प्रकार निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयके सम्बन्धमें भी व्याकरणाचार्यजीका अभिमत निर्भ्रान्त है। आप लिखते है—"यद्यपि निश्चयरत्नत्रयसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति व्यवहाररत्नत्रयके आधारपर ही होती है। इस तरह मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे व्यवहाररत्नत्रयमें भी परम्परया मोक्षकारणता सिद्ध हो जाती है। अत मोक्ष-कार्यके प्रति व्यवहाररत्नत्रय भी अकिंचित्कर न होकर कार्यकारी ही सिद्ध होता है।"

उपसंहार

प्रस्तुत निबन्धमें हमारा काम पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी बहुचर्चित पुस्तक 'जैनतत्त्वमीमासा' की मीमासा करना नही है। उसकी शल्यक्रिया तो पण्डित बशीधरजी व्याकरणाचार्यने कर दी है। हमारा काम तो उस शल्यक्रियाकी मीमासा करना है—क्या शल्यक्रिया वैज्ञानिक पद्धतिसे की गई है ? उपकरण आयुर्विज्ञान सम्मत काममे लाये गये है ? शल्यक्रिया सफल हुई या असफल ? और विकृत अश एव विकारोंको शल्यक्रिया करनेसे छोडा तो नही गया ? यदि एक वाक्यमे, शब्दोकी कजूसी करते हुए, मै कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि शल्यक्रिया सर्वांशत सफल रही है। और यदि मुझे क्षमा किया जाय तो दोनो आदरणीय विद्वानोंके प्रति सम्पूर्ण आदरके भाव रखते हुए यही कह सकता हूँ कि पण्डित फूलचन्द्रजी कानजी स्वामीके मान्यताओकी पैरवी करनेवाले वकीलके रूपमें उभरे है। सिद्धान्तग्रन्थोंके समर्थ टीकाकारके रूपमे उनकी जो छवि समाजने देखी थी, वह छबि इस पुस्तकसे निखरी नही। दूसरी ओर अज्ञातवासमे पडे हुए पण्डित बशीधरजी उक्त पुस्तककी मीमासा करके, उसके एक-एक वाक्यका, एक-एक नवकल्पित प्रस्थापनाका युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणो द्वारा उत्तर देकर आर्षपरम्पराके सजग प्रहरीकी छवि बनानेमें सफल हुए है। विषयकी गहरी पकड, तर्कमें पैनापन, विषयको प्रस्तुत करने योग्य समुचित शब्दावली और कथ्यको शास्त्रीय आधार देनेकी तत्परता व्याकरणाचार्यजीकी अपनी विशेषता है। वे आर्षपरम्पराके कट्टर समर्थक, गहन तत्त्वचिन्तक और सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान् है, उनकी पुस्तक पढ़नेपर पाठकके मनपर सहज ही यह छाप पड़ती है। वे समाजसे हर प्रकारका सम्मान पानेके अधिकारी हैं।

●

जैनदर्शनमें कार्य-कारणभाव और कारक व्यवस्था : एक समीक्षा

● डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

कार्यकारणभाव और उसके आधारभूत कारकोकी शास्त्रीय विवक्षाको न समझनेके कारण कुछ लोगोने प्रचारित करना आरम्भ कर दिया कि कार्य स्वय उपादानसे होता है, उसके लिये अन्य कारण या निमित्तकी आवश्यकता नही है। इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये जैनदर्शनके मर्मज्ञ, व्याकरणाचार्य पं० बशीधरजी-बीनाने 'जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था' नामक पुस्तककी सरचना की है।

कार्यकारणभाव कारकव्यवस्थासे सम्बद्ध है, अत सबसे पहले उन्होने कारकका लक्षण लिखा है—(साक्षात्) 'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' अथवा 'करोति क्रियां निर्वर्तयति' इति कारकम्। जिसमे साक्षात् क्रिया-जनकत्व हो वह कारक है। साक्षात् पदका विनिवेश होनेसे 'देवदत्तस्य पुत्रः ओदन भुंक्ते' यहाँ देवदत्तमें कर्तृत्वका परिहार हो जाता है। देवदत्त भले ही दिवगत हो गया हो तो भी पुत्रमे भोजनक्रियाका कर्तृत्व सुरक्षित है। यही कारण है कि सस्कृतमे सम्बन्धको कारक नही माना है।

कारकके ६ भेद हैं—१ कर्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान और ६ अधिकरण। कार्य करनेमे जो स्वतन्त्र हो उसे **कर्ता** कहते है। कर्ता अपनी कियाके द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है, जिसे बनाना चाहता है अथवा जिसे विकृत—परिवर्तित करना चाहता है उसे **कर्म** कहते है। जो कर्ताके अधीन हो अथवा जिसकी अनिवार्य सहायतासे कर्ता कार्य करता है उसे **करण** कहते है। कर्ता अपने द्वारा निष्पाद्य पदार्थको जिसके लिये देना चाहता है उसे **सम्प्रदान** कहते है। जिससे किसी वस्तुको पृथक् किया जाता है उसे **अपादान** कहते है और कर्ता जहाँ स्थित होकर वाछित कार्यको निष्पन्न करता है उसे **अधिकरण** कहते है। कार्यकी सिद्धि कारकोकी पारस्परिक सापेक्षतासे ही होती है।

कर्ता दो प्रकारका है—एक स्वय कर्ता और दूसरा प्रेरककर्ता। प्राप्य, विकार्य और विवर्त्यके भेदसे कर्म भी तीन प्रकारका है। जिस प्रकार बाह्य षट्कारककी व्यवस्था है उसी प्रकार अभ्यन्तर षट्कारककी भी व्यवस्था है। बाह्य षट्कारककी व्यवस्था विभिन्न वस्तुओ पर निर्भर रहती है जबकि अभ्यन्तर षट्कारककी व्यवस्था एक ही वस्तु पर निर्भर होती है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनो प्रकारकी षट्कारकव्यवस्था व्यवहार-नयका विषय है। निश्चयनयकी विवेचनामे आत्मद्रव्यको षट्कारकचक्रकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण—रहित माना गया है क्योकि निश्चयनय एक अखण्ड वस्तुका प्रतिपादन करता है।

इस सब व्यवस्थाका प्रतिपादन लेखकने इस ग्रन्थमे अनेक प्रश्नोत्तरोके माध्यमसे प्रस्तुत किया है। जिनागममे कारणके दो भेद कहे गये है—एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है उसे **उपादान कारण** कहते है। जैसे कार्मणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाता है, मिट्टी घटरूप हो जाती है और आटा रोटी बन जाता है। **निमित्तकारण** वह है जो स्वय कार्यरूप परिणत नही होता, परन्तु उपादानके कार्यरूप परिणत होनेमे सहायक होता है। जैसे कार्मण-वर्गणाके कार्यरूप परिणत होनेमें जीवका रागादिभाव और योगव्यापार सहायक होता है।

निमित्तकारण भी अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे दो प्रकारका है। जैसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमका होना अन्तरङ्ग निमित्त है और जिनबिम्ब-दर्शन अथवा देशना आदि बहिरङ्ग निमित्त है। अन्तरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्य नियममे होता है और बहिरङ्ग निमित्तके होनेपर कार्यकी सिद्धि हो भी और न भी हो। जैसे प्रत्याख्यानावरणकर्मका क्षयोपशम

होनेपर शिरका एक सफेद बाल दिखने मात्रसे गृहत्यागका भाव हो जाता है और प्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम न होनेपर शिरके समस्त बाल सफेद हो जानेपर भी गृहत्यागका भाव उत्पन्न नही होता। अन्तरङ्गकारणके होनेपर बाह्यकारण कुछ भी हो सकता हैं। जिनागममे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणकी अनुकूलताको समर्थ कारण कहा गया है और समर्थकारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति कही गई है।

इस बातको लेखकने स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्ययके भेदसे स्पष्ट किया है। द्रव्यमें कार्यरूप परिणत होनेकी निजकी योग्यता स्वप्रत्यय है और स्व तथा पर—के प्रत्यय—कारणसे जो होता है उसे स्वपरप्रत्यय कहा हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यमे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन हैं वह मुख्यत स्व-प्रत्यय है और उपचारत कालद्रव्यके सहयोग पर निर्भर है। लेखकने जोर देकर इस बातको सिद्ध किया है कि मात्र परप्रत्ययसे कोई कार्य नही होता।

'निष्क्रियाणि च' सूत्रकी व्याख्यामे पूज्यपाद और अकलक स्वामीने प्रश्न उठाया हैं कि क्रियारहित द्रव्यमें उत्पादादि किस प्रकार होगे ? और उनके न होनेपर उसमे द्रव्यत्व कैसे सघटित होगा ? इस प्रश्नका समाधान उन्होने स्वप्रत्ययसे किया है। स्वप्रत्ययमे अगुरुलघुगुणको स्वीकारा है और स्व-परप्रत्ययमें कालद्रव्य और अश्व, महिप आदिकी गतिको। ठीक है कि जीव और पुद्गलमे गति और स्थितिकी योग्यता निजकी है, पर धर्म और अधर्म द्रव्यका सहकार उनकी गति और स्थितिमे अनिवार्य आवश्यक है। अत कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तकी अकिंचित्करता—कार्यकारणव्यवस्थाके प्रतिकूल है। जिनागममे इसे स्वीकृत नही किया गया हैं।

उपादान और उपादेय भाव एक द्रव्यमे बनता है और निमित्त-नैमित्तिकभाव दो द्रव्योमे बनता है। समयसारमे स्वीकृत किया गया है कि जीवके रागादि भावका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्यरूप कार्मणवर्गणा कर्मरूप परिणमन करती है और पौद्गलिक-चारित्रमोहकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीवमें रागादिभाव उत्पन्न होते है। फलत कर्मका उपादानकारण कार्मणवर्गणा है और निमित्तकारण जीवका रागादिभाव। इसी प्रकार रागादिभावका उपादानकारण आत्मा है और निमित्तकरण चारित्रमोहका उदय। इस निमित्त-नैमित्तिकभावको स्वीकृत करते हुए भी यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा कर्मरूप और कर्म आत्मारूप परिणमन नही करते। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यरूप परिणमन हो भी नही सकता, क्योकि उनमें अत्यन्ताभाव है।

इस निमित्तनैमित्तिक—कार्यकारणभावको यदि स्वीकृत नही किया जाता है तो सप्ततत्त्वकी मान्यता, छह द्रव्योकी पारस्परिक उपयोगिता, स्वभाव-विभावकी परिभाषा, कर्मबन्ध और संवरके विविध कारणोका निर्देशन सिद्ध नही हो सकता और उसके सिद्ध न होनेपर जैनदर्शनका प्रासाद ढह जावेगा।

इन सभी बातोका वर्णन लेखकने इसमे युक्ति और आगमके आधारपर बडी कुशलतासे किया है। ग्रन्थके अन्तमे 'क्या उपादान कारण ही कार्यका नियामक होता है ?' इस शीर्षकवाले परिशिष्टमे उपादान-उपादेयभाव और कार्यकारणभावका विशद विश्लेषण किया है। सम्पूर्ण पुस्तक लेखकके गहन अध्ययन और ज्ञानगरिमाको सूचित करती है।

●

पर बहुत सरलताके साथ, शास्त्रीय प्रमाणोका साक्ष्य सामने रखते हुए, स्पष्ट रूपसे निरूपित किया है। इसमें कोई सदेह नही है कि दर्शनकी ऐसी गूढ-गुत्थियोको सरलताके साथ, थोडे-से शब्दोमे सुलझाकर रख देना उसीके द्वारा सम्भव है जिसकी दृष्टिमे वस्तु-स्वरूपकी व्यापकता स्पष्टरूपसे झलकती हो और जिसके मनमें आचार्योंके प्रति बहुमान तथा आगमके प्रति अटल श्रद्धान हो। समीक्ष्य आलेखके सन्दर्भमें पण्डितजी एक तत्त्व-दर्शी विद्वानके रूपमे इन सारी कसौटियोपर खरे उतरते है। उनका यह लगभग सवासौ पृष्ठका निबन्ध 'गागरमें सागर' कहा जा सकता है।

प्रमेयकमलमार्तण्डके व्याख्यानमे परीक्षामुखसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें दूसरे सूत्रका उद्धरण देते हुए पण्डितजोने यह स्पष्ट किया है कि—"कार्यकारणभावके प्रसगमे उपादानमें दो प्रकारकी शक्तियाँ स्वीकार की गई है--एक द्रव्यशक्ति और दूसरी पर्यायशक्ति। इनमें अनादिनिधन स्वभाववाली होनेसे द्रव्यशक्ति नित्य मानी गई है और सादि-सात स्वभाववाली होनेसे पर्याय-शक्ति अनित्य ही मानी गई है। द्रव्यशक्ति यद्यपि नित्य है तथापि उसका यह अर्थ नही है कि सहकारी कारणके विना ही वस्तुमें कार्यकी उत्पत्ति सम्भव हो जायेगी, क्योकि पर्यायशक्तिसे समन्वित द्रव्यशक्ति ही कार्यका निष्पादन करनेमे समर्थ होती है। द्रव्यमें वह पर्याय—परिणति सहकारीकारणके सहयोगसे ही होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जब कार्यरूप परिगत होनेकी योग्यना-विशिष्ट द्रव्यको उप युक्त सहकारी कारणका सहयोग प्राप्त होता है तभी पर्याय उत्पन्न होती है।"

इस प्रकार द्रव्यकी योग्यताके बिना जिस प्रकार कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है उसी प्रकार उसमें सह-कारीकारण भी, अनिवार्य रूपसे, सहायक है, अकिंचित्कर नही है। द्रव्यमें कार्यरूप परिणत होनेकी निजी योग्यताका नाम ही "द्रव्यशक्ति" अथवा "नित्य उपादानकारणता" है। वह परिणमन जब केवल "स्व-प्रत्यय" होता है तब एक-के-पश्चात्-एक ही रूपमे, नियतधाराको लेकर, सहकारकारणकी अपेक्षासे रहित सतत होता रहता है। परन्तु ऐसी परिणतिमे पूर्व परिणमनको उत्तरपरिणमनका कारण मान लिया गया है। इस प्रकार उस पूर्व परिणमनका नाम ही "पर्याय-शक्ति" या "अनित्य उपादानकरणता" है। परन्तु जब हम "स्वपर-प्रत्यय" परिणमनकी बात करते है तब द्रव्यमें पूर्व पर्यायरूप जो अनित्य उपादानकारणता है उसका विकास निमित्तकारणसापेक्ष ही होता है। इस तरह जब जैसे निमित्तोका सहयोग उपादानकारणभूत वस्तुको प्राप्त होता है तव उस वस्तुका वैसा ही परिणमन अपनी योग्यताके कारण होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि स्वपर-प्रत्यय परिणमन भी स्व-प्रत्यय कार्यकी तरह वस्तुकी अपनी योग्यता-के अनुसार ही होता है परन्तु वह योग्यता अकेली ही कार्य उत्पादनमे समर्थ नही हुआ करती। पर्यायशक्ति-रूप अनित्य उपादानकारणता वहाँ अनिवार्य होती है और उस पर्याय—परिणतिका विकास निमित्तकारणका सहयोग मिलनेपर ही सम्भव होता है। यहाँ यह भी ध्यानमे रखना चाहिए कि द्रव्यमे अनेक प्रकारकी परि-णति करनेकी योग्यता एक साथ होती है। परन्तु "स्वपर-प्रत्यय" विधानसे जैसे-जैसे निमित्तकारण मिलते जाते है, तदनुसार ही पर्यायशक्तिका विकास होनेके कारण द्रव्यकी परिणति वैसी ही हो पाती है।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजीने लिखा है—'उपादानकारण ही कार्यका नियामक होता है।' पण्डित बशीधरजीने अपनी पुस्तकके अन्तमें विस्तृत विवेचना करते हुए पण्डित फूलचन्द्रजीकी इस विवक्षा-विहीन धारणाका खण्डन करते हुए सम्यक् प्रकारसे यह सिद्ध किया है कि—'स्वपर-प्रत्यय कार्यका नियामक न केवल उपाद [illegible] और न के [illegible] ही होता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनो हो मिलकर उसके नि [illegible] । यह [illegible] जैनाचार्य उपादानकारणको ही कार्यका नियामक मानते है, जैन [illegible] उनके [illegible] । अपलाप करना ही है। पुस्तकका यह परिशिष्ट भी देखने [illegible]

क्रमबद्ध पर्यायका परीक्षण

केवलीके ज्ञानमें सभी द्रव्योकी, भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी, सभी पर्यायें एक साथ प्रकट झलकती हैं, इस कथनका सहारा लेकर कुछ लोगोने 'क्रमबद्ध-पर्याय'का एक नया विधान किया है। आश्चर्यकी बात है कि 'क्रमबद्ध-पर्याय' शब्दका प्रयोग सम्पूर्ण जैन आगममे, किसी भी आचार्यके द्वारा, कही भी नही किया गया है। चालीस-पचास साल पहले जबसे सोनगढमे यह शब्द गढा गया तभीसे आगमके ज्ञाता मनीषियोने इसे मिथ्यात्व-पोषक धारणा बताकर बराबर इसका विरोध किया है।

पण्डित बंशीधरजीने इस सन्दर्भमे भी अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'पूर्वोक्त प्रकार केवलज्ञानमें जब प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें यथास्थान नियत हैं तो उनकी उत्पत्तिका प्रसग ही उपस्थित नही होता है क्योकि केवलज्ञानीको तो प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें यथावस्थित रूप ही सतत वर्तमानवत् प्रतिभासित होती रहती हैं। इस तरह उत्पाद्योत्पादकभावकी व्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही सम्भव होती है। अर्थात् श्रुतज्ञानी जीव ही अभीप्सित फलकी आकाक्षासे कार्यको सम्पन्न करनेका सकल्प करता है, कार्यकारणभावकी रूपरेखा निश्चित करता है, कार्योत्पत्तिके साधन जुटाता है और तब कार्योत्पत्तिके लिए पुरुषार्थ करता है। इसलिए श्रुतज्ञानकी व्यवस्थामे बाधक कारणोकी स्थिति स्वीकार करनेमे कोई असगति नही उत्पन्न होती है।'

इस प्रकार पण्डितजीका यह निष्कर्ष पूरी तरह आगमका अनुगामी है कि विवक्षित कार्य तभी होता है जब उपादानगत योग्यता हो, अनुकूल निमित्तसामग्रीका सहयोग हो और कार्यके बाधक कारणोका अभाव हो। केवलीके ज्ञानमे सभी पदार्थ अपनी-अपनी त्रैकालिक पर्यायोके साथ प्रतिक्षण, वर्तमानवत् समानरूपसे प्रतिभासित होते रहते हैं, परन्तु केवलीका ज्ञान किसी भी द्रव्यके परिणमनमें नियामक नही है। वस्तुका परिणमन उसकी अपनी योग्यता और निमित्तोकी अनुकूलताके अनुसार होता है।

विषयका उपसंहार करते हुए पण्डितजीने यह निष्कर्ष निकाला है कि—"जैनदर्शनमे कार्यकारणभावको उपर्युक्त प्रकारसे दो प्रकारका स्वीकार किया गया है—एक तो उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव और दूसरा निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव। इनमेंसे स्वप्रत्ययकार्यकी उत्पत्तिमे केवल उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव ही कार्यकारी होता है और स्वपर-प्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे उपादानोपादेयभावरूप तथा निमित्तनैमित्तिकभावरूप दोनो ही तरहके कार्यकारणभाव कार्यकारी होते हैं। विशेष इतना है कि उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभाव तो उपादानके कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी होता है। लेकिन निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव उपादानकारणकी कार्यरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी होता है। इस तरह दोनो ही कार्यकारणभाव अपने-अपने ढगकी कार्यकारिताके आधारपर वास्तविक ही सिद्ध होते हैं और कोई भी कार्यकारणभाव कार्योत्पत्तिमे अकिंचित्कर सिद्ध नही होता है। अत निमित्तनैनिमित्तकभावरूप कार्यकारणभाव कथनमात्ररूपमे व्यवहारनयका विषय नही होता, किन्तु वास्तविक अर्थात् सद्भावात्मक या कार्यकारीरूपमे ही व्यवहारनयका विषय होता है। दोनो कार्यकारणभाव विकल्पात्मक होनेसे केवलज्ञानके विषय नही होते। इतना ही नही, वे विकल्पात्मक होनेसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानके भी विषय नही होते, केवल विकल्पात्मक श्रुतज्ञानके ही विषय होते हैं।"

इस प्रकार "जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था" नामकी यह छोटी-सी पुस्तक लिखकर व्याकरणाचार्यजीने जैनदर्शनके बहुत सवेदनशील सन्दर्भोपर अपनी अनुभव-सिद्ध लेखनी चलाकर उनका सहज और समर्थ विश्लेषण किया है। साथ ही अपनी तर्क-शक्ति और आगम प्रमाण द्वारा उन्होने वर्तमानमें प्रवर्तमान अनेक भ्रान्त धारणाओका निराकरण करके मुमुक्षु-समुदायपर बड़ा उपकार भी किया है।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा : एक मूल्यांकन

● डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी. अध्यक्ष—जैनदर्शन विभाग, स० सं० वि० वि०, वाराणसी

सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्य द्वारा लिखित 'जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा'[1] नामक समीक्षा-ग्रन्थ मेरे समक्ष है। पिछले कुछ महीनोसे मैं इसका निरन्तर अध्ययन और मनन कर रहा हूँ। राष्ट्रभाषामें इस प्रकारके समीक्षा-ग्रन्थ प्राचीन विद्वानो द्वारा लिखित मूल-ग्रन्थोंसे कम महत्त्वके नही है। भले ही किसी भी विषयकी समीक्षा करने या उसके विषयमे सोचनेका अपना नजरिया (दृष्टिकोण) अलग (विशेष) हो। इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि इसके लेखक सैद्धान्तिक विषयोके मर्मज्ञ विद्वान् तो है ही, साथ ही किसी भी सैद्धान्तिक विषयको सूक्ष्मता और विस्तारसे प्रतिपादन करनेकी क्षमता भी उनमें विशेष है। इस ग्रन्थके विद्वान् सम्पादक डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने अपने सम्पादकीय वक्तव्यमे ठीक ही लिखा है कि "व्याकरणाचार्यजीके चिन्तनकी यह विशेषता है कि वे हर विषयपर गम्भीरतासे विचार करते है और जल्दबाजीमे वे नही लिखते। फलत उनके चिन्तनमे जहाँ गहराई रहती है, वहाँ मौलिकता और समतुला भी दृष्टिगोचर होती है। यह सब भी जैनागम, जैनदर्शन और जैन न्यायके समवेत प्रकाशमे उन्होने किया है। इस दृष्टिसे उनका यह समीक्षा-ग्रन्थ निश्चय ही तत्त्व-निर्णय-परक एव महत्त्वपूर्ण है।"

प्रस्तुत ग्रन्थ जिस ग्रन्थकी समीक्षा हेतु लिखा गया है वह है प० टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुरसे १९६७ में प्रकाशित एव सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी द्वारा सम्पादित "जयपुर (खानिया) तत्त्व-चर्चा" नामक ग्रन्थ। इस समीक्षा-ग्रन्थका भी अपना इतिहास है। सोनगढसे प्रवर्तित अध्यात्म एव कुछ अन्य सिद्धान्त अनेक जैन विद्वानोकी दृष्टिमें एकाङ्गी थे। अत वे इस धाराका विरोध करते थे। किन्तु कुछ विद्वान् इस धाराके प्रबल समर्थक थे। इससे समाजमें निरन्तर परस्पर विवाद एव विरोधकी स्थिति बनी हुई थी। यद्यपि यही स्थिति आजतक विद्यमान है। अन्तर मात्र इतना ही है कि पहले सैद्धान्तिक रूपमे ही अधिक विरोध होता था, किन्तु आज सैद्धान्तिक कम और विरोधके लिए विरोध अधिक है जबकि खण्डन-मण्डन या या विरोधकी परम्पराका निर्वाह होना चाहिए। प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थके रचयिता विद्वान्ने ओछे तरीके न अपनाकर शास्त्रीय और आगमिक प्रमाणो द्वारा उन सिद्धान्तो और मान्यताओकी समीक्षा करके प्रशस्त मार्ग अपनाया, जो सिद्धान्त उनकी दृष्टिमे ठीक नही थे। इस दृष्टिसे मैं प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थकर्ता विद्वानका प्रशसक हूँ। विद्वान समीक्षकने भावी पीढीके लिए भी सैद्धान्तिक विषयोकी समीक्षा एव उनसे ज्ञानप्राप्तिका आदर्श-मार्ग एव स्वस्थ परम्पराका पथ-प्रदर्शन किया है।

सोनगढकी विचारधाराके प्रति बढते सैद्धान्तिक विरोधके कारण समाजके अन्दर बिखराव एव विवाद की बढती स्थितिको देखकर पूज्य स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज एव अनेक विद्वानोके मनमे इन विवादोको परस्पर सैद्धान्तिक तत्त्वचर्चाके माध्यमसे दूर करनेकी प्रबल भावना उत्पन्न हुई, ताकि समाजके सौहार्दपूर्ण वातावरणमे कमी न आये। इसी शुभ उद्देश्यसे ब्र० सेठ हीरालालजी एव ब्र० लाडमलजी द्वारा आचार्यश्रीकी प्रेरणासे तत्त्वचर्चाहेतु एक विद्वत्-सम्मेलन बुलानेका निश्चय किया गया। तदनुसार ऐतिहासिक, धार्मिक एव सास्कृतिक गुलाबी नगर जयपुरके समीपस्थ खानिया तीर्थक्षेत्रमे विराजमान आचार्य श्री शिवसागरजीके सान्निध्यमे दोनो पक्षोके विद्वानोको परस्पर तत्त्वचर्चा हेतु सादर आमन्त्रित किया गया। इस

---

१. प्रकाशक—श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी प० बंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड, बीना (सागर) म० प्र०, सन् १९८२, पृष्ठ सं० ५०५, मूल्य ५० रु०।

चर्चाका आयोजन पूज्य आचार्य श्रीके सघके सानिध्य एवं आदरणीय पं० वशीधरजी न्यायालकारकी मध्यस्थता मे दि० २२ अक्टूबरसे १ नवम्बर १९६३ तक हुआ ।

इस तत्त्वचर्चामें परस्पर चर्चाओके हेतु दोनो पक्षोके विद्वानोमे प्रथमपक्ष (पूर्वपक्ष) के प्रतिनिधि सर्वश्री प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद, प० मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना, प० जीवंधरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर, प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना और प० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर तथा द्वितीयपक्ष (उत्तर पक्ष) की ओरसे सर्वश्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी, आगरा तथा प० जगन्मोहन-लालजी शास्त्री ये तीन प्रतिनिधि थे ।

उपर्युक्त विद्वानोके अतिरिक्त अनेक गण्यमान्य विद्वान् भी चर्चाओमे उपस्थित थे, जिनमे प्रमुख हैं— सर्वश्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, प० रतनचन्द्रजी मुख्तार, सहारनपुर, प० जुगलकिशोरजी मुख्तार, प० अजितकुमारजी शास्त्री दिल्ली, पं० राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा, प० दयाचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, सागर, प० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर, पं० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली, ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ श्री महावीरजी, ब्र० सूरजमलजी, खानिया, प० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर कारजा, प० मिश्रीलालजी शास्त्री लाडनू, बाबू नेमिचन्द्र जी वकील, सहारनपुर, प० हेमचन्द्रजी एव श्री मनोहरलालजी अजमेर, प० पन्नालालजी सोनी, कपूरचन्द्रजी वरैया लश्कर । इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वान् एवं श्रावक, श्रीमन्त यहाँ उपस्थित थे ।

इस तत्त्वचर्चाकी मूल पृष्ठभूमिमे आ० पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैन तत्त्व-मीमासा"[1] नामक बहुचर्चित ग्रन्थ भी प्रमुख रहा है; क्योंकि जिन विषयोपर विरोध था, प्राय उनका प्रतिपादन इस ग्रन्थमे किया गया है ।

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजके सघकी उपस्थितिमे उस समय तक समागत सत्रह विद्वानोकी एक गोष्ठी हुई, जिसमे इस तत्त्वचर्चा हेतु निम्नलिखित कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये गये, जिन्हे भविष्य-मे उपयोगिताकी दृष्टिसे उद्धृत किया जा रहा है ।[2]

१. तत्त्वचर्चा वीतरागभावसे होगी ।
२ तत्त्वचर्चा लिखित होगी ।
३. वस्तुसिद्धिके लिए आगम ही प्रमाण होगा ।
४ पूर्व आचार्यानुसार प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रश और हिन्दीके ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे ।
५. चर्चा शका-समाधानके रूपमें होगी ।
६. दोनो ओरसे शका-समाधानके रूपमे जिन लिखित पत्रोका आदान-प्रदान होगा, उनमेंसे अपने-अपने पत्रोपर अधिक-से-अधिक ५-५ विद्वानो और मध्यस्थके हस्ताक्षर होंगे । इनके लिए दोनो पक्षोंकी ओरसे अधिक-से-अधिक ५-५ प्रतिनिधि नियत होंगे ।
७ किसी एक विषय-सम्बन्धी किसी विशेष प्रश्नपर शका-समाधानके रूपमे पत्रोंका आदान-प्रदान अधिक-से-अधिक तीन बार तक होगा ।

दिनाक २२ अक्टूबर १९६३ को आचार्यश्रीके सानिध्यमें इस तिथि तक समागत २३ विद्वानोंकी

---

१ जैन तत्त्वमीमासा—लेखक एवं सपादक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन-मंदिर, वाराणसी ५ ।

२ सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ (प्रथम खण्ड), पृ० ६४५-६४६ ।

उपस्थितिमें चर्चा-विषयक नियमोमे ८वाँ नियम यह भी स्वीकृत किया गया कि चर्चामे सामाजिक, पंथ तथा व्यक्तिके सम्बन्धमे कोई चर्चा न होगी।

चर्चाहेतु आ० प० मक्खनलालजी शास्त्री द्वारा निम्नलिखित विषय प्रस्तुत किये गये—

१. द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति होता है या नही ?

२. जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म-अधर्म होता है या नही ?

३. जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

४. व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नही ?

५. द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है या अनियतक्रमसे ?

६. उपादानकी कार्यरूप परिणतिमे निमित्तकारण सहायक होता है या नही ?

यद्यपि मूल-ग्रन्थ दो भागो (पुस्तको) में जयपुरसे प्रकाशित हुआ है। अत. इनकी समीक्षा भी दो भागों—पुस्तकोमें लिखी गयी है। किन्तु अभी तक इसका प्रथमभाग प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग लगभग तैयार है और प्रकाशनकी प्रतीक्षामें है।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम भागमें अनेक प्रतिशकाओं सहित निम्नलिखित चार शंकाओके किये गये समाधानो की सभी शास्त्रीय प्रमाणो सहित समीक्षा प्रस्तुत की गई है—

शंका १—द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नही ?

शंका २—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नही ?

शका ३—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

शंका ४—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममे साधक है या नही ?

प्रस्तुत ग्रन्थके इस खण्डमें इन चारो प्रश्नोत्तरोकी समीक्षाके चार-चार प्रकरण निर्धारित है—(१) सामान्य समीक्षा, (२) प्रथम दौरकी समीक्षा, (३) द्वितीय दौरकी समीक्षा, (४) तृतीय दौरकी समीक्षा।

प्रथम प्रश्नोत्तर और इसकी समीक्षा

पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत "द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नही ?—इस **प्रथम प्रश्नका समाधान** उत्तरपक्षने सक्षेपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया कि "द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें व्यवहारसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही है।

यह समाधान पूर्वपक्षको पूर्ण प्रतीत नही हुआ तो अपने प्रश्नको समझाते हुए पूर्वपक्षने कहा कि हमारे प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते है क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते है या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते है ? ससारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ?

प्रथम प्रश्नके इस स्पष्टीकरण पर उत्तरपक्षने कहा कि इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमे ही हम यह बतला आये है कि ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमे द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्ता तो स्वय आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमे हमने समयसार, पचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाओंके अनेक प्रमाण दिये है। किन्तु पूर्व

पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान माननेके लिए तैयार नही प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमणमे व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्न का उत्तर नही मानता।

समीक्षा

विद्वान् समीक्षकका ऐसा मानना है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो उत्तर दिया उसकी पुष्टिमे प्रस्तुत की गई समयसारकी ८० से ८२ तककी तीन गाथाओको प्रमाणरूपमे प्रस्तुत किया है, उसमे गाथा स० ८१ का अर्थ इस प्रकार किया है—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्ह पि॥

अर्थात् जीव कर्ममे विशेषता (पर्याय) को उत्पन्न नही करता। इसी प्रकार कर्म जीवमे विशेषता (पर्याय) को उत्पन्न नही करता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोका परिणाम जानो।[1]

किन्तु उत्तरपक्ष द्वारा उपर्युक्त अर्थ करके स्वय स्वीकृत सिद्धान्तकी उपेक्षा की गई है। इस गाथाका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"जीव कर्मगुणको नही करता अर्थात् कर्मगुणरूप परिणत नही होता और कर्म जीवगुणको नही करता अर्थात् जीवगुण रूप परिणत नही होता। परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोका परिणाम जानो।

इसी प्रकार समयसारकी गाथा सं० ८२[2] एक वस्तुमें अन्य वस्तुके कर्तृत्वका निषेध करती है, जो निर्विवाद है किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें इसकी उपयोगिता नही है।[3] अन्य प्रमाणोके विषयमे भी यही कहा जा सकता है।

इस प्रकार उत्तरपक्ष ससारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्म-को निमित्तकारण तो मानता है, परन्तु वह वही उसे उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमे सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिञ्चित्कर ही मानता है जबकि पूर्वपक्ष उस कार्यके प्रति उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्तकारण मानता है।[4]

इस प्रकार विद्वान् समीक्षकने प्रथम प्रश्नोत्तरके १८९ पृष्ठोंमें ९९ कथनो द्वारा अलग-अलग समीक्षायें प्रस्तुत करके अपने सैद्धान्तिक ज्ञानकी गहनताका परिचय दिया और इस प्रथम प्रश्नोत्तरकी समीक्षाके अन्तमे उपसंहार किया है।

द्वितीय प्रश्नोत्तरकी समीक्षा

पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म मानता है। जबकि उत्तरपक्ष जीवित

---

१. जयपुर तत्त्वचर्चा, पृष्ठ १।

२ एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाण॥ —समयसार ८२

३. समीक्षा, भाग १, पृ० ९।

४. वही, पृ० ११।

शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है। अत पूर्वपक्षने निम्नलिखित प्रश्न रखा।

पूर्वपक्ष—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म-अधर्म होता है या नही ?

उत्तरपक्ष—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीवतत्त्वमे अन्तर्भाव होता है अत वह स्वय जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है।[1]

आ० प० जीने उत्तरपक्षके कथनका विस्तृत विश्लेषण किया है। वस्तुत जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—प्रथम जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया तथा द्वितीय शरीरके सहयोगसे होने वाली जीवकी क्रिया। इन दोनोमेंसे पूर्वपक्षके प्रश्नका सम्बन्ध शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे है, क्योकि धर्म और अधर्म ये दोनो जीवकी ही परिणतियाँ है और उनके सुख-दु खरूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अत जिस जोवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म और अधर्म होते है उसका कर्ता जीवको मानना ही युक्तिसगत है, शरीरको नही।

विद्वान् समीक्षकका ऐसा मानना है कि उत्तरपक्षने जो प्रश्नोत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षका यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जोवित शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव-तत्त्वमे अन्तर्भाव करके उससे आत्मामे धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामे पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नही है, परन्तु आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारणरूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया-की अपेक्षा विरोध है।[2]

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीवतत्त्वमे अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामे धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है ? किन्तु उत्तरपक्षके पास इसका कोई उत्तर नही है। पर पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नही होता, क्योकि यह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारणरूपसे आधार मानता है।

इस प्रकार द्वितीय प्रश्नोत्तरकी विस्तृत समीक्षा यहाँ की गई है। द्वितीय प्रश्नका उत्तर तीन दौरोमे सम्पन्न हुआ था। यहाँ इन सबकी तथा साथ ही सत्रह कथनो द्वारा उनकी समीक्षा की गई है।

तृतीय प्रश्नोत्तरकी समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

उत्तर पक्ष—(क) इस प्रश्नमे यदि 'धर्म' पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नही है, क्योकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोमे की गई है और शुभ परिणामको आगममे पुण्यभाव माना है। परमात्मप्रकाशमे भी कहा है—

सुहपरिणामे धम्मु पर असुहे होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बधइ कम्मु ॥२-७१॥

---

१ जयपुर तत्त्वचर्चा, पृ० ७६।

२ समीक्षा, भाग १, पृ० १९०।

अर्थात् शुभ परिणामसे मुख्यतया धर्म—पुण्यभाव होता है और अशुभ परिणामसे अधर्म—पापभाव होता है तथा इन दोनो ही प्रकारके भावोसे रहित शुद्ध परिणामवाला, जीव कर्मबन्ध नही करता।

(ख) यदि इस प्रश्नमे 'धर्म' पदका अर्थ वीतरागपरिणति लिया जाय तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्योकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमे अन्तर्भाव होता है, सवर और निर्जरातत्त्वमे अन्तर्भाव नही होता।[1]

समीक्षा

प्रस्तुत तृतीय प्रश्न उपस्थित करनेका पूर्वपक्षका उद्देश्य यह था कि आगममे जिस प्रकार जीवदया-को पुण्यरूप मान्य किया गया है उसी प्रकार उसे वहाँ धर्मरूप भी मान्य किया गया है। और फिर जीवदया-के भी तीन भेद हैं—१ पुण्यभूत जीवदया, २ जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदया और ३ इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत व्यवहारधर्मरूप जीवदया। इन तीन रूपोको पूर्वपक्ष तो मानता है किन्तु उनमेसे उत्तरपक्ष केवल पुण्यभूत जीवदयाको मान्य करता है, धर्मरूप जीवदयाको मान्य नही करता है इतना ही नही वह पूर्वपक्षकी धर्मरूप जीवदयाकी मान्यताको मिथ्यात्व कहता है। इसी बातको लक्ष्य करके उपर्युक्त तृतीय प्रश्न उपस्थित किया गया।[2]

इस परिपेक्ष्यमे विद्वान् समीक्षकका कहना है कि जिस प्रकार जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नही है उसी प्रकार उसे जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे व इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत व्यवहारधर्मके रूपमे धर्म मानना भी मिथ्यात्व नही है। पुण्यभूत जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण होती है तथा इस आधारपर ही आगममे पुण्यभूत जीवदयाको परम्परा मोक्षका कारण माना गया है। वास्तवमे तो पुण्यभावरूप जीवदया शुभप्रवृत्तिरूप होनेसे कर्मोके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है और पूर्वपक्ष भी ऐसा ही स्वीकार करता है।[3] इससे सिद्ध है कि पूर्वपक्ष पुण्यभावरूप जीवदयाको उस प्रकार मोक्षका कारण नही मानता जिस प्रकार व्यवहारधर्मरूप जीवदया मोक्षका कारण होती है। पूर्वपक्ष जीवदयाको पुण्यरूप भी मानता है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप भी मानता है और निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी मानता है तथा अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिए ही उसने आगमप्रमाणोको उपस्थित किया है।[4]

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चा पृष्ठ सख्या १२५ से १२८ तकका विवेचन जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म तथा भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप आत्माके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके स्वरूप भेदको नही समझकर ही किया है। फलत उत्तरपक्षको वहाँ स्वयके द्वारा उपस्थित और पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थित आगम प्रमाणोका अर्थ करनेमें बहुत खीचातानी करनी पडी है।[5]

प्रश्नोत्तर ४ और उसकी समीक्षा

पूर्वपक्ष—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममे साधक है या नही ?

---

१. तत्त्वचर्चा, पृष्ठ ९३।
२ समीक्षा, भाग १, पृ० २४९।
३. वही, पृ० २५२।
४ वही, पृ० २५८।
५. ज० तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, पृ० २७२।

उत्तरपक्ष—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नही है, क्योकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। आगे उत्तरपक्षने नियमसारकी गाथा सं० १३, १४ एव २८ का प्रमाण देते हुए कहा कि यत निश्चयरत्नत्रय स्वभावपर्याय है, अत उसकी उत्पत्तिका साधक व्यवहारधर्म नही हो सकता। तथापि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहारधर्म निश्चयधर्मके साथ रहता है, अत' व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।[1]

समीक्षा—उत्तरपक्षके इस समाधानपर पूर्वपक्षका कहना है कि चूंकि स्वभावपर्याय परनिरपेक्ष है और इस तरह निश्चयधर्म जब परनिरपेक्ष सिद्ध होता है तो इसे व्यवहारधर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है? पूर्वपक्षने आगमप्रमाणोके आधारपर व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक स्वीकार किया है। उत्तरपक्षने निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है—इसकी पुष्टिके लिए नियमसारकी जिन गाथाओको प्रमाणरूपमे प्रस्तुत किया है इनके आधारपर उनकी मान्यता सिद्ध नही होती। क्योकि ये गाथायें उपयोगप्रकरणकी है। इन गाथाओके आधारपर केवलदर्शनोपयोगको इन्द्रियरहित और असहाय होनेसे स्वभावरूप और शेष सभी दर्शनोपयोगोको इन्द्रियसहित और ससहाय होनेसे विभावरूप बतलाना तो ठीक है, परन्तु दर्शनोपयोगको स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष बतलाना ठीक नही है और इस तरह निश्चयधर्मकी उत्पत्तिको उसकी स्वभावरूपताके आधारपर परनिरपेक्ष स्वीकार कर उसमें व्यवहारधर्मके साथ साध्य-साधकभावका निषेध करना ठीक नही है।

जबतक जीव स्वभावकी ओर अग्रसर नही होता, तबतक उमे व्यवहारधर्मके पालनमें भी सजग रहना आवश्यक है। जीव स्वभावमे स्थिर तभी होता है जब वह उसके अनुकूल पुरुषार्थ करता है। जीव स्वभावकी ओर अग्रसर न होनेके कालमें भी यदि व्यवहारधर्मकी उपेक्षा करता है तो वह स्वभावमें तो स्थिर होगा नही, साथ ही व्यवहारधर्मसे च्युत होकर अपने अनन्त-ससारकी ही वृद्धि करेगा।[2]

इस तरह विद्वान् समीक्षकने अनेक प्रमाणो द्वारा उत्तरपक्षके समाधानकी विस्तृत समीक्षा लगभग ३७ पृष्ठोमें की है, जो तत्त्व-जिज्ञासुओको अवश्य पढने योग्य है। यद्यपि विद्वानोको प्राय' अपनी-अपनी मान्यताओका व्यामोह होता है। किन्तु नि स्वार्थभावसे आगमोका आलोडन करके विद्वानो द्वारा जो 'नवनीत'के रूपमे तत्त्व-विमर्श किया जाता है, वही प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु द्वारा ग्राह्य है।

वस्तुत जिस समय समाजमें सिद्धान्त और भावनाके बीच एक दरार पड रही हो उस समय इस तरहकी प्रशस्त तत्त्वचर्चाओका अपना ऐतिहासिक महत्त्व हो जाता है। आरम्भमें इस तत्त्वचर्चाका मूल वीतरागभाव स्वीकार भी किया गया है। किन्तु लगता है कि वह वीतरागकथा विजिगीषुकथाकी ओर मुड गयी। जैसा कि उसके परिणामसे विदित है। यद्यपि भले ही इन चर्चाओकी मूल भावना न समझकर आग्रहवश नेतृवर्ग अपना-अपना राग आलापते रहें, किन्तु तटस्थवृत्ति वाले लोग ऐसे आयोजनोका महत्त्व समझते है। प्रस्तुत समीक्षाग्रन्थके लेखक विद्वान् चूंकि इस तत्त्वचर्चामें पूर्वपक्षकी ओरसे प्रमुख प्रतिनिधि थे, अत इसकी समीक्षाके सर्वाधिक अधिकारी भी वही थे और इस दायित्वका निर्वाह उन्होने पूरी निष्ठाके साथ किया है।

---

१. जयपुर तत्त्वचर्चा, पृष्ठ १२९।

२. जयपुर तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, पृ० २८३-२८४।

इस ग्रन्थके सुयोग्य सम्पादक श्रद्धेय आदरणीय डॉ० कोठियाजीने इसके सुन्दर सम्पादनमे काफी परिश्रम किया हैं। यदि अनेक स्थानोपर भावो, सिद्धान्तो एव चर्चाओ आदिकी पुनरावृत्तिसे बचा जाता, तो और सौन्दर्य आ जाता।

इस ग्रन्थकी विशेषता है कि विद्वान् समीक्षकने मूल समीक्ष्य ग्रन्थ अर्थात् "जयपुर खानिया तत्त्व-चर्चा" को भी इस समीक्षा-ग्रन्थके साथ प्रकाशित किया है, ताकि तटस्थ जिज्ञासु निष्पक्षभावसे मूल अशका भी अध्ययन कर यथार्थता ग्रहण कर सकें।

मूल ग्रन्थमे जहाँ शकापक्षको "अपरपक्ष" नामसे प्रस्तुत किया गया है, वहाँ इस समीक्षा-ग्रन्थमें इसे 'पूर्वपक्ष' और समाधानपक्षको 'उत्तरपक्ष' नामसे प्रस्तुत करके प्राचीन न्यायशास्त्रकी परम्पराके गौरवकी पुनः प्रतिष्ठा की गयी है। पर तत्त्वचर्चा अपने मूल उद्देश्य—वीतरागचर्चासे भटककर विजिगीषुचर्चा बन गयी। अस्तु।

मुझे स्मरण है, जब मै कटनीकी जैन शिक्षा-सस्थामे अध्ययन कर रहा था, उस समय सन् १९६४-६५ के लगभग श्रद्धेय गुरुवर्य पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, आदरणीय प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको सहयोग देने हेतु उनके समीक्ष्य मूलग्रन्थ जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी कुछ विषय-सामग्रीका सकलन कर रहे थे, उनकी आज्ञानुसार उनके निवासपर प्रात साफ प्रतिलिपि करने हेतु जाता था। अत उस पुस्तकपर लिखे गये इस समीक्षा-ग्रन्थका मूल्याकन (समीक्षात्मक अनुशीलन) लिखना, मेरे लिए प्रसन्नताका विषय है। मैं पुन समीक्षक विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ कि उन्होने सैद्धान्तिक मतभेदोकी समीक्षा शालीनतापूर्वक उच्च-समीक्षा-ग्रन्थ द्वारा करके एक स्वस्थ परम्पराका निर्वाह किया और साथ ही साथ तत्त्व-जिज्ञासुओंको लाभान्वित किया है। ●

भाग्य और पुरुषार्थ : एक नया अनुचिन्तन : समीक्षात्मक अध्ययन

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, निदेशक महावीर-ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

भाग्य और पुरुषार्थ विषयपर विद्यार्थी अवस्थामे हम लोग वाद-विवाद किया करते थे। एक वक्ता भाग्यकी वकालात करता और कहता कि "सकल पदारथ है जग माही भाग्यहीन नर पावत नाही।" दूसरी ओरसे पुरुषार्थका समर्थन करने वाला कहता कि 'उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति" और पुरुषार्थ करनेको ही एकमात्र सफलताकी कुजी बतलाता। वर्तमानमे यद्यपि ये विषय 'आउट ऑफ डेट' माने जाने लगे है, लेकिन फिर भी कभी-कभी भाग्य और पुरुषार्थपर वाद-विवाद छिड ही जाता है।

प० वशीधरजी व्याकरणाचार्यकी लघुपुस्तक "भाग्य और पुरुषार्थ एक नया अनुचिन्तन" है। इसपर समीक्षात्मक लेख लिखनेके लिए डॉ० कोठिया साहबका पत्र मिला, तो मैंने समझा कि पुस्तकमे वही लकीर पीटने जैसी बात होगी और लेखकने भाग्य और पुरुषार्थमेसे किसी एकका समर्थन किया होगा। लेकिन जब पुस्तक देखी और पढी तो वह हमारे अनुमानसे एकदम विपरीत मिली तथा लेखकके भाग्य और पुरुषार्थपर उनके चिन्तनशील विचारोको पढकर बडी प्रसन्नता हुई। पडितजीने भाग्य और पुरुषार्थपर अपना एक नया चिन्तन किया है और उनके वर्णनके गूढ तत्त्वोको इसमे उडेल दिया है।

पुस्तकमे भाग्यका लक्षण देते हुए लखा है कि सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालरूप सभी पदार्थोमे अपनी योग्यताके बलपर प्राकृतिक ढगसे जो प्राप्त होता है उसे भाग्य कहते है। और जीवद्वारा अपने आध्यात्मिक और लौकिक जीवनमें पौद्गलिक मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है उसे पुरुषार्थ कहते है। पडितजीने भाग्य शब्दका आगे चलकर और भी स्पष्टीकरण किया है। उन्होने लिखा है कि भाग्यका अर्थ वह वैभाविक शक्ति है जो सभी जीवोमे तथा कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणारूप पुद्गलोमे सम्भवत पायी जाती है और उस वैभाविक शक्तिके आधारपर होनेवाली वैभाविक पर्यायें ही भाग्यका रूप होती है।

लेखकने पुरुषार्थको दो भागोमे विभाजित किया है। एक शुभ पुरुषार्थ और दूसरा अशुभ पुरुषार्थ। शुभ पुरुषार्थ पुण्यकर्मोके उदयमे किया जाता है अर्थात् पुण्यार्जनके लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह शुभ पुरुषार्थ है तथा पापकर्मोके उदयमे जो कुछ किया जाता है वह अशुभ पुरुषार्थ कहलाता है। जिन पाप-कार्योसे जीवको दुर्गति मिलती है, कष्ट मिलता है, वेदना सहनी पडती है वह सब जीवके अशुभ पुरुषार्थका ही फल है। वह जीव अपने वर्तमान शुभ और अशुभ पुरुषार्थके बलपर आगामी कर्मों और नोकर्मोका बन्ध करता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवमे, कर्मवर्गणा और नोकमवर्गणारूप पुद्गलोमे विभाव परिणमन होनेकी यह प्रक्रिया अनादिकालसे चल रही है।

पडितजीका भाग्य-पुरुषार्थपर लिखनेका उद्देश्य यह है कि जीव किस प्रकार अपने पुरुषार्थके बलपर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। और अपने इस कथनको पूर्णत सत्य सिद्ध करनेके लिए उसमे विभिन्न पक्षोका आश्रय लिया है। लेखकने पुरुषार्थके चार भेद बतलाते हुए कहा है कि प्रथम पुरुषार्थ जीवो द्वारा सकल्पी पाप या मिथ्याचारित्ररूप अशुभ प्रवृत्तिके रूपमे किया जाता है। द्वितीय पुरुषार्थ जीवो द्वारा आरम्भी पाप या अविरत-रूप अशुभ प्रवृत्तिके रूपमें किया जाता है। तृतीय पुरुषार्थ जीवो द्वारा अशुभप्रवृत्तिके एकदेशत्याग—देशविरत अथवा पुण्यरूप प्रवृत्तिके रूपमें किया जाता है और चतुर्थ पुरुषार्थ जीवो द्वारा अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक

होनेवाली शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मके रूपमे किया जाता है। पुरुषार्थ करनेकी यह प्रक्रिया एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय संज्ञी तकके सभी जीवोमे अनादिकालसे यथासम्भव रूपमे होती चली आ रही है।

पुस्तकमे आगे गुणस्थानोकी विस्तृत चर्चा की है तथा कहा है कि तिर्यञ्चगतिकी अपेक्षा उसमें आदिके पाँच गुणस्थान सम्भव है तथा मनुष्यगतिकी अपेक्षा उसमे प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक सभी गुणस्थान सम्भव है। इस प्रकार पडितजीने भाग्य और पुरुपार्थके वर्णनमे गुणस्थानोकी जो चर्चा की है वह वास्तवमें पडितजीके गहन अध्ययनका सुपरिणाम है। पडितजीकी दृष्टि बहुत पैनी है, इसलिए विषयका विवेचन बहुत गम्भीर एवं गहन है।

लेकिन पुस्तककी भाषा सरल होते हुए भी पडितजीने अपने विवेचनमे लम्बे-लम्बे वाक्योका प्रयोग किया है जिससे पाठक उनमे उलझ जाता है और लेखक क्या बात कह रहा है उसे समझ पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। पुस्तकमें पहले विषयको तीन विवेचनोके माध्यमसे रखा गया है और फिर उन तीन विवेचनोके तीन स्पष्टीकरण दिये गये हैं। इस प्रकार छह प्रकरण और अन्तमे एक परिशिष्ट जोडकर पुस्तकके विषयको तत्त्वचर्चाके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक पूर्णत पठनीय है तथा वह पाठकको नई दिशा देने वाली है।

प्रस्तुत पुस्तक वीरसेवामदिर ट्रस्ट-प्रकाशनकी ओरसे सन् १९८५मे प्रकाशित हुई थी। इस ट्रस्टके संस्थापक आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार थे तथा ट्रस्टके सम्पादक एवं नियामक जैन जगतके विद्वान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया है। इस ट्रस्टकी ओरसे अब तक प्रस्तुत पुस्तक सहित ३८ पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत पुस्तक ५४ पृष्ठोमे पूर्ण होती है तथा उसकी कीमत चार रुपये रखी गयी है। पुस्तक-प्राप्तिका स्थान—वीरसेवामन्दिरट्रस्ट प्रकाशन, बी-३२/१३ बी०, नरिया, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५ है।
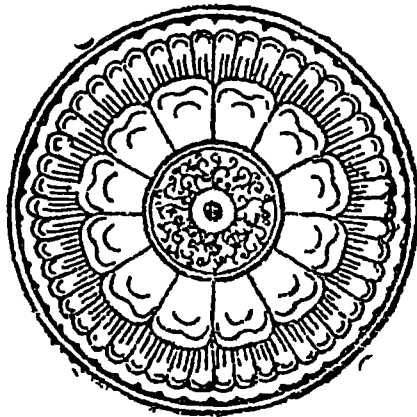
पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी : एक समीक्षा

डॉ० सुदर्शन लाल जैन, रीडर—संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि० वाराणसी

सिद्धान्ताचार्य पण्डित बंशीधर व्याकरणाचार्य द्वारा रचित प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ विषयकी दृष्टिसे बहुत गम्भीर है। आपकी अन्य रचनायें भी गम्भीर विषयोका ही प्रतिपादन करती है।

द्रव्यस्वरूप और पर्यायोकी द्विविधता

जैनदर्शनके अनुसार द्रव्यका स्वरूप है 'सत्' और 'सत्' उसे कहते है जो उत्पत्ति और विनाशरूप पर्यायोके होते रहनेपर भी ध्रुव (नित्य) बना रहे।[1] इसी अर्थका पोषक द्रव्यका दूसरा लक्षण भी किया गया है। वह है—'जिसमे गुण और पर्यायें हो वह द्रव्य है।'[2] इन दोनो लक्षणोमें भेद नही है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

प्रत्येक द्रव्यमे स्वाभाविक रूपसे स्वत सिद्ध अनन्त गुण रहते है तथा प्रत्येक द्रव्यमे द्रव्यपर्यायें और प्रत्येक गुणमें गुणपर्यायें रहती है। इस तरह पर्यायें दो तरहकी होती हैं—(१) द्रव्यपर्यायें और (२) गुणपर्यायें। चूँकि गुण द्रव्यके स्वत सिद्ध स्वभाव है। अत गुण भी 'सत्' कहलाते है। प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक गुणमे हमेशा उत्पाद्-व्ययकी प्रक्रिया चालू रहती है। द्रव्य और गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिका नाम है उत्पाद्' और उनकी स्व-स्व पूर्वपर्यायके विनाशका नाम है 'व्यय'। पर्यायोके बदलनेपर भी द्रव्य अपनी द्रव्यताको और गुण अपनो गुणरूपताको कभी नही छोडते है। अत वे नित्य है, ध्रुव है।

स्पष्टीकरण

छह द्रव्योमें धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन चार शुद्ध द्रव्योकी पर्यायें स्वप्रत्यय, जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य शुद्ध भी होते है और अशुद्ध भी होते है। शुद्ध जीव (मुक्त) और शुद्ध पुद्गल (परमाणु) में स्वप्रत्यय तथा शेष जीव-पुद्गलोमे स्वपरप्रत्यय पर्यायें होती है। तथा षट्गुणहानि-वृद्धिरूप गुणपर्यायोको छोडकर शेष सभी गुणपर्यायें भी स्व-परप्रत्यय होती है। षट्गुणहानिवृद्धिरूप गुणपर्यायें स्वप्रत्यय ही होती है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीकी सहायताके विना ही मात्र उपादानकारणजन्य हो वह स्वप्रत्ययपर्याय है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो वह स्व-परप्रत्यय पर्याय है। स्वप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है और स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनो रूप होती है यही सिद्ध करना इस पुस्तकके लिखनेका उद्देश्य है।

क्रमबद्ध-अक्रमबद्धका अर्थ तथा विवाद-स्थल

क्रमबद्धताका अर्थ है पर्यायोका नियतक्रमसे उत्पन्न होना और अक्रमबद्धताका अर्थ है पर्यायोका अनियतक्रमसे उत्पन्न होना। यहाँ इतना विशेष है कि एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें कदापि युगपत् एक ही समयमें उत्पन्न नही होती, अपितु एक जातीय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही उत्पन्न होती है। इसमे किसीको भी विवाद नही है। विवादका स्थल है स्व-पर प्रत्यय पर्यायोको बाह्यनिमित्तकारण सापेक्षताके आधारपर अक्रमबद्ध माना जाए या नही। स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके सन्दर्भमे मुख्य दो मत है—(१) पुरातन सिद्धान्तवादी—ज्ञप्ति की अपेक्षा स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होनेपर भी उत्पत्तिकी अपेक्षा

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्त सत्।—तत्त्वार्थसूत्र ५-२९-३०।

२ गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। तत्त्वार्थसूत्र ५-३८।

क्रमबद्ध और अक्रमवद्ध दोनो होती है। (२) सोनगढ सिद्धान्तवादी—उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों अपेक्षाओंसे स्व-परप्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अक्रमबद्ध नही।

सोनगढ सिद्धान्तवादियोंका पूर्वपक्ष

सोनगढ सिद्धान्तवादियोके पास अपनी मान्यताको बल देनेवाले मुख्यरूपसे दो तर्क है—

(१) आत्मख्याति टीकाका क्रमनियमित शब्द—समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८-११ तककी गाथाओकी आत्मख्याति टीकामे आया है—"जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव;, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीव·।" यहाँ आए 'क्रमनियमित' शब्दकी व्याख्या करते हुए डॉ० हुकुमचन्द्र भारिल्लने अपनी पुस्तक 'क्रमबद्धपर्याय' पृष्ठ १२३ पर लिखा है—क्रम = क्रमश तथा नियमित = निश्चित। अर्थात् जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आएगी, उसमे परिवर्तन नही हो सकता है। इससे पुरुपार्थका निपेध और निश्चित भाग्यवादकी पुष्टि होती है। इसका यह भी तात्पर्य है कि सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायें भी पूर्वनिश्चितक्रमानुसार होनेसे क्रमबद्ध है।

(२) केवलज्ञानका विषय होना—सर्वज्ञके केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् सम्पूर्ण द्रव्योकी त्रैकालिक सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायें प्रतिभासित होती है। अत स्व-परप्रत्यय पर्यायोको भी क्रमबद्ध ही मानना चाहिए अन्यथा अक्रमबद्ध (अनियतक्रम) होनेपर उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोका केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असभव है।

ये दो ही मुख्य तर्क है जिनके आधारपर स्व-परप्रत्यय पर्यायोको क्रमबद्ध सिद्ध किया जाता है।

पुरातन सिद्धान्तवादियोका उत्तरपक्ष—

(१) 'क्रमनियमित'का सही अर्थ—आत्मख्याति टीकाके 'क्रमनियमित' शब्दका अर्थ 'क्रमवर्ती समयके साथ नियमित (बद्ध)' यह सोनगढी अर्थ ठीक नही है अपितु 'एक जातीय स्व-पर प्रत्यय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रममे नियमित (बद्ध)' यह अर्थ उचित है।

(२) उत्पत्ति और ज्ञप्तिका भेद—यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वज्ञके केवलज्ञानमे त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें युगपत् एक ही समयमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती है परन्तु इस आधारपर उन पर्यायोकी उत्पत्तिको भी क्रमबद्ध मानना न्यायसगत नही है क्योकि उन त्रैकालिक पर्यायोका केवलज्ञानमे युगपत् एक ही समयमे क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है तथा उनकी उपादान, प्रेरक तथा उदासीन निमित्त-कारणोकी यथा प्राप्तिके बलसे यथासंभव क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध रूपमे उत्पन्न होना अन्य बात है। अतः उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करनेपर स्व-परप्रत्यय पर्यायें प्रेरक और उदासीन निमित्तकारण-सापेक्ष होनेसे क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों सिद्ध होती है। ज्ञप्तिकी अपेक्षा विचार करनेपर हम कह सकते है कि उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली उन पर्यायोका प्रतिभासन केवलज्ञानमें युगपत् एक ही समयमे क्रमबद्ध रूपमे होता है। पर्यायोकी उत्पत्तिका निश्चय श्रुतज्ञानके आधारपर संभव है, केवलज्ञानके विषय-आधार पर नही।[1]

दोनो सिद्धान्तोमे भेदका हेतु

पुरातन सिद्धान्तवादी स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमे देश और कालको महत्त्व न देकर उपादान-

---

१. देखें, मूलग्रन्थ, पृ० १२,१७,३५

कारणभूत बाह्यसामग्रीको महत्त्व देते हैं। परन्तु सोनगढी स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीको महत्त्व न देकर उस देश और कालको महत्त्व देते हैं जहाँ और जिस कालमें पर्यायकी उत्पत्ति हुई थी, हो रही है या होगी। अर्थात् देश-कालको नियामक मानते है। परन्तु पुरातन सिद्धान्ती देश-कालको कार्योत्पत्तिमे उपयोगी नही मानते है। कार्यकारण-भाव अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर उपादान और निमित्तसामग्रीके साथ ही मानते हैं। यही दोनोंमे भेदका हेतु है।[1]

केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा[2]

इसके अतिरिक्त पूर्ण क्षायिक केवलज्ञानमे सयुक्त या वद्ध पदार्थोका प्रतिभासन संयुक्त या बद्धदशामें सयुक्त या वद्ध रूपसे न होकर पृथक्-पृथक् रूपसे होता है परन्तु मति, अवधि और मन पर्ययज्ञानोम वद्ध पदार्थोंका ज्ञान वद्धरूपसे ही होता है। अत सभी जीव और पुद्गल परस्पर वद्ध होते हुए भी जव केवलज्ञानमे सतत् अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता या पर्यायरूपता-सहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं तो उस स्थितिमें उन पदार्थोकी सयुक्तदशाका एव जीव-पुद्गलकी वद्धदशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नही हो सकता है। केवलज्ञानमे जव प्रतिक्षण पदार्थोकी पृथक्-पृथक् रूपताका प्रतिभासन हो रहा है तो उनकी अवास्तविक दशाका प्रतिभासन सभव नही। अत· केवलज्ञानके प्रतिभासन हेतुसे 'स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी क्रमबद्धतामात्र सिद्ध नही होती है।' यह केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा कहाँ तक आगमोचित है—'इसका प० श्यामसुन्दरलाल शास्त्रीने अपने प्राक्कथन (पृ० २) में संकेत किया है। वस्तुत केवलज्ञानकी विषय-मर्यादाके सदर्भमे विद्वान् लेखकने जो अपना पक्ष दिया है वह विद्वानोंके लिए अधिक विचारणीय है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जिसके क्रोध कषायका उदय चल रहा है वही चलते रहना चाहिए, क्योकि सोनगढ सिद्धान्तमे पर्यायोकी क्रमवद्धता है। किन्तु देखा जाता है कि निमित्त मिलते ही उस व्यक्तिके क्रोधकषाय रुककर क्षमाकी धारा प्रवाहित होने लगती हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्याये क्रमबद्ध भी है और अक्रमबद्ध भी है। निमित्तको अकिंचित्कर नही कहा जा सकता और न प्रत्यक्ष दृष्टका अपलाप किया जा सकता है। अग्नि जल रही है और पानी डालते ही वह बुझ जाती है। स्पष्ट है उसका क्रमबद्ध परिणमन रुककर अक्रमबद्ध परिणमन (विजातीय शान्त परिणमन) हो जाता है। अग्निके दाहपरिणामसे विजातीय अदाह परिणाम होने लगता है। यह निमित्तभूत जलका ही प्रभाव है। फिर कैसे वह अकिंचित्कर है? और कहाँ पर्याय क्रमबद्ध रही?

इस तरह सूक्ष्मदर्शी विद्वान्ने, जो न केवल वैयाकरण ही है अपितु एक अच्छे आगमज्ञ और दार्शनिक भी है, युक्ति और आगमके द्वारा पर्यायोकी क्रमवद्धता और अक्रमबद्धताको सिद्ध किया है। ऐसा मानना ही अनेकान्तसिद्धान्तके अनुकूल है। इसके अतिरिक्त विद्वान् लेखकने प्रसङ्गानुकूल पुद्गलोका आवश्यक सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत पुस्तकमे किया है।[3]

●

---

१. मूलग्रन्थ, पृ० ७-९

२. वही, पृ० २४-३१, ३५।

३. वही, पृ० ३१-३४।

पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी : एक अध्ययन

● पं० विजयकुमार जैन-साहित्य-दर्शनाचार्य, श्रीमहावीरजी

जैन आगम-ग्रन्थोपर सोनगढी विचारधाराको थोपनेके बाद एक नया आन्दोलन और चल पडा है। इस विचारधाराके अनुसार वस्तुतत्त्वको एकान्तदृष्टिसे समझा-समझाया जाता है। पर एकान्तदृष्टिसे वस्तुका सम्यग् विवेचन नही होता। सम्यग् विवेचनके अभावमे गृहीत तत्त्व तो मिथ्या होता ही है, हमारी दृष्टि भी मिथ्या हो जाती है।

सोनगढ विचारधारा वस्तूत्पत्ति या द्रव्यपरिणमनमे निमित्त और उपादान दोनो कारणोमेंसे उपादानकारणको ही कारण मानती है। निमित्तको तो वह अकिंचित्कर स्वीकार करती है। वह तो उपस्थित मात्र रहता है, ऐसा उसका कथन है। इसी तरह वह पर्यायोको क्रमनियमित मानकर नियतिवादको अङ्गीकार करता है। आचार्यपरम्पराके अनुसार परिणमनमें दोनो कारणोका सम सहकार है, जैसा कि समन्तभद्र स्वामी कहते है। बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभावः।

अर्थात् बाह्य-निमित्त और इतर-अन्तरङ्ग कारणोकी समग्रतासे ही कार्य होता है, यही द्रव्यका अपना स्वभाव है।

सोनगढविचारधाराके पुष्ट करने हेतु डॉ० हुकुमचन्द्रजी भारिल्लने '**क्रमबद्ध पर्याय**' पुस्तक लिखी, जिसमें पर्यायोको एकान्तत क्रमनियमित मानकर नियतिवादको पुष्ट किया गया है। जैन दर्शन और जैन न्याय-के ख्यातिप्राप्त विद्वान् स्व० डॉ० पण्डित महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने अपने 'जैनदर्शन' ग्रन्थमे सोनगढकी इस एकान्त विचारधाराका विविध तर्कोसे विशदरूपमे खण्डन किया है। जैन मनीषी पं० वशीधरजी व्याकरणाचार्यने भी इस लघु पुस्तिकामे सर्वथा पर्यायोकी क्रमबद्धताको असंगत और जैन तत्त्वदृष्टिसे विपरीत बताते हुए बहुत स्पष्ट रूपमे बताया है कि पर्यायें क्रमबद्ध ही नही, अक्रमबद्ध भी होती हैं।)

सर्वप्रथम उमास्वामी महाराजके 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' (त० सू० ५-३८) का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए—(१) द्रव्यपर्याय (२) गुणपर्यायके रूपमें दो प्रकारकी पर्यायें बतायी है।

दूसरे अनुच्छेदमे सूत्रकारके 'सद्द्रव्यलक्षणम्' (त० सू० ५-३०) सूत्र पर विचार करते हुए द्रव्य तथा द्रव्यके स्वभावभूत-गुणोको 'सत्' स्पष्ट किया है। अनन्तर इसी अनुच्छेदमे बताया है कि द्रव्यमे ही नही, गुणोमे भी प्रतिसमय उत्पाद-व्यय चल रहा है। साथ ही उत्पाद और व्ययकी व्याख्या भी स्पष्ट की गई है। आगे पर्यायोको दूसरे प्रकारसे द्विरूप बताया गया है। (१) स्वप्रत्यय (२) स्व-परप्रत्य। जो पर्यायें निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीके बिना ही उपादानकारणजन्य हैं वे स्वप्रत्यय व जो पर्याय निमित्त-कारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हु वे स्वपरप्रत्यय पर्यायें है।

इन द्विविध पर्यायोकी पुष्टिके लिये समयसारके सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८-३११, ३१२, ३१३, सर्वार्थसिद्धि व नियमसारादिके प्रमाण दिये है।

आगे बताया गया है कि निमित्त (१) प्रेरक और (२) अप्रेरक (उदासीन) दो प्रकारके होते हैं। (प्रेरक निमित्त वे है जिनके साथ कार्यकी अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो तथा उदासीन निमित्त वे है जिनकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो। श्री व्याकरणाचार्यजीने बताया है कि प्रेरक निमित्तोके बलसे कार्य आगे पीछे भी किया जा सकता है। तथा अनुकूल उदासीन निमित्तोका भी यदि उपादानको सहयोग प्राप्त न हो तो उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति नही हो सकती है। जैसे—उपादानरूप शिष्यकी पठनक्रिया निमित्तकारण (प्रेरक) भूत अध्यापक और अप्रेरक प्रकाश आदि निमित्तोकी सहायताके बिना नही हो सकती है।)

(२) प्रेरक निमित्तकारणभूत इञ्जन और अप्रेरक रेलपटरीरूप निमित्तोके बिना रेल नही चल सकती।

(३) (प्रेरक निमित्तकारणभूत कुम्भकार एवं अन्य विविध दण्डादि प्रेरक और उदासीनभूत कीली आदि अप्रेरक निमित्त कारणोकी सहायतासे ही उपादानकारणभूत मिट्टी स्थास, कोश, कुशूल व घट पर्यायरूप परिणत होती है)

इस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायें नियत क्रमबद्ध और अनियत क्रमबद्ध भी होती हे ।

यद्यपि आम्रफलका परिपाक अपने समय पर होता है, पर कृत्रिम उष्मासे उन्हें समयके पूर्व पकाया जा सकता है । वहाँ परिपाकरूप परिणमन अक्रमबद्ध ही होगा ।

जीवका मरण उसकी निश्चित आयु पर ही होगा, पर विषपान, शस्त्राघात, अग्निदाह, अकस्मात् दुर्घटना आदि वश पहले भी अर्थात् अक्रमबद्ध समयपूर्व भी देखा जाता है ।

सोनगढसिद्धान्तवादी केवलज्ञान-विषयतापर ही पर्यायोका परिणमन मानते है पर उन्हे इस केवल-ज्ञानविषयतापर स्वय विश्वास नही है । अन्यथा ९० वर्ष जितनी लम्बी आयु भोग लेनेपर भी श्रीकानजी स्वामी अन्तिम समय मरणभयसे पीडित न होते और शान्तिपूर्वक सल्लेखनामरणको उपेक्षा कर जसलोक अस्पतालमे वाल-वालमरणपूर्वक शरीर न छोडते । प्रत्युत जैनागमानुसार संयमके सोपानपर चढ़ते ।

सोनगढकी विचारधारा भवितव्यतापर जोर देती है । पर भवितव्यताके अनुसार ही कार्य हो, तो बुद्धि, पुरुषार्थ और अन्य सहायक कारणोके विना भी कार्य हो जायगा । किन्तु ऐसा नही है । आचार्य समन्तभद्रस्वामीका वचन है—'अलध्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा'—कि भवितव्यता, बुद्धि, व्यवसाय एव विविधकारणसामग्रीपर अवलम्बित है ।

'ज जस्स जम्मि देशे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि'

इत्यादि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाओका अभिप्राय अपने प्रयत्नमे असफल लोगोको साम्यभावमें स्थिर करना ही है ।

(स्वपर-प्रत्यय पर्यायोके विषयमे उत्पत्ति और ज्ञप्तिका यह अन्तर सोनगढविचारधाराके पक्षधर पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसीने भी जैन तत्त्वमीमासा'मे निम्न प्रकार स्वीकार किया है कि—

'यद्यपि हम यह मानते हैं कि केवलज्ञानको सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायोको जानने वाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्य-कारणपरम्पराको ध्यानमे रखकर ही की जानी चाहिए ।'

इस प्रकार सोनगढसिद्धान्तवादी वर्गको कार्यकारणभावके आधारपर होनेवाली स्वपर-प्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध तथा अक्रमबद्ध तथा केवलज्ञानसे होनेवाली उनकी ज्ञप्तिको क्रमबद्ध मान्य करनेमे आचार्यपरम्पराके समान कोई कठिनाई नही होनी चाहिए ।)

केवलज्ञान ही क्यो, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञानमें भी ज्ञप्ति-अपेक्षा ऐसा क्रमबद्ध प्रतिभासन यथायोग्य होता है । उनका विश्लेषण तो श्रुतज्ञान ही कारणसामग्रीके आधारपर करता है । आखिर पाँचो ज्ञानोमे केवल श्रुतज्ञान ही वितर्कात्मक है ।

अतएव पदार्थोके परिणमनमे केवलज्ञानकी विषयताको आधार न मानकर कार्यकारणभावको ही आधार मानना चाहिए, यही आगमपरम्परा है और तदनुसार पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी । यही निष्कर्ष आदरणीय पण्डित व्याकरणाचार्यजीने इस प्रबन्धमे प्रस्तुत किया है । अनेकान्तमय आगम भी यही कहता है ।

व्याकरणाचार्यजीने तर्क और आगमके आधारपर इसमे गहन चिन्तन किया है तथा पर्यायोको क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध सिद्ध किया है ।

जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार : एक परिशीलन

● स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, मूडबिद्री

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ —समयसारकलश २

मेरे सामने जैन समाजके मूर्धन्य मनीषी श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यकी कृति "**जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार**" है। वर्तमानमें समाजमें सर्वाधिक चर्चित विषय व्यवहार और निश्चय है। इस चर्चासे समाजमें विवेक व स्वाध्यायकी प्रवृत्ति ता जागृत हुई ही है, साथ ही जो व्यवहार और निश्चयसे सर्वथा अपरिचित थे वे भी इस ओर आकर्षित हुए हैं। अनेकान्तवादके महत्त्व व रहस्यसे (उभय नयोंकी चर्चासे) भी अनेक लोग परिचित हुए हैं। इसका श्रेय सोनगढ धामके आध्यात्मिक सन्त आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीको है।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि नय क्या है? तत्त्वार्थवार्तिककारने लक्षणकी परिभाषा इस प्रकार दी है —

"व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ।"

—अर्थात् परस्पर सम्मिलित वस्तुओमेसे किसी एक वस्तुको अलग करने वाले हेतु (चिह्न) को लक्षण कहते है।

नयकी परिभाषा इस प्रकार है —

"प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्राय' नय "

—अर्थात् प्रमाणसे ज्ञात पदार्थके एक देश (अंश) को ग्रहण करनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायविशेषको नय कहते है। अथवा "ज्ञातुरभिप्राय नय "—ज्ञाताका अभिप्राय नय है। नयोके द्वारा ही वस्तुके अनेक गुणाशो-का विवेचन सभवनीय है। किसी प्रमगविशेषका ज्ञान नय द्वारा ही हो सकता है। स्पष्ट है कि जितने प्रकारके वचन है उतने ही प्रकारके नय कहे जा सकते हैं।

वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयोंसे होता है। तथ्य यह है कि नयके द्वारा वस्तुके एकदेश और प्रमाणके द्वारा वस्तुके सर्वांशका ज्ञान होता है। वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। ध्रौव्यके अभावमे उत्पाद-व्ययका अभाव है और उत्पाद-व्ययके अभावमे ध्रौव्यका अभाव है। वस्तुके द्रव्यत्वका बोध ध्रौव्यसे होता है व पर्यायत्वका बोध उत्पाद-व्ययसे होता है। वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। वस्तुके पूर्ण ज्ञानके लिए यह आवश्यक है कि उसका द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे अवगाहन किया जाय। नयका कार्य एक दृष्टिसे उनके एक अंश (पक्ष) का ज्ञान प्राप्त करना है, जबकि उभयदृष्टिकोणसे उसके दोनो (पक्षो) का ज्ञान होता है। निरपेक्ष नयोंसे प्राप्त ज्ञान मिथ्या है और सम्यक्ज्ञान वही है जो सापेक्ष नयोंसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' ऐसा सिद्धान्त है। वस्तुत वस्तुका यथार्थ बोध प्राप्त करनेके लिए उभय नयोंका आश्रय परमावश्यक है। यद्यपि आत्मानुभव 'नयातीत' व 'पक्षातीत' है। उसे इन विकल्पोंकी कोई आवश्यकता नही है—वह इनसे अतिक्रान्त है—तथापि अतिक्रमणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए वस्तुका परिचय भी आवश्यक है।

अध्यात्मशास्त्रमें विशेष रूपसे निश्चय व व्यवहारनयका कथन पाया जाता है। प्रमुख रूपसे नयके ये ही दो भेद हैं। इन्हें द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय भी कहते हैं। जो भेददृष्टि या खण्डदृष्टिको लेकर कथन करता है वह व्यवहारनय है और जो अभेद या अखण्डदृष्टिको लेकर कथन करता है वह निश्चयनय है। अभेदविधिसे जाननेवाले नयको निश्चयनय तथा भेदविधिसे जाननेवाले नयको व्यवहारनय कहा गया है। जिस प्रकार द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय श्रुतप्रमाणके अश होनेसे सत्य हैं उसी प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय भी श्रुतप्रमाणके अश होनेसे सत्य हैं। वस्तुको द्रव्यकी प्रधानतासे जाननेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है और वस्तुको पर्यायकी प्रधानतासे जाननेवाला नय पर्यायार्थिक है। निष्कर्ष यह कि वस्तुको अभेदविधिसे जाननेवाला-निश्चय-नय है और वस्तुको भेदविधिसे जाननेवाला व्यवहारनय है।

उभय नयोके सम्बन्धमें कहा गया है :—

"स्वाश्रितो निश्चय" तथा "पराश्रितो व्यवहार."

जिस समय व्यवहारनयसे कथन किया जाता है उस समय निश्चयनय गौण हो जाता है और जिस समय निश्चयनयसे कथन किया जाता है उस समय व्यवहारनय गौण हो जाता है। उभय नय अपनी-अपनी जगह सम्यक् हैं। एक नय अपर नयको गौण भले ही कर ले, तथापि उसको समाप्त नही कर सकता। यदि इस प्रकार सम्भव हो तो समस्त नय निरस्त होकर निरपेक्ष हो जाएँगे, तब नयोका जो सापेक्षवाद सिद्धान्त है वह मिथ्या हो जाएगा। एक ही नयको विश्वस्त मान लेना या एक ही नयको आधार बना लेना एकान्त है और उभय नयोको समझकर उभयरूपमे कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वादके द्वारा समस्त विवाद व कलह शान्त हो जाते है। वस्तुको सर्वथा एकान्त समझना मिथ्यात्व है। स्याद्वादके आश्रय द्वारा ही वस्तुमें निहित अनन्तधर्मोका (विभिन्न नयोसे) ज्ञान होता है। नय तो स्याद्वादके अङ्गोपाङ्ग हैं। नय न तो पूर्ण सत्य हैं और न असत्य हैं, अपितु सत्याश हैं। किसी वस्तुका पूर्ण ज्ञान तभी होगा जब उसका सर्वाङ्ग अध्ययन हो। जो सत्यदृष्टा हैं या सत्यका प्रेमी हैं उन्हें तो सदा सापेक्षताके सिद्धान्तको स्वीकार करना होगा।

व्यवहारनय और निश्चयनयमे साधन व साध्यका सम्बन्ध है। जिस प्रकार मिट्टी साधन है, घडा साध्य है। जैनागमोके कथनानुसार व्यवहारनय बाह्यदृष्टिपरक है और निश्चयनय आभ्यन्तरदृष्टि वाला है। यथा—यह जीव हाड, मास, रक्त, मज्जा, वीर्य आदिका पिण्ड है, कर्मबद्ध है, यह बाह्यदृष्टि है या व्यवहारनयका कथन है और यह जीव शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अजरामर व सहजानन्दमय है, यह भीतरी दृष्टि है या निश्चयनयका कथन है—दोनोमेंसे किसीको असत्य या मिथ्या नही कहा जा सकता—सापेक्षत दोनो सत्य हैं और निरपेक्षतः दोनो मिथ्या हैं।

आ. कुन्दकुन्दने समयसारकी १२वी गाथामे कहा है —

सुद्धो सुद्धोदेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥

—जो परमभावको देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला शुद्ध नय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमें स्थित है उनके लिये व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है। यह अवस्था (अपरमभाव) जीवनकी साधक दशा मानी गई है। साधक दशा क्षीणमोह १२वें गुणस्थान या चउदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समय तक रहती है। जिन जीवोको आत्माकी शुद्धताका ज्ञान नही हुआ है उन्हे तो व्यवहारनय प्रयोजनवान् है, क्योकि तीर्थ और तीर्थफल इसी पर निर्भर है। जैसा कि कहा भी है :—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

—अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान्के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो ही नयोको मत त्यागो, क्योकि यदि व्यवहारनयको त्याग दोगे तो तीर्थंकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नही हो सकेगा। फलत धर्मका लोप हो जावेगा। और यदि निश्चयनयको त्याग दोगे तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है। अत व्यवहारनय न तो सर्वथा हेय ही है और न अनुपयोगी ही। अध्यात्मशास्त्रके मर्मज्ञ श्रीमद् रायचन्द्रजी इसी तथ्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

लह्यु स्वरूप न वृत्ति नु ग्रह्यु व्रत अभिमान।
ग्रहे नही परमार्थने लेवा लौकिक मान ॥२८॥
अथवा निश्चय नय ग्रहे मात्र शब्दनी माय।
लीये सद्व्यवहारने साधन रहित थाय ॥२९॥
निश्चय वाणी साभली साधन तजवा नोय।
निश्चय राखी लक्ष मा साधन करवा सोय ॥१३१॥
नय निश्चय एकात थी आमा नथी कहेल।
एकाते व्यवहार नहीं बन्ने सपि रहेल ॥१३२॥

—आत्मसिद्धिशास्त्र (रायचन्द्र)

—अर्थात् 'यदि कोई निश्चयदृष्टि अर्थात् नैतिक जीवनमे आन्तरिक प्रवृत्तियोको ही प्रधानता प्रदान करता है और बाह्याचरण (व्रत, पूजा, दान आदि) का लोप करता है तो वह साधनासे दूर है। वास्तविकता यह है कि तात्त्विक निश्चयदृष्टिको अर्थात् आत्मा असग, अबद्ध और नित्य सिद्ध है—इस वाणीको सुनकर साधन अर्थात् बाह्य क्रिया वर्जन नही करना चाहिए, अपितु परमार्थपथको आदर्शरूपमें स्वीकार करके अर्थात् उस पर लक्ष्य रख करके बाह्य क्रियाओका आचरण करते रहना चाहिए, क्योकि यथार्थ लौकिक जीवनमें एकान्त नैश्चयिकदृष्टि अथवा एकान्त व्यवहारदृष्टि अलग-अलग अपना अस्तित्व नही रखती, अपितु एकसाथ कार्य करती हैं। वस्तुत इस जीवनका निर्माण अन्त पक्ष व बहि पक्ष—दोनोसे मिलकर ही बनता है। नैतिकताके क्षेत्रमे आन्तरिक शुभ व बाह्य व्यवहार नैतिक जीवनके दो भिन्न पक्ष अवश्य हैं—परन्तु अलग-अलग तथ्य नही। उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है किन्तु अलग-अलग किया नही जा सकता। अस्तु।

प्रस्तुत कृतिके लेखक जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् समाजमान्य विद्वद्वर्य श्री पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्य जैनागमके मर्मज्ञ प्रकाण्ड मनीषी हैं। प्रशम-हृदयी व भद्रपरिणामी हैं। इस वृद्धावस्थामें अस्वस्थ रहते हुए भी, इस समय समाजमें सर्वाधिक चर्चित विषयपर आपने सन्तुलित लेखनी चलाई है। जैनागमके अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत 'जैनशासनमे निश्चय और व्यवहार' का अध्ययन व मनन करके निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार आदिको स्याद्वाद व अनेकान्तके आधारपर समझकर मुमुक्षु जीव स्वात्मकल्याणकी ओर प्रवृत्त हों, यही सत्कामना है।

'जैन जयतु शासनम्।'

●

जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार : एक विमर्श

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

ज्ञेय (वस्तु) के यथार्थ ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा गया है। ज्ञेयका यथार्थ ज्ञान दो तरहसे होता है। एक प्रमाणसे और दूसरे नयसे। आचार्य गृद्धपिच्छने[1] सम्यग्ज्ञानका विवेचन करते हुए लिखा है कि प्रमाण और नयोके द्वारा सभी पदार्थोंका अधिगम—यथार्थ ज्ञान होता है। उनके आद्य टीकाकार आचार्य पूज्यपादने[2] उनके इस कथनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रमाण दो प्रकारका है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोमे श्रुतज्ञानको छोडकर शेष चारो ज्ञान स्वार्थ है और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनो प्रकारका है। उनमे ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ प्रमाण और वचनात्मक श्रुत परार्थ प्रमाण है। उन्हीके भेद नय है। आगे पूज्यपादने[3] प्रमाण और नयके अन्तरको भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि सकलादेश (अखण्ड रूपमे पूरी वस्तु) को जानना प्रमाण है और विकलादेश (खण्ड रूपमें अशात्मक वस्तु) को जानना नय है। नयके अन्तर और उसकी विशेषताको और अधिक स्पष्ट करते हुए आगमप्रमाणके उद्धरण द्वारा उन्होने[4] पुन लिखा है कि प्रमाणसे वस्तुको जानकर उसकी किसी अवस्था (धर्म—अश) विशेषसे पदार्थका निश्चय करना नय है।

इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन सस्कृतिमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान करनेके लिए प्रमाण और नय इन दो को मूल वस्त्वधिगमोपाय माना गया है। जैन मनीषियोने इसीसे इन दोनोका विवेचन करनेके लिए प्रमाणग्रन्थों[5] और नयग्रन्थोकी[6] स्वतत्र एव सयुक्त रूपमे दर्जनोकी संख्यामे रचना की है। सच पूछा जाय, तो प्रमाणकी अपेक्षा नयोका ज्ञान लौकिक और पारमार्थिक दोनो दृष्टियोसे विशेष आवश्यक है। इसीसे ही सम्भवत श्रुतज्ञानकी महिमा सर्वाधिक गायी गयी है, क्योकि श्रुतसे ही अल्पज्ञोको सज्ज्ञान (आत्मज्ञान) की प्राप्ति होती है, जो ससारकी निवृत्ति और मोक्षका कारण है। जैसा कि निम्न आगमप्रमाण-से प्रकट है—

श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति सदाऽस्तु मे।
सज्ज्ञानमेव ससारवारणं मोक्षकारणम् ॥—स० देव-शास्त्र-गुरु-पूजा

नयोका प्रतिपादन शास्त्रकारोने दो तरहसे किया है। एक तो वस्तुको जाननेकी दृष्टिसे और दूसरे हेयोपादेयकी दृष्टिसे। प्रथम प्रकारसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो मूल नयोका कथन किया गया है, क्योकि ज्ञेय वस्तु मूल दो अशो—द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेषमे समव्याप्त है। द्रव्य (सामान्य) को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय (विशेष) को विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। इन दोनो मूल नयोके भी भेदो और उपभेदोका विवेचन विस्तारपूर्वक विशदताके साथ किया गया है। द्रव्यार्थिकके नैगम, सग्रह और व्यवहार इन तीनका तथा पर्यायार्थिकके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत इन चारका कथन शास्त्रोमे बहुलतया उपलब्ध है।

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगम.'—त० सू० १-६।
२ 'तत्र प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थम्।—स० सि० १-६।'
३. 'सकलादेश प्रमाणधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।'—वही, १-६।
४. एव ह्युक्त "प्रगृह्य प्रमाणत ' परिणतिविशेषादर्थावधारण नय "—वही १-६।
५ प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चय, प्रमाणपरीक्षा, परीक्षामुख, प्रमाणमीमासा, न्यायदीपिका आदि।
६ नयचक्र, द्वादशारनयचक्र, नयविवरण, आलापपद्धति आदि।

यद्यपि ये नय अपने-अपने अंशोंको जब ग्रहण करते—जानते हैं तो उनमें परस्पर विरोध दिखाई देता है और लगता है कि जब वस्तु द्रव्यरूप (शाश्वत) है तब वह पर्यायरूप (अशाश्वत) कैसे हो सकती है? दोनों ही अंश (द्रव्य और पर्याय) परस्पर विरोधी हैं। वे एक ही वस्तुमें नहीं रह सकते। तब दो विरोधी नयों (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) की प्रवृत्ति वस्तुमें सम्भव नहीं है? किन्तु इन नयोंके विरोधको मिटाने-वाला 'स्याद्वाद' है, जिसका प्रयोग स्याद्वाददर्शन (आर्हत दर्शन) में अभिप्रेत है। उसके बिना वस्तुतत्त्वका न कथन हो सकता है और न ज्ञान। आचार्य समन्तभद्रने[1] स्पष्ट कहा है कि अभिप्रेत विशेषकी प्राप्तिके हेतु 'स्यात्कार'का प्रयोग, जो प्रत्येक वाक्यमें अन्तर्निहित रहता है, चाहे उसे बोले या न बोले, वस्तुसत्यका बोधक है। आचार्य अमृतचन्द्रने[2] भी जिनवचनोंको उभयनयोंमें दिखाई देनेवाले विरोधको मिटाने वाले 'स्याद्वाद' से अंकित बतलाया है। एकान्तों और अनेकान्तोंके भाषाप्रयोग (कथन) में यही अन्तर बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा उनका समूह ज्ञेय वस्तुका यथार्थ ज्ञान करानेके लिए उपदिष्ट है।

द्वितीय प्रकारसे निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंका निरूपण किया गया है। निश्चयका अर्थ परमार्थ, वास्तविक, भूतार्थ, परनिरपेक्ष रहित है और व्यवहारका अर्थ उपचार, अवास्तविक, अभूतार्थ, परसंयोगसे सहित है। विश्व षड्द्रव्यात्मक है। उनमेंसे एक चेतन द्रव्य—आत्मा उपादेय है और बाकीके सब हेय। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन छह द्रव्योंमें जीव चेतन द्रव्य है, शेष पांचों द्रव्य अचेतन हैं। जीवका पुद्गल (कर्म और नोकर्म) के साथ अनादि सम्बन्ध है, जिसके कारण जीव उससे प्रभावित है। आचार्य अमृतचन्द्रने[3] स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि जीव शुद्ध चित् (चेतन) मात्रकी मूर्ति है। परन्तु उसमें जो पररूप परिणति हो रही है उसका निमित्त कारण मोहनीय नामके कर्मका उदय है। इस मोहनीय कर्मके उदयसे ही निरन्तर (अनादि कालसे) वह उत्पन्न राग-द्वेषादिसे कलुषित (विकृत) है। इसीसे जीव कर्म और नोकर्मसे बद्ध तथा स्पृष्ट है। यह संयोगी अवस्था है और वह उपादेय नहीं है—हेय है। निश्चयनय यही बतलाता है। वह जीवकी निज परिणति—रागादिरहित चैतन्यपरिणतिको ही उपादेय कहता है। उसकी दृष्टिमें जीवमें न कर्म है, न नोकर्म है और न उनके निमित्तसे होनेवाले राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि परिणमन हैं। किन्तु कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध जीवके साथ है और उनके निमित्तसे उसीमें रागादि परिणमन होते हैं, यह अयथार्थ नहीं है, यथार्थ है। अतएव जीव बद्ध है, स्पृष्ट है, अशुद्ध है और अज्ञ है। यह व्यवहारनय बतलाता है। इसीसे जैन दर्शन स्याद्वाददृष्टिसे हर वस्तुको, जो अनेकान्तात्मक है, स्वीकार करता है। अकलङ्कदेवने[4] लिखा है कि अनेकान्तकी प्रतिपत्ति प्रमाण है, एक धर्मकी, जो अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखे—उनका निरस्कार न करे, प्रतिपत्ति नय है और एक धर्मको स्वीकार कर वस्तुके शेष धर्मोंका प्रतिक्षेप (तिरस्कार) दुर्नय है। यह कथन उन्होंने समन्तभद्रस्वामीके द्वारा प्रतिपादित नयलक्षणके व्याख्यान-

---

१ 'अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥'—आप्तमी० ११२।

२ उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै, रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥—समयसार कलश ४।

३. परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ स० सा० कलश ३।

४ 'अनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्नयः, केवलविपक्षविरोधप्रदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात्'—अष्टश०, आप्तमी० का० १०६ की व्याख्या।

सन्दर्भमे किया है, जिसमें समन्तभन्द्रने[1] बतलाया है कि स्याद्वाद (श्रुतप्रमाण) के द्वारा गृहीत वस्तुके नित्यत्वादि पृथक्-पृथक् धर्मका प्रकाशक नय है। अकलकने एक ही धर्मको स्वीकार कर शेष धर्मोका प्रतिक्षेप करनेवाले नयको दुर्नय क्यो कहा, इसका वे स्वय उत्तर देते हुए कहते हैं, क्योकि वह विपक्षका निषेध करके अपने ही पक्षका अभिनिवेश (आग्रह) करता है, जबकि वस्तु वैमो नही है। वस्तु[2] तो नयो और उपनयोंके द्वारा ज्ञात होने वाले त्रिकालवर्ती एकान्तो (धर्मों) का, जिन्हे एक-दूसरेसे पृथक् नही किया जा सकता है अर्थात् जिनमे अविष्वक्भाव सम्बन्ध है, समुच्चय है।

जब वस्तु और उसे ग्रहण करनेवाले नयोकी ऐसी स्थिति है। तब एक पक्षको स्वीकार कर इतर पक्षका निषेध करना मिथ्या एकान्त ही कहा जायगा। उससे बचनेके लिए हमे स्यात्पदांकित वचनोका ही प्रयोग कर जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित अनेकान्ततत्वका प्ररूपण करना चाहिए।[3] आचार्य अमृतचन्द्रने[4] यह बिलकुल ठीक लिखा है कि जो शिष्य व्यवहार और निश्चयको सम्यक् प्रकारसे (एक दूसरेकी उपेक्षा या तिरस्कार न करके) दोनोमे मध्यस्थ (तटस्थ) रहता है वही शिष्य स्याद्वादशासनके अविकल (पूर्ण) फलको प्राप्त करता है। इसीसे वे[5] अनेकान्तमयी मूर्ति (जिनवाणी) को, जो अनन्तधर्मा वस्तुके प्रत्येक धर्मका सही-सही प्रकाशन करती है, सदैव प्रकाशमान रहनेकी मङ्गल-कामना करते है। इतना ही नही, वे[6] एकान्तोके विवादोमें आगत विरोधको मिटाने वाले और जिनशासनके प्राण अनेकान्तको विनम्रतापूर्वक प्रणाम करते हैं।

प्रस्तुत रचनामे विद्वत्समाजके सिद्धान्तविद् मनीषी श्रद्धेय व्याकरणाचार्यजीने वर्तमानमें निश्चय और व्यवहारकी सन्धिसे भटके हुए लोगोको निश्चय और व्यवहारके सुमेलका स्मरण दिलाया है तथा दोनोकी देशना सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथचित् एकान्तपरक करनेकी प्रेरणा की है। निश्चय और व्यवहारके जितने रूप हो सकते है उन सबका इसमें विस्तारपूर्वक विशदताके साथ विवेचन किया है। उनका यह आवश्यक प्रयास नि-सन्देह स्तुत्य है।

विश्वास है यह सन्तुलित और गम्भीर, किन्तु विशद शैलीमें रचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्वानो, जिज्ञासुओ और स्वाध्याय-प्रेमियो द्वारा निश्चय ही समादृत होगा।

●

१ 'स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजको नय ॥'—आप्तमी० का० १०६।

२ नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चय ।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥—वही, का० १०७

३ दुर्निवार-नयानीक-विरोध-ध्वसनौषधि ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धति ॥—पचास्तिकाय टी० प्रार०।

४ व्यवहार-निश्चयौ य· प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य ॥—पुरुषार्थसि० श्लो० ८

५. अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥—स० सा० कलश २।

६ परमागमस्य जीव निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ॥—पुरुषार्थसि० श्लो० २।

मनस्वी मनीषी : कुछ संस्मरण

● पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हैदराबाद

[यह सस्मरणात्मक लेख श्रद्धेय पं० बालचन्द्रजीने मेरे पास १३ अप्रैल १९८९ को भेजा था और वे १७ अप्रैल १९८९ को स्वर्गस्थ हो गये, यह दैवकी विडम्बना है। भेजते समय वे नही जानते होगे कि उनका इहलौकिक जीवन मात्र ४-५ दिनका है। स०]

प० वशीधरजी एक मनस्वी विद्वान् है। वे अभावोसे खूब जूझे है। किन्तु कभी स्वाभिमानको नही खोया और अपनी मनस्विता बनाये रखा। यद्यपि मैं उनका भतीजा हूँ, किन्तु उनसे तीन माह ज्येष्ठ होनेसे आरम्भसे मित्रवत् रहे है। अत उनके जीवनसे सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरण दे रहा हूँ।

वचपनमे हम दोनो समवयस्क होनेसे सोंरईमे साथ-साथ प्रेमसे खेलते-कूदते व लडते-झगडते भी रहे हैं। दैववशात् वि० स० १९७५ मे एक सार्वभौमिक बीमारी फैली, जिसे लाल बुखार (इनफ्लूजा) कहा जाता था। इस बीमारीमें वशीधरजीके बडे भाई छतारेलाल (आयु लगभग १५, १६ वर्ष) और उनकी मां राधाबाई दोनोकी ही २-४ दिनके अन्तरसे मृत्यु हो गयी, तब वशीधरजी अकेले रह गये थे। उस समय उनकी अवस्था लगभग १२-१३ वर्ष रही होगी। सयोगसे उनके मामा उन्हे बारासिवनी (म० प्र०) अपने घर लिवा ले गये। पर वहाँ उच्च शिक्षाके साधन न होनेसे उन्हे काका प० शोभारामजी उपदेशक भारत-वर्षीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई अपने साथ सागर लिवा ले आये और वहाँ पं० मुन्नालालजी राधेलीय न्यायतीर्थ द्वारा सत्तर्क सुधातरगिणी पाठशालामें उनके अध्ययनकी व्यवस्था करा दी गयी। सयोगसे मैं भी तीन माह पहले सागर पहुँच गया था और उक्त पाठशालामें पढता था। बादको पूज्य प० गणेशप्रसाद वर्णी हम दोनोको बनारस ले गये और स्याद्वाद-विद्यालयमे प्रवेश करा दिया, यह उनका महोपकार था। मैं विद्यालयमे ८ वर्ष रहा और वशीधरजी ११ वर्ष रहे। वशीधरजी उस समयके विद्यार्थियोमे अत्यन्त मेधावी छात्र होनेके कारण विद्यालयकी ओरसे अतिरिक्त दस रुपए छात्रवृत्ति मिलती थी।

वशीधरजीको अन्याय पसन्द नही रहा। एक छात्र प्रेमचन्द कटनीको अमृतसरके सेठ मुसद्दीलालजी आठ रुपए मासिक छात्रवृत्ति देते थे। यह विद्यालयके उपाधिष्ठाता बाबू हर्षचन्द्रजीको मालूम हुआ तो उन्होने वह छात्रवृत्ति विद्यालयमे रोक ली और प्रेमचन्द्रको यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य किया कि वह छात्रवृत्तिकी माग न करे। इसपर वशीधरजीने उपाधिष्ठाताजीसे कहा कि छात्रवृत्ति तो प्रेमचन्द्रको दे दी जाय और भोजन फीसके रूपमे वह छात्रवृत्ति उनसे विद्यालयमे जमा कर ली जाय। यह बात उपाधिष्ठाता-जीको मान्य नही हुई और प्रेमचन्द्रको विद्यालयसे पृथक् कर दिया। इसका वशीधरजीने विरोध किया, तो उपाधिष्ठाताजीने उनसे भी कहा कि 'क्यों न आपको भी विद्यालयसे पृथक् कर दिया जाय ?' उत्तरमें वशीधरजीने लिखकर दे दिया कि प्रेमचन्द्र छात्रका मामला समाप्त हो जानेपर मैं स्वयं ही विद्यालय छोड दूंगा। वशीधरजी उपाधिष्ठाताजीकी बातका इसलिए विरोध कर रहे थे कि वे वह छात्रवृत्ति एक अन्य छात्रको दिलाना चाहते थे, जो उनकी जातिका था। उपाधिष्ठाताजीको कार्यवाहीकी अधिकारी वर्गमें कडी प्रतिक्रिया हुई और अध्यक्षजीने प्रेमचन्द्रका मामला अपने हाथमे ले लिया। वशीधरजीने भी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विद्यालयसे अलग होकर लाला छेदीलालजीके मन्दिरके नीचेके हालमें एक वर्ष रहते हुए व्याकरणा-चार्यका अन्तिम खण्ड उत्तीर्ण किया। यह थी वशीधरजीकी न्यायप्रियता और मनस्विता, जो छात्रावस्थामें ही प्रकट हो चुकी थी।

इनकी मनस्विताकी इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना है। वे सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन-मे सक्रिय भाग लेनेसे सागरसे बीना आते समय बीना स्टेशनपर गिरफ्तार कर सागर जेलमे भेज दिये गये और वहाँसे अमरावती जेलमें भेजे गये। वहाँ जेलका सुपरिन्टेन्डेन्ट उस्मान अली था, जो बहुत क्रूर था।

उसने सागरके प० ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी व पद्मनाभ तैलगको बिना अपराधके गुनाहखानेमें भेज दिया था। इसका इन्होंने विरोध किया और उसके द्वारा निर्धारित कार्यक्रममे ये सम्मिलित नही हुए। तो उक्त सुपरिन्टेन्डेन्ट जेलर माधवरावके साथ इनके बैरकमें आया और इनसे कहा कि 'कार्यक्रममे क्यो सम्मिलित नही हुए, क्या तुम्हे भी गुनाहखानेमे जाना है?' इन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी व पद्मनाभ तैलंगको गुनाहखानेमे भेजनेका विरोध करता हूँ?' तब उसने जेलरसे कहा कि 'इन्हें भी गुनाहखानेमें भेज दो।' इस तरह इन्हे गुनाहखानेमें भेज दिया गया और इनकी 'बी' श्रेणीको बदलकर 'सी' श्रेणी कर दी गयी तथा 'बी' श्रेणीकी सारी सुविधाएँ 'सी' श्रेणीमें परिवर्तित कर दी गयी। किन्तु बंशीधरजीने अन्याय पक्षका विरोध करना नही छोडा और न सुपरिन्टेन्डेन्टसे माफी माँगी। यह थी उनकी न्यायनिष्ठा।

तीसरी घटना इनके गृहस्थ-जीवनकी है। बंशीधरजीका विवाह बीनामें शाह मौजीलालजीकी एकमात्र सुपुत्री लक्ष्मीबाईके साथ सन् १९२८ मे हुआ था। शाहजी चाहते थे कि बंशीधरजी बीनामे घरपर ही रहें। इन्होंने कर्त्तव्यकी दृष्टिसे अपने श्वसुर साहब (शाह मौजीलालजी) की कठिनाईको ध्यानमे रखकर बीनामें रहना स्वीकार कर लिया। किन्तु उनसे लोन लेकर कपडेका व्यवसाय करनेका निर्णय किया। उनका यह वस्त्रव्यवसाय आज करीब साठ वर्षसे सुचारुरीत्या चल रहा है। अब तो उनके सुयोग्य दो पुत्रोंने उसे सम्हाल लिया है और अपनी योग्यता एव पिताजीके मार्ग दर्शनमें उसे कई गुना बढा लिया है। तथा उनकी ही तरह न्याय-निष्ठा एव प्रतिष्ठाको बना रखा है। यह है प० बंशीधरजीका स्वाभिमान और न्याय्यजीवनकी प्रतिष्ठा।

ध्यातव्य है कि बंशीधरजीने वस्त्र-व्यवसायी होकरके भी अपने ज्ञानका निस्पृहभावसे उपयोग करना नही छोडा। प्रवचना करना, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें अनुसन्धान एव चिन्तनपूर्ण लेख लिखना, सस्थाओका योग्यतापूर्वक सचालन करना, सामाजिक, सास्कृतिक और राष्ट्रीय कार्योंमें भाग लेना, आरम्भसे अबतक, ये सभी प्रवृत्तियाँ उनकी चालू है। सस्कृति और सिद्धान्तपर कहीसे कोई वार होता है तो वे उसके निराकरणके लिए उद्यत रहते है।

सोनगढकी ओरसे प्रचारित एव प्रसारित एकान्त अध्यात्मको वे जैनदर्शनके अनेकान्तवाद और स्याद्वादके प्रतिकूल मानते है। वे ही क्यो, सारा जैनागम और दि० जैन परम्परा उसके विरुद्ध है। निमित्त अकिंचित्कर है आदि सोनगढकी मान्यताएँ आगमविरुद्ध है। प० बंशीधरजीने आगमका पक्ष लेकर इन मान्यताओका दृढतासे निरसन किया है।

प० बंशीधरजी निश्चय ही गम्भीर चिन्तक और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्वके स्वामी है। न्यायप्रियता और स्वाभिमान उनके जन्मजात गुण है।

श्रद्धा-सुमन

● प० शोभालाल जैन, साहित्याचार्य, जयपुर

पडित बंशीधर व्याकरणाचार्यजीसे मेरा प्रत्यक्ष सम्पर्क नही रहा है, लेकिन उनके द्वारा लिखे गये गहन सैद्धान्तिक एव आध्यात्मिक लेखोसे जो बध, सवर और निर्जरा सम्बधी तिकडीको समझाने एव सुलझानेमे सच्चे गुरुके समान कार्य कर रहे है।

दूसरा सम्बध, मेरा पूज्यनीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके माध्यमसे है। जैन जगत्के अद्भुत नैयायिकके रूपमे ख्याति प्राप्त डॉ० कोठियाजी साहब इनके भतीजे है। अत पडितजीके विषयमें कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

ऐसे महान् व्यक्तित्वके अभिनन्दनके लिये समाजका अभिनन्दन-ग्रथ प्रकाशित कर उनकी सेवामें प्रस्तुत करना अपनी कृतज्ञता प्रकट करना है। ऐसे मगल अवसर पर मैं भी उन्हे अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

शोध-कण

गोलापूर्व जातिके परिप्रेक्ष्यमें

प्रो० यशवन्त कुमार मलैया
प्राध्यापक—कम्प्यूटर साइंस विभाग, कोलो रैडो स्टेट यूनिवर्सिटी,
फोर्ट कॉलिस, सी ओ 80523 (303) 491–7031

[विद्वान् लेखकने अपने इस शोध-लेखमें कई महत्त्वपूर्ण तथ्योको प्रस्तुत किया है, जो न केवल अनुसन्धित्सुओके लिए दिशा-बोधक है, अपितु इतिहासके मनीषियोके लिए भी विमर्श-योग्य है। उनसे लेखककी व्यापक मनोषा और गहरा चिन्तन प्रकट होता है।

आशा है इस शोध-निवन्धसे आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके शब्दोमे **'ऐतिहासिक दृष्टिसे अति उपयोगी एक कमीको पूर्ति'** हो सकेगी।—**प्र०सं०**]

भूमिका

सामाजिक विभाजन केवल भारतमे ही सीमित नही है। हर समुदायमे समाज किसी न किसी कारणसे बँटा हुआ है। भारतमें यह जाति-व्यवस्थाके रूपमें काफी विकसित व प्रभावशाली स्थितिमे स्थित है। मानव जातिके विकासके अध्ययनमे जाति-व्यवस्थाका विशेष महत्त्व है। अन्य समुदायोके विभाजनमे जो गुण पाये जाते है, उन पर जाति-व्यवस्थाके अध्ययनसे काफी प्रकाश पडता है। भारतमे व भारतके बाहर, अनेक विद्वानोने जाति-व्यवस्थाके कई पक्षोका अध्ययन किया है। सबधित साहित्यको देखते हुए, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस व्यवस्थाके कई पक्ष अभी ठीकसे नही समझे जा सके है। विशेषतौर पर जाति व्यवस्थाके ऐतिहासिक उद्भव व विकासका वैज्ञानिक अध्ययन काफी कम हुआ।

इतिहासका वैज्ञानिक अध्ययन अक्सर राजवशोके आधार पर हुआ है। राजवशो व राज्योके इतिहासका महत्त्व स्वाभाविक है। परन्तु अक्सर सामान्य जनतासे सबधित इतिहास पर ध्यान कम दिया जाता हैं। बहुतसी सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक शक्तियोका जो अलग-अलग कालमे प्रभाव पडा है, वह राजवशके इतिहासमे दृष्टव्य नही है। भारतके सामाजिक इतिहासमे जाति-व्यवस्थाका उचित अध्ययन न होनेसे बहुतसे अनुत्तरित प्रश्न मौजूद है।

जातियोकी उत्पत्ति व विकास सबधित जो साहित्य उपलब्ध है, उसमेंसे बहुतसा किसी विशेष उद्देश्यको लेकर लिखा गया है। इस कारणसे किसी भी वैज्ञानिक अध्ययनमे इस सामग्रीका उपयोग काफी सावधानीसे किया जाना चाहिये। अक्सर किसी एक जातिको ऊँचा दिखानेका प्रयास किया गया है। यह प्रवृत्ति सामान्य लेखकोमे ही नही, विद्वानोमें भी देखी जा सकती है। चारणो व भाटोने हरएक राजपूतवशकी उत्पत्ति या तो रघुवशी रामचन्द्रसे या यदुवशी श्रीकृष्णसे बताई है। चारणो आदिको ऐतिहासिक तथ्योमें कुछ फेर-बदल करनेमे सकोच नही था। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि अबेडकर जैसे लेखकने शूद्रोकी उत्पत्ति क्षत्रियोसे सिद्ध करनेका प्रयास किया था[1]।

प्रस्तुत लेखका उद्देश्य एक विशेष जातिको उदाहरणके रूपमे लेकर उसका अध्ययन करना है। गोलापूर्व जैन जातिकी उत्पत्ति व विकासके सबधमे जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रश्न है, उनपर विचार किया गया है। जैसा कि आगे प्रस्तुत है, यह अध्ययन तुलनात्मक है। अन्य जैन व हिन्दू जातियोके अध्ययनके बिना अनेक प्रश्नोका समाधान असभव था। किसी भी ऐतिहासिक अध्ययनमे किसी भी धारणाको निस्सदेह प्रमाणित कर सकना असम्भव है। फिर भी लेखकका विश्वास है कि इस अध्ययनसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

जाति सम्बन्धी जानकारीके सात प्रमुख स्रोतोका यहाँ प्रयोग किया गया है। जाति-सम्बन्धी कुछ जानकारी प्राचीन सस्कृत व प्राकृत ग्रन्थोसे मिलती हैं। इनका विशेप उपयोग आठवी-दसवी शताब्दीतक की स्थितिके निर्धारण है। देशी भाषाओमे लिखे कई ग्रन्थ या छोटी-छोटी रचनायें मिलती हैं जो किसी एक जातिको लेकर लिखी गई है। ये अठारहवी शताब्दी तकके आसपासके दृष्टिकोणोसे लिखी गई है। अग्रेजोका राज्य होनेके बाद भारतीय इतिहासका आधुनिक तरीकोसे अध्ययन हुआ। अग्रेज व अन्य यूरोपियन विद्वानोने बडे परिश्रमसे शिलालेखो, सस्कृतके ग्रन्थो आदिका अध्ययन किया। जातियोके रीति-रिवाज, परम्परागत धारणाएँ आदिके बारेमें पुस्तकें लिखी गईं। इस अध्ययनके नेतृत्वका श्रेय यूरोपियन विद्वानोका है, पर इसमें तत्कालीन भारतीय पडितोका योगदान कम नही था। भारतमे चेतना व आत्मविश्वास आनेके कारण बहुतसी जातियोके विद्वानोने अपनी-अपनी जातिके इतिहास व वर्तमान स्थितिपर पुस्तकें लिखी। बीसवी शताब्दीमे बहुतसे शिलालेख प्रकाशमें आये हैं, और आते जा रहे हैं, जिससे जातियोके अध्ययनमे काफी मदद मिली है। स्वतन्त्रताके बाद कई भारतीय व विदेशी लेखकोने जाति-व्यवस्थापर पुस्तकें व लेख लिखे हैं। पर इनमेंसे अधिकतरका उद्देश्य वर्तमान स्थिति व परिवर्तन रहा है, जातियोके इतिहासपर विशेप ध्यान नही दिया गया है।

जाति सम्बन्धी अनेक शब्दोमे काफी भ्राति पाई जाती है। महत्त्वपूर्ण शब्दोकी यहाँ परिभाषा देना आवश्यक है। जाति शब्द अग्रेजीके Caste का पर्यायवाची है जो पोर्चुगीज भाषासे निकला है। बोलचालमें जात, उर्दूमें ज़ात व संस्कृतमें ज्ञाति इसीके पर्यायवाची हैं। शिलालेखो व प्राचीन ग्रन्थोमें अन्वय शब्दका प्रयोग जातिके अर्थमें भी किया गया है और सम्प्रदायके अर्थमें भी। परम्परागत तौरपर जातिके दो प्रमुख लक्षण है।

(१) एक जातिके सदस्योका विवाह उसीके अन्तर्गत होता है। इस नियमके अपवाद हमेशा रहे हैं। किसी जातिका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहनेके लिये दो बातें आवश्यक हैं। पहली—जातिके अधिकतर सदस्योका सम्बन्ध जातिके अन्तर्गत होना चाहिये। दूसरी—जो सम्बन्ध अन्य जातियोमे हो, उसकी सततिका करीब आधा भाग, जातिका सदस्य बना रहे।

(२) हर जाति कुछ गोत्रोमें विभक्त रहती है। एक ही गोत्रमे विवाह सम्बन्ध नही होता। इस नियमका अपवाद बहुत बिरली स्थितियोमे ही होता है। कई बार एक जाति किसी कारणसे कई उपजातियोमें बँट जाती है। अगर कोई उपजाति स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखनेमे सक्षम है, तो उसे भी एक स्वतन्त्र जाति माना जा सकता है। एक जैसे रीति-रिवाज व सामाजिक स्थितिवाली अनेक जातियोके समूहको कभी-कभी एक ही सज्ञा दी जाती है। जिस समूहमे उपरोक्त दो लक्षण हो, उसे एक जाति कहा जा सकता है। जातियाँ स्थाई इकाइयाँ नही हैं, इनमे सघटन, विघटन व परिवर्तनकी शक्तियाँ काम करती रहती है।

कई बार वर्ण-व्यवस्थाको ही भ्रमसे जाति-व्यवस्था मान लिया जाता है। दोनो व्यवस्थाओमें कुछ सम्बन्ध तो है, पर वे अलग-अलग है। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोमे आर्योको चार वर्णोंमे बाँटा गया है, परन्तु उस समय भी बहुतसी जातियाँ ऐसी थी, जो किसी एक वर्णमें नही रखी जा सकती थी। इन्हे वर्णसंकर माना गया। इनमेसे कायस्थ जाति प्रसिद्ध है, इन्हें क्षत्रिय माना जाय या शूद्र, यह विवाद अभीतक चला आया है। कई बार यह प्रश्न ब्रिटिश अदालतोमे भी उठाया गया था[१,२]।

कौनसी जाति किस वर्णमे है, इसका निर्णय कैसे किया जाये? इसके बारेमे तीन प्रमुख मत हैं। आजकल सामान्य लोग जो प्रयोग करते है, उसे उदार मत कहा जा सकता है। इस मतसे विभाजन वर्तमान सामाजिक व आर्थिक स्थिति देखकर निर्णय किया जाता है। पिछली दो-तीन पीढियोके पहलेके इतिहासपर विचार नही किया जाता है। उदार मतसे भूस्वामी जातियाँ जैसे मराठे, कुर्मी, जाट आदि क्षत्रिय मानी जाती

है, और जो भी जातियाँ वाणिज्यमें लगी है, उन्हें वैश्य माना जाता है। दूसरा परम्परागत मत है। यह मत संस्कृत व शास्त्र आदिसे परिचित ब्राह्मणोका मत है। इसके अनुसार वही जातियाँ द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) है जिन्हें परम्परागतरूपसे ब्राह्मण उपवीत देते आ रहे है। मनु आदि लेखकोके समयमे द्विज दक्षिणापथ-में नही बसते थे, इस कारणसे दक्षिणापथमे द्विज वही हो सकते है जो उत्तरसे जाकर बसे हो। गुजरात व महाराष्ट्र दक्षिणापथमे माने जाते है (इसीलिये गुजराती व महाराष्ट्री ब्राह्मण पचद्रविड़मे आते है)। पर-म्परागत मतसे राजपूत, खत्री आदि क्षत्रिय माने जाते है, पर कुर्मी जाट आदि नही।[3] कई वनिया जातियाँ इस मतसे सच्छूद्र मानी जाती हैं। अधिकतर बनिया जातियाँ जिनमें जैन व हिन्दू दोनो ही है, उनके हिन्दू विभागको वैश्य माना गया है ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड[४] इसी मतको लेकर लिखी गई है।

तीसरा मत कठोर-मत है जिसके अनुसार द्विजोमें वर्तमानकालमें सिर्फ ब्राह्मण ही है, क्षत्रिय व वैश्य वर्णोका नाश हो चुका है। यह नाश कैसे हुआ व कब हुआ, इसके बारेमे सतोषजनक उत्तर नही मिलते। फिर भी यह मत ऐतिहासिक दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण है।

यह मत समय-समयपर कुछ ब्राह्मण पडितो द्वारा व्यक्त किया गया था। एक बार यह ब्रिटिश अदा-लतमे भी उठाया जा चुका है[१]। ऐसा कहा जाता है कि क्षत्रियोका नाश परशुराम द्वारा सहार किये जानेपर हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य व उसके उपरातके राजवशोको शूद्र माना गया है[४]। वर्तमानमे जितने भी राजपूत घराने है, किसीके बारेमे ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता जिससे उनका रामायण-महाभारतकालीन क्षत्रियोसे संबध माना जा सके[५]। अगर प० ओझा[६] की गणना मानी जाय तो महाभारतका युद्ध ईस्वीपूर्व १४७१ के आसपास हुआ था। वर्तमान राजपूत वशोमे सबसे पुराने उल्लेख चाहमानो (चौहानो) का ५५१ ई० का माना जा सकता है[७,८,९]। राष्ट्रकूट (राठौर) वशका प्रथम उल्लेख ६३० ई०, गुर्जर-प्रतिहारो (पडिहार) का ७३० ई०, मेवाडके गुहिल (गुहिलौत) वंशका ७३५ ई०, कच्छपघट (कछवाहे) वशका करीव १००० ई० के आसपास का माना गया है। ये राज्यकी स्थापनाके बाद ही प्रसिद्ध हुए है। राजपूतोके पहले उत्तर-पश्चिमी भारतमे शक, हूण, गुर्जर, अभीर आदि जातियोका व्यापक प्रभाव था। वहुतसे लेखकोका[५,७] मत है कि राजपूतोकी उत्पत्ति इन्ही कवीलोसे हुई है। इन जातियोमेंसे जो परिवार प्रभावशाली हो गये, ब्राह्मणोने उन्हे राजपूत सज्ञा देकर क्षत्रिय मान लिया। गूजर जातिको राजपूत नही माना जाता, पर बडगूजर जो गूजर जातिसे निकले समझे जाते है, राजपूत माने जाते है। कछवाहा व काछी (जो आज भी कच्छपघटोंके मूलस्थानमे काफी संख्यामे हैं) जातिका भी कभी-कभी ऐसा ही सवध माना जाता है। इसी प्रकारसे गोडोमेसे राजगोड, भारोसे राजभार, भीलोसे भिलाल आदिकी उत्पत्ति मानी जाती है। उदयपुरके गुहिलौत (सिसो-दिया)[७] व कोचीनके राजपरिवार[११] की उत्पत्ति अशत. ब्राह्मणोसे ही मानी जाती है। पंजावकी खत्री जातिमें यज्ञोपवीत व वेदाध्ययनकी परम्पराको देखकर कभी-कभी उन्हे ही क्षत्रियोका वशज माना जाता है। इस परम्पराका उल्लेख आर्यसमाजकी स्थापना (ई० १८७७) से भी पहलेका मिलता है[१०]। कोई-कोई इन्हें वर्णसकरोमेसे मानते है।

इसी तरहसे बनिया जातियोमेसे किसीके भी आठवी शताब्दीके पहलेके उल्लेख नही मिलते। इनकी उत्पत्ति या तो राजपूतोसे (ओसवाल, खण्डेलवाल, वघेरवाल आदि) या क्षत्रियोसे (अग्रवाल, गोलाराडे आदि) या ब्राह्मणोसे (पद्मावतीपुरवार[१२], अग्रहारी[१०]) से बताई जाती है। यदि सभी वनिया जाति अन्य वर्णोसे उत्पन्न है, तो कठोर मतके दृष्टिकोणसे प्राचीन वैश्य जातिका अस्तित्व नही रह गया है।

उपरोक्त तीनो मतोमेंसे कौनसा मत सही है, यह जानना मुश्किल है। लेखकका व्यक्तिगत मत यह है कि वर्तमान जातियोको चार वर्णोंमें वाँटनेका कोई भी प्रयास उपयोगी नही है।

यहाँ पर ब्राह्मण जातियोके बारेमे कुछ जानकारी उपयोगी है। ब्राह्मणोमें सबसे पुरानी जाति कान्यकुब्ज (कनौजिया) है। सरयूपारी (सरवरिया), बंगालके राढी व वैदिक, सनाढ्य, जिझौतिया व छत्तीसगढी कान्यकुब्जोसे ही निकले है। इनके अलावा महाराष्ट्री देशस्थ, कश्मीरी आदिकी उत्पत्ति भी कान्यकुब्जोंसे बताई जाती हैं। केरलके नबूद्री अहिच्छत्रसे निकले माने जाते है, जो कन्नौजके ही पास है।" पचद्रविड व पचगौडमेसे लगभग सभीकी उत्पत्ति ब्रह्मर्षिदेश अर्थात् कन्नौजसे मानी जाना चाहिये। कुछ ब्राह्मण जातियाँ देवताओ, ऋषियो या राजाओकी बनायी कही जाती हैं, उन्हे अन्य ब्राह्मणोमे नीचा माना जाता है। कुछ ब्राह्मण जातियाँ यवन या फारससे अद्भूत मानी जाती है—सस्कृतसे मिलती-जुलती भाषा बोलनेके कारण उन्हे ब्राह्मणोमें मान लिया गया। भारतके बाहर थाईलैंड व बाली (इण्डोनेशिया) के ब्राह्मण कबुज (कंबोडियाके) ब्राह्मणोके अतर्गत हैं। इनके पूर्वज दक्षिण भारतके थे। बहुत सी ब्राह्मण जातियोको अन्य ब्राह्मण मान्यता नही देते, उन्हे शूद्रोके समकक्ष मानते हैं।

इस लेखका प्रमुख उद्देश्य गोलापूर्व (गोलापूरब) जैन जातिका तुलनात्मक अध्ययन है। यह जाति अधिकतर बुन्देलखण्डमे बसती है। शिलालेखोंमें इसे गोल्लपूर्व्व भी लिखा गया है। सन् १९१४ ई० मे प्रकाशित अखिल भारतीय दिगम्बर जैन डायरेक्टरीके अनुसार इसकी जनसख्या १०,८३४ थी। इस डायरेक्टरीकी जनगणना एकदम सही नही थी, फिर भी इसके आधारपर गोलापूर्वोंकी वर्तमान जनसख्याका अनुमान लगाया जा सकता है। इस गणनाके आधार ये है—

१ सन् १९११ व १९२१ के बीच जैनोकी जनसख्या करीब-करीब स्थाई थी।[13] अत जैनोकी जनसख्या सन् १९११ व सन् १९१४ मे करीब-करीब बराबर रही होगी।

२. जैनोकी जनसख्या वृद्धिकी दर, भारतमे जनसख्याकी वृद्धिके दरके लगभग बराबर रही है। सन् १९५१ में जैन भारतकी आबादीके ० ४५% थे, सन् १९७१ में ०.४७% थे। स्वतत्रतासे पूर्व जैनोकी प्रतिशत आबादी घटती रही थी। (सन् १८८१ मे ४८% से सन् १९४१ में ३७%) पर इसका प्रमुख कारण मुसलमानोकी काफी अधिक वृद्धिकी दर था।

३. जैनोकी सख्या मध्यप्रदेश व महाराष्ट्रमे अधिक बढी है, व गुजराज, राजस्थान व उत्तर प्रदेशमे कम। इसका कारण सभवत जैनोमें अन्यत्रसे मध्यप्रदेश व महाराष्ट्रमे आकर बसते रहना प्रतीत होता है। जो भी हो, गोलापूर्वोंमें जनसख्या वृद्धिकी दर समस्त जैन समाजकी दरके लगभग बराबर ही रही होगी। सन् १९११ के आसपास जैनोकी सख्या १२,४८,१८२[13] व गोलापूर्वोकी १०,८३४ थी[14] सन् १९४१ मे जैनोकी सख्या १४,४९,२३६ व गोलापूर्वोंकी १२,५६९ हो गई[15] 'इससे इस ३० वर्षोंमे समस्त जैन समाजमे १६.१०% व गोलापूर्वोमें १६.०१% वृद्धि निकलती है।

४ भारतकी जनसख्या सन् १९११ से सन् १९८१ तक ९७% बढी। अगर वर्तमान दशाब्दीमे वृद्धिकी दर १९७१-१९८१ की दरके बराबर मानी जाये (अर्थात् २४ ८%), तो सन् १९८१ व १९८६ के बीच ११.७% वृद्धि हुई होगी।

विभिन्न धर्मावलबियोकी जनसख्या, १९८१ की जनगणनासे उपलब्ध नही है। फिर भी उपरोक्त अनुमानोंसे गणना की जाय, तो गोलापूर्व जैनोकी १९८६ मे जनसख्या २३,८४० के आसपास होना चाहिये। इस गणनामे सभवत ५% से अधिकका दोष नही होना चाहिये, इससे जनसख्याका अनुमान २२,६०० से २५,००० के बीच किया जाना चाहिये। इसी प्रकारसे अन्य दिगम्बर जैन जातियोकी जनसख्याका अनुमान दिगम्बर जैन डायरेक्टरीकी सख्यामे २०-२० का गुणा करके किया जा सकता है। इस गणनासे गोलालारे लगभग १२,०००, गोलसिंघारे १,४०० व परवार ९५,२०० होना चाहिये।

ये सभी दिगम्बर जैन है। इनमेसे कुछ हिन्दू भी कहे जाते है पर उनके बारेमे कोई जानकारी नही मिल सकी।[१६] संभवत इसी नामकी अन्य हिन्दू जातियाँ होनेके कारण यह भ्रम हुआ होगा। गोलापूर्वोका एक भाग पचविसे कहलाता है। बुन्देलखडकी सभी जैन जातियोमे परस्पर भोजन व्यवहार रहा है, अर्थात् सभी जातियोमें एक पंक्तिमे बैठनेका अधिकार रहा है।[१६,१७] रसैल व हीरालालके अनुसार गोलापूर्व जैन व नेमा जातियोमे पक्के भोजनका व्यवहार था।[१६] इनमे गोलापूर्वो व परवारोमें कही-कही विवाह सम्बन्ध होनेका भी लिखा है। हिन्दी विश्वकोषमे इनके कपडा, घी आदिके व्यापारका उल्लेख किया है।[२] जैनोमे ८४ जातियाँ कही गई है, ८४ जातियोके नामोकी अनेक सूचियाँ उपलब्ध है।[१३,१७] इनमेसे अनेकमे गोलापूर्व जातिका नाम है।

गोलापूर्व जातिके प्राचीन शिलालेख अनेक स्थानोमे मिलते है। बीसवी शताब्दीके पूर्व गोलापूर्व जातिके बारेमे जानकारी केवल एक ही प्रमुख स्रोतसे उपलब्ध थी। बुन्देलखण्डमे मलहराके पास खटौरा ग्रामके निवासी नवलसाह चदेरियाने ई० १७६९ मे वर्धमान पुराणकी रचना की थी। इसमे ८४ जातिके वैश्योकी एक सूचीके बाद गोलापूर्व जातिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है। गोलापूर्वके ५८ गोत्रोकी एक सूची दी है। नवऊसाहने अपने परिवारके इतिहासका भी काफी पुराने अर्सेसे वर्णन किया है।[१७]

वर्तमान शताब्दीमें सन् १९११ मे अखिल भारतीय दिगम्बर जैन डायरेक्टरीका प्रकाशन हुआ।[१४] इसमें सभी दिगम्बर जातियोके बारेमे अत्यन्त परिश्रमसे एकत्र जानकारी मौजूद है। सन् १९४० मे अखिल भारतीय गोलापूर्व डायरेक्टरीका प्रकाशन हुआ,[१५] जो गोलापूर्व जातिके बारेमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। अभी कुछ वर्ष पहले एक अन्य गोलापूर्व जातिकी डायरेक्टरीका प्रकाशन हुआ था, पर उसमे जानकारी अधूरी होनेके कारण उसकी उपयोगिता सीमित है। गोलापूर्व जातिके सम्बन्धमें अनेक प्राचीन शिलालेख प्रकाशमे आये है। शोध पत्रिकाओमें गोलापूर्व जाति पर कुछ लेख उपलब्ध है। अभी हालमे दमोह नगर व छिंदवाडा जिलेके गोलापूर्व जैन समाज द्वारा स्थानीय जनगणना भी प्रकाशित हुई है।[१८,१९]

जातियोकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसके बारेमे अभी तक स्पष्ट नही जाना जा सका है। इसका वैज्ञानिक अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। हर जैन जाति कि उत्पत्तिके बारेमें तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे जा सकते है—

१. जातिकी उत्पत्ति कहाँसे हुई ?

२ जातिकी उत्पत्ति कब हुई ?

३. उत्पत्तिका कारण क्या था ?

अनेक जातियोकी उत्पत्तिके बारेमे कई किंवदंतियाँ पाई जाती है। परम्परागत धारणाओकी पुष्टि करनेके प्रयासकी अपेक्षा उचित नियमोका प्रयोग करके निष्कर्ष निकालना अधिक महत्वपूर्ण रहेगा। अनेक जातियोकी उत्पत्तिके बारेमे जो धारणायें पाई जाती है, वे अक्सर कल्पित हैं। अक्सर जातिके नामको लेकर जातिकी उत्पत्तिका अनुमान लगानेकी कोशिश की गई है। इस कारणसे कई भ्रमजनित कल्पनाये मौजूद हैं, जिनमेंसे कुछके उदाहरण नीचे दिये जा रहे है।

१ बनारसीदासने अपने अर्धकथानकमे लिखा है कि विहोली ग्रामके राजपूतोने णमोकार मत्रकी माला पहनी, इस कारणसे वे श्रीमाल कहलाये। वास्तवमे श्रीमाल जातिका नाम श्रीमाल (भीनमाल) स्थानसे हुआ है।

२. ओसवाल शब्दकी उत्पत्ति अश्ववाल (अर्थात् राजपूत) से कभी-कभी बताई जाती है।[२] पर— यह शब्द निश्चित ही ओसिया (उपकेश) मूलस्थानके कारण है।

३. जिझौतिया ब्राह्मणोके बारेमे कहा जाता है कि वे बुन्देलखण्डमें बुन्देले महाराजा जुझार सिंहके कालमे आये, इसलिये वे जुझौतिया कहलाये। जुझौतिया नाम वास्तव मे जुझौति (जैजाकभुक्ति) से पडा, जो बुन्देलखण्ड क्षेत्रका पुराना नाम है।

४. कछवाहा राजपूत वर्तमानमे अपने को कुशवाहा लिखते हैं और रामके पुत्र कुशसे उत्पत्ति बताते है। पर सबसे पुराने शिलालेखोमे इन्हे कच्छपघट या कच्छपघात कहा गया है।

५ कान्यकुब्ज (कनौजिया) व सरयूपारी ब्राह्मण अपनेको किसी कान्यजी व कुब्जजीका वशज कहते है।[20] वास्तवमें कान्यकुब्ज ब्राह्मणोका नाम कन्नौजके पास वास करनेसे हुआ है।

६ खण्डेलवाल शब्दकी उत्पत्ति खण्डु ऋपिसे या राजा गिरखण्डेलसे बताई जाती है[21, 22, 23]। पर यह वास्तवमे खण्डेला स्थानके कारण है।

७. महेसरी (माहेश्वरी) शब्दकी उत्पत्ति महेश्वर अर्थात् शिवजीसे कही जाती है। पर सभवत. यह नाम भरतपुरके पार महेशन स्थानके कारण है।[2]

अग्रवाल जातिकी उत्पत्तिके बारेमें अनेक पुस्तकोमें ऊहापोह मिलता है। इनके अग्रवाल कहलानेका कारण समाजमें अग्रणी होना, अगरुकी लकडीका व्यापार करना, आगरा शहर आदि कहे जाते हैं। पर इन्हें शिलालेखोमे अग्रोतकान्वयका कहे जाने आदिके कारण यह निश्चित है कि ये वर्तमान अग्रोहा (प्राचीन अगोदक) स्थानसे निकले हैं।

कई बार भ्रमका कारण मूलपुरुषकी कल्पना हैं। यह इतनी व्यापक हैं कि कुछ लेखकोने इसे जाति शब्दकी परिभाषामे स्थान दिया है। पर किसी भी जातिमे मूलपुरुष होना सभव प्रतीत नही होता।

१ एक ही व्यक्तिके पुत्रोसे एक स्वतत्र जाति कभी नही बन सकती क्योकि एक ही व्यक्तिके वशजोमे विवाह सम्बन्ध निषिद्ध हैं।[22]

२. किसी दस-बीस परिवारोसे भी कोई स्वतन्त्र जाति नही बन सकती। क्योकि जिस समाजमे इन परिवारोका विवाह सम्बन्ध पूर्वकालमें होता होगा उनसे अचानक सम्बन्ध तोडना मुश्किल हैं। किसी समाजसे दस-बीस परिवार तभी अलग हो सकते है जब किसी कारणसे इन परिवारोकी जातिच्युत कर दिया गया हो।

यहाँ पर अग्रवाल जातिका उदाहरण उपयोगी है। अक्सर अग्रवालोको महाराजा अग्रसेनके पुत्रोसे उत्पन्न कहा जाता है। जैसा कि बदलूराम गुप्ता।[22] का मत है, यह स्पष्ट ही तर्क सगत नही है। अग्रवाल शब्दकी उत्पत्ति अग्रोहाके कारण है, यह तो निश्चित है। यह हो सकता है कि किसी अग्रसेनके कारण अग्रोतक नाम हुआ हो। पर अगर यह सही है तो अग्रसेन व अग्रवाल जातिका कोई सीधा सम्बन्ध संभव प्रतीत नही होता। क्योकि अगोदक नाम ई० पूर्व पहली-दूसरी शताब्दीके अवशेपोमें पाया गया है जबकि अग्रवाल या किसी अन्य वैश्य जातिका ८ वी शताब्दीके पूर्व अस्तित्व होनेका कोई प्रमाण नही मिलता।

किसी जातिकी उत्पत्तिके बारेमें अनुसधानमें निम्नलिखित नियम उपयोगी होगे।

१ कुछ अपवादोको छोडकर लगभग सभी वैश्य जातियोके नाम किसी विशेष स्थानके कारण पडे हैं। अगर कोई स्पष्ट कारण न हो, तो सबसे पहले इस स्थानको पहचाननेका प्रयास किया जाना चाहिये।

२. कई बार इस मूलस्थानकी पहिचान किसी प्रख्यात स्थानसे की जाती है, पर ऐतिहासिक दृष्टि व गलत प्रमाणित होता है। इस पहिचानमे इस तथ्योसे पुष्टि की जानी चाहिये।

(क) उस जातिका उस स्थानके आस-पास वास।

(ख) बहुतसे परिवारोका उस स्थानके आस-पाससे आना।

(ग) जातिमें उस स्थानके आस-पासकी बोलीका चलन होना।

(घ) उस स्थानके आस-पाससे निकली अन्य समान जातियोमें पंक्तिभोज या विवाह (द्विविधि या अनुलोम) की परम्परा।

(ङ) प्राचीन शिलालेखो या प्राचानी ग्रंथोंसे जातिका निवास उस स्थानके आस-पाससे प्रमाणित होना।

(च) अगर उस जातिमे स्थान-सूचक गोत्र हैं, तो ये गोत्र-स्थान आस-पास होना चाहिये।

इन नियमोके उपयोगसे गलत निष्कर्षसे बचा जा सकता है। माहेश्वरी जातिके महेश्वर (इन्दौरके पास[१६]) अग्रवालोकी आगरासे उत्पत्तिकी धारणा इनसे गलत प्रमाणित होती है। जैसवालोंकी जैसलमेरसे उत्पत्ति[२४] भी गलत है क्योंकि इस जातिका अस्तित्व जैसलमेरकी स्थापनाके पूर्व भी शिलालेखोसे प्रमाणित होता है।

ऊपर दूसरे नियममे जो पाँच परीक्षण दिये हैं, उसमेंसे किसी एकके सही होने या न होनेसे कोई संभावित मूलस्थान सही या गलत सिद्ध नही होता। पर यदि सभी पाँच परीक्षण सही है, तब सभावित मूलस्थान करीब-करीब निश्चित है। किसी जातिकी उत्पत्ति कब हुई, इसका निर्धारण करना अधिक कठिन है। अगर किसी जातिकी उत्पत्ति किसी ऐतिहासिक घटनाके कारण हुई, तब केवल उस ऐतिहासिक घटनाके समयकी गणना करना काफी है। उदाहरणके लिये चमारो में सतनामी जातिकी उत्पत्ति घासीदासके उपदेशसे हुई।[१६] सन् १८२५ के आस-पास ओसवाल जातिकी उत्पत्ति रत्नप्रभसूरिके उपदेश हुई। रत्नप्रभसूरिका समयका निर्धारण[13] नही हो पाया है, पर ५वी से १०वी शताब्दीके बीच माना जाता है। अधिकतर जातियोकी उत्पत्ति किसी एक विशेष समय नही हुई होगी। जो एक ही तरहके व्यवसाय, संस्कारके लोग एक ही स्थानपर अनेक पीढियोंसे रहते होगे, उनमें ही सजाति होनेकी भावना हुई होगी।[४२] इस प्रक्रियासे अधिकतर जातियोकी रचना (evolution) में काफी समय लगा होगा। अगर यह माना जाये कि सामान्यत. करीब ७ पीढियो तकका पारिवारिक इतिहास याद रखा जाता है, तो किसी भी जातिमे एकत्व आने व उसके किसी नामसे प्रसिद्ध होनेमें कमसे कम ७ × २० = १४० वर्षोंका अन्तर माना जा सकता है। अगर यह कल्पना उचित है तो किसी जातिका अस्तित्व उसके सबसे पुराने उल्लेखसे कमसे कम डेढ सौ वर्ष पहले अवश्य रहा होगा।

गोत्रोके सम्बन्धमे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा जा सकता है। जातिकी उत्पत्ति पहले हुई या गोत्रोकी ? गोत्रोके बिना जातिका अस्तित्व असंभव है। कुछ गोत्र जातिके पहले या जातिके साथ ही उत्पन्न हुये होगे। कई बार एक ही गाँवमें रहने वालोको एक ही पूर्वजसे उत्पन्न माना जाता है,[३७] और उस गाँवके नामसे ही एक गोत्र बन जाता है। गोत्र व्यवसायके कारण भी बनते है क्योंकि अक्सर लोग अपना पैतृक व्यवसाय ही सीखते थे।

ब्रिटिश राज्यके पहले गोलापूर्व जातिकी उत्पत्तिके बारेमें एक ही ग्रन्थमे उल्लेख मिलता है।[२५] मलहरा (जिला छतरपुर) के पास खटौरा ग्राममें नवलसाह चदेरियाने ई० १७६९ में वर्धमान-पुराणकी रचना की थी। इसके अन्तिम अधिकारमे कविने अपने आत्मपरिचयके सिलसिलेमें गोलापूर्व जातिके बारेमें काफी महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। इसके अनुसार किसी गोयलगढके निवासी, भगवान् आदिनाथके उपदेशसे श्रावक हुये व गोलापूर्व कहलाये। कविने इक्ष्वाकु वंशका उल्लेख किया है, यह स्पष्ट नही है कि यह शब्द आदि जिनेशके लिये प्रयुक्त है या गोयलगढ़के वासियोकें लिये।

यहाँ पर कविकी ऐतिहासिक जानकारीकी परीक्षा आवश्यक है जैसा कि आगे प्रमाणित किया

गया है। खटौरा ग्राम उस क्षेत्रमे स्थित है जहाँ गोलापूर्व प्राचीनकालसे रहते आ रहे है। कविने १३४ वर्ष पूर्व बुन्देले जुझार सिंह (१६२७-१६३५) के राज्यकालमे (ई० १६३४) मे अपने पूर्वजों द्वारा गजरथ चलाये जानेका उल्लेख किया है, और तबसे अपनी वंशावली दी है। कविने इनके भी बहुत पहले (चतुर्थ काल) चदेरीमे अपने पूर्वज गोल्हन शाहुका उल्लेख किया है। यह सही मालूम होता है क्योकि चदेरिया नाम चदेरीमें रहनेके कारण ही पडा होगा, और बारहवी शताब्दीके शिलालेखोमे गल्हण, रल्हण, खेल्हण, कल्हण आदि नाम पाये गये हैं। कविने बुन्देलखण्डकी गहोई जातिको गृहपति कहा है और उनमे 'जैन लगार' का उल्लेख किया है। प्राचीन शिलालेखोसे यह बात प्रमाणित होती है। बीसवी शताब्दीके आरम्भमे गहोई जातिमें कोई भी जैन नही थे, वह अपने प्राचीन नामकी जानकारी सभवत गहोई जातिमें भी नही थी।[२,१६]

स्पष्टत गोलापूर्व जातिकी स्थापना भगवान् आदिनाथके समयमें असभव है। पर किसी गोयलगढसे उत्पत्ति सभव है। यति श्रीपालचन्द्रने चौरासी जैन जातियोकी उत्पत्तिके स्थान दिये है। इसमे कई सही हैं, पर कुछ कल्पित मालूम होते है। इनमें गौलवाल जातिके लिये गौलागढ़ स्थान दिया है परन्तु गोयलगढ़की पहिचान नही हो सकी है। किसी-किसीने ग्वालियर माना है।[१५] परन्तु ग्वालियरके आसपास न तो गोलापूर्वो-के कोई शिलालेख पाये गये है, न वहाँ गोलापूर्वोकी आबादी रहने का प्रमाण मिलता है। परमानन्द शास्त्रीने इसे चदेरी के पास गोलाकोट (जिला गुना) माना है[२६] पर इस स्थानके आसपास भी न तो गोलापूर्वोके शिलालेख मिलते है, और न ही गोलापूर्वोकी विशेष जनसख्या रही है। नाथूराम प्रेमी[१५] का अनुमान था कि इस जातिका उद्भव सूरतके आसपास कहीसे हुआ है, पर यह निश्चित ही गलत है।

गोलापूर्व शब्दकी कुछ अन्य उत्पत्तियाँ बतायी जाती है, पर वे स्पष्टत कल्पनायें हैं। गोला (या गोल्ला) शब्द किसी स्थानका सूचक है, इस स्थानकी पहिचान एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। यहाँपर ये बातें विचारणीय है।

(१) जैनोमें ही एक गोलालारे जाति है, इसे शिलालेखोमे गोलाराडे कहा गया है। जिस प्रकार महाराष्ट्रके निवासी मराठे, सौराष्ट्रके निवासी सोरठे (सारठिया) काराष्ट्रके निवासी कर्हाडे, उसी तरह गोलाराष्ट्र (अर्थात् गोला देश) के निवासी गोलाराडे कहलाये। इसी प्रकारके अहारके लेखोमे गर्गराट जाति-का उल्लेख है।[२७] ये ही गगराड होगे जिनकी उत्पत्ति गंगराड स्थानसे बताई गई है।[२५] वर्तमानमे गगेरवाल कहलाते है, इन्हे ही नवलसाहने गागड कहा है। गगराड स्थान सभवत- वर्तमान गगाधर (जिला झालवाड) है।[२८]

(२) गोलसिंघारे (गोल श्रृंगार) भी गोला स्थानसे निकले होगे।

(३) आगरा जिलेके आसपास एक गोलापूर्व ब्राह्मण जाति निवास करती है।[१५,२२] इसके अलावा दर्जियो व कलारो मे भी गोलापूर्व नामके विभाग है।[१६] एक ही स्थानसे निकली अनेक जातियाँ अक्सर एक ही नामसे कहलाती है। ये उदाहरण दृष्टव्य है।[१६,२५]

(क) कनौजिया (कान्यकुब्ज, कन्नौजके) : ब्राह्मण, अहीर, बहना, भड़भूँजा, भाट, दहायत, दर्जी, धोबी, हलवाई, लुहार, माली, नाई, पटवा, सुनार व तेली।

(ख) जैसवाल [जैस (जिला रायबरेली) के] बनिया, बरई, (पनवाडी) कुरमी, कलार, चमार व खटीक।

(ग) श्रीवास्तव (श्रावस्तीके) कायस्थ, भड़भूजा, दर्जी, तेली।

(घ) खडेलवाल (खडेलाके) ब्राह्मण, बनिया।

(ङ) पल्लीवाल (पालीके) : ब्राह्मण, बनिया।

(च) श्रीमाल, श्रीमाली (श्रीमाल या भीनमालके) ब्राह्मण, बनिया।

(छ) बघेल (बघेलखण्डके) भिलाल, गोड, धोबी, माली, पवार।

(४) एक जैन धातु प्रतिमाकी स्थापकको गोलावास्तव्य लिखा गया है।[१५]

(५) आठवी शताब्दीमें उद्योतनसूरि रचित कुवलगमालामे इन देश-भाषाओका उल्लेख है—मगध, गोल्ला, मध्यदेश, आध्र, अन्तर्वेदी, काशल, मालव, कर्नाटक, सिन्धु, गुर्जर, मरु, महाराष्ट्र, ताजिक, टक्क, और कीर।[30] दसवी शताब्दीके राजशेखरने काव्यमीमासामें, पुष्पदतने नयकुमारचरिउमे व बारहवी शताब्दीके रामचन्द्र-गुणचन्द्रने नाट्यदर्पणमें भी यही देश-भाषायें लिखी है।[30]

(६) चद्रगिरि (श्रवणवेलगोल) के एक ई० ११६३ के लेखमे गोल्लदेशके गोल्लाचार्यका उल्लेख है। इनके विषयमे आगे विचार किया गया है।

यह स्पष्ट है कि जैनोमें गोलापूर्व, गोलालारे, गोलसिघारे व अजैनोमे गोलापूर्व ब्राह्मण, दर्जी व कलार, ये सभी किसी गोला (या गोल्ला) स्थानके वासी थे। इस गोल्ला देशकी स्थिति इतिहासमे एक महत्त्वपूर्व समस्या रही है। इस समस्या पर इस लेखमे आगे विचार किया गया है।

गोलापूर्व शब्दमें पूर्वका अर्थ क्या है। यह पूर्व दिशा-सूचक नही है। बुन्देलखण्डकी जैन जातियोमें गोलापूर्व ही सबसे पूर्वके वासी थे। परन्तु गोलापूर्व ब्राह्मणोका निवास उत्तर दिशामे है। पूर्व समयका सूचक है। पूर्वकालसे गोल्ला देशमे रहनेके कारण ही ये गोल्लापूर्व कहलाये। इसी प्रकारसे अयोध्यापूर्व जाति, जिसका वर्धमानपुराण व विजातीय-विवाह-मीमासा[13] में उल्लेख है, का नाम पडा होगा (यह अब अयोध्यावासी कहलाती है)।

गोल्लादेशकी स्थिति

श्रावस्तीसे उद्भूत अनेक जातियोका अस्तित्व होनेपर भी, श्रावस्ती कहाँ है, इसका स्मरण नही रहा था। श्रावस्ती (वर्तमान सहेठ-महेठ) की पहिचान ब्रिटिश राज्यकालमे उत्खनन होनेके बाद हुई। इसी प्रकारसे गोल्लादेशकी स्थिति कहाँ थी, इसकी स्मृति नही रही है, यद्यपि वहाँसे कई जातियाँ निकली है।

भारतमे गोला (या मिलते-जुलते) नामके अनेक स्थान है।[२] ग्वालियर व गोला कोटका उल्लेख पीछे किया गया है। उत्तर प्रदेशमें गोला नामके दो ग्राम गोरखपुर व खीरी जिलेमें है। गोलागोकर्णनाथ एक प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ है। उत्तर प्रदेशमे ही शाहजहानपुर जिलेमे गोलारायपुर नामका एक प्राचीन ग्राम है जहाँ बौद्धकालीन अवशेष पाये गये थे। दक्षिणमे कृष्णा जिलेमे गोलि व बेलग्राम जिलेमें गोलिहल्लि नामके स्थान है, पर इनमेंसे कोई भी उपयुक्त मालूम नही होता।

कुवलयमाला आदि ग्रन्थोमें गोल्ला देशकी विशेष देश-भाषाका उल्लेख होनेसे मालूम होता है कि यह काफी बडा क्षेत्र रहा होगा। कालान्तरमे इस प्रदेशका कोई अन्य नाम पड गया होगा, व गोल्ला देशकी स्मृति समाप्त हो गई होगी।

अगर गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिघारे जातियोके प्राचीन कालीन निवास स्थानका पता चल सके, तो गोल्लादेशकी स्थिति पर प्रकाश पड सकता है। यहाँपर उपरोक्त ५ नियमोका प्रयोग किया जायेगा।

१. जातियोका वर्तमान निवास ' वर्तमान में गोलापूर्व व गोलालारे जातियां बिखरकर अनेक स्थानोमें बस गई है। फिर भी गोलालारे जाति अधिकतर झाँसी (उत्तर प्रदेश) व भिंड (मध्य प्रदेश) के आसपास बसती है[१४] व गोलापूर्व मध्यप्रदेशके बुन्देलखण्ड भागमे (टीकमगढ, छतरपुर, पन्ना, सागर, दमोह) में बसते

है।[१५] सन् १९१५ की दिगम्बर जैन डायरेक्टरीसे मालूम होता है कि उस समयमे गोलालारोकी सबसे अधिक जनसख्या ललितपुर जिला झाँसी (४००) व भिण्ड (२७०) में बसती है। यह सभव है कि ये ललितपुरमें अच्छा व्यवसाय होनेके कारण अन्यत्रसे आकर बसे हो (कहावत है—ललितपुर कबहुँ ना छोडिये, जब तक मिले उधार)। इनका उद्‌गम कभी-कभी भिंडके आसपाससे माना जाता है, जो सही प्रतीत होता है।[३१] सन् १९४० की गोलापूर्व डायरेटरीके अनुसार गोलापूर्वोंकी सबसे अधिक जनसख्या पुरानी ओरछा रियासतमें (१,६७८) अर्थात् टीकमगढ जिलेमे व सागर जिलेकी बडा तहसीलमें (१,७३२) में थी। ये दोनो लगे हुए हैं। जैन तीर्थ आहार व कई अन्य जैन तीर्थ, इसी क्षेत्रमे है। दिगम्वर जैन डायरेक्टरी के अनुसार गोलसिंघारे सबसे अधिक इटावा उत्तर प्रदेश (२९८) मे बसे है।[१४]

२. गोलापूर्व बुन्देलखडके आतरिक भाग (अहारके आसपास) से ही अन्यत्र जाकर बसे है, ऐसा प्रतीत होता है।[२५] सागरके फुसकेले सिंघई लगभग १२५ वर्ष पहले मदनपुर (जि० झाँसी) से आये थ। पाटन (जि० सागर) के राघेले सिंघई कई पीढियो पहले अहारसे आकर बसे हैं। हटा (जि० दमोह) के टैटवार सिंघई बमनी (जि० छतरपुर) से करीब २०० वर्ष पहले आये थे। रीठी (जि० जवलपुर) के पडेले १२५ वर्ष पहले पठा (जि० टीकमगढ) के वासी थे। कटनीके पटवारी कोठिया करीब ९० वर्ष पहले गोरखपुरासे आये थे। इन परिवारोके सदस्य अब अनेक अन्य स्थानोमे जाकर बस गये है। सन् १९०२ के दमोह गजेटियरके अनुसार दमोहके गोलापूर्व टीकमगढ-टेहरीके आसपाससे आये है।

३. सभी गोलापूर्वोंमें बुन्देलखडी बोलनेका ही चलन है। जो बुन्देलखण्डके बाहर कई पीढियोसे है, वे खडी बोली बोलने लगे है।

४. बुन्देलखण्डकी सभी जैन जातियोमे परस्पर पक्तिभोजका व्यवहार रहा है। परवार-मूर-गोत्रावली व वर्धमान पुराणमें साढे बारह समकक्ष जैन जातियाँ कही है जिनमे परवार, गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे शामिल है। गोलापूर्वों व परवारो में कभी-कभी विवाह सम्बन्ध भी हुआ करता था।[१६] एकबार एक प्रस्ताव रखा गया था कि पचविसे गोलापूर्वोंके गोलालारे जातिमें मिला लिया जाये (पर मान्य नही हुआ था)[१३]। बुन्देलखण्डकी जैन जातियोमे कुछ गोत्रोके नाम एकसे है। पचरत्न गोत्र गोलापूर्व, गोलालारे व परवार तीनो जातियोमे है।[१८] इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये जातियाँ एक-दूसरेके आस-पास ही निवास करती होगी।

गोलापूर्व जातिके प्राचीन शिलालेख अहारक्षेत्रके आस-पास बडी सख्यामें पाये गये है। पपौराजीमें ई० ११४५ के, नावईमें ई० ११४६ का, अहारजीमें ११४६ व ११५६ के, छतरपुरमें ११४९ का, ललितपुरमें ११८६ का, महोबामें ११६२ व ११८६ के लेख[१८] पाये गये है। इस क्षेत्रमे कई अनेक अन्य शिलालेख पाये गये हैं, जिनपर किसी जातिके नामके उल्लेख नही है, इनमेसे कई गोलापूर्वोके होगे। महोवामे एक कुँआ खोदते समय २४ जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई थी[१५]। इनमेंसे उपरोक्त एक पर स० १२१९ (ई० ११६२), दो पर स० १२४३ (ई० ११८६) पर गोलापूर्वान्वयके उल्लेख है। चार अन्य पर स० ८२२, स० ८३१, स० ११४४ (ई० १०८७) व स० १२०९ (ई० ११५२) के लेख है, पर किसी जातिका उल्लेख नही है। स० ८३१ व स० ८२२ के लेखोका सवत् विक्रम स० (ई० ७६५ व ७७४) या शक सं० (ई० ९०० व ९०९) हो सकता है[६]। पर यह भी हो सकता है कि ये कलचुरि स० हो (ई० १०७१ व १०८०)। इस समयके आसपास कलचुरि-चेदिके कर्णदेवने चदेलोके राज्यपर कुछ वर्षोंके लिये अधिकार कर लिया था। कुछ ही वर्षों बाद चदेल कीर्तिवर्माने पुन अधिकार कर लिया था।

यहाँपर बहोरीबंदके लेखका उल्लेख आवश्यक है। यह जैजाकभुक्ति (चदेलोके राज्य) के बाहर डाहल मडल (कलचुरि-चेदि राज्य) में था। यहाँ शातिनाथकी प्रतिमापर एक लम्बा,प्रसिद्ध लेख है, पर उस पर सवत् स्पष्ट नही पढा गया है। किसी-किसीने इसे वि० सं० १०१० (ई० ९५४) पढा है[३१]। इसमें गयाकर्णदेव सामन्त गोल्हणदेवके समयमे गोलापूर्वाम्नायके, माधवनन्दिके अनुयायी साधु महाभोजद्वारा शातिनाथके मंदिरके निर्माणका उल्लेख है। यहाँ "गोलापूर्वाम्नाये" शब्द महाभोजके लिये प्रयुक्त लगता है। वैसे जैसे उपकेशगच्छ व ओसवाल जाति दोनो ओसियासे उद्भूत है, हो सकता है गोलापूर्वाम्नाय कोई गच्छ या गण रहा हो। कलचुरि राजा गयाकर्ण वही है जिनका विवाह गुहिल विजयसिंहकी पुत्री अल्हणदेवीके साथ हुआ था'। चदेल मदनवर्माने किसी चेदि राजाको हराया था, इसे गयाकर्ण ही माना गया है"। गयाकर्णका समय ई० ११२३ से ११५३ माना गया है। यह स्पष्ट है कि यह लेख वि० स० १०१० का नही हो सकता।

यह स्पष्ट है कि बारहवी शताब्दीके मध्यमे गोलापूर्व जाति काफी दूरतक फैलकर बस चुकी थी। अहारके ई० १२३१ के लेखमे "प्रख्यातवशे गोलापूर्वान्वये" लिखा गया है[३१]। इससे यह माना जा सकता है कि गोलापूर्व जाति बारहवी शताब्दीसे कई सौ वर्ष पहले विद्यमान थी।

गोलाराडे जातिके लेख ग्यारहवी शताब्दीके अन्तसे मिलते है।[१७] भिंडके आसपास इनके प्राचीन लेख पाये गये है या नही, यह ज्ञात नही हो सका है। गोलसिंघारे जातिके ई० १६३१ के पूर्व उल्लेख देखनेमे नही आये।

५ गोलापूर्व जातिमे कुछ गोत्र कुछ स्थानोके नामपर है। चदेरिया, पपौरहा, मरैया, भरतपुरिया, भिलसैया, जतहरिया, धवलिया, बदरौहिया, हीरापुरिया; कनकपुरिया, पटोरिया, दगैंया, सिरसपुरिया व गडौले ग्रामके नामपर ही हुए है। चदेरिया चदेरी (जि० गुना), पपौरहा पपौरा (जि० टीकमगढ़); हीरापुरिया हीरापुर (जि० सागर), धमोनिया धामोनी (जि० सागर) व मरैया मरौरा (जि० झाँसी) के वासी थे। भिलसैया सम्भवत उसी भेलसी ग्रामके वासी थे जहाँ नवलशाह चदेरियाके पूर्वज रहते थे। अन्य ग्रामोकी पहिचानके लिये शोधकी आवश्यकता है। गोलालारे जातिमे चिनौरिया, जसौरिया, जैपुरिया, नागपुरिया, पचमढिया आदि गोत्र हैं, पर सम्बन्धित ग्राम पहिचानमे नही आये है।[१८]

उपरोक्त पाँच नियमोपर विचारसे ये निष्कर्ष निकलते है (मानचित्र—१)।

१ गोलापूर्व : गोलापूर्व जातिका मूलस्थान पपौरासे धामोनी (करीब चालीस मील) व आसपास निश्चित है। यह टीकमगढ व छतरपुरका दक्षिणी भाग व बडा तहसीलका उत्तरी भाग है। इस क्षेत्रमें ही पपौरा, अहार, द्रोणागिरि व नैनागिरि जैन तीर्थ है।

३ गोलालारे : इस जातिका मूलस्थान भिंडके आसपास प्रतीत होता है। इसे निश्चित करनेके लिये शोधकी आवश्यकता है।

३ गोलसिंघारे : ये भी भिंडके आसपाससे उत्पन्न लगते है। इनके प्राचीन लेख न मिलनेसे लगता है कि सम्भवत ये गोलालारे जातिकी ही शाखा है।

गोलापूर्व ब्राह्मणोके बारेमे विशेष जानकारी नही मिल सकी है। ये भिंडके उत्तरमे आगरा व इटावा जिलेमे अधिकतर रहते है। सन् १९४० मे ये अपनी जनसंख्या ३-४ लाख बताते थे।[१५] परन्तु जनसंख्याके अनुमान अक्सर गलत होते है। यथा अग्रवालोकी जनसख्या एक करोड़ बताई गयी है जो स्पष्टत· असम्भव है।[२२] फिर भी गोलापूर्व-ब्राह्मणोकी वर्तमान जनसंख्या कम-से-कम ६०-८० हजार होना चाहिये। इनकी उत्पत्तिके बारेमे कुछ किंवदन्तियाँ है, पर वे काल्पनिक ही मालूम होती है। इन्हे सन्नाढ्य ब्राह्मणोसे उद्भूत

मानचित्र : १

गोलापूर्व, गोलालारे, गोलसिंघारे व परवार जातियों के प्राचीन निवास-क्षेत्र
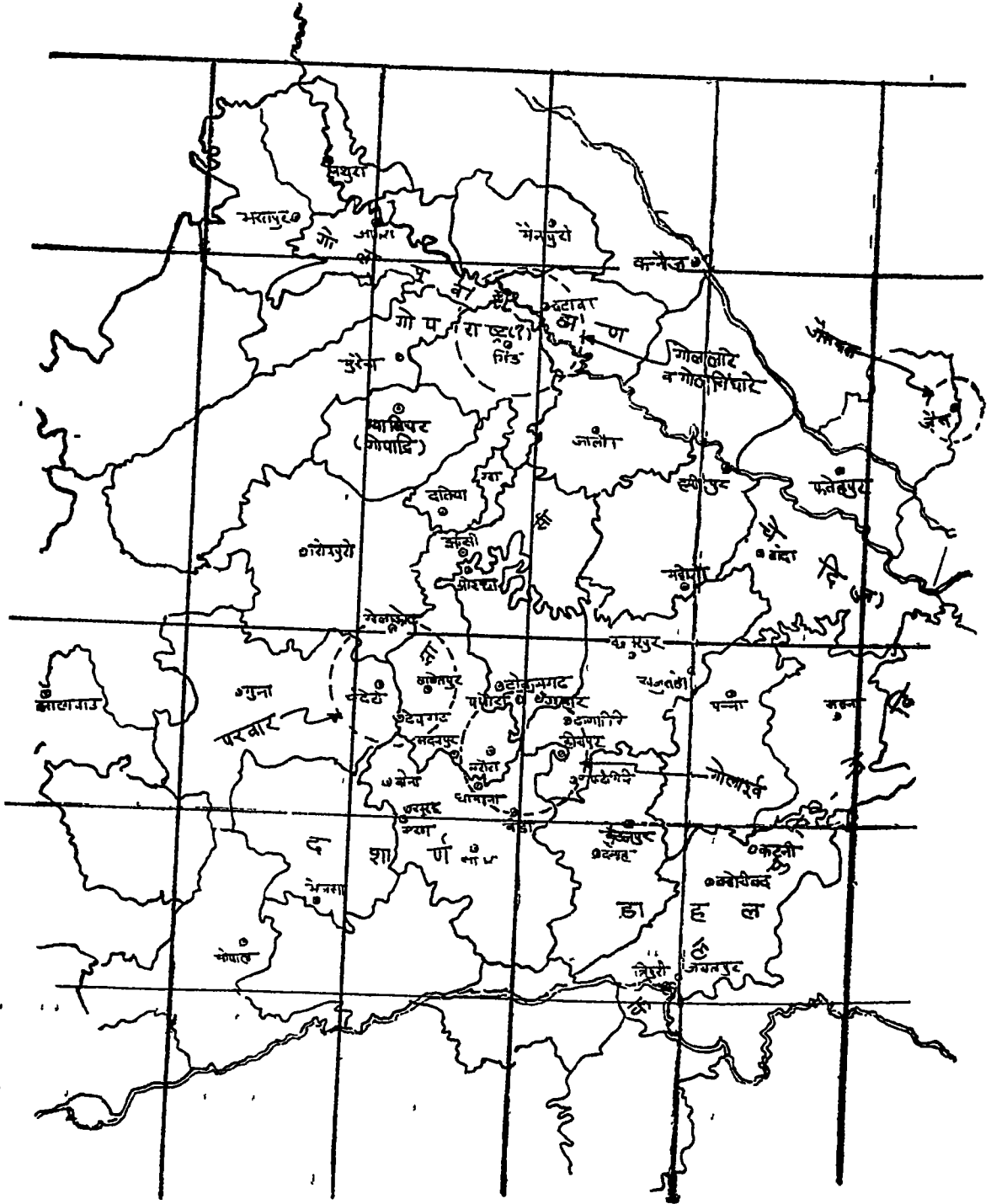
माना जाता है[३७], जो सही प्रतीत होता है। इनका गोलापूर्व जैनोके साथ क्या सम्बन्ध है इसपर आगे विचार किया गया है। गोलापूर्व दर्जियो व कलारोके बारेमे कोई जानकारी उपलब्ध नही है। गोलापूर्व डायरेक्टरीमें गोलापूर्व क्षत्रियोंका उल्लेख है, पर ऐसा लगता है इनका अस्तित्व नही है। गोलापूर्व ब्राह्मण कृपक है, उनके ही किसी समुदायको भ्रमसे क्षत्रिय मान लिया गया होगा।

गोल्ला देशकी स्थितिका निश्चित प्रमाण श्रवणवेल्गोलाके दो लेखोसे होता है। ये लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है व इनसे न केवल गोल्ला देशकी स्थिति, बल्कि बुन्देलखण्डके इतिहासपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। चन्द्रगिरिपर स्थित ई० ११६३ के एक लेखमे गोल्लदेशके गोल्लाचार्यका उल्लेख है। ई० १११५ के एक अन्य लेखमें "चंदिल" कुलके, गोल्लदेशके भूपालका उल्लेख है। "चंदिल" निस्सदेह चदेल कुलके लिये है। गोल्लदेश वही देश है जहाँ चदेलोका राज्य था।

चन्देलोका राज्य अक्सर जैजाकभुक्ति कहलाता है। अलबिरूनीने लगभग ई० १०३० इसे जजहूति कहा है।[३१] यह नाम चन्देल जयशक्ति (लगभग ई० ८५५) के कारण पडा था जिसे जैज्जाक भी कहते थे।[३२] इसी क्षेत्रका दूसरा व प्राचीनतर नाम गोल्लादेश था। ई० १५३१ मे ओरछापर बुन्देलोका राज्य हो जानेके कारण यह कालान्तरमे बुन्देलखण्ड कहलाया।

गोल्लाचार्य कौन थे ? ई० १११७ मे, या उसके पूर्व चन्देल जयवर्मा गद्दीपर बैठे थे। जयवर्माने थोडे ही समय बाद गद्दी छोड दी व उसके चाचा पृथ्वीवर्माका राज्य हुआ। पृथ्वीवर्माके पुत्र मदनवर्माके राज्य-कालके ई० ११२९ से ११६३ तक लेख मिलते है। मदनवर्माके बाद उसका पौत्र परमार्द्धि (परमाल) का राज्य हुआ जिसके ई० ११६५ से १२०१ तकके लेख मिलते है। हो सकता है जयवर्माने दीक्षा ली हो और उन्हें ही गोल्लाचार्य कहा गया हो। परन्तु सबसे अधिक सम्भावना मदनवर्मा की है। इस सम्भावनापर आगे विचार किया गया है।

चन्देलोके राज्यका विस्तार कभी कम, कभी अधिक रहा है। खजुराहोके ई० ९५५ के लेखमे धगका राज्य उत्तरमे यमुनासे लेकर दक्षिणमे चेदिकी सीमातक, पूर्वमे कालजरसे पश्चिमो गोपाद्रि (ग्वालियर) व भेलसा (विदिशा) तक लिखा गया है।[७] मदनवर्माके लेखोके विस्तारसे पता चलता है कि उसका राज्य खजुराहो, महोबा व कालजर के अलावा भेलसा मउ (जि० झाँसी) तक रहा था। चन्देलोके राज्यका अस्थाई विस्तार उत्तर-पश्चिममें कान्यकुब्ज व अहिच्छत्र तक रहा था।[८] यह प्रतीत होता है कि चन्देलोका राज्य ग्वालियर, भिडके आसपास कभी रहा था, पर स्थायीरूपसे नही।

बुन्देलखण्ड वह क्षेत्र कहलाता है जहाँ बुन्देलोका राज्य रहा था। मध्य प्रदेशमे इसके दतिया, टीकम-गढ, छतरपुर व पन्ना जिले है। सागर व दमोह जिलोके उत्तरी भाग भी बुन्देलखण्डमे है। उत्तर प्रदेशमें झाँसी, हमीरपुर व बाँदा जिले बुन्देलखण्डमे माने जाते है। ग्वालियरके पास दतिया जिलेमे भी बुन्देलोका राज्य रहा है। भिड, इटावा व आगरा जिलेकी भाषा बुन्देली नही ब्रज मानी जाती है। अगर गोल्लादेशमे एक ही देशभाषा थी तो वहाँ वर्तमानमे दो बोलियाँ कैसे हो सकती है ? वास्तव मे बुन्देली व आगरा-भिडकी बोली लगभग एक ही है। इन्हे "पश्चिमी हिन्दी" कहा गया है।[८] यह बात ग्वालियरके लिये भी लागू होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोल्लादेशका विस्तार उत्तर,दक्षिणमे भिडसे सागर जिलेके उत्तरी भागतक था।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बुन्देलखण्डके ब्राह्मण गोलापर्व नही कहलाते। इसका कारण स्पष्ट है। बुन्देलखण्डमें कान्यकुब्जसे ब्राह्मण आकर बसते रहे है। चन्देलोके राज्यमे यह भाग जैजाकभुक्ति कहलानेसे,

यहाँके ब्राह्मण जिझौतिया कहलाने लगे। जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण पिछले सौ-दो सौ सालसे आकर बसे है, वे अपनेको कान्यकुब्ज ही कहते है व जिझौतियासे अपनेको ऊँचा मानते है। गोल्लादेशका जो भाग जैजाकभुक्ति नही कहलाया वहाँके ब्राह्मण गोलापूर्व कहलाते रहे।

कुवलयमाला आदि ग्रन्थोसे पता चलता है कि ८वीसे १२वी शताब्दीके आसपास भारतके अधिकाश भागमे करीब १८ प्रमुख देश भाषायें बोली जाती थी। इनमेंसे सभीकी पहिचान की जा सकती। वर्तमान भारतीय बोलियो व भाषाओसे इनका काफी मेल लगता है। यहाँपर Historical Atlas & South Asia मे के मानचित्रोका प्रयोग किया गया है।

आध्र वर्तमान तेलुगू भाषाका क्षेत्र अर्थात् आध्र प्रदेश।

कर्णाटक वर्तमान कन्नड भाषी प्रदेश, कुछ उत्तरी भागको छोडकर समस्त कर्णाटक प्रदेश।

सिंधु सिंधी भाषी। मुलतानको छोडकर व कच्छको मिलाकर पाकिस्तानका सिंध प्रदेश।

गुजर गुजराती क्षेत्र। गुजरातका अधिकतर भाग व राजस्थानका थोडासा भाग।

महाराष्ट्र मराठी भाषी। गोआ, कर्णाटकका कुछ उत्तरी भाग। विदर्भका काफी भाग गोड आदि जातियोसे बसा था, व महाराष्ट्रका भाग नही माना जाता था।

ताजिक वर्तमान सोवियत सघ व चीनमे ताजिक भाषी प्रदेश। प्राचीनकालमें यहाँके यारकन्द व खोतान आदि मे पजाब आदिसे व्यापारिक सम्बन्ध थे व भारतीय सस्कृतिका काफी प्रभाव था।

टक्क पजाबी भाषी पाकिस्तानी व भारतीय पजाब सम्भवत हरियाणाका कुछ भाग। मुलतानको भी इसी क्षेत्रमे माना जाना चाहिये।

मरु राजस्थानी (मारवाडी) प्रदेश। वर्तमानमें मारवाडी व मालवीको सम्बन्धित माना जाता है। राजस्थानमे अरावलीके दक्षिणकी भाषाको मालवी माना जाना चाहिये। ब्रज-भाषी प्रदेशमे इस क्षेत्रके बाहर माना जाना चाहिये।

मालव वर्तमान मालवा व दक्षिणी राजस्थान।

मगध बिहारी व भोजपुरी (पूर्वी उत्तर प्रदेश) भाषी प्रदेश।

कोशल कोशल नामक दो स्थान थे। एक तो काशीके आसपास और एक मध्य प्रदेशके छत्तीसगढ क्षेत्रमें, जो दक्षिण कोशल कहा जाता है। वर्तमानमें दोनो क्षेत्रकी भाषायें पूर्वी-हिन्दीके अन्तर्गत आती हैं। अत कोशल देश-भाषाका क्षेत्र, पूर्वी-हिन्दी (अवधी, बघेली व छत्तीसगढी) का क्षेत्र ही माना जाना चाहिये। इसमे छत्तीसगढीका दक्षिणी भाग नही माना जाना चाहिये जहाँ गोड आदि जातियोका निवास था।

मध्यदेश इस शब्दका प्रयोग उत्तर भारतके काफी भागके लिये किया जाता था। देश-भाषाओके सदर्भमे, यह स्पष्ट ही यह वर्तमान पश्चिमी-हिन्दी (हिन्दुस्तानी, ब्रज व बुन्देलखण्डी) क्षेत्रका उत्तरी भाग है जहाँ खडी बोली बोली जाती है।

अन्तर्वेद यह गगा-यमुनाके बीचका दोआब है। दोआबके अधिकतर भागकी देश-भाषाकी ही यह सज्ञा होगी।

गोल्ला . उपरोक्त क्षेत्रोको निकाल देनेसे एक ही भाग बचता है—यमुना व नर्मदाके बीचका पश्चिमी हिन्दीका भाग, जिसमे ब्रज व बुन्देली बोली जाती है। इसके अधिकतर भागकी राजनैतिक गोल्लादेशसे पहिचान ऊपरको ही जा चुकी है।

मानचित्र—२ में ये सभी क्षेत्र दिखाये गये हैं। दक्षिणी मध्यप्रदेश, विदर्भ व उडीसाके काफी बड़े भूखण्डमे आज भी वड़ी सख्यामे गोड आदि आदिवासी वसते है। प्राचीनकालमे इस क्षेत्रमे न तो महत्त्व-

मानचित्र : २
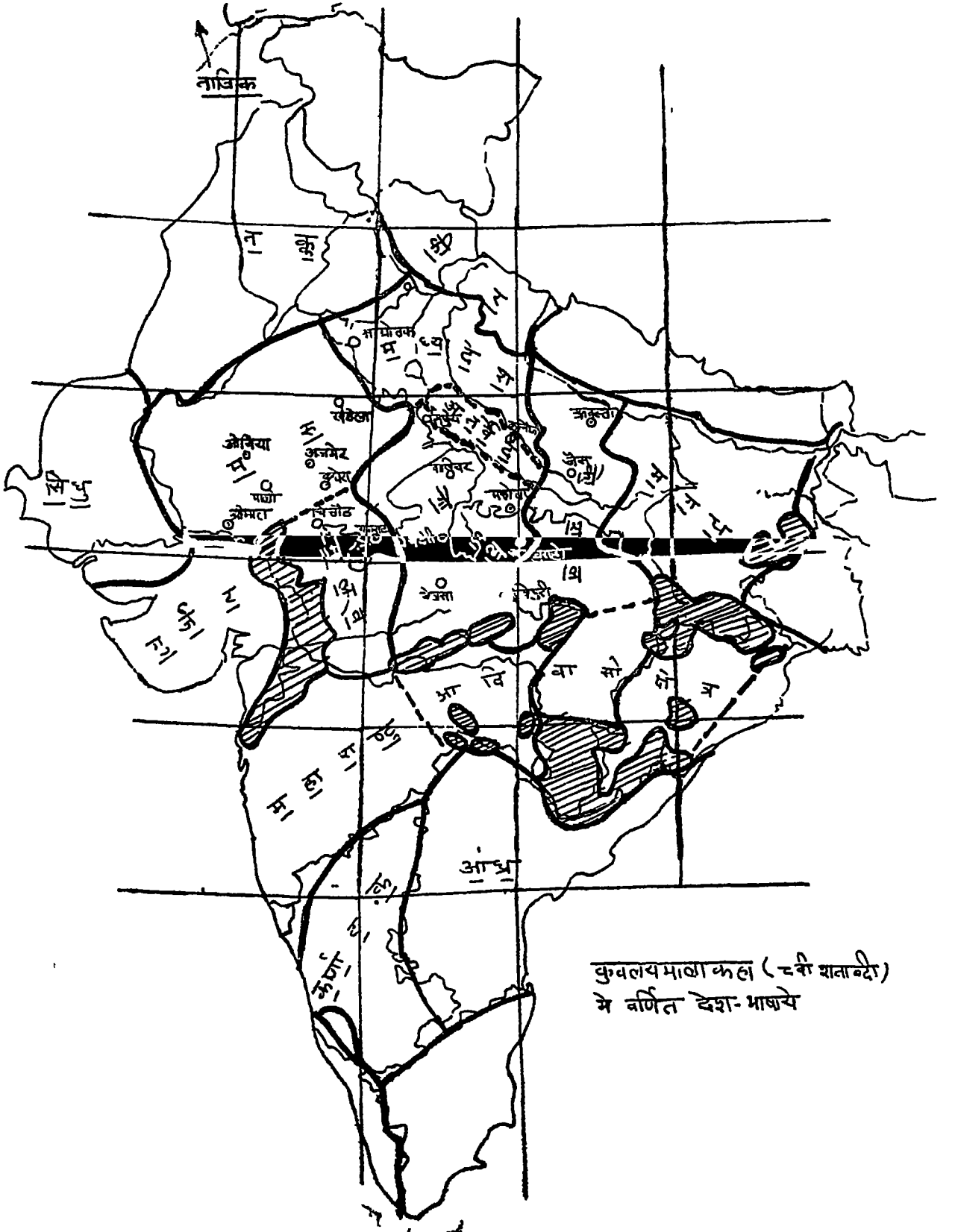
पूर्ण स्थान थे न ही अधिक आवागमन था। सम्भवत' इसी कारणसे इस क्षेत्रको उपरोक्त देशभाषाओमें शामिल नही किया गया। बगाल, उत्कल, तमिलनाडु व केरल दूरस्थ होनेके कारण उपरोक्त सूचीमें नही जोडे गये। यहाँपर एक भ्रातिका निराकरण आवश्यक है। महाभारतमे व बौद्ध ग्रन्थोके सोलह महाजनपदोकी सूचीमे चेदिका उल्लेख है। इमे लेखकोने बुन्देलखण्ड माना है।[33, 28] परन्तु यह सही प्रतीत नही होता। चेदि जातिका प्राचीन स्थान कुरु (दिल्लीके आसपास) व वत्स (कौशाम्वी के आसपास) के वीच, यमुनाके किनारेपर था, व इसकी राजधानी शुक्तिमति (या सोत्थिवती) थी जो वर्तमान वाँदा जिलेमे है। इनकी ही एक शाखा कलिंगमे जा वसी, जिसमे महामेघवाहनका प्रतापी वशज खारवेल (ई० पू० प्रथम शताब्दी) हुआ। ई० ५८० से १२१० के बीच कलचुरिया वशका राज्य (जवलपुर, सतना आदि जिले) चेदि कहलाया।

बाँदा जिलेकी भाषा वुन्देली नही है, वल्कि पूर्वी हिन्दी है। कलचुरियोके राज्य क्षेत्रकी वर्तमान भाषा बघेली व छत्तीसगढी हैं। वर्तमान बुन्देलखण्डका थोड़ासा ही भाग प्राचीन चेदि जनपदमे था। कलचुरियोका बुन्देलखण्डपर राज्य बहुत ही थोडे समयके लिये था। स्पष्ट है, बुन्देलखण्डका अधिकाश भाग चेदि कभी नही कहलाया। सम्भवत केन नदी चेदिकी पूर्वी सीमा मानी जानी चाहिये।

गोल्लादेशका इतिहास

गोल्लादेशके उल्लेख बहुत कम मिलते हैं। इसका प्रमुख कारण नवमी-दसवी शताब्दीमें इसका नाम बदलकर जैजाकभुक्ति हो जाना रहा था। गोल्लादेश नाम कैसे हुआ व कब हुआ, ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं।

भारतमे कई प्रदेशोका नाम शासक जातियोके कारण पडा है। गुजरात (व पजाबमे गुजरात नामक विभाग) गूजर या गुर्जर जातिके कारण हुआ है। मालवा मालव-जातिके कारण, आध्र आध्र-जातिके कारण कठियावाड काठी जातिके कारण व सौराष्ट्र सौराष्ट्र-जातिके कारण कहलाये। रुहेलखड, बुंदेलखड, बघेलखड, गोडवाना, राजपूताना आदि नाम भी जातियोके कारण हुए। यह प्रतीत होता है कि गोल्ला देश भी किसी प्राचीन गोल्ला जातिके कारण कहलाया। इन सभी स्थानोमें प्राचीन कालमें राज्य करने वाली जातियोके अलावा बहुत सी अन्य जातियाँ रहती है जिनका प्राचीन राज्यकरने वाली जातियोसे कोई सवध नही हैं। उदाहरणके लिये गुजरातको अधिकतर जातियोका गूजरोसे कोई सवध नही हैं, फिर भी वे गुजराती या गुर्जर कहलाती है। इसी प्रकारसे प्राचीन गोल्ला जातिका वुन्देलखडको जैन जातियोका कोई सबध नही है।

गोल्ला सस्कृतके गोप या गोपालका ही रूप है। हिंदीमें गोपालका रूपातर ग्वाल है। दक्षिण भारतमे गोपालका रूपातर गोल्ला है, वहाँ की कई जातियोके चरवाहे गोल्ला कहलाते है। प्राचीन कालमे गोप जाति-का उल्लेख श्रीकृष्णके साथ हुआ है।

गोप जाति व आभीर जाति प्राचीन कालमे एक ही थी या नही, यह कहना मुश्किल है। आभीर जातिका उल्लेख पातजलिके महाभाष्यमे, महाभारतमे व प्राचीन यवन (ग्रीक) लेखको द्वारा भी हुआ है। ई० १८१ के एक लेखमे शक महाक्षत्रप रुद्रसिंहके आभीर सेनापति रुद्रभूतिका उल्लेख है। आभीर राजा ईश्वरसेनके कालमे किसी शक महिला द्वारा दिये दानका उल्लेख है। पुराणोमें ६७ वर्ष जिन १० आभीर राजाओका उल्लेख हैं, वे शायद ईश्वरसेनके ही वशके हो। किसी-किसीके मतसे इसने ही कलचुरि सवत् चलाया था[6, 33]। समुद्रगुप्तके ई० ३५०के लेखमे आभीर आदि जातियोपर शासनका उल्लेख है। ई० १२०० के एक लेखमे देवगिरिके यादव सिंघण-त्रिभुवनमल्लके सेनापति खोलेश्वर द्वारा आभीर आदि जातियोपर विजयका उल्लेख है। ई० छठवी शताब्दीमे गोप व आभीर शब्दोका समान अर्थमे उपयोग होने लगा। वर्त-मानमें अहीर या ग्वाल भारतके कई भागोमे वड़ी सख्यामें रहते हैं[8]। आभीरोका राजपूतोसे प्राचीन कालसे

सबध रहा है। हो सकता है कि कुछ राजपूत कुल आभीरोसे ही निकले हो। राजपूतोमे एक गोला जाति है जो राजपूत राजपरिवारोकी सेवा करती थी[२]। बुन्देलखडके अहीरोमें एक दौआ अहीर होते है। बुन्देले राजपूतोंमे इसी जातिकी दाईयाँ रखी जाती थी।[१६]

गोल्ला देश नाम प्राचीन कालमे ग्वालोके कारण पडा, इसका सकेत इन तथ्योसे मिलता है।

१, आगरा जिलेमे व आसपास काफी अहीर बसते है।[८]

२. ई० १९३१ की जनगणनाके अनुसार, टीकमगढ जिले (ओरछा रियासत) में भूस्वामी जातियोमे अहीर सर्वाधिक है।[८]

३. झाँसी जिलेका एक दक्षिणी भाग अहीरवाड कहलाता है। [१६,३३]

४. सागर जिलेमे खुरईके आसपास ग्वालोका राज सत्रहवी शताब्दीके अत तक रहनेके जनश्रुति है।[१६]

गोल्लादेश नाम कितना प्राचीन है? महाभारतके भीष्मपर्वमे बहुत बडी सख्यामे जनपदोके नाम दिये गये है।[34] इनमे दोके नाम गोपालकच्छ व गोपराष्ट्र है। गोपालकच्छ कच्छके आसपासका कोई स्थान होगा जहाँ गोप जातिका प्रभाव रहा होगा। गोपराष्ट्र गोलाराडका सस्कृत रूप मालूम होता है। यह वही स्थान होना चाहिये जहाँसे गोलाराडे (गोलालारे) जाति निकली हैं। कालातरमे गोल्ला देशकी सीमा दशार्ण (भेलसाके आसपास) तक फैल गई।

यहाँ ग्वालियरका उल्लेख आवश्यक है। ग्वालियर शब्दकी उत्पत्ति किसी ग्वालिप ऋषिसे बताई जाती है। पर प्राचीन लेखोमे इसे गोपाद्रि या गोपाचल कहा गया है। ये ग्वाल-गढके ही सस्कृत रूपातर है।[५] यह ग्वाल जातिके कारण ही ग्वालगढ या गोपाद्रि कहलाया है। ग्वालियरके जिलेमे प्राचीनतम लेख हूण (शक) तोरमाण व उसके पुत्र मिहिरकुलके है। तोरमाण पजाबमे शाकल स्थानका राजा था, स्कंदगुप्तकी मृत्युके बाद उसने भारतके मध्य-भागपर अधिकार कर लिया। कुवलयमाला-कहा (ई० ७७९) के अनुसार तोरमाण हरिगुप्त नामके जैन आचार्यका अनुयायी था। इसके एरण (जि० सागर) के पास ई० ४९५ का लेख व सिक्के मिले है।

ई० ५३२ के आसपास कोस्मस इडिकेप्लूस्तेस नामके ग्रीक लेखकने अरब, फारस, भारत आदि देशोकी यात्राका विवरण लिखा है।[3५] इसने "गोल्लास्" नामके किसी शक्तिशाली राजाका उल्लेख किया है। ग्रीक भाषामे नामोके बाद स् लगता है (जैसे सस्कृतमे विसर्ग लगती है), इस कारणसे नाम गोल्ला होना चाहिये। इतिहासकारोका अनुमान रहा है कि यह राजा मिहिरकुल ही है जिसे ई० ५३३ के एक लेखके अनुसार यशोधर्माने परास्त किया था। मिहिरकुल शब्दके कुल या गुलसे ही गोल्ला शब्द बना था, ऐसा अनुमान किया गया है। परन्तु उपरोक्त अध्ययनसे यह अधिक सभव लगता है कि मिहिरकुलको गोल्ला देशका अधिपति होनेके कारण गोल्लास् कहा गया हो।

नौवी शताब्दीके आरभमे गोल्लादेशके अधिकतर भागपर चदेलोका अधिकार हो गया। चदेलोकी उत्पत्ति स्पष्ट नही है, पृथ्वीराजरासोके महोबाखडमे इनकी उत्पत्तिके बारेमें एक कहानी बताई गई है, पर वह काल्पनिक है। कुछ इतिहासकारोका अनुमान है कि इनकी उत्पत्ति गोड जातिसे हुई थी। यह अनुमान इनका विवाह सबध गोडोके साथ होते रहनेसे किया गया है। आरंभमें ये गुर्जर-प्रतिहारोके अधीन थे, पर ई० ९५५ के आसपास स्वतत्र हो गये। इनकी राजधानी महोबा व खजुराहोमें थी जहाँ इनके बनवाये अनेक भव्य हिंदू मदिर विद्यमान है, कालजरके प्रसिद्ध किलेपर इनका अधिकार था। धग (लगभग, ई० ९५५-१००२) व विद्याधर (लगभग ई० १०१९-१०३७) के समयमे इनके राज्यका काफी विस्तार हुआ। गजनीके सुबुक्तगीनने जब भारतपर आक्रमण किया, तब धगने लाहौरके जयपाल आदि भारतीय राजाओके साथ

मिलकर उसका मुकाबिला किया था। इनके राज्यका अधिकतम विस्तार उत्तरमें अहिच्छत्रसे मिथिला तक व दक्षिणमें नर्मदा नदी तक रहा था[८], पर स्थायी अधिकार बुन्देलखडके आसपास ही रहा था। यही भाग जैजाकभुक्ति कहलाया।

अनेक चंदेल राजाओंके समयमें जैन मूर्तियोकी प्रतिष्ठा हुई। मदनवर्माके राज्य कालमे प्रतिष्ठित जैन मूर्तियोकी सख्या आश्चर्यजनक है। अहारका प्राचीन नाम मदनसागर या मदनेशसागर था। यह स्थान मदनवर्माके द्वारा ही बसाया गया प्रतीत होता है। इस स्थानपर गोलापूर्व, जैसवाल, गृहपति, पौरपाट, खण्डेलवाल, मेडवाल, लमेचू, मइडित, माधुव, गोलाराड, गगेराट, वैश्य, माथुर, महेशपउ (माहेश्वरी), देउवाल व अवधपुरा इन जातियो द्वारा प्रतिष्ठापित जैन मूर्तियाँ पाई गई है।[२७] दूर-दूरसे आकर यहाँ जैनोने प्रतिष्ठायें क्यों कराईं, यह स्पष्ट नही है। किसी भी अन्य स्थानपर इतनी सारी जैन जातियोके लेख नही मिले है। हो सकता है कि किसी कारणसे यह प्रसिद्ध तीर्थ बन गया हो या व्यापारका केन्द्र हो गया हो। यह तो स्पष्ट है कि मदनवर्मा जैनधर्मका सरक्षक था। यह सम्भव है कि मदनवर्मा ही वह चन्देल नरेश हो जो दीक्षा लेकर गोल्लाचार्य कहलाया। एक महत्त्वपूर्ण राजवशके नरेश द्वारा जैन दीक्षा लिया जाना असम्भव नही है। मान्यखेटके राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (ई० ८१४-८७८) जिनका राज्य दक्षिणापथके अधिकतर भागपर था, ने भी ई० ८६० के आसपास राजपाटका त्याग कर दिया था व सम्भवत दीक्षा ले ली थी।[३८] मदनवर्माके समयमें ही गुजरात व राजस्थानके शासक अणहिलपाटकके चालुक्य कुमारपाल (ई० ११४३-११७२) जैनधर्मके पालक व महान् सरक्षक थे।[९] यदि मदनवर्मा ही गोल्लाचार्य थे, तब जैन दीक्षा धारण करने वाले अन्तिम मुकुटबद्ध (स्वतंत्र) राजा मदनवर्मा थे, न कि चन्द्रगुप्त मौर्य (जैसा कभी-कभो माना जाता है)। जैनधर्मकी रक्षाका श्रेय गुजरात-मारवाडमे कुमारपालको व दक्षिणमे अमोघवर्षको दिया जाता है। सम्भव है, बुन्देलखण्डमें जैनधर्मकी रक्षा मदनवर्मा द्वारा हुई हो।

मदनवर्माके पुत्र परमार्द्धि (या परमाल) के कालमे चाहमान पृथ्वीराजने आक्रमण किया। इसका विवरण पृथ्वीराज-रासो व आल्ह-खंडमें हुआ है। कालान्तरमें इनकी शक्तिका क्षय हो गया। ई० १३१५ के आसपास हुए वीरवर्माके बाद इनकी हैसियत जमीदारो जैसी ही रह गई। गढमडल (गोडवाना) की रानी दुर्गावती, जिसकी ई० १५६४ में आसफखाँसे लडाई हुई थी, के पिता कीरतराय इसी वशके थे।

जब चन्देलोका क्षय हो रहा था, तब क्रमश बुन्देलोका उदय हुआ। सन् १५३१ में रुद्रप्रतापने ओरछाकी स्थापना की व उसे राजधानी बनाया। सभी बुन्देले राजपरिवार रुद्रप्रतापके ही वशज है। इन्हें गाहड्वालों व स्थानीय योद्धा जातियोसे उद्भूत कहा जाता है। अन्य राजपूतोमे सामान्यत विवाहके लिये कुल टाला जाता है, पर बुन्देलोका विवाह बुन्देलोमें ही होता है। बुन्देल वशके राजा निर्भीक व स्वाभिमानी प्रवृत्तिके रहे है। इनमेंसे कई मुगलोके महत्त्वपूर्ण मनसबदार रहे हैं, फिर भी उनका मुगलोसे विद्रोह व सघर्ष ही चलता रहा था।[४०] बुन्देले शासकोमें परस्पर फूट रहनेके कारण बुन्देलखण्डमे कभी लम्बे समय तक शान्ति नही रही। मराठोके समयमें बुन्देलखण्ड क्रमश मराठोंके अन्तर्गत हो गया।

ब्रिटिश राज्य हो जानेपर, सागर व दमोह जिलोमें स्थायी शासन हुआ व रेल आदिके कारण सचार व्यवस्था हो गई। बुन्देलखण्डके आन्तरिक भागोसे यहाँ जैन बडी सख्यामें आकर बसने लगे।

गोलापूर्व जातिका उद्भव और विकास

ऊपरके विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोलापूर्व जैन बारहवी शताब्दीमे पपौरासे धामोनीके बीच रहते थे, व कम से कम डेढ-दो सौ वर्षोंसे इनका वही निवास था। गोल्ला देशके उत्तरी भागमे रहनेवाली गोलालारे व गोलापूर्व ब्राह्मण जातियोसे इनका क्या सबध है, इस पर विचार आवश्यक है।

यदि एक ही क्षेत्रमे बसी दो जातियोका स्वतत्र अस्तित्व है तब यह माना जाना चाहिये कि उनमे कुछ अन्तर अवश्य है । पर यदि दो एक जेसी जातियाँ अलग-अलग स्थानोमे बसी हो, तब यह सभव है कि वे कभी एक ही रही हो । गोलापूर्व जाति गोल्ला देशके दक्षिण-पूर्वी भागमे बसी है, जबकि गोलाराडे जाति उत्तरी भाग मे । हो सकता है कि वे एक ही जाति रही हो व अलग-अलग स्थानोमे बसनेके कारण अलग-अलग नामोका प्रयोग करने लगी हो । दोनो जातियोमे दो-एक गोत्र एक ही है । पर इससे इनका एकत्व सिद्ध नही होता । हो सकता है कि एक जातिके कुछ लोग दूसरी जातिके क्षेत्रमे जा बसे हो व उनकी धर्मरक्षाके लिये दूसरी जाति वालोने उन्हे अपनेमे मिला लिया हो । इस प्रकारका खडेलवाल जैनोंके बारेमें सुननेमे आता है । बीजावर्गी जातिमे जैनोकी सख्या कम होनेसे उन्हे खडेलवालोने अपनेमे मिला लिया । गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे तीनो जातियोका इक्ष्वाकु वशसे उत्पन्न कहा गया है, गोलापूर्वोको ई० १८५० के द्रोणागिरके लेखमे, गोलालारोको ई० १४५४ के नागकुमारचरितमें, व गोलसिंघारोको ई० १६४० के ग्वालियरके एक यंत्र लेख मे[२५] । परन्तु इन लेखोके प्राचीन न होनेसे इन्हे अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता । गोलापूर्व व गोलालारे जातिका ११वी १२वी शताब्दीसे अलग-अलग अस्तित्व रहा है । ये दोनो जातियाँ कभी एक थी, ऐसा प्रामाणित नही किया जा सकता, पर असम्भव भी प्रतीत नही होता । नवलसाह चदेरियाने जिस गोयलगडका उल्लेख किया है वह ग्वालियर ही प्रतीत होता है । हो सकता है कि गोल्लापूर्व जाति ग्यारहवी शताब्दी के कई सौ वर्ष पहले ग्वालियरके आस पास रहती हो व गोलालारे जातिसे इसका कोई सम्बन्ध रहा हो । गोलसिंघारे जाति लघुसख्यक है (सन् १९१४ में सिर्फ ६२९) व इनका निवास भिडके पासमे ही रहा है । इस कारणसे गोलसिंघारे गोलालारोकी ही शाखा हो, यह सम्भव है ।

कुछ लेखकोने यह सभावना व्यक्त की है कि गोलापूर्व जेन व गोलापूर्व ब्राह्मणोमें कुछ सम्बन्ध रहा हो[१५, १६] । पर यह सभव नही लगता । एक ही नामकी कई ब्राह्मण व बनियाँ जातियाँ है जो पूर्णत. स्वतत्र हैं । गोलापूर्व जैनोमे इक्ष्वाकु जातिसे उत्पन्न होनेकी परपराके कारण ने ब्राह्मणोसे उद्भूत नही लगते । गोलापूर्व ब्राह्मण कृषिसे जीविकोपार्जन करते है, इस कारणसे इन्हें अन्य ब्राह्मणोसे नीचा माना जाता है। कुछ लेखकोने इन कारणोसे इनके ब्राह्मण न होनेकी शका व्यक्त की है ।

१ ये कृषि करते है, वेदोका अध्ययन आदिकी इनमे परपरा नही है ।
२. इनके गोत्रोमेसे बहुतोके नाम ऋषियो पर नही, ग्रामो आदिके नामो पर आधारित है ।
३. इनमे बीसा-दसाका भेद है । ये मास, प्याज, लहसुन नही खाते है । इनका यह व्यवहार वनियोकी तरह है ।[१६]

ध्यानसे विचार करने पर यह शका गलत मालूम होती है । इनका आचार-व्यवहार ठीक सनाढ्य ब्राह्मणो जैसा है व ये उनसे ही उत्पन्न माने जाते है ।[२] कई जातियोंमें दोहरी गोत्र परपरा रही है । एक विभाजन संस्कृत गोत्रो द्वारा होता है व दूसरा देशी-भापाके । देशी-भापाके गोत्र अक्सर पुर, मूल आदि कहलाते है । बिहारके सकलद्वीपी ब्राह्मणोमें, पंजावके सारस्वत ब्राह्मणोमे व उ०प्र० व विहारके भुँइहर ब्राह्मणोमें इसी तरहके दोहरे गोत्र है ।[३८] व्यवहारमें देशी-गोत्रोको टालना संस्कृत गोत्रोको टालनेसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है । गोलापूर्व ब्राह्मणोमे जो स्थान सूचक नाम है, वे देशी-भापाके गोत्र हैं । कान्यकुब्ज ब्राह्मणोंमे भी दोहरो गोत्र परपरा होनेके सकेत मिलते है ।[२०] दस-बीसा भेद कान्यकुब्ज ब्राह्मणोंमे भी है जो वनियोंके भेदसे भी अधिक सूक्ष्मतासे प्रयुक्त होता है । इनमे 'विश्वा' सिर्फ १० व २० ही नही बल्कि ५,७, १८, १९ आदि भी होते है । कान्यकुब्जवश प्रवोधिनी व ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तंडमें सभी कान्यकुब्जोके विश्वा दिये है ।

उपरोक्त कारणोसे गोलापूर्व जैनो व गोलापूर्व ब्राह्मणोमे कोई सबध प्रतीत नही होता। गोलापूर्व-ब्राह्मणोके एक-दो गोत्र जैनोके गोत्रोसे मिलते-जुलते हैं, पर यह संयोग ही लगता है।

नवलसाह चदेरियाने गोलापूर्व जातिको तीन भागोमे विभक्त कहा है विसविसे, दशविसे व पचविसे। वर्तमानमे दशविसे सुननेमे नही आते। इस बारेमे कल्पना की गई है[१५] कि किसी समय कोई विवाद हुआ जिससे जाति तीन भागोमे बट गई। एक भागमें २० × २० = ४०० घर थे, दूसरेमे १० × २० = २०० व तीसरेमे ५ × २० = १०० घर। इनसे ही तीन भेदोकी उत्पत्ति हुई। परन्तु लगभग सभी बनिया जातियोमे इस प्रकारका भेद देखते हुए यह कल्पना सही नही लगती। गोलापूर्वोमें सिर्फ १ ८%पचविसे हैं (सन् १९१४ मे १९४) बाकी ९९.२% सामान्य हैं। पचविसोमें सिर्फ ८ गोत्र है। ये केवल २३ ग्रामोमे बसते थे जो अधिकतर रहली तहसील (जि० सागर), हटा तहसील (जिला दमोह) व जबलपुर जिलेमें हैं। पचविसे यहाँ काफी समयसे बसे हैं। बहुतसे सम्पन्न हैं व मन्दिरोके निर्माता हैं। इस क्षेत्रमे अन्य गोलापूर्व पिछले डेढ-दो सौ वर्षोंसे ही आकर बसे हैं, जबकि पचविसे बहुत पुराने समयसे वहींके वासी हैं।

दमोह व जबलपुर जिले डाहल मडलमें है, यहाँ कलचुरि-चेदि राज्य था, कलचुरियोके राज्यकालकी बडी सख्यामें जैनमूर्तियाँ पाई गई है। इनमेसे कई भव्यजिनबिब कुँडलपुर, बहोरीबद, कटनी, जबलपुर व सतनाके मन्दिरोमें हैं। इनमे अधिकतरमे लेख नही है। ये किस जाति द्वारा स्थापित की गयी यह ज्ञात नही है, वर्तमान यहाँके सभा जैन अन्यत्रसे आकर बसे मालूम होते है। केवल बहोरीबदकी मूर्ति पर गोलापूर्व जातिका उल्लेख है। यह असभव नही है कि पचविसे उन गोलापूर्वोके वशज हो जो यहाँ प्राचीनकालमे आकर बसे हो।

अधिकतर बनिया जातियाँ श्रेणियोमे विभक्त है। ये उदाहरण द्रष्टव्य है।[१३,१७]

गोलापूर्व . विसविसे, दशविसे (लुप्त), पचविसे, बिनैकया।

परवार . अष्टशाख, चौसखा, लुहरीसेन (बिनैकया)।

अग्रवाल बीसा, दसा, पचा।

हूमड बीसा, दसा।

श्रीमाली . बीसा, दसा।

ओसवाल बीसा, दसा, पाँचा, अढाइया।

गहोई · बीसा, दसा, पचा।

नेमा बीसा, दसा, पचा।

पोरवाल · बीसा, दसा, पाँचा।

खंडेलवाल . एक ही श्रेणी।

लघुश्रेणियोकी उत्पत्तिके बारेमें कई कहानियाँ कही जाती है। इनका सार यह है। उत्तमश्रेणी बीसा कहलाती, यह अक पूर्णता या शुद्धताका द्योतक है। जो बीसासे जातिच्युत हुये वे दसा कहलाये। जो ऐसे संबंधकी सतान है जो जातिमान्य नही है (विधवा या अस्वीकार्य जातिकी पत्नी) वे लघुश्रेणीके माने जाते है। जिसने लघुश्रेणीके साथ व्यवहार रखा, वे भी लघुश्रेणीमें माने गये। जो ऐसे स्थानोमें जाकर बसे जहाँ जातिका निवास नही है उन्हे भी जाति-च्युत माना जाता था। जो दसा श्रेणीसे जातिच्युत हुआ वे पचा कहलाये। परपरागत रूपसे विवाह अपनी ही श्रेणीमें होता था, पर किसी जातिके पक्तिभोज (पक्की पगतमे) मे सभी श्रेणियोको साथ बैठनेका अधिकार रहा है।[१३,१६] धर्माचरण, मदिर आदि

बनवानेका अधिकार भी सभी श्रेणियोको रहा है। कालातरमे लघुश्रेणियोका सम्मान वढता जाता है और वे अन्तत. उत्तम श्रेणीके बरावर हो जाती है।[१३,१६] ऐसा माना गया है कि लघुश्रेणीके परिवारोके कई पीढियो से सम्मानपूर्वक रहनेसे वे उच्चश्रेणीमे मिल जाते है। वर्तमानमे कई जातियोमे बीसा-दसाका भेद महत्त्वहीन हो गया है जो उचित ही है। जातियोके सास्कृतिक व धार्मिक अस्तित्वकी रक्षामे लघुश्रेणियोका वडा योग-दान रहा है। लघुश्रेणियोके अस्तित्वसे लोग जातिच्युत होकर भी जातिके सदस्य रहे। हूँमड जातिमे दसा श्रेणी बीसा श्रेणीसे दस गुनी है, हूँमड जातिका अस्तित्व बने रहनेमे दसा श्रेणीका ही योग सर्वाधिक रहा है।

गोलापूर्वोमे दशविसे श्रेणीका अस्तित्व नही रह गया है। सम्भवत डेढ-दो सौ वर्ष पहले इस श्रेणी-को मुख्य श्रेणीमे मिला लिया गया। पचविसे दूरके स्थानोंमें बसे होनेसे उनका अलग अस्तित्व वना रहा। ई० १९२१ मे एक कमेटी ने पचविसोमे समान संस्कार व धर्माचरण देखकर यह निश्चित किया कि इनसे व अन्य गोलापूर्वोमें विवाह सवध उचित है। तवसे पचविसो व अन्य गोलापूर्वोमे भेद समाप्त माना जाना चाहिये। जो अभी कुछ ही पीढियोसे जाति च्युत हुए है उन्हे बिनैकया कहते है। इनके साथ विवाह संवध करनेमे सकोच किया जाता है। इनकी सतति कालान्तरमे पुन. मुख्य श्रेणी में आ जायेगी।

विभिन्न श्रेणियोकी उत्पत्ति कब हुई, यह कहना मुश्किल है। कान्यकुब्जोमे सैकडो वशकर्ता पुरुषोके अलग-अलग विश्वा निश्चित है।[२०] किसी-किसीके मतसे ये ई० ११७९ मे कन्नौज नरेश गाउडवाल जयचदके समयमे निर्धारित किये गये। पर ये किसी प्राचीन वशावलीमें नही पाये गये है। पोरवाल (पोरवाड) मे दसा-बीसा भेद ई० १३वी शताव्दीसे वस्तुपाल-तेजपालके समयसे कहा जाता है।[१३] वस्तुपाल-तेजपाल दोनो भाइयोने आबूके प्रसिद्ध देवालयोका निर्माण कराया था। इनके पिता असराजने श्रीमाल जातिकी बालविधवा कुमार-देवीसे विवाह किया था। विधवा विवाह पर बन्धन धार्मिक नही, सामाजिक रहा है। दक्षिणभारतके सेत-वाल, चतुर्थ, पचम, वोगार आदि कई जैन जातियोमे विधवा विवाह परंपरागत रूपसे होता आया है।[१३] सभवत इसी कारणसे दक्षिणमे वीसा-दसाभेद नही है। यह सम्भव है कि गोलापूर्व व अन्य जातियोमे श्रेणी-भेद १२वी-१३वी शताव्दीमें उत्पन्न हुआ हो। खडेलवालोमें भी श्रेणियाँ रही होगी, पर जब उनका शेखावाटीके बाहर व्यापक प्रसार हुआ होगा, तव लुप्त हो गयी होगी।

गोलापूर्व जातिकी उत्पत्ति ईक्ष्वाकु कुलसे कही गई है। वास्तवमे कुछ जातियोको छोडकर सभी पुरानी बनिया जातियोकी उत्पत्ति क्षत्रियोसे कही जाती है। इन जातियोकी उत्पत्ति इनसे वताई जाती है[१०,१३,१७,३९]।

गोलापूर्व ईक्ष्वाकु।
गोलालारे ईक्ष्वाकु।
गोलसिंघारे ईक्ष्वाकु।
जैसवाल . यदु।
लमेंचू · यदु।
अग्रवाल . यदु (गर्ग गोत्र)
ओसवाल पँवार, सोलकी, भट्टी आदि अग्निकुलके राजपूत।
पोरवाड . गुर्जर जाति।
खडेलवाल · सोम, हेम, चौहान, राठोर, चन्देल, कछवाहा आदि राजपूत कुल।
माहेश्वरी · राजपूत (कई कुल या केवल झाला)

बघेरवार · कई राजपूत कुल।
पल्लीवाल · बड़गूजर राजपूत।
परवार राजपूत।
असाटी किमान–संभवतः अहीर।

राजस्थानकी अधिकतर जैन जातियाँ राजपूतोंसे उत्पत्ति बताती हैं। परन्तु बहुतसे राजपूत घरानो (कछवाहा, भट्टी आदि)का उद्‌भव उसी समय हुआ जब बनियोका उद्‌भव हो रहा था। शिलालेखो के अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि कुछ प्राचीन कुलोको छोडकर, अधिकतर राजपूत कुल काफी बादमे उत्पन्न हुए। चन्देलोके उल्लेख ९वी शताब्दीके आरम्भमें, कछवाहोके १०वी शताब्दीके मध्यमे, मिलते है। राजपूत कुल स्वतंत्र जातियाँ नही थी, बल्कि परिवार थे। उत्तम राजपूतोंमे आज भी कुलका गोत्रकी तरह प्रयोग होता है। बनिया जातियोकी उत्पत्तिके समय (१०वी शताब्दीके आसपास) यह सम्भव नही लगता कि राजपूत कुल दूर-दूर जाकर बस चुके हो वे एक ही स्थानमें अनेक कुलोंके राजपूत बसे हो। यह अवश्य सम्भव है कि बनियोकी उत्पत्ति उन्ही जातियोंसे हुई हो जिससे राजपूत उत्पन्न हुए हैं।

गोलापूर्व आदि जातियोके ईक्ष्वाकु या यदु कुलोंसे उत्पत्तिके उल्लेख प्राचीन नही है अत उन्हे विशेष महत्त्व नही दिया जा सकता। यदि प्राचीन उल्लेख मिले तो भी उन्हें प्रामाणिक नही माना जा सकता क्योकि प्राचीन क्षत्रियोके राज्यकाल व बनिया जातियोकी उत्पत्तिमे करीब डेढ हजार या अधिक वर्षोंका अन्तर है। दक्षिण भारत के कुछ राजवंशोने ईक्ष्वाकु व यादव शब्दोका प्रयोग किया था। आन्ध्रमे तीसरी शताब्दीके मध्यमे एक राज्यकुल ईक्ष्वाकु कहलाता था। जिला रायपुरमे श्रीपुर (सिरपुर) स्थानमें ५वीसे १०वी शताब्दीके बीच सोमवशी या पाडुवशी (अर्थात् यदुकुलके) कुलका अस्तित्व रहा है। ग्यारहवी शताब्दीमें बगालमे यादव नामका राजकुल रहा है। परन्तु इनकी भी उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियोंसे निश्चित नही है। पर ईक्ष्वाकु व यदु कुलोके वशज अवश्य रहे होगे व कुछ बनिया जातियोकी इनसे उत्पत्ति असभव नही है।

कई अन्य जातियोकी तरह गोलापूर्वोंमें भी दोहरी गोत्र परपरा रही है। नवलसाह चदेरियाने अपना गोत्र प्रजापति व बैक चदेरिया लिखा है। वर्तमानमें गोलापूर्वोमे दोहरी गोत्र परम्पराका कोई स्मरण नही है और न ही प्रजापति गोत्रका अस्तित्व है। नवलसाहने वर्धमान पुराणमें ५८ बैक (गोत्र) की एक सूची दी है। इसमें एक या दो गोत्र गलतीसे दो बार गिन लिये गये है। नवलसाहका गोत्रोके नामोका संग्रह पूरा नही था। कालातरमें किसीने इस सूचीमें सशोधन करके कुछ गोत्रोके नाम निकालकर कुछ अन्य नाम जोड दिये। वर्धमानपुराणकी जिस प्रतिका उद्धरण गोलापूर्व डायरेक्टरीमे है वह सशोधित प्रति है। सशोधनकारने बैक शब्दके स्थानपर गोत्र शब्दका प्रयोग किया है व सवैया इकतीसा छदमे एक जगह "ठीक कीजिये" जोडा है। मुद्रित वर्धमान पुराण मूल प्रतिपर आधारित है।

सभी प्राप्त गोत्रावलियोको देखकर लगता है कि गोत्रोकी कुल संख्या ७२ के आसपास तक रही है। गोलापूर्व डायरेक्टरीकी जनगणनामे केवल ३३ ही गोत्र मिले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गोत्रोकी सख्या घटती बढती रही है। कुछ परिवार अपने स्थानके नामका प्रयोग करने लगे व कालातरमे उस स्थानके नामपर नया गोत्र बन गया। कुछ गोत्र व्यवसायके कारण बन गये होगे। किसी-किसी गोत्रके सभी परिवार विप्लव, महामारी या दुर्भिक्षमें मारे गये। कुछ गोत्र सम्भवत अन्य जातियोमें मिल गये हो। अहारके ई० १६६३ के लेखमे गोलापूर्व जातिमे पैथवार गोत्रका उल्लेख है, यह सभी गोत्रावलियोमें भी है पर अब नष्ट हो चुका है। सन् १९४१ में छोडकटे केवल १६ व पञ्चरत्न केवल १३ थे। दुगैले गोत्रका केवल एक व्यक्ति था।

कई जातियोमें गोत्रोके नामोके अर्थका अनुमान लगाया जाना असभव या कठिन है। अग्रवालोमे गोइल (गोयल), सिंघल, कसिल, जिंदल, मित्तल आदिकी उत्पत्तिका अनुमान लगाना मुश्किल है, संभव है कि ये गर्गकी तरह ब्राह्मण ऋषियोके नामपर आधारित हो।[१३] इसी प्रकार परवारोमे गोइल्ल, भारिल्ल, वाझल्ल आदि शब्दोकी उत्पत्तिका अनुमान कठिन है। गोलापूर्वोमे कुछ गोत्रोके नामोके अर्थका अनुमान किया जा सकता है। गोत्रोको इन भागोमे विभाजित किया जा सकता है।

(१) आजीविकाके आधारपर —वर्तमान कपासिया, कोठिया, सनकुटा, करैया। लुप्त, गोरिहा, सोनी। सौनारे गोत्र गोलालारोमे व सोनी गोत्र खडेलवालोमे व ओसवालोमे भी है। खंडेलवालो व ओसवालोमे सोनी गोत्रको सोनीगरा चौहानोसे उत्पन्न कहा जाता है,[२४] पर यह सोनेके व्यवसायसे ही सम्बन्धित है।

(२) याकारात ' उनमेसे अधिकतर स्थानोके नामपर आधारित होते हैं। वर्तमान—कनकसेनया, गुगौरया (या गुबारया), चदेरिया (चदेरीके), जुझौतिया (संभवत खजुराहो - महोबा तरफके), धवौलिया, पटौरिया, पतरिया, बनोनया, बिलबिलया (या बिलबिले), भिलसैया (भेलसी ग्राम या भेलसाके), मरैया (मरौराके)। लुप्त—कनकपुरिया, कहारिया, कोनिया, खैरानिया, जतरिया, दरगैया, धमौनिया (धामोनीके), पिपरैया, पपौरहा (पपौराके), बडघरिया, भरतपुरिया, मझगैया, लखनपुरिया, सपौलिया (या सपेले), सिरसपुरिया, सोरया, सौतिया व हीरापुरिया (हीरापुरके)। इनमेसे अधिकतर स्थान गोलापूर्वोके केन्द्रीय स्थान (पपौरा, धमोनी आदि) में ही होना चाहिये। अगर इनमेसे कुछ स्थान भिड-ग्वालियरके आसपासके सिद्ध होते है तो इससे दो निष्कर्ष निकल सकते हैं—या तो गोलापूर्व वास्तवमें ग्वालियरके आसपासके वासी थे, और या इन स्थानोके गोलालारे दक्षिणमें आ बसे व कालातरमे गोलापूर्वोमे मिल गये।

(३) ले या ऐकारात —इनमेसे कुछ स्थान सूचक प्रतीत होते है जैसे वर्तमान—गडौले, दुगैले, बिल-बिले व लुप्त' खडैरे, तिगैले, चारखेरे, पचलौरे, सपेले। कुछ अन्य स्पष्ट नही है जैसे वर्तमान—खुर्देले, गोदरे, पडेले (पाडेले), फुसकेले, राधेले, रौतेले, साधेले व लुप्त-छवेले, वोदरे। कुछ नाम दोनो प्रकारसे मिलते हैं जैसे बिलबिले-बिलतिलया, सपेले-सपौलिया। कोई-कोई राधेलीय, खुर्देलीय, साधेलीय लिखने लगे है, पर यह आधुनिक सस्कृतिकरण लगता है।

यहाँपर यह बात विचारणीय है कि कई जातियोमे कई गोत्र लकारात हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि—एले,—इल व—इल्ल एक ही प्रत्ययके रूप हैं।

१ अहारके एक लेखमें खडेलवालको खडिल्लवाल लिखा गया है।

२ श्रवणवेलगोलाके एक लेख में चन्देलको चदिल कहा है।

३. गोलापूर्वोमें—एले, परवारो व गहोडयोमें—इल्ल या—अल्ल, अग्रवालोमें—इल या—अलका अर्थ समान हो सकता है। चन्देल, बुन्देल, वघेल आदिमे—एलका अर्थ भी वही होना चाहिये। यह प्रयोग प्राचीन लगता है, सभव है यह उपरोक्त-या प्रत्ययका ही प्राचीन रूप हो।

४. संस्कृतके कुछ गोत्रोके नाम देशी भाषामे नही, सस्कृतमे है। दक्षिणके जैनोमें अक्सर सस्कृत गोत्र रहते है, पर उत्तर भारत मे सस्कृत गोत्रो (ऋषियोके नामोको छोडकर) कम ही मिलते है। वर्तमान—खाग, नाहर, रस, पञ्चरत्न, निर्मोलक। लुप्त—इद्रमहाजन, गन्धकार, दण्डकार (या दडधार), साधारण, शेखर। इन्द्रमहाजन कोई अत्यत सपन्न परिवार व गधकार इत्रके व्यवसायी लगते है।

५. अन्य, वर्तमान—टेटवार, चौंसरा, छोड़कटे (या छोकड़े), संघी, अलेह, उचा। लुप्त—टीका-

केरावत, सोघनी, धना (या धनी), पैथवार, पचरसे, सरखड। सघी, अलेह व उचा गोत्र गोत्रावलियोमे नही है, पर दमोहकी जनगणनामे पाये गये है।[७] इनमेसे भी कई स्थान-सूचक ही प्रतीत होते हैं।

कभी-कभी गोलापूर्वोमे पटवारी, चौधरी, प्रधान व बडकुर गोत्र कहे जाते है पर ये वास्तवमे पारिवारिक पद है। हो सकता है बडघरिया भी कभी पद रहा हो व कालातरमे गोत्रकी तरह प्रयुक्त होने लगा हो।

बुन्देलखडमें गजरथके साथ पचकल्याणक-प्रतिष्ठा करानेकी परम्परा है। इस प्रकार प्रतिष्ठा करानेसे सामाजिक उपाधि दी जाती है। साह (साधु) तो सभी कहलाते है, पहले रथसे सिंघई (सघपति) दूसरेसे सवाई सिंघई, तीसरेसे सेठ (श्रेष्ठि) व चौथेसे सवाई (या श्रीमत) सेठ। ये पद पूर्वजोकी समृद्धिके द्योतक हैं। गोत्रोकी जनसख्याका अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि सपन्न परिवारोकी अधिक वशवृद्धि हुई है। गोलापूर्वोमे सवसे अधिक (ई० १९४१ मे १६८७) फुसकेले है जो सिंघई, सवाई सिंघई या सेठ है। खाग (१५०५) सिंघई, सवाई सिंघई, सेठ व सवाई सेठ है। चन्देरिया (१२३५) सिंघई व सवाई सिंघई है। सबसे कम जनसख्या दुगैले (१), छोडकटे (१६) व पचरत्न (१३) है, इनमेसे कोई भी सिंघई आदि पदोके धारी नही है। इन पदोकी परम्परा प्राचीन लगती है, घुवारा के ई० १२१५ के लेखमे गोलापूर्व सिंघईका उल्लेख है।[२५]

वर्धमानपुराण लिखे जानेके बाद व गोलापूर्व डायरेक्टरीके प्रकाशनके पूर्व कुछ ऐसी घटनायें घटी जिनका गोलापूर्व जातिपर अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा।

१ करीब आधे गोत्र नष्ट हो गये।

२ लोग यहाँ-वहाँ जाकर बस गये। अपने वशके बारेमें परपरागत ज्ञान भुला दिया गया। नवलशाहने दोहरी गोत्र परम्पराका उल्लेख किया है, उसकी वर्तमानमे गोलापूर्वोमें स्मृति शेष नही है। नवलसाहने फुसकेले गोत्रके चार मूल ग्रामोका नाम लिखा है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणो आदिमें भी इस प्रकार की परम्परा है। पर गोलापूर्वोमे यह जानकारी भी लुप्त हो गई है।

३ बिसबिसे व दसबिसे श्रेणियोमे अचानक जनसख्या कम हो जानेसे उपयुक्त विवाह सम्बन्ध मिलना मुश्किल हो गया। इस कारणसे दोनोका स्वतत्र अस्तित्व समाप्त होकर एक ही श्रेणी रह गई। केवल जो पचविसे दूरके स्थानोमें वसे थे, उनका स्वतत्र अस्तित्व बना रहा।

गोलापूर्वोकी जनसख्याके इस भारी नाशका कारण स्पष्ट नही है। हो सकता है यह महामारी या दुर्भिक्षके कारण हुआ हो। यह भी सम्भव है कि यह राजनैतिक दुर्व्यवस्थाके कारण हुआ हो। ऐसा कहा जाता है कि मराठा सेनाने जिन स्थानोपर आक्रमण किया, उनमेसे कई बहुत वर्षों तक उजाड पडे रहे। इसके पीछे मराठा सेनामें पिंडारी आदि वर्गोंका होना हो सकता है।

अन्य सम्बन्धित जातियाँ

आसपास वसी हुई जैन जातियोमें परस्पर धार्मिक व सामाजिक व्यवहार रहा है। इस कारणसे जातियोने एक-दूसरेपर काफी प्रभाव डाला होगा। यहाँपर गोलापूर्वोके आसपास बसने वाली अन्य जातियो पर विचार किया गया है।

अहार क्षेत्रमे प्राप्त लेखोमे सबसे अधिक गोलापूर्वोंके है। ये प्राचीनकालसे अब तकके है। प्राचीन लेखोमे १५ जैसवाल जातिके (ई० ११४३ से १२३१ तक) व १३ गृहपति जातिके (ई० ११४६ से ११८० तक) है। इससे प्रतीत होता है कि जैसवालोका निवास आसपास ही रहा होगा। वर्तमानमे जैसवाल जैनोको

राजस्थानी जाति माना जाता है। इनकी उत्पत्ति जैसलमेर[२४] या उज्जैनसे[१०] असम्भव है, इनका मूल स्थान रायबरेली जिले मे प्राचीन जैस या जायस ही प्रतीत होता है। ई० १२५६ मे जायस जातिके लक्खनने अणुवय-रयण-पाइउकी रचना की थी। इनका निवास यमुनाके किनारे रायवड्डीया स्थानपर था। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमेंसे जो राजस्थानमे जाकर बसे वे अधिकतर जैन बने रहे, पर जो उत्तर प्रदेशमे ही रहे, वे अधिकतर वैष्णव हो गये। वर्तमानमे बुन्देलखण्डके आसपास इनका निवास नही है।

शिलालेखोसे व वर्धमान पुराणके उल्लेखसे यह स्पष्ट हैं कि बुन्देलखण्डकी वर्तमान गहोई जाति ही प्राचीनकालमें गृहपति कहलाती थी। गहोई शब्दकी उत्पत्ति गुह्य शब्दसे कही जाती है पर यह काल्पनिक है।[१६] बुन्देलखण्डमे बारहवी शताब्दीमें अनेक स्थानोपर इस जातिद्वारा स्थापित जैन मूर्तियाँ पाई गईं है। इसी जातिमे पाणाशाह नामके एक श्रेष्ठीने अनेक मदिरोका निर्माण कराया था, इनके बारेमें कई किंवदतियाँ कही जाती है। इन्हे गोलापूर्व कहा गया है, पर यह लेखोके आधारपर गलत सिद्ध होता है। इनमें जातिका सगठन परवारोसे मिलता है। इनमे बारह गोत्र है, हर गोत्र ६ अल या आकोमे विभक्त है, विवाहमें अपना गोत्र व माँ, नानी व दादीका अल टाला जाता है। इनमें ई० ११५० के एक लेखमे कोच्छल गोत्रका उल्लेख है। अलोके नाम मोर, सोहनिया, नगडिया, पहाडिया, पोपरवानिया, दादरिया, म ले आदि है।[१६] ये प्राचीनकालमें शैव भी रहे है। वर्तमानमे इनमेसे कोई भी जैन नही है। नवलसाहने इनमें जैन लगारका उल्लेख किया हैं। वर्तमानमे इनकी उत्पत्ति खरगपुरसे बताई जाती है। इनकी उत्पत्तिके बारेमे एक कहानी कही जाती है जो स्पष्टत काल्पनिक है। प्राचीनकालमे, विशेषकर बौद्ध ग्रन्थोमें गृहपति शब्दका प्रयोग सम्पन्न बनियोके लिये किया गया है, इस जातिकी उत्पत्ति किसी स्थानके गृहपतियोसे हुई होगी। वर्तमानमे ये वैष्णव है, व इनका जैनोसे सम्बन्ध नही हैं। भार्गव ब्राह्मण इनके पुरोहित हैं।

वर्तमान शताब्दीके आरम्भमे इनमेसे कोई भी जैन नही पाये गये थे। इनके जैन न रहनेका कारण ज्ञात नही है। ये बुन्देलखण्डके उत्तरी भागमे बसे जान पडते है। जिस प्रकार गोलापूर्व डाकुओके भयमे दक्षिणमें जाकर बसते रहे है, उसी प्रकार ये उत्तर प्रदेशमें जाकर बसते रहे है। सम्भव है, इनपर ब्राह्मणोपर प्रभाव होनेसे इन्होने जैन परम्पराका त्याग कर दिया हो।

गोलापूर्व जातिपर सबसे अधिक प्रभाव परवार जातिका प्रतीत होता है। ये ही गोलापूर्वोके सबसे निकटके है व बुन्देलखण्डके जैनोमें इनकी सख्या सबसे अधिक है। इन शिलालेखोमें पुरवाड या पौरपट्ट लिखा गया है। इसे हिन्दी विश्वकोपमें उडीसावासी लिखा है।[२] इस भ्रमका कारण शैरिंगका[१०] एक ग्रन्थ है। उत्तर प्रदेशके मैनपुरी जिलेमे काफी परवार बसे हैं, इनमेंसे अधिकतर वैष्णव हो गये है। इन्होने पुर शब्दकी उत्पत्तिका अनुमान पुरी (जगन्नाथपुरी) से लगाया जिसका शैरिंगने उल्लेख किया है। रसेल व हीरालालने इसे राजस्थानसे उत्पन्न माना है।[१६] वास्तवमें शिलालेखो आदिके आधारपर इनका आदिस्थान चन्देरी (जि० गुना) के आसपास होना चाहिये। गुनाके पश्चिममें लगे हुए राजस्थानके झालावाड व कोटा जिले है जो परवार पश्चिमकी तरफ जा बसे, वे राजस्थानी या मालवी बोलने लगे। झाँसी जिलेमें मदनपुरके पास पुरपट्टन नामके प्राचीन स्थानका अवशेष है[२१], सम्भव है परवार वहीसे निकले हो। इनका पोरवाड (प्राग्वाट) या परमार जातियोसे कोई सम्बन्ध नही है। इनमे १२ गोत्र है, हर गोत्र १२ मूरोमें विभाजित है। परम्परागतरूपसे अपना गोत्र व माँ, नानी, दादी आदिके ७ मूर (कुल आठ शाखायें) विवाहके लिये टाली जाती है। पर कोई-कोई चार ही शाखायें टालते थे। इस कारणसे इनमें अष्टशाख (उत्तम) व चौसाख दो श्रेणियाँ है (इसी प्रकारका विहार-बंगालके ग्वालोंमे सतमूलिया-नौमूलिया श्रेणियाँ है[३८])। विनायके लहुरीसेन

(लघुश्रेणी) कहलाते है व चार अन्तर्गत श्रेणियोमे विभक्त है। इनका सम्मान प्रति पीढी बढता है व कालान्तरमें वे सामान्य परवारोके समान हो जाते है।[१३]

इसी जातिमे ई० १४४८-१४९५ मे तारणस्वामी हुए है। परवारोमें जो तारणपथी हुए वे समैय्या या चरणागरे कहलाते हैं। ये दसा-बीसामे बँटे है। इनमे व सामान्य परवारोमें अनुलोम सम्बन्ध रहे है।[१६]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इनमे व गोलापूर्वोमें भोजनका सम्बन्ध रहा है व कभी-कभी विवाह सम्बन्ध भी होता रहा है। विवाह आदिकी परम्पराओमें गोलापूर्वो व परवारोमे कुछ अन्तर है, पर अधिकतर रीति-रिवाज एकसे है। परवार कई अन्य जैन जातियो (अग्रवाल, गोलापूर्व, गोलालारे, से अधिक गौरवर्ण होते है।

नेमा जातिका भोजन सम्बन्ध गोलापूर्वोके साथ लिखा गया हैं।[१६] यह जाति बुन्देलखण्डमे कुछ शताब्दियोसे है, पर प्राचीन शिलालेखोमे इसका उल्लेख नही है। यह जाति मालवा, राजस्थान, यहाँतक कि गुजरातमे भी बसी है। हो सकता है यह मालवामे निमाडसे निकली हो। कई पीढियो पहले बुन्देलखण्डके आसपास कई नेमा परिवार जैन थे पर अब क्रमश वैष्णव हो गये है। दिगबर जैन नेमा अधिकतर विदर्भमें कारंजालाड, खोलापुर व नांदगाँव (खण्डेश्वर) में बसे है।[१४] यति श्रीपालचन्द्रके अनुसार इनका मूलस्थान हरिश्चन्द्रपुरी नामक कोई नगर रहा है।[१३]

असाटी बुन्देलखण्डकी ही बनिया जाति है जो मूलत• टीकमगढ जिलेमे बसती थी। इनके प्राचीन उल्लेख नही मिले हैं, इनके पूर्वजोको किसान माना गया है।[१६] सम्भवत इनका उद्भव गुजराती पटेलो (पाटीदार)[३७] की तरह हुआ हो जो अब क्रमश किसानसे बनिया होते जा रहे हैं। असाटी जैन सन् १९११ में कुछ गाँवोमें बसते थे, ये अब भी जैन है या नही, कहा नही जा सकता। क्षुल्लक (गणेशप्रसाद) वर्णीजी इसी जातिके थे।

सन्दर्भ-सूची

३१. यशवन्त कुमार मलैया, "शोधकण", अनेकान्त।

२५ यशवन्त कुमार मलैया, "गोलापूर्व जाति पर विचार", अनेकात, वर्ष २२, अ० २, जून १९७२, पृष्ठ ६८-७२।

१७ यशवन्त कुमार मलैया, "वर्धमान पुराणके सोलहवें अधिकार पर विचार", अनेकात।

10. M. A. Sherring, *Hindu Tribes and Castes as Represented in Banares*, Thurber and Co., 1872.

१४. श्री अखिल भारतवर्षीय दिगबर जैन डायरेक्टरी, प्र० ठाकुरदास भगवानदास जवेरी, १९१४।

१५ श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जै० गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्र० मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ।

२० नारायण प्रसाद मिश्र, कान्यकुब्ज वशावली, प्र० श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बबई, १९५९।

३ हरिकृष्ण शास्त्री, ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड, प्र० श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बवई, १९५४।

२७. पं० गोविन्ददास जैन कोठिया न्यायतीर्थ, प्राचीन शिलालेख, श्री १०८ दि० जै० अतिशय क्षेत्र अहार जी प्र० सेठ हीरालाल, दीपचन्द, अनदीलाल जैन हटा (टीकमगढ), १९६२।

३९. रमेशचन्द्र गुणार्थी, राजस्थानी जातियोकी खोज, प्र० आर्यब्रदर्स बुकसेलर, अजमेर, १९६५।

१९. श्री दि० जै० गोलापूर्व समाज, दमोह, प्र० पं० रविचन्द्र जैन, दमोह, १९८५।

१८ प्रदर्शिका श्री दि० जै० गोलापूर्व समाज, छिंदवाडा, स० प्रो० शीलचन्द्र सुमन, हिन्दी विभाग, डेनियलसन कालेज, छिंदवाडा, १९८५ (?)।

४१ कुदनलाल जैन, "बघेरवाल जातिकी स्थापना"; सन्मति सदेश, अप्रैल १९६७, पृ० ३५-३७।

२१ बलभद्र जैन, भारतके दिगबर जैनतीर्थ (प्रथम भाग), प्र०भारतीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, १९७६। (तृतीय भाग)।

३१. प० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ, १९८२।

37 D E. Pocock, Kanı and Patıdar, Oxford Unıversıty Press, 1972.

31. Dr. Sachau (Tr) Alberunı's Indıa, S. Chand and Co., 1964.

4 N. M. Dutt, "Orıgın and Growth of Caste ın Indıa, Vol. II, Fırma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta 1965 (Orıg. 1931)

38. J. H. Hutton, Caste ın Indıa, Fourth Ed., Oxford Unıversıty Press, 1963.

16. R V Russel and Hıra Lal, Trıbes and Caste of the Central Provınces of Indıa, Vol. I and Vol II, Cosmo Publıcatıons, 1975 (Orig 1916).

13. V. A Sangve, Jain Community, a Socıal Survey, II. Ed. Popular Prakashan, 1980.

4. C. M Duff, The Chronology of Indıan Hıstory, Vol. 1. Cosmo Publıcatıons, 1972 (Orıg. 1890 ?).

६ रा० ब० पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, मुशीराम मनोहरलाल, १९७१ (मूल० १९१८)।

30. Sarda Srınıvasan, "Dravıdıan words ın Desinamala, "Jaurnal of the Orıental Instıtute, Unıversıty of Baroda, Vol. XXI, No 2, Sept-Dec. 1971, P. 114.

२. हिन्दी विश्वकोश (Encyclopedia Indıa) स० नगेन्द्रनाथ बसु, १९२३।

२६ परमानन्द शास्त्री, "जैन समाजकी कुछ उपजातियाँ", अनेकात, जून १९६९, पृ० ५०।

9 E. A H. Blunt, The Caste System of Northern Indıa, 1931.

24. K. C Jaın, Ancıent Cıtıes and Towns of Rajsthan, Motıl. l Banarasıdas, 1972.

१ बी० आर० अम्बेडकर, शूद्रोकी खोज, अमृत बुक कं०, नई दिल्ली, १९५०।

7. The Sturggle For Empıre (The Hıstory and Culture of the Indıan People), Ed. A. K. Majumdar, Bhartıya Vıdya Bhavan, 1966.

40. The Mogul Empıre,—

36. The Age of Imperıal Kanuj,—

?. The Classical Age,—

33. Age of Imı. unıty.

32. A K. Warder, An Introductıon to Indıan Hıstorıography, Popular Prakashan, 1972

8. A Hıstorıcal Atlas of South Asıa, Ed. J. E Schwartzberg, Unıversıty of Chicago Press, 1978.

5 S Bhattacharya, A Dictionary of Indian History, George Braziller New-Yark, 1967

21 Badlu Ram Gupta, The Aggarwals, a Socio-Fconomic Study, S. Chand and Co, 1975.

42 V S Pramar, "Who Created Caste," The Times of India, New Delhi, July 14 1974

२३. चन्द्रराज भडारी विशारद आदि, अग्रवाल जातिका इतिहास (प्रथम भाग), प्र० अग्रवाल हिस्ट्री आफिस, भानपुरा, इन्दौर, १९३७।

१२ श्री अहिच्छत्र पार्श्वनाथ स्मारिका, ८।

29 G S Gharye, Caste and Race in India, 1932

11 Iycl; The Caste Tribes of Kochin,

२५ यति श्रीपालचन्द्र।

28 Dr Mankekar, Mewar Saga, Vikas Publishing House, 1976, P. 34

34 Sudama Misra, "Janpad States tn Ancient India" Bhartiya Vidyaprakashan, 1973

35 Vakatoko.
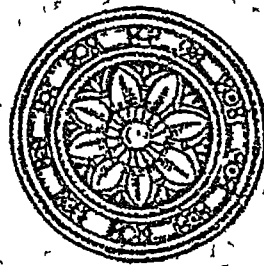
●

धर्म और सिद्धान्त

धर्म और सिद्धान्त

●

तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व-देशना

आगम और आगमाभासकी परिभाषा

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशमे आगमकी परिभाषा निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।३-९९।

अर्थ—आप्तके वचन आदिके आधारपर जो पदार्थ-ज्ञान हमे होता है वह आगम है ।

सूत्रमें 'वचन' शब्दके आगे पठित 'आदि' शब्दका अभिप्राय सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामे अगुलि आदिके सकेतोके रूपमें ग्रहण किया गया है ।[1] अत जिस प्रकार आप्तके वचनोके आधारपर हमे होने वाला पदार्थ-ज्ञान आगम है उसी प्रकार उसकी अगुल्यादिके सकेतोके आधारपर हमे होनेवाला पदार्थ-ज्ञान भी आगम है ।

यह परिभापा भावात्मक आगमकी है । लेकिन सूत्रका यह भी आशय है कि हमे उपर्युक्त प्रकारसे होनेवाले ज्ञानरूप भावात्मक-आगमके उद्भवमे निमित्तभूत आप्तके वचनो और उसकी अगुलि आदिके सकेतोको द्रव्यात्मक-आगम जानना चाहिए । स्वामी समन्तभद्रने वचनरूप द्रव्यात्मक-आगमकी रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे निम्न लिखित परिभापा बतलाई है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थ—शास्त्र (वचनरूप द्रव्यात्मक-आगम) वह है, जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, अन्य मतो द्वारा अकाट्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमान) द्वारा अबाधित हो, तत्त्व (तथ्यात्मक[2] व सत्यात्मक[3] प्रयोजनभूत वस्तु)का प्रतिपादक हो, सम्पूर्ण जीवोंके लिए हितकर हो और कुमार्ग (जीवोके लिए अहितकर मार्ग) का निपेध करने वाला हो ।

स्वामी समन्तभद्रने उक्त परिभाषामे आगमका प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित होना न बतलाकर जो "अदृष्टेष्टविरोधकम्" पद द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होना बतलाया है, इसका अभिप्राय यह है कि आप्तके वचनरूप सम्पूण द्रव्यात्मक-आगमका हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अल्पज्ञ होनेके कारण समर्थित होना सम्भव नही है, लेकिन अबाधित होना अवश्य सम्भव है—इस तरह आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित हो, वह तो आगम है ही, लेकिन आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित हो, उसे भी आगम जान लेना चाहिए ।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उक्त सूत्रमें व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके उक्त पद्यमें पठित 'आप्त' शब्दसे यह भी निर्णीत होता है कि पुरुप आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते है । उनमेसे आप्तके वचन व उसकी अगुलि आदिके सकेत ही आगम हैं, अनाप्तके वचन और उसकी अगुलि आदिके सकेत आगम नही हैं । अत अनाप्तके वचन व उसकी अगुलि आदिके सकेतोको आगमाभास जानना चाहिए ।

---

१ आदिशब्देनागुल्यादिसज्ञापरिग्रह ।

२. परनिरपेक्ष (स्वत सिद्ध) वस्तुस्थितिरूप ।

३ परसापेक्ष वस्तुस्थितिरूप ।

आप्त और अनाप्तके लक्षण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे ही आप्तका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थ—जो अपने सम्पूर्ण दोषोको नष्ट कर चुका हो, सर्वज्ञ हो गया हो और धर्म-मार्गका प्रवर्तक बन चुका हो, उसे ही आप्त जानना चाहिए, क्योकि इन तीन गुणोके प्रकट हुए बिना आप्तता सम्भव नही है ।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उपर्युक्त सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामे आप्तका लक्षण निम्न प्रकार निश्चित किया गया है—

योयत्रावचक॰ स तत्राप्त ।

अर्थ—जो पुरुष जिस विषयमे अवचक है अर्थात् दूसरोके साथ ठगाई नही करता है, वह पुरुष उस विषयमें आप्त है ।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालाके उपर्युक्त उद्धरणोसे यह बात निर्णीत होती है कि सर्वज्ञ तो आप्त होता ही है क्योकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवचकवृत्ति हो जाता है । लेकिन अल्पज्ञ भी यदि किसी विषयमें अवचकवृत्ति हो तो उसे भी उस विषयमे आप्त जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि हितकर उपदेशका नाम आगम है और जो हितकर उपदेश देता है वह आप्त है । उस उपदेशकी हित-कारिताका आधार उपदेश देनेवाले पुरुषकी अवचक-वृत्ति ही हुआ करती है तथा अवचकवृत्तिका निर्णय उसमे (उपदेश देनेवाले पुरुषमे) पाई जानेवाली वीतरागता (नि स्वार्थवृत्ति) से होता है । अत आप्तताका निर्णय पुरुषमे विद्यमान वीतरागता (नि स्वार्थवृत्ति)के आधारपर ही करना चाहिए । इस तरह सर्वज्ञके साथ अल्पज्ञ भी आप्तकी कोटिमे गर्भित हो जाता है ।

उक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि अल्पज्ञ भी सर्वज्ञकी तरह तभी आप्त हो सकता है जब कि वह अवंचक वृत्ति हो । इसका फलितार्थ यह है कि अल्पज्ञ आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । उनमेंसे जो अल्पज्ञ अपनेमे यथासम्भव पाई जानेवाली वीतरागता (नि स्वार्थ वृत्ति) के आधारपर अवचक वृत्ति होते है, वे आप्त कहलाते है और जो अल्पज्ञ अपनेमे पाई जानेवाली सरागता (स्वार्थपूर्ण वृत्ति)के आधार-पर वचकवृत्ति होते है, वे अनाप्त कहलाते है ।

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसका विवेचन इस प्रकार है कि निश्चयकाल (स्वत सिद्ध कालनामा पदार्थ) नित्य (अनादिसे अनन्त काल तक रहनेवाला) है । इस निश्चय-कालकी पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द-गमनके आधारपर विभक्त अखण्ड-वृत्तिरूप समय और यथा-योग्य समयोके समूहरूप आवली, घडी, मुहूर्त, घण्टा, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष तथा वर्षोंके भी समूह—यह सब व्यवहारकाल है । यद्यपि ये सब निश्चय-कालकी पर्याएँ है परन्तु इन्हें व्यवहार-काल इसलिए कहते है कि इनका अस्तित्व मूलत परवस्तुभूत पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द गमनके आधार-पर निष्पन्न होनेसे इनमे पराश्रितता पाई जाती है ।

इस व्यवहारकालका प्रवर्तन प्रवाहरूपसे अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता

जायगा। आगममे बतलाया गया है कि व्यवहारकालका यह प्रवर्तन एकके बाद एक कल्पके रूपमे चल रहा है। एक कल्पकी मर्यादा बीस कोडाकोडी सागर वर्षोंकी है, जो कि असख्यात वर्ष प्रमाण होती है।

प्रत्येक कल्प भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके रूपमे अपना प्रवर्तन किया करता है। अवसर्पिणी वह है, जिसमे मानव-समाज अपनी उच्चतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमश हीनतम स्थिति तक पहुँचता है और उत्सर्पिणी वह है, जिसमे मानव-समाज अपनी हीनतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर ही धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमशः उच्चतम स्थिति तक पहुँचता है। इस तरह अवसर्पिणीका प्रवर्त्तन सुषमा-सुषम (अत्यन्त सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय), सुषमा-दुःषमा (दु ख मिश्रित सुखमय समय), दु षमा-सुषमा (सुखमिश्रित दु खमय समय), दु षमा (दु खमय समय) और दु षमा-दु षमा (अत्यन्त दु खमय समय)—इन छह भेदोंके रूपमें तथा इसके पश्चात् उत्सर्पिणीका प्रवर्तन दु षमा-दु षमा (अत्यन्त दु खमय समय), दु षमा (दु खमय समय), दु षमा-सुषमा (सुखमिश्रित दु खमय समय), सुषमा-दु षमा (दु खमिश्रित सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय) और सुषमा-सुषमा (अत्यन्त सुखमय समय) इन छह भेदोके रूपमे हुआ करता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि क्रमश एकके बाद एकके रूपमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका प्रवर्तन होते हुए अनादिसे अबतक अनन्त कल्पकाल व्यतीत हो चुके है तथा आगे इन बीते हुए कल्प-कालोसे अनन्तगुणे कल्पकाल व्यतीत हो जानेपर भी काल-द्रव्य (निश्चयकाल) का अस्तित्व अनादि-निधन होनेसे कल्पकालोका प्रवर्तन कभी समाप्त नही होगा।

प्रत्येक कल्पकालकी अवसर्पिणीके चतुर्थ दु षमा-सुषमा भागमे और प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय दु षमा-सुषमा भागमें ससारी जीवोके लिए मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत धर्म-तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले चौबीस महापुरुष उत्पन्न होते है, जिन्हे आगममे 'तीर्थकर' नामसे पुकारा गया है। इस तरह अनादि-कालसे अबतक अनन्त तीर्थंकरोकी अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी है और आगे भी सतत तीर्थकरोकी चौबीसियोके होनेका यही क्रम चलता जायगा।

प्रत्येक तीर्थंकरने अपने समयमे अपनी दिव्यवाणी (दिव्यध्वनि) द्वारा जो धर्मतीर्थका उपदेश ससारी जीवोको दिया था, उसे आगममे 'देशना' नामसे पुकारा गया है और उस देशनाको तथा उस देशनाके आधारपर गणधर आदि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा ग्रथित उपदेशको 'आगम' नामसे पुकारा गया है। इस तरह कहना चाहिए कि आगमका प्रवर्तन अनादि-कालसे चला आ रहा है और अनन्त कालतक चलता जायगा। यही स्थिति आगमाभासके प्रवर्तनकी समझना चाहिए।

वर्तमान आगमकी आधारभूमि

वर्तमानकाल अवसर्पिणीका पचम भाग दु षमाकाल है। इससे २५१४ वर्ष पूर्व इसी अवसर्पिणीका चतुर्थ भाग दु षमा-सुषमा काल चल रहा था। उस समय तक इस अवसर्पिणीमें होनेवाले चौबीस तीर्थंकरोमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस भारतभूमिपर विद्यमान थे, जिन्होने अपनी पूर्व वीतरागता और सर्वज्ञताके आधारपर जगत्के प्राणियोको हितकारी उपदेश दिया था, जिसे तीर्थंकर महावीरकी देशना कहते है। यद्यपि तीर्थकर महावीरकी वाणी आज हमे उपलब्ध नही है, फिर भी उनकी वाणीके आधारपर उत्तरोत्तर अल्पज्ञ आप्तो द्वारा रचित आगम वर्तमानमें भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा उनकी (तीर्थंकर महावीरकी) देशनाकी झाकी हमे वर्तमानमें भी उपलब्ध हो रही है। इस तरह कहना चाहिए कि वर्तमान आगम यद्यपि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा रचा गया है, परन्तु उसकी आधारभूमि तीर्थकर महावीरकी देशना ही है।

अल्पज्ञको आप्त माननेका प्रयोजन

ऊपर कहा गया है कि वर्तमानमे जितने कल्याणकारी उपदेशके रूपमें आगम उपलब्ध है वह साक्षात् तीर्थकर महावीरकी वाणी नही है, अल्पज्ञ आप्तोकी ही वाणी है। अब यदि अल्पज्ञोको आप्त नही माना जाता तो सर्वज्ञके अभाव रहनेके कारण वर्तमानमे कल्याणकारी मार्ग समाप्त हो जाता। दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञको आप्त न माननेपर लोक-व्यवहारकी चल रही सम्पूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती। तीसरी बात यह भी है कि सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताका निर्णय हम अल्पज्ञ आप्तो द्वारा विरचित आगमके आधारपर ही तो वर्तमानमे कर सकते है। अत अल्पज्ञको आप्त न माननेपर सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताके निर्णयके लिए आधार ही समाप्त हो जाता। ये सब कारण हैं जिसकी वजहसे अल्पज्ञको भी आप्त मानना अनिवार्य हो जाता है। इतनी बात अवश्य है और जैसा कि पूर्व मे बतलाया भी जा चुका है कि सर्वज्ञकी आप्तता तो असदिग्ध है क्योकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवचक वृत्ति हो जाता है परन्तु अल्पज्ञकी आप्तताका निर्णय उसमे अवचक वृत्तिका निर्णय हो जानेपर ही हो सकता है ऐसा जानना चाहिए। फिर भी जैसे सर्वज्ञका उपदेश जीवोको हितकर होनेसे आगम कहलाता है वैसे ही अल्पज्ञ आप्तोके उपदेशको भी जीवोको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए।

सर्वज्ञसे अल्पज्ञ-आप्तके उपदेशमे अन्तर भी है

यद्यपि ऊपर यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सर्वज्ञका उपदेश जीवोको हितकर होनेसे आगम कहलाता है। उसी प्रकार अल्पज्ञ आप्तोके उपदेशको भी जीवोको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए। परन्तु सर्वज्ञसे अल्पज्ञ आप्तके उपदेशमे यह अन्तर भी समझना चाहिए कि जहाँ सर्वज्ञका उपदेश उसकी सर्वज्ञताके कारण हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे नियमत समर्थित या अबाधित होनेसे निर्विवाद रूपसे आगम कहलाता है, वहाँ अल्पज्ञ आप्तका उपदेश उसकी अल्पज्ञताके कारण जबतक हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित या अबाधित रहेगा तभी तक वह आगम कहलावेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अल्पज्ञ आप्तका कोई उपदेश यदि कालान्तरमें प्रत्यक्ष या अनुमानसे बाधित हो जाय, तो उसे तब हमारे लिए आगम न माननेमें कठिनाई नही होना चाहिए।

उदाहरणके रूपमे यह कहा जा सकता है कि चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी जिस रूपमे आगममे बतलायी गई है, उससे विलक्षण ही चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी, उत्कर्षकी एक सीमा तक पहुँचे भौतिक विज्ञानने निर्णीत की है, जिसे अस्वीकार करना सम्भव नही है, इसलिये इस सम्बन्धमे यही मानना श्रेयस्कर है कि वर्तमान आगमके रचयिता आप्त चूँकि अल्पज्ञ थे, अत तथ्यपूर्ण स्थिति-का पता लगानेके साधनोकी कमीके कारण जैसा उनकी समझमे आया वैसा प्रतिपादन चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी आदिका उस समय उन्होने वर्णन किया था। इस प्रतिपादनको सर्वज्ञ आप्तके उपदेशके आधारपर किया हुआ नही समझना चाहिए। कारण कि सर्वज्ञके ज्ञानमें असख्य परमाणुओंके पिण्ड-स्वरूप चन्द्रमाका प्रत्येक परमाणु अपनी परिणतियोके साथ पृथक्-पृथक् ही प्रतिभाषित हो रहा है, ऐसी दशामें उसको उन समस्त परमाणुओका चन्द्र पिण्डरूपसे ज्ञान होना सम्भव नही है तथा श्रुतज्ञानका अभाव हो जानेसे श्रुतज्ञानकी विपयभूत चन्द्रमाकी भूमितलसे दूरी आदिका ज्ञान भी सर्वज्ञको सम्भव नही है, अत निर्णीत होता है कि इन बातोका प्रतिपादन सर्वज्ञ द्वारा नही किया गया हे।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सर्वज्ञ स्वत-सिद्ध, अनादि-निधन और अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट प्रत्येक वस्तुका दृष्टा और ज्ञाता है तथा प्रत्येक वस्तुकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय सभी पर्याएँ

भी वस्तुरूपसे उसके दर्शन और ज्ञानमे प्रति समय प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित होती है। दो आदि वस्तुओका सयोग या बन्ध (मिश्रण) उनके दर्शन और ज्ञानमे प्रतिविम्बित और प्रतिभासित नही होता है। इसका कारण यह है कि संयुक्त अथवा बद्ध (मिश्रित) वस्तुओकी अखण्ड एकरूपता कदापि सम्भव नही है क्योकि एक वस्तुके गुण-धर्म कभी दूसरी वस्तुमे प्रविष्ट नही हो सकते है। जैसे द्वयणुक दो पुद्गल परमाणुओके बन्ध (मिश्रण) से बना है, परन्तु उसमे प्रत्येक परमाणु एक-दूसरे परमाणुके निमित्तसे अपना-अपना पृथक्-पृथक् ही परिणमन कर रहा है। दोनो परमाणुओका एक परिणमन नही हो रहा है। अत जब दो परमाणु मिलकर एक परिणमन नही कर रहे है, तो वे उस मिले हुए रूपमे सर्वज्ञके ज्ञानके विषय कैसे हो सकते है ? अर्थात् नही हो सकते है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञके दर्शन व ज्ञानमे द्वयणुकमे विद्यमान दोनो परमाणु एक-दूसरेके निमित्तसे होनेवाले अपने-अपने परिणमनके साथ तादात्म्यको प्राप्त होते हुए पृथक्-पृथक् ही प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित होते है। यही बात द्वयणुकसे ऊपर छोटे-बडे सभी स्कन्धोके विषयमे जान लेना चाहिए।

एक प्रश्न

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदिका तथ्यात्मक (जैसा है वैसा) ज्ञान अल्पज्ञ आप्तोको नही था तो फिर उन्होने उनका अतथ्यात्मक (जैसा नही है वैसा) प्रतिपादन क्यो किया है ?

समाधान

उक्त प्रश्नका समाधान यह है कि अल्पज्ञ आप्तोने चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदि का अतथ्यात्मक प्रतिपादन किसी कषायवश नही किया है, केवल तथ्यात्मक (जैसा है वैसा) प्रतिपादनके लिए साधनोकी कमी होनेके कारण ही वह अतथ्यात्मक (जैसा नही है वैसा) प्रतिपादन जैसा समझमे आया वैसा प्रयोजनभूत समझकर किया है। इसलिये इन्हे मिथ्यादृष्टि या मिथ्याज्ञानी नही समझना चाहिए, क्योकि गोम्मटसार जीवकाण्डमें यह स्पष्ट लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव तथ्यात्मक वस्तुका श्रद्धान तो करता ही है लेकिन साधनोंके अभावमें वह अतथ्यात्मक वस्तुको भी तथ्यात्मक समझकर उसका भी श्रद्धान करता है और ऐसा श्रद्धान करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि न होकर सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है। इतना अवश्य है कि यदि उसे कालान्तरमे अपनी भूल किसी प्रकार समझमे आ जावे, फिर भी वह उस अतथ्यात्मक प्रतिपादनको तथ्यात्मक माननेका ही आग्रह करता है तो तब वह सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है।[1] इस तरह आज भौतिक विज्ञान द्वारा किया गया चन्द्रमाकी रचना व उसकी भूमितलसे दूरी आदिका निर्णय अल्पज्ञ आप्तो द्वारा प्रतिपादित आगमसे विपरीत होते हुए भी यदि तथ्यात्मक हो तो उसे स्वीकार करनेमे हमे सकोच नही होना चाहिए; क्योकि इससे हमारे आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको कोई ठेस पहुँचनेकी सम्भावना नही है।

एक बात और है कि अल्पज्ञ आप्तो द्वारा लोक-कल्याण भावनासे जान-बूझकर भी अतथ्यात्मक विवेचन कर दिया जाता है। जैसे भोले बच्चेकी माँ बच्चेकी सुरक्षाकी दृष्टिसे कह दिया करती है कि "बेटा!

---

१. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥
सुत्तादो त सम्म दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ २८॥

सडक पर नही जाना, क्योकि वहाँ हौवा बैठा हुआ है" तो यह कथन यद्यपि अतथ्यात्मक है, परन्तु वच्चेके प्रति कल्याण-भावनाकी दृष्टिसे कहा जानेके कारण लोकमे सत्य मान लिया जाता है। इसी तरह गायकी सुरक्षा-की दृष्टिसे अल्पज्ञ आप्तो द्वारा कसाईको गायके जानेका सही मार्ग न बतलाया जाकर जो गलत मार्ग भी बतला दिया जाता है, उसे भी सत्यात्मक लोकमें मान लिया जाता है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्र-ने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें किसी प्राणीके लिए विपत्तिकारक सत्य-वचनको भी असत्य और हितकारक असत्य-वचनको भी सत्य-वचन कहा है।[1] तथा सङ्कल्पी हिंसाके समान पाप होते हुए भी स्वपर-कल्याण-भावनाके आधारपर की गई आरम्भी हिंसाको यथास्थान उचित बतलाया गया है।[2]

आगमके भेद और उनके लक्षण

वर्तमानमे जितना भी आगम है, उसे चार भागोमे विभक्त किया गया है—१ द्रव्यानुयोग, २ करणा-नुयोग, ३. चरणानुयोग और ४ प्रथमानुयोग।[3]

१ द्रव्यानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर विश्वकी समस्त वस्तुओकी स्वतन्त्र सत्ता, उपयोगिता और उनकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्ययपर्यायोका निर्धारण किया गया हो। इस अनुयोगसे ससारी प्राणियोके लिए अपना लक्ष्य निर्धारित करनेमें सहायता मिलती है।

२ करणानुयोग वह है, जिसमे अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमे रखकर ससारी प्राणियोकी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायो और उनके कारणोका विश्लेषण किया गया है। इस अनुयोगसे ससारी प्राणियोको अपनी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायो व उनके कारणोका परिज्ञान होता है।

३ चरणानुयोग वह है जिसमे अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमे रखकर ससारी प्राणयोको पाप, पुण्य और धर्मके मार्गोंका परिज्ञान कराया गया हो। इस अनुयोगसे ससारी प्राणियोमे अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

४ प्रथमानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर तथ्यात्मक (जैसे हो वैसे) और आपेक्षिक सत्यताको प्राप्त प्रयोजनभूत कथानकोके आधारपर ससारी प्राणियोको पाप, पुण्य और धर्मके फलोका दिग्दर्शन कराया गया हो। इस अनुयोगसे प्राणियोमें अपने लक्ष्यकी पूर्तिके मार्गमे श्रद्धा (रुचि) जागृत होती है।

अध्यात्म (आत्महित) और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है?

श्रद्धेय प० दौलतरामजीने छहढालाके प्रथम पद्यमे अध्यात्म (आत्महित) का अर्थ सुख बतलाया है[4] और प्रथम ढालके प्रथम पद्यमे यह बतलाया है कि ससारके सभी अनन्तानन्त जीव सुख चाहते है और दु खसे डरते है।[5] सुखप्राप्तिका साधन (मार्ग) स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें धर्मको बतलाया है[6]

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५५।
२ वही, श्लोक ५३।
३. प्रथम चरणं करण द्रव्य नम (शान्तिपाठ) व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके पद्य ४३, ४४, ४५, व ४६।
४. आतमकौ हित है सुख इत्यादि।
५ जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहे दु'खतें भयवन्त।
६. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिर्वहणम्। संसारदु.खत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

इसलिए कहना चाहिए कि तीर्थंकर महावीरकी देशनाका मुख्य उद्देश्य भी ससारी प्राणियोको दु खके जनक अधर्मसे हटाकर सुखके जनक धर्मकी ओर मोडना ही था, जिसका प्रतिपादन चरणानुयोगमें किया गया है।

धर्म और अधर्मका स्वरूप

धर्म और अधर्मका स्वरूप बतलानेके पूर्व इस सम्बन्धमे लोकको दृष्टिको भी समझ लेना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार है —

१ प्राय प्रत्येक मनुष्यकी दृष्टिमे वही सम्प्रदाय श्रेष्ठ है, जिसमे वह पैदा हुआ है, वही दर्शन सत्य है जिसे वह मानता है और उसी क्रियाकाण्डसे स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जो उसे कुल-परम्परासे प्राप्त है। इसके अतिरिक्त शेष सभी सम्प्रदाय निम्न कोटिके, सभी दर्शन असत्य और सभी क्रियाकाण्ड आडम्बर मात्र है। इस तरह लोकका प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसी आधारपर अपनेको धर्मात्मा और दूसरोको अधर्मात्मा मान रहा है।

२ लोकमे धर्मात्मा व्यक्तिके लिए आस्तिक और अधर्मात्मा व्यक्तिके लिए नास्तिक शब्दोका प्रयोग किया जाता है और इन दोनो शब्दोकी व्युत्पत्ति व्याकरणमें निम्न प्रकारकी गई है—

अस्ति परलोके मतिर्यस्य स आस्तिक , नास्ति परलोके मतिर्यस्य स नास्तिकः।

अर्थात् जो परलोकको मानता है, वह धर्मात्मा है और जो परलोकको नही मानता है वह अधर्मात्मा है।

वास्तवमे देखा जाय तो धर्म और अधर्मकी ये व्याख्याएँ पूर्णत सही न होकर ये व्याख्याएँ ही पूर्णत. सही है कि लोकमे जिस मार्ग पर चलनेसे अभ्युदय (शान्ति) और अन्तमें नि श्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्म-स्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह तो धर्म है और जो लोक तथा परलोक सर्वत्र दु खका कारण हो वह अधर्म है। तीर्थंकर महावीरकी देशनामे इस वातको लक्ष्यमे रखकर ही चरणानुयोगमे प्रतिपादित धर्मके दश भेद स्वीकार किए गए है।

धर्मके दश भेद और उनका स्वरूप

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्मके दश भेद है।[1] जीवनमे क्रमिक-विकासके आधारपर ही तीर्थंकर महावीरकी देशनामें धर्मकी यह दश सख्या निश्चित की गयी है। आगे इनका पृथक्-पृथक् विकास-क्रमके आधारपर स्वरूप-विवेचन किया जा रहा है।

१ क्षमा—कभी क्रोधावेशमे नही आना, कभी किसीको कष्ट नही पहुँचाना, कभी किसीके साथ गाली-गलौज या मार-पीट नही करना तथा सबके साथ सदा सहिष्णुताका वर्ताव करना।

२. मार्दव—कभी अहंकार नही करना, कभी किसीको अपमानित नहीं करना, सबके साथ सदा समानताका व्यवहार करना और मनमे कभी प्रतिष्ठाकी चाह नही करना।

३ आर्जव—कभी किसीके साथ छल-कपट नही करना, कम देकर अधिक लेने और असली वस्तुमें नकली वस्तु देनेका कभी प्रयत्न नही करना—इस तरह अपने जीवनको लोकका विश्वासपात्र बना लेना।

४ सत्य—सबके साथ सदा सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार करना, हित, मित और प्रिय

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।६।

वचन बोलना, आवश्यकतानुसार दूसरोकी यथाशक्ति तन, मन और धनसे सहायता करना तथा जीवनके लिए उपयोगी कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, मानवोचित और सास्कृतिक-सरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करना।

५ शौच—अपने जीवनकी सुरक्षा और शान्तिके लिए कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और संस्कृतिके सरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हुए जीवन-रक्षामे उपयोगी माधनोंके सग्रह और उपयोगका यथोचित ध्यान रखना अर्थात् न तो जीवन-रक्षाके लिए पराश्रित-वृत्ति अपनाना और न उपयोगमें कजूसी करना।

६ सयम—अपने जीवनकी सुरक्षामे साधन-भूत सामग्रीके सग्रह और उपयोगमें कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और सस्कृतिके सरक्षणका पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए अपनी आवश्यकताओ और अपने अधिकारोकी सीमा निर्धारित करना और अनावश्यक, प्रकृति-विरुद्ध, सस्कृति-विरुद्ध और लोक-विरुद्ध एवं अधिकारके बाहर उपयोग नही करना—इस प्रकार जीवनमें सादगी वना लेना।

७ तप—बाह्य[1] प्रयत्नो द्वारा शरीरको आत्मनिर्भर वनानेका प्रयत्न करना तथा अन्तरग[2] प्रयत्नो द्वारा आत्माकी स्वालवम्बन शक्तिको जागृत करना—इस प्रकार जीवनकी वर्तमान आवश्यकताओको कम करना।

८. त्याग—बाह्य-प्रयत्नो द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता और अन्तरग-प्रयत्नो द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत आत्माकी स्वावलम्बनशक्तिके अनुरूप भोगसामग्रीके सग्रह और उपभोगमें धीरे-धीरे यथायोग्य क्रमसे कमी करते जाना अर्थात् जीवनरक्षाकी साधनभूत उपयोग-सामग्रीका धीरे-धीरे यथाक्रमसे यथाशक्ति त्याग करना।

९ आकिंचन्य—उपर्युक्त दोनो प्रकारके प्रयत्नो द्वारा ही उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता व आत्माकी स्वावलम्बन-शक्तिके अनुरूप जीवन-रक्षाकी साधनभूत उपभोग-सामग्रीके अवलम्बनको यथोक्त क्रम से कम करते-करते अन्तमें अकिंचन (नग्न, दिगम्बर-मुद्राधारी बनकर मोक्ष (आत्मस्वातन्त्र्य) की पूर्णता प्राप्त करनेके लिए गृहवासको छोडकर बनवासी हो जाना।

१० ब्रह्मचर्य—उपर्युक्त दोनो प्रकारके प्रयत्नो द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्म-निर्भरता और आत्माकी स्वालम्बन-शक्तिके आधारपर ही भूख, प्यास, रोग आदि शारीरिक बाधाओंके पूर्णत नष्ट हो जाने (शरीरके पूर्णरूपसे आत्मनिर्भर हो जाने), तथा आत्माकी स्वालम्बन, शक्तिका चरम-विकास हो जानेपर आत्माके स्वभावभूत अनन्त-चतुष्टय (असीमित-दर्शन, असीमित-ज्ञान असीमित-वीर्य और असीमित-सुख) का उद्भव हो जानेके पश्चात् यथासमय आयुकी समाप्ति हो जानेपर ससार (शरीरके साथ आत्माके विद्यमान सम्बन्ध) का सर्वथा विच्छेद हो जाना और तब आगे अनन्तकालतक आत्माका अपने स्वतन्त्र-स्वरूपमें ही रमण करते रहना।

इस प्रकार दश धर्मोंके स्वरूपका आगमके आधारपर जो यह दिग्दर्शन कराया गया है, वह मानव-जीवनमें धर्मके क्रमिक-विकासको बतलाता है तथा इससे तीर्थंकर महावीरकी देशनामे प्रतिपादित धर्मका स्वरूप और उसका प्रारम्भिक व सर्वोत्कृष्ट रूप सरलतासे समझमे आ जाता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९।
२ तत्त्वार्थसूत्र ९।२०।

उक्त दश-धर्मोका वर्गीकरण

पूर्वमे स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारके अनुसार धर्मको सुखका कारण बतलाया गया है। धर्म और सुखका यह कार्य-कारणभाव दीपक और प्रकाशकी तरह सहभावी है। अर्थात् जिस प्रकार जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नही है वहाँ प्रकाश भी नही रहता है। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य होगा और जहाँ धर्म नही होगा वहाँ सुख भी नही होगा। पूर्वमे धर्मका जो यह स्वरूप निर्धारित किया गया है कि लोकमे जिस मार्गपर चलनेसे अभ्युदय (जीवनमें सुख शान्ति) और अन्तमे नि श्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह धर्म है। इससे स्पष्ट होता है कि सुख दो प्रकारका होता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुख और दूसरा नि श्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुख। इसके आधारपर धर्म भी मूलत दो भेदोमे विभक्त हो जाता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुखका कारणभूत लौकिक-धर्म और दूसरा नि'श्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुखका कारणभूत पारमार्थिक-धर्म। जो मनुष्य उक्त पारमार्थिक-सुखको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो पारमार्थिक-धर्मकी शरणमे ही जाना होगा, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मकी शरणमें अपनी अशक्तिवश नही जा सकता है, उसे कम-से-कम अपने लौकिक-जीवनमे शान्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिए लौकिक-धर्मकी शरणमें जाना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-का मुख्य कर्तव्य तो पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिके लिए पारमार्थिक-धर्मपर चलना ही है, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मपर चलनेमें असमर्थ है, उसे कम-से-कम लौकिक-जीवनमे सुख-शान्तिके उद्देश्यसे लौकिक-धर्म-पर अवश्य ही चलना चाहिए। तीर्थंकर महावीरकी देशनामें जो धर्मके उपर्युक्त दश भेद बतलाए गए है, वे इसी आशयसे बतलाए गए है। इसलिए उन दश धर्मोके दो वर्ग निश्चित हो जाते है—एक तो लौकिक-धर्मोका वर्ग और दूसरा पारमार्थिक-धर्मोका वर्ग। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और सयम ये छह धर्म तो लौकिक-धर्म कहलाने योग्य है और तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये चार धर्म पारमार्थिक-धर्म कहलाने योग्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पारमार्थिक-सुखकी प्राप्तिके लिए जिस प्रकार तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप पारमार्थिक-धर्मोका मानव-जीवनमे महत्व है, उसी प्रकार लौकिक-जीवनमे सुख शान्ति प्राप्त करनेके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच एव सयम रूप लौकिक-धर्मोका भी मानव-जीवन में महत्व है। यही कारण है कि धर्मके उल्लिखित दोनो वर्गोको मानवकी बहत्तर कलाओमेसे प्रधान कलाके रूपमें स्वीकार किया गया है।[1] धर्मोके क्रमिक-विकासकी दृष्टिसे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि मानव-जीवनमे जब तक उक्त लौकिक धर्मोका समावेश नही होता, तब तक उसमें उक्त पारमार्थिक-धर्मोका विकास होना असम्भव ही है।

मानव जीवनमे लौकिक-धर्मोके महत्त्वका कारण

मानव जीवनमें लौकिक-धर्मोके महत्त्वका उपर्युक्त एक कारण तो यही है कि जब तक मानव-जीवनमें लौकिक धर्मोका समावेश नही होगा, तब तक उसमे पारमार्थिक धर्मोका विकास होना असम्भव है, लेकिन सामान्यरूपसे मानव-जीवनमें लौकिक-धर्मोका महत्त्व इसलिए है कि तीर्थंकरकी देशनाके अनुसार प्रत्येक सप्राण शरीरमे उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व है। इतना ही नही, वह जीव शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके अस्तित्वके साथ ही उसका अस्तित्व उसे समझमे आता है, उसके बिना नही। जीवके भीतर जो ज्ञान करनेकी शक्ति है वह भी शरीरकी अगभूत इन्द्रियोके सहयोगके बिना पंगु बनी रहती

१. कला बहत्तर पुरुषकी तामे दो सरदार। एक जीवकी जीविका द्वितीय जीव उद्धार॥

है और यह भी बात है कि जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरतापर अवलम्बित है। जीवकी शरीरावलम्बनताका यह भी एक विचित्र किन्तु तथ्यपूर्ण अनुभव है कि यदि शरीरमें शिथिलता आदि विकार पैदा हो जाते हैं, तो जीवको क्लेश होता है और जब उन विकारोके नाशके अनुकूल साधनोका सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है, तो उन विकारोका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वे साधन अपना प्रभाव शरीरपर ही डालते हैं, परन्तु शरीरकी अधीनताके कारण सुखानुभोक्ता जीव होता है।

अब यदि यह कथन मनुष्यके ऊपर लागू किया जाय तो समझमे आ जायगा कि मानव-प्राणी भी शरीरके अधीन है और उसका वह शरीर भी भोजनादिकके अधीन है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य भोजनादिक के उपभोगमे प्रवृत्त होता है। प्रत्येक मनुष्यको भोजनादिककी प्राप्ति अन्य मनुष्योके सहयोगसे ही होती है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीरने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (त० सू० ५।२१) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। वैसे तो यह सिद्धान्त सम्पूर्ण ससारी जीवोपर लागू होता है, परन्तु मानव-जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट परिलक्षित होती है और इसीलिए मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है जिसका अर्थ यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमे सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और यहाँ तक कि विश्वके सहयोगकी आवश्यकता है। इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और विश्वके रूपमें मानव-सगठनके छोटे-बडे जितने रूप हो सकते हैं, उन सबको ठोस रूप देनेका सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसलिए तीर्थंकर महावीरकी देशना मे प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम उपदेश दिया गया है कि "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" अर्थात् दूसरोका जो आचरण उसको अपने प्रतिकूल जान पडता है वैसा आचरण उसको दूसरोके साथ नही करना चाहिए, इतना ही नही, दूसरोसे अपने प्रति वह जैसा आचरण चाहता है, वैसा ही आचरण उसे दूसरोके साथ भी करना चाहिए।

वास्तवमे देखा जाय तो वर्तमानमे प्रत्येक मनुष्यकी यह दशा है कि वह दूसरोको निरपेक्ष भावसे सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नही होता है, परन्तु अपनी प्रयोजन-सिद्धिके लिए वह न केवल दूसरोसे निरपेक्ष-सहयोग प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करता रहता है, प्रत्युत दूसरोके साथ सघर्ष करने, उन्हे तिरस्कृत करने और उन्हे धोखेमे डालनेसे भी नही चूकता है। इतना ही नही, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि वह अपना प्रयोजन रहते अथवा न रहते भी दूसरोके साथ हमेशा अनुचित आचरण करनेमे आनन्दित होता है।

तीर्थंकर महावीरके समयमें भी मानव-समाजकी यही दशा थी और उन्होने जाना था कि यह दशा मानव-समाजको विघटित करके प्रत्येक मनुष्यके जीवनको त्रस्त करनेवाली है, अत उन्होने अपनी देशनामें यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया था कि मानव-जीवनमें शान्ति-स्थापनाकी रीढ सामाजिक सगठनको सुदृढ करनेके लिए प्रत्येक मनुष्यको दूसरे मनुष्योके साथ, प्रत्येक कुटुम्बको दूसरे कुटुम्बोके साथ, प्रत्येक नगरको अन्य नगरोके साथ और प्रत्येक राष्ट्रको अन्य सभी राष्ट्रोके साथ अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी भी अनुचित आचरण नही करना चाहिए। इतना ही नही, आवश्यकता पडनेपर सभीको सभीके साथ निरपेक्ष-भावसे सतत् सहायकपनेका आचरण करते रहना चाहिए।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामे तो यज्ञोमे धर्मके नामपर होनेवाले पशुओकी रक्षाके अनुकूल जनमत जागृत करनेके लिये यहाँ तक कहा गया था कि जब प्राणीमात्र एक-दूसरे प्राणीका उपकारक है तो प्रत्येक

मनुष्यको सतत् "सत्वेषु मैत्री"[1] वाला पाठ याद रखना चाहिए और दूसरोंके साथ पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा सत्य धर्मोंके रूपमें ही अपना पवित्र आचरण बना लेना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक राष्ट्र अर्थात् विश्वका मानवमात्र जब तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्ममय अपना जीवन बना ले तभी वह अपनेको मानव या सभ्य कहलानेका अधिकारी हो सकता है तथा विश्वमें सच्ची अहिंसाका प्रसार भी इसी आधारपर हो सकता है और मानव-जीवनमे इसी आधारपर सुख-शान्तिकी लहर दौड सकती है।

ऊपर मनुष्यके सामाजिक-जीवनकी झाँकी बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त मनुष्यको जीवनमे सुखी बननेके लिए अपने व्यक्तिगत जीवनको भी धर्ममय बनाना होगा। अर्थात् लोकमे बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमे आते है कि वे लोभके वशीभूत होकर सम्पत्तिके सग्रहमे जितना आनन्द लेते है, उतना आनन्द वे उसके उपभोगमे नही लेते, यहाँ तक कि वे अपने शरीरकी आवश्यकताओकी पूर्तिमे भी बडी कंजूसीके साथ काम लेते है। इसी तरह लोकमे बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमें आते है कि वे लोलुपतावश पाँचो इन्द्रियोके विषयोका आवश्यकतासे अधिक उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नही होते।

बात तो वास्तवमे यह है कि भोजनादि पदार्थ मनुष्यकी मनसन्तुष्टिके लिए बिलकुल उपयोगी नही है, केवल शरीरके लिए ही वे उपयोगी सिद्ध होते है, फिर भी मनुष्य अपने मनके वशीभूत होकर ऐसा भोजन करनेसे नही चूकता, जो उसकी शारीरिक प्रकृतिके बिलकुल प्रतिकूल पडता है। इसी प्रकार वस्त्र या अन्य सभी उपयोगमे आनेवाली वस्तुओके विषयमे प्राय प्रत्येक मनुष्य जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचता है, उतनी शारीरिक अनुकूलताकी बात वह कभी नही सोचता है। ऐसा करनेसे मनुष्यके जीवनका ह्रास तो होता ही है, परन्तु साथ ही उसके इस आचरणका मानव-समाजके ऊपर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इसलिए तीर्थंकर महावीरके उपदेशमे यह बात बतलायी गयी है कि भोजन आदि बाह्य-सामग्री जीवनके लिए बडी उपयोगी है। अत मनुष्यको उसका जीवनमे उपयोग तो करना चाहिए, लेकिन उसका दुरुपयोग न हो—इस बातका भी उसे पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्यको उपर्युक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्मोंके साथ ही सग्रहवृत्तिको समाप्त करनेवाले शौच-धर्म तथा विलासपूर्ण-वृत्तिको समाप्त करनेवाले सयम-धर्मका अवलम्बन अपने जीवनमे अवश्य लेना चाहिए।

वास्तवमें विचार किया जाय तो लोक-शान्ति और जीवन-शान्तिके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और सयम ये छह धर्म है। इसलिए जबतक मानव-समाज इनके महत्त्वको न समझकर इनकी उपेक्षा करता रहेगा, तबतक उसके जीवनसे कुटुम्बमे, नगरमें, राष्ट्रमे और विश्वमे कभी भी शान्ति स्थापित नही हो सकती, और न कोई भी मनुष्य पारमार्थिक सुखके कारणभूत पारमार्थिक धर्मकी ओर ही वास्तविक रूपमे अग्रसर हो सकता है।

पारमार्थिक धर्मोकी मोक्ष-कारणता

ऊपर बतलाया गया है कि पारमार्थिक धर्म नि श्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक सुखके कारण है और यह भी बतलाया गया है कि मानव-जीवनमें जबतक उपर्युक्त लौकिक-धर्मोका समावेश नही होगा, तबतक उसमें उक्त पारमार्थिक धर्मोका विकास होना सम्भव नही है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार

---

१. सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥—सामायिक पाठ।

लौकिक धर्मोपर चलनेवाला मानव जब शारीरिक और ऐहिक दृष्टिसे सुखी हो जाता है, तभी वह यह सोचनेके लिए सक्षम होता है कि मेरा जीवन शरीरके अधीन है और शरीरकी स्थिरताके लिए मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और इनकी पूर्तिके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र तथा विश्व तकका सहारा लेना पडता है। इस तरह मैं मानव-सगठनके विशाल-जालमे फँसा हुआ हूँ। ऐसी स्थितिमे वह अपना भावी कर्त्तव्यका मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शरीर-बन्धनसे छुटकारा पा सके। उसके उस कर्त्तव्य-मार्गको तीर्थंकर महावीरकी देशनामे इस प्रकार बतलाया गया है कि सर्व प्रथम उसे अनशन आदि पूर्वोक्त बाह्य-प्रयत्नो (तपो) द्वारा शरीरमे आत्म-निर्भरता लानेका व प्रायश्चित आदि पूर्वोक्त अन्तरग प्रयत्नो (तपो) द्वारा आत्मामें स्वावलम्बनता लानेका पुरुपार्थ करना चाहिए तथा इन बहिरग और अन्तरग प्रयत्नोके आधारपर ही जैसी-जैसी शरीरकी आत्मनिर्भरता और आत्माकी स्वावलम्बनता बढती जाए, उसके आधारपर उसे बाह्य-पदार्थोके अवलम्बनको छोडने रूप त्याग धर्म (अणुव्रत आदि श्रावक धर्म) और इसके भी आगे आकिंचन्य धर्म (महाव्रत आदि मुनि-धर्म)को अगीकार कर लेना चाहिए। इस तरहका पुरुपार्थ उसे तवतक करते रहना चाहिए, जबतक कि उसका शरीर पूर्ण आत्मनिर्भर न हो जावे और आत्मा पूर्ण स्वावलम्बी न बन जावे। शरीरके पूर्ण आत्मनिर्भर हो जाने और आत्माके पूर्ण स्वावलम्बी बन जानेपर वह सर्व प्रथम जीवन्मुक्त परमात्मा बनता है और अन्तमे वह शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर ब्रह्मचर्यका धारक (आत्मलीन परमात्मा) बन जाता है अर्थात् नि श्रेयस (मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्य) को प्राप्तकर पारमार्थिक सुखका भोक्ता परमात्मा बन जाता है और वह सर्वदा अजर व अमर बना रहता है।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामें उपदिष्ट धर्मतत्त्वका यह विवेचन आगमके एक भेद चरणानुयोगके आधार पर किया गया है, क्योकि तीर्थंकर महावीरके धर्मतत्त्वको समझनेके लिए हमें चरणानुयोग ही एक सहारा है। चरणानुयोगमे धर्मतत्त्वको समझनेके लिए यद्यपि और भी कई प्रकार बतलाए गए है, परन्तु वे सब प्रकार भी धर्मतत्त्वको उपर्युक्त रूपमे ही प्रदर्शित करते है। यथा—

१ मिथ्यादर्शन (सुखकी अभिलाषासे दु:खके कारणोमें रुचि रखना), मिथ्याज्ञान (दु खके कारणोको सुखके कारण समझना) और मिथ्याचारित्र (सुखकी प्राप्तिके लिए दु खजनक प्रवृत्ति करना) यह सब अधर्म है तथा इनके ठीक विपरीत अर्थात् सम्यग्दर्शन (सुखकी अभिलाषासे सुखके कारणोमे ही रुचि रखना), सम्यग्ज्ञान (सुखके कारणोको ही सुखके कारण समझना) और सम्यक्‌चारित्र (सुख-प्राप्तिके लिए सुखके ही कारणोमें प्रवृत्त होना) यह सब धर्म है।[1]

२ हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, भोगविलासमें जीवन बिताना और धनादिकके सग्रहको ही जीवनका लक्ष्य बना लेना—यह सब अधर्म है तथा इस प्रकारकी प्रवृत्तियोको जीवनसे निकाल देना—यह सब धर्म है।[2]

३ धार्मिक प्रवृत्ति (धर्मपुरुषार्थ), आर्थिक प्रवृत्ति (अर्थपुरुषार्थ) और भोगमे प्रवृत्ति (कामपुरुषार्थ) इनका जीवनमें समन्वय नही करना अधर्म है तथा इनका जीवनमें समन्वय करते हुए अन्तमें केवल धर्मपुरुषार्थपर आरूढ हो जाना अर्थात् मोक्षपुरुषार्थमय जीवनको बना लेना धर्म है।

पहले प्रकारमे जो सम्यग्दर्शनादिकको धर्म कहा गया है, उनमेंसे सम्यग्दर्शनका अन्तर्भाव तो क्षमा,

---

१ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।

२. हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।—तत्त्वार्थसूत्र ७।१।

मार्दव, सत्य, शौच और सयम धर्मोंमें हो जाता है, क्योकि कोई भी मनुष्य जबतक अपने जीवनमें इन छह धर्मोको स्थान नही देगा तब तक सम्यग्दृष्टि त्रिकालमे नही हो सकता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टिको वृत्ति और प्रवृत्ति कभी अन्याय, अत्याचार आदि उच्छृंखलताओको लिए हुए नही हो सकती है और यदि इस तरहकी वत्ति और प्रवृत्ति किसीकी होती है तो वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है। इसी प्रकार सम्यक्चारित्रका अन्तर्भाव तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मोमे हो जाता है। जैसा कि इन धर्मोंके पूर्वमे किए गए स्वरूप-विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें यदि विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि ज्ञान अपने आपमें न तो धर्म है और न अधर्म है, इसलिए जब तक उसका सम्बन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे रहता है तब तक तो उसका अन्तर्भाव अधर्ममे होता और जब उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे हो जाता है तब उसका अन्तर्भाव धर्ममें हो जाता है।

दूसरे प्रकारमे जो अहिंसादिकको धर्म कहा गया है उनका समावेश क्षमा आदि धर्मोमे निम्न प्रकार होता है।

अहिंसा और अचौर्य ये दोनो निवृत्तिपरक धर्म है क्योकि हिंसासे निवृत्ति अहिंसा, और चोरीसे निवृत्ति अचौर्य कहलाता है। दूसरोके लिए अप्रिय वचन बोलना अथवा बध, बन्धन, ताडन, छेदन, भेदन आदि क्रियाओ द्वारा कष्ट पहुँचाना हिंसा है, अत इन सबसे निवृत्ति स्वरूप अहिंसाका समावेश क्षमाधर्ममे होता है। इसी प्रकार दूसरोकी वस्तुओको उनकी आज्ञाके बिना अपनी बना लेना चोरी है। यह चोरी अपने आपमे अधर्म न होकर दूसरोको कष्ट पहुँचाने रूप हिंसाका कारण होनेसे ही अधम है अत कारणमें कार्यका उपचार होनेसे चोरी भी एक तरहसे हिंसाका ही रूप सिद्ध होती है, इसलिए चोरीसे निवृत्तिरूप अचौर्यधर्मका समावेश भी क्षमाधर्ममें हो जाता है। तथा यदि और बारीकीसे अहिंसा व अचौर्यका विश्लेपण किया जाय तो अहिंसाका समावेश क्षमाके साथ-साथ मार्दवधर्ममे होता है, कारण कि अप्रिय वचन बोलनेका अर्थ दूसरोका तिरस्कार करना ही तो है अत दूसरोका तिरस्कार नही करने रूप अहिंसाका समावेश मार्दवधर्ममे भी हो जाता है। इसी तरह अचौर्य धर्मका समावेश आर्जव धर्ममे करना उचित है कारण कि छल-कपट करना चोरीका ही रूपान्तर है।

सत्य धर्म प्रवृत्तिपरक धर्म है। लोकमे दूसरोको कष्ट नही पहुँचाना, इनका तिरस्कार नही करना और उन्हे धोखेमे नही डालना—यह तो धर्म है ही, परन्तु अहिंसा और अचौर्य धर्मोकी सीमा केवल इस तरहके अधर्मसे निवृत्ति रूपमे ही नही समाप्त हो जाती है प्रत्युत इस निवृत्तिके आगे इनका कुछ प्रवृत्तिपरक रूप भी होता है। इसलिये उक्त प्रकारसे अहिंसा और अचौर्यवृत्तिके धारक मनुष्यको तीर्थंकर महावीरकी देशनामे यह उपदेश दिया गया है कि दूसरोके प्रति हित-मित-प्रिय वचन बोलो, उनके साथ सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार भी करो तथा आवश्यकतानुसार उन्हे यथाशक्ति तन-मन-धनसे सहायता भी पहुँचाओ। इस तरह अहिंसादि पाँच धर्मोमे समाविष्ट सत्य-धर्म और क्षमा आदि दश धर्मोमे समाविष्ट सत्य धर्म—इन दोनोमे कोई अन्तर नही रह जाता है। ये अहिंसा आदि तीन धर्म और क्षमा आदि चार धर्म लौकिक धर्म ही है, कारण कि ये सभी मानव-सगठनकी स्थिरताके आधार है।

'कुशील' शब्दका लौकिक दृष्टिसे अर्थ होता है—पर वस्तुओंका जीवनको हानिकर एव अमर्यादित होकर उपभोग करना, इसलिए इससे विपरीत अर्थके बोधक ब्रह्मचर्य धर्मका समावेश सयम धर्ममे होता है। परन्तु यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिए कि पारमार्थिक धर्मकी ओर बढने वाले मनुष्यके लिए जो उपभोग आज आवश्यक है, कल वह उसे अनावश्यक भी हो जाता है। अत. ऐसे अनावश्यक उपभोगका त्याग

धर्ममे और अन्ततोगत्वा आकिंचन्य धर्ममें समाविष्ट होता है। लोकमें और धर्मग्रन्थोमे ब्रह्मचर्य धर्मका जो पर-पुरुष या पर-स्त्री-रमणका त्याग अथवा आगे स्वपुरुष और स्वस्त्री-रमणका भी त्याग अर्थ किया जाता है वह यद्यपि मिथ्या नही है परन्तु वह अपूर्ण अवश्य है, कारण कि मनके वशीभूत होकर अथवा शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए जितना पर वस्तुओका अवलम्बन जीवनमें लिया जाता है वह सभी कुशीलमें अन्तर्भूत होता है। इसलिए परवस्तुओके अवलम्बनका मानसिक दृष्टिसे तो सर्वथा त्याग हो जाना तथा शारीरिक दृष्टिसे शक्तिके अनुसार त्यागकर देना ही ब्रह्मचर्य धर्म है।

'अपरिग्रह' शब्दके दो अर्थ होते है—एक तो ईषत् परिग्रह (सग्रह) अर्थात् परिग्रह (सग्रह) का परिमाण और दूसरा परिग्रह (सग्रह) का त्याग। इस तरह परिग्रहके परिमाण रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश लौकिक धर्म होनेके कारण शौच धर्ममें और परिग्रहके त्याग रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश पारमार्थिक धर्मके रूपमे त्याग तथा आकिंचन्य धर्ममे होता है। और अन्तमें उपभोग तथा परिग्रह दोनोका त्याग दशम ब्रह्मचर्यमे अन्तर्भूत होता है।

यदि उक्त पाँचो पापोके उद्भवके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो समझमे आ जायगा कि उनमेसे कुशील (भोग) और परिग्रह (सग्रह) ये दोनो पाप जीवकी लोभ-वृत्तिके परिणाम है तथा हिंसा, झूठ और चोरी क्रोध, मान और माया-वृत्तिके परिणाम है लेकिन इनमें यदि परस्परके कार्यकारणभावपर विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि कुशील (भोग) और परिग्रह (सग्रह) ये दोनो पाप ही सब पापोंके मूल है क्योकि प्राय देखनेमें आता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्तिके लिये ही हिंसा करनेमें उद्यत होता है, झूठ बोलता है और चोरी भी करता है। इस तरह कहना चाहिए कि सबसे भयकर पाप जीवकी स्वार्थ-वृत्तिका परिचायक लोभ ही है। यही कारण है कि चरणानुयोग-आगममें "लोभ पापका बाप बखाना"के रूपमे लोभको पापका बाप कहकर पुकारा गया है।

इस प्रकार धर्मकी चाहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्याख्या की जावे, चाहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप' व्याख्या की जावे अथवा चाहे क्षमा आदि उपर्युक्त दश धर्म रूप व्याख्या की जावे—इन सभी व्याख्याओमें भावका कुछ भी अन्तर नही है। अर्थात् ये सभी प्रकारके धर्म पूर्वोक्त प्रकार धर्मके लौकिक और पारमार्थिक दोनो वर्गोंमें समाविष्ट होते है। इसी धर्मका एक प्रकार जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोके समन्वयरूप त्रिवर्गके रूपमें व केवल धर्म पुरुषार्थकी स्थितिको प्राप्त मोक्ष-पुरुषार्थरूप अपवर्गके रूपमें बतलाया गया है वह भी त्रिवर्गके रूपमें तो धर्मके लौकिक वर्गमे और अपवर्गके रूपमे धर्मके पारमार्थिक वर्गमे समाविष्ट होता है।

यहाँपर मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तीर्थंकर महावीरकी देशनाके अनुसार धर्मका सद्भाव सम्यग्दर्शनके रूपमें देवगति और नरक गतिमे तथा सम्यग्दर्शन और यत्किंचित् चारित्रके रूपमें तिर्यग्गतिमें भी स्वीकार किया गया है। परन्तु लोकमें और धर्मग्रन्थो (चरणानुयोग) में धर्मके विषयमे जो कुछ सोचा और कहा गया है, उसमें मुख्यतया मानव-जीवनको ही लक्ष्य बनाया गया है। वास्तवमे बात भी ऐसी है कि धर्मका जो महत्त्व मानव-जीवनमें प्रस्फुटित होता है वह नारकियो, देवो और तिर्यंचोके जीवनमे प्रस्फुटित नही होता, क्योकि ससारमें मानव ही ऐसा प्राणी है जिसे अपना जीवन सुखमय बनानेके लिए मानव-समाजको लेकर सगठनात्मक प्रयत्न करना और अपने जीवनके अधिकारोकी सीमा निर्धारित करना अनिवार्य होता है तथा मोक्षकी प्राप्ति भी मानव-जीवनसे ही होती है।

इस तरह चरणानुयोगकी दृष्टिसे निर्णीत किया जाय, तो तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान धर्मतत्त्वके

रूपमे ही निर्णीत होता है और यह धर्मतत्त्व जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है—लौकिक तथा पारमार्थिक सुखमे कारणभूत लौकिक और पारमार्थिक धर्मोके रूपमे विभक्त हो जाता है। इस धर्मतत्त्वको इसी रूपमे यदि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक देश—इस तरह सम्पूर्ण विश्वकी मानव जाति हृदयगम करके अपने जीवनका अग बना ले तो एक तो विश्वमे सर्वत्र सघर्षकी स्थिति समाप्त होकर परस्पर प्रेमभावका सचार हो सकता है; दूसरे प्रत्येक मानव अन्तमे अपने महान लक्ष्य पूर्वोक्त पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिकी ओर भी यथाशक्ति अग्रसर हो सकता है।

यद्यपि तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे छह प्रकारके द्रव्योके रूपमें व करणानुयोग की दृष्टिसे सप्ततत्त्व या नवतत्त्वोके रूपमे भी निर्णीत होता है। साथ ही इस सभी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी व्यवस्थाके लिए तीर्थंकर महावीरकी देशनामे कर्मवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभगीवाद तथा प्रमाणवाद और नयवादकी भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु जिस प्रकार ऊपर धर्मतत्त्वकी विस्तारसे विवेचना की गयी है, उसी प्रकार इन सबकी विवेचना भी विस्तारकी अपेक्षा रखती है, जो कि स्वतन्त्र रूपसे अनेक लेखोका रूप धारण करने योग्य है। अत आवश्यक होकरके भी इन सबपर लेखमें विचार नही किया गया है। ये सभी विपय आवश्यक इसलिए है कि इनका सम्बन्ध मनुष्यके पारमार्थिक जीवनसे तो है ही, परन्तु उसके लौकिक जीवनसे भी कम सम्बन्ध नही है क्योकि विचारकर देखा जावे तो समझमे आ सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का एक क्षण भी इनके बिना नही व्यतीत होता अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें इनका उपयोग तो करता ही रहता है, परन्तु इनके स्वरूपसे वह हमेशा अनभिज्ञ बना हुआ है।

जैन दर्शनमें आत्मतत्त्व

१ जैन दर्शनके प्रकार

प्रचलित दर्शनोमेसे किसी-किसी दर्शनको तो केवल भौतिक दर्शन और किसी-किसी दर्शनको केवल आध्यात्मिक दर्शन कहा जा सकता है। परन्तु जैन-दर्शनके भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार स्वीकार किये गये है।

विश्वको सम्पूर्ण वस्तुओके अस्तित्व, स्वरूप, भेद-प्रभेद और विविध प्रकारसे होनेवाले उनके परिणमनका विवेचन करना 'भौतिक दर्शन' और आत्माके उत्थान, पतन तथा इनके कारणोका विवेचन करना 'आध्यात्मिक दर्शन' है। साथ ही भौतिक दर्शनको 'द्रव्यानुयोग' और आध्यात्मिक दर्शनको 'करणानुयोग' भी कह सकते है। इस तरह भौतिकवाद, विज्ञान (साइन्स) और द्रव्यानुयोग ये सब भौतिक दर्शनके और अध्यात्मवाद तथा करणानुयोग ये दोनो आध्यात्मिक दर्शनके नाम है।

२ जैन सस्कृतिमे विश्वकी मान्यता

'विश्व'[१] शब्दको कोष-ग्रन्थोमे सर्वार्थवाची शब्द स्वीकार किया गया है, अत' विश्व शब्दके अर्थमे उन सब पदार्थोका समावेश हो जाता है जिनका अस्तित्व सभव है। इस तरह विश्वको यद्यपि अनन्त[२] पदार्थोका समुदाय कह सकते है। परन्तु जैन-सस्कृतिमें इन सम्पूर्ण अनन्त पदार्थोको निम्नलिखित छ[3] वर्गोमे समाविष्ट कर दिया गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

इनमेसे जीवोकी[४] संख्या अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो एक-एक है तथा काल असख्यात है। इन सबको जैन-सस्कृतिमे अलग-अलग द्रव्य[५] नामसे पुकारा गया है क्योकि एक प्रदेशको[६] आदि लेकर दो आदि सख्यात और अनन्त प्रदेशोके रूपमे अलग-अलग इनके आकार पाये जाते हैं या बतलाये गये है।

जिस द्रव्यका सिर्फ एक ही प्रदेश होता है उसे एकप्रदेशी[७] और जिस द्रव्यके दो आदि सख्यात, असख्यात या अनन्त प्रदेश होते है उसे बहुप्रदेशी[८] द्रव्य माना गया है। इस तरह प्रत्येक जीव तथा धर्म और

---

१ अमरकोष—तृतीयकाण्ड-विशेष्यनिघ्नवर्ग, श्लोक—६४, ६५।

२ 'अनन्त' शब्द जैन-सस्कृतिमें सख्याविशेषका नाम है। इसी तरह आगे आनेवाले सख्यात और असख्यात शब्दोको भी सख्याविशेषवाची ही माना गया है। जैन-सस्कृतिमे सख्यातके सख्यात, असख्यातके असख्यात और अनन्तके अनन्त-भेद स्वीकार किये गये है। (इनका विस्तृत विवरण-तत्त्वार्थराजवार्तिक—१-३८।

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला , जीवाश्च और कालश्च।—त० अ० ५—१, ३ व ३८।

४ यद्यपि विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोकी संख्या ही अनन्त है लेकिन अनन्त सख्याके अनन्त-भेद होनेके कारण जीवोकी सख्या भी अनन्त है और पुद्गलोकी सख्या भी अनन्त है। इसमें कोई विरोध नही आता।

५ द्रव्याणि।—तत्त्वार्थसूत्र ५।२।

६ द्रव्यसग्रह गा० २७।

७ एकप्रदेशवदपि द्रव्य स्यात् खण्डवर्जित. स यथा।—पचाध्यायी, १—३६।

८. पचाध्यायी, १।२५।

अधर्म ये तीनों द्रव्य समान असंख्यात[१] प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य है, अनन्त[२] पुद्गल सिर्फ एक प्रदेश वाले द्रव्य हैं और अनन्त[३] पुद्गल दो आदि सख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य माने गये हैं। इसी प्रकार आकाशको अनन्त[४] प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी और सपूर्णकालोंमेंसे प्रत्येल कालको एकप्रदेशी[५] द्रव्य स्वीकार किया गया है। यहाँपर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि सपूर्ण काल द्रव्य असंख्यात[६] होकर भी उतने हैं, जितने कि प्रत्येक जीवके या धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके प्रदेश बतलाये गये है।

इन सब द्रव्योमेसे आकाश द्रव्य सबसे बडा और सब ओरसे असीमित विस्तार वाला द्रव्य है तथा बाकीके सब द्रव्य इसी आकाशके अन्दर ठीक मध्यमें सीमित होकर रह रहे हैं।[७] इस प्रकार जितने आकाशके अन्दर उक्त सब द्रव्य याने सब जीव, सब पुद्गल, धर्म, अधर्म, और सब काल विद्यमान हैं उतने आकाशको लोकाकाश और शेष समस्त सीमारहित आकाशको अलोकाकाश नामसे पुकारा गया है।[८] यहाँपर भी इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि आकाशके जितने हिस्सेमे धर्म द्रव्य अथवा अधर्म द्रव्यका जिस रूपमे वास है वह हिस्सा उसी रूपमे लोकाकाशका समझना चाहिये। इस तरह लोकाकाशके भी धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके समान ही असख्यात प्रदेश सिद्ध होते है तथा धर्म और अधर्म द्रव्योकी ही तरह सम्पूर्ण अनन्त जीव द्रव्यो, सपूर्ण अनन्त पुद्गल द्रव्यो तथा सपूर्ण असख्यात काल द्रव्योका निवास भी आकाशके इसी हिस्सेमे समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्योकी बनावटके बारेमे जैन-ग्रन्थोमें लिखा है कि जब कोई मनुष्य यथासभव अपने दोनो पैर फैलाकर और दोनो हाथोको अपनी कमरपर रखकर सीधा खडा हो जावे, तो जो आकृति उस मनुष्यकी होती है वही आकृति धर्म और अधर्म दोनों द्रव्योंकी समझनी चाहिये। यही कारण है कि लोकको पुरुषके आकार वाला बतलाया गया है और जिसे—ब्रह्माण्ड या परब्रह्म भी इसीलिए कहा गया है।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यकी बनावटके[९] बारेमे जैन-ग्रन्थोमे यह भी लिखा है कि इन दोनो द्रव्योकी ऊँचाई चौदह रज्जु, मोटाई उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु और चौडाई पूर्व-पश्चिम नीचे बिल्कुल अन्तमे सात रज्जु, ऊपर क्रमसे घटते-घटते मध्यमे सात रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु, फिर इसके ऊपर क्रमसे बढते-बढते साढे तीन रज्जुकी ऊँचाईपर पाँच रज्जु तथा उसके भी ऊपर क्रमसे घटते-घटते बिल्कुल अन्तमें साढे तीन रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु है।

---

१ असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ८।

२. नाणो।—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ११। यहाँपर 'अणु' एकप्रदेशी द्रव्य है' यही अर्थ ग्रहण किया गया है।—पचाध्यायी, अध्याय १ श्लोक ३६।

३ सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम्।—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १०।
यहाँपर 'च' शब्दसे अनन्तसख्याका भी ग्रहण किया गया है।

४. आकाशस्यानन्ता।—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ९।

५ देखिये, टिप्पणी नं० ७ "कालाणुर्वा यत. स्वत सिद्ध"।

६ ते कालाणू असखदव्वाणि।—द्रव्यसग्रह गा० २२।

७ लोकाकाशेऽवगाह।—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२।

८. पचाध्यायी, अ० २, श्लोक २२।

९. तत्त्वार्थराजवार्तिक—५-३८।

जब कि धर्म और अधर्म द्रव्योकी बनावटके समान ही लोकाकाशकी बनावट है तो इसका मतलब यही है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योका एक-एक प्रदेश साथ-साथ बैठा हुआ है[1] तथा इसी तरह लोकाकाशके उस-उस प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योके प्रदेशोके साथ-साथ एक-एक काल द्रव्य भी विराजमान[2] है। इस तरह सम्पूर्ण असख्यात काल द्रव्य मिलकर धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा लोकाकाशकी बनावटका रूप धारण किये हुए है।

इन चारो द्रव्योमेंसे आकाश द्रव्य तो असीमिन अर्थात् व्यापक होनेकी वजहसे निष्क्रिय है ही, साथ ही शेष धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और सपूर्ण काल द्रव्योको भी जैन-सस्कृतिमे निष्क्रिय[3] द्रव्य ही स्वीकार किया गया है अर्थात् इन चारो प्रकारके द्रव्योमे हलन-चलनरूप क्रियाका सर्वथा अभाव है। ये चारो ही प्रकारके द्रव्य अकप स्थिर होकर ही अनादिकालसे रहते आये है और रहते रहेगे। इनके अतिरिक्त सभी जीव और सभी पुद्गल द्रव्योको क्रियावान् द्रव्य स्वीकार किया गया है और यह भी एक कारण है कि जिस प्रकार धर्मादि द्रव्योकी बनावट नियत है उस प्रकार जीव द्रव्यो और पुद्गल द्रव्योकी बनावट नियत नही है। प्रत्येक जीव यद्यपि धर्म या अधर्म अथवा लोकाकाशके बराबर प्रदेशो वाला है और कभी-कभी कोई जीव अपने प्रदेशोको फैलाकर समस्त[4] लोकमें व्याप्त होता हुआ उस आकृतिको प्राप्त भी कर लेता है। परन्तु समान्यरूपसे प्रत्येक जीव छोटे-बडे जिस शरीरमें जिस समय पहुँच गया हो, उस समय वह उसीकी आकृति[5] का रूप धारण कर लेता है। पुद्गल द्रव्योमें यद्यपि एकप्रदेशी सभी पुद्गल क्रियावान् होते हुए भी नियत आकारवाले हैं। परन्तु अवगाहन-शक्तिकी विविधताके कारण दो आदि सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोवाले पुद्गलोके आकार नियत नही है। यही वजह है कि दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशोवाले अनन्तो पुद्गल लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमें भी समाकर रह रहे है। यद्यपि सामान्यरूपसे प्रत्येक जीवका निवास लोकाकाशके असख्यातवें भाग क्षेत्रमे माना गया है, परन्तु परस्पर अव्याघातशक्तिके प्रभावसे एक ही क्षेत्रमें अनन्तो जीव भी एक साथ रहते हुए माने गये हैं।

प्रत्येक जीव चेतना-लक्षण वाला है और चेतनारहित होनेके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और सपूर्ण काल द्रव्योको अजीव माना गया है। इसी प्रकार सभी पुद्गल रूपी[6] माने गये है अर्थात् सभी पुद्गलोमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते है। यही कारण है कि इनका ज्ञान हमे स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन बाह्य इन्द्रियोसे यथायोग्य होता रहता है।[7] पुद्गलोके अतिरिक्त सब जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और सब काल इन सभीको अरूपी स्वीकार किया गया है अर्थात् इनमे रूप, रस, गध और स्पर्श इन चारो पुद्गल गुणोका सर्वथा अभाव पाया जाता है। अत- इनका ज्ञान भी हमे उक्त बाह्य 'इन्द्रियोंसे नही

---

१. धर्माधर्मयो कृत्स्ने।—तत्त्वार्थसूत्र, ५।१२।
२. द्रव्यसग्रह, गाथा २२।
३. निष्क्रियाणि च।—तत्त्वार्थ० ५।७।
४. केवलसमुद्घातके भेद लोकपूरण समुद्घातमे यह स्थिति होती है।
५. द्रव्यसग्रह, गाथा १०।
६ रूपिणः पुद्गला। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त' पुद्गला।—तत्त्वा० ५।२३।
७ इन्द्रियग्राह्य होनेसे ही पुद्गल द्रव्योको मूर्त और इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ही शेष सब द्रव्योको अमूर्त भी माना गया है। —पचाध्यायी २, श्लोक ७।

होता है। यद्यपि अनन्तो पुद्गलोका ज्ञान भी हमे बाह्य इन्द्रियोसे नही होता है। परन्तु इससे उन पुद्गलोमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका अभाव नही मान लेना चाहिये। कारण कि इन गुणोका सद्भाव रहते हुए भी इन पुद्गलोमें पायी जानेवाली सूक्ष्मता ही उक्त बाह्य इन्द्रियोसे उनका ज्ञान होनेमे बाधक है। इसी तरह शब्दका ज्ञान जा हमे बाह्य कर्ण इन्द्रियसे होता है। इससे शब्दकी पौद्गलिकता सिद्ध होती है।

जीवद्रव्योके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमे इस लेखमे आगे विचार किया जायगा। शेष द्रव्योके अस्तित्व और स्वरूपके विपयमें यहाँपर विचार किया जा रहा है—

जिनका स्वभाव पूरण और गलनका है[1] अर्थात् जो परस्पर सयुक्त होते-होते बडे-से-बडे पिण्डका रूप धारण कर लें और पिण्डमेसे वियुक्त होते-होते अन्तमे अलग-अलग एक-एक प्रदेशका रूप धारण कर ले, उन्हे पुद्गल कहा गया है। ऐसे स्थूल पुद्गल तो हमें सतत दृष्टिगोचर हो ही रहे है लेकिन सूक्ष्मसे सूक्ष्म और छोटे-से-छोटे पुद्गलोके अस्तित्वको भी—जिनका ज्ञान हमे अपनी बाह्य इन्द्रियोसे नही हो पाता है—विज्ञानने सिद्ध करके दिखला दिया है। अणुबम और उद्जनबम आदि पदार्थ उन सूक्ष्म और छोटे पुद्गलोकी अचित्य शक्तिका दिग्दर्शन करा रहे है।

सब जीव और सब पुद्गल क्रियाशील द्रव्य है वे जिस समय क्रिया करते है और जबतक करते है तब तक उनकी उस क्रियामें सहायता करना धर्म द्रव्यका स्वभाव है।[2] इसी तरह कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करते-करते जिस समय रुक जाता है और जब तक रुका रहता है उस समय और तबतक उसके ठहरनेमे सहायता करना अधर्म द्रव्यका स्वभाव है[3]। यद्यपि जैन-सस्कृतिमे जीव और पुद्गल द्रव्योको स्वत क्रियाशील माना गया है परन्तु यदि अधर्म द्रव्य नही होता तो गतिमान् जीव और पुद्गल द्रव्योके स्थिर होनेका आधार ही समाप्त हो जाता और यदि धर्म द्रव्य नही होता तो ठहरे हुए जीव और पुद्गलोके गतिमान् होनेका भी आधार समाप्त हो जाता, अत जैन-सस्कृतिमे धर्म और अधर्म दोनो द्रव्योका अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि मुक्त जीव स्वभावत ऊर्ध्व गमन करते हुए भी ऊपर लोकके अग्रभागमे जैन मान्यताके अनुसार इसलिये रुक जाते है क्योकि उसके आगे धर्म द्रव्यका अभाव है[4]।

सब द्रव्योको उनकी निज-निज आकृतिके अनुसार अपने उदरमें समा लेना आकाश द्रव्यका स्वभाव है।[5] प्रत्येक द्रव्यका लम्बे, चौडे, मोटे, गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि विभिन्न रूपोमे दृष्टिगोचर होता हुआ छोटा-बडा आकार हमें आकाशके अस्तित्वको माननेके लिये बाध्य करता है। अन्यथा आकाश द्रव्यके अभावमे सब वस्तुओके परस्पर विलक्षण आकारोका दिखाई देना असभव हो जाता।

इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश स्वत परिणमनशील द्रव्य माने गये है परन्तु इन सबके उस परिणमनका क्षणिक विभाजन करना काल द्रव्यका स्वभाव है[6] अर्थात् द्रव्यो

---

१ अणव स्कन्धाश्च। भेदसघातेभ्य। उत्पद्यन्ते। भेदादणु—त० सू० ५–२५, २६, २७।

२. द्रव्यसग्रह, गा० १७।

३ द्रव्यसग्रह, गा० १८।

४. धर्मास्तिकायाभावात्।–तत्त्वा०–१।९।

५ आकाशस्यावगाह।–तत्त्वा०–५।१८।

६ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य। तत्त्वा०–५।२२।

की अवस्थाओमे जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ताका व्यवहार होता रहता है अथवा कालिक दृष्टिसे जो नये-पुराने या छोटे-बडेका व्यवहार वस्तुओमे होता है उससे कालद्रव्योके अस्तित्वको स्वीकार किया गया है।

आकाश द्रव्य एक क्यो है ? इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि वह सीमारहित द्रव्य है। 'सीमा-रहित' शब्दका व्यापकरूप अर्थ होता है और 'सीमासहित' शब्दका व्याप्य रूप अर्थ होता है तथा व्यापक द्रव्य वही होगा जिससे बडा कोई दूसरा द्रव्य न हो। अत आकाश द्रव्यका एकत्व अपरिहार्य है और इस आकाशकी बदौलत ही दूसरे द्रव्योको ससीम कहा जा सकता है।

धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्योको भी जैन-सस्कृतिमे जो एक-एक ही माना गया है उसका कारण यह है कि लोकाकाशमे विद्यमान समस्त जीव द्रव्यो और समस्त पुद्गल द्रव्योको गमनमे सहायक होना धर्म द्रव्यका काम है और ठहरनेमे सहायक होना अधर्म द्रव्यका काम है। ये दोनो काम एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमे व्याप्त धर्म द्रव्य और इसी प्रकार एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमें व्याप्त अधर्म द्रव्यके माननेसे सिद्ध हो जाते है। अत इन दोनो द्रव्योको भी अनेक स्वीकार न करके एक-एक[1] ही स्वीकार किया गया है।

काल द्रव्यको अणुरूप (एकप्रदेशी) स्वीकार करके उसके लोकाकाशके प्रमाण विस्तारमे रहनेवाले असख्यात भेद स्वीकार करनेका अभिप्राय यह है कि काल द्रव्यसे सयुक्त होनेपर ही वस्तुमे वर्तमानताका व्यवहार होता है और यदि किसी वस्तुका काल द्रव्यसे संयोग था, अब नही है तो उस वस्तुमें भूतताका तथा यदि किसी वस्तुका आगे काल द्रव्यसे सयोग होने वाला हो, तो उस वस्तुमें भविष्यताका व्यवहार होता है। अब यदि काल द्रव्यको धर्म और अधर्म द्रव्योकी तरह एक अखण्ड लोकाकाश भरमे व्याप्त स्वीकार कर लेते है तो किसी भी वस्तुका कभी भी काल द्रव्यसे असयोग नही रहेगा। ऐसी हालतमे प्रत्येक वस्तु सतत और सर्वत्र विद्यमान ही मानी जायगी, उसमे भूतता और भविष्यत्ताका व्यवहार करना असगत हो जायगा। लेकिन जब काल द्रव्योको अणु रूपसे अनेक मान लेते है तो जितने काल द्रव्योसे जिस वस्तुका जब सयोग रहता है उन काल द्रव्योकी अपेक्षा उस वस्तुमे तब वर्तमानताका व्यवहार होता है और जिनसे पहले सयोग रहा है किन्तु अब नही है उनकी अपेक्षा भूतताका तथा जिनसे आगे सयोग होने वाला है उनकी अपेक्षा भविष्यत्ताका व्यवहार भी उस वस्तुमें सामञ्जस हो जाता है। जैसे एक ही व्यक्तिमें एक ही साथ हम 'यहाँ है, पहले वहाँ था, और आगे वहाँ होगा' इस तरह वर्तमानता, भूतता और भविष्यत्ताका जो व्यवहार किया करते है उसका कारण यही है कि जहाँके काल द्रव्योंसे पहले उसका सयोग था उनसे अब नही है। अब दूसरे काल द्रव्योसे उसका सयोग हो रहा है और आगे दूसरे काल द्रव्योसे उसका सयोग होनेकी सभावना है। इस प्रकार जब दूसरे अणुरूप भी द्रव्य पाये जाते है और उनमें भी भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ताका व्यवहार होता है तो इनमे यह व्यवहार कालको अणुरूप स्वीकार किये बिना सभव नही हो सकता है अत काल द्रव्यको अणुरूप मानकर उसके लोकाकाशके प्रमाण असख्यात भेद मानना ही युक्तिसंगत है।

इस तरहसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असख्यात काल इन सब द्रव्योके समुदायका नाम ही विश्व है क्योकि इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विश्वमें शेष नही रह जाती

---

१ आ आकाशादेकद्रव्याणि।—तत्त्वा० ५।६। इस सूत्रमे धर्म, अधर्म और आकाशको एक-एक ही द्रव्य बतलाया गया है।

है। ये सब द्रव्य यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र रूपमे अनादि है और अनिधन[1] है फिर भी अपनी-अपनी अवस्थाओके रूपमे परिणमनशील[2] है। अत सब वस्तुओके परिणमनशील होनेकी वजहसे ही विश्वको 'जगत्' नामसे भी पुकारा जाता है क्योकि 'गच्छतीति जगत्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जगत्' शब्दका अर्थ 'परिणमनशील वस्तु' स्वीकार करनेका ही यहाँपर अभिप्राय है।

३ द्रव्यानुयोगमे आत्म-तत्त्व

ऊपर जैन-सस्कृतिके अनुसार जितना कुछ विश्वके पदार्थोंका विवेचन किया गया है वह सब विवेचन द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे ही किया गया है। उस विवेचनमें विश्वके पदार्थोमें जीवद्रव्यको भी स्थान दिया गया है इसलिए यहाँपर द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे उसका भी विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्यका ही अपर नाम 'आत्मा' है। इसका ग्रहण स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन बाह्य इन्द्रियोसे न हो सकनेके कारण "विश्वके पदार्थोमे आत्माको स्थान दिया जा सकता है या नही ?"—यह प्रश्न प्रत्येक दर्शनकारके समक्ष विचारणीय रहा है। इतना होते हुए भी हम देखते है किसी भी दर्शनकार ने स्वकीय (स्वयं अपने) अस्तित्वको अमान्य करनेकी कोशिश नही की है। वह ऐसी कोशिश करता भी कैसे ? क्योकि उसका उस समयका सवेदन (अनुभवन) उसे यह बतलाता रहा कि वह स्वय दर्शनकी रचना कर रहा है इसलिए वह यह कैसे कह सकता था कि "उसका निजी कोई अस्तित्व ही नही है ?"

यही बात सभी सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोके विषयमे कही जा सकती है अर्थात् कोई भी संज्ञी पचेन्द्रिय जीव अपने अस्तित्वके विषयमे सदेहशील नही रहते है। कारण कि जिस समय जो कुछ वे करते है उस समय उन्हे इस बातका अनुभवन होता ही है कि वे अमुक कार्य कर रहे है। इस तरह जब वे अपने अनुभवके आधारपर स्वय अपनेको यथासमय उस कार्यका कर्ता स्वीकार करते रहते है तो फिर वे ऐसा संदेह कैसे कर सकते है कि 'उनका अपना कोई अस्तित्व है या नही ?' यहाँपर अपने अस्तित्वका अर्थ ही आत्माका अस्तित्व है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोको सतत स्वसवेदन (अपना अनुभवन) होता रहता है परन्तु शरीरके अन्दर व्याप्त होकर रहने वाला 'मैं' शरीरसे पृथक् तत्त्व हूँ—ऐसा सवेदन तो किसीको भी नही होता है, अत॰ यह बात कैसे मानी जा सकती है कि 'शरीरसे अतिरिक्त 'आत्मा' नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ?'

उत्तर—जितने भी निष्प्राण घटादि पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा प्राणवाले शरीरोमें निम्नलिखित तीन विशेषताएँ पायी जाती है—

(१) निष्प्राण घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थोंका ज्ञान नही कर सकते है जब कि प्राणवान् शरीरोमे दूसरे पदार्थोका ज्ञान करनेको सामर्थ्य पायी जाती है।

(२) निष्प्राण घटादि पदार्थ स्वत कोई प्रयत्न नही कर सकते है जबकि प्राणवान् शरीरोको हम स्वत प्रयत्न करते देखते है।

(३) निष्प्राण घटादि पदार्थोमें 'मैं सुखी हूँ या दु खी हूँ, मैं गरीब हूँ या अमीर हूँ, मैं छोटा हूँ या

---

१. पचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ८।

२ वही, अध्याय १, श्लोक ८९।

बडा हूँ' आदि रूपसे स्वसवेदन[1] नही पाया जाता है जबकि प्राणवाले शरीरोमे उक्त प्रकारसे स्वसवेदन करने की यथायोग्य योग्यता पायी जाती है।

इस प्रकार निष्प्राण घटादि पदार्थों और प्राणवान् शरीरोमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी समानता पायी जाने पर भी प्राणवान् शरीरोमें जो परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसवेदकत्व ये तीनो विशेषताएँ पायी जाती है उनका जब घटादि निष्प्राण पदार्थोमे सर्वथा अभाव विद्यमान है तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणवान् शरीरोके अन्दर किसी ऐसे स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता स्वीकृत करनी चाहिये, जिसकी वजहसे ही उनमे (प्राणवान् शरीरोमें) उक्त प्रकारसे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये विशेषताएँ पायी जाती है तथा जिसके अभावके कारण ही निष्प्राण घटादि पदार्थोमे उक्त विशेषताओका भी अभाव पाया जाता है। इस पदार्थको ही 'आत्मा' नामसे पुकारा गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनो ही प्राणशब्दके वाच्य है। ये जिस शरीरमें जब तक विद्यमान रहते है तब तक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है तथा जब जिस शरीरमें इनका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह शरीर तथा जिन पदार्थोमें इनका सतत अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते है। हम देखते है कि शरीरके विद्यमान रहते हुए भी कालान्तरमे उक्त प्राणोका उसमें सर्वथा अभाव भी हो जाता है अत यह मानना अयुक्त नही है कि वे शरीरसे ही उत्पन्न होने वाले धर्म नही है तो जिसके वे धर्म हो सकते है, वही 'आत्मा' है।

प्रश्न—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचो भूतो (पदार्थो) के योगसे ही शरीरका निर्माण होता है और तब उस शरीरमे उक्त प्राणोका प्रादुर्भाव अनायास ही (अपने आप ही) हो जाता है। यही कारण है कि शरीरमे पृथ्वीतत्त्वका मिश्रण होनेसे हमे नासिका द्वारा गन्धका ज्ञान होता रहता है क्योकि गन्ध पृथ्वीका गुण है, जल तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमे रसना द्वारा रसका ज्ञान होता रहता है क्योकि रस जलका गुण है, अग्नि तत्त्वका मिश्रण होनेसे नेत्रो द्वारा हमे रूपका ज्ञान होता रहता है क्योकि रूप अग्निका गुण है, वायु तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमे स्पर्शन द्वारा स्पर्शका ज्ञान होता रहता है, क्योकि स्पर्श वायुका गुण है और इसी तरह आकाश तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमे कर्णो द्वारा शब्दका ग्रहण होता रहता है क्योकि शब्द आकाशका गुण है?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि 'शब्द आकाशका गुण है' इस सिद्धान्तको शब्दके लिए कैद कर लेने वाले विज्ञानने आज समाप्त कर दिया है। इसलिए शब्दका ज्ञान करनेके लिये शरीरमे अब आकाश तत्त्वके मिश्रणको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नही रह गयी है। इसके अलावा शब्दमे जब घात-प्रतिघात रूप शक्ति पायी जाती है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि शब्द आकाशका या दूसरी किसी वस्तुका गुण न होकर अपने आपमे द्रव्य रूप ही हो सकता है क्योकि गुणमे वह शक्ति नही पायी जाती है कि वह स्वय असहाय होकर किसी दूसरे पदार्थका घात कर सके अथवा दूसरे पदार्थसे उसका घात हो सके। और यदि शब्दको कदाचित् गुण भी मान लिया जाय, तो फिर आकाशके अलावा वह किसका गुण हो सकता है? इसका निर्णय करना असम्भव है। यही कारण है कि जैन-सस्कृतिमे शब्द[2]को रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य माना गया है तथा जैन-सस्कृतिकी यह मान्यता तो है ही, कि पृथ्वी, जल, अग्नि,

---

१. पचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ५।
२. वही, अध्याय २, श्लोक ९७।

और वायु इन चारो ही तत्त्वोमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो ही गुण विद्यमान रहते हैं। अत रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेके लिये शरीरमे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन पृथक्-पृथक् चारो तत्त्वोके सयोगकी आवश्यकता नही रह जाती है। इतना अवश्य है कि शरीर भी घटादि पदार्थोंकी तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एक पुद्गल पिण्ड है और जिस प्रकार घटादि पदार्थ निष्प्राण है उसी प्रकार यह शरीर भी अपने आपमे निष्प्राण ही है, फिर भी जब तक इस शरीरके अन्दर आत्मा विराजमान रहती है तब तक वह प्राणवान् कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि उक्त प्राणरूप शक्ति जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सबमे या इनमेंसे किसी एकमे स्वतन्त्र रूपसे नही पायी जाती है तो इन सबके मिश्रणसे वह शरीरमे कैसे पैदा हो जायेगी ? यह बात समझके बाहरकी है। कारण कि स्वभावरूपसे अविद्यमान शक्तिका किसी भी वस्तुमे दूसरी वस्तुओ द्वारा उत्पाद किया जाना असम्भव है[1]। इसका मतलब यह है कि जो वस्तु स्वभावसे निष्प्राण है उसे लाख प्रयत्न करनेपर भी प्राणवान् नही बनाया जा सकता है। अत शरीरके भिन्न-भिन्न अगोको कोई कदाचित् अलग-अलग पृथ्वी आदि तत्त्वोके रूपमे मान भी ले, तो भी उस शरीरमे स्वभाव रूपसे असम्भव स्वरूप प्राणशक्तिका प्रादुर्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए विश्वके समस्त पदार्थोमे चित् (प्राणवान्) और अचित् (निष्प्राण) इन दो परस्पर-विरोधी पदार्थोंका मूलत भेद स्वीकार करना आवश्यक है।

तीसरी बात यह है कि कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवण और रूप-ग्रहणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते है जिनमे रस और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द, रूप और गन्धका ज्ञान करनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है। इसी प्रकार कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमे केवल स्पर्श-ग्रहणकी ही योग्यता पायी जाती है, शेप योग्यताओका उनमे सर्वथा अभाव रहता है। ऐसी हालतमे इन शरीरोमे यथासम्भव पचभूतोके मिश्रणका अभाव मानना अनिवार्य होगा। अब यदि पचभूतोके मिश्रणसे शरीरमे चित्शक्तिका उत्पाद स्वीकार किया जाय तो उक्त शरीरोमे चित्शक्तिका उत्पाद असम्भव हो जाएगा, लेकिन उनमे भी चित्-शक्तिका सद्भाव तो पाया ही जाता है।

चौथी बात यह है कि सम्पूर्ण शरीरमे एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है या शरीरके भिन्न-भिन्न अगोमे अलग-अलग चित्शक्ति उत्पन्न होती है ? यदि सम्पूर्ण शरीरमे एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है तो नियत रूपसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शका ही, रसना इन्द्रिय द्वारा रसका ही, नासिका द्वारा गन्धका ही, नेत्रो द्वारा रूपका ही और कर्णों द्वारा शब्दका ही ग्रहण नही होना चाहिये। यदि शरीरके भिन्न-भिन्न अगोमें पृथक्-पृथक् चित्शक्ति उत्पन्न होती है तो हमे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण द्वारा एक ही साथ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दका ग्रहण होते रहना चाहिये। लेकिन यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जिस कालमें हमे किसी एक इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा हो, उस कालमे दूसरी सब इन्द्रियोसे ज्ञान नही होता है।

यदि कहा जाय कि चित्शक्तिका धारक स्वतन्त्र आत्माका अस्तित्व शरीरमें माननेसे नियत अगो

१ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६।

द्वारा ही रूपादिकका ज्ञान क्यो होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न अगोके सहयोगसे ही आत्मा अपनी स्वाभाविक चित्शक्तिके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान किया करती है। अत. सब अगोके विद्यमान रहते हुए भी, जिस ज्ञानके अनुकूल अगका सहयोग जिस कालमे आत्माको प्राप्त होगा, उस कालमें वही ज्ञान उस आत्माको होगा, अन्य नही।

पाँचवी बात यह है कि पचभूतोके सयोगसे शरीरमें चित्शक्तिका उत्पाद मान लेने पर भी हमारा काम नही चल सकता है। कारण कि ज्ञानकी मात्रा रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्दका ज्ञान कर लेनेमें ही समाप्त नही हो जाती है। इन ज्ञानोके अतिरिक्त स्मरण, एकत्व और सादृश्य आदिके ग्रहणस्वरूप प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द-श्रवण अथवा अगुल्यादिके सकेतोके अनन्तर होनेवाला अर्थज्ञानरूप आगमज्ञान (शब्दज्ञान) ये ज्ञान भी तो हमे सतत होते रहते हैं। इस तरह इन ज्ञानोके लिये किन्ही दूसरे भूतोंका सयोग शरीरमे मानना आवश्यक होगा।

यदि कहा जाय कि ये सब प्रकारके ज्ञान हमे मन द्वारा हुआ करते है तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर तथा मन दोनोमें एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है या दोनोमे अलग-अलग चित्शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न हो जाया करती है अथवा मनमें स्वभाव रूपसे चित्शक्ति विद्यमान रहती है ?

पहले पक्षको स्वीकार करने पर मनसे ही स्मरणादि ज्ञान हो सकते है, स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोंसे नही, इसका नियमन करनेवाला कौन होगा ?

दूसरे पक्षको स्वीकार करने पर जिस कालमे हमे स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोसे ज्ञान होता रहता है उसी कालमें हमें स्मरणादि ज्ञान होनेका भी प्रसग उपस्थित हो जायगा, जो कि अनुभवके विरुद्ध है।

तीसरा पक्ष स्वीकार करने पर "पचभूतोके सम्मिश्रणसे शरीरमें चित्शक्तिका प्रादुर्भाव होता है" इस सिद्धान्तका व्याघात हो जायगा।

यदि कहा जाय कि स्वाभाविक चित्शक्ति-विशिष्ट मनको स्वीकार करनेसे यदि काम चल सकता है तो आत्मतत्त्वको माननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैन-संस्कृतिमें एक तो मनको भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है, दूसरे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और बहुतसे पचेन्द्रिय जीव ऐसे पाये जाते है जिनके मन नही होता है। इसलिए चित्शक्ति विशिष्ट-आत्मतत्त्वको स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। यह आत्मा ही मन तथा स्पर्शन आदि इन्द्रियोके सहयोगसे पदार्थोका यथायोग्य विविध प्रकारसे ज्ञान किया करता है।

तात्पर्य यह है कि जितने संज्ञी[1] पचेन्द्रिय जीव है उनके मन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। अत वे इन सबको सहायतासे पदार्थोका ज्ञान किया करते हैं। जो जीव असज्ञी पचेन्द्रिय होते है उनके मन नही होता, उनमे केवल उक्त पाँचो इन्द्रियाँ ही विद्यमान रहती हैं। अत वे मनके बिना इन पाँचो इन्द्रियोसे ही पदार्थोका ज्ञान किया करते है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवोके मन और कर्ण इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण और नेत्र इन्द्रियोके अतिरिक्त तीन इन्द्रियाँ, द्वीन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण, नेत्र और नासिका इन्द्रियोको छोडकर शेष दो इन्द्रियाँ पायी जाती है एव एकेन्द्रिय जीवोके मन तथा कर्ण, नेत्र, नासिका और रसनाके अतिरिक्त सिर्फ एक स्पर्शन

१ सज्ञिन समनस्का।—तत्त्वार्थसूत्र २-२४।

इन्द्रिय ही पायी जाती है। इसलिए ये सब[1] जीव उन-उन इन्द्रियोसे ही पदार्थोका ज्ञानका किया करते है।

इस प्रकार प्राणवान् शरीरोमे जो "परपदार्थज्ञातृत्व" शक्ति पायी जाती है वह शरीरका धर्म न होकर आत्माका ही धर्म है—ऐसा मानना ही उचित है। इसी तरह प्राणवान् शरीरोमे जो "प्रयत्नकर्तृत्व" शक्ति पायी जाती है उसे भी शरीरका धर्म न मानकर आत्माका ही धर्म मानना चाहिये, क्योकि परपदार्थ-ज्ञातृत्व शक्ति जिन युक्तियो द्वारा शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है उन्ही युक्तियो द्वारा प्रयत्न-कर्तृत्व शक्ति भी शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है।

प्रयत्नके जैन-सस्कृतिमे तीन[2] भेद माने गये है—मानसिक, वाचनिक और कायिक। (इनमेसे मानसिक प्रयत्नको वहाँ पर 'मनोयोग', वाचनिक प्रयत्नोको 'वचनयोग' और कायिक प्रयत्नको 'काययोग' कहकर पुकारा गया है। मनका अवलम्वन लेकर होनेवाले आत्माके प्रयत्नोको मनोयोग कहते है, इसी प्रकार वचन (मुख) और कायका अवलम्बन लेकर होनेवाले आत्माके उस-उस यत्नको क्रमसे वचनयोग और काययोग कहते है।)

वचनोको बोलनेका नाम ही आत्माका वाचनिक यत्न है और शरीरके द्वारा प्रतिक्षण हमारी जो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हुआ करती है उन्हीको आत्माका कायिक प्रयत्न समझना चाहिये। मानसिक प्रयत्नका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

मन पौद्गलिक पदार्थ है, यह बात तो हम पहले ही बतला चुके है। वह मन दो प्रकारका है—एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय। जितना भी स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शाब्द (श्रुत) रूप ज्ञान हमें होता रहता है वह सब मस्तिष्ककी सहायतासे ही हुआ करता है अत ये सब ज्ञान आत्माके मानसिक ज्ञान कहलाते है। इसी प्रकार जितने भी क्रोध, अहकार, माया, लोभ, लिप्सा, भय, सक्लेश आदि मोहके विकार तथा यथायोग्य मोह का अभाव होने पर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, तुष्टि, निर्भयता, विशुद्धि आदि गुण हमारे अन्दर प्राप्त होते रहते है वे सब हृदयकी सहायतासे ही हुआ करते है अत उन सबको भी आत्माके मानसिक प्रयत्नोमें अन्तर्भूत करना चाहिये।

इन तीनो प्रकारके प्रयत्नोमेसे सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोके तो ये सब प्रयत्न हुआ करते है, लेकिन असज्ञी पचेन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवोके सिर्फ वाचनिक और कायिक प्रयत्न ही हुआ करते हैं क्योकि मनका अभाव होनेसे इन जीवोके मानसिक प्रयत्नका अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोके सिर्फ कायिक प्रयत्न ही होता है, कारण कि उनमे मनके साथ-साथ बोलनेका साधनभूत मुखका भी अभाव पाया जाता है अत उनके मानसिक और वाचनिक प्रयत्न नही होते है। द्वीन्द्रियादिक जीव चलते-फिरते रहते है इसलिए उनके शारीरिक प्रयत्नोका तो पता हमे चलता ही रहा है, परन्तु एकेन्द्रिय वृक्षादिक जीवोकी जो शरीर-वृद्धि देखनेमे आती है वह उनके शारीरिक प्रयत्नका ही परिणाम है।

यह बात हम पहले बतला आये है कि जितने भी सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणी है, उन्हे पदार्थोका ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय स्वसंवेदन अर्थात् 'अपने अस्तित्वका भान' सतत होता रहता है, परन्तु सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणियोके अतिरिक्त जितने भी असंज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय प्राणी है उन्हे मनका अभाव होनेके कारण यद्यपि पदार्थ-ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोकी

---

१. वनस्पत्यन्तानामेकम्। कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।—त० सू० २-२२, २३।

२. कायवाङ्मन कर्मयोगः।—तत्त्वार्थसूत्र ६-१।

निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग

जैनागमकी व्यवस्था यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकालसे ससारी बनकर ही रहता आया है। परन्तु ससार-प्राप्त सपूर्ण जीवोमे बहुतसे ऐसे भी जीव हो गये है, जिन्होने अनादिकालीन अपने उस ससारको समाप्त कर दिया है और उनमें आज भी बहुतसे ऐसे जीव है जो अपने अन्दर उस अनादिकालीन ससारको समाप्त करनेकी सामर्थ्य[1] छिपाये हुए है।

संसारकी परिसमाप्ति जीवके साथ अनादिकालसे ही सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मो और इनके निमित्तसे जीवमें उत्पन्न होनेवाले भावकर्मोंका समूल क्षय हो जानेपर हुआ करती है। इस तरह कहना चाहिये कि उक्त सपूर्ण कर्मोंके समूल क्षय हो जाने अथवा यो कहिये, कि उक्त सपूर्ण कर्मोसे जीव द्वारा सर्वथा छुटकारा पा जानेका नाम मोक्ष जानना चाहिये।[2]

जैनागममे यह भी बतलाया गया है कि जीवोको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर ही सभव है[3] अत वहाँपर यह और बतलाया गया है कि उक्त सम्यग्दर्शन आदि तीनोका समाहार ही मोक्षका मार्ग है।[4] चूँकि मोक्षमार्गस्वरूप उक्त सम्यग्दर्शनादिक तीनो निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो-दो भेद रूप होते है अत. इस आधारपर मोक्षमार्गको भी निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्ष-मार्गके रूपमे दो भेद रूप जान लेना चाहिये।[5]

इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग दोनोका अवलम्बन प्राप्त होनेपर ही होती है।[6] इतना अवश्य है कि निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारसम्यग्दर्श-नादिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका परपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण होता है।[7]

श्रद्धेय पडितप्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालके प्रारम्भमें इस विषयपर सक्षेपसे बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है और वह निम्न प्रकार है—

---

१. आप्तमीमासा, श्लोक १००। जीवभव्याभव्यत्वानि च। तत्त्वार्थसूत्र २-७।

२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष।—तत्त्वार्थसूत्र, १०-२।

३. समयसार, गाथा १७, १८।

४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।—तत्त्वार्थसूत्र १-१। पंचास्तिकाय, गाथा १०६।

५ पंचास्तिकाय, गाथा १६०, १६१।

६. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्ष—कार्यं सम्भवति। —पंचा० का०गा० १०६ की टीका, आ० जयसेन।

७ निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात्। —पंचास्तिकाय, गाथा १६०, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।

—पचास्तिकाय, गा० १६२, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।

—पचास्तिकाय गाथा १६३ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

साधको व्यवहारमोक्षमार्ग- साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग। —परमात्मप्रकाश-टीका, पृष्ठ १४२।

"आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता-बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न तातै शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, मो दुविध विचारौ।
जो सत्यारथ रूप मो निश्चय, कारण सो ववहारौ॥१॥"

इस पद्यमे श्रद्धेय पडितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है और वह सुख जीवमें आकुलताका अभाव होनेपर उत्पन्न होता है। उस आकुलताका अभाव भी मोक्षमें ही है। अत जीवोको मोक्षके मार्गमे प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। यह सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो व्यवहाररूप भी होते हैं और निश्चयरूप भी हो है। इस तरह कहना चाहिये कि जो सम्यग्दर्शनादिक निश्चयरूप होते है वे निश्चय-मोक्षमार्गमे गर्भित होते हैं और जो सम्यग्दर्शनादिक व्यवहाररूप होते है वे व्यवहार-मोक्षमार्गमें गर्भित होते है। इनमेसे जो मोक्षमार्ग मोक्षका साक्षात् कारण होता हैं वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका कारण होता है वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है।

यहाँ हम मुख्यतया इसी विषयको स्पष्ट करना चाहते है। इसलिये यहाँ पर हम सर्व प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्गके स्वरूपका प्रतिपादन कर रहे है।

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये भी श्रद्धेय प० दौलतरामजीके छहढालाकी तीसरी ढालका निम्नलिखित पद्य पर्याप्त है—

'परद्रव्यनते भिन्न आपमे रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूपमे लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई।
अब ववहार मोख मग सुनिये हेतु नियत को होई॥२॥'

इस पद्यका आशय यह है कि समस्त चेतन-अचेतनरूप परपदार्थोकी ओरसे मुड कर अपने आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता या झुकाव) हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, जीवको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जानेका नाम निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप व पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोसे निवृत्ति पाकर जीवका अपने आत्मस्वरूप-में लीन हो जाना ही निश्चयसम्यक्चारित्र है।

इस पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पडितजीने सकेत किया है कि आगे सम्पूर्ण छहढालामे निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार-सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा। इस तरह पडित दौलतरामजीके द्वारा छहढालामे किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्ग-रूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप निर्धारित होता है। उसीका यहाँपर विशेष कथन किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष नामके सात तत्त्वोके प्रति जीवके अन्त.करणमे श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिकी वास्तविकताके सम्बन्धमें ज्ञानकी दृढता (आस्तिक्य भाव) जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोको उपर्युक्त निश्चयसम्यग्दर्शनकी उपलब्धि हुआ करती है।

आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमे व स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप है। यद्यपि उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रमे उपर्युक्त सात तत्त्वोके श्रद्धानका नाम ही सम्यग्दर्शन कहा है[1]। लेकिन स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनका लक्षण इस रूपमें बतलाया है कि परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रो और परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमे प्रवृत्त गुरुओके प्रति जीवके अन्त-करणमे भक्तिका जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2] अत तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रति-पादित सम्यग्दर्शनके इन लक्षणोमे उपर्युक्त प्रकारसे यद्यपि भेद दिखाई देता है। परन्तु गहराईसे विचार करने पर मालूम हो जाता है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवके अन्त-करणमे उपर्युक्त सात तत्त्वोके प्रति आस्तिक्यभावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सप्ततत्त्वोके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मननका नाम व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके व्यवहारसम्यग्ज्ञानके आधार पर ही जीवोको समस्त वस्तुओके और विशेष कर आत्माके स्वत सिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्मा-का स्वत सिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना[3] अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। चूँकि यह स्वरूप स्वत सिद्ध है। अत यह आत्मा के अनादि, अनिधन स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) अस्तित्वको सिद्ध करता है।[4] हमे आत्माके इस तरहके स्वरूपको समझनेमे उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही इस प्रकारके सम्यक् अर्थात् वीतरागताके पोषक ज्ञानको प्राप्त करनेकी प्रत्येक जीवके लिये आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा १८ से भी यही सकेत प्राप्त होता है[5] क्योकि उसमे बतलाया है कि पहले आत्मारूपी राजाकी पहिचान करो, फिर उसका श्रद्धान अर्थात् आश्रयण करो और तत्पश्चात् उसके अनुकूल आचरण करो तो मोक्षकी प्राप्ति होगी। इस तरह मोक्षमार्गमे यद्यपि सम्यग्दर्शनसे पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान देना चाहिये। परन्तु वहाँपर इसको जो

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। त० सू० १–२।
जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र १–४।

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।

३. समयसार, गाथा ६।

४. पंचाध्यायी, श्लोक ८।

५ समयसार, गाथा १८।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्यमे स्थान दिया गया है, इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर ही उसके उक्त प्रकारके ज्ञानकी सम्यक्‌रूपता अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है। और दूसरा कारण यह है कि जीवको उसकी (उक्त प्रकारके ज्ञानकी) उपयोगिता मध्यदीपक न्यायसे सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ होनेके लिए भी सिद्ध होती है।[2] इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण यह भी है कि मोक्षमार्गके रूपमे सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सर्वप्रथम अर्थात् चतुर्थगुणस्थानसे लेकर अधिक-से-अधिक सप्तमगुणस्थान तक नियमसे हो जाती है, सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति उसके बाद तेरहवे गुणस्थानके प्रथम समयमे होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्ति सम्यग्ज्ञानकी पूर्तिके अनन्तर चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमे ही होती है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियोसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन (स्थिर) होनेरूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओमे जीवकी प्रवृत्ति होने लग जाना व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

उक्त प्रकारके निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है तथा उसे वीतरागचारित्र भी कहते है।[3] उसकी प्राप्ति जीवको यद्यपि उपशमश्रेणीपर आरूढ होकर ११वें गुणस्थानमे पहुँचनेपर भी होती है और क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर भी होती है। परन्तु ११वें गुणस्थान और १२वें गुणस्थानके निश्चयसम्यक्चारित्रमे परस्पर अन्तर पाया जाता है। अर्थात् उपशमश्रेणीपर आरूढ होकर ११वें गुणस्थानमे पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही पतनकी ओर उन्मुख हो जाता है और तब उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र भी उसी समय समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर १२वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव कदापि पतनकी ओर उन्मुख नही होता। इसलिए उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र स्थायी रहा करता है साथ ही वह जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही १२वें गुणस्थानसे १३वें गुणस्थानमें पहुँच कर नियमसे सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है। मोक्ष-मार्गके प्रकरणसे १२वे गुणस्थानमें प्राप्त होने वाले स्थायी निश्चयचारित्रको ही ग्रहण किया गया है।

यहाँपर एक बात हम यह कह देना चाहते है कि उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए ही चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव मुमुक्षु होकर पुरुषार्थ करके पाँचवे गुणस्थानमे अणुव्रत धारण करता है तथा इससे भी आगे बढकर छठे गुणस्थानमे वह महाव्रत धारण करता है। इतना ही नही, घोर तपश्चरण करके आगे बढता हुआ वह सातवें गुणस्थानमे शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त होकर आत्मपरिणामोकी उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धिके अनुसार उपशमश्रेणीपर आरूढ होता है या क्षपक श्रेणीपर आरूढ होता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठे गुणस्थानोमे बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर दशवे तकके गुणस्थानोमे अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारसम्यक्चारित्रमे ही प्रवृत्त रहता है। इस व्यवहारसम्यक्चारित्रका भी अपर नाम सक्षेपसे सरागचारित्र और विस्तारसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायरूप चारित्र है।

---

१ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ९७। २. प्रवचनसार, गाथा ७।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एव तपश्चरण आदि बाह्यक्रियाये उस-उस कषायके उदय और अनुदयके अनुसार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शनसे रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते है। इतना ही नही, इन क्रियाओको सलग्नतापूर्वक करनेपर उनमेसे कोई-कोई जीव यथासंभव स्वर्गमे नववे ग्रैवेयक तक जन्म भी धारण कर लेते है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इन क्रियाओकी निश्चयसम्यक्-चारित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता उक्त सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर ही हुआ करती है अन्यथा नही, क्योकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसके अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होना असम्भव ही रहा करता है जब कि अणुव्रत और महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोका क्षयोपशम होनेपर ही जीवको प्राप्त हुआ करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कपायका उदय समाप्त होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्चारित्रके रूपमे अणुव्रतोको धारण करता है।[1] और जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण कपायके साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय भी समाप्त होकर मात्र सज्वलन कषाय व नोकषायका उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्-चारित्रके रूपमे महाव्रत धारण करता है।[2] यह स्थिति अनन्तानुबन्धी कपायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के अभावमें मिथ्यादृष्टि जीवके कदापि सभव नही है। अत उसके (मिथ्यादृष्टि जीवके) यथायोग्य कषायके अनुदयके साथ-साथ यथायोग्य कषायके उदयमे बाह्यक्रियाके रूपमे अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिका होना तो सभव है। लेकिन जब तक उस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो जाता है तव तक अनन्तानुबन्धी कपायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकनेके कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोकी उदय-समाप्ति असभव होनेसे अणुव्रत, महाव्रत आदिकी स्थितिको व्यवहारसम्यक्चारित्रका रूप प्राप्त होना सभव नही है।

यहाँपर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर नियमसे अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेपर भी सामान्यतया यह नियम नही है कि उसके अणुव्रत अथवा महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र अथवा अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोकी उदय-समाप्ति हो ही जाना चाहिये। किन्तु नियम यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कपायोका उदय समाप्त हो जाता है उसके ही यथायोग्य अणुव्रत व महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी स्थिति उत्पन्न होती है, शेप सम्यग्दृष्टि जीव तब तक अव्रती ही रहा करते हैं, जब तक उनके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोका उदय समाप्त नही हो जाता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शनादिकका यह सम्पूर्ण विवेचन हमने चरणानुयोगकी दृष्टिसे ही किया है। इस तरह इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोगमें सम्यग्दर्शनादि-रूप निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गके रूपमें जो दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन किया गया है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण बतलाया है और व्यवहारमोक्षमार्गको उसका (मोक्षका) परपरा अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर कारण वतलाना है। इसी प्रकार उसका आशय निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन,

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०।
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३१।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको क्रमश उन निश्चय सम्यग्दर्शनादिकका कारण रूप बतलाना ही है।

इससे हमे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक जीवको मोक्षके साक्षात् कारण-भूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा इन निश्चयसम्यग्दर्शनादिक-की प्राप्तिके लिए व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्य-कता है। इस तरह दो प्रकारके मोक्षमार्गकी मान्यता उचित हो है, अनुचित नहीं है।

अब यदि कोई व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप 'निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके विना ही केवल व्यव-हारमोक्षमार्गरूप व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके आधार पर ही मोक्ष-प्राप्तिकी मान्यता रखते हैं तो वे गलती-पर हैं कारण कि फिर तो व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको व्यवहारमोक्षमार्ग कहना हो असगत होगा, क्योकि इस मान्यतामें वे व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक मोक्षके साक्षात कारण हो जानेसे निश्चय मोक्षमार्गरूप ही हो जावेंगे।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमें पठित 'निश्चय' शब्द हमें निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकमें मोक्षकी साक्षात् कारणताका बोध कराता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकमे पठित 'व्यवहार' शब्द हमें व्यवहारमोक्षमार्ग अथवा व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकमें मोक्षकी परपरया कारणताका अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग अथवा निश्चयसम्यग्दर्शनादि-की कारणतापूर्वक मोक्षकी कारणताका बोध कराता है। हमारे इस कथनकी पुष्टि, आगममें जो पूर्वोक्त प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकको साध्यरूप या कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकको साधनरूप या कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, उससे हो जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति तो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि हो जाने पर ही होती है। अत हमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्श-नादिकपर लक्ष्य न देकर निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर ही लक्ष्य देना चाहिये, तो ऐसे व्यक्ति भी गलती पर हैं, क्योकि वे इस बातको नही समझ पा रहे हैं कि जीव जब तक व्यवहारमोक्ष-मार्गपर आरूढ नही होगा तब तक उसे निश्चय-मोक्षमार्गकी उपलब्धि होना सभव नही है क्योकि यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अगभूतनिश्चय सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको उपशमश्रेणी पर आरूढ होनेके अनन्तर अस्थायी रूपमें तो ११वें गुणस्थानमें पहुँचने पर होती है तथा स्थायीरूपमे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होनेके अनन्तर १२वें गुणस्थानमे पहुँचने पर होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जीव पचंम गुणस्थानसे लेकर जब तक उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११वें या १२वें गुणस्थानमे नही पहुँच जाता तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके पूर्वोक्त व्यवहारसम्यक्चारित्र ही रहा करता है। इससे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि व्यवहारमोक्ष-मार्ग पर आरूढ हुए बिना ही निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति जीवको हो जाती है, क्योकि प्रत्येक जीव जब यथायोग्य गुणस्थानक्रमसे आगे बढता हुआ ही ११वें गुणस्थानमें अथवा १२वें गुणस्थानमे पहुँच सकता है जहाँ कि निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि उसे होती है तो इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गकी उपलब्धि कदापि जीवको संभव नही है।

हमारे इस कथनसे एक मान्यता यह भी खण्डित हो जाती है कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्र

की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नही करना पडता है। हमारे उपर्युक्त कथनसे इस मान्यताके खण्डित होनेमे एक आधार यह भी है कि आगममे व्यवहारसम्यक्चारित्रको निश्चयसम्यक्चारित्रमे कारण बतलाया गया है, इस तरह कारण होनेकी वजहसे जब जीवमें व्यवहारसम्यक्चारित्रका निश्चयसम्यक्चारित्ररूप कार्यके पूर्व सद्भाव रहना आवश्यक है तो इस स्थितिमें फिर यह बात कैसे सगत कही जा सकती है "कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसको व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है—उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नही करना पडता है ?" इस विषयमे दूसरा आधार यह भी है कि जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शदादिकके ऊपर लक्ष्य न देकर केवल निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकके ऊपर लक्ष्य देनेकी बात कहते है वे भी निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यक्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश जीवोके देते है तो इसका आशय यही होता है कि प्रत्येक जीवको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिकी उपलब्धिके लिये जो भी प्रयत्न किया जायगा वह प्रयत्न व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकके अलावा और कुछ नही होगा। अर्थात् उस प्रयत्न (पुरुषार्थ) का नाम ही व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक है जो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धिके लिये किया जाता है।

एक बात और है कि हमारे पूर्व प्रतिपादनके अनुसार व्यवहारसम्यक्चारित्रका अपर नाम सरागचारित्र है जैसा कि निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम वीतरागचारित्र है और यह बात निर्विवाद है कि दशवें गुणस्थान तक जीवमे सरागचारित्र ही रहा करता है, वीतरागचारित्र नही, तथा यो भी कहिये कि दशवे गुणस्थान तक ही सरागचारित्र रहा करता है, आगेके गुणस्थानोमे नही, इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि सरागचारित्रका अभाव हो जाने पर ही वीतरागचारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है और इसका अभिप्राय भी यह हुआ कि व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको हुआ करती है अथवा यो कहिये कि जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है उसके फिर व्यवहारचारित्रका अभाव ही हो जाया करता है। इस तरह तब इस बातको कैसे सगत माना जा सकता है कि "जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाने पर व्यवहारसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि अनायास हो जाती है ?" और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३०५ की टीकामें व्यवहाराचारसूत्र[1] का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब तक अमृत-कुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि नही हो जाती है तथा भगवान कुन्दकुन्द[2]ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्रको तब विषकुभकी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चय सम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है।

इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्-चारित्र की उपलब्धि नही हो जाती है तब तक उसके लिए मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परपरया कारणके रूपमे अथवा निश्चयसम्यक्चारित्रके साधनके रूपमे व्यवहारसम्यक्चारित्र नियमसे उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिये मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण

---

१ समयसार, गाथा ३०५, आचार्य अमृतचन्द्र टीका।

२. समयसार, गाथा ३०६, ३०७।

करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। इतनी बात अवश्य है कि कोई भी चारित्र तब तक 'व्यवहारसम्यक् चारित्र' नाम नही पा सकता है जब तक कि वह चारित्र सम्यग्दर्शनके सद्भावमे न हो, जैसाकि पूर्वमे हम स्पष्ट कर आये है।

इस प्रकार आगमप्रमाणके आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचनसे यह मान्यता, कि ' जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है उसे उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ नही करना पडता है," निश्चित रूपमे खण्डित हो जाती है।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग तो ससारका ही कारण है, मोक्षका नही, तो उसका ऐसा कहना भी दुराग्रहपूर्ण ही माना जायगा।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यदि व्यवहारमोक्षमार्ग ससारका ही कारण है मोक्षका नही, तो फिर उसे आगममे 'मोक्षमार्ग' शब्दसे पुकारना ही असगत है। दूसरी बात यह है कि ससारका मुख्य कारण तो मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, 'मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम ही है। यद्यपि यह बात सत्य है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको प्राप्त करके भी जीव जब तक निश्चय–सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको प्राप्त नही कर लेता है तब तक उसे मोक्षका प्राप्त होना असभव है। अर्थात् वह तब तक ससारमे हो रहा करता है। परन्तु इस आधार पर उन व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकको सर्वथा ससारका ही कारण मान लेना असंगत बात है। फिर भी इतना तो माना जा सकता है कि चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्तिमे कारण होते है अत इस रूपमे वे कथचित् मोक्षके भी कारण है और चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिकके सद्भावमें भी जीवको जब तक निश्चय–सम्यग्दर्शनादिककी उपलब्धि नही हो जाती तब तक मोक्षकी प्राप्ति असभव है। अत उनमे कथचित् ससारकी कारणता स्वीकार करना भी असगत नही है। इस स्पष्टीकरणमे कही हुई इन सब बातोको समझनेके लिये यहाँ पर थोडा करणानुयोगकी दृष्टिसे भी सम्यग्दर्शनादिकके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है।

करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका स्वरूप

इसके पूर्व कि हम करणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकका विवेचन करें, आवश्यक जानकर करणानुयोगके सम्बन्धमे ही कुछ विवेचन कर देना चाहते है।

करणानुयोगमे पठित 'अनुयोग' शब्दका अर्थ आगम होता है। इस तरह सम्पूर्ण जैनागमको यदि विभक्त किया जाय तो वह चार भागोमे विभक्त हो जाता है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

इनमेसे प्रथमानुयोग वह है जिसमे अध्यात्मको लक्ष्यमे रखकर महापुरुषोके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मके फलका दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमे अध्यात्मको लक्ष्यमे रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओका निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमे जीवोकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियो तथा उनके कारणोका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओके पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनोका निर्धारण किया गया है। यहाँपर हम इन सब अनुयोगोके आधारपर वस्तुस्वरूपपर प्रकाश न डाल कर प्रकरणके लिये उपयोगी प्रतिज्ञात करणानुयोगके आधारपर ही वस्तुस्वरूपपर प्रकाश डाल रहे हैं।

आत्माका स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। यह कथन हम पूर्वमे भी कर आये है। इसमे निर्दिष्ट ज्ञायकपना आत्माका स्वत सिद्ध स्वभाव है, इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतन्त्र और अनादि तथा अनिधन अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वत सिद्ध अवगाहक स्वभावके आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अन्दर एक साथ हमेशा समाये हुए हैं उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वत सिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधारपर विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोको एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये। परन्तु हम देख रहे है कि जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए इसी चक्रमे फँसे हुए हैं उन्होने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोको एक साथ देखा व जाना है और न वे अभी भी उन्हे एक साथ देख-जान पा रहे है। इतना ही नही, इन ससारी जीवोमें एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामें इनमें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोकी सहायतासे ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये ससारी जीव पदार्थोंको देखने-जाननेके पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोंमे इष्टपने या अनिष्टपनेकी कल्पनारूप मोह किया करते है और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंमे प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोमे अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते है, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमे और अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमे और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे विषाद हुआ करता है। यद्यपि ऐसा भी सम्भव है कि किन्ही-किन्ही (सम्यग्दृष्टि) ससारी जीवोको इस प्रकारसे हर्ष-विषाद नही होते, फिर भी वे जीव जब शरीरकी अधीनतामें ही रह रहे है और उनका अपना-अपना शरीर अपनी स्थिरताके लिये अन्य भोजनादिककी अधीनताको स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थितिमे शरीरके लिये उपयोगी (आवश्यक) उन पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमे उन्हे भी यथायोग्य सुख या दु खका सवेदन तो हुआ ही करता है और तब उन्हें अपने दु ख-सवेदनको समाप्त करने व सुख-सवेदनको प्राप्त करनेके लिये उन पदार्थोंकी प्राप्ति व उपभोगमे प्रवृत्त होना पडता है। इसके भी अतिरिक्त जिनका ससार अभी चालू है ऐसे ससारी जीव अनादिकालसे कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारकी होते आये है, वे कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पञ्चेन्द्रिय भी होते आये है। इतना ही नही, इन्होने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते है कि एक ही श्रेणीके जीवोके शरीरोमे भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई तो लोकमे प्रभावशाली देखे जाते हैं व कोई प्रभावहीन देखे जाते हैं। और भी देखा जावे तो लोक एक जीवमें उच्चताका तथा दूसरे जीवमें नीचताका भी व्यवहार किया करता है। इसी प्रकार प्राय किसीको यह पता नही कि कौन जीव कब अपने वर्तमान शरीरको छोड कर चला जायगा और दूसरा शरीर धारण कर लेगा।

जीवोमे ये सब विलक्षणतायें क्यो हो रही हैं? इसका समाधान आगमग्रथोमे इस तरह किया गया है कि प्रत्येक ससारी जीव अपने स्वत सिद्ध देखने-जाननेरूप स्वभाव वाला होकरके भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्गलिक कर्मोंके साथ सम्बद्ध (मिश्रित यानी एक क्षेत्रावगाही रूपसे एकमेकपनेको प्राप्त) हो रहा है।[२] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे मूल रूपमे आठ प्रकारके है। इनमेसे ज्ञानावरण कर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है,

१ समयसार, गाथा १६०। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २। २. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८।

दर्शनावरण कर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीय कर्मका कार्य जीवको शरीरादिक परपदार्थोंके आधारपर यथायोग्य सुख अथवा दु खका सवेदन कराना है, मोहनीय कर्मका कार्य जीवको पर पदार्थोंके आधारपर ही यथायोग्य मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित अनुचित रूप विविध प्रकारकी प्रवृत्तियोमें व्यापृत करनेका है, आयु कर्मका कार्य जीवको उसके अपने शरीरमे सीमित काल तक रोक रखनेका है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त करानेका है, गोत्र कर्मका कार्य कुल, शरीर तथा आचरण आदिके आधारपर जीवमें उच्चता तथा नीचताका व्यवहार करानेका है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वत सिद्ध स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।[१]

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोंको जीव हमेशा अपने विकारी भावो (परिणामो) द्वारा बाँधता है और जीवके वे विकारी परिणाम पूर्वमें बद्ध पुद्गल कर्मके उदयमें हुआ करते हैं।[२] इस तरह जीवके साथ बँधे हुए ये कर्म उसमें अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्तमे उदयमे आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये निर्जरित हो जाते हैं।[३] लेकिन इतनी बात अवश्य है कि उस फलानुभवसे प्रभावित होकर यह जीव इसी प्रकारके दूसरे कर्मोंसे पुन बंधको प्राप्त हो जाता है।

ये कर्म जीवको जिस रूपमें अपना फलानुभव कराते है वह जीवका औदयिक भाव है क्योकि जीवका उस प्रकारका भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है।[४] कदाचित् कोई जीव अपनेमे सत्ताको प्राप्त यथायोग्य कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमें असमर्थ हो जाता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है। इस तरह कर्मका उपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे उस जीवका औपशमिक भाव कहते है।[५] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्ध समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते है।[६] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि जिसके होनेपर कर्मके कुछ निश्चित अंश तो उदयरूपताको प्राप्त रहते है, कुछ निश्चित अश उपशमरूपताको प्राप्त रहते है और कुछ निश्चित अश क्षयरूपताको प्राप्त रहते है। कर्मकी इस प्रकारकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। कर्मका इस प्रकारका क्षयोपशम होनेपर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[७] इस क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्रभाव[८]

---

१ प्रत्येक कर्मके कार्यको जाननेके लिए गो० कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तकका अवलोकन करना चाहिये।

२ समयसार, गाथा ८०।

३ विपाकोऽनुभव। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८-२१, २२, २३।

४. पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६७।

५ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६४।

६ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६५।

७ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६६।

८ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामकौ च। –तत्त्वार्थसूत्र २-१।

भी आगममे वतलाया गया है। इस प्रकार कहना चाहिये कि यथायोग्य कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर जीवकी भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अवस्थाये हो जाया करती है।[1]

उपर्युक्त आठ कर्मोमेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मोंकी प्रत्येक ससारी जीवमे अनादिकालसे क्षयोपशमरूप अवस्था हो रही है क्योकि कभी इनकी सर्वथा उदय रूप अवस्था नही होती। इतना अवश्य है कि अनन्त ससारी जीवोने अपने पुरुपार्थ द्वारा इन तीनो कर्मोका सर्वथा क्षय कर डाला है और यदि कोई ससारी जीव अव भी पुरुपार्थ करे तो वह भी इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोके यथायोग्य निमित्तसे सामान्यरूपमे जीवकी क्षायोपशमिक और क्षायिक दो ही प्रकारकी अवस्थायें होना संभव है, औदयिक और औपशमिक अवस्थाये इनमे संभव नही है। इतना अवश्य है कि यदि इन कर्मोके यथायोग्य अन्तर्भेदोकी अपेक्षा विचार किया जाय तो उनके निमित्तसे फिर जीवकी औदयिक अवस्था भी सभव है। जैसे जीवमें केवलज्ञान और केवलदर्शनका जब तक सर्वथा अभाव विद्यमान है तव तक इनके घातक केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मोका उदय विद्यमान रहनेके कारण जीवकी केवलज्ञान और केवलदर्शनके अभावरूप औदयिक अवस्थायें भी मानी जा सकती है।

इसी प्रकार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मोकी प्रत्येक जीवमे अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्थाये ही रही है। कभी इनकी उपशम या क्षयोपशम रूप अवस्था न तो हुई और न होगी, लेकिन इनके सम्बन्धमे भी यह बात है कि अनन्त ससारी जीवोने अपने पुरुपार्थ द्वारा इन चारो कर्मोका सर्वथा क्षय अवश्य कर डाला है और यदि कोई ससारी जीव अभी भी पुरुपार्थ करे तो इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह कहना चाहिये कि इन कर्मोके निमित्तमे जीवकी औदयिक और क्षायिक दो अवस्थायें ही संभव है। परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले क्षायिक भावोकी गणना आगमोक्त क्षायिक भावोमे करना उपयोगी न होनेके कारण आवश्यक नही समझा गया है। इनके क्षयके निमित्तसे होनेवाले जीवके क्षायिक भावोको या तो अव्यावाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व गुणोके रूपमे प्रतिजीवी भाव आगममे कहा गया है या फिर सामान्यतया सपूर्ण कर्मोके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला सिद्धत्व भाव इन्हे कह दिया गया है।

इन सात कर्मोके अतिरिक्त जो मोहनीय कर्म शेप रह जाता है उसकी प्रत्येक ससारी जीवमे अनादिकालसे तो उदयरूप अवस्था ही विद्यमान रहती है। लेकिन भूतकालमे अनन्त ससारी जीवोने अपने पुरुपार्थ द्वारा अनेक वार यथायोग्य उपशम या क्षयोपशम करके अन्तमे उसका सर्वथा क्षयकर मुक्तिको प्राप्त कर लिया है। अनेक ससारी जीवोमे वह अभी भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमे वना हुआ है तथा जिन जीवोमे वह अभी भी उदय रूपमे वना हुआ है वे भी अगर पुरुपार्थ करे तो उसकी इस उदयरूप हालतको परिवर्तित करके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अवस्था वना सकते है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मोहनीय कर्मका यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जीवकी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चारो प्रकारकी अवस्थाये सभव होती है।

इस प्रकार जिन ससारी जीवोने अनादिकालमे अभी तक अपने पुरुपार्थ द्वारा समस्त कर्मोका क्षय कर डाला है वे तो मोक्षको प्राप्त हो चुके है और जो ससारी जीव आगे जब इन सभी कर्मोका सर्वथा क्षय कर लेंगे वे भी तब मोक्षको प्राप्त हो जावेंगे।

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६२।

ऊपर बतलाये गये ढगसे उपर्युक्त आठ कर्मोके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधार पर होनेवाली जीवोकी अवस्थाओकी उपयोगी कुल सख्या आगममे सक्षेपसे पचास वतलायी गयी हैं तथा इनमे तीन पारिणामिक भावोको भी मिला देनेपर जीवकी अवस्थाओकी संख्या तिरेपन हो जाती है। इन तिरेपन भावोकी आगममें जो गणना की गयी है वह इस प्रकार है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमें दो भाव औपशमिक है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र ये नौ भाव क्षायिक रूप हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्ययके रूपमे चार सम्यग्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधिके रूपमे तीन मिथ्याज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवविदर्शनके रूपमे तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके रूपमे पाँच लब्धियाँ (शक्तियाँ) तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सयमासयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक रूप है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवके रूपमे चार गतियाँ, क्रोध मान, माया और लोभके रूपमे चार कषाय, पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंगके रूपमे तीन लिंग, पर-पदार्थोमे अहकार और ममकाररूप मिथ्यादर्शन, ज्ञानविशेपका अभावरूप अज्ञान, चारित्रका अभावरूप असयतत्व, समारी अवस्थारूप असिद्धत्व तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके रूपमे छह लेश्यायें ये इक्कीस भाव औदयिक रूप हैं। इसी प्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भाव पारिणामिक रूप है।[1]

आगममे आठ कर्मोके भेदोकी गणना इस प्रकार की गयी है कि ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानावरण आदिके रूपमे पाँच प्रकारका, दर्शनावरणकर्म चक्षुर्दर्शनावरण आदिके रूपमे नौ प्रकारका, वेदनीयकर्म साता तथा असाताके रूपमे दो प्रकारका, मोहनीयकर्म मिथ्यात्व आदिके रूपमे अट्ठाईस प्रकारका, आयु कर्म नरकायु आदिके रूपमे चार प्रकारका, नामकर्म गति, जाति आदिके रूपमे तेरानवे प्रकारका, गोत्रकर्म उच्च तथा नीच के रूपमें दो प्रकारका और अन्तरायकर्म दानान्तराय आदिके रूपमें पाँच प्रकारका होता है।[2]

आगममे यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारो कर्म जीवके यथायोग्य अनुजीवी गुणोका घात करनेमें समर्थ होनेके कारण घाती[3] कहलाते है तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारो कर्म जीवके अनुजीवी गुणोका घात करनेमें असमर्थ होनेके कारण अघाती[4] कहलाते हैं। इतना ही नही, आगममे यह भी बतला दिया गया है कि संपूर्ण घाती कर्म तथा अघाती कर्मोकी कुछ प्रकृतियाँ मिलकर पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं[5] और अघाती कर्मोकी शेप प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं।[6]

ऊपर जो जीवके तिरेपन भावोकी गणना की गयी है उनमेसे तीन पारिणामिक भावोको छोडकर शेप पचास भाव उक्त कर्मोमेसे उस कर्मके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण ही पूर्वोक्त प्रकार क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारे जाते है। इन औदयिकादिरूप पचास भावोमेसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप जो औदयिक भाव है वे भाव ससारके

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र २, ३, ४, ५, ६, ७।

२ वही, अध्याय ८ सूत्र, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३८।

३ पचाध्यायी, अध्याय २ श्लोक ९९८।

४. वही, अध्याय, २, श्लोक ९९९।

५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३, ४४।

६ वही, गाथा ४१, ४२।

श्रेणीपर आरूढ न होकर उपशमश्रेणीपर आरूढ हुआ अथवा शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त न होकर शुभोपयोगकी भूमिकामे ही प्रवर्तमान रहा और ऐसी हालतमे उसका यदि मरण हो गया तो वह जीव स्वर्गसुखको प्राप्त करता हुआ[1] परपरया मोक्षसुखको प्राप्त करता है।[2] इसके साथ ही आगममे यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है कि यदि कोई जीव अपनेको भूलकर स्वर्गसुखमे रम जाय तो फिर इसमे भी सदेह नही कि वह मारीचकी तरह यथायोग्य अनेक भवो तक सासारिक विभिन्न प्रकारकी कुयोनियोंमे भी भ्रमण करता है।[3]

इस कथनसे इतनी बात स्थिर हो जाती है कि अशुभोपयोग और अशुभ प्रवृत्तिरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र ससारके कारण है, शुभोपयोग और शुभ प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वर्गादिसुखपूर्वक परपरया मोक्षके कारण है। तथा शुद्धोपयोग व शुद्ध प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षके कारण है।

इस प्रकार करणानुयोगके आधारपर किए गए उपर्युक्त विवेचन और इसके पूर्व चरणानुयोगके आधारपर किए गए विवेचनसे हमारा प्रयोजन यह है कि चरणानुयोगकी दृष्टिसे जो निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्गद्वयका अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा निश्चयसम्यक्चारित्र और व्यवहारसम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है एवं करणानुयोगकी दृष्टिसे जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रका विवेचन किया गया है। इन दोनो प्रकारके विवेचनोका यदि समन्वय किया जाय तो यह निर्णीत हो जाता है कि जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये तथा जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायिक–सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञान समझना चाहिये और इसी प्रकार जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे निश्चयसम्यक्चारित्र यथाख्यातचारित्र या वीतरागचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे औपशमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र समझना चाहिये और जिसे चरणानुयोगकी दृष्टिसे अणुव्रत, महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र, सरागचारित्र या सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन हमे इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि व्यवहार और निश्चय दोनो ही प्रकारके मोक्षमार्गका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है, चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्व किसी भी तरहके मोक्षमार्गका प्रारम्भ नही होता है, ऐसा जानना चाहिये। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके विषयमे यह बात कही गयी है कि वह दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहकी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस

---

१ प्रवचनसार, गाथा ११। २ छहढाला, ४।१४।
३. वही, गाथा १२।

न रहकर नियमसे निश्चयरूप औपशमिक या क्षायिक सम्यदर्शन ही रहा करता है। इसमें भी इतनी विशेपता है कि उपशश्रेणीपर आरूढ़ होनेवाले जीवके निश्चयरूप औपशमिक और क्षायिक दोनो सम्यग्दर्शनोमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन रह सकता है। लेकिन क्षपकश्रेणीपर आरूढ होनेवाले जीवके निश्चयरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहता है, औपशमिक सम्यग्दर्शन नही। इससे यह निष्कर्प निकलता है कि आठवें गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तकके जीव या तो औपशमिकसम्यग्दृष्टिके रूपमे निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते है या फिर क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमे निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते हैं। इन गुणस्थानोमे रहनेवाला कोई भी जीव कभी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके रूपमे व्यवहारसम्यग्दृष्टि नही रहता है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थानमें और इससे आगेके गुणस्थानोमे रहनेवाला कोई भी जीव केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टिके रूपमे ही निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करता है।

इसी प्रकार मोक्षमार्गके अगभूत सम्यग्ज्ञानका प्रारम्भ भी चतुर्थ गुणस्थानसे ही होता है। इसमे भी चुतर्थगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो प्रत्येक जीवमें क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानके रूपमे व्यवहार-सम्यग्ज्ञान ही रहा करता है निश्चयसम्यग्ज्ञान नही, तथा इसके आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोमे क्षायिकज्ञानके रूपमे निश्चयसम्यग्ज्ञान ही रहा करता है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नही। कारण कि तेरहवें गुण-स्थानसे पूर्व बारहवे गुणस्थानके अन्त समयमे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञा-नावरण और केवलज्ञानावरण इन पाँचो ही ज्ञानावरणोका एक साथ सर्वथा क्षय हो जानेके कारण क्षायोप-शमिक ज्ञानोका तेरहवे गुणस्थानके प्रथम समयमें सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि भव्य तथा अभव्यके भेदसे महित एकेन्द्रियादिक समस्त ससारी जीवोमे अनादिकालसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके रूपमें क्षायोपशमिक ज्ञानोका नियमसे सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उन ज्ञानोमें व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप तब तक नही आता जब तक जीवमे सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव नही हो जाता[1] है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक तो सज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तकके जीवोका क्षायोपशमिक ज्ञान कदापि व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप नही धारण करता है। दूसरे, भव्यजीवोका क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण कर सकता है, अभव्य जीवोका नही। और तीसरे सज्ञीपचेन्द्रिय भव्य जीवोका क्षायोपशमिक ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी तरह चतुर्थगुणस्थानमे ही व्यवहारसम्यग्ज्ञानका रूप धारण करता है, इससे पूर्वके गुणस्थानोमे नही, क्योकि वह सम्यग्दर्शनके सद्भावमे सम्यग्ज्ञानरूपताको प्राप्त होता है।

मोक्षमार्गके अगभूत व्यवहार तथा निश्चय दोनो ही प्रकारके सम्यक्चारित्रोके विपयमे आगमकी व्यवस्था यह है कि एकदेश क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रके रूपमें व्यवहारसम्यक्चारित्रका प्रारम्भ पचम गुणस्थानसे ही होता[2] हैं, इससे पूर्वके चारो गुणस्थानोमे तो असयत भाव ही रहा करता[3] है। कारण कि इन चारो गुणस्थानोमें अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयका अभाव नही होता है। यही क्षायोपशमिक-रूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्-चारित्र सज्वलनकषायके उदयके सद्भाव तथा प्रत्याख्यानावरणकपायके उदयके अभावमे पष्ठगुणस्थानमे सर्वदेशात्मक महाव्रतका रूप धारण कर लेता[4] है तथा आगे सज्वलन कपाय व

१ छहढाला, ४-१।

२-३ तदियकमायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगव।
विदियकसायुदयेण य असजमो होदि णियमेण॥ गो० जी० ४६८।

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४६५।

नोकषाय धीरे-धीरे कृश होकर जब दशवे गुणस्थानमे केवल सूक्ष्म लोभका उदय कार्यकारी रह जाता है तब वही क्षायोपशमिक-रूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र सूक्ष्मसापरायचारित्रके रूपमें अपनी चरम सीमामे पहुँच जाता है[1]। और इस तरह दशवे गुणस्थानके अन्तमे समस्त कषायोका यदि उपशम होता है तो ग्यारहवें गुणस्थानके प्रारम्भमे औपशमिकचारित्रके रूपमे निश्चयसम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता[2] है तथा दशवें गुणस्थानके अन्तमे यदि समस्त कषायोका क्षय होता है तो १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमे क्षायिकचारित्रके रूपमे निश्चयसम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता[3] है और यह क्षायिकचारित्र रूप निश्चयचारित्र १३वें तथा १४ वें गुणस्थानोमे भी बना रहता[4] है। जीवको जब औपशमिक अथवा क्षायिक रूपमे निश्चयचारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तब क्षायोपशमिकरूपताको प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्रकी समाप्ति नियमसे हो जाती है। कारण कि जीवमे प्रत्येक कर्मका यथासम्भव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षायोपशममेंसे एक कालमे एक ही अवस्था रह सकती है, दो आदि अवस्थायें कभी एक साथ नही होती। इसलिए एक कर्मके उदयादिककी निमित्तताके आधारपर होनेवाले औदयिकादि भावोका सद्भाव भी जीवमे एक साथ नही रह सकता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि औपशमिकचारित्ररूप निश्चयसम्यक्-चारित्र केवल ११ वें गुणस्थानमें ही रहता है, कारण कि जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमें ही इससे पतित होकर यथायोग्य कषायका उदय हो जानेसे फिर क्षायोपशमिकचारित्ररूप व्यवहार चारित्रमें आ जाता है। इस तरह क्षायिक चारित्ररूप निश्चयचारित्र ही ऐसा है जो १२वें में उत्पन्न होकर १३वें और १४वे गुणस्थानोमें भी अपना सद्भाव कायम रखता है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीवको पूर्वोक्त प्रकार अधिक-से-अधिक सप्तम गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दर्शनरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है और १२वे गुणस्थानके प्रारम्भमे क्षायिक-चारित्ररूप निश्चयसम्यग्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर १२वे गुणस्थानमें ही जीव मुक्त क्यो नही हो जाता है? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

१२ वें गुणस्थानमे क्षायिकचारित्रकी उपलब्धि हो जानेपर भी जीवके मुक्त न होनेका एक कारण तो यह है कि उस समय तक उसे ज्ञानावरणकर्मका पूर्णत क्षय न होनेसे क्षायिकज्ञानरूप निश्चयसम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नही हो पाती है। दूसरा कारण यह है कि १२वें गुणस्थानवर्ती क्षायिकचारित्ररूप निश्चय-चारित्रमे जीव यद्यपि भावात्मक चारित्रके रूपमें पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है परन्तु तव भी उसमे परावलम्बनपूर्ण योगात्मक क्रिया तो होती ही रहती है क्योकि उसके भी मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और काय-वर्गणाके निमित्तसे प्रदेशपरिस्पन्दन होता है। अत उसके स्वावलम्बनके रूपमें निश्चयचारित्रकी पूर्णता नही हो पाती है। यह योगात्मक क्रिया केवलज्ञानरूप क्षायिकनिश्चयसम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेके अनन्तर भी जीवके हुआ करती है। अत केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जीव मुक्त नही हो पाता है। इसी प्रकार केवलज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जव जीवकी योगात्मक क्रिया भी समाप्त हो जाती है तब जीवको मुक्ति प्राप्त नही होती है। इसका कारण यह है कि जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे उस समय भी परावलम्बी रहा करता है क्योकि अघाती कर्मोका उदय उस समय भी उसे प्रभावित किये रहता है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि १४वें गुणस्थानके अन्त समयमे अघाती कर्मोका भी पूर्णतया क्षय हो जानेसे जब जीव द्रव्यात्मकदृष्टिसे भी पूर्ण स्वावलम्वी हो जाता है तभी उसके निश्चयसम्यक्चारित्रकी

१, २, ३, ४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४७३, ४६७, ४७४।
५. तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ७०, पक्ति ९।

पूर्णता समझनी चाहिए। इस तरह मोक्षमार्गकी पूर्णता १४वें गुणस्थानके अन्त समयमे होनेसे उससे पूर्व जीव मुक्ति नही पा सकता है दूसरे उस समय निश्चयचारित्रकी पूर्णता हो जानेसे मोक्षमार्गकी भी पूर्णता हो जानेपर यह जीव फिर एक क्षणके लिए भी ससारमे नही ठहरता है।[1]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशामिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार-मोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्षकी साक्षात् कारणता नही है, परपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्रका कारण होकर ही मोक्षकी कारणता विद्यमान है। जैसा कि पूर्वमे हम विस्तारसे स्पष्ट कर चुके है। इसी प्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन, क्षायिकसम्यग्ज्ञान और क्षायिक सम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसस्यक्-चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमे मोक्षकी साक्षात् कारणता रहा करती है। यह वात भी हम पूर्वमे विस्तारसे स्पष्ट कर चुके है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्रको व्यवहार मोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमें तथा औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और औपशमिक व क्षायिक-चारित्रको निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र नामसे पुकारनेमे प्रकारान्तरसे यह युक्ति भी दी जा सकती है कि आगममे स्वाश्रितपनेको वस्तुका निश्चय धर्म व पराश्रित पनेको वस्तुका व्यवहार धर्म माना गया है।[2] इस तरह औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यक्ज्ञान और औप-शमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र ये सभी चूँकि यथायोग्य अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोके सर्वथा उपशम या सर्वथा क्षय हो जानेपर ही जीवमे उद्भूत होते है। अत- पूर्णरूपसे स्वाश्रयता पायी जानेके कारण इन्हें निश्चय नामसे पुकारना योग्य है तथा क्षायोपशामिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्र ये सभी चूँकि अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मोके सर्वघाती अशोके यथायोग्य उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम एव देशघाती अशोके उदयके सद्भावमे ही जीवमें उद्भूत होते है, अत पूर्ण रूपसे स्वाश्रयता नही पायी जाने अथवा कथचित् पराश्रयता पायी जानेके कारण इन्हे व्यवहारनामसे पुकारना योग्य है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि द्रव्यलिंग और भावलिंगके रूपमें भी दर्शन, ज्ञान और चारित्रका वर्णन आगममे पाया जाता है। इनमेसे तद्रूपताका अर्थ भाव-लिंग होता है और अतद्रूपताका अर्थ द्रव्यलिंग होता ह। इस तरह जो जीव यथायोग्य मोहनीयकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न रहनेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त न होते हुए भी तद्रूपके समान वाह्याचरण करते हैं उनमें तो द्रव्यलिंगके रूपमें ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते है, लेकिन जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जानेके कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी भावरूपताको प्राप्त होकर तदनुकूल वाह्याचरण करते है उनमे भावलिंगके रूपमे दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते है। इनमेसे जो जीव द्रव्यलिंगके रूपमे दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक है, वे व्यवहार मोक्ष-मार्गी और जो जीव

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ७१, पंक्ति १५। तत्त्वा० श्लो० वा०, पृष्ठ ७१, पक्ति २७।
तत्त्वार्थश्लोक वा०, पृष्ठ ७१, वार्तिक ९३, ९४।

२ आत्माश्रितो निश्चयनय, पराश्रितो व्यवहारनय। —समयसार, गाथा ५७२ की आत्मख्याति टीका।

भावलिंगके रूपमे दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारक है वे निश्चयमोक्षमार्गी आगममे स्वीकार किये गये है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञानी और क्षायोपशमिक सम्यक्-चारित्री जीव हैं उन्हे भी निश्चयमोक्षमार्गी या निश्चयसम्यग्दृष्टि, निश्चयसम्यग्ज्ञानी और निश्चय-सम्यक्-चारित्री ही कहना उचित है, उन्हें व्यवहारमोक्षमार्गी या व्यवहारसम्यग्दृष्टि, व्यवहारसम्यग्ज्ञानी और व्यवहारसम्यक्-चारित्री कहना उचित नही है।

उपर्युक्त समस्याका समाधान यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनो शब्दोंके प्रकरणानुसार विविध अर्थ आगममें स्वीकार किये गये है। जैसे कही भेदरूपता व्यवहार है और अभेदरूपता निश्चय है कही नानारूपता व्यवहार है और एकरूपता निश्चय है, कही पर्यायरूपता व्यवहार है और द्रव्यरूपता निश्चय है, कही विशेषरूपता व्यवहार है और सामान्यरूपता निश्चय है कही व्यतिरेकरूपता व्यवहार है और अन्वयरूपता निश्चय है, कही विभावरूपता व्यवहार है, और स्वभावरूपता निश्चय है, कही अभाव-रूपता व्यवहार है और भावरूपता निश्चय है, कही अनित्यरूपता व्यवहार है और नित्यरूपता निश्चय है, कही असद्रूपता व्यवहार है और सद्रूपता निश्चय है, कही विस्ताररूपता व्यवहार है और सक्षेप या सग्रह-रूपता निश्चय है, कही पराश्रय-रूपता व्यवहार है और स्वाश्रय-रूपता निश्चय है, कही विधेयरूपता, साधनरूपता व कारणरूपता व्यवहार है और उद्देश्यरूपता, साध्यरूपता व कार्यरूपता निश्चय है, कही परम्परारूपता व्यवहार है और साक्षात्रूपता निश्चय है, कही निमित्तरूपता व्यवहार है और उपादानरूपता निश्चय है, कही वहिरंग-रूपता व्यवहार है और अतरग-रूपता निश्चय है, कही उपचार, अभूतार्थ, असद्भुत-रूपता व्यवहार है और परमार्थ, भूतार्थ, सद्भूतरूपता निश्चय है। इन या इसी प्रकारके और भी व्यवहार और निश्चय शब्दके सभव अर्थोमेसे जहाँ किस प्रकारका अर्थ ग्रहण करनेसे प्रकरणकी सुसगति होती हो वहाँ पर उसी प्रकारका अर्थ व्यवहार और निश्चय शब्दोका ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यलिंगके रूपमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमे रहा करते है उन्हें बाह्यरूपताके आधारपर व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना तथा भावलिंगके रूपमे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीवमे रहा करते है उन्हें अन्तरगरूपताके आधारपर निश्चयदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना भी सगत हैं एव क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्-ज्ञान और क्षायोपशमिक चारित्रको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यक्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र नामोसे पुकारना तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान व औपशमिक और क्षायिक चारित्रको स्वाश्रयताके आधारपर निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यक्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र नामसे पुकारना भी सगत है।

जैनागममे जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमे चार निक्षेपोका वर्णन पाया जाता है उनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीनको तो व्यवहारनिक्षेपरूप जानना चाहिये तथा भावको निश्चयनिक्षेप-रूप जानना चाहिये। जैसे वास्तवमे अर्थात् निश्चयरूपमे तो वही जीव जैनी कहा जा सकता है जो भावसे जैनी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो। लेकिन जो जीव सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है उस जीवको भी द्रव्य-रूपसे व्यवहारमें जैनी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बनने-की क्षमताको प्राप्त है लेकिन चूँकि जैन कुलमे उत्पन्न हुआ है अत उसे भी व्यवहारमें नामरूपसे जैनी कहा जाता है तथा जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न उसमे सम्यग्दृष्टि बननेकी क्षमताको प्राप्त है लेकिन गृहस्थके छह[1] आवश्यक कृत्योको अवश्य कर रहा है उसे स्थापनारूपसे व्यवहारमें जैनी माना जाता है। इस तरह

---

१ देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः सयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥—यशस्तिलकचम्पू, आश्वास ८, प्रकीर्ण विधिकल्प।

सर्वत्र हमें व्यवहार और निश्चयकी प्रक्रियाको सुसगत कर लेना चाहिये। श्रद्धेय पडितप्रवर आशाधरजीने सागारधर्मामृत (अध्याय २ श्लोक ५४) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें विभक्त सभी जैनोंकी जो तरतमभावसे महत्ता बतलायी है उससे व्यवहारकी महत्ता प्रस्फुटित होती है।

मैं समझता हूँ कि अब तकके विवेचनसे आगम द्वारा स्वीकृत निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्ष-मार्गोंकी निर्विवाद स्थिति एव सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। •

सम्यग्दृष्टिका स्वभाव

'दिव्य ध्वनि' वर्ष २, अक १२ मे 'सम्यग्दृष्टिका स्वभाव' शीर्षकसे आगमप्रमाणके आधार किसी व्यक्तिके विचार मुद्रित हैं। व्यक्तिज्ञानकी कमीके कारण आगमका कैसा अनर्थ करता है, उसका परिचय इससे प्राप्त हो जाता है। मैं यहाँ उसीका उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हू—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारक ॥—समयसार कलश १९४।

इसका अर्थ वहाँ पर यह मुद्रित है—

"जैसे इस चैतन्यमूर्ति आत्माका स्वभाव परद्रव्यके भोगनेका नही है, उसी प्रकार इसका स्वभव परके कर्तापनेका भी नही है। अज्ञानके कारण यह जीव अपने आपको परका कर्त्ता भोक्ता मानता है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तब यह अपनेको परका कर्ता-भोक्ता नही मानता है।"

इसका यथावत् अभिप्राय तो एक विस्तृत लेख द्वारा हो प्रकट किया जा सकेगा। पर मैं इतना ही यहाँ सकेत कर देना चाहता हूँ कि उक्त मुद्रित अर्थ भ्रमपूर्ण है। यथावत् अर्थ निम्नलिखित होना चाहिए—

"कर्तृत्व अर्थात् राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन होना तथा पुद्‌गलकर्मोंसे बद्ध होना जीवका स्वभाव नही है। जिस प्रकार कर्मोके फलको भोगना अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेप-मोहादिरूप अपनी परिणतियोका अनुभवन करना यानी सुखी-दुखी होना जीवका स्वभाव नही है, क्योकि जब तक जीवमें अज्ञान अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक राग-द्वेष और मोहरूप परिणमन हो रहा है, तब तक वह कर्ता अर्थात् उपादानरूपसे राग-द्वेष और मोह आदि अपनी परिणतियोका व निमित्तरूपसे पौद्‌गलिक कर्मोके बन्धका कर्ता हो रहा है। इस तरह यदि जीवमें होनेवाली राग-द्वेष और मोहरूप अज्ञानपरिणतिका अभाव हो, जावे तो फिर न तो उसके भविष्यमे राग-द्वेष तथा मोहरूप भावोका कर्तृत्व रहेगा और जब यह कर्तृत्व नही रहेगा तो वह पौद्‌गलिक कर्मोका बन्ध भी नही करेगा।"

मुद्रित अर्थमे जो 'मानता है' ऐसा अर्थ निक्षिप्त किया गया है, इससे यह प्रकट होता है कि अज्ञानसे जीव अपनेको कर्ता केवल मान रहा है, है नही। जबकि यथावत् अर्थ यह है कि अज्ञानसे कर्ता है, केवल कर्तापन अपनेमें मान नही रहा है। यदि मानने रूप अर्थको सही माना जायगा, तो फिर यह भी मानना होगा कि जीव स्वभावसे ससारी नही है, केवल अज्ञानसे वह अपनेको ससारी मान रहा है। जबकि जीव ऐसा ही है, वह अपनेको केवल ससारी मान नही रहा है। उक्त पद्यमे अज्ञानका अर्थ भी ज्ञानका राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन अर्थात् विकृत परिणमन ही विवक्षित है, असत्य जानने रूप स्थिति अथवा ज्ञानका अभाव विवक्षित नही है।

•

निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहावो धम्मो" इस आगमवचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वत सिद्ध स्वभावका नाम है। परन्तु अध्यात्म (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते है जो जीवको ससार-दु खसे छुडाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातत्र्यरूप मोक्ष-सुखमे पहुँचा देता है[1]।

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे[2] आध्यात्मिक धर्मका विश्लेपण सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रूपमे किया गया है, जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससारके कारण होते है।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोमे विभाजन और उनमे साध्य-साधकभाव

श्रद्धेय प० दौलतरामजीने छहढालामे[3] कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके अभावमे प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमे है। अत जीवोको मोक्षके मार्गमे प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एव वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोमे विभक्त है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्धस्वभावभूत है उन्हे निश्चयमोक्षमार्ग कहते है व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रकट होनेमे कारण है उन्हें व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे विश्लेषण उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनो मोक्षमार्गोमे विद्यमान साध्य-साधक भाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामे भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनो मोक्षमार्गोमे साध्य-साधक भाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामे भी ऐसा ही बताया गया है।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध रहता आया है और उसके उदयमे उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभाव-भूत परिणमन होता आया है। भाववतीशक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक ही होती है। इस तरह जीवकी भाववतीशक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है, उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २।

२. वही, श्लोक ३।

३. छहढाला, ३-१।

(क) सर्वप्रथम जीवमे दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासभवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कपायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमे औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चयसम्यग्दर्शनके रूपमे व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमे चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कपायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका पचमगुणस्थानके प्रथम समयमे देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कपायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववतीशक्तिका सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमे सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है। ऐसा सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनो गुणस्थानोमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमें ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे, तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नवनोकपायोके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनो कपायोंकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका तथा उसके चतुर्थ भेद सज्वलन कपायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका भी यथास्थान निश्चयसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमे औपशमिक, यथाख्यातनिश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववतीशक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।[1]

व्यवहार धर्मक व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनो प्रकारके जीवोमे केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है, अत इनमे व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना सभव नही है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिससे अगृहीतमिथ्यात्वके साथ गृहीतमिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलत मनुष्योमें व्यवहारधर्मका व्यवस्थितक्रमसे विवेचन करना सभव हो जाता है। अत यहाँ मनुष्योकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघाती कर्मोके उदयमे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि

---

१ निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्ग ।

(क) निश्चयव्यवहारयो· साध्यसाधकभावत्वात्। —समय०, गा० १५२ की टीका

(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। वही, गा० १६० की टीका

(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। वही, गा० १६१ की टीका

मनुष्योंकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमे मिथ्यापरिणमन होते रहते हैं तथा जब उनमे पुण्यभूत अघाती कर्मोका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप परिणमनोकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धान-के रूपमे और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमे सम्यक्परिणमन होने लगते है। भाववतीशक्तिके दोनो प्रकारके सम्यक्परिणमनोमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पापभूत प्रवृत्तियाँ किया करते है और कदाचित् साथमे लौकिक स्वार्थकी पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते है। तथा जब वे भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते है, तब वे अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त सकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोको सर्वथा त्यागकर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते है। इतना ही नही, भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त सकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरंभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते है। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोको सर्वथा त्यागकर जो अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप आरभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते है, उन्हे नैतिक आचारके रूपमे व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब सकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके सर्वथा त्यागपूर्वक आरभीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते है, तब उन्हे सम्यक्चारित्रके रूपमे व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसगवश मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी भाववती-शक्तिके परिणमनस्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उस भाववतीशक्तिके ही परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहारमिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनासे प्रभावित उन मनुष्योंकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहार मिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहार-मिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य सकल्पीपापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमात्र भी त्याग नहीं कर पाते हैं तो उनकी यह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोंके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेवाले भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातसम्यक्चारित्रके रूपमें निश्चयधर्मका विवेचन किया

गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चय-मिथ्याचारित्रके रूपमे, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी केवल अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें भाववती-शक्तिके परिणमनस्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत निश्चयमिथ्यादर्शन, निश्चयमिथ्याज्ञान और निश्चय-मिथ्याचारित्रके रूपमे एव तृतीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके रूपमें निश्चय अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थगुणस्थानके जीवमे नव नोकषायोके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सञ्ज्वलन कषायोंके सामूहिक उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिए। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते है और न विरतिके रूपमे भावसम्यक्चारित्र कह सकते हैं, क्योकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिए कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनो प्रकारके स्पष्टीकरणोके साथ ही यहाँ निम्नलिखित कुछ विशेषताएँ भी ज्ञातव्य है

१ अभव्य जीवोके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, जबकि भव्यजीवोके प्रथम गुण-स्थान-मिथ्यादृष्टिसे लेकर चतुर्दश अयोगकेवली गुणस्थानपर्यन्त सभी गुणस्थान होते हैं।

२. निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोमे ही होता है, अभव्य जीवोमें नही होता। तथा भव्य जीवोंमें भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोंमें नही होता।

३. जीवके चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमे जो निश्चयधर्मका विकास होता है, वह उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमे होता है। इसके पश्चात् जीवके पचम गुणस्थानके प्रथम समयमे निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम-गुणस्थानके प्रथम समयमे उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप सर्वविरति-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है और जीवमे उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमे विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमे निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप औपशमिक, यथाख्यात-निश्चयसम्यक्-चारित्रके रूपमे होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चय-धर्मका विकास उस जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप क्षायिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोमे विद्यमान रहता है।

४ पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है कि पहला व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमे जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है एव तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावतीशक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथमगुणस्थानमे सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनों प्रकारके जीवोंमे हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक

आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमे नियमसे होता है क्योकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये विना अभव्य जीवमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोका तथा भव्य जीवमे इन लब्धियोके साथ करणलब्धिका भी विकास नही हो सकता है। प्रथम गुणस्थानमे देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नही है, परन्तु देशविरति-सम्यक्-चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास, चतुर्थ गुणस्थानमे नियमसे होकर पचम गुणस्थानमे भी नियमसे रहता है। एवं सर्वविरति-सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पचम गुणस्थानमे नियमसे विकास होकर षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अतरग रूपमे ही रहा करता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोमें यथासंभव रूपमें रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही विद्यमान रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोमें व्यवहारधर्मका सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है

प्रकृतमे 'मोक्ष' शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान सहयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान सयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्दश गुणस्थानमे तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्दश गुणस्थानकी प्राप्ति तव होती है जव त्रयोदश गुणस्थानमें कर्मास्रवमे कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुण-स्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोका द्वादश गुणस्थानमे सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तव होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोका पूर्वमे यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमें शेष सूक्ष्म लोभप्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चय-धर्मकी पूर्णता हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवके भाववतीशक्तिका निश्चयधर्मके रूपमे प्रारंभिक विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है और उसका वह विकास पचमादि गुणस्थानोमे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम औपशमिक-यथाख्यात-निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें क्षायिक-यथा-ख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोके यथास्थान यथासम्भव रूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होता है। तथा मोहनीय-कर्मकी प्रकृतियोका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमें आत्मोन्मुखरूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमे उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासपूर्वक होता है। एव जीवमें इन लब्धियोका विकास व्यवहारधर्मपूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तव होती है जब उस जीवमें भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहार-

धर्मकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयकी उत्पत्तिमें कारणभूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्तमिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध संवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, संशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमें जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोंके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोंके प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोंके प्रति मध्यस्थता (तटस्थता) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।
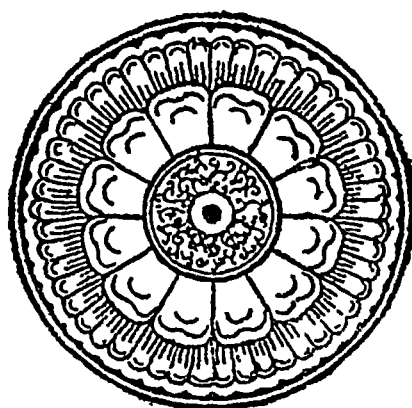
निश्चय और व्यवहार शब्दोंका अर्थाख्यान

सम्पूर्ण जैनागमको चार भागोमे विभक्त किया गया है—१. प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग), २. चरणानुयोग, ३ करणानुयोग ४. और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमे अध्यात्मको लक्ष्यमे रखकर महापुरुषोके जीवनचरित्रके आधारपर पाप, पुण्य और धर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमे अध्यात्मको लक्ष्यमे रखकर पाप, पुण्य और धर्मकी व्यवस्थाओका निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमे जीवोकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमे विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलाने वाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनोंका निर्धारण किया गया है। इनमेसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगमे आवश्यकतानुसार विविध अर्थोमें निश्चय और व्यवहार शब्दोका बहुलताके साथ प्रयोग हुआ है, इसलिये इन दोनो शब्दोका कहाँ क्या अर्थ ग्राह्य है, इस विषयपर यहाँ विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दोंका व्युत्पत्त्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनों शब्दोमेसे निश्चय शब्द तो 'निस्' उपसर्गपूर्वक चयनार्थक 'चिञ्' धातुसे 'अप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृञ्' धातुसे 'ण' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियोके अनुसार वस्तुमें संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित व पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मयुगलोमे एक-एक धर्म तो निश्चय शब्दका तथा एक-एक व्यवहार शब्दका अर्थ समझना चाहिये। उक्त व्युत्पत्तियोके अनुसार वस्तुमे संभवनीय अभेदाश्रित व भेदाश्रित तथा स्वाश्रित और पराश्रित परस्परविरुद्ध धर्मोंके वे युगल निम्न प्रकार सग्रहीत किये जा सकते है—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता, एकरूपता-नानारूपता, तद्रूपता-अतद्रूपता, भावरूपता-अभावरूपता, नित्यरूपता-अनित्यरूपता, स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता, सग्रहरूपता-विस्ताररूपता, सामान्यरूपता-विशेषरूपता, अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता, गुणरूपता-पर्यायरूपता, स्वभावरूपता-विभावरूपता, उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, उपादानरूपता-निमित्तरूपता, साक्षाद्रूपता-परम्परारूपता आदि। इसमे पूर्व-पूर्व धर्म तो अभेदाश्रित या स्वाश्रित होनेके कारण वस्तुका निश्चयधर्म और उत्तर-उत्तर धर्म भेदाश्रित या पराश्रित होनेके कारण वस्तुका व्यवहारधर्म समझना चाहिये।

यहाँपर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे है कि चरणानुयोगमे प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दोका क्या-क्या अर्थ आगममे ग्रहण किया गया है?

चरणानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थ

जैन सस्कृतिके अध्यात्मका प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवो द्वारा सासारिक बन्धनोंसे छुटकारा पाकर आत्मस्वातत्र्य प्राप्त कर लेना ही बतलाया गया है। जीवो द्वारा सासारिक बन्धनोसे छुटकारा पा लेनेका नाम मोक्ष है[1] और इस मोक्षको प्राप्त करनेका जो उपाय है वह मोक्षमार्ग है। जैनागममे मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे प्रतिपादित किया गया है।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष·।—तत्त्वार्थसूत्र १०-२।

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग·।—तत्त्वार्थसूत्र १।१।

और सम्यक्चारित्रको आगममे निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो-दो रूप वतलाया गया है।[1] इस तरह मोक्षमार्ग वहाँपर दो भेदरूप बतला दिया गया है—एक निश्चयमोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्ष-मार्ग।[2] साथ ही इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चयमोक्ष-मार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण है और व्यवहारमोक्ष-मार्ग परम्परया, अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है।[3]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजीने छहढालामे तीसरी ढालके प्रारम्भमे इस विषयको वहुत ही सुन्दरताके साथ सारगर्भित दो पद्यो द्वारा स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किया है। वे पद्य ये है—

"आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न, ताते शिवमग लाग्यो चहिये।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारौ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो ।।१।।
पर द्रव्यन तें भिन्न, आप मे रुचि, सम्यक्त्व भला है।
आप रूप कौ जानपनौ, सो सम्यग्ज्ञान कला है।।
आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोखमग सुनिये, हेतु नियत को होई ।।२।।

प्रथम पद्यमे पण्डितजीने कहा है कि आत्माका हित सुख है, वह सुख आकुलताके अभावमे उत्पन्न होता है और आकुलताका अभाव मोक्षमे है, अत जीवोको मोक्षके मार्गमे प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। ये तीनो निश्चयरूप भी होते हैं और व्यवहाररूप भी होते है अत मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। इनमेंसे सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग इस निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण है अर्थात् वह परम्परया मोक्षका कारण है।

द्वितीय पद्यमे पण्डितजीने कहा है कि समस्त चेतन-अचेतन पर-द्रव्योकी ओरसे मुडकर अपने आत्मस्वरूपकी ओर जीवकी अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चयसम्यग्दर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाना निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होनेवाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियोसे निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूपमे स्थिर हो लीन हो जाना निश्चयसम्यक्चारित्र है।

---

१ पचास्तिकाय—गाथा १०६।

२ पचास्तिकायमे व्यवहारमोक्ष-मार्ग, गाथा १६०। पचास्तिकायमे निश्चयमोक्ष-मार्ग, गाथा १६१। निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सभवति।—पचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामे आचार्य जयसेन।

३ निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात्।—पचास्तिकाय, गाथा १६० की टीकामे आचार्य अमृतचन्द्र। पचास्तिकाय, गाथा १६२ की टीकामे आचार्य अमृतचन्द्र। पचास्तिकाय गाथा १६३ की टीकामे आचार्य अमृतचन्द्र। साधको व्यवहारमोक्षमार्ग साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग।—परमात्मप्रकाश, टीका, पृष्ठ १४२ एव निश्चयव्यवहाराभ्या साध्यगाधनभावेन तीर्थंगुरुदेवतास्वरूप ज्ञातव्यम्।—परमात्मप्रकाश, श्लोक ७ की टीका।

द्वितीय पद्यके अन्तिम चरणमें श्रद्धेय पण्डितजीने कहा है कि आगे छहढालामे निश्चय-सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चयमोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार मोक्षमार्गका विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढालामें किये गये विवेचनके अनुसार व्यवहारमोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका पृथक्-पृथक् जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका कथन यहाँपर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

छहढालामे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं और कहा गया है कि इनके प्रति जीवोके अन्त करणमे श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादिकी वास्तविकताके सम्बन्धमे ज्ञानकी दृढता यानी आस्तिक्यभाव जागृत हो जानेका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधारपर ही जीवोंको निश्चय-सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमे और स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शनका ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थ-सूत्रके अनुसार उपर्युक्त सात तत्वोके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डक-श्रावकाचारके अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागताके आदर्श देवो, परमार्थ अर्थात् वीतरागताके पोषक शास्त्रो और परमार्थ अर्थात् वीतरागताके मार्गमे प्रवृत्त गुरुओके प्रति जीवोके अन्त करणमे श्रद्धान (भक्ति या आस्था) का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें निबद्ध सम्यग्दर्शनके उक्त लक्षणोमे परस्पर भेद दिखाई देता है। परन्तु तत्त्वत उनमें भेद नही है, क्योकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे प्रतिपादित लक्षणसे भी निष्कर्षके रूपमें जीवोके अन्त करणमे उक्त सात तत्त्वोके प्रति आस्तिक्य भावकी जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शनका स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप

वीतरागताके पोषक अथवा सात तत्त्वोके यथावस्थित स्वरूपके प्रतिपादक आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जीवो-को समस्त वस्तुओके और विशेषकर आत्माके स्वत सिद्ध स्वरूपका बोध होता है। जैसे आत्माका स्वत सिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। इसके आधारपर ही आत्माका अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिए हुए) स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्माके इस स्वरूपको समझनेके लिये उपर्युक्त प्रकारके आगमका श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पूर्व ही जीवोंको इस प्रकारके सम्यक् (वीतरागता-के पोषक) आगमज्ञानकी संप्राप्ति आवश्यक है। इसलिये यद्यपि मोक्षमार्गमे सम्यग्दर्शनके पूर्व ही सम्यग्ज्ञानको स्थान मिलना चाहिये, परन्तु वहाँ इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके मध्य स्थान दिया गया है इसका एक कारण तो यह है कि जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर ही उक्त प्रकारके ज्ञानका सम्यक्पना

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र १-२, १-४।

२. श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

(सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि उक्त ज्ञानकी उपयोगिता मध्यदीपकन्यायसे सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यक्चारित्रपर आरूढ होनेके लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूपमे लीन होने रूप निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओमे जीवकी प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चयसम्यक्चारित्रका अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमें औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है।[1] इनकी प्राप्ति जीवोको उपशमश्रेणी चढकर ११वें गुणस्थानमे पहुँचनेपर औपशमिक चारित्रके रूपमे अथवा क्षपकश्रेणी चढकर १२वें गुणस्थानमे पहुँचने पर क्षायिक चारित्रके रूपमें होती है। परन्तु ११वें गुणस्थानके औपशमिक चारित्र और १२वें गुणस्थानके क्षायिक चारित्रमे इतना अन्तर है कि उपशमश्रेणी चढकर ११वें गुणस्थानमें पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही पतनकी ओर मुड जाता है। 'अत जहाँ उसका औपशमिक चारित्र तत्काल (अन्तर्मुहूर्तमें) समाप्त हो जाता है वहाँ क्षपकश्रेणी चढकर १२वें गुणस्थानमे पहुँचने वाले जीवका क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतनकी ओर न मुड कर अन्तर्मुहूर्तके अल्पकालमे ही १२वे गुणस्थानसे १३वें गुणस्थान में पहुँच कर सर्वज्ञताको प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके लिये चतुर्थ गुणस्थानका अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाँचवे गुणस्थानमे अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ कर छठे गुणस्थान में महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नही, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थानमे शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त हो कर आत्मपरिणामोकी उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धिके आधारपर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी माड़ता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक उस जीवको उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है तब तक वह पाँचवे और छठें गुणस्थानोमे तो बुद्धिपूर्वक और सातवेंसे लेकर १०वें तकके गुणस्थानोमे अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारचारित्रकी पालनामे ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्रका भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोगकी दृष्टिमे क्षायोपशमिक-चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एवं तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते है। इतना ही नही, इन क्रियाओको सलग्नताके साथ करनेसे वे यथासंभव स्वर्गमें जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुँच जाते है, परन्तु यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि इन क्रियाओकी निश्चयसम्यक्चरित्रकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता सम्यग्दर्शनके आधार पर ही हुआ करती है, अन्यथा नही, क्योकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसको अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होना असभव है जबकि अणुव्रत और महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायोका आगममे बतलायी गयी प्रक्रियाके अनुसार क्षयोप-शम होनेपर ही उत्पन्न होता है।[2]

इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोगमे जो सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७।

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०, ३१।

व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके मोक्षमार्गका कथन मिलता है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्गको तो मोक्षका साक्षात् कारण वतलाना है तथा व्यवहारमोक्षमार्गको मोक्षका परपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका कारण होकर मोक्षका कारण वतलाना है। विचार कर देखा जाय तो यह आशय 'मोक्षमार्ग' शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोसे ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको तो कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्गस्वरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रको उस निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप सम्यग्दर्शनादिका कारणरूप वतलाना भी उसीका आशय है। यहाँपर भी यदि विचार करके देखा जाय तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दोके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंसे ही ध्वनित होता है। इस तरह ज्ञात होता है कि चरणानुयोगके प्रकृत प्रकरणमे मोक्षमार्ग शब्दके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोका क्रमसे कारण की साक्षाद्रूपता और परपरारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दोके साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दोंका क्रमसे निश्चयरूप और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शनादिककी कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि मोक्षप्राप्तिके लिये जीवको मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रकी तथा परपरया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्रकी अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थितिमें जो व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शनादिककी प्राप्तिके विना केवल व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादिकसे ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं, वे गलती पर हैं। कारण कि उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उन्हे अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्यमे सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि "जव निश्चयमोक्षमार्गके विना मोक्षकी प्राप्ति नही ह सकती है तो निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिका ही जीवको प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्गके ऊपर ध्यान देनेको कुछ भी आवश्यकता नही है", तो ये व्यक्ति भी गलतीपर है, क्योकि ऊपरके विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवको व्यवहारमोक्षमार्गपर आरूढ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्गको प्राप्ति होना असभव है। यह बात पूर्वमे ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्गके अगभूत निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवकी औपशमिकरूपमे तो उपशमश्रेणी माड कर ११वें गुणस्थानमे पहुँचनेपर ही होती है और क्षायिकरूपमे क्षपकश्रेणी माड कर १२वें गुणस्थानमे पहुँचनेपर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११वें अथवा १२वे गुणस्थानमे नही पहुँच जाता है तव तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र, जिसे सरागचारित्र या करणानुयोगकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है, ही रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि "व्यवहारसम्यक्चारित्रको धारण किये बिना ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको सभव है", कारण कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव ययायोग्य गुणस्थानक्रमसे बढता हुआ ही ११वें या १२वे गुणस्थानमे पहुच कर निश्चयसम्यक्चारित्रको उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १०वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या यो कहिये कि क्षायोपशमिकचारित्र के रूपमे रहा करता है।

उपर्युक्त कथनसे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति जीवको होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बातको स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिकचारित्ररूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्रका सद्भाव रहते हुए भी

जीवमे औपशमिक या क्षायिकरूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है ? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बातको स्वीकार नही करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३३५ की टीकामे व्यवहाराचार सूत्रका[1] उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्रको तव तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्दने उसी व्यवहार-सम्यक्चारित्रको तब विश्वकुम्भकी उपमा दे दी है जब जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि हो जाती है ।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्तिके उद्देश्यसे परपरया मोक्षके कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्रकी नियमसे उपयोगिता है। लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्रकी उपयोगिता है जब तक जीवको निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही हो जाती है, आगे नही ।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगममें निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामोसे पुकारा जाता है और व्यवहारमोक्षमार्गको जो अभूतार्थ, असद्भूत, अ-वास्तविक या असत्यार्थ आदि नामोंसे पुकारा जाता है, तो इनमे आगमका अभिप्राय क्या है ?

आगममे निश्चयमोक्षमार्गको जो भूतार्थ आदि नामोसे पुकारा जाता है इसमें आगमका अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्गकी इससे साक्षात् कारणताका बोध हो जाता है और चूँकि मोक्षकी साक्षात् कारणताका व्यवहारमोक्षमार्गमे अभाव पाया जाता है, कारण कि उसमें तो परपरया ही कारणता पायी जाती है । अत उसे अभूतार्थ आदि नामोसे पुकारा जाता है । लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि "व्यवहारमोक्षमार्गकी मोक्षकी प्राप्तिमे कुछ भी उपयोगिता नही है, वह तो वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारमोक्षमार्ग मोक्षप्राप्तिमे परपरया कारण नियमसे होता है। इस तरह व्यवहारमोक्षमार्गमे मोक्षप्राप्तिकी साक्षात् कारणताका अभाव रहनेसे जहाँ अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहाँ उसमे मोक्षप्राप्तिकी परपरया कारणताका सद्भाव रहनेसे भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योकि उसमें मोक्षकी साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहारमोक्षमार्ग कथचित् भूतार्थ आदि हैं क्योकि उसमे मोक्षकी परपरया कारणता विद्यमान है और कथचित् अभूतार्थ आदि भी हैं क्योकि उसमे मोक्षकी साक्षात् कारणताका अभाव है । इस तरह इसे सर्वथा अभूतार्थ तो नही माना जा सकता है, कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकारसे व्यवहारसम्यक्चारित्रका सद्भाव १०वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११वें और १२वें गुणस्थानमें ही निश्चयसम्यक्चारित्रकी उपलब्धि जीवको होती है तो इसे मोक्षका सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है, जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके ?

इस कथनका तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्तिके साक्षात् कारणभूत निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति किसी भी जीवको व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाये बिना सभव नही है । अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक जीवको हर हालतमें व्यवहारमोक्षमार्गको अपनाना ही होगा ।

इतना स्पष्टीकरण हो जानेके बाद जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्गको संसारका कारण मानते हैं वे बहुत

---

१ अपडिकमण अपरिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव । अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही य विसकुभो ॥१॥
पडिकमण परिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य । णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुभो दु ॥२॥

—व्यवहाराचारसूत्र

२. समयसार, गाथा, ३०६-३०७ ।

भारी भूल करते हैं। कारण कि ससारके मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही है तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमे देशघाती प्रकृतियोका उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि ससारका कारण होता है लेकिन उसमे (क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमे) जितना अश यथाविधि उपशम या क्षयके रूपमे सर्वघाती कर्मके उदयाभावरूप रहा करता है वह कभी ससारका कारण नही होता है।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृतिके प्रभावसे ऐसा जीव मर कर उत्तम गतिमे ही जन्म लिया करता है[2] और परपरया उस देशघाती प्रकृतिके प्रभावको समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[3]

[निश्चयमोक्षमार्गकी सर्वथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्गकी कथंचित् भूतार्थता और कथचित् अभूतार्थताकी सिद्धिमे एक तर्क यह भी है कि निश्चयमोक्षमार्ग सर्वथा बन्धका अकारण है जबकि व्यवहारमोक्षमार्ग पूर्वोक्त प्रकारसे कथचित् बन्धका अकारण है और कथचित् बन्धका कारण भी है। अत मुक्तिका सर्वथा कारण होनेसे निश्चयमोक्षमार्गको सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथचित् बन्धका कारण तथा कथचित् बन्धका अकारण होनेसे जब व्यवहारमोक्षमार्गमे कथचित् ससारकी कारणता और कथचित् मुक्तिकी कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकारसे उसे मुक्तिकी कथंचित् अकारणताके आधारपर कथचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्तिको कथचित् कारणताके आधार पर कथचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है।] उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिलकुल अनुचित है, क्योकि सर्वथा अभूतार्थता तो ससारके सर्वथा कारणभूत या मोक्षके सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें सिद्ध होती है। यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्गमें सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादिकी अपेक्षा भेद ही क्या रह जायेगा ? अर्थात् कुछ भेद नही रह जायगा।

करणानुयोगमे निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थ

इस लेखके आरम्भमें हम कह आये है कि करणानुयोग वह है जिसमें जीवोकी पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियो तथा उनके कारणोका विश्लेपण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये हैं कि आत्माका स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेकी शक्ति रूप है। प्रकृतमे जो कुछ विवेचन किया गया है वह सब इसके आधार पर ही किया गया है।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्माका स्वत सिद्ध स्वभाव है। इसलिये इस आधार पर एक तो आत्माका स्वतत्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वत सिद्ध अवगाहक स्वभावके आधार पर विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओको अपने उदरमे एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्माको भी अपने स्वत सिद्ध ज्ञायक स्वभावके आधार पर विश्वकी सपूर्ण वस्तुओंको एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिये, परन्तु जो जीव अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्रमे फँसे हुए है उन्होने अनादिकालसे अभी तक न तो कभी विश्वकी सपूर्ण वस्तुओंको एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे है। इतना ही नही, इन संसारी जीवोमे एक तो तरतमभावसे ज्ञानकी मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रामे इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनोकी अधीनतामें ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये ससारी जीव पदार्थोको देखने-जाननेके

---

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २१२, २१३, २१४।

२. प्रवचनसार, गाथा, ११-१२।

३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २९।

पश्चात् उन जाने हुए पदार्थोंमे इष्टपन या अनिष्टपनकी कल्पनारूप मोह किया करते है और तब वे इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोमे प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पनाके विपयभूत पदार्थोंमें अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पनाके विपयभूत पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पनाके विपयभूत पदार्थोकी अप्राप्तिमे और इष्ट कल्पनाके विषयभूत पदार्थोंकी अप्राप्तिमे विपाद हुआ करता है। यदि किन्ही-किन्ही जीवोको इस प्रकारसे हर्प और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जोव भी जब शरीरकी अधीनतामे ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्ही दूसरे पदार्थोंकी अधीनता स्वीकार किए हुए है तो ऐसी स्थितिमे शरीरके लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थोंकी प्राप्ति व अप्राप्तिमे अथवा शरीरके लिये पीडाकारक पदार्थोंकी अप्राप्तिमे और प्राप्तिमे उन्हें भी क्रमसे सुख व दु खका सवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी ससारी जीव अनादिकालसे अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए है। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीइन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पचेन्द्रिय भी हुए है। इसी तरह कभी मनरहित असज्ञी और कभी मनसहित सज्ञी भी हुए है। इन्होने कभी पृथ्वीका, कभी जलका, कभी तेजका, कभी वायुका और कभी वनस्पतिका भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणीके जीवोके शरीरोमें भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोकमे प्रभावशाली देखे जाते है और कोई जोव प्रभावहीन भी देखे जाते है। एक जीव मे उच्चताका और एक जीवमें नीचताका भी व्यवहार लोकमें देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवको जन्म-मरण भी धारण करना पड रहा है।

यह सब क्यो हो रहा है ? इसका समाधान आगम-ग्रन्थोमे इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक ससारी जीव अपने स्वत सिद्ध जानने-देखनेके स्वभावको न छोड़ते हुए भी अनादिकालसे स्वर्ण-पाषाणकी तरह पौद्गलिक कर्मोके साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपसे एकमेकपनेको प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारके आगममे बतलाये गये है।[2] आगममे यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरणकर्मका कार्य जीवकी जाननेकी शक्तिको आवृत करना है, दर्शनावरणकर्मका कार्य जीवकी देखनेकी शक्तिको आवृत करना है, वेदनीयकर्मका कार्य जीवको परपदार्थोके आधारपर यथायोग्य सुख और दु खका संवेदन कराना है, मोहनीयकर्मका कार्य जीवको परपदार्थोके आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित-अनुचितके भेदसे रहित प्रवृत्तियोमे व्यवहृत कराना है, आयुकर्मका कार्य जीवको प्राप्त शरीरमें सीमित काल तक रोक रखना है, नामकर्मका कार्य जीवको मनुष्यादिरूपता प्राप्त कराना है, गोत्रकर्मका कार्य कुल, शरीर और आचरण आदिके आधार-पर जीवमे उच्चता-नीचताका व्यवहार कराना है और अन्तरायकर्मका कार्य जीवकी स्वावलम्बन शक्तिका घात करना है।[3]

करणानुयोगकी व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकारके कर्मोको जीव हमेशा अपने विकारी भावो (परिणामो) द्वारा बाँधता है[4] और तब ये कर्म जोवके साथ बँध कर उसमें सीमित कालके लिये अपनी सत्ता बना

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा २।

२ वही, गाथा ८।

३. किस कर्मका क्या कार्य है, इसकी सामान्य जानकारीके लिये गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

४. समयसार, गाथा ८०।

लेते है तथा अन्तमे उदयमें आकर अर्थात् जीवको अपना फलानुभव कराकर ये कर्म तो निर्जरित हो जाते है[१]। लेकिन उस फलानुभवसे प्रभावित होकर अपनेमें उत्पन्न विकारी भावो द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरहके नवीन कर्मोसे पुन बँध जाता है। ये कर्म उदयमे आकर अपना फलानुभव जिस रूपमे जीवको कराते हैं वह जीवका औदयिक भाव कहलाता है[२] क्योकि जीवका उस रूप भाव उस कर्मका उदय होनेपर ही होता है, अन्यथा नही। कदाचित् कोई जीव अपनेमे सत्ताको प्राप्त यथायोग्य किसी कर्मको अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्तिको सुरक्षित रखते हुए भी जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिये फल देनेमे (उदयमे) असमर्थ हो जाता है, कर्मकी इस अवस्थाका नाम उपशम है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका औपशमिक भाव कहते है।[3] कदचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मको सर्वथा शक्तिहीन* बना देता है, जिससे वह कर्म उस जीवसे अपना सम्बन्व सर्वथा समूल विछिन्न कर लेता है। कर्मकी इस अवस्थाका नाम क्षय है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायिक भाव कहते है।[४] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्मके कुछ अंश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहे, कुछ अश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षयरूप हो जावें और कुछ अश (सर्वघातीरूप) सदवस्थारूप उपशमकी स्थितिको प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्मकी क्षयोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीवकी जो अवस्था होती है उसे जीवका क्षायोपशमिक भाव कहते हैं[५]। क्षायोपशमिक भावका अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मोके यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीवकी अवस्थायें भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकरूप हो जाया करती हैं[६]। अब इनमे यदि कारणताकी व्यवस्थाकी जाय तो कहा जा सकता है—जीवकी इन औदयिकादि अवस्थाओकी उत्पत्तिमें कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओके आधारपर व्यवहारकारण होता है और जीव स्वय निश्चयकारण है। जैसा कि नयचक्रकी निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट होता है—

"बधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बन्ध और मोक्षमे अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अवस्थाओके आधार पर व्यवहाररूपसे कारण होता है और जीव निश्चयरूपसे कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहाररूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायकरूपसे कारण होता है और "जीव निश्चयरूपसे कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादानरूपसे कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उक्त गाथा द्वारा कर्ममें जीवके बन्ध और मोक्षकी उत्पत्तिके प्रति यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर निमित्तकारणताका सद्भाव सिद्ध

---

१ विपाकोऽनुभव। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८।२१, २२, २३।
२. पचाध्यायी, २।६७। धवला पुस्तक १ पृष्ठ २१२।
३. पचाध्यायी, २।९६८। पचास्तिकाय, गाथा ५८ तथा उसकी टीका
४. पचाध्यायी, २-९६९। *धवल, पुस्तक १, पृ० २१२।
५. वही, २।९६६।
६. वही, २।९६२।

होता है तथा जीव स्वयं अपने उस बन्ध और मोक्षके प्रति उपादान कारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्मकी उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अवस्थाएँ होती हैं तब जीव अपनी विकारी योग्यताके कारण क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओंके रूपमें अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औदयिकादि परिणतियोंके रूपमें परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओंके आधारपर आत्माकी उन अवस्थाओंकी उत्पत्तिमें सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्मकी कोई परिणति यहाँपर जीवकी परिणति बन जाती हो—ऐसी बात नहीं है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्यरूप परिणत हो उसे उपादान कहते हैं।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर 'निमित्त' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'मित्र' शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उपादानको उसकी अपनी परिणतिमें मित्रके समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहाँपर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वय कार्यरूप परिणत होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चय"[3] इस आगमवाक्यके अनुसार उसे कार्यका निश्चयकारण मानना उचित है और कार्यरूप परिणत न होकर उपादानको उसकी अपनी कार्यरूप परिणतिमें सहयोग मात्र देनेके कारण "पराश्रितो व्यवहार"[4] इस आगमवाक्यके अनुसार निमित्तको कार्यका व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनो कारणोंमें निश्चयकारणता और व्यवहारकारणताका अन्तर रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्तिमे दोनो ही कारण उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारणको निश्चयकारणके रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारणको भी व्यवहारकारणके रूपमे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अयुक्त नहीं है, क्योकि जिस प्रकार उपादानका कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तका उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूँकि निमित्त उपादानकी तरह कार्यरूप परिणत नहीं होता, अत इस दृष्टिसे उसमें यदि अभूतार्थता आदि धर्मोका सद्भाव माना जाय तो यह भी असगत नहीं है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूकि कार्यरूप परिणत नहीं होता, इसलिये तो कथचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादानकी कार्यरूप परिणतिमे सहायक होता है, अतः कथचित् भूतार्थ आदि भी है। अत जो व्यक्ति निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते हैं उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभवमे यह बात आती है कि उपादानकी कार्यपरिणतिमे निमित्तके सहयोगकी अनिवार्य रूपसे सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जब तक उपादानको आवश्यकतानुसार स्वाभा-

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १३।

२ समयसार, गाथा ८६ की टीकामे आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "य परिणमति स कर्ता ..." आदि पद्यो द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३-४. समयसार, गाथा २७२ की समयसार-टीका।

विक रूपसे अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्तका सहयोग प्राप्त नही होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादानमे कार्योत्पत्तिके लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकनेरूप असामर्थ्यका नियमसे भेदन करने वाला है। आगममें भी इस बातको स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्तिमे यदि उपादानसे कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्यका भेदन नही करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते हैं कि "कार्य तो उपादान स्वय अपनी सामर्थ्यसे ही उत्पन्न कर लेता है उसमे उसको निमित्तके सहयोगकी बिल्कुल अपेक्षा नही रहा करती है, वह तो वहाँपर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है," तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते है कि "निमित्त अपने रूपका समर्पण कार्यमें करता है," तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्यमें अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्तमे उपादानकी अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा ? अर्थात् ऐसी स्थितिमे निमित्त स्वय ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना ही असगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनोमे यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्तके मतानुसार चित्से अचित्की उत्पत्ति होती है और चार्वाकके मतानुसार अचित्से चित्की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्को अचित्का और चार्वाक अचित्को चित्का उपादान कारण मानते है। जैनदर्शन इन दोनो ही मान्यताओका खण्डन करता है, कारण कि जैनदर्शनका यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप परिणत नही होता और न कभी एक द्रव्यके गुण-धर्म ही किसी अन्य द्रव्यमे सक्रमित होते है।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाककी उक्त मान्यताओका खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित्को अचित्-की परिणतिमे तथा अचित्को चित्की परिणतिमें निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें इन दोनो बातोका विस्तारसे विवेचन किया है। अर्थात् समयसारमे स्थान-स्थानपर यही बात देखनेको मिलती है कि उसमे जहाँ एक वस्तुमे दूसरी वस्तुकी उपादानकारणताके सद्भाव का दृढताके साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढताके साथ एक वस्तुमे दूसरी वस्तु की निमित्त-कारणताका समर्थन भी किया गया है[4] और यह बात हम पूर्वमें स्पष्ट ही कर चुके है कि निमित्तकारणता उपादानकारणताके रूपमे अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वय अपने रूपमे तो वह भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-मे तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३के अन्तर्गत पृष्ठ ५१ पर सहकारी—निमित्त कारणकी उपादानकी कार्यपरिणतिमे सहकारितारूपसे पारमार्थिकता (वास्तविकता) को स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।[5]

---

१. तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्कर किं सहकारिकारणं स्यात् ?—आप्तमीमासा कारिका, १०की अष्टशती-टीका।

२. जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण सकमदि दव्वे। —समयसार, गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध।

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२, १३।

४. समयसार, गाथा ८०, ८१।

५. क्रमभुवो' पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवविध· कार्यकारणभाव· सिद्धान्त-विरुद्ध'। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि। यदनन्तर हि यदवश्य भवति तत्तस्य कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेव व्यवहारनय-समाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ सम्बन्ध संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपित·, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

यहाँपर उपादानकारणता और निमित्तकारणताके स्वरूपका, उनकी क्रमसे निश्चयरूपता और व्यवहाररूपताका एव दोनोकी अपने-अपने रूपमे वास्तविकताका जो विश्लेषण किया गया है, उसका प्रकृतमें उपयोग यह है कि जीवकी पूर्वोक्त औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोके प्रति कर्ममे जो उदयादिकके आधारपर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूपसे अर्थात् निमित्तरूपसे है और जीव स्वयमे उन औदयिकादि परिणतियोके प्रति जो कारणताएँ विद्यमान है वे निश्चयरूपसे अर्थात् उपादानरूपसे है तथा साथ ही ये दोनो ही कारणतायें अपने-अपने रूपमें भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही हैं क्योकि जिस प्रकार उक्त औदयिकादि परिणतियोके प्रति जीव स्वयकी उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकारसे कल्पनारोपित नही है उसी प्रकार जीवकी उन औदयिकादि परिणतियोके प्रति अपनी उदयादिपरिणतियोंके आधारपर सहयोगी होनेके कारण कर्ममे विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नही है। इतना अवश्य है कि चूँकि उपादानकारण होनेके सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है, इसलिये उपादानकारणता तो सर्वथा भूतार्थ आदि है, लेकिन निमित्तकारण होनेके सबब चूकि कर्म स्वय कार्यरूप परिणत नही होता, इसलिये वह कथचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादानभूत जीवकी कार्यभूत औदयिकादि परिणतियोमें अपनी उदयादिपरिणतियोके आधारपर वह सहायक अवश्य होता है, अत वह सहायकपनेकी अपेक्षा कथचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहाँ पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोके प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियोको छोडकर और कुछ नही है अर्थात् कर्मका उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूपसे परिणत होना ही जीवकी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियोके प्रति कर्मकी क्रमश निमित्तकारणता है। ऐसा नही समझना चाहिये कि कर्मकी उदयादिकपरिणतियाँ अलग हैं और जीवकी औदयिकादि परिणतियोके प्रति उसमे (कर्ममे) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरहसे विचार किया जाय तो कर्मकी उदयादिक परिणतियाँ उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतियाँ होनेके कारण जहाँ "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्यके आधारपर उसके निश्चयधर्म है वहाँ कर्मकी वे ही परिणतियाँ जीवकी औदयिकादि परिणतियोके प्रति यथायोग्य रूपमें निमित्तकारणताका रूप धारण कर लेनेसे "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्यके आधारपर निमित्तकारणताके रूपमे उसके व्यवहारधर्म भी है। अब ऐसी हालतमें भी यदि निमित्तकारणताकी भूतार्थता आदिके विषयमें विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीवकी औदयिकादि परिणतियोके प्रति कर्ममे विद्यमान निमित्तकारणता जहाँ उस कर्मकी उदयादि परिणतियोके रूपमे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वही उसका कर्ममें उदयादि परिणतियोसे पृथक् स्वतत्र अस्तित्व न रहनेके कारण वह कर्मका अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरहसे भी जीवकी औदयिकादि परिणतियोंके प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्मका कथचित् वास्तविक और कथचित् अवास्तिक धर्म ही सिद्ध होती है। गधेके सीगकी तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदिके रूपमे कदापि नही माना जा सकता है।

इस कथनको निचोड यह है कि जीवकी जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतियाँ हुआ करती है वे सब परिणतियाँ जीवकी अपनी ही परिणतियाँ है। इसलिये जीव इन परिणतियोंका उपादानकारण या निश्चयकारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतियाँ क्रमश कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होनेपर ही होती है, इसलिये कर्म जीवकी इन औदयिकादि परिणतियोका अपनी उदयादिक परिणतियोके आधार पर निमित्तकारण या व्यवहारकारण होता है। चूँकि कर्मके उदयादिकके अभावमें जीवकी ये औदयिकादि परिणतियाँ कदापि नही होती है, अत कर्मको जीवकी इन परिणतियोमे अकिंचित्कर

या निरुपयोगी मानना मिथ्या है और चूँकि कर्मकी कोई परिणति कदापि जीवकी परिणति नही बनती है, इसलिए कर्मको जीवको औदयिकादि परिणतियोका उपादानकारण या निश्चयकारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तकके विवेचनसे यह बात अच्छी तरह समझमे आ जानी चाहिये कि चरणानुयोगके प्रकरणमे मोक्षकार्यकी दृष्टिसे जो निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार शब्दोके आधारपर क्रमश निश्चयमोक्षमार्गमे मोक्षकी साक्षात् कारणताके और व्यवहारमोक्षमार्गमे मोक्षकी परपरया कारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। इसी प्रकार वही पर जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रका तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान, और व्यवहारसम्यक्चारित्रका कथन किया गया है वह कथन भी निश्चय और व्यवहार शब्दोके आधार पर क्रमश' निश्चयसम्यग्दर्शनादिमें तो कार्यताके और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिकमे कारणताके अस्तित्व-का ही बोध कराता है। इसके अतिरिक्त करणानुयोगके प्रकरणमे जीवके बन्ध और मोक्षरूप अथवा जीवकी औदयिकादिपरिणतिरूप कार्य और उसके अभावरूपकारणकी दृष्टिसे जो नयचक्रकी उपर्युक्त २३५ वी गाथाके अनुसार निश्चयकारण और व्यवहारकारणके रूपमें दो कारणोका कथन किया गया है वह कथन निश्चयशब्दके आधार पर जीव स्वयमे उपादानकारणताके और व्यवहारशब्दके आधार पर कर्ममे यथायोग्य उदयादिरूपसे निमित्तकारणताके अस्तित्वका ही बोध कराता है। अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते है कि द्रव्यानुयोगमें निश्चय और व्यवहार शब्दोका क्या अर्थ ग्रहण किया गया है ?

द्रव्यानुयोगमे निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थ

लेखके प्रारम्भमे हमने यह भी कहा है कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्वकी संपूर्ण वस्तुओके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको बतलानेवाले स्वत सिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनोका विवेचन किया गया है। यहाँ प्रकृत विषय पर इसीको आधार बनाकर विचार किया जा रहा है।

जैनागममे बतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतंत्र सद्रूपता ही वस्तुका लक्षण है। प्रत्येक वस्तुकी यह सद्रूपता स्वतत्र तभी मानी जा सकती है जबकि वह स्वत सिद्ध हो, अत कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी सद्रूपता स्वत सिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तुकी सद्रूपता स्वत सिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तुमे निम्नलिखित चार विशेषताएँ अनायास सिद्ध हो जाती है।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादिकालसे रहती आ रही है), अनधिन है (अनन्तकाल तक रहने वाली है), स्वाश्रित है, (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने-अपने स्वरूपके साथ तादात्म्यको लिये हुए है।) इस विषयको पचाध्यायीमें निम्न प्रकारसे स्पष्ट किया गया है—

"तत्त्व सल्लाक्षणिकं सन्मात्र वा यतः स्वत. सिद्धम्।
तस्मादनादि-निधन स्वसहाय निर्विकल्प च ॥१-८॥"

इस प्रकार विश्वमे अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् स्वत सिद्ध सद्रूपताको प्राप्त सपूर्ण वस्तुओकी सख्या अनन्तानन्त है। इनमे भी जीवोकी सख्या अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवोकी सख्यासे भी अनन्तानन्त गुणे है, काल असख्यात है और धर्म, अधर्म तथा आकाश एक-एक है।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुएँ सामान्यरूपसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके छह द्रव्य प्रकारोमे समाविष्ट होती है।[2]

१. सर्वार्थसिद्धि-टीका-१-३९।

२ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला। द्रव्याणि। जीवाश्च। कालश्च।—तत्त्वार्थसूत्र ५-१, २, ३, ३९।

प्रत्येक वस्तुमे अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तगुण विद्यमान है। इन्हे धर्म या स्वभाव भी कहते हैं।[1] वस्तुका जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नही हो सकता है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमें गुणोकी सख्या अनन्त ही सिद्ध होती है।[2]

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमनशील है इसका यह अभिप्राय नही समझना चाहिये कि अगुरुलघुगुणके अतिरिक्त शुद्ध द्रव्यके अन्य गणोके शक्त्यशोमें हानि-वृद्धि होती है।[3] इस प्रकार सभी वस्तुओकी निम्नप्रकार स्थिति निश्चित होती है—

"वस्तुकी आकृति (प्रदेशवत्तारूप द्रव्यरूपता), वस्तुकी प्रकृति (स्वभाववत्तारूप गुणरूपता और वस्तुकी तथा वस्तुके प्रत्येक गुणकी विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोगमें द्रव्यरूपताके साथ-साथ वस्तुकी अनन्त द्रव्यपयायो तथा वस्तुके अनन्तगुणो और उन गुणोमेसे प्रत्येक गुणकी अनन्तगुणपर्यायोके रूपमे वस्तुका जैनागममें विश्लेषण किया गया है।[4]

प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनो ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त्त, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिके रूपमे विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। इस तरह प्रत्येक वस्तुको जैनागममें सत् मानते हुए भी उस सत्ताको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[5] अर्थात् जैनागममें प्रत्येक वस्तुमे द्रव्य पर्यायो और गुण पर्यायोके रूपमें तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्वके रूपमे ध्रौव्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् परिणमनमे वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोडती है और न ही एक वस्तुकी अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तुरूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी कभी सर्वथा नष्ट नही हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशासे जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्योमे समझना चाहिये। इतना ही नही,

---

१. पचाध्यायी, १–४८।
२. पचाध्यायी, १–४९, ५२।
३ (क) वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।–पचाध्यायी, १-८९।
(ख) वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।–पचाध्यायी, १-११२।
४. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा ९३।
इह हि किल य कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमय। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात् गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। —प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा १ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।
५ सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।—तत्त्वा० ५–२९, ३०।

एक जीव कभी दूसरे जीवरूप परिणत नही होता, एक पुद्‌गलाणु कभी दूसरा पुद्‌गलाणु नही बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नही हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुएँ यथायोग्य एक-दूसरी वस्तुके साथ संयुक्त होकर ही रह रही है।[१] इसके अतिरिक्त जीवो और पुद्‌गलोमें ऐसी स्वत सिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नामकी विशेषता विद्यमान है[२], जिसके आधारपर सभी जीव अनादिकालसे यथा-योग्य पुद्‌गलोके साथ संबद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाहीरूपमे एकमेकपनेको प्राप्त रहे है। उनमेंसे बहुत-से जीवोने यद्यपि पुद्‌गलोके साथ विद्यमान अपनी अनादिकालीन उस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है, परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्थामे रह रहे है।[3] बहुतसे पुद्‌गल अपनेमें विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्तिके आधारपर अनादिकालसे जीवोके साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे है, साथ ही बहुतसे पुद्‌गल एक-दूसरे पुद्‌गलोके साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे है।

जिन जीवोने पुद्‌गलोके साथ अनादिकालसे विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त कर दिया है वे अब कभी पुन पुद्‌गलोके साथ बद्ध नही होगे। परन्तु पुद्‌गल एक बार जीवके साथ अथवा अन्य पुद्‌गलो-के साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थितिको समूल समाप्त करके भी पुन: उस योग्य बन जाया करते है। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवो, पुद्‌गलाणुओ और पुद्‌गलस्कन्धोके साथ हमेशा ही बँधते और बिछुडते रहते है।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्वको नष्ट नही होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्वको कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तुके अन्य गुणरूप अथवा अन्य वस्तुके गुणरूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुकी अथवा प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक गुणकी प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्ययरूपताको धारण किये हुए है। परन्तु इन सभी पर्यायोमे भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तुकी कोई भी पर्याय केवल उसी वस्तुकी पर्याय होती है व एक गुणकी भी कोई पर्याय केवल उसी गुणकी पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकारसे सतत प्रतिनियतताको ही धारण किये हुए है।[४]

प्रत्येक वस्तुमे यथासभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते है वे सभी नियमसे स्वपर-प्रत्यय ही हुआ करते है। लेकिन प्रत्येक वस्तुमे जो गुणपरिणमन होते है उनमेसे कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते

---

१. (क) सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्‌गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्त केचनाप्यर्थास्ते सर्वं एव स्वकीय-द्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादापतन्त पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्ते ।

—समयसार, गाथा ३, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा, ७।

२. पञ्चाध्यायी, २–४५।

३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १९६।

४. (अ) जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमदि दव्वे।—समयसार, गाथा १०३।

(आ) समयसार, गाथा ७६, ७७, ७८, ७९।

है। इस प्रकार सामान्यरूपसे यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकारसे होते है। उनमेंसे एक प्रकार तो स्वप्रत्ययका है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्ययका है।[1] यह बात निश्चित ही समझना चाहिये कि वस्तुका कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नही होता है।[2]

प्रत्येक वस्तुमे जो गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमनशक्तिके आधारपर परकी अपेक्षाके बिना ही केवल स्वत होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तुमे जो द्रव्य या गुणका परिणमन उस वस्तुकी अपनी परिणमन शक्तिके आधारपर परवस्तुका सहयोग मिलनेपर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यशोमे अनन्तभागहानि, असख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानिके रूपमें तथा इसके अनन्तर अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धिरूपमे जो परिणमन समय-समयके विभागपूर्वक सतत हुआ करता है उसे तो स्वप्रत्यय परिणमन[3] जानना चाहिये। इसके अलावा प्रत्येक वस्तुमें होनेवाले शेष सभी गुणपरिणमन और सभी द्रव्यपरिणमन स्वपरप्रत्यय[4] ही हुआ करते हैं। ये सभी परिणमन यथायोग्य व्यवहारकालके समय, आवली, घडी, मुहूर्त्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि विभागोमें विभक्त किये जा सकते हैं।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक जैसे दर्शनोमे परप्रत्यय परिणमनोको भी स्वीकार किया गया है। जैसा पूर्वमे हम बतला आये हैं कि वेदान्तदर्शनमे चित्को अचित्का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शनमे अचित्को चित्का उपादान मान लिया गया है। परन्तु जैनदर्शनमे चूँकि पर-प्रत्यय परिणमनका सर्वथा निषेध कर दिया गया है और जो अनुभव सिद्ध भी है इसलिये वस्तुमे परप्रत्ययपरिणमन माननेवाले वेदान्त आदि दर्शनोकी इन मान्यताओका वहाँ पर (जैनदर्शनमें) खण्डन किया गया है। और यही कारण है कि जैन मान्यताके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योकी जितनी सख्या विश्वमें निर्धारित की गयी हैं वह नियत है, उसमे कभी घटा-बढी नही हो सकती है।

प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणके शक्त्यशोके आधारपर होनेवाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय गुणपरिणमनोका सकेत ऊपर हम कर चुके है। वस्तुके स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनो और गुणपरिणमनोका विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

---

१. द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। —सर्वार्थसिद्धि-टीका, ५—२।
नोट—यहाँ पर पर-प्रत्ययसे तात्पर्य स्वपरप्रत्ययका आगमानुसार ग्रहण किया गया है।

२. समयसार, गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक।

३ स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धचा हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च।—सर्वार्थसिद्धि, ५—७।

४ स्वश्च परश्च, स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमा। के पुनस्ते? पर्याया.। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो वाह्य प्रत्यय तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति। तत्समर्थश्च स्व. प्रत्यय। तावुभौ संभूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतू भवत, नान्यतरापाये कुशूलस्थमापपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५—२।

जीवका शरीरके छोटे-बडे आकारके अनुसार जो छोटा-बडा आकार यथासमय बनता रहता है तथा जीवकी नर-नारकादि पर्यायोके रूपमे पर्यायें बनती रहती हैं ये सभी तथा इसी प्रकारके प्रत्येक वस्तुमे अन्य वस्तुके यथायोग्य सयोग या मिश्रणसे होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थको जाननेरूप परिणमन आत्माकी उस ज्ञानशक्तिमे विद्यमान परिणमन करनेकी योग्यताके आधारपर उस-उस पदार्थका योग मिलनेपर ही हुआ करता है। यह आत्म-वस्तुका स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जानने रूप परिणमनमे पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञान-शक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पाँचो ज्ञानोमेसे कोई भी ज्ञान पदार्थके अभावमें कदापि पदार्थज्ञानरूप परिणमन नही कर सकता है। यही कारण है कि केवलज्ञानकी शक्ति विश्वमें विद्यमान सभी पदार्थोसे अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वज्ञ उसके द्वारा केवल उन्ही पदार्थोंको जानता है जो अपनी सद्रूपताको धारण किये हुए है। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थका सहयोग मिले केवलज्ञानका परिणमन पदार्थको जानने रूप नही हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्तिका पदार्थज्ञानरूप परिणमन पदार्थाधीन ही सिद्ध होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो पदार्थके साथ-साथ यथायोग्य पाँच पौद्गलिक इन्द्रियो तथा छठे मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करते है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थको जाननेरूप परिणमनमें स्वगत योग्यताके साथ-साथ पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियो और मनकी कारणता भी रहा करती है। इतना ही नही, मतिज्ञानमे प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें शब्द भी कारण हुआ करते है।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमनमे आत्माकी ज्ञानशक्तिमे रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है और पदार्थोमें रहनेवाली कारणता भिन्न प्रकारकी है तथा इन्द्रियोमे, मनमे और प्रकाशमे रहनेवाली कारणता भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। इसी तरह श्रुतज्ञानमे शब्दकी कारणता भी भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् आत्माकी ज्ञानशक्तिकी जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थोमे, मनमे, इन्द्रियोमे, प्रकाशमे और शब्दमे जो कारणता है वह निमित्तरूप है क्योकि ये सब स्वय पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमे सहायक होते हैं। इनमे भी आत्माकी ज्ञानशक्तिके पदार्थज्ञानरूप परिणमनमें पदार्थ अवलम्बनरूपसे निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशोंपर दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्माकी ज्ञानशक्तिका पदार्थ-ज्ञानरूप परिणमन होता है, अन्यथा नही। इन्द्रियाँ और मन करणरूपसे निमित्त होते है। प्रकाश विद्यमानता रूपसे ही निमित्त होता है। श्रुतज्ञानमे शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते है।

पूर्वमें हम इस बातका कथन कर आये हैं कि कार्यके प्रति कार्यसे अभिन्न वस्तुमें विद्यमान उपादान-कारणता स्वाश्रित धर्म होनेके कारण "स्वाश्रितो निश्चय" इस आगमवाक्यके अनुसार निश्चयरूप हैं और उसी कार्यके प्रति कार्यसे भिन्न वस्तुमे विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहार" इस आगमवाक्यके अनुसार व्यवहाररूप हैं।

पूर्वमें हम यह भी कह आये है कि जिसमें निश्चयरूपता रहा करती हैं वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सद्भूत या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमें व्यवहाररूपता रहा करती है वह कथञ्चित् वास्तविक आदि

---

१. त्रिलोकसार, द्विरूपवर्गधारा प्रकरण, गाथा ६९, ७०, ७१, ७२।

होता है और कथंचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूँकि निश्चयरूप कारण है, इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादानकारणमें इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक रहता है तब तक कार्यमे उपादानकी अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है। लेकिन निमित्तकी अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नही हो जाता। कार्यके उत्पन्न हो जाने पर निमित्तकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है। अत जब तक कार्यमे उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्तको उस अपेक्षाके रूपमें वास्तविक ही कहा जायगा और कार्यके उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है, अत तब उसे इस दृष्टिसे अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्तिमे सहायक ही होता है, अत इस दृष्टिसे तो यह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नही होता, अत इस दृष्टिसे वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके है।

इस तरह उपादानमें तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्तमें कथचित् वास्तविकता तथा कथचित् अवास्तविकता रहनेके कारण उपादान तो कार्यमे निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहारकारण होता है।

इसी प्रकार जो वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत् है वह परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत्तारूप धर्म विद्यमान है तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत्तारूप धर्म विद्यमान है। जैसे आत्मा चित् है। यहाँपर जिस प्रकार आत्मामे चिद्रूप धर्मकी सत्ता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसके अचिद्रूप धर्मकी असत्ता भी सिद्ध होती है। अत कहना चाहिये कि आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव और अचिद्रूपताका अभाव इन दोनो धर्मोमेसे चिद्रूपताका सद्भाव आत्माका स्वरूपपरक धर्म होने, अत एव स्वाश्रित धर्म होनेके कारण निश्चयधर्म है व अचिद्रूपताका अभाव स्वरूपपरक धर्म न होने, एतावता पराश्रित धर्म होनेके कारण व्यवहारधर्म है। ये दोनो ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मामे अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे है। यही कारण है कि जैनागममे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तुमे प्रत्येक प्रकारकी सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ताके साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नही माना जायगा अर्थात् आत्मामें चिद्रूपताके सद्भावके साथ अचिद्रूपताका अभाव नही माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्माका अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्योके साथ वास्तविक भेद सिद्ध नही हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मामें चिद्रूपताका सद्भाव वास्तविक है उसी प्रकार उसमें अचिद्रूपताका अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपताका सद्भाव अपनी स्वाश्रयताके कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहाँ अचिद्रूपताका अभाव पराश्रयताके कारण कथचित् वास्तविक है और कथचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मामे चिद्रूपताका सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपताका अभाव एक और अखण्ड धर्म नही है, क्योकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओकी अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमेंसे प्रत्येककी अचिद्रूपताका अभाव भी आत्मामें भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मामें नाना अचिद्रूपताओके अभाव (स्वान्यन्यावृत्तियाँ) भी नाना सिद्ध है और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपताको व्यवहारधर्म व एकरूपता और अखण्डरूपताको निश्चयधर्म इन दोनो शब्दोकी व्युत्पत्तिके आधार पर हम पूर्वमे प्रतिपादित कर ही चुके है।

भावरूपताको निश्चयशब्दका प्रतिपाद्य और अभावरूपताको व्यवहारशब्दका प्रतिपाद्य माननेमें एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म अपने वैशिष्टयके कारण उस वस्तुको स्वतन्त्रताका निर्णायक

---

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, १५।

होता है, अभावरूप धर्म नही। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओमे भी समानता लिये हुये पाये जाते है। जैसे जीवमे पुद्गलद्रव्यकी-अचिद्रूपताका जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्यकी अचिद्रूपताका अभाव आकाशादि वस्तुओमे भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओमें पुद्गलद्रव्यसे भेद करना असभव हो जायगा। अथवा यो कहे कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओकी अचिद्रूपताका जैसे अभाव एक जीवमें है वैसा ही अभाव अन्य जीवोमे भी है तो इस तरह नाना जीवोमे परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असभव हो जायगा। इसलिये मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तुका भावरूप धर्म ही उस वस्तुकी स्वतन्त्रताका निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नही। इस तरह भावरूप धर्मको निश्चयधर्म तथा अभावरूप धर्मको व्यवहारधर्म कहना उचित ही है। अनन्तानन्त जीवो, अनन्तानन्त पुद्गलो, असख्यात कालद्रव्यो तथा एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश इन सबका अपना-अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओके पृथक्-पृथक् अस्तित्वको सुरक्षित रखे हुए हैं। अन्यथा जीवोकी अनन्तता, पुद्गलोकी अनन्तता और कालद्रव्योकी असख्यातता भग हो जायगी। इतना ही नही, सम्पूर्ण वस्तुओमें एकत्वका प्रस्थापन होकर सपूर्ण जगत् अद्वैतताके साँचेमें ढल जायगा। एक बात और है। अभावको जैनदर्शनमे भावान्तर स्वभाव माना गया है, भावको अभावान्तर स्वभाव नही। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक (भावात्मक) धर्मके आधार पर ही वस्तुकी स्वतन्त्रताका भान हो सकता है, असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तुकी स्वतन्त्रताका भान करनेमें कदापि सहायक नही हो सकता है। ये सब कारण है जिनके आधार पर हमे प्रत्येक वस्तुके भावात्मक धर्मको निश्चयधर्म और अभावात्मक धर्मको व्यवहारधर्म ही स्वीकार करना पडता है। यह सब निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था वस्तुके नित्यत्व-अनित्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, अभेद-भेद, एकत्व-अनेकत्व आदि वस्तुधर्मोके विषयमे भी समझ लेना चाहिये। इस विषयको पचाध्यायी ग्रन्थमे अध्याय प्रथमके श्लोक १५ से श्लोक २२ तक विस्तारसे स्पष्ट किया है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तुके निश्चयधर्मको निश्चयरूपसे अर्थात् सर्वथारूपसे वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तुके व्यवहारधर्मको व्यवहाररूपसे अर्थात् कथचित् रूपसे वास्तविक मानना ही उचित है। गधेके सीगकी तरह सर्वथा अवास्तविक, कल्पित या मिथ्या मानना उचित नही है।

इन सब निश्चय-व्यवहारधर्मोके अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहारधर्मोके विषयमे विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ द्रव्यानुयोगकी दृष्टिमे उपर्युक्त प्रकारसे विधिरूप धर्म निश्चय और निषेधरूप धर्म व्यवहारधर्म माना जाता है वहाँ करणानुयोगकी दृष्टिमे निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहा जाने योग्य है। जैसे मुक्ति ससारका अभावरूप धर्म है लेकिन पराश्रितताका अभावरूप धर्म होकर भी आत्माको स्वतन्त्रतारूप स्वाश्रयताका बोधक होनेसे निश्चयधर्म है तथा ससार आत्माकी परतन्त्रतारूप पराश्रितताका बोधक होनेके कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता, कार्यरूपता-कारणरूपता, साध्यरूपता-साधनरूपता आदि परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोमें भी निश्चय और व्यवहारकी व्यवस्था बैठा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग, स्वभाव और विभाव, द्रव्य और पर्याय, गुण और पर्याय, अन्वय और व्यतिरेक, अन्तरग और बाह्य आदिके विकल्पोमे भी पूर्व-पूर्वका धर्म निश्चयरूप और उत्तर-उत्तरका धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्मको वस्तुका निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्मको वस्तुका व्यवहारधर्म माना जाय, इसका निर्णय हमे सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दोंके व्युत्पत्त्यर्थोके आधारपर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिये। लेकिन सर्वत्र इस बातका ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चयधर्म है जो अपने-अपने ढगसे सर्वथा वास्तविक है और वे व्यवहारधर्म है जो अपने-अपने ढगसे कथंचित् वास्तविक और कथचित् अवास्तविक है। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहार-

धर्म कहना असगत, मिथ्या या कल्पनारूप ही है। इसीलिये जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मोंको ही व्यवहार धर्मके रूपमें समझ बैठे हैं वे महान् भ्रमके शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगोंने व्यवहारधर्मको भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रखा है वे भी महान् भ्रमके शिकार हो रहे हैं।

लोकमें भी व्यवहारधर्मको कथचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे—"यह शरीर मेरा है", "यह मकान मेरा है", "यह द्रव्य मेरा है", "ये मेरे स्वजन हैं", "मैं अमुक समाजका व्यक्ति हूँ" और "अमुक ग्राम या देशका रहनेवाला हूँ" इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक ही हैं तो लोककी और अध्यात्मकी सपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी, क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकताका ही बोलवाला हो जायगा। विवेकी पुरुषोंकी तो कल्पना करके रूह कॉपने लग सकती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थानपर वस्तुका जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है। परन्तु ऐसे भी निश्चयधर्म होते हैं जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे—पुद्गलाणुओंके मिश्रणसे बनी हुई मिट्टीरूप स्कधपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वही मिट्टी घटोत्पत्तिमे निश्चय-रूपताको प्राप्त हो जाती है। यही कारण कि मिट्टीरूप स्कधपर्यायको द्रव्यके रूपमें यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है। यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिये।

इस तरह हम पुन कह देना चाहते है कि परसापेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना निश्चयकी कसौटी है, कथचित् वास्तविकता और कथचित् अवास्तविकताका होना व्यवहारकी कसौटी है तथा परनिरपेक्ष सर्वथा वास्तविकताका होना मिथ्यारूपता की कसौटी है।

उपसंहार

अध्यात्मके प्रकरणमें जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गका विवेचन किया गया है और उससे जो निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्रको निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यकचारित्रको व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, इनके विषयमें इसतरह निश्चय-व्यवहारका विभाजन करना चाहिये कि किसमे, किस तरहसे स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमे, किस तरहसे पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इसप्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक्चरित्र ये सभी निश्चयधर्मकी कोटिमे आते हैं। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक्चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) है, जबकि क्षायिकसम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) हैं। इन सबको निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्मके उपशम या क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते है। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिकसम्यक्चारित्र ये दोनो व्यवहारधर्मकी कोटिमे आते हैं। इनको व्यवहारधर्म कहनेका कारण यह है कि ये दोनो उस-उस कर्मके क्षयोपशमसे पैदा होते है अर्थात् इनकी उत्पत्तिमें उस-उस कर्मकी सर्वघाती प्रकृतियोके वर्तमानमे उदय आनेवाले निषेकोका उदयाभावी क्षय, आगामी कालमे उदय आनेवाले निषेकोका सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय, इसतरह कर्मका उदयाश, उपशमाश और क्षयाश तीनो ही कारण होते है। ऐसी स्थितिमे इनमे जहाँ कर्मके उपशम और क्षयकी अपेक्षा आत्मा-श्रितता पायी जाती है वहाँ कर्मके उदयकी अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है। इस तरह इनमें जहाँ

ससारकी कारणताका अभाव पाया जाता है वही ससारकी कारणताका सद्भाव भी पाया जाता है। अथवा यो कहिये कि जहाँ इनमे मोक्षकी कारणताका सद्भाव पाया जाता है वही मोक्षकी कारणताका अभाव भी पाया जाता है।[1]

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जीवके चौथे गुणस्थानसे सप्तमगुणस्थान तक ही सभव है, औपशमिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवें तक तथा उपशमश्रेणीके सातवे, आठवे, नौवें और दशवें गुणस्थानोमे एव उपशातमोह नामक ११वें गुणस्थानमे सभव है तथा क्षायिकरूप निश्चयसम्यग्दर्शनकी स्थिति चौथेसे सातवे तक तथा उपशमश्रेणीके सातवे, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानोमे एव ११वें उपशान्तनामक गुणस्थानमे भी सभव है। इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणीके सातवें, आठवें, नौवें और दशवे गुणस्थानोमे तथा क्षीणमोहनामक १२वे गुणस्थानमे एव उसके आगे सर्वत्र नियमसे क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। चौथे गुणस्थानसे पूर्व प्रथम गुणस्थानमें मिथ्यात्वके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमे सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न औदयिकभावके रूपमे तथा तृतीय गुणस्थानमे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूपमे सम्यग्दर्शनका सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानोमे निश्चय और व्यवहार दोनो ही प्रकारके सम्यग्दर्शन नही रहा करते है।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यो कहिये कि सरागचारित्र नियमसे पाँचवे से लेकर दशवें गुण-स्थान तक रहा करता है, ११वे गुणस्थानमे नियमसे औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वें गुणस्थानसे लेकर आगे १४वे गुणस्थानके अन्ततक क्षायिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है। आगे मोक्षमे चूँकि आत्मस्वरूपमे कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अत वहाँपर चारित्रकी स्थितिको आगममे अस्वीकृत कर दिया गया है।[2] यहाँ पर इतनी विशेषता और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि निश्चयसम्यक्-चारित्र, क्षायिकत्व और यथाख्याततत्त्वकी दृष्टिसे १२वें गुणस्थानके प्रारम्भमे जीवको उपलब्ध हो जाता है। परन्तु यह सब उसका भावात्मकरूप है, द्रव्यात्मक दृष्टिसे अभी उसकी (निश्चयसम्यक्चारित्रकी) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योकि अभी भी उसके कर्मोके साथ बद्धता बनीहुई है। साथ ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका पूर्णता और पूर्ण आत्माश्रिताके रूपमे अभी भी अभाव बना रहता है। इसके अलावा नोकर्मनिमित्तक योग भी आत्मामे हुआ करता है। तेरहवे गुणस्थानकी आदिमे यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे निश्चयसम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूपसे निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अपूर्ण बना रहता है। यद्यपि योगका निरोध हो जानेपर नोकर्म-निमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघातीकर्म अभी भी कार्यरत रहा करते है। इन अघाती कर्मोका प्रभाव १४वे गुणस्थानके अन्त समयमें ही समाप्त होता है। अत उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मक-रूपमे पूर्ण स्वावलम्बी बनता है, यही निश्चयसम्यक्चारित्रकी पूर्णता है और इसके होनेपर आत्मा भी तत्काल पूर्ण स्वतन्त्र्यमय मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।[3]

---

१. आगममे सरागसम्यक्त्वको जो व्यवहारसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है उसके साथ प्रकृतका विरोध नही समझना चाहिये, क्योकि यहाँपर सम्यग्दर्शनके सम्यक्त्व सम्बन्धमे मात्र दर्शनमोहनीयकर्मके उदय-अनुदयकी अपेक्षासे विचार किया गया है।

२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की श्लोकवार्तिकटीका।

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिकटीकामे वार्तिकश्लोक ८७ से ९७ तक व इनका भाष्य।

ऊपर पाँचवें गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका और ११वे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यक्चारित्रका सद्भाव बतला आये है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथमसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्रका अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णताको ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कसौटी माना जाय, जो कि तत्त्वत सही है, तो क्षायिकरूप केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञानकी कोटिमे आता है। अत. पराश्रयता और अपूर्णताके आधारपर मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक होनेके कारण व्यवहार-सम्यग्ज्ञानकी कोटिमे ही आ जाते हैं। ऐसी स्थितिमे व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी स्थिति चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवे गुणस्थान व उसके आगे ही निश्चयसम्यग्ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है।[1] चतुर्थ गुणस्थानसे पूर्वका ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचनका सार यह है कि प्रथमसे तृतीय गुणस्थान तक मोक्षमार्गताका सर्वथा अभाव है, कारण कि वहाँ तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अभाव ही रहा करता है। अत वहाँ पर ससार-की ही कारणता रहा करती है। व्यवहारसम्यग्ज्ञानरूप मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारम्भ हो जाता है और १२वें गुणस्थान तक रहता है व तेरहवें गुणस्थानमे निश्चयसम्यग्ज्ञान हो जाता है और वह आगे भी रहता है। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थानमे उत्पन्न होकर सातवें गुणस्थान तक रहता है। इसके आगे निश्चयसम्यग्दर्शन ही रहा करता है। परन्तु किसी जीवके निश्चयसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति चतुर्थ गुण-स्थानमे भी हो जाती है, किसीको पाँचवे मे, किसीको छठेमे और किसीको सातवेंमें भी होती है। इस तरह निश्चयसम्यग्दर्शनका सद्भाव चौथेसे सातवे तकके गुणस्थान तक भी सम्भव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्-चारित्रकी प्राप्ति पाँचवें गुणस्थानमें होती है। इसका सद्भाव १०वे गुणस्थान तक रहता है। ११वें गुणस्थानमें व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र ही रहता है तथा इसकी पूर्णता चतुर्दश गुणस्थानके अन्त समयमे होती है। पाँचवे गुणस्थानसे पूर्व व्यवहारसम्यक्चारित्र भी नही रहता है।

विषयका उपसहार करते हुए हमने ऊपर यद्यपि निश्चय और व्यवहाररूप विभाजन मोक्षमार्गको दृष्टिमे रखकर अथवा यो कहिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको दृष्टिमे रखकर किया है। परन्तु लेखमे शास्त्रीय दृष्टिसे चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन सभी अनुयोगोके आधारसे भी विस्तारसे किया है। साथ ही लौकिक दृष्टिसे भी सक्षिप्त रूपमे किया है। इसलिये इसके सम्बन्धमें विस्तार न करके अब इस बातपर विचार करते हैं कि जब आगममें 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दो का भी सर्वत्र बहुलतासे प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है?

निश्चयनय और व्यवहारनयका अर्थ और प्रयोजन

नयोको जैनागममे प्रमाणका अश स्वीकार किया है।[2] जैनागममे यह भी बतलाया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[3] इसके साथ

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १ को श्लोकवार्तिकटीकाके वार्तिक-श्लोक ९३, ९४, ९५।

२ नाप्रमाण प्रमाण वा नयो ज्ञानात्मको मत । स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधत ॥

—तत्त्वा०, श्लो० १-६, वा० २१।

३ प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम्।

—प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका।

ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है, अत ज्ञानको ही प्रमाण जानना चाहिये।[1] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्वको समझनेका साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकारसे प्रमाण होता है और प्रमाणका अश ही नय होता है। अत इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्वके अशको समझनेका साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[2]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागममे पाँच बतलाये गये है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[3] इनमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारो ही ज्ञान अखण्डवस्तुका ज्ञान कराते है और इनमेंसे भी केवलज्ञान तो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तुका ज्ञान कराते हैं। श्रुतज्ञानकी वस्तुका ज्ञान करानेकी प्रक्रिया इन चारो ज्ञानोसे भिन्न प्रकारकी है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तुका यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवलज्ञानसे वस्तुका ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूपमे होता है और श्रुतज्ञानसे जो वस्तुका सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमश एक-एक अशके ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूपमे होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तुके एक-एक अशका क्रमश पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञानमे नयोकी व्यवस्थाको अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगममे श्रुतज्ञानमे ही नयोकी व्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे नयव्यवस्थाका निषेध किया गया है।[4]

उपर्युक्त कथनका अभिप्राय यह है कि वस्तुके एक-एक अशका पृथक्-पृथक् रूपमें क्रमश बोध होनेका नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञानको छोडकर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें सम्भव नही है। श्रुतज्ञानमे कैसे सभव है ? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति वचनके आधारपर ही हुआ करती है और चूँकि वचन साश होता है अत साश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेवाला जो श्रुतज्ञानरूपी बोध है उसमे भी साशताकी सिद्धि हो जाती है। इसप्रकार श्रुतज्ञानमे नय व्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।[5]

वचनमे साशताकी सिद्धि अनुभवसिद्ध है, कारण कि वाक्योके समूहरूप महावाक्यमें समाविष्ट जितने वाक्य हों उनका उच्चारण या लेखन क्रमसे ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्यमे जितने पद हो उनका

---

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामुख, ।१-१।
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। वही, १।२।

२. स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः १-९८।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १-६ वा० ४।

३. मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वार्थसूत्र, १।९, २०, ११, १२

४. मतेरवधितो वापि मन पर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नाशेऽस्ति नयाना वर्तनं ननु॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वदृविनिश्चयात्। तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टत॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेपा न युज्यते॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्माणाः प्रमाणवत्॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६, वा० २४, २५, २६, २७।

५. नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स।—तत्त्वा० श्लो० १-३३, वा० ६।

भी उच्चारण या लेखन क्रमसे होता है और प्रत्येक पदमें जितने अक्षर हों उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमश होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरोके समूहका नाम शब्द कहलाता है, और शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[1] पद दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञापद और दूसरा क्रिया पद। इन दोनोके योगसे वाक्य बनता है।[2] दो आदि वाक्योंके योगसे महावाक्य बनता है।[3] इसी प्रकार दो आदि महावाक्योंके योगसे भी महावाक्यकी निष्पत्ति होती है।

सबसे बडा महावाक्य ग्रन्थ होता है। ग्रन्थके अन्तर्गत अध्याय आदिके रूपमे भी महावाक्य होते हैं। एक-एक अध्याय भी कई-कई महावाक्योका समुदाय होता है। एक-एक महावाक्यमें दो आदि अनेक वाक्य होते हैं और एक-एक वाक्यमे दो आदि अनेक पद होते हैं। इस प्रकार वचनरूप श्रुतका रूप पदसे लेकर बडे-से-बडे महावाक्य तक हो जाता है। जैनागमका सबसे बडा महावाक्य द्वादशाग रूप है। इसके १२ अन्तर्भेद हैं। १२वें अन्तर्भेद दृष्टिवादके मुख्य पांच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये सब भेद वचन-रूप श्रुतके है तथा इनके श्रवण या पाठसे जो वस्तुतत्त्वका बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है वह ज्ञान-रूप श्रुत कहलाता है। ज्ञानरूप श्रुत अर्थात् वचनके आधारपर जो बोध श्रोता या पाठकको हुआ करता है उसे आगममे स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वहीपर उस वचनरूप श्रुत या वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारो ही ज्ञान चूँकि ज्ञानरूप ही हुआ करते हैं, अत अपनी ज्ञानरूपताके कारण ये चारो ज्ञान स्वार्थ प्रमाणरूप ही हुआ करते है। इस तरह कहना चाहिये कि प्रमाण दो तरहका होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थरूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण-वचनरूप हो उसे परार्थ-प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मन पर्यय और केवल ये चारो प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही होते है और श्रुतप्रमाण अपनी ज्ञानरूपताके कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपताके कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी होता है।[5]

जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाणरूप होता है और जो वचन वक्ता या लेखकके अभिप्रायरूप वस्तुतत्त्वके एक देश (अश)का प्रतिपादन करता

---

१. सुप्तिङ्न्त पदम्—पाणिनीय अष्टाध्यायी १-४-१४।

२ पदाना परस्परसापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वक्यम्।—अष्टशती, अकलकदेव, आप्तमी० का० १०३।

३. वाक्योच्चयो महावाक्यम्।—साहित्यदर्पण २-१। यहाँपर 'वाक्योच्चयः' पदका विशेषण इसकी टीकामें "योग्यताकाक्षासत्तियुक्त" दिया गया है। इस तरह महावाक्यका लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

"परस्परसापेक्षाणा वाक्याना निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्"।

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डमें श्रुतमार्गणाप्रकरणमे गिनाये गये श्रुतके बीस भेदोमेसे आदिके अक्षर, पद और सघात (वाक्य)से आगे जितने भेद गिनाये गये है, वे सब यहाँ वाक्यके भेद समझना चाहिये।

४. महावाक्योके योगसे जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चहिये—परस्परसापेक्ष महावाक्योके निरपेक्ष समुदायका नाम भी महावाक्य है।—(लेखक)।

५. प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थ वचनात्मक परार्थम्। तद्विकल्पा नया—सर्वार्थसिद्धि, १-६।

है वह नयरूप होता है।[१] इस तरह पद, यदि वाक्यसे सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद तभी नयरूप होगा, जबकि वह वाक्यसे सम्बद्ध होगा। स्वतन्त्र पद प्रमाणरूप तो होगा ही नही, लेकिन अर्थांशके भी प्रतिपादनमे असमर्थ रहनेके कारण वह नयरूप भी नही होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतन्त्र हालतमें वक्ता या लेखकके पूर्ण अभिप्रायका प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाणरूप होगा और यदि, किसी महावाक्यका अवयव होकर वक्ता या लेखकके अभिप्रायके एकदेशका प्रतिपादन करता है तो वह नयरूप होगा। यही व्यवस्था वाक्योंके समूहरूप महावाक्योके और महावाक्योके समूहरूप महावाक्योमें भी जानना चाहिये। लेख-विस्तारके भयसे यहाँपर इन सब बातोपर विशेष प्रकाश नही डाला जा रहा है।

जैनागममे नयोकी व्यवस्था विविध प्रकारसे की गयी है। उनमे एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत नामके सात नयोका है।[२] दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नामके दो नयोका[३] हैं और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नामके दो नयोंका है।[४] नयोका इन प्रकारोंके अलावा एक प्रकार वह भी है, जिसमें वचनके सभी प्रकारोका समावेश हो जाता है। इसे हम लोक-सग्राहक नयोका प्रकार कहना उचित समझते है। इस सम्बन्धमे गोम्मटसार कर्मकाण्डकी निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है—

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥

अर्थात् जितने वचन बोलनेके मार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय हैं।

नयोंके इन सब प्रकारोका विवेचन यहाँ हमे नही करना है। प्रकृत प्रसग तो निश्चयनय और व्यवहारनयका है। अतः इन्ही दो नयोपर ही हम यहाँ प्रकाश डाल रहे हैं।

सर्वप्रथम यहाँपर इस बातको समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकारका होता है—एक तो वस्तुतत्त्वको सत्य (यथावस्थित) रूपमे प्रतिपादित करनेवाला वचन और दूसरा वस्तु-तत्त्वको असत्य (जैसा नही है वैसा) रूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन। इनमेंसे वस्तुतत्त्वको सत्यरूपमे प्रतिपादित करनेवाला वचन सकलादेशी प्रमाणरूप होता है और वस्तुतत्त्वके एकदेशको सत्यरूपमे प्रतिपादित करनेवाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्त्वको असत्यरूपमें प्रतिपादित करनेवाला वचन प्रमाणाभास और नयाभासके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमें प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभासरूप होता है तथा जो वचन वस्तुके एक अशको सपूर्ण वस्तुरूपमे प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभासरूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके अशको दूसरे अंशरूपमे प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभासरूप होता है।

---

१ सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।—सर्वार्थसिद्धि १-६।

२. नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नया।—तत्त्वार्थसूत्र १-३३।

३. नयो द्विविध। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च।—सर्वार्थसिद्धि १-६।
(नय) द्वेधा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यं सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थ, तद्विषयो द्रव्यार्थिक। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ, तद्विषय पर्यायार्थिक।—सर्वार्थसिद्धि १-३३।

४. पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय।—आलापपद्धति।

जैनागममें वस्तुको अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागममें बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु भावरूप और अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्मात्मक है और वे भावरूप तथा अभावरूप परस्पर-विरोधी अनन्तधर्म वस्तुमें अपने-अपने विरोधी धर्मके साथ ही रहा करते है। प्रत्येक भावरूप धर्म अपने विरोधी अभावरूप धर्मके साथ ही वस्तुमें रह रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमें नित्यरूप धर्म रह रहा है, तो उसका विरोधी अनित्यरूप धर्म भी उसमें रह रहा है। इस विषयको आवश्यकताके अनुसार पूर्वमें स्पष्ट किया गया है। पूर्वमें हम यह भी बतला आये है कि प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान परस्पर-विरोधी उन दो धर्मोमेसे एक धर्म तो निश्चयरूप होता है और एक धर्म व्यवहाररूप होता है। इस आधारपर वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्त्वके निश्चय और व्यवहाररूप दोनो अंशोका प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणरूप है। जैसे—"वस्तु नित्यानित्य है"। यह वचन वस्तुके निश्चय और व्यवहार दोनो अंशोका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तुके निश्चयांशका निश्चय-रूपसे प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चयनयरूप है। जैसे—"प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणतिका उपादान कारण होता है"। यह वचन वस्तुमें विद्यमान उपादनकारणतारूप निश्चय धर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिए निश्चयनयरूप है। जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका व्यवहारांश रूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार-नयरूप है। जैसे—"चित् अचित्की परिणतिमें और अचित् चित्की परिणतिमें निमित्तकारण होता है"। वह वचन चित्में अचित्की परिणतिकी और अचितमें चित्की परिणतिको विद्यमान निमित्तकारणतारूप व्यवहारधर्मका प्रतिपादन करता है, इसलिये व्यवहारनयरूप है। जो वचन अवस्तुको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणाभास है, जैसे—"गधेके सींग होते है"। यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तुका प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास है। जो वचन एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे—"सपूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्मकी ही पर्याय है"। यह वचन अचेतनको चेतनरूप प्रतिपादित कर रहा है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तु रूपमें प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है। जैसे—वस्तुको सर्वथा भावात्मक या सर्वथा अभावात्मक मानना अथवा सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक मानना इत्यादि वचन वस्तुके अंशको वस्तुरूपमें प्रतिपादन करते हैं, इसलिये ये वचन भी प्रमाणाभास है। जो वचन वस्तुके एक अंशको वस्तुके अन्य अंशके रूपमें प्रतिपादन करते हैं वे वचन नयाभास होते है ऐसा ऊपर कहा गया है। इस आधार पर जो वचन वस्तुके व्यवहारांशका निश्चयांश-रूपमें प्रतिपादन करनेवाला हो वह निश्चयनयाभास है। जैसे—"चित् ही अचित्रूप परिणत होता है"। अथवा "अचित् ही चित् रूप परिणत होता है" यह वचन निश्चय नयाभास है क्योकि चित् अचित्की उत्पत्तिमें और अचित् चित्की उत्पत्तिमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारण ही होते है, उपादानकारणरूप निश्चयकारण नही होते है। इस तरह उक्त वाक्योमें निमित्तकारणरूप व्यवहारकारणको उपादानकारणरूपमें निश्चय-कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, इसलिये वे दोनो वाक्य निश्चयनयाभास है। इसी प्रकार आत्मा और उसके स्वभावभूत चेतन्यका पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके चैतन्यके योगसे आत्माको चित्रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्यमें सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

यहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासके रूपमें जितना विवेचन किया गया है वह सब वचनरूप श्रुतके सम्बन्धमें किया गया है। ज्ञानरूप श्रुतके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी उस रूपमें प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभासरूप ही होगा। इसलिये यहाँ पर उसका विवेचन अलगसे नही किया जा रहा है।

ऊपरके कथनसे यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुतका पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भावरूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमश वस्तु और वस्तुके अशोके प्रतिपादक होते है तथा वस्तु और वस्तुके अश क्रमश उनके प्रतिपाद्य होते है। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाण-श्रुत और नयश्रुत क्रमश वस्तु और वस्तुके अशोके ज्ञापक होते है तथा वस्तु और वस्तुके अश क्रमश उनके ज्ञाप्य होते है। इस प्रकार पूर्वमे जितना चरणानुयोग आदिकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहाररूप अर्थोका व्याख्यान किया गया है उसमे जितना निश्चयरूप अर्थ है उसका उसी रूपमे प्रतिपादन करने वाला वचनरूप निश्चयनय होता है और उसका उसी रूपमे बोध करने वाला ज्ञानरूप निश्चयनय होता है। इसी प्रकार उसमे जितना व्यवहाररूप अर्थ है उसका उसी रूपमे प्रतिपादन करनेवाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका उसी रूपमे बोध करानेवाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है। इस बातको लक्ष्यमे रखकर ही सर्वत्र हमे वस्तुतत्त्वका निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगममे बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनो ही मोक्षमार्गोकी वास्तविकताको मानकर नय-प्रक्रियासे इस बातका निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्षका साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परया कारण होता है, जैसा कि पूर्वमे प्रतिपादित किया गया है। इस तरह मोक्षमार्गकी स्वतत्र-स्वतंत्र दो भेदरूपताके प्रसगके भयसे जिनको व्यवहारमोक्षमार्गको अकिंचित्कर माननेका सहारा लेना पडता है उन्हे उस सहारेकी फिर आवश्यकता नही लेनी पडेगी। इसी प्रकार आत्माकी परिणतिको जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नामसे पुकारा जाता है, तो नयात्मक दृष्टिकोण रहनेसे इसका अर्थ यही होता है कि आत्माकी उक्त, औदयिकादि परिणतियोमे कर्मकी उदयादि परिणितियाँ निमित्तकारण हुआ करती है। यदि कर्मकी उदयादि परिणतियाँ आत्माकी औदयिकादि परिणतियोकी उत्पत्तिमे निमित्त-कारण नही होने पर उन्हे आत्माकी औदयिकादि परिणतियोंमें निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है। इसको व्यवहारनयका कथन किसी भी हालतमे नही कहा जा सकता है। इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जबकि कर्मकी उदयादिक परिणतियोमे आत्माकी औदयिकादि परिणतियोकी निमित्तकारणताका सद्भाव माना जायगा और उपादानकारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नही, क्योकि उपादानकारणका कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है, निमित्त-कारणका कार्य तो उपादानको कार्यरूप परिणत होनेमे केवल सहायता देनेका ही रहता है। इसलिये किसीको ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नही कि "यदि कार्यमे निमित्तकारणकी निमित्तकारणताको वास्तविक मान लिया जाता है तो निमित्तकारण ही कार्य बन जायेगा।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार' ग्रन्थमे आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करनेके लिये सर्वप्रथम उसके स्वतःसिद्ध ज्ञायकस्वभावका प्रतिपादन किया है। लेकिन जब आत्मा अनादिकालसे अपने उक्त स्वभावमे स्थिर न रहकर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होने आत्माकी पुद्गलकर्मके साथ बद्धताको भी स्वीकार किया है। अर्थात् जिस प्रकार आत्माके स्वभाव ज्ञायकताको आचार्य कुन्दकुन्द स्वतःसिद्ध मानते है उस प्रकार वे आत्माके विकारको स्वतःसिद्ध नही मानते है। इस बातको बतलानेके लिये सर्वप्रथम उन्होने शुद्धनय और व्यवहारनयका आश्रय लिया है। इसमे आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते है कि यदि आत्माको स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तुके रूपमे जानना है तो आत्माके स्वतःसिद्धस्वभावको बतलानेवाले शुद्धनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यो कहिये कि वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका प्रतिपादन करना ही शुद्धनय है। इसी तरह यदि आत्माकी

अनादिकालसे चली आ रही विकारी संसाररूप अवस्थाको समझना है तो इसका ज्ञान शुद्धनयसे तो होगा नहीं, कारण कि वह तो वस्तुके स्वतःसिद्धस्वरूपका ही ज्ञापक होता है, जबकि आत्माकी विकारी संसाररूप अवस्था उसकी स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझनेके लिये व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तुके पराश्रितस्वरूपका प्रतिपादक व्यवहारनय है। अथवा यो कहिये कि वस्तुके पराश्रित धर्मका प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है। इसके भी अतिरिक्त यदि आत्माकी संसाररूप विकारी अवस्थाको समाप्त करके उत्पन्न होनेवाली मोक्षरूप अवस्थाको समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्धनयसे नही होगा, कारण कि यह अवस्थायें आत्माकी स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है। इसलिये इसको समझनेके लिये भी वस्तुके पराश्रित धर्मके प्रतिपादक व्यवहारनयका अवलम्बन लेना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि आत्माकी संसार और मोक्ष दोनो ही प्रकारकी अवस्थायें जब क्रमशः कर्मके उदयसे जन्य और कर्मके उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमसे जन्य है। यानी आत्माकी संसाररूप अवस्थामें कर्मका उदय कारण है और मोक्षरूप अवस्थामे कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात् और परंपरया कारण है तो क्या कर्मके ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मामे तद्रूप परिणमनकी योग्यताके अभावमें आत्माको संसारी या मुक्त बना सकते है? इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्दका कहना है कि वस्तुमे स्वगत योग्यताके अभावमे अन्य कोई भी कारण उसको किसी रूप परिणमन करानेमें असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागममें आत्माकी संसाररूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वतःसिद्ध वैभाविकी शक्तिको तथा आत्माकी मोक्षरूप अवस्थाका कारण आत्माकी स्वतःसिद्ध भव्यत्वशक्तिको भी स्वीकार किया गया है। इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्मका उदय होनेपर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्तिके आधारपर संसारी बना हुआ है और कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम होते हुए अन्तमें सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्मा अपनी भव्यत्वशक्तिके आधार पर मोक्षरूप अवस्थाको भी प्राप्त कर लेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्माके संसारमे उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्मका उदय ये दोनो कारण है तथा आत्माके मोक्षमें उसकी भव्यत्वशक्ति और कर्मका यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण हैं। अब यदि संसारके दोनो कारणोके विषयमे यह विचार किया जाय कि संसारके दोनो कारणोमेसे कौन किस रूपमें कारण होता है और मोक्षके दोनो कारणोमेसे कौन किस रूपमे कारण होता है? तो आत्माके संसारमे कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके संसारमें तथा आत्माके मोक्षमे कारणभूत उसकी भव्यत्वशक्ति उसके मोक्षमे उपादानकारण है, कारण कि ये शक्तियाँ ही व्यक्त होकर क्रमशः संसार और मोक्षरूपताको प्राप्त होती है। इसी प्रकार आत्माके संसारमे कारणभूत कर्मका उदय व आत्माके मोक्षमें कारणभूत कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम निमित्त कारण है। कारण कि कर्मका उदय आत्माके संसाररूपसे और कर्मका उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्माके मोक्षरूप से कदापि परिणत नही होते, केवल आत्माके उस परिमणनमें सहयोग मात्र दिया करते है क्योकि कर्मके उदयका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी वैभाविकी शक्ति संसाररूप परिणत नही हो सकती है और कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमका सहयोग न मिलनेपर आत्माकी भव्यत्वशक्ति भी मोक्षरूप परिणत नही हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनो कारणोमेसे उपादानकारणको तो स्वाश्रयताके आधार पर निश्चयकारण कहना योग्य है और निमित्तकारणको पराश्रयताके आधारपर व्यवहारकारण कहना योग्य है। यह सब विषय पूर्वमे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। अब यदि इन दोनो ही कारणताओंके

प्रतिपादन करने या बोध करनेकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि उपादानकारणता रूप निश्चयकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर निश्चयनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावके आधारपर निश्चयनयरूप ज्ञानका विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप वचनका तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावके आधारपर व्यवहारनयरूप ज्ञानका विषय होती है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमे शुद्धनय और व्यवहारनयके विकल्पोके समान निश्चयनय और व्यवहारनयके विकल्पोका भी समावेश किया है।

आगममें निश्चयनयके भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये हैं। इनमेंसे आत्माका विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे शुद्धनिश्चयनयका विषय होता है और आत्माका विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपनेकी दृष्टिसे अशुद्धनिचयनयका विषय होता है। आत्माके इसी स्वरूपको यदि पराश्रितपनेकी दृष्टिसे देखा जाय, तो फिर यह व्यवहारनयका विषय हो जाता है। व्यवहारनयके भी आगममे दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय। सद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और दूसरा उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकारका है—एक अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषयको आलापपद्धतिमें निम्न प्रकार निबद्ध किया गया है—

"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषय। तत्र निश्चयो द्विविध—शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक शुद्ध-निश्चयो, यथा केवलज्ञानादयो जीव। सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय। यथा मति-ज्ञानादयो जीव। व्यवहारो द्विविध सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषय. सद्भूतव्यवहार, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार.। तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुप-चरितभेदात्। तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरित सद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मति-ज्ञानादयो गुणा। निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणा.। असद्भूतव्यवहारो द्विविध-उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्र सश्लेषरहितवस्तुसम्बन्ध-विषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा देवदत्तस्य धनम्। सश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरि-तासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरम्।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है।

इस तरह नयोके स्वरूपको यथावत् प्रकार समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, कारण कि सपूर्ण वस्तु-तत्त्वको समझनेका साधन अल्पज्ञ प्राणियोके लिये नय-व्यवस्था ही है।

इस नय-व्यवस्थाको लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकारने दण्ड और चक्रके सहयोगसे मिट्टीसे घडा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो इसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह संपूर्ण वाक्य वक्ताके सपूर्ण अर्थका यदि निराकाक्षरूपसे बोधक है, तो इसे अपने वर्तमान रूपमें प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोधको प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा। इस वाक्यके सपूर्ण अर्थमे इतने अर्थ गर्भित है—

अभेददृष्टिसे मिट्टी और घटमें जो अभेदका बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भावकी दृष्टिसे जो भेदका बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टीकी घटरूप परिणतिरूप उत्पादमे मिट्टीमें जो उपादान-

कारणताका बोध होता है यह भी निश्चयनय है। यहीपर कुम्भकारमे जो निमित्तकारणताका बोध होता है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, कारण कि कुम्भकार मिट्टीकी घटरूप परिणतिमे साक्षात् निमित्त कारण है, यहीपर चक्रमे जो निमित्तकारणताका बोध होता है वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है, क्योकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमे परपरया अर्थात् कुम्भकारका सहयोगी होकर ही चक्र निमित्तकारण होता है, और यहीपर दण्डमे जो निमित्तकारणताका बोध होता है, वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योकि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमे दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परपराओंसे अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्रका सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकारका सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टीका सहयोगी होता है। इस विषयको इस रूपमे भी समझा जा सकता है कि मिट्टीकी घटरूप परिणतिमें मिट्टी उपादानकारण अर्थात् वास्तविक कारण है। यह निश्चयनयका विषय है और यही पर कुम्भकार निमित्तकारण होनेसे व्यवहार कारण अर्थात् उपचरितकारण है, यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। यहीपर चक्रमे जो निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनयका विषय है तथा यही दण्डकी निमित्त कारणता है वह उपचरितोपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनयका विषय है।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझमे आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहारनय हो, इसमें भी चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो और इसमें भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढगसे सद्भूतताप्राप्त वस्त्वशोको ही विषय करते है। इसलिये ऐसा नही समझना चाहिये कि निश्चयनयका विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है। इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषयको ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूतव्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूतव्यवहारनय हो दोनो ही कथचित् सद्भूत विषयको ही ग्रहण करते है। कोई भी व्यवहारनय न तो सर्वथा असद्भूत विषयको ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषयको ही ग्रहण करता है क्योकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधेके सीगकी तरह सर्वथा अभावात्मक हो जानेसे वह, नय अथवा प्रमाण किसीका भी विषय नही होती है। सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनयका ही विषय होती है, व्यवहारनयका नही। अन्तमे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहारनयका विषय भी अभेद और स्वाश्रयताकी दृष्टिसे निश्चयनयका विषय हो जाता है और निश्चयनयका विषय भी भेद और पराश्रयताकी दृष्टिसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है। जैसा कि पचाध्यायीमे कहा है—

> "इदमत्र समाधान व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्"।
> सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य स्याद् वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थात् जो व्यवहारनयका विषय है वही सपूर्ण विकल्पोका अभाव होने पर निश्चयनयका विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि सपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्तधर्मात्मक एव अनेकान्तात्मक है, अत सभी अविरुद्ध है।

●

व्यवहारनयकी अभूतार्थताका अभिप्राय

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमे निम्नलिखित गाथा पायी जाती है—

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥"

अर्थ—(जिन शासनमे) व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयको भूतार्थ कहा गया है। जिस जीवने भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयका अवलम्बन लेकर वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान कर ली है वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जीवोंको वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान भूतार्थनयरूप शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय द्वारा ही हो सकती है। अतः इसके लिए प्रत्येक जीवको इस नयका ही अवलम्बन लेना चाहिए।

इस कथनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिन-शासनमे निश्चयनय और व्यवहारनय ऐसे दो भेद नयोके बतलाये गये हैं। नय प्रमाणका अंशरूप होता है और प्रमाण वचनात्मक और ज्ञानात्मक दो प्रकारका होता है। अत निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारके नय भी वचनात्मक और ज्ञानात्मकके भेदसे दो-दो प्रकारके सिद्ध होते है। वचनका अपने विषयभूत पदार्थके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् वचन अपने विषयभूत पदार्थका प्रतिपादक होता है और वह पदार्थ उस वचनका प्रतिपाद्य होता है। इसी तरह ज्ञानका अपने विषयभूत पदार्थके साथ ज्ञाप्य-ज्ञापकसम्बन्ध रहता है। अर्थात् ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थका ज्ञापक होता है और वह पदार्थ उस ज्ञानका ज्ञाप्य होता है। चूँकि उपर्युक्त गाथामे व्यवहारनयको अभूतार्थनय कहा गया है, अत इसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य पदार्थ भी अभूतार्थ होना चाहिए और चूँकि उपर्युक्त गाथामे ही निश्चयनयको भूतार्थनय कहा गया है अत इसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य पदार्थ भी भूतार्थ होना चाहिए। यही कारण है कि उपर्युक्त गाथाकी टीकामे आचार्य श्रीअमृतचन्द्रने लिखा है कि—

"व्यवहारनयो हि सर्व एव अभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद्-भूतमर्थं प्रद्योतयति।"

अर्थ—सम्पूर्ण व्यवहारनय अभूतार्थ होनेके कारण अभूत पदार्थका प्रद्योत करता है तथा शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय एक ही ऐसा नय है कि वह भूतार्थ होनेसे भूत पदार्थका प्रद्योत करता है।

इस कथनका निचोड यह है कि वचनरूप व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप व्यवहारनय भी अभूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत अभूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। इसी प्रकार वचनरूप निश्चयनय भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही प्रतिपादन करता है और ज्ञानरूप निश्चयनय भी भूतार्थ होनेसे अपने विषयभूत भूत अर्थका ही ज्ञापन करता है। चूँकि उपर्युक्त गाथाके अनुसार जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान होना आवश्यक है तथा वस्तुतत्त्वके स्वरूपकी पहिचान उसकी भूतार्थताकी पहिचानके ऊपर निर्भर है और इस भूतार्थताकी पहिचान भी उपर्युक्त गाथाकी टीकाके उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणके अनुसार भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयके द्वारा ही हो सकती है। अत. आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने जीवको सम्यग्दृष्टि बननेके लिए भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनयका अवलम्बन ग्रहण करनेका उपदेश दिया है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पदार्थकी भूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर

पदार्थ भूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण भूतार्थ कहे जानेवाले निश्चयनय द्वारा होता है ? इसी तरह पदार्थकी अभूतार्थता क्या वस्तु है, जिसके आधारपर पदार्थ अभूतार्थ कहलाता है और जिसका ग्रहण अभूतार्थ कहे जानेवाले व्यवहारनयद्वारा होता है ? आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

प्रत्येक वस्तुमें दो प्रकारके धर्म विद्यमान रहते हैं—एक तो वस्तुके स्वत.सिद्ध धर्म और दूसरे आपेक्षिक धर्म। प्रकृतिमे वस्तुके जितने स्वत सिद्ध धर्म होते हैं उन्हें ही भूतार्थ धर्म समझना चाहिए और वस्तुके जितने आपेक्षिक धर्म होते हैं उन्हे ही अभूतार्थ धर्म समझना चाहिए।

वस्तुके स्वत सिद्ध धर्मोंको भूतार्थ कहनेका कारण यह है कि इनके आधारपर वस्तुका स्वतन्त्र (स्वावलम्बनपूर्ण), स्वत सिद्ध (अन्यकी अपेक्षाके विना ही स्वके आधारपर निष्पन्न), स्वाश्रित (वस्तुकी अपनी ही सीमामे रहनेवाला), व्यापक (स्वको व्याप्तकर रहनेवाला), प्रतिनियत (अन्य सभी वस्तुओमे नही पाया जानेवाला) और शुद्ध (अखण्ड अर्थात् अमिश्रित एकत्वविशिष्ट) स्वरूप निश्चित होता है। स्वत-सिद्ध धर्मोंकी इस विशेषताके आधारपर ही अनन्त जीवद्रव्य, अनन्त अणुरूप पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात अणुरूप कालद्रव्य ये सभी वस्तुएँ अपने-अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्वको धारण किये हुए विश्वमें अनादिकालसे रहती आयी हैं और अनन्तकाल तक रहनेवाली हैं। जीव-द्रव्योका अपना-अपना चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव), पुद्गल द्रव्योका अपना-अपना रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्व, धर्मद्रव्यका जीवद्रव्यो और पुद्गलद्रव्योकी हलन-चलन क्रियामे सहकारित्व, अधर्मद्रव्यका जीवद्रव्यो और पुद्गलद्रव्योकी स्थितिमें सहकारित्व, आकाशद्रव्यका समस्त द्रव्योको अपने अन्दर समा लेनेकी सामर्थ्यरूप अवगाहकत्व और कालद्रव्योका समस्त द्रव्योकी वर्तमानतामें साहाय्यरूप वर्तना इनके अपने-अपने स्वत-सिद्ध धर्म हैं। अग्निकी उष्णता और जलकी शीतलता भी क्रमसे अग्निका और जलका अपना-अपना स्वत-सिद्ध धर्म है क्योकि इनके आधारपर अग्निका तथा जलका भी अपना-अपना स्वरूप और व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

वस्तुके आपेक्षिक धर्म दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे हैं जो भेदके आधारपर वस्तुमें उत्पन्न होते हैं और दूसरे प्रकारके आपेक्षिक धर्म वे हैं जो अन्य वस्तुके आधारपर वस्तुमे उत्पन्न होते हैं। इन सभी आपेक्षिक धर्मोंको अभूतार्थ कहनेका कारण यह है कि ये धर्म वस्तुमे सर्वदा विद्यमान न रहनेके कारण उसके स्वरूप और व्यक्तित्वका निर्धारण करनेमे सहायक नही होते हैं। जीवके अन्दर मुक्ति और ससार तथा ससारमे भी विविध अवस्थाओ कृत भेदके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र भेद सापेक्ष आपेक्षिक धर्म हैं तथा जीवके अन्दर ही पौद्गलिककर्मोंके सहयोगके आधारपर तरतमभावसे पाये जानेवाले राग, द्वेष, मोह आदि औदयिक भाव तथा क्षायोपशमिक आदि भाव अन्य वस्तु सापेक्ष आपेक्षिक धर्म हैं। इसी प्रकार जलमे पायी जानेवाली उष्णता भी अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म है। जीवमे पाये जानेवाले राग, द्वेष और मोहरूप औदयिक भाव उस उस पौद्गलिककर्मका उदय होनेपर ही उत्पन्न होते हैं तथा क्षायोपशमिकादिभाव उस-उस पौद्गलिककर्मके क्षयोपशम आदिके होनेपर ही उत्पन्न होते हैं। इसी तरह जलमे पाई जानेवाली उष्णता भी अग्निके सहयोगसे उत्पन्न होती है। अत ये सभी धर्म अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्म कहे गये है।

वस्तुके स्वत सिद्ध धर्म वस्तुमे सर्वदा पाये जाते हैं, कभी भी इनका अभाव नही होता। अत इन्हें कथचित् सद्भूत (सद्भाव प्राप्त) और कथचित् असद्भूत (अभाव प्राप्त) धर्म माना गया है। जैसे जीवके

चित्स्वभाव (ज्ञायकभाव) में जब तक भेदकी विवक्षा होती है तब तक दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सद्भाव सिद्ध होता है और यदि भेदकी विवक्षा न रहे तो दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रकी स्थिति भी नही रहती है। जीवमें भेदकी यह विवक्षा तभी तक रहती है जब तक कि दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे चित्स्वभाव (ज्ञायक-भाव) के विभाजनकी उपयोगिता सामने रहा करती है और यदि चित्स्वभावके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे विभाजनकी उपयोगिता न हो तो फिर जीवके चित्स्वभावमात्रकी ही स्थिति रह जाती है। इसप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र जीवोके कथचित् सद्भूत और कथचित् असद्भूत धर्म है। इसी प्रकार जब तक उस-उस पौद्-गलिककर्मका उदय विद्यमान रहता है तब तक जीवमे राग, द्वेष और मोहका सद्भाव रहा करता है और यदि उस-उस कर्मके उदयका अभाव हो जाता है तो जीवमे राग, द्वेष तथा मोहका भी अभाव हो जाता है। यही बात जीवके क्षायोपशमिकादि भावोके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार जबतक जलको अग्नि-का सहयोग प्राप्त रहता है तबतक उसमे उष्णताका भी सद्भाव रहा करता है और यदि जलको अग्निका सहयोग मिलना बन्द हो जाता है तो जलकी उष्णता भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वस्तु सापेक्ष-आपेक्षिक धर्म भी कथचित् सद्भूत और कथचित् असद्भूत माने गये है।

दर्पणमे पदार्थका प्रतिबिम्ब पडना भी प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थके अवलम्बन जन्य दर्पणका आपेक्षिक धर्म है और मिट्टीकी कुम्भकारनिमित्तक घटपर्याय भी मिट्टीका आपेक्षिक धर्म (अवस्था) है। परन्तु इनमें अन्तर यह है कि प्रतिबिम्बित पदार्थका अवलम्बन समाप्त होते ही दर्पण अपनी स्वच्छ अवस्थाको प्राप्त-कर लेता है। लेकिन कुम्भकारकी निमित्तता समाप्त होनेपर भी द्रव्यपर्याय होनेके कारण मिट्टीकी घटपर्याय बनी रहती है। ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली उपयोगाकार परिणति भी ज्ञानका आपेक्षिक धर्म है। ये सब धर्म भी कथचित् सद्भूत और कथचित् असद्भूत ही हुआ करते है और इनका ज्ञान तथा कथन भी ज्ञान तथा वचनरूप व्यवहारनयसे ही होता है।

इस तरह यो भी कहा जा सकता है कि इन या इसी तरहके अन्य आपेक्षिक धर्मोकी कथचित् सद्भूतता और कथचित् असद्भूतता ही वस्तुकी अभूतार्थता तथा स्वत सिद्ध धर्मोकी सर्वथा सद्भूतता ही वस्तुकी भूतार्थता जानना चाहिये। भूतार्थताके कथनके लिए आगममे यथार्थ, निश्चय, वास्तविक तथा मुख्य आदि शब्दोका भी प्रयोग मिलता है और अभूतार्थताके कथनके लिए अयथार्थ, व्यवहार, आरोपित तथा गौण आदि शब्दोका भी प्रयोग मिलता है। परन्तु फिर भी इन सब शब्दोका प्रयोग होते हुए भी जिस तरह भूतार्थ धर्मोकी सर्वथा सद्भूतता सुरक्षित रहती है उसी तरह अभूतार्थ धर्मोकी कथचित् सद्भूतता और कथचित् असद्भूतता भी सुरक्षित रहती है। इसलिए जिस प्रकार भूतार्थको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। उसी प्रकार अभूतार्थको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय भी अपनी सत्यताको सुरक्षित रखता है। यदि ऐसा न हो तो फिर आकाशके पुष्प तथा गधेके सीगकी तरह व्यवहारनयका विषय सर्वथा असद्भूत ही हो जायगा, जिससे व्यवहारनयकी प्रामाणिकता सर्वथा लुप्त हो जायगी। इस तरह तब उसे व्यवहारनय कहना ही असगत होगा, क्योकि आगममे प्रमाणका अश होनेके कारण निश्चयनयकी तरह व्यव-हारनयको भी प्रामाणिकरूपमें स्वीकार किया गया है और व्यवहारनयकी प्रामाणिकरूपमें स्थिति तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उसका विषयभूत पदार्थ आकाशके पुष्प तथा गधेके सीगकी तरह सर्वथा अभावात्मक न हो। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार, गाथा १४ की आत्मख्याति-टीकामें, पानीमे, डूबे हुए कमलपत्रका जो पानीके साथ सस्पर्श हो रहा है उस सस्पर्शको तथा पानीकी अग्निके सहयोगसे जो उष्णतामय पर्याय बनती है उस उष्णतामय पर्यायको व्यवहारनयका विषय होनेके कारण सद्भूत अर्थात् सद्भाव

प्राप्त पदार्थ माना है। यह मानी हुई बात है कि परापेक्ष और अस्थायी होनेके कारण पानीके साथ हो रहा संस्पर्श कमलपत्रका और अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्याय पानीका स्वतःसिद्ध धर्म नहीं है और यही कारण है कि ये दोनों निश्चयनयके विषय नहीं हैं। लेकिन स्वतःसिद्ध धर्म न होनेसे यदि उनको आकाशके पुष्प और गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत (अभावात्मक) ही माना जाय तो फिर उन्हें व्यवहारनयका विषय कैसे माना जा सकेगा? तथा तब जीवोंको जलके साथ हो रहे कमलपत्रके संस्पर्शका और जलकी अग्निके सहयोगसे हो रही उष्णतामय पर्यायका जो भान होता है उसे क्या भ्रमज्ञान नहीं कहा जायगा? और यदि ऐसे ज्ञानोंको भ्रमज्ञान माना जाता है तो इसके अतिरिक्त आत्मारूप फिर क्या वस्तु मानी जायगी? जो जैन मान्यताको वेदान्तकी मान्यतासे पृथक् कर सके। अतः यही स्वीकार करना चाहिए कि जिसप्रकार वस्तुमें निश्चयनयके विषयभूत स्वतःसिद्ध धर्मोंका सर्वथा सद्भाव रहता है उसी प्रकार वस्तुमें व्यवहारनयके विषयभूत भेद-सापेक्ष और अन्य वस्तु-सापेक्ष आपेक्षिक धर्मोंका भी कथंचित् सद्भाव और कथंचित् अभाव रहता है।

तात्पर्य यह है कि कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श व जलकी अग्निसहयोगजन्य उष्णतामय पर्याय दोनों ही जब जीवोंके अनुभवमें आते हैं तो जबतक यह अपेक्षा विद्यमान है तबतक उनकी आपेक्षिक धर्मके रूपमें सद्भूतताको अस्वीकृत करनेकी कौन हिम्मत कर सकता है?

इस प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहा संस्पर्श, जलकी अग्निके सहयोगसे निष्पन्न हुई उष्णतामय पर्याय, मिट्टीकी कुम्भकारके सहयोगसे उत्पन्न होनेवाली घटरूप पर्याय, दर्पणमें पदार्थके अवलम्बनसे पड़नेवाला पदार्थका प्रतिबिम्ब, और ज्ञानकी पदार्थके अवलम्बनसे पदार्थज्ञानरूप परिणति ये सब उस-उस वस्तुकी आपेक्षिक अवस्थाके रूपमें जब तक अपेक्षा बनी हुई है तब तक सद्भूत हैं। इसी प्रकार कमलपत्रका जलके साथ हो रहे संस्पर्शमें जलका सहयोग, जलकी उष्णतामय पर्यायमें अग्निका सहयोग, मिट्टीकी घटपर्यायमें कुम्भकारका सहयोग, दर्पणमें पड़ रहे पदार्थके प्रतिबिम्बमें पदार्थका सहयोग और ज्ञानकी पदार्थज्ञानरूप परिणतिमें पदार्थका सहयोग ये सब उस-उस वस्तुके आपेक्षिक धर्मके रूपमें जबतक अपेक्षित हैं तबतक सद्भूत हैं और इसीलिए ये सभी प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप व्यवहारनयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक भावकी अपेक्षा ज्ञानरूप व्यवहारनयके विषय हैं एवं क्योंकि ये सब उस-उस वस्तुके स्वतः सिद्ध धर्म या स्वतः उत्पन्न होनेवाले धर्मोंके रूपमें सर्वथा सद्भूत नहीं हैं, इसीलिए ये सब प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावकी अपेक्षा वचनरूप निश्चयके तथा ज्ञाप्य-ज्ञापकभावकी अपेक्षा ज्ञानरूप निश्चयनयके विषय नहीं हैं। साथमें यह भी निश्चित समझना चाहिए कि व्यवहारनयके विषय होनेके कारण उपर्युक्त सभी धर्म आकाशके पुष्प तथा गधेके सींगकी तरह सर्वथा असद्भूत भी नहीं हैं।

इसीप्रकार आत्मामें उस-उस पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह आदि औदयिक भावों तथा उस-उस पुद्गलकर्मके क्षयोपशम आदिके आधारपर आत्मामें उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकादिभावोंके विषयमें भी कथंचित् सद्भूतपने और कथंचित् असद्भूतपनेकी मान्यता ही युक्त है।

एक बात और है कि यदि व्यवहारनयके विषयभूत उक्त सभी धर्मोंको या इसी प्रकारके अन्य धर्मोंको सर्वथा असद्भूत माना जायगा तो इसका समयसारकी गाथा १४ की आत्मख्यातिटीकासे साथ ही उनके विषयमें जीवोंको होनेवाले सद्भूतताके अनुभवके तो विरुद्ध होगा ही लेकिन इस तरहसे तो दो आदि पुद्गल परमाणुओंके परस्पर-संयोगसे निष्पन्न द्व्यणुक आदि स्कन्धोंकी कथंचिद् सद्भूतता भी समाप्त हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि लोकमें जितना-जितना स्कन्धाश्रित व्यवहार चलता है और प्राणियोंको जो

स्कन्धोकी सद्भूतताका अनुभव होता है वह सब भी मिथ्या कल्पनाकी वस्तु रह जायगी, क्योकि दो आदि परमाणुओके मिश्रणसे ही तो द्वचणुक आदि स्कन्धोका निर्माण होता है। परन्तु जब यह सिद्धान्त निश्चित है कि प्रत्येक अणु दूसरे एक या अनेक अणुओके साथ बद्धता (मिश्रण) को प्राप्त होकर भी स्वतन्त्र द्रव्य होनेके कारण सर्वदा अपनी-अपनी आकृति, प्रकृति और विकृतिमे ही रहता है, कभी न तो दूसरे अणुरूप हो सकता है और न दूसरे अणुओके गुणधर्मोको ही अपने अन्दर लाता है तो द्वचणुकादि स्कन्धोकी कोरी कल्पनाके अतिरिक्त और क्या स्थिति रह जायगी ?

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुमे भेदके आधारसे अथवा परवस्तुके आधारसे जितने अभूतार्थ धर्म सिद्ध होते है वे सब इस लेखमें दर्शाये गये प्रकारसे कथचित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत ही होते है। न तो भूतार्थ धर्मोंकी तरह सर्वथा सद्भूत ही होते है और न आकाशके पुष्प तथा गधेके सीगकी तरह सर्वथा असद्भूत ही होते है। अथवा यो कहिये कि स्वत सिद्धताके रूपमे सर्वथा सद्भूत रहना ही वस्तुकी भूतार्थता है और सापेक्षताके रूपमे कथञ्चित् सद्भूत और कथञ्चित् असद्भूत रहना ही वस्तुकी अभूतार्थता है। समयसारकी उल्लिखित गाथा ११ के भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोका इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए।

संसारी जीवोंकी अनन्तता

'जैन जगत्'के सपादक 'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित करते हुए ता० १६ जुलाई सन् ३२ के 'जैन जगत्'में दूसरे अध्यायके 'मनभेद और उपसप्रदाय' प्रकरणमें लिखते है कि 'वीर भगवानके निर्वाणके २२० वर्ष बाद अश्वमित्रने यह वाद खडा किया कि एक दिन ससारमें एक भी जीव न रहेगा।'

लेखमालाके लेखक महोदयने इस शकाको जितना महत्व दिया है, विचारकी दृष्टिसे वह उतना महत्व अवश्य रखती है। मैं भी उसका समाधान विचारकी दृष्टिसे ही कर रहा हूं और लेखकमहोदयसे भी यह आशा रखता हूँ कि वे इस समाधानपर विचारकी दृष्टि ही रक्खेंगे।

अश्वमित्रकी शका—'एक दिन ससारमे एक भी जीव न रहेगा।' इसका अभिप्राय लेखकमहोदयने यह निकाला है और जो मेरी समझसे भी ठीक जान पडता है कि छ महिना आठ समयमे ६०८ जीव सतत मोक्ष जाते रहते हैं, इसलिये यह शका होती है कि इससे तो एक दिन ससार जीव-शून्य हो जायगा, क्योकि जीवराशि बढती तो है नही, इसलिये वह समाप्त हो जायगी।

इस शकाकी पुष्टि एव समाधानका प्रकार बतलाते हुए लेखकमहोदयने जो कुछ विवेचन किया है उसमें निम्नलिखित बातोका उत्तर होना भी आवश्यक हो जाता है।

१ शास्त्रोमे जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणी व्यवहारकालराशिके बतलानेका अभिप्राय क्या है ?

२ शास्त्रोमे भव्य और अभव्यकी केवलज्ञानके गुणानुवाद करनेके लिये कल्पना की गयी है या तात्विक कथन है ?

इनमेसे भव्य और अभव्यके विषयमे स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकाश डालूंगा, केवल पहिली बातकी उत्तर इस शकाके उत्तरके साथ इसी लेखमे करूँगा।

वैसे तो यह समाधान "छ महीना आठ समयमे ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं।" इस सिद्धान्तको ध्यानमें रख करके किया जा रहा है। यदि यह नियम न भी माना जावे तो भी समाधानके मूलमे किसी प्रकारकी बाधा नही पहुँचती है।

समाधान—जगत्में दो प्रकारके जीव है—भव्य और अभव्य। भव्य मोक्ष जा सकते है, अभव्य नही, इसलिये एक तो अभव्य जोव ससारमें रहेगे ही। दूसरी बात यह है कि भव्य जीवोका मोक्ष जाना सतत् जारी रहेगा तो भी उनकी समाप्ति कभी नही होगी। इसका कारण यह है कि काल भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है। भूतकाल अनादि होकरके भी मुक्तजीवराशिके असख्यात गुणे समयोमें विभक्त है, कारण कि छ महिना आठ समयोमे ६०८ जीव मोक्ष चले जाते है। छ महीना आठ समयोंके असख्यात समय होते है। इनमेंसे यदि एक जीवके मोक्ष जानेके समयोकी औसत निकाली जाय तो यही सिद्ध होता है कि असख्यात समयोमें एक जीव मोक्ष चला जाता है। यह क्रम अनादिकालसे जारी है। इसलिये आजतक जितने जीव मोक्ष चले गये, उनसे असख्यात गुणे कालके समय भी बीत गये, उनके इन्ही बीते हुए समयोको भूतकाल कहते है। वर्तमान काल एकसमय मात्र है। भविष्यत्कालके कितने समय होना चाहिये, इस बातका विचार किया जाता है।

जबकि जैन सिद्धान्त यह बतलाता है कि जीवोका मोक्ष जाना सतत् जारी रहेगा, फिर भी ससार

भव्यजीवोंसे शून्य नही होगा, तो इससे यह बात अवश्य निकल आती है कि भविष्यत्कालके समय भी उतने ही माने जायँ, जितने (समयों)मे पूर्वोक्त क्रमसे भव्यजीव मोक्ष भी जाते रहे किन्तु कालकी समाप्ति होनेपर भी भव्यजीवोंकी समाप्ति न हो, लेकिन कालकी समाप्ति मान लेनेपर भी भव्यजीवोकी समाप्ति न मानी जाय, तो यह शका उपस्थित होती है कि वे फिर कालके बिना मोक्ष कैसे जा सकेंगे ? इसलिये जितने भव्य जीव इस समय विद्यमान है उनसे उतने ही अधिक भविष्यत् कालके समय माने जायँ, जितनेमें कि समस्त भव्य जीव असख्यात समयोमे एक जीवके हिसाबसे मोक्ष जा सके, अर्थात् अन्तिम भव्य जीवके मोक्ष जानेका समय भविष्यत्कालका अन्तिम समय सिद्ध हो सके, इसलिये जिस तरह भूतकालके समय मुक्तजीवराशिसे असख्यातगुणे सिद्ध होते है उसी प्रकार भविष्यकालके समय भी विद्यमान भव्यराशिसे असख्यातगुणे सिद्ध हुए। यहाँपर गुणकार असख्यातका प्रमाण वही है, जितना कि औसतसे एक जीवके मोक्ष जानेका समय निश्चित होता है।

इसके बाद यह आपत्ति खडी होती है कि भविष्यकालको विद्यमान भव्यराशिसे असख्यातगुणा माननेसे जब उन दोनोकी समाप्ति हो जायगी, तब एक तो कालद्रव्यका अभाव मानना पडेगा तथा इसके साथ अन्य द्रव्योंका भी अभाव मानना होगा, कारण कि कोई भी द्रव्य बिना परिणमनके अपनी सत्ता नही रखता, परिणमन करानेवाला कालद्रव्य ही माना गया है और जब पूर्वोक्त प्रकारसे कालद्रव्यमे परिणमन-का अभाव हो जानेसे कालद्रव्यका अभाव सिद्ध होता है तो उसके अभावमें अन्य द्रव्य भी अपनी सत्ता कायम नही रख सकते हैं, जो कि प्रमाण-विरुद्ध है, कारण सत्का विनाश कभी नही होता।

इसका समाधान भी इस ढगसे किया जा सकता है कि भविष्यत्कालके समय और भव्यजीव दोनो ही अक्षयानन्त है, जिससे भविष्यत्कालके समय और भव्यजीवोमें कमी होनेपर भी दोनोका अन्त नही होगा। अर्थात् कालद्रव्यके समय सदा भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होते ही रहेंगे, जिससे काल द्रव्यकी सत्ता कायम रहेगी और उसके सद्भावमे अन्य द्रव्य भी परिणमन करते हुए अपनी सत्ता कायम रख सकेंगे।

शका—भविष्यत्कालके समयो और भव्यजीवोमें बराबर कमी होती जा रही है तो उनका अन्त अवश्य होगा, यह मानना कि कमी तो होती जावे और अन्त कभी भी न हो, बिल्कुल असगत है ?

उत्तर—जब हम अतीतकी ओर दृष्टि डालते है तो यही कहना पडता है कि जो कुछ हम देख रहे है वह अनादिकालसे परिवर्तित होता हुआ अवश्य चला आ रहा है। इस अनादिकालकी सीमा निश्चित करना चाहे तो नही हो सकती, तब यही निश्चित होता है कि आजतक इतना काल बीत चुका, जिसका कि अन्त नही, अर्थात् वर्तमान समयसे बीते हुए समयोकी गणना की जाय तो उनका कहीपर अन्त नही, कारण अन्त आ जानेसे उसमे अनादिपनेका अभाव हो जायगा। इसी तरह जब अनादिकालसे भव्यजीव मोक्ष जा रहे है तो इस समयसे मुक्त जीवोकी गणना करनेपर उनका कही अन्त नही होगा। इसमे विचार पैदा होता है कि भविष्यत्कालके समयो और भव्यजीवोमे जब इतनी अधिक सख्याकी कमी हो गयी, जिसका अन्त नही, तो अबतक समाप्त क्यो नही हुई ? यदि कहा जाय कि भविष्यत्कालके समयो और भव्यजीवोकी सख्या इतनी अधिक है कि अनादिकालसे कम होते हुए भी वह अभीतक तो समाप्त नही हुई, लेकिन असख्यात या अनन्त समयोमे वह अवश्य समाप्त हो जायगी, तो इसका तात्पर्य यही होगा कि कालका और जीवोके मोक्ष जानेका प्रारम्भ किसी निश्चित समयसे हुआ है और इस प्रकार हमारी अनादिकल्पना केवल कल्पनामात्र

आकाशके फूलकी तरह तुच्छाभावरूप ही होगा, जिससे आकाशके फूलकी जिस प्रकार कभी उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार घटकी वर्तमान पर्यायकी भी उत्पत्ति नही होना चाहिये, तथा ज्योति शास्त्रसे जो भावी चन्द्रग्रहणादिका पहिलेसे ही ज्ञान कर लिया जाता है, वह भी असगत ठहरेगा, कारण कि पहली अवस्थामे वह तुच्छाभाव रूप ही मान लिया गया है। इसलिये वर्तमान पर्यायका इसकी पहली अवस्थामे द्रव्यमें भविष्यद्रूपसे सद्भाव अवश्य मानना पडता है। इसी तरह वर्तमान पर्यायके साथ भूतपर्यायोका द्रव्यमे भूत-रूपसे सद्भाव नही माननेसे वर्तमानमें ज्योति शास्त्रादिके द्वारा भूत अवस्थाका ज्ञान असगत ठहरेगा, क्योकि भूतपर्यायोको द्रव्यमे तुच्छाभावात्मक मान लिया गया है। इसलिये प्रतिसमय द्रव्यमें त्रैकालिक अनन्त पर्यायें अपने-अपने रूपमें अवश्य रहती है और वे ही परिवर्तन करती हुई भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत हो जाती हैं, ऐसा मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है। जैनशास्त्रोमे जो द्रव्यके परिवर्तनमे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको कारण माना गया है उनमे भाव इन्ही त्रैकालिक पर्यायोका नाम है अर्थात् जिस द्रव्यमे, जो वर्तमान पहले भविष्यरूप होगी वही वर्तमानरूप हो सकेगी, जो वर्तमान होगी वही भूतरूप हो सकेगी। वर्तमान पर्यायमे भविष्यत्पर्याय कारण पडती है अर्थात् भविष्यत्पर्याय ही वर्तमानरूप हो जाती है और भूतपर्यायमें वर्तमान पर्याय कारण पडती है अर्थात् वर्तमान पर्याय ही भूतपर्यायरूप हो जाती है इसलिये यह सिद्धान्त भी सगत हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नही करता, अन्यथा कोई कारण नही, कि पुद्गलद्रव्यमें जीवद्रव्यकी पर्यायें पैदा न हो। इसी तरह भूतपर्यायें भूतरूपसे परिणमन करती हुई द्रव्यमे विद्यमान अवश्य रहती हैं, इसलिये "सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नही होती" यह सिद्धान्त द्रव्यकी त्रैकालिक पर्यायोमे भी लागू होता है क्योकि सत्पर्यायोकी तुच्छाभावरूप विनाश और आकाशके फूल-की तरह असत् पर्यायोकी उत्पत्ति माननेमे पूर्वोक्त दोष आते है।

प्रत्येक द्रव्यकी त्रैकालिक पर्यायें उतनी ही है जितने कि कालाणुके भूत और भविष्य समय हैं और जब तक इन पर्यायोका द्रव्यमे परिणमन हो रहा है तभी तक उस द्रव्यका सद्भाव है। जब तक द्रव्यकी जो पर्याय भविष्यरूप रहती है तब तक द्रव्यमे उस पर्यायका सद्भाव शक्तिरूपसे माना जाता है और जब वह पर्याय वर्तमान हो जाती है तब वह व्यक्त पर्याय मानी जाती है। इसलिये द्रव्यकी भविष्यत्पर्यायका वर्तमान हो जाना ही उत्पाद और वर्तमानका भूत हो जाना ही विनाश माना जाता है। हम लोगोका प्रयोजन वर्तमान पर्यायसे ही सिद्ध होता है तथा हमारी इन्द्रियाँ वर्तमान पर्यायको ही ग्रहण कर सकती है, इसलिये वर्तमान पर्यायको व्यक्त पर्याय कहा जाता है।

इस तरहसे काल जब द्रव्य है तो उसके भूत, वर्तमान और भविष्य जितने भी समय-पर्याय हो सकते है उन सबका कालद्रव्यमें अपने-अपने रूपमे सद्भाव अवश्य मानना पडता है, अन्यथा पूर्वोक्त दोष आते हैं और क्रमसे एक-एक समय भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होता जा रहा है, तो जिस तरह जीव मोक्ष जा रहे है इसलिये उनमें कमी होती जा रही है उसी तरह कालके भविष्यत् समय भी वर्तमान और भूत होते जा रहे हैं इसलिये उनमे भी कमी होती जा रही है। साथमें यह भी है कि जब कालके असंख्यात समय (छ महिना आठ समयके जितने समय हो) बीत जाते हैं तब तक ६०८ जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसलिये यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि यदि भव्यजीवोंकी समाप्ति मानी जाय तो उनके असंख्यातगुणे कालके समयोकी समाप्ति अवश्य माननी पडेगी, जिससे कालद्रव्यका भी अभाव हो जायगा। यदि सत्का कभी विनाश नही होता इसलिये काल द्रव्यके सद्भावके लिये उसके समयोंकी समाप्ति

नही मानी जाय तो उसके असंख्यातवेभागप्रमाण तथा जिनकी समाप्ति हो तो कालके समयोंकी समाप्तिके साथ ही हो सकती हैं, भव्यजीवोंकी समाप्ति कैसे हो सकती है ?

शंका—यहाँ पर भूतकालके समयोका प्रमाण मुक्तजीवराशिसे असख्यातगुणा ही बतलाया गया है तथा वर्तमान एक समयमात्र और भविष्यत्कालके समय विद्यमान भव्यराशिके असख्यातगुणे बतलाये हैं। लेकिन शास्त्रोंमें कालराशिका प्रमाण सर्वजीवराशिका अनन्तगुणा बतलाया गया है।[1] इसलिये यह कथन शास्त्रविरुद्ध होनेसे प्रमाण नही माना जा सकता है ?

उत्तर—पूर्वकथनमे वर्तमान समय एक ही बतलाया गया है। वह उत्पाद और विनाशके क्रमसे बतलाया गया है। वर्तमान समय कालाणुकी पर्याय है। कालाणु लोकमे असख्यात माने गये है तथा एक ही साथ समस्त लोकाकाशमे वर्तमान समय रहता है। जब प्रत्येक कालाणु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है तो इनकी पर्यायें भी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र मानना पडती हैं। ऐसी हालतमे वर्तमान समयोका प्रमाण कालाणुओके समान असख्यात हो जाता है। ऐसा ही कालाणुओके भूत और भविष्यत् समयोका भी प्रमाण समझना चाहिये। इसलिये पहले बतलाई हुई कालराशिका सर्वकालाणुओके प्रमाणसे यदि गुणा कर दिया जाय तो सर्वसम्पूर्ण कालाणुओके भूत, वर्तमान और भविष्यत् समयोका प्रमाण निकल आता है। इतना होनेपर भी सर्वकालाणुओके भूत, वर्तमान और भविष्य समयोका प्रमाण मुक्त और वर्तमान भव्यराशिके प्रमाणसे असख्यातगुणा ही सिद्ध होता है। इसके आगे यह विचार पैदा होता है कि कालाणुओकी वर्तमान पर्यायें एक समय तक ही वर्तमान रहकर भूत हो जाती हैं। लेकिन वर्तमान व्यवहार कभी न नष्ट हुआ और न होगा, इसका कारण क्या माना जाय ? इसके लिये यही सुसगत उत्तर दिया जा सकता है कि जब कालाणुओकी एक-एक वर्तमान पर्याय भूत हो जाती है तो उसी समय उनकी एक-एक भविष्यत् पर्याय वर्तमान हो जाती है, यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता जायगा अर्थात् अनादिकालसे आज तक जितने समय बीत चुके वे सब वर्तमान होकर ही भूत हुए हे एवं अनन्तकाल तक जितने समय बीतेंगे वे सब भी वर्तमान हो करके ही भूत होगे। इसी प्रकार जब वर्तमान समय भूत हो जाता है तो प्रथम समयमे भिन्न प्रकारका, द्वितीय समयमें भिन्न प्रकारका, इसी तरह तीसरे, चौथे आदि अनन्तसमयोमें अनन्तप्रकारका ही भूतपना उसमे रहेगा तथा प्रत्येक समयका भविष्यत्पना भी भिन्न-भिन्न कालमे भिन्न-भिन्न प्रकारका रहेगा। मान लीजिये कि आजका दिन आज वर्तमान है, आजसे जो भविष्यका दशवाँ दिन है वह कलके दिन भविष्यका नववाँ दिन कहा जायगा, परसोके दिन आठवाँ, इसी तरह क्रमसे सातवाँ आदि होता हुआ दशवे दिन तक वर्तमान कहा जाने लगेगा तथा उसके आगे भूतका पहला, दूसरा, तीसरा आदि क्रमसे कहा जायगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक कालाणुके जितने भूत, वर्तमान और भविष्यत् समय है वे प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न परिणमन करते हैं और प्रत्येक समयके ये परिणमन उतने ही हो सकते हैं जितने कि प्रत्येक कालाणुके भूत, वर्तमान और भविष्यके समय बतला आये हैं। यदि ऐसा नही माना जाय तो आज दिन जो वर्तमान व्यवहार है वह इसके पहले व इसके आगेके दिन नही होना चाहिये। लेकिन इसके पहले व आगेके दिनमें भी हम वर्तमानका व्यवहार करते है अर्थात् जैसा आजके दिनको हम आज वर्तमान कहते है वैसे ही कलके दिनको कल वर्तमान कहेगे, इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये और यह यही हो सकता है कि कालाणुका प्रत्येक समय प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है। ये सब कालाणुके ही परिवर्तन है। इनका प्रमाण सम्पूर्ण कालाणुओके जितने भूत, वर्तमान और भविष्यत् समय है उनसे अनन्तानन्तगुणा सिद्ध होता है जो

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड पर्याप्तिप्ररूपणा।

कि सर्वजीवराशिसे अनन्तगुणा होगा और यही प्रमाण सर्वव्यवहारकालराशिका प्रमाण कहा जाने योग्य है, कारण कि व्यवहारनाम पर्याय अथवा परिवर्तनका है और ये परिवर्तन पूर्वोक्त प्रकारसे इतने हो सकते हैं, हीनाधिक नही। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भव्यजीव सतत् मोक्ष जाते रहेंगे, फिर भी ससार जीव-शून्य नही होगा तथा मोक्षमार्ग भी बन्द नही होगा।

•

जैनदर्शनमें भव्य और अभव्य

इनके विषयमें ता० १६ जुलाई सन् १९३२ के "जैन जगत्" में सम्पादकमहोदयने निम्नलिखित विचार प्रकट किये है—"जैन शास्त्रोमे जीवोके दो भेद मिलते हैं—भव्य और अभव्य। भव्योमें मोक्ष प्राप्त करनेकी योग्यता है, अभव्योमे नही। ये भेद पारिणामिक या स्वाभाविक कहलाते हैं, परन्तु शक्ति तो सभी जीवोमे एकसरीखी है। अभव्योमे भी केवलज्ञानकी शक्ति है। यदि ऐसा न होता तो अभव्योको केवलज्ञानावरणकर्मकी जरूरत ही नही रहती। इसलिय भव्य और अभव्यका स्वाभाविक भेद बिलकुल नही जँचता। अभी तक इस विषयमे मेरे निम्नलिखित विचार रहे हैं। अभव्योकी कल्पना तीर्थंकरोंके महत्त्वको बढानेके लिये है "। आगे इसीकी पुष्टि की गयी है।

लेकिन बात ऐसी नही है। शास्त्रोमें जो भव्य और अभव्यका भेद बतलाया गया है वह वास्तविक है। और मोक्ष जानेकी योग्यता व अयोग्यतासे ही किया गया है अर्थात् जिसमे मोक्ष जानेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमें नही है वह अभव्य है।

शका—जबकि भव्योकी तरह अभव्योमे भी केवलज्ञानकी शक्ति है तब उनमे मोक्ष जानेकी योग्यता क्यो नही है?

उत्तर—अभव्योमे केवलज्ञानकी शक्ति है, इसका तात्पर्य यह है कि जीवोका जीवत्त्व (चैतन्य) पारिणामिकभाव माना गया है और सपूर्ण जीवोका असाधारण स्वरूप होनेसे वह सपूर्ण जीवोमे पाया जाता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि उसी जीवत्वके विशेष है। इसलिये जीवत्त्वके सद्भावमे इनकी सत्ता सपूर्ण जीवमे अनायास सिद्ध हो जाती है। मोक्ष जानेकी योग्यताका मतलब केवलज्ञानादिके प्रकट होनेकी योग्यतासे है, कारण जीवोके ज्ञानादिगुण कर्मोंसे आच्छादित है। इसलिये भव्य और अभव्यका लक्षण इस प्रकार हो जाता है, जिस जीवमे केवलज्ञानादिके प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमे यह योग्यता नही है वह अभव्य है। अभव्योमें केवलज्ञानकी शक्ति है, इसका अर्थ इतना ही करना चाहिये कि अभव्योमें कर्मोसे आच्छादित केवलज्ञानका सद्भाव है, उसकी अभिव्यक्ति नही होती। यह अर्थ कि अभव्योमें भी केवलज्ञानके प्रकट होनेकी योग्यता है, असगत ही है।

शंका—भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोमें समानरूपसे केवलज्ञान कर्मोसे आच्छादित रहता है, ऐसी हालतमें भव्योका केवलज्ञान प्रकट हो, अभव्योका नही, यह भेद कैसे हुआ?

उत्तर—केवलज्ञानादिकी प्रकटता द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके मिलनेपर होती है—(१) द्रव्य—जिस

आत्मामें प्रकट हो, (२) क्षेत्र— जिस स्थानपर प्रकट हो, (३) काल—जिस समयमे प्रकट हो, (४) भाव—शुद्ध केवलज्ञानादिरूप पर्याय। ये चारो जिस आत्माके वर्तमानपनेको प्राप्त हो जाते है उसके उसी क्षणमें केवलज्ञानादि प्रकट हो जाते है। कारण कि इनका वर्तमान हो जाना ही केवलज्ञानादिकी प्रकटता है। जिस जीवमे ये चारो जब तक भविष्यत् रूपमे रहते है तब तक 'योग्यता' शब्दसे कहे जाते है। भव्योमे यह योग्यता पायी जाती है। इसलिये उनके केवलज्ञानादि प्रकट हो जाते हैं, अभव्योमे इस योग्यताके नही रहनेसे केवलज्ञानादि प्रकट नही होते है।

शंका—जिस प्रकार भव्योमें यह योग्यता पायी जाती है उसी प्रकार अभव्योमें क्यो नही पायी जाती हैं, इसका कारण क्या है ?

उत्तर—यह निश्चित बात है कि जितने भी जीव मोक्ष जा सकते है उन सबमे मोक्ष जानेकी योग्यता एक ही समयमे व्यक्त नही होती है। यदि एक ही समयमे सब जीवोकी योग्यताका विकास माना जाय, तो सर्वजीवोको एक ही समयमें मोक्ष होना चाहिये, जिससे या तो अभी तक किसी जीवका मोक्ष नही मानना चाहिये, या फिर जिस समयमें प्रथम जीवका मोक्ष हुआ होगा, उसी समयमे मोक्ष जाने वाले सर्वजीवोका मोक्ष हो जाना चाहिये था, लेकिन ऐसी बात नही है, अर्थात् प्रत्येक जीवका अपने-अपने योग्यकालमे ही मोक्ष जाना सभव है, इसलिये यह बात सिद्ध होती है कि जीवोकी मोक्ष जानेकी योग्यताकी व्यक्ति अपने योग्यकालमें ही होती है।

प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोका पिंड है और वे पर्यायें उतनी ही हो सकती हैं जितने कि कालाणुके त्रैकालिक समय है, अधिक इसलिये नही मान सकते, कि आगे जब कालके समयोका सद्भाव नही, तो उसके अभावमें दूसरे द्रव्योकी सत्ता युक्तिसे असगत जान पडती है, कालाणुका जब एक समय भविष्यसे वर्तमान होता है तो प्रत्येक द्रव्यकी एक भविष्यत् पर्याय भी वर्तमान हो जाती है और द्वितीय क्षणमें वह समय वर्तमानसे भूत हो जाता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी वह पर्याय भी भूत हो जाती है। इसी तरह कालाणुके दूसरे, तीसरे आदि समय जब क्रमसे भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होते जाते है तो प्रत्येक द्रव्यकी दूसरी, तीसरी आदि पर्यायें भी क्रमसे भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होती जाती है। यह क्रम अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा, कभी समाप्त नही होगा, कारण कालाणुके समय और प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अक्षयानन्त है।

प्रत्येक जीव अनादिकालसे कर्मोंसे सबद्ध हो रहा है, लेकिन यह सबध सर्वथा भी छूट सकता है इसलिये जीवकी दो तरह पर्यायें हो सकती है—सकर्म हालतकी और अकर्म (कर्मरहित) हालतकी। पहले प्रकारकी पर्यायोमे जबतक भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होनेका क्रम जारी रहता है, तब तक वह जीव ससारी कहलाता है और जबसे दूसरे प्रकारकी पर्यायामें भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूत होनेका क्रम प्रारम्भ होता है तबसे वह जीव मुक्त कहलाने लगता है।

यह पहले बतला आये है कि सब जीवोकी मोक्ष जानेकी योग्यताका विकास एक ही समयमें नही होता, इसलिये जैनशास्त्रोमे छ महीना आठ समयमे ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं, यह नियम पाया जाता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि कालाणुके त्रैकालिक जितने समय हो, उनमे छ महीना आठ समयमे ६०८ जीवोके हिसावसे जितने जीव मोक्ष जा सकते हैं, उतने जीवोकी त्रैकालिक पर्यायें दो भागोमें विभक्त हो जाती हैं—सकर्महालतकी पर्यायें और अकर्महालतकी पर्याये। जितने जीव बाकी रह जाते है उनकी त्रैकालिक

पर्यायें सकर्महालतकी ही है। कालाणुके सर्वसमयोमेंसे जितने समय बीत चुके, उनमे छ महिना आठ समयमे ६०८ जीवोके हिसाबसे जितने जीवोका कर्मोंसे सवध छूट गया है वे मुक्त कहे जाते है, कारण कि इनको मोक्षप्राप्तिके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्राप्त हो चुका है, इसलिये उनका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमत कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायोमे होने लगा है। कालाणुके जितने समय अभी भविष्यत्रूप है उनमे छ महिना आठ समयोमें ६०८ जीवोके हिसावसे जितने जीवोका कर्मोंसे सवध छूटेगा, वे इस समय भव्य कहे जाते है, कारण उन जीवोका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमन इस समय तो सकर्म अवस्थाकी पर्यायोमे हो रहा है, लेकिन उन जीवोमें भविष्यके किसी भी समयसे लेकर कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायोमे उस परिणमनके होनेकी योग्यताका सद्भाव है। जो जीव वाकी रह जाते हैं उनको जैनशास्त्रोमें अभव्य कहा गया है, कारण कि उन जीवोका भविष्यसे वर्तमान और वर्तमानसे भूतरूप परिणमन अनादिकालसे सकर्म हालतकी पर्यायोमें हो रहा है तथा आगे अनन्तकालके किसी भी समयमें कर्म-रहित अवस्थाकी पर्यायोमे पूर्वोक्त परिणमनके होनेकी योग्यताका सद्भाव भी उन जीवोमे नही है। कालाणुके जितने भविष्यत् रूप समय है, उनमे इन जीवोकी जितनी पर्यायोकी पलटन होगी वे सपूर्ण पर्यायें सकर्म हालत की ही होगी, इसलिये जब भविष्यकी कोई भी पर्याय इन जीवोकी शुद्ध नही कही जा सकती, तो इन जीवोके कर्मरहित अवस्थाकी पर्यायरूप भावका अभाव सिद्ध होता है। इसी तरह जब कालाणुके समय इन जीवोकी अशुद्ध पर्यायोकी पलटनमें ही कारण हुए, क्योकि इन जीवोकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो मोक्ष जाने योग्य-कालका भी अभाव सिद्ध हो जाता है और जव इन जीवोकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो आकाशके भी तीनो कालोमे जितने परिणमन होगे उन सबमे वह आकाश अशुद्धपर्यायविशिष्ट ही इन जीवोको स्थानदान देगा, इसलिये इन जीवोके मोक्ष जाने योग्य क्षेत्रका भी अभाव सिद्ध होता है। आत्मा जब त्रैकालिक पर्यायोका पिंड है तथा इन जीवोकी त्रैकालिक पर्यायें अशुद्ध ही है, तो इन अशुद्ध पर्यायो सहित इनका आत्मा भी मोक्षमे कारण नही हुआ, इसलिये इन जीवोके मोक्ष जाने योग्य द्रव्यका भी अभाव सिद्ध हो जाता है। इस तरहसे जब इन जीवोको मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न तो प्राप्त हुआ और न प्राप्त होगा, तो इसका अर्थ यही हुआ कि इन जीवोमे केवलज्ञानादिके प्रकट होनेकी योग्यता नही है अर्थात् इन जीवोकी कोई भी भविष्यरूप पर्याय ऐसी नही, जिसको हम केवलज्ञानादिरूप कह सके, इसलिये ये अभव्य कहे जाते है। तत्त्वार्थवार्त्तिकके भव्याभव्यके [1]लक्षणवार्तिकोका यही अर्थ है।

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्यायोको जो प्राप्त होगा अर्थात् जिसकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप पर्याय इस समय भविष्यरूप है, वह भव्य है और इससे विपरीत अभव्य है।

शका—जिन जीवोमे मोक्ष जानेकी योग्यता है, वे सब जब मोक्ष चले जावेंगे, तब ससार भव्यजीवोंसे शून्य हो जायगा, तथा मोक्ष जानेका क्रम भी नष्ट हो जायगा ?

उत्तर—जितने कालके समय है उतने समयोमें ही भव्यजीव मोक्ष जा सकते है। कालके समय और भव्य जीवोकी सख्या अक्षयानन्त है, इसलिये उनकी कभी भी समाप्ति नही होनेसे ससार भव्यजीवोंसे शून्य नही होगा और मोक्ष जानेका क्रम भी नष्ट नही होगा।[2]

शंका—इस कथनसे यह बात निकलती है कि सपूर्ण भव्यजीव भी मोक्ष नही जायेंगे, तो जो भव्यजीव

---

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्य । २।७।८।, तद्विपरीतोऽभव्य । २।७।९।

२ इसके लिये जैनमित्र, अक २२, वर्ष ३४मे "जीव की अनन्तता" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

मोक्ष नही जायेंगे वे अभव्योके समान ही हुए, इसलिये उनको अभव्य ही कहना उचित है, भव्य नही ?

उत्तर––भव्य और अभव्यका भेद मोक्ष जानेकी योग्यताके रहने न रहनेसे किया गया है, इसलिये जिन जीवोमे मोक्ष जानेकी योग्यता है उनमेंसे यदि भव्य इस योग्यताके वर्तमान (व्यक्त) नही होनेके कारण मोक्ष न भी जाय तो भी वह भव्य ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि जिन जीवोके मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वर्तमान हो जाते है वे मोक्ष चले जाते है, यह काल अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा, कही भी विश्रान्तिकी सभावना नही, तो यह नियम कैसे बना सकते है कि इतने भव्यजीव मोक्ष जायँगे, इतने नही।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेन्न भव्यराश्यन्तर्भावात्।।त० वा०२।७।९।।

अर्थात्––जो भव्य अनन्तकालमे भी मोक्ष नही जायगा, उसको अभव्य नही कहना चाहिये, कारण कि उसकी गणना भव्यराशिमे ही होती है।

इसका तात्पर्य भी वही है जो ऊपर लिखा गया है। इसलिये जैनजगत्के सपादक महोदयका यह लिखना कि "शास्त्रोमें भव्य दो तरहके बतलाये गये है––एक तो वे, जो मोक्ष जायेंगे, दूसरे वे, जो न जायेंगे, यह कल्पना अयुक्त और निरर्थक दोनो है", उचित नही कहा जा सकता है, कारण कि पूर्वोक्त प्रकारसे आचार्योका कथन कल्पना नही, किन्तु वस्तुस्वरूपका प्रतिपादक ही सिद्ध होता है। इसलिये सार्थक और उपपत्तिसहित ही है।

शंका––शास्त्रोमें भव्यत्व और अभव्यत्वको पारिणमिक कहा गया है किन्तु यहाँपर मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यताको भव्यत्व और इसके अभावको अभव्यत्व कहा है, इसलिये यह कथन शास्त्र-विरुद्ध है।

उत्तर––जीवके पाँच प्रकारके भाव बतलाये है––कर्मोके उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयसे होने वाले क्रमसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव कहे जाते है तथा जिनमे कर्मोके उपशमादि-की अपेक्षा नही है वे भाव पारिणामिक कहे जाते है। जीवोका सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणाम यथा-योग्य कर्मोके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे प्रकट होता है। लेकिन इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता भी कारण पडती है। अर्थात् योग्यतामे कर्मोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम कारण नही, बल्कि कर्मोके उपशम, क्षय, क्षयोपशममें योग्यता कारण है। कर्मोका उदय भी इस योग्यतामें कारण नही है। इसलिये इस योग्यतारूप भव्यत्व और इसके अभावरूप अभव्यत्वभावोको पारिणामिक भाव कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक द्रव्यमे समानरूपसे भव्यता और अभव्यता पायी जाती है। पुद्गलद्रव्य-की जितनी पर्यायें हो सकती है उनकी योग्यताका पुद्गलद्रव्यमे सद्भाव है और चेतनादि पर्यायोकी योग्यताका उसमें अभाव है। इसलिये पुद्गलद्रव्य अपनी पर्यायोकी अपेक्षा भव्य है और चेतनादिपर्यायोकी अपेक्षा अभव्य है। इस तरह सपूर्ण द्रव्य भव्य और अभव्य कहे जा सकते है। जीवोकी तरह इनमें भव्य और अभव्यका भेद नही बतलानेका कारण यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एकही है तथा ये अपनी पर्यायोकी अपेक्षा भव्य और दूसरे द्रव्यकी पर्यायोकी अपेक्षा अभव्यरूप है। इनमे ये भव्यता और अभव्यता परस्पर अविरुद्ध होनेसे एक जगह पायी जाती है। कालाणु और पुद्गल यद्यपि बहुत है लेकिन इन सबमे भी समान-रूपसे अपनी पर्यायोकी अपेक्षा भव्यता और परद्रव्यकी पर्यायोकी अपेक्षा अभव्यता एक ही जगह एक ही साथ पायी जाती है, इसलिये इन द्रव्योमे भव्य अभव्यका भेद नही बन सकता है। इन द्रव्योकी यह भव्यता

और अभव्यता यद्यपि क्रमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता और उसके अभावरूप ही हैं तो भी यदि कोई प्रश्न करे कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायोंमे परिणमन करता है दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंमे परिणमन नही करता है, इसमें क्या कारण है, तो यही उत्तर दिया जायगा कि प्रत्येक द्रव्यका यही स्वभाव है। इस तरहकी भव्यता और अभव्यता सब जीवोंमे भी पायी जाती है फिर भी यह भव्यता और अभव्यता समस्त जीवोंमें समान होनेके कारण भेद नही पैदा कर सकती है। किन्तु मोक्षकी भव्यता और अभव्यता परस्पर विरुद्ध होनेके कारण दोनो एक जगह नही रह सकती है इसलिये ये जीवोंमे भेद पैदा कर देती है। तथा यह भव्यता और अभव्यता भी क्रमसे मोक्ष जाने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप योग्यता और इसके अभावरूप ही है, इसलिये इन दोनोको जीवका स्वभाव कहा जाता है।

तीसरी बात यह है कि स्वभाव नाम परिणमनका है और परिणमन पर्यायको कहते है। जिस द्रव्यमे जो पर्याय भविष्यत्‌रूप है उसमे वह पर्याय अपने प्रकट होने योग्य क्षेत्र और कालरूप निमित्तको पाकर प्रकट हो जाती है। जब तक वह पर्याय प्रकट होने योग्य रहती है तब तक उस द्रव्यमे उस पर्यायकी अपेक्षा भव्यता रहती है। जिस द्रव्यमे जो पर्याय भविष्यत् (शक्ति) रूप नही है उसमे वह पर्याय कभी भी प्रकट नही होगी इसलिये उस द्रव्यमे उस पर्यायकी अपेक्षा अभव्यता रहती है। इस तरह भव्यता और अभव्यता दोनोका कारण क्रमसे द्रव्यकी भविष्यत् पर्याय और उसका अभाव ही हुआ। इसलिये भव्यताको पारिणामिक या स्वाभाविक कहना सगत जान पडता है। किसी-किसी जीवमे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय भविष्यत्‌रूप हैं, इसलिये वे जीव भव्य कहे जाते है और किसी-किसी जीवमे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय भविष्यत्‌रूप नही है किन्तु भविष्यत्कालके सपूर्ण समयोमे वह सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय कर्मोंसे आवृत्त रहनेसे अशुद्ध ही रहेगी, इसलिये वे अभव्य कहे जाते हैं। इस तरहसे जीवोकी इस भव्यता और अभव्यताको भी पारिणामिक या स्वाभाविक कहते है।

शका—यदि भव्यता और अभव्यताको पारिणामिक माना जाय, तो स्वभावके अविनाशी होनेके कारण मोक्षमे भव्यताका नाश नही होना चाहिये ?

उत्तर—भव्यताका अर्थ है शुद्ध सम्यग्दर्शनादिके प्रकट (वर्तमान) होने योग्य भविष्यत् (शक्ति) रूपसे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्यायका सद्भाव। प्रत्येक द्रव्यकी भविष्यत् पर्याय वर्तमान और वर्तमानपर्याय भूत होती जा रही है और होती जायगी, तो भव्य जीवमे शुद्ध सम्यग्दर्शनादिरूप पर्याय कभी प्रकट (वर्तमान) होगी ही, और जब वह प्रकट हो जायगी तब उसके प्रकट होनेकी योग्यता भी नष्ट हो जायगी, इस तरहसे सम्यग्दर्शनकी हालतसे चतुर्दश गुणस्थानके अन्त तक जैसे-जैसे आत्माकी शुद्ध पर्यायोका विकास होता जायगा वैसे-वैसे योग्यता भी नष्ट होती जायगी और अन्तमे सपूर्णरूप योग्यताका नाश हो जायगा, कारण कि उस समय आत्माके सपूर्ण स्वभावका विकास हो जायगा। आगे इस जीवका जो भी परिणमन होगा वह शुद्ध पर्यायोंमें ही होगा, इसलिये भव्यत्वका निमित्त हट जानेके कारण मोक्षमे भव्यत्व भावका नाश माना जाता है।

इस तरहसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि भव्य और अभव्य जीवोके वास्तविक भेद हैं, कल्पना नही की गयी है।

●

जीवदया : एक परिशीलन

जीवदयाके प्रकार

१ जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभावरूप है। पुण्यभावरूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें ही होता है, सवर और निर्जरामें अन्तर्भाव नही होता। यह पुण्यभावरूप जीवदया व्यवहारधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण है। इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२. जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप है। इसकी पुष्टि धवल-पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधारपर होती है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अत. इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमे जीव-दयाको जीवका स्वत सिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वत सिद्ध स्वभाव-भूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीयकर्मकी क्रोध-प्रकृतियोके उदयसे विकृत रहती आई है, अत मोहनीयकर्मकी उन क्रोध-प्रकृतियोके यथास्थान यथायोग्यरूपमे होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्धरूपमें विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे नही होता, क्योकि जीवके शुद्ध स्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोके आस्रव और बन्धका कारण नही होती है। तथा इसका अन्तर्भाव सवर और निर्जरा तत्त्व में भी नही होता, क्योकि इसकी उत्पत्ति ही सवर और निर्जरापूर्वक होती है।

३. जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमे व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन भी आगम-प्रमाणोके आधारपर होता है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर सवर और निर्जराका कारण हो जानेसे सवर और निर्जरा तत्त्वमें होता है, और दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण हो जानेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमे भी होता है। कर्मोके सवर और निर्जरणमे कारण होनेसे यह व्यवहार-धर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है, तथा कदाचित् सासारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते है। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते है तो उनके अन्त-करणमें उस अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार-धर्मकी उत्पत्तिमे कारण सिद्ध हो जाती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमे ही होती है, अभव्य जीवमें नही। तथा उस भव्य जीवमें उसकी उत्पत्ति मोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन-रूप कषायोकी क्रोधप्रकृतियोका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रतिक्रिया निम्न प्रकार है—

(क) अभव्य और भव्य दोनो प्रकारके जीवोकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारो कषायोकी क्रोध-प्रकृतियोके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनो प्रकारके जीवोमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासकी योग्यता भी स्वभावत विद्यमान है। भव्य जीवोंमें तो उस अदयारूप विभाव-परिणतिकी समाप्तिमे अनिवार्य कारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावत विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीवमें जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमे मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासंभवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथमभेद अनन्तानुबधीकषायके नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें एक प्रकारका जीवदया-रूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्यजीवमे यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे, तो उसके बलमे उसमे चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पचम गुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें दूसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्यजीवमें यदि उस आत्मोमुखता-रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ-प्रकृतियोके साथ क्रोध-प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तमगुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे तीसरे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तमगुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनो गुणस्थानोमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनो गुणस्थानोमे झूलते हुए जीवमे यदि सप्तम गुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उक्त चार—इन सात प्रकृतियोका उपशम या क्षय हो चुका हो, अथवा सप्तम गुणस्थानमे ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोमे क्रमश अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमे चारित्रमोहनीयकर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोकी क्रोध-प्रकृतियोके साथ चारित्रमोहनीय कर्मके चतुर्थ भेद सज्वलन कषायकी क्रोध-प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होने पर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे चौथे प्रकारका जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायोकी क्रोधप्रकृतियोके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है, परन्तु जब जिस भव्यजीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभाव-परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध-प्रकृतिका यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमें समाप्त होता जाता है, तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेपता लिए हुए शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमे दयारूप परिणमन होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन क्रोध-प्रकृतियोका यथास्थान यथायोग्यरूपमे होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होने पर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचो लब्धियोका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियोसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्यजीवमें भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीव-दयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध हो जाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्यजीव भी व्यवहारधर्मरूप दयाको अगीकार करके अपनेमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमे आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नही होता है। इस तरह उसमे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भव्यजीवमे उक्त क्रोध-प्रकृतियोका यथासम्भवरूपमें होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम, यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप कारणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमे उस कारणलब्धिका विकास क्रमश क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारो लब्धियोका विकास होनेपर ही होता है। अत इन चारो लब्धियोको भी उक्त क्रोध-प्रकृतियोके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें कारण माना गया है।

जीवका भाववती और क्रियावती शक्तियोके सामान्य परिणमनोंका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती—इन दोनो शक्तियोंको आगममे उनके स्वत सिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदयमे विभावरूप, व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममे शुद्धस्वभावरूप होते हैं तथा दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारेपर तत्त्व-

श्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एव क्रियावती शक्तिके परिणमन ससारावस्थामें एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं, दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमें होते है। इनके अतिरिक्त ससारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है, वह स्वभावत· उर्ध्वगमन-रूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारो प्रकारसे होने वाले परिणमनोमेंसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोंके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकारके बन्धमें कारण होते है। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तरूप होनेसे भव्यजीवमे यथायोग्य कर्मोके सवरपूर्वक निर्जरणमे कारण होते हैं, तथा पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे यथायोग्य कर्मोके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकारके बन्धमे कारण होते हैं। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमें कारण होते हैं और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोके आस्रव और बन्धमे कारण नही होता है और कर्मोंके सवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोका सर्वथा अभाव हो जानेसे कर्मोंका संवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नही रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोंका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारे पर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते है, उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते है। एव कदाचित् सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते हैं, इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते है उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते है और दूसरे कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं।

ससारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोंके अनावश्यक भोग और सग्रह-रूप क्रियाएँ सतत करता रहता है, वे सभी क्रियाएँ सकल्पी पाप कहलाती है। इनमें सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

ससारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति-रूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और सग्रहरूप क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ आरम्भीपाप कहलाती हैं। इनमे जीवनका सचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, सस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका सरक्षण आदि उपयोगी कार्योको सम्पन्न करनेके लिए नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और सग्रहरूप क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

ससारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ पुण्य कहलाती है। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो सासारिक

स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकारकी सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ गुरुओकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बनशक्तिको जागृत् करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओमें अन्तर्भूत होते हैं।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी अहकार आदिके वशीभून होकर किये जाते हैं तो उन्हे संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया-रूप परिणमनोंका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववतीशक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कपायोकी क्रोधप्रकृतियोके उदयमे अदयारूप विभाव-परिणमन होता है, और उन्ही क्रोधप्रकृतियोके यथास्थान, यथासभवरूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयारूप स्वभाव-परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोके विषयमें यह बतलाया जा रहा है कि जीवद्वारा परहितकी भावनासेकी जानेवाली क्रियाएँ पुण्यके रूपमे दया कहलाती है और जीवद्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियाएँ संकल्पीपापके रूपमे अदया कहलाती है। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओमे परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो, वे क्रियाएँ आरम्भीपापके रूपमे अदया कहलाती है। जैसे—एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना सकल्पीपापरूप अदया है, परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्म-रक्षाके लिए उस आक्रामक व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भीपापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया सकल्पीपापमय क्रियाके साथ भी संभव है और आरम्भीपापमय क्रियाके साथ भी सभव है, परन्तु सकल्पी और आरम्भी दोनो पापरूप क्रियाओमें जीवकी प्रवृत्ति एकसाथ नही हो सकती है, क्योकि सकल्पीपापरूप क्रियाओके साथ जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ देखनेमे आती है उन्हे वास्तवमे सकल्पी पापरूप क्रियाएँ ही मानना युक्तिसगत है। इस तरह सकल्पीपापरूप क्रियाओसे सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ की जाती है, उन्हे ही वास्तविक आरम्भीपापरूप क्रियाएँ समझना चाहिए।

व्यवहारधर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अदया-रूप अशुभ क्रियाओके साथ परहितकी भावनासे की जाने वाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाएँ पुण्यके रूपमे दया कहलाती हैं और वे कर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण होती हैं, परन्तु भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवो द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें होनेवाली सर्वथानिवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमे पुण्यमय शुभ क्रियाएँ की जाने लगती है वे क्रियाएँ ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती है। इसमें हेतु यह है कि उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ कियाओसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत

दया भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासका कारण होती है तथा भव्यजीवमे तो वह पुण्यरूप दया इन लब्धियोके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासका कारण होती ह। उक्त करणलब्धि प्रथमत मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मको यथासभव रूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी कपायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार—इस तरह सात प्रकृतियोके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममे कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया कर्मोके सवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध हो जाती है। इतनी बात अवश्य है कि उस व्यवहारधर्मरूप दयामें जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोके आस्रव और बन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका सकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथानिवृत्तिका अश ही कर्मोके सवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसग्रहग्रन्थकी गाथा ४५ मे जो व्यवहार-चारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है, उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमे आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणया दु जिणभणिय ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभ प्रवृत्तिको जिन भगवान्ने व्यवहार-चारित्र कहा है। ऐसा व्यवहार-चारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमे हेतु यह है कि इनमे अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप दया-के साथ करता है तबतक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामे होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीव-दयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्यमय प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापरूप अदयासे निवृत्तिरूपताके आधारपर भव्यजीवमे कर्मोका सवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोका सवर और निर्जरण होता है, इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमे मिश्रित परिणामोसे यदि कर्मक्षय नही होता हो, कर्मक्षयका होना असभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनसे 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहि' पदमे सुह और शुद्ध दो शब्द विद्यमान है। इनमेंसे 'सुह शब्दका अर्थ भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृतिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस भव्यजीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमे ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववतीशक्तिके पुण्यकर्मके उदयमे होनेवाले शुभ परिणामके रूपमें और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना युक्त नहा है। आगे इसी वातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं और उसी क्रियावतीशक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उन प्रवृत्तिरूप परिणमनोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्यजीवमे कर्मोके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववतीशक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोके आस्रव और बन्धके कारण होते हैं, और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोके संवर और निर्जरणके कारण होते हैं, इसमे यह हेतु है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका मन, वचन और कायिक सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है, उसे योग कहते हैं ('कायवाङ्मनःकर्म योगः'—त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते हैं और वह योग यदि जीवकी भाववतीशक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान, अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं, ('शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः अशुभः'—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है। ('स आस्रवः' त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मोके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमनोको भी कर्मोके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नही है, परन्तु कर्मोके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमे रखी हुई तेजाबको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक तेजाब रोगीकी आँखको हानि नही पहुचाती है, जबतक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे नही डालता है। जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आखको हानि पहुचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जबतक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमे नही डालता है तबतक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नहीं पहुँचाती है। परन्तु, जब डाक्टर उस दवाईको आँखमे डालता है, तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आखको लाभ पहुचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन और जीवकी भाववतीशक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामे कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमे कारण माने जा सकते हैं, परन्तु आस्रव और बन्धमे साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावतीशक्तिके योगरूप परिणमनके निरोधको ही कर्मोके संवर और निर्जरणमें कारण मानना युक्त है—('आस्रवनिरोधः संवरः'—त० सू० ९-१)। जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोंको संवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासंभव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण संवर और निर्जराके कार्य हो जानेसे संवर और निर्जरणमें कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और, जब जीवकी क्रियावतीशक्तिके योगरूप परिणमनोंका रुकना आवश्यक होता है तो कर्मोके संवर और निर्जरणका कारण योगनिरोधको ही मानना युक्त होगा। यहाँ ध्यातव्य है कि

जीवमे गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जीवमे वहाँ उतना-उतना कर्मोका सवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोका सवर भी पूर्णरूपसे हो जाता है। कर्मोका सवर होनेपर बद्ध कर्मोकी निर्जरा या तो निषेक-रचनाके अनुसार सविपाकरूपमें होती है अथवा 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावतीशक्तिके परिणमन-स्वरूप तपके बलपर अविपाकरूपमे होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोको सवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोमें सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति ओर प्रदेशरूपमे वन्ध नही होना चाहिए। दूसरे, द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे ही भाववतीशक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घाती-कर्मोका तथा चारो अघाती-कर्मोका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए। परन्तु जब ऐसा होता नही है तो यही स्वीकार करना पडता है कि आस्रव और वन्धका मूल कारण योग है और विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनो घाती-कर्मोकी एव चारो अघाती-कर्मोकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती है। त्रयोदश गुणस्थानमे केवली भगवान् अघाती कर्मोकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते है वह भी उनकी क्रियावतीशक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अगभूत ''सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदसे जीवकी क्रियावतीशक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्ति-रूप परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना ही सगत है। भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना सगत नही है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्ध परिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववतीशक्तिके मोहनीयकर्मके यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशममें विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत 'सुह' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमे तो स्वीकार किया ही नही जा सकता है, इसलिए उस 'सुह' शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें स्वीकार किया जाये तो यह भी सभव नही है, क्योकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अत उस 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योकि इस प्रकारके व्यवहार-धर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अशसे जहाँ कर्मोका आस्रव और बन्ध होता है वही उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अशसे कर्मोका सवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोके सवर ओर निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे 'सुद्ध' शब्दका अर्थ कदापि नही माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दके निरर्थक होनेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अत उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणामस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जीवको मोक्षको प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय-

धर्मके रूपमे परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द निरर्थक नही है तो इस बातको स्वीकार करनेमे यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योकि वास्तवमें देखा जाये तो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अश है जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है।

अन्तमे एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे शुद्धस्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घाती कर्मोंका एव चारो अघाती कर्मोंके एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ, जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमे मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार, इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें होता है, तो ऐसी स्थितिमे उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोंके सवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नही माना जा सकता है। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है।

प्रकृतमे कर्मोंके आस्रव और बन्ध तथा सवर और निर्जराकी प्रक्रिया

१ अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं, तथा उस सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सासारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते है तो भी वे उन प्रवृत्तियोके आधारपर सतत कर्मोंका आस्रव और बन्ध भी किया करते हैं।

२ अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होनेवाले सकल्पीपपमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश करने लगते है, तब भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

३. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे सर्वथा त्यागकर यदि आसक्तिवश होने वाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है, तो भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

४. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है, तो भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

५. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग-

कर उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका अपनेमे विकास कर लेते हैं, तो भी वे कर्मोंका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

६. यत मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं, अभव्य जीवके नहीं, अत जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हो, उनमे भी उक्त पाँचो अनुच्छेदोंमेसे दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदोमे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसस्कारवश या सामान्यरूपमे लागू होती हैं, तथा अनुच्छेद तीन और चारमे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें भी लागू होती हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोमे अनुच्छेद एकमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे जीव एक तो केवल सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नही करते हैं व उनकी प्रवृत्तिपूर्वक होनेके कारण वे पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सासारिक स्वार्थवश नही करते हैं, तथा उनमें अनुच्छेद पाँचमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोमें अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नही होती कि उनमे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमें अनुच्छेद पाँचकी व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे भी मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वगुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती है।

७ उपर्युक्त जीवोंसे अतिरिक्त जो भव्यमिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व-प्राप्तिकी ओर झुके हुए हो अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्तिमे अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हो, वे नियमसे यथायोग्य कर्मोका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान—क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार—इस तरह सात कर्म-प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूपमे सवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोमे विद्यमान जीव यथायोग्य कर्मोका आस्रव और बन्ध, यथायोग्य कर्मोका सवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका फलितार्थ

१. कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति कर्त्तव्यवश किया करते है। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक, आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश

पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एव कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

२ कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्व सस्कारके बलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व सस्कारके बलपर सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, और कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व सस्कारवश सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु उनमे इतनी विशेषता है कि वे सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमे नही करते हैं।

४ चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोमे विद्यमान सभी जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवोके समान सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते है। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो आसक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

५. पचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेशनिवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवको पचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नही होता है। इतना अवश्य है कि कोई पचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश-निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है।

६. षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हैं, क्योकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नही होता।

७ षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोंमें जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्य रूपमे नही करते हुए अन्तरंगरूपमें ही तब तक करता रहता है, जब तक नवम गुणस्थानमे उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषायोंकी क्रोध-प्रकृतियोके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नही होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है और पचमगुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्याना-वरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पचम गुणस्थानके अन्त समय तक रहा करता है, और षष्ठ गुणस्थानमें और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुण-स्थानोंमें सज्वलनक्रोधकर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु सज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्याना-वरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मोंका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका

सर्वथा उपशम या क्षय नही हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले यथायोग्य परिणमनोंमे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमें जब तक आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथायोग्य रूपमें एकदेश त्याग नही करता, तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्यागकर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमे उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानमें भी लागू होती है। इसी तरह जीव पचम गुणस्थानमें जब तक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है, परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्यागकर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीवमे उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोमें भी लागू होती है। पचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोमे तब तक जीव सज्वलन क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमें बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमें सज्वलन क्रोधकर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो इसके पूर्व उस जीवमें उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमे मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोंके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते है और उन प्रवृत्तियोका निरोध करनेसे ही उन क्रोधकर्मोंका सवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीयकर्मके उदयमें होनेवाला विभाव परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन सवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके परम्परया- कारण होते है, और तत्त्वश्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शनके रूपमें तथा तत्त्वज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके सवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते है।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मोके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती है तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोके सवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती है, एव जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप तथा दयारूप शुभ और अदयारूप

अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीयकर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है, तथा योगका अभाव कर्मोंके संवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी होती है तथा इस निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमें कारणभूत व्यवहारधर्मरूप भी होती है। अर्थात् तीनो प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती हैं।
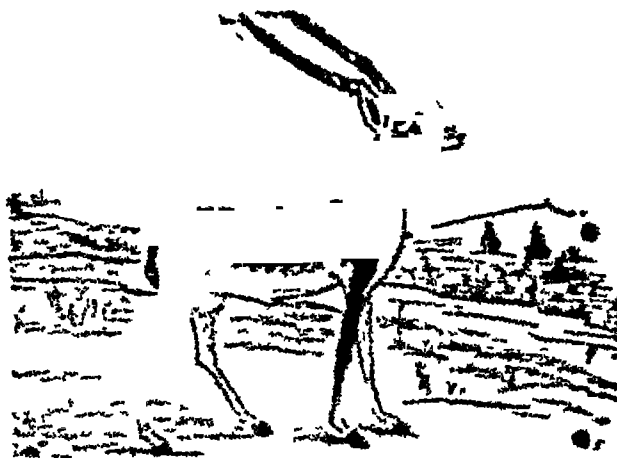
जैनागममें कर्मवन्ध

गुणस्थानोंकी व्यवस्था

गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा तीनमें गुणस्थानोंकी व्यवस्था मोह और योगके आधारपर बतलाई गई है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

आगममें संसारी जीवोंके १४ गुणस्थान निश्चित किये गये हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनका निर्धारण जीवमें मोहनीकर्मकी यथायोग्य प्रकृतियोंके उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम और योगके सद्भाव और अभावके आधारपर होता है।

मोहनीयकर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके रूपमें दो भेद हैं। उनमें दर्शनमोहनीयकर्मके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके रूपमें तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीयकर्मके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीयके रूपमें दो भेद हैं। कषायवेदनीय कर्मके मूलत: क्रोध, मान, माया और लोभके रूपमें चार भेद हैं तथा ये चारों अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके रूपमें चार-चार प्रकारके हैं। फलत: कषायवेदनीयकर्मके १६ भेद हो जाते हैं। अकषायवेदनीयकर्मके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके रूपमें ९ भेद हैं। गुणस्थानोंकी चतुर्दश संख्याके निर्धारणमें दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और कषायवेदनीयकर्मकी १६ प्रकृतियोंका ही उपयोग है, अकषायवेदनीयकर्मकी ९ प्रकृतियोंका गुणस्थानोंकी चतुर्दश संख्याके निर्धारणमें उपयोग नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानकी ओर आता है उस समय मिथ्यात्वकर्मका उदय न होकर प्रथमत यदि अनन्तानुवन्धीकर्मका उदय होता है तो उस समय जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव यदि द्वितीय सासादनसम्यग्दृष्टि होता है तो वह विसंयोजित अनन्तानुवन्धी प्रकृतियोंकी संयोजना करके उसके उदयमें होता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह तृतीय सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी उक्त तीन और अनन्तानुवन्धी कषायकी उक्त चार इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशममें जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह पंचम देशविरत गुणस्थान है।

प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम और सज्वलनकषायके तीव्र उदयमे जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह षष्ठ प्रमत्तविरत गुणस्थान है।

औपशमिक, क्षयोपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमे जब सज्वलनकषायका सामान्यरूपसे मदोदय होता है तब जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है तब वह सप्तम स्वस्थानाप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है तथा औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवमे जब सज्वलन कषायका विशेषरूपसे मदोदय होता है तब वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थान कहलाता है। वह सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे अध -करणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

सज्वलनकषायके मन्दतर उदयमें औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान है। यह जीव नियमसे अपूर्वकरणरूप आत्मविशुद्धिको प्राप्त रहता है।

सज्वलन कषायके मन्दतम उदयमे औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह नवम अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे जीव अकषायवेदीनीय प्रकृतियोंके साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोकी सम्पूर्ण प्रकृतियोका यथायोग्य उपशम या क्षय करता है तथा सज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया प्रकृतियोका भी यथायोग्य उपशम या क्षय करता है एव सज्वलन लोभप्रकृतिका कर्षण भी करता है।

सज्वलनकषायकी सूक्ष्मताको प्राप्त लोभ प्रकृतिका उदय रहते हुए जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह दशम सूक्ष्मलोभ गुणस्थान कहलाता है।

दर्शनमोहनीयकर्मकी ३ और अनन्तानुबन्धी कपायकी ४ इन ७ प्रकृतियोके उपशम अथवा क्षय तथा चारित्रमोहनीयकर्मकी शेष सभी प्रकृतियोके उपशममे जीवकी भाववतीशक्ति जो परिणमन होता है वह ११वाँ उपशान्तमोह गुणस्थान है।

सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके क्षयमे जीवकी भाववतीशक्तिका जो परिणमन होता है वह १२वाँ क्षीणमोह गुणस्थान है।

यत १२वाँ गुणस्थान सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर होता है और यह स्थिति जीवको १३वें और १४वें गुणस्थानोमे भी रहती है, अत इस आधारपर इन तीनो गुणस्थानोमे समानता पाई जाती है तथापि १२वे गुणस्थानवर्ती जीवको अपेक्षा १३वें और १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोमे यह विशेषता पाई जाती है कि उनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो कर्मोका सर्वथा क्षय होजानेके कारण जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप केवलज्ञान आदि गुणोका विकास भी पाया जाता है। इसी प्रकार १३वे और १४वे गुणस्थानवर्ती जीवोमे भी यह विशेपता पाई जाती है कि जहाँ १३वें गुणस्थानवर्ती जीवोने क्रियाशील पौद्गलिक मन, वोलनेके स्थानभूत वचन और कायके अवलम्बनसे उन जीवोकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप हलन-चलन क्रियारूप योग पाया जाता है वहाँ १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोमे पौद्गलिक मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रकार १४ गुणस्थानोकी व्यवस्था निराबाध हो जाती है।

कर्मबन्धका मूल कारण

जीव और पुद्‌गल दोनो द्रव्योमे स्वभावत भाववतीशक्तिके साथ क्रियावतीशक्ति भी पायी जाती है। उस क्रियावतीशक्तिके आधारपर ही जीव और पुद्‌गल दोनो द्रव्योमे हलन-चलन क्रिया होती है। ससारी जीवोमे क्रियाशील पौद्‌गलिक मन या वचन या कायके अवलम्बनसे जो हलन-चलन क्रिया होती है उसे ही योग कहते है और वह योग ही कर्मबन्धका मूल कारण है। उसका सद्भाव जीवोमें प्रथमगुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थानतक पाया जाता है, इसलिए उनमें विद्यमान जीवोमे नियमसे प्रतिक्षण कर्मबन्ध होता रहता है। यत १४वें गुणस्थानवर्ती जीवमे पौद्‌गलित मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगका अभाव रहता है अत वहाँ कर्मबन्ध नही होता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमे जीवके जो आयुकर्मका बन्ध नही होता उसका कारण वहाँ योगकी अनुकूलताका अभाव है। तथा आदिके तीन गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका व आदिके छह गुणस्थानोमे आहारकशरीर और आहारकअङ्गोपागका जो बन्ध जीवके नही होता है उसका कारण वहाँ भी योगकी अनुकूलताका अभाव है। इसी प्रकार नीचे-नीचेके गुणस्थानोमें बन्धको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियोकी ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोमे जो बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है उसका कारण भी वहाँ योगकी तरतमताको ही माना जा सकता है।

कर्मबन्धके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि आगममें बन्धके चार भेद बतलाये गये है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगके आधारपर होते है व स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायोके आधारपर होते है।

तात्पर्य यह है कि योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओका आस्रव होता है और उस आस्रवके आधारपर उन वर्गणाओका आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसका नाम प्रकृतिबन्ध है तथा वे कर्मवर्गणाएँ कितने-कितने परिमाणमें आत्माके साथ सम्पर्क करती हैं उसका नाम प्रदेशबन्ध है। फलत प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दोनोको योगके आधारपर मान्य करना युक्त है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिका निर्माण योगके आधारपर होता है? तो ऐसा नही है, क्योकि योगका कार्य ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओका आस्रवपूर्वक आत्माके साथ सम्पर्क कराना मात्र ही है अतएव यह स्वीकार करना होगा कि कर्मवर्गणाओका जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन होता है वह उन वर्गणाओमें विद्यमान उस-उस कर्मरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताके आधारपर होता है। इतनी बात अवश्य है कि वे वर्गणाएँ तभी ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती है जब वे योगके आधारपर आस्रवित होकर आत्माके साथ सम्पर्क करती है। इससे निर्णीत होता है कि ज्ञानावरणादि आठो कर्मोकी वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् ही लोकमें व्याप्त हो रही है तथा योगके आधारपर उनका आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है उसे ही प्रकृतिबन्ध कहना चाहिए। ज्ञानावरणादि आठो कर्मोकी वर्गणाओके पृथक्-पृथक् होनेके कारण ही वे आठो कर्म कभी एक-दूसरे कर्मरूप परिणत नही होते है।

इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म चारित्रमोहनीयकर्मरूप और चारित्रमोहनीयकर्म दर्शनमोहनीयकर्मरूप कभी परिणत नही होते एवं चारो आयुकर्म भी कभी एक-दूसरे आयुकर्मरूप परिणत नही होते। इससे भी निर्णीत होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनो कर्मोकी एव चारो आयुकर्मोकी वर्गणाएँ लोकमें पृथक्-पृथक् ही विद्यमान हैं। तथा उनका योगके आधारपर आस्रव होकर आत्माके साथ जो सम्पर्क होता है वह

योगके आधारपर होता है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें जो "बहुभागे समभागो" इत्यादि गाथा १९५ पायी जाती है उसका आशय यही ग्रहण करना चाहिए कि योगके आधारपर एक साथ कर्मबर्गणाओका जो आस्रव होता है वह आस्रव सबसे अधिक वेदनीयकर्मकी वर्गणाओका होता है, उससे कम मोहनीयकर्मकी वर्गणाओका होता है, उससे कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी वर्गणाओका होता है, उससे कम नाम और गोत्र कर्मकी वर्गणाओका होता है और उससे कम आयुकर्मकी वर्गणाओका होता है।

चारो आयुकर्मोंकी वर्गणाओके विषयमे यह भी ज्ञातव्य है कि एक आयुकर्मकी वर्गणाओके आस्रवके अवसरपर अन्य तीनो आयुकर्मोकी वर्गणाओका आस्रव नही होता, क्योकि चारो आयुकर्मोंकी वर्गणाओके आस्रवके लिए परस्पर विरुद्ध योग कारण होता है। फलतः जिस समय अनुकूल योगके आधारपर किसी एक आयुकर्मकी वर्गणाओका आस्रव होता है उस समय अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण अन्य तीन आयुकर्मोंकी वर्गणाओका आस्रव नही होता है। इसी प्रकार चारो आयुकर्मोंकी वर्गणाओंके विषयमे यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार अन्य सात कर्मोंकी वर्गणाओंका आस्रव अनुकूल योगके सद्‌भावमे प्रतिसमय होता है उस प्रकार चारो आयुकर्मोंकी वर्गणाओका आस्रव अनुकूल योगका अभाव रहनेके कारण प्रतिसमय न होकर कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च जीवोकी भुज्यमान आयुका त्रिभाग शेष रहनेपर व भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च जीवोंकी भुज्यमान आयुका ९ माह शेष रहनेपर एवं देव और नारकीय जीवोकी भुज्यमान आयुका छहमाह शेष रहनेपर ही 'होता है और तब भी अनुकूल योगका सद्‌भाव हो तो ही होता है अन्यथा नही। यहाँ सर्वत्र योगकी अनुकूलताका आधार अन्य अनुकूल निमित्त सामग्रीके समागमको ही समझना चाहिए।

सभी कर्मोंकी वर्गणाओके आस्रवमें कारणभूत व आत्माकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त योग यद्यपि यथाप्राप्त क्रियाशील पौद्‌गलिक मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक होता है, परन्तु उस योगके साथ जबतक चारित्रमोहनीयकर्मके उदयके सद्‌भावमें यथायोग्य नोकर्मभूत निमित्तोंके सहयोगसे आत्माकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप रागद्वेप होते रहते हैं तब तक आत्माके साथ सम्पर्कको प्राप्त सभी कर्मवर्गणाओके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी नियमसे होते रहते है।

कर्मरूप परिणत वर्गणाओका आत्माके साथ यथासम्भव अन्तर्मुहुर्तसे लेकर यथायोग्य समय तक सम्पर्क बना रहना स्थितिबन्ध है और उनमें आत्माको फल प्रदान करनेकी शक्तिका प्रादुर्भाव होना अनुभागबन्ध है। इससे निर्णीत होता है कि कर्मवर्गणाओका आत्माके साथ सम्पर्क होना अन्य बात है और उस सम्पर्कका किसी नियतकाल तक बना रहना अन्य बात है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मैं यह कहना चाहता हूँ कि ११वे, १२वें और १३वें गुणस्थानोमे विद्यमान जीवोके साथ जिस योगके आधारपर सातावेदनीयकर्मकी बर्गणाओके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं इसी योग के आधारपर श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराजकी अकिंचित्कर पुस्तकके पृ० ७-८ पर उन जीवोके साथ उसी सातावेदनीयकर्मकी उन वर्गणाओके जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध बतलाये गये है व समर्थनमे तर्क और आगम वचन प्रस्तुत किये गये है यह सब मुझे सम्यक् प्रतीत नही होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. पूर्वमे किये गये सकेतके अनुसार जब जिस योगके आधारपर ज्ञानावरणादि कर्मोकी वर्गणाओका आस्रव होता है उसी योगके आधारपर तब उन वर्गणाओका आत्माके साथ सम्पर्क भी होता है एव वे वर्गणायें उस सम्पर्कके निमित्तसे ही ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत होती है। फलत यह सब विषय प्रकृतिबन्धकी

परिधिमे आता है तथा ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत उन वर्गणाओका आत्माके साथ उस सम्पर्कके यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर सत्तर कोडाकोडी सागर पर्यन्त यथायोग्य काल तक बने रहनेकी योग्यताका विकास स्थिति-बन्धकी और उनमें जीवको स्वकीय फल प्रदान करनेकी योग्यताका विकास अनुभागबन्धकी परिधिमें आते हैं। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप योगके आधारपर कर्मवर्गणाओके आत्माके साथ प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नही होते। वे दोनो बन्ध उस-उस कपायके उदयमे यथायोग्य नोकर्मोके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप राग-द्वेपके आधारपर ही होते हैं। आगममे जो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धको योगके आधारपर व स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धको कपायके आधारपर बतलाया गया है उसका यही अभिप्राय है।

२ आगममे स्थितिबन्धका काल कपायके सद्भावमें सामान्यरूपसे कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है व विशेषरूपसे वेदनीयकर्मका १२ मुहूर्त, नाम और गोत्रका आठ मुहूर्त बतलाकर शेप कर्मोका अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है जबकि कपायके अभावमें सातावेदनीयकर्मके बन्धका काल उन कर्मवर्गणाओका आत्माके साथ सम्पर्क होने व उनकी समाप्ति होने रूपमें एक समय ही सिद्ध होता है। इसलिए स्थितिबन्धके विना ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोमें बँधनेवाले सातावेदनीयकर्मकी उत्पत्ति और समाप्तिका काल एक समय मान्य करना ही युक्त है। फलत गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १०२ और उसकी सस्कृतटीकामे उन गुणस्थानोमे सातावेदनीयकर्मके बन्धको जो एक समयकी स्थिति वाला बतलाया गया है उसका सम्बन्ध प्रकृतिबन्धसे ही समझना चाहिए, क्योकि कषायका अभाव होनेसे वहाँ स्थितिबन्धका होना सम्भव नही है। इसी प्रकार कपाय-का अभाव होनेसे वहाँ जब स्थितिबन्ध नही होता तो अनुभागबन्ध भी नही हो सकता है, क्योकि वह भी कषायके सद्भावमे होता है। अतएव उदयका भी अभाव हो जानेसे वहाँ उसके फलका भोग जीवको नही होता। वहाँ जीवको जो सातावेदनीयकर्मके फलका भोग होता है वह भोग पूर्वमे बद्ध वेदनीयकर्मके फलका ही होता है।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

पहले आगमके अनुसार मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर जीवके गुण-स्थानोकी जो व्यवस्था बतलायी जा चुकी है उससे निर्णीत होता है कि मोहनीयकर्मका उदय गुणस्थानोकी व्यवस्थाका ही आधार है। वह उन गुणस्थानोमे होनेवाले कर्मबन्धमे कारण नही होता। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही बन्धके कारण माने गये हैं। इसका आशय यह है कि मोहनीयकर्मके उदयमे कर्मबन्ध तो होता है परन्तु बन्धका कारण मोहनीयकर्मका उदय न होकर उस उदयमे निमित्तोके सहयोगसे यथायोग्य रूपमें होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय एव योग परिणमन ही है।

बन्धके कारणोमे निर्दिष्ट मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उपलक्षण है, क्योकि जीवमें मिथ्यादर्शनके साथ नियमसे मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र पाये जाते है। अत बन्धके कारणोमे मिथ्यादर्शन शब्दसे मिथ्यादर्शनके साथ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका भी समावेश होता है तथा उनमेसे मिथ्याचारित्र ही बन्धका साक्षात् कारण है। यत वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है अत परम्परया मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको भी बन्धके कारण स्वीकार किया गया है।

मिथ्यादर्शनका अर्थ है अतत्त्वश्रद्धान। वह दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वश्रद्धानका न होना और दूसरा

अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करना। तत्त्वश्रद्धानके न होने रूप मिथ्यादर्शन एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तकके जीवोमें पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे श्रद्धान करने रूप मिथ्यादर्शन केवल सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही पाया जाता है, क्योकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे श्रद्धान नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होता है जो हृदय जैन सिद्धान्तके अनुसार सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही रहता है। मिथ्यादर्शनका जो मिथ्यापन है वह उस दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे अनुकूल निमित्तोके आधारपर होनेके कारण है।

इसीप्रकार मिथ्याज्ञानका अर्थ है अतत्त्वज्ञान। वह भी दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वज्ञानका न होना और दूसरा अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे ज्ञान करना। तत्त्वका ज्ञान न होने रूप मिथ्याज्ञान भी एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोमे पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे ज्ञान करने रूप मिथ्यादर्शन पूर्वक होनेवाला मिथ्याज्ञान केवल सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही पाया जाता है, क्योकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे श्रद्धान नोकर्मभूत मस्तिष्कके अवलम्बनसे होता है और वह मस्तिष्क जैनसिद्धान्तके अनुसार सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमें ही रहता है। यहाँ भी मिथ्याज्ञानका जो मिथ्यापन है वह उस मिथ्याज्ञानके मिथ्यादर्शनपूर्वक होनेके कारण है।

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दोनो जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन है तथा दोनो दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयके आधारपर निर्मित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमे ही एक साथ पाये जाते है।

मिथ्याचारित्रके विषयमें यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो क्रिया-व्यापार उस मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्नी जीवका होता है उसे ही मिथ्याचारित्र कहा जाता है और उसका उत्पादन चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके प्रभावमे अनुकूल निमित्तोके आधारपर होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग-द्वेषके अनुसार होता है।

यह मिथ्याचारित्र एकेन्द्रिय जीवमें नोकर्मभूत काय (शरीर) के अवलम्बनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असज्ञी-पचेन्द्रिय तकके जीवोमे नोकर्मभूत काय और बोलनेके आधारभूत वचनके अवलम्बनसे एव सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमें नोकर्मभूत काय, वचन और मन तीनोके अवलम्बनसे होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे जीव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और उस जीवके ही अनुकूल निमित्तोके आधारपर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र होते है। परन्तु वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र उस जीवमें मिथ्यात्वकर्मके उदयके सद्भावमे नियमसे नही होते, क्योकि मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कोई-कोई सज्ञीपचेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव यदि निमित्त मिलनेपर हृदयके अवलम्बनसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके अवलम्बनसे व्यवहारके सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होते है, तो उनका क्रिया-व्यापार मिथ्याचारित्र रूप न होकर या तो अविरतिरूप होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष देश अविरतिरूप होता है अथवा उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणोमे प्रवृत्तिरूप होता है। फलत मेरी समझके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती सज्ञीपचेन्द्रिय उन भव्य और अभव्य जीवोको जो कर्मबन्ध होता है, वह या तो अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेप एकदेश अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणो मे प्रवृत्तिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है। अतएव उस क्रिया-व्यापारके मिथ्याचारित्ररूप न होनेके कारण उनको होनेवाला कर्मबन्ध मिथ्याचारित्रके आधारपर नही होता है।

परिधिमें आता है तथा ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणत उन वर्गणाओका आत्माके साथ उस सम्पर्कके यथासम्भव अन्तर्मुहूर्तसे लेकर सत्तर कोढाकोढी सागर पर्यन्त यथायोग्य काल तक वने रहनेकी योग्यताका विकास स्थिति-बन्धकी और उनमें जीवको स्वकीय फल प्रदान करनेकी योग्यताका विकास अनुभागवन्धकी परिधिमें आते है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप योगके आधारपर कर्मवर्गणाओके आत्माके साथ प्रकृतिबन्ध और प्रदेशवन्ध होते है, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नही होते। वे दोनो वन्ध उस-उस कषायके उदयमे यथायोग्य नोकर्मके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप राग-द्वेषके आधारपर ही होते हैं। आगममे जो प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धको योगके आधारपर व स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्धको कपायके आधारपर बतलाया गया है उसका यही अभिप्राय है।

२. आगममे स्थितिवन्धका काल कषायके सद्भावमें सामान्यरूपसे कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है व विशेषरूपसे वेदनीयकर्मका १२ मुहूर्त, नाम और गोत्रका आठ मुहूर्त बतलाकर शेष कर्मोका अन्तमुहूर्त बतलाया गया है जबकि कषायके अभावमें सातावेदनीयकर्मके बन्धका काल उन कर्मवर्गणाओका आत्माके साथ सम्पर्क होने व उनकी समाप्ति होने रूपमे एक समय ही सिद्ध होता है। इसलिए स्थितिवन्धके बिना ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोमें बँधनेवाले सातावेदनीयकर्मकी उत्पत्ति और समाप्तिका काल एक समय मान्य करना ही युक्त है। फलत गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा १०२ और उसकी सस्कृतटीकामें उन गुणस्थानोमे सातावेदनीयकर्मके वन्धको जो एक समयकी स्थिति वाला बतलाया गया है उसका सम्बन्ध प्रकृतिवन्धसे ही समझना चाहिए, क्योकि कषायका अभाव होनेसे वहाँ स्थितिबन्धका होना सम्भव नही है। इसी प्रकार कषाय-का अभाव होनेसे वहाँ जब स्थितिबन्ध नही होता तो अनुभागबन्ध भी नही हो सकता है, क्योकि वह भी कषायके सद्भावमे होता है। अतएव उदयका भी अभाव हो जानेसे वहाँ उसके फलका भोग जीवको नही होता। वहाँ जीवको जो सातावेदनीयकर्मके फलका भोग होता है वह भोग पूर्वमे बद्ध वेदनीयकर्मके फलका ही होता है।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

पहले आगमके अनुसार मोहनीयकर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके आधारपर जीवके गुण-स्थानोकी जो व्यवस्था बतलायी जा चुकी हैं उससे निर्णीत होता है कि मोहनीयकर्मका उदय गुणस्थानोकी व्यवस्थाका ही आधार है। वह उन गुणस्थानोमे होनेवाले कर्मबन्धमे कारण नही होता। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही बन्धके कारण माने गये हैं। इसका आशय यह है कि मोहनीयकर्मके उदयमे कर्मबन्ध तो होता है परन्तु बन्धका कारण मोहनीयकर्मका उदय न होकर उस उदयमें निमित्तोके सहयोगसे यथायोग्य रूपमें होनेवाले जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय एवं योग परिणमन ही हैं।

बन्धके कारणोमें निर्दिष्ट मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उपलक्षण है, क्योकि जीवमें मिथ्यादर्शनके साथ नियमसे मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र पाये जाते है। अत बन्धके कारणोमे मिथ्यादर्शन शब्दसे मिथ्यादर्शनके साथ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका भी समावेश होता है तथा उनमेसे मिथ्याचारित्र ही बन्धका साक्षात् कारण है। यत वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है अत परम्परया मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको भी बन्धके कारण स्वीकार किया गया है।

मिथ्यादर्शनका अर्थ है अतत्त्वश्रद्धान। वह दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वश्रद्धानका न होना और दूसरा

अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करना। तत्त्वश्रद्धानके न होने रूप मिथ्यादर्शन एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोमें पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमें श्रद्धान करने रूप मिथ्यादर्शन केवल सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही पाया जाता है, क्योकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे श्रद्धान नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होता है जो हृदय जैन सिद्धान्तके अनुसार सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही रहता है। मिथ्यादर्शनका जो मिथ्यापन है वह उस दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे अनुकूल निमित्तोके आधारपर होनेके कारण है।

इसीप्रकार मिथ्याज्ञानका अर्थ है अतत्त्वज्ञान। वह भी दो प्रकारका है—एक तो तत्त्वज्ञानका न होना और दूसरा अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे ज्ञान करना। तत्त्वका ज्ञान न होने रूप मिथ्याज्ञान भी एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोमे पाया जाता है। परन्तु अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे ज्ञान करने रूप मिथ्यादर्शन पूर्वक होनेवाला मिथ्याज्ञान केवल सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही पाया जाता है, क्योकि अतत्त्वका तत्त्वके रूपमे श्रद्धान नोकर्मभूत मस्तिष्कके अवलम्बनसे होता है और वह मस्तिष्क जैनसिद्धान्तके अनुसार सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमे ही रहता है। यहाँ भी मिथ्याज्ञानका जो मिथ्यापन है वह उस मिथ्याज्ञानके मिथ्यादर्शनपूर्वक होनेके कारण है।

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दोनो जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन है तथा दोनो दर्शनमोहनीय कर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयके आधारपर निर्मित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमें ही एक साथ पाये जाते है।

मिथ्याचारित्रके विषयमें यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो क्रिया-व्यापार उस मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती जीवका होता है उसे ही मिथ्याचारित्र कहा जाता है और उसका उत्पादन चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके प्रभावमे अनुकूल निमित्तोके आधारपर होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग-द्वेषके अनुसार होता है।

यह मिथ्याचारित्र एकेन्द्रिय जीवमे नोकर्मभूत काय (शरीर) के अवलम्बनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी-पचेन्द्रिय तकके जीवोमे नोकर्मभूत काय और बोलनेके आधारभूत वचनके अवलम्बनसे एव सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोमें नोकर्मभूत काय, वचन और मन तीनोके अवलम्बनसे होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि दर्शनमोहनीयकर्मके भेद मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे जीव मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और उस जीवके ही अनुकूल निमित्तोके आधारपर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र होते है। परन्तु वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र उस जीवमें मिथ्यात्वकर्मके उदयके सद्भावमे नियमसे नही होते, क्योकि मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कोई-कोई सज्ञीपचेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव यदि निमित्त मिलनेपर हृदयके अवलम्बनसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और मस्तिष्कके अवलम्बनसे व्यवहारके सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होते है, तो उनका क्रिया-व्यापार मिथ्याचारित्र रूप न होकर या तो अविरतिरूप होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष देश अविरतिरूप होता है अथवा उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणोमें प्रवृत्तिरूप होता है। फलत मेरी समझके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपचेन्द्रिय उन भव्य और अभव्य जीवोको जो कर्मबन्ध होता है वह या तो अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके देशविरति हो जानेपर शेष एकदेश अविरतिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है या उनके महाविरति हो जानेपर २८ मूलगुणो में प्रवृत्तिरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर होता है। अतएव उस क्रिया-व्यापारके मिथ्याचारित्ररूप न होनेके कारण उनको होनेवाला कर्मबन्ध मिथ्याचारित्रके आधारपर नही होता है।

यदि ऐसा न माना जावे तो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती अभव्य जीवोको मिथ्याचारित्ररूप क्रिया-व्यापारके अभावमे जो क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोकी प्राप्ति होती है एव भव्य जीवोको उक्त चार लब्धियोंके साथ जो करणलब्धिकी प्राप्ति होती है वह सव नही हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती संज्ञीपचेन्द्रिय भव्य जीव उस करणलब्धिके आधारपर जो दर्शनमोहनीय-कर्मकी तीन और चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुवन्धी कपायको चार इसप्रकार सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम करता है, अथवा उक्त ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके साथ जो अप्रत्याख्याना-वरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है अथवा इसके भी साथ जो प्रत्याख्यानावरणचतुष्कका क्षयोपशम करता है यह सब वह नही कर सकेगा। अतएव मानना पडता है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके सज्ञी-पचेन्द्रिय जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें रहते हुए भी अनुकूल निमित्तोका योग मिलनेपर व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी होकर जब मिथ्याचारित्ररूप क्रियाव्यापार नही करते है तो वे यथायोग्य अविरत या देशविरत या महाव्रती हो जाते है एव इस आधारपर ही अभव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोको प्राप्त कर लेते है तथा भव्य जीव उक्त लब्धियोके साथ करण-लब्धिको भी प्राप्त कर लेते हैं।

समयसारकी गाथा २७५ से भी यही ध्वनित होता है कि अभव्य जीव भी धर्मका श्रद्धान करता है, उसका ज्ञान करता है, उसमें रुचि करता है और उसको अपनाता भी है। परन्तु उसकी अभव्यताके कारण वह भेदविज्ञानी नही हो सकता। अतएव उससे वह सासारिक भोग ही पाता है। यद्यपि वह यह सब मोक्ष पानेकी भावनासे ही करता है, परन्तु वह जब भेदविज्ञानी नही होता, तो मोक्षमार्गी नही बन सकता।

इस विवेचनसे यही समझमें आता है कि अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले व्यवहारसम्यग्दृष्टि और व्यवहारसम्यग्ज्ञानी प्रथम गुणस्थानवर्ती अभव्य जीव तथा अविरतिरूप क्रियाव्यापार करनेवाले प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके भव्य जीव जो कर्मबन्ध करते है वह वे अविरतिरूप क्रिया व्यापारके आधारपर ही करते हैं तथा प्रथम गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव और प्रथमगुणस्थानसे लेकर पचमगुणस्थान तकके वे ही भव्यजीव देशविरत होनेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे शेष एकदेशअविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधार पर करते है एवं प्रथमगुणस्थानवर्ती वे ही अभव्य जीव और प्रथम गुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान तकके वे ही भव्य जीव महाव्रती हो जानेपर जो कर्मबन्ध करते हैं वह वे २८ मूलगुणोमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर करते हैं। प्रथमगुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थान पर्यन्तके जीवोमेंसे द्वितीय और तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवोमें जो विशेषताएँ आगममे प्रतिपादित की गई है वे करणानुयोगकी अपेक्षासे ही है, चरणानुयोगकी अपेक्षासे नही, जबकि कर्मवन्धकी व्यवस्था चरणानुयोगकी प्रक्रियापर ही आधारित है, क्योकि जीवोको जो कर्मबन्ध होता है वह क्रियाशील नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप क्रिया-व्यापारके आधारपर ही होता है। इतना अवश्य है कि वह कर्मबन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक मिथ्या-चारित्ररूप क्रियाव्यापारके आधारपर भी होता है तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक अविरतिरूप या क्रियाव्यापारके आधारपर एकदेश अविरतिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर अथवा २८ मूलगुणोमें प्रवृत्तिरूप क्रियाव्यापारके आधारपर होता है। वे अविरतिरूप या एकदेशअविरतिरूप या २८ मूलगुणोमे प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नियमसे व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक ही जीवोमें पाये जाते है और ये सभी क्रियाव्यापार क्रियाशील नोकर्मभूत मन, वचन और कायके आधारपर होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप ही है।

यद्यपि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान ये सभी यथायोग्य नोकर्मभूत हृदय और मस्तिष्कके सहारेपर होने वाले जीवकी भाववती शक्तिके ही परिणमन हैं, परन्तु वे चरणानुयोगकी प्रक्रियामे ही अन्तर्भूत होते है।

उक्त विवेचनसे यह भी ज्ञात होगा है कि मिथ्याचारित्र और अविरतिरूप दोनो क्रियाव्यापारोमें अन्तर है, क्योकि जहाँ मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक होता है वहाँ अविरति व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है। जहाँ मिथ्याचारित्र आसक्तिवश होनेके कारण सकल्पी पाप माना जाता है वहाँ अविरति अशक्तिवश होनेके कारण आरम्भी पाप माना जाता है। मिथ्याचारित्र और अविरतिके अन्तरको इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि मिथ्याचारित्रका सद्भाव प्रथमगुणस्थानमे ही रहता है क्योकि वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है। इसके विपरीत अविरतिका सद्भाव व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेके कारण प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके जीवोमे आगम द्वारा स्वीकार किया गया है।

इन सब बातोको ध्यानमे रखकर ही ऊपर बन्धके कारणोमें मिथ्याचारित्र और अविरतिको पृथक्-पृथक् रूपमे ही सम्मिलत किया गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कर्मबन्धमें कारणभूत मिथ्याचारित्र, अविरति, एकदेशअविरति और २८ मूलगुणोमे प्रवृत्तिरूप सभी क्रियाव्यापार नोकर्मभूत मन, वचन और कायके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमनोके रूपमे योग ही हैं। परन्तु ये सभी चारित्रमोहनीयकर्मकी उस-उस प्रकृतिके उदयमे यथायोग्य नोकर्मोके अवलम्बनसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप राग और द्वेषसे प्रभावित रहते है एव जबतक उनका प्रभाव उक्त योगोपर बना रहता है तबतक उन योगोके आधारपर कर्मोके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नियमसे होते रहते हैं।

यत ११वें, १२वें और १३वे गुणस्थानोमे केवल स्वतन्त्र योग ही बन्धका कारण शेष रह जाता है, अत उससे कर्मोके केवल प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होते हैं, स्थिति और अनुभागबन्ध नही होते।

यद्यपि बन्धके कारणोमे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका ही समावेश है, परन्तु पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वे दोनो कर्मोके बन्धमें साक्षात्कारण नही होकर परपरया ही कारण होते है, क्योकि उनकी बन्धकारणता बन्धके कारणभूत मिथ्याचारित्रका उत्पादन करना ही है। दूसरी बात यह है कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ये दोनो जीवको भाववतीशक्तिके परिणमन है, इसलिए इनका कर्मबन्धके मूलकारणभूत जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप योगमे अन्तर्भाव नही होता है।

बन्धका साक्षात्कारण जो मिथ्याचारित्र है वह मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक ही होता है और उसका सद्भाव प्रथम गुणस्थानमे ही रहता है, आगेके गुणस्थानोमें नही। बन्धके कारणोमे जो अविरति और शेष एकदेश अविरति एव २८ मूलगुणोमे प्रवृत्तिरूप प्रमाद सम्मिलित है वे भी प्रथमगुणस्थानमे पाये जा सकते है, परन्तु वह अविरति जीवन-सरक्षणमें उपयोगी आरम्भी पापोंके रूपमे मानी जा सकती है, जीवनके लिए अनुपयोगी और हानिकर अनैतिक आचरणरूप सकल्पी पापोंके रूपमें नही, क्योकि अनैतिक आचरणरूप सकल्पी पापोका अन्तर्भाव मिथ्याचारित्रमें ही होता है।

अविरति तृतोय ओर चतुर्थ दोनो गुणस्थानोमे समानरूपसे पायी जाती है, परन्तु तृतीय गुणस्थानमे पायी जानेवाली अविरतिमें यह विशेषता रहती है कि वहाँ उसका सद्भाव दर्शनमोहनीयकर्मके भेद सम्य-

ग्मिथ्यात्वके उदयमे नोकर्मभूत हृदयके अवलम्बनसे होनेवाले व्यवहार सम्यग्मिथ्यात्वसे प्रभावित रहता है। इस अविरतिका उत्पादन प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोमे व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही होता है।

द्वितीय गुणस्थानमे मिथ्यात्वकर्मके उदयका अभाव रहनेके कारण मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानका अभाव हो जानेसे यद्यपि मिथ्याचारित्रका अभाव पाया जाता है तथापि अनन्तानुबन्धी कर्मका उदय रहनेके कारण नोकर्मभूत मनके अवलम्बनपूर्वक जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग या द्वेषपूर्वक अनैतिक आचाररूप सकल्पीपापके रूपमे अविरति वहाँ भी पायी जाती है। व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्य-ग्ज्ञानका अभाव रहनेके कारण आरम्भी पापरूप अविरतिका वहाँ अभाव ही माना जा सकता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवमे आरम्भी पापरूप अविरति तो रहती ही है परन्तु एकदेश अविरति या २८ मूलगुणोमें प्रवृत्तिरूप प्रमादका सद्भाव भी वहाँ संभव है। इसी प्रकार पचम गुणस्थानवर्ती जीवमें एकदेश अविरति तो रहती है, परन्तु उसमे २८ मूलगुणोमे प्रवृत्तिरूप प्रमाद भी सम्भव है। षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवमे बन्धका कारण केवल २८ मूलगुणोमें प्रवृत्तिरूप प्रमाद ही पाया जाता है और वह वहाँ नियमसे पाया जाता है।

सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोमे बन्धका कारण सज्वलन कषायके यथायोग्य मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपमे होनेवाले उदयके आधारपर यथायोग्य नोकर्मोंके अवलम्बनसे जीवकी भाव-वतीशक्तिके परिणमनस्वरूप यथासम्भव राग और द्वेषसे प्रभावित मानसिक, वाचनिक और कायिक योग ही होता है और वहाँ उसका सद्भाव अव्यक्तरूपमें ही पाया जाता है।

इस लेखके अन्तमे मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि श्री प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनीका एक लेख "कर्मबन्ध और उसके कारणोपर विचार" शीर्षकसे "वीरवाणी" पत्रिकाके वर्ष ४०, अक ९ व सयुक्त अंक ११-१२ में प्रकाशित हुआ है। उसमें प० जीने कुछ विषयको सशयरूपमे, कुछ विषयको अनध्य-वसाय एव कुछ विषयको विपर्ययरूपमें भी निबद्ध किया है उसका समाधान भी मेरे इस लेखसे हो सकता है, ऐसा विश्वास है।

आगममें कर्मबन्धके कारण

समयसारमें बन्धके कारणोंका उल्लेख :

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो ।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥

इन दो गाथाओंमे आचार्य कुन्दकुन्दने सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारके रूपमें बन्धके कारणोंका उल्लेख किया है। तथा विस्तारसे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली इन तेरह गुणस्थानोंके रूपमे कथन किया है।

इसका आशय यह है कि मिथ्यात्वादि चार बन्धके साधकतम कारण है और मिथ्यादृष्टि आदि तेरह गुणस्थान बन्धके अवलम्बन कारण है। अर्थात् जीवोंके जो कर्मबन्ध होता है वह मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके द्वारा होता है तथा वह तेरह गुणस्थानोंमें स्थित जीवोंमे यथायोग्य रूपमे होता है।

बन्धका मूलकारण योग

जीवमे कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाके आधारपर जो हलन-चलन रूप क्रियाव्यापार होता है वह योग है। वह योग जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणाम है और प्रथम गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तकके जीवोंमें प्रतिक्षण होता रहता है। वह एकेन्द्रिय जीवोंमे कायवर्गणाके अवलंबनसे, द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तकके जीवोंमे कायवर्गणा और वचनवर्गणाके अवलम्बनसे तथा संज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंमे काय, वचन और मन इन तीनों वर्गणाओंके अवलम्बनसे पृथक्-पृथक् होता है।

योगका कार्य

लोकमें व्याप्त ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारकी कर्मवर्गणाओंका उक्त सभी योगोंके आधारपर आस्रव होकर वे कर्मवर्गणाएँ, जो जीवके साथ सम्बद्ध होती है उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं और प्रत्येक कर्मवर्गणा जितने परिमाणमे जीवके साथ बद्ध होती है उसे प्रदेशबन्ध कहते है। इस तरह योगका कार्य प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध निर्णीत है।

गुणस्थानोंमे योगोंकी विशेषता

आठों कर्मोंकी आगममें १४८ प्रकृतियाँ बतलायी गयी है। उनमेंसे सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दोको छोडकर शेष १४६ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी है। इनमेंसे प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमे योगकी प्रतिकूलताके कारण नामकर्मकी तीर्थंकर, आहारकशरीर, आहारकबन्धन, आहारकसंघात और आहारकआंगोपांग इन पांच प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। परन्तु प्रथम गुणस्थानमें १४१ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य मानी गयी हैं।

मिथ्यात्वगुणस्थानमें बन्धयोग्य उन १४१ प्रकृतियोंमेंसे द्वितीय गुणस्थानमें १२५ प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य है, क्योंकि मिथ्यात्व, हुण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय), नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी

और नरकायु इन सोलह प्रकृतियोका बन्ध योगकी अनुकूलताके कारण प्रथम गुणस्थानमे ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण द्वितीय आदि गुणस्थानोमे सम्भव नही है।

द्वितीय गुणस्थानमे बन्धयोग्य १२५ प्रकृतियोमेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला–प्रचला, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, न्यग्रोघपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक और बामनसस्थान, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलितमहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु और उद्योत इन पच्चीस प्रकृतियोका बन्ध योगकी प्रतिकूलताके कारण द्वितीय गुणस्थान तक ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण तृतीय आदि गुणस्थानोमे सम्भव नही है। तथा योगकी प्रतिकूलताके कारण आयुर्बन्ध न होनेसे मनुष्यायु और देवायुका भी बन्ध तृतीय गुणस्थानमे सम्भव नही है। अत तृतीय गुणस्थानमे ९८ प्रकृतियोका ही बन्ध सम्भव है।

यत तृतीय गुणस्थानमे बन्धयोग्य ९८ प्रकृतियोका योगकी अनुकूलताके कारण चतुर्थ गुणस्थानमे भी बन्ध सम्भव है। तथा योगकी अनुकूलताके कारण तीर्थंकर प्रकृति, मनुष्यायु और देवायुका भी बन्ध चतुर्थ-गुणस्थानमें सम्भव है। अत चतुर्थगुणस्थानमें १०१ प्रकृतियाँ बन्धयोग सिद्ध होती है।

चतुर्थ गुणस्थानमे बन्धयोग प्रकृतियाँ १०१ मानी गयी है। इनमे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, वज्रर्षभनाराचसहनन, औदारिकशरीर, औदारिकबन्धन, औदारिकसघात और औदारिक-अङ्गोपाग तथा मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु इन बारह १२ प्रकृतियोका बन्ध योगकी अनुकूलताके कारण चतुर्थ गुणस्थानतक ही सम्भव है, योगकी प्रतिकूलताके कारण पचम आदि गुणस्थानोमें सभव नही है। अत पचम गुणस्थानमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ८९ सिद्ध होती है।

पचमगुणस्थानमे बन्धयोग्य इन ८९ प्रकृतियोमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोका षष्ठगुणस्थानमे बन्ध सम्भव नही है, अत इस षष्ठगुणस्थानमे योगकी अनुकूलताके कारण ८५ प्रकृतियोका ही बन्ध सम्भव है।

षष्ठ गुणस्थानमे बन्धयोग्य पचासी ८५ प्रकृतियोमेंसे अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश कीर्ति, अरति और शोक इन छह प्रकृतियोका बन्ध योगकी प्रतिकूलताके कारण सप्तम गुणस्थानमे सम्भव नही है। साथ ही योगकी अनुकूलताके कारण आहारकशरीर, आहारबन्धन, आहारकसघात और आहारकअगोपागका बन्ध सम्भव है, अत सप्तम गुणस्थानमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ८३ सिद्ध होती है।

सप्तम गुणस्थानमे बन्धयोग्य ८३ प्रकृतियोमेसे योगकी प्रतिकूलताके कारण देवायुका बन्ध अष्टम गुणस्थानमे सम्भव नही है, अत अष्टम गुणस्थानमें वियासी ८२ प्रकृतियोका ही बन्ध सम्भव हैं।

अष्टम गुणस्थानमें बन्धयोग्य इन वियासी ८२ प्रकृतियोमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण सर्वप्रथम निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोका बन्ध समाप्त होता है। इसके पश्चात् तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, तैजसबन्धन और तैजससघात, कार्मणशरीर, कार्मणबन्धन और कार्मणसघात, आहारकशरीर, आहारकबन्धन, आहारक सघात और आहारकअगोपाग, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकबन्धन, वैक्रियिकसघात और वैक्रियिक अगोपाग, समचतुरस्रसस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, स्पर्शनामकर्मके आठ भेद (हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, ठडा, और गरम) रसनामकर्मके पाँच भेद (खट्टा, मीठा, कडुआ, कसायला और चरपरा), गधनामकर्मके दो भेद (सुगन्ध और दुर्गन्ध) वर्णनामकर्मके पाँच भेद (काला, पीला, नीला, लाल और सफेद), अगरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक-

शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय इन चौवन (५४) प्रकृतियोका बन्ध समाप्त होता है और अन्तमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार (४) प्रकृतियोका बन्धविच्छेद होता है। इस तरह नवम गुणस्थानमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ बाईस (२२) रह जाती है।

नवम गुणस्थानमें बन्धयोग्य बाईस (२२) प्रकृतियोमेसे योगकी प्रतिकूलताके कारण क्रमसे पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियोका बन्ध समाप्त हो जानेसे दशम गुणस्थानमे योगकी अनुकूलताके कारण बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १७ सिद्ध होती है।

दशम गुणस्थानमें बन्धयोग्य १७ प्रकृतियोमेंसे योगकी प्रतिकूलताके कारण ज्ञानावरणकर्मकी ५ दर्शनावरण कर्मकी ४, अन्तरायकर्मकी ५ तथा उच्चगोत्र और यश कीर्ति इन १६ प्रकृतियोका बन्धाभाव होनेपर ११वें गुणस्थान उपशान्तमोह, १२वे गुणस्थान क्षीणमोह और १३वें गुणस्थान सयोगकेवलीमे योगकी अनुकूलताके कारण एक मात्र सातावेदनीय प्रकृतिका बन्ध होता है। तथा १४वे गुणस्थानमे योगका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण कर्मबन्धका सर्वथा अभाव ही है।

इस विवेचनका आशय यह है कि जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें विद्यमान आकर्षणशक्तिके आधारपर आकृष्ट होकर लोहेकी सुई चुम्बक पत्थरके साथ सम्बद्ध हो जाती है उसी प्रकार जीवमे विद्यमान योगकी अनुकूलताके आधारपर कर्मप्रकृतियोका आस्रव होकर वे कर्मप्रकृतिया जीवके साथ बन्धको प्राप्त होती है।

योगकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका आधार

कर्मप्रकृतियोके बन्धमें योगकी अनुकूलताको जो कारण माना गया है उसका आधार मोहनीयकर्मके उदयके साथ अन्य कारणसामग्री है। और उनके बन्धाभावमें योगकी प्रतिकूलताको जो कारण माना गया है उसका आधार मोहनीयकर्मके उपशम, क्षयोपशम या क्षयके साथ अन्य कारणसामग्री हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड और इस लेखका समन्वय

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस लेखमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १४६ कही गयी है, जबकि गोम्मटसार कर्मकाण्डमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० बतलाई गयी है। इन दोनो कथनोका समन्वय इसप्रकार करना चाहिए कि गोम्मट्टसार कर्मकाण्डमे जो १२० प्रकृतियाँ बन्धयोग्य बतलाई हैं उनमें बन्धकी समानताके कारण ८ स्पर्शोको स्पर्शसामान्यमे, ५ रसोको रससामान्यमें, २ गधोंको गन्धसामान्यमें और ५ वर्णोको वर्णसामान्यमें अन्तर्भूत कर लिया गया है। तथा एक साथ बन्ध होनेके कारण औदारिकशरीरमें औदारिकबधन और औदारिक संघातको, वैक्रियिकशरीरमे वैक्रियिकबधन और वैक्रियिकसघातको, आहारकशरीरमें आहारकबन्धन और आहारकसघातको, तैजसशरीरमे तैजसबन्धन और तैजससघातको तथा कार्मणशरीरमें कार्मणबन्धन और कार्मणसघातको समाहित कर लिया गया है। इसलिये बद्धचमान प्रकृतियाँ वास्तवमे १४६ होनेपर भी गोम्मटसार कर्मकाण्डमे उक्त प्रकार अभेदसे (अभेद विवक्षासे) १२० कही गयी है। फलत वास्तविकताके आधारपर इस लेखमे बन्धयोग्य प्रकृतियोकी सख्या १४६ बतलाना गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनके विरुद्ध नही है। इसीप्रकार प्रकृतियोके बन्धनके समान अबन्ध और बन्धव्युच्छित्तिको व्यवस्थामें गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनके साथ इस लेखमे पाये जानेवाले सख्याभेदका भी समन्वय कर लेना चाहिए।

यह भी यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती कहा गया है और मिथ्यात्वगुणस्थानमे बन्धयोग्य १४१ प्रकृतियोमें १६ प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही होता है, अन्य गुणस्थानोमें नही, परन्तु यह नियम नही है कि उन १६ प्रकृतियोंका बन्ध इस गुणस्थानमें

प्रत्येक जीवके होता ही है, क्योंकि ऐसा नियम स्वीकार करनेपर नरकायुका बन्ध प्रत्येक मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवके होनेका प्रसंग आयेगा, जो कर्मसिद्धान्तके विरुद्ध है। यतः कर्मसिद्धान्तमे इस गुणस्थानमे चारो आयुओका बन्ध स्वीकार किया गया है। साथ ही यह भी कर्मसिद्धान्तमे माना गया है कि एक आयुका बन्ध होनेपर जीवके दूसरी आयुका बन्ध उसी भवमे नही होता। तथा प्रथमगुणस्थानवर्ती, देव और नारकीको नरक आयुका बन्ध कदापि नही होता है।

दूसरी बात यह है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवमें मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध तभी तक होता है जब तक वह व्यवहारमिथ्यादर्शन (अतत्त्वश्रद्धान) और व्यवहारमिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्याआचरण करता है और जीव यदि व्यवहारसम्यग्दर्शन (तत्त्व श्रद्धान) और व्यवहारसम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्याआचरणको छोडकर अविरतिरूप या एकदेशअविरतिरूप या महाव्रतोमें प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध नही होता। यदि ऐसा न माना जाये तो समयसार गाथा २७५ के अनुसार अभव्य जीव तत्त्वश्रद्धानी और तत्त्वज्ञानी होकर जो अविरति-रूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आचरण करता है और उसके आधारपर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोको भी प्राप्त कर लेता है, यह जो आगमका कथन है वह अयुक्त हो जायेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि ऐसा अभव्य जीव नवम ग्रैवेयक तक जन्म लेकर स्वर्ग-सुखका उपभोग करता है, यह कथन भी अयुक्त हो जायेगा।

इससे यह निर्णीत होता है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती तो है, परन्तु जब तक मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक मिथ्या आचरण करता रहता है तभीतक उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध होता है और यदि वह जीव व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानपूर्वक अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय वह मिथ्यात्वकर्मका उदय रहते हुए भी मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियोका बन्ध नही करता है, भले ही वह जीव अभव्य ही क्यो न हो, क्योकि बन्धका आधार चरणानुयोगकी पद्धति है, करणानुयोगकी पद्धति नही।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके जीव करणानुयोगको पद्धतिके अनुसार मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती होते हुए भी चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार जबतक व्यवहार मिथ्यादर्शन (अतत्त्व श्रद्धान) और व्यवहार मिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्या आचरण करते हैं तभीतक वे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध करते हैं और यदि वे व्यवहारसम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) और व्यवहारसम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान) पूर्वक अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आच-रण करने लगते है तो वे उन प्रकृतियोका बन्ध नही करते हैं, क्योकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐसा न माननेपर अभव्य जीव स्वर्गसुखमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोकी प्राप्ति नही कर सकेगा। और न भव्य जीव उक्त चारो लब्धियोकी प्राप्तिके पश्चात् भेदविज्ञानपूर्वक करण लब्धिको प्राप्त कर सकेगा। और इस तरह इससे मोक्षप्राप्तिकी प्रक्रिया ही समाप्त हो जायेगी। इस विवेचनपर उन महानुभावोको ध्यान देना चाहिए, जो मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो-का बन्ध नियमसे मानते है।

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध तभी होता है जब जीव व्यवहारमिथ्यादर्शन (अतत्त्व श्रद्धान) और व्यवहार मिथ्याज्ञान (अतत्त्वज्ञान) पूर्वक मिथ्या आचरण

करता है, अन्यथा नहीं। इतना उल्लेखयोग्य है कि मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध न होते हुए भी जो उसका उदय रहता है उसका कारण पूर्वमें बद्ध मिथ्यात्वकर्मकी सत्ता है।

स्थितिबंध और अनुभागबधको व्यवस्था

अभी तक जितना विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि बन्धका मूल कारण नोकर्मोके सहयोगसे होनेवाला जीवकी क्रियावतीशक्तिका हलन-चलन-क्रियाव्यापाररूप योग ही है। यत. वह योग प्रथम गुणस्थानसे लेकर त्रयोदश गुणस्थान तकके जीवोमे प्रतिक्षण यथायोग्यरूपमे होता रहता है, अत कर्मबन्ध भी उन सभी जीवोंमें प्रतिक्षण होता रहता है और वह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके रूपमें दो प्रकार का होता है।

आगममें बतलाया गया है कि कर्मबन्ध प्रकृतिबध और प्रदेशबधके अलावा स्थितिबध और अनुभागबधरूप भी होता है, अत. कर्मबधके प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके रूपमें चार भेद माने गये है।

कर्मबन्धका जीवके साथ यथायोग्य नियतकाल तक बना रहना स्थितिबन्ध है और कर्मोमें जीवको फल देनेकी शक्तिका विकास होना अनुभागबंध है।

जिस प्रकार प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबंध ये दोनो योगके आधारपर होते है उसी प्रकार स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ये दोनों कषायके आधारपर होते है। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है —

मोहनीयकर्मके आगममे दो भेद कहे गये है—१. दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयकर्मके तीन भेद हैं १ मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व और ३ सम्यक्त्वप्रकृति। चारित्रमोहनीयकर्मके दो भेद है—१. कषायवेदनीय २ अकषायवेदनीय। कषाय-वेदनीयकर्मके मूलत चार भेद—१. क्रोध २ मान ३. माया ४. लोभ। ये चारो अन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनके रूपमें चार-चार प्रकारके है। तथा इनके उदयमे नोकर्मोके सहयोगसे कर्मबन्धके कारणभूत एवं जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप कषायभाव होते हैं तथा वे यदि क्रोध या मानरूप हो तो उन्हें द्वेष कहते है और यदि माया या लोभरूप हो तो उन्हें राग कहते है। इस प्रकार कर्मोके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारण यथायोग्य नोकर्मोकी सहायतापूर्वक होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग और द्वेपरूप कषायभाव ही है।

आगममे अकषायवेदनीय-चारित्रमोहनीयकर्मके जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुसक वेद ये नौ भेद कहे गये है उन्हे राग और द्वेपरूप कपायभावोके सहायक कर्म जानना चाहिए।

कर्मबन्धकी प्रक्रिया

मिथ्यात्वकर्मके उदयमें मिथ्यादृष्टिनामधारी प्रथमगुणस्थानवर्ती जीवको भाववतीशक्तिके यथायोग्य नोकर्मोके सहयोगसे व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानरूप परिणमन होते हैं व उनके होनेपर यथायोग्य नोकर्मोके सहयोगसे ही उसकी क्रियावतीशक्तिका मिथ्या-आचरण (मिथ्याचारित्र) रूप परिणमन होता है, जो कर्मबन्धका कारण होता है। यत वह मिथ्या आचरण अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमनस्वरूप राग व द्वेषरूप कपायभावोसे प्रभावित रहता है, अत. उस आचरणके आधारपर कर्मोके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध भी होते हैं।

अर्थात् वह आचरण योगरूप होनेसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण होता है व वह नियमसे जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग या द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है, इसलिए कर्मोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका भी कारण होता है।

इसी प्रकार वह आचरण यत. व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानपूर्वक होता है, उनके अभावमे नही होता और वह व्यवहारमिथ्यादर्शन व व्यवहारमिथ्याज्ञानपूर्वक नियमसे होता है, अत उक्त बन्धोमे मिथ्याआचरणके साथ व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञान भी परम्परया कारण होते हैं तथा मिथ्याआचरण साक्षात् कारण होता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि कर्मबन्ध चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार होता है, करणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार नही। अत मिथ्यात्वकर्मके उदयमे मिथ्यादृष्टिनामधारी प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव यदि अनुकूल निमित्तोका सहयोग मिलनेपर व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर ले तो उसका आचरण मिथ्यारूप न होकर अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमें प्रवृत्तिरूप ही होता है, जिससे वह जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय रहते हुए भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध नही करता है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मिथ्यारूप आचरण, अविरतिरूप आचरण, एकदेश-अविरतिरूप आचरण और महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूप आचरण—ये चारो योगके समान जीवकी क्रियावतीशक्तिके ही परिणमन हैं। इनमे जो विशेपता है वह यह है कि मिथ्या-आचरण अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होने-वाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। अविरतिरूप आचरण अप्रत्याख्यानावरण कर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेष-रूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। एकदेश अविरतिरूप आचरण प्रत्याख्यानावरणकर्मके उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। और महाव्रतोमें प्रवृत्तिरूप आचरण संज्वलनकर्मके तीव्र उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववती-शक्तिके परिणमन राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित रहता है। फलत उक्त चारो आचरण योगके समान जीवकी क्रियावतीशक्तिके नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले हलन-चलन रूप क्रियाव्यापार रूप होनेसे कर्मोंके प्रकृति-बन्ध और प्रदेशबधके कारण होते हैं व जीवको भाववतीशक्तिके नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले राग-द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित होनेके कारण स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके भी कारण होते है। तात्पर्य यह है कि उक्त चारो प्रकारके आचरणोमेसे प्रत्येक आचरण उक्त चारो बन्धोका कारण है। यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि अनन्तानुबन्धीकर्मके उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे जीवकी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो आचरण होता है वह आसक्तिवश होनेवाला सकल्पी पाप है।

अनन्तानुबन्धीकर्मका उदय प्रथम और द्वितीय इन दो गुणस्थानोमे स्थित जीवोके होता है। विशेषता यह है कि प्रथमगुणस्थानवर्ती जीवका यह आचरण दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे यथायोग्य नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहार-मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है। अत उसके आधारपर वह प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो-का बन्ध करता है। यत द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीवका वह आचरण व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहार-मिथ्याज्ञानपूर्वक नही होता, क्योकि द्वितीय गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम विद्यमान रहनेके कारण मिथ्यात्वकमके उदयका अभाव रहता है, अत वह द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोका बन्ध नही करता है और क्योकि उस जीवमें अनन्तानुबन्धीकर्मके उदयमे नोकर्मोंके सहयोगसे क्रियावतीशक्ति-

के परिणमन स्वरूप संकल्पी पापरूप आचरण होता ही रहता है। अत· उस आचरणके आधार पर वह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ आदि २५ प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य करता है।

तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोमें स्थित जीवोमे नियमसे अप्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय रहता है, अत उस उदयमें उक्त दोनो गुणस्थानवर्ती जीव निमित्तोके सहयोगसे अपनी क्रियावतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो आचरण करते है वह अशक्तिवश होनेवाला आरम्भी पाप है व उसीका नाम अविरति है।

वह अविरति तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवमे दर्शनमोहनीयकर्मकी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें नोकर्मों-के सहयोगसे जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन स्वरूप जो सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रभाव होता है उसके अनुसार ही कर्मबंधका कारण होती है तथा चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवमे यत दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबंधीकर्मकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षयोपशम या क्षय विद्यमान रहता है, अत वह अविरति उन कर्मोके उदयकी अपेक्षाके विना ही कर्मबन्धका कारण होती है। यही कारण है कि जहाँ तृतीयगुणस्थानवर्ती जीव ९८ प्रकृतियोका बन्ध करता है वहाँ चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायुके साथ उन ९८ प्रकृतियोका बन्ध करता है। तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवमे तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायु इन प्रकृतियोंका बन्ध इसलिए नही होता कि कर्मसिद्धान्तमे इस गुणस्थानमें उनके बन्धका निषेध किया गया है और चतुर्थ-गुणस्थानमें इसलिए उनका बन्ध होता है कि कर्मसिद्धान्तमे उसमे इन प्रकृतियोंके बधका विधान किया गया है। तीर्थंकरप्रकृतिका बध चतुर्थ गुणस्थानमे इसलिए होता है कि उसका बध कर्मसिद्धान्तके अनुसार निश्चय-सम्यग्दृष्टि जीवके ही होता है।

पचम गुणस्थानवर्ती जीवमे अप्रत्याख्यानावरणकर्मके क्षयोपशमके साथ प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय रहता है, अत· वहाँ उस उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियावतीशक्तिकी परिणतिस्वरूप एकदेश अविरति ही बन्धका कारण होती है।

षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण दोनो कर्मोके क्षयोपशमके साथ संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है। अत उस उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे जीवकी क्रियावतीशक्तिका प्रमादरूप परिणमन ही बन्धका कारण होता है।

सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोंमें संज्वलनकषायका उत्तरोत्तर मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे उदय रहता है और उस उदयमें नोकर्मोंके सहयोगसे अव्यक्तरूपमें जीवकी क्रियावतीशक्ति-का जो परिणमन होता है वही वहाँ बधका कारण होता है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानसे लेकरके षष्ठ गुणस्थानतक होनेवाला यथायोग्य मिथ्यात्वरूप, अविरति-रूप, एकदेश अविरतिरूप और महाव्रतोंमें प्रवृत्तिरूप जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो स्थूल रूपमें परिणमन होता है वह परिणमन कर्मोके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारों बधोंका कारण होता है। तथा सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोंमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो अबुद्धिपूर्वक परिणमन होता है वह भी कर्मोंके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चारों प्रकारके बधका कारण होता है क्योंकि [illegible] उत्तरोत्तर [illegible] उदयमें [illegible] रहते हैं। ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोंमें जीवकी क्रियावतीशक्तिका [illegible]

परिणमन ही मात्र प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण होता है। यत १४वें गुणस्थानमे योगका सर्वथा अभाव रहता है, अत' वहाँ उस जीवमें कर्मबन्धका भी सर्वथा अभाव रहता है।

इसके अतिरिक्त प्रथम गुणस्थानसे लेकर षष्ठ गुणस्थानतकके जीवोमे व्यक्तरूपमे और सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोमे अव्यक्तरूपमे जीवकी क्रियावतीशक्तिका जो पुण्यकर्मरूप व्यापार होता रहता है वह भी यथायोग्य उस-उस कषायके उदयमें होनेवाले जीवकी भाववतीशक्तिके परिणमन राग या द्वेषरूप कषायभावसे प्रभावित होनेसे जीवकी क्रियावतीशक्तिका परिणाम है व उसके आधारपर भी उन जीवोंमे कर्मोंका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकारका वन्ध होता है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानको कर्मबन्धका परम्परया कारण माना गया है उस प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानको कर्मबन्धका साक्षात् या परम्परया कारण नही माना जा सकता है, क्योकि व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान कर्मबन्धके कारण न होकर उसके अभावके ही कारण होते है। अतएव चतुर्थ गुणस्थानमें मात्र अविरति ही कर्मबन्धका कारण होती है व पचम गुणस्थानमें मात्र एकदेश अविरति ही कर्मबन्धका कारण होती है तथा षष्ठ गुणस्थानमे मात्र महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूपता ही कर्मबन्धका कारण होती है।

निष्कर्ष :

प्रथमगुणस्थानवर्ती जीव इसलिए अज्ञानी है कि उसके मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है और तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव इसलिए अज्ञानी है कि उसके सम्यग्मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है। यद्यपि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीवमे दर्शनमोहनीयकर्मकी प्रकृतियोका उपशम रहता है, परन्तु वह जीव अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयमे आसक्तिवश सकल्पीपाप भी करता रहता है। इसलिए उसे ज्ञानी नही कहा जा सकता है, उसे भी आगममे अज्ञानी ही कहा गया है। समयसार गाथा ७२ की आत्मख्यातिटीकामे स्पष्ट लिखा है कि जो जीव भेदज्ञानी होकर भी आस्रवोमें प्रवृत्त रहता है उसे भेदविज्ञानी नही कहा जा सकता है और यही कारण है कि जीवको निश्चयसम्यग्दृष्टि बननेके लिए दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम या क्षयके साथ अनन्तानुबन्धीकर्मके उपशम या क्षयको भी कारण माना गया है। फलत चतुर्थगुणस्थानमें जीवको होनेवाले कर्मबन्धमें मात्र अविरति ही कारण होती है, पचमगुणस्थानमे जीवको होनेवाले कर्मबन्धमें मात्र एकदेश अविरति ही कारण होती है और षष्ठ गुणस्थानमें जीवको होनेवाले कर्मबन्धमे मात्र महाव्रतोमे प्रवृत्तिरूपता ही बन्धका कारण होती है, क्योकि जबतक जीव अज्ञानधारामे वर्तमान रहता है तबतक ही उस जीवके कर्मबन्धमे व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानको कारण माना गया है और जब जीव ज्ञानी हो जाता है अर्थात् निश्चयसम्यग्दृष्टि हो जाता है तो केवल अविरतिरूप या एकदेश अविरतिरूप या महाव्रतोमें प्रवृत्तिरूप कर्मधारा ही जीवके कर्मबन्धमे कारण होती है। इसी तरह सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोके जो कर्मबन्ध होता है वह भी कर्मधाराके आधारपर ही होता है, इसलिए सप्तम गुणस्थानसे दशम गुणस्थानतक जीवोमें ज्ञानधाराके साथ कर्मबन्धमे कारणभूत कर्मधाराका सद्भाव स्वीकार किया गया है। इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट है कि प्रथम गुणस्थानसे तृतीय गुणस्थानतकके जीवोमे अज्ञानधारापूर्वक कर्मधारा बन्धकी कारण होती है व चतुर्थ गुणस्थानसे षष्ठ गुणस्थानतकके जीवोमे व्यक्तरूपसे व सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतकके जीवोमें अव्यक्तरूपसे मात्र क्रियाधारा ही यथायोग्य राग-द्वेषरूप कषाय भावोसे प्रभावित होती हुई कर्मबन्धका कारण होती है। इत्यलम्।

गोत्रकर्मके विषयमें मेरा चिन्तन

८ अगस्त सन् १९५७ के जैनसदेशमे श्रीब्रह्मचारी पं० रतनचदजी सहारनपुर द्वारा परिचालित "शंका-समाधान" प्रकरणमें निम्न प्रकार शका और उसका समाधान किया गया था।

" शंका१—नीच-उच्चगोत्र जन्मसे है या कर्मसे ? क्या बौद्धधर्ममे दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री न माने जायेगे ? अव्रत रहते हुए भी क्या गोत्र बदल सकता है ?

समाधान—षट्खण्डागम पुस्तक १३, पृष्ठ ३८८ पर उच्चगोत्रके कार्यके विषयमे यह शका उठाई गयी है कि उच्चगोत्रका कार्य राज्यादि सपदाकी प्राप्ति, महाव्रतो, अणुव्रतो तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति, इक्ष्वाकु कुल आदिमे उत्पत्ति नही है क्योकि इनसे अन्यत्र जीवमें भी उच्चगोत्रका उदय पाया जाता है। इसलिये उच्चगोत्र निष्फल है, उसमें कर्मपना भी घटित नही होता ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन स्वामीने लिखा है (१) उच्चगोत्र न माननेसे जिन वचन (आगम) से विरोध आता है, (२) केवलज्ञानद्वारा विषय किये गये सभी अर्थोमें छद्मस्थोके ज्ञान प्रवृत्त भी नही होते है। यदि छद्मस्थोको कोई अर्थ उपलब्ध नही होते हैं तो इससे जिनवचनोको अप्रमाण नही कहा जा सकता। (३) गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नही है क्योकि जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालोके साथ जिन्होने संबन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इसप्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त है—उन पुरुषोकी परम्पराको उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमे उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है।

षट्खण्डागमकी धवलाटीकाके इस कथनसे यह बात स्पष्ट है कि हमको उच्चगोत्रके विषयमे विशेष जानकारी नही है। इसपर भी जन्मसे उच्चगोत्र कहा है तथा कहीपर कर्मसे भी। जैन चक्रवर्तीके सबधी म्लेच्छखण्डी जो चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आकर दीक्षित हो गये थे वे कर्मसे उच्चगोत्र वाले है। बौद्धधर्ममें दीक्षित शूद्र ५० साल पश्चात् उच्चगोत्री नही हो सकता। अव्रत रहते हुए गोत्र-परिवर्तन नही हो सकता, ऐसा समझमे आता है।"

मैंने जो शका-समाधानका यह अवतरण यहाँपर दिया है, उसका कारण यह है कि पाठक प्रत्येक बातको ठीक तरहसे समझ सकें। मेरा सामान्यरूपसे ख्याल यह है कि विद्वान वस्तुतत्त्वके निर्णयमे आगमकी अपेक्षा तर्कसे काम लें और उसका आगमके साथ केवल आवश्यक समन्वय मात्रका ध्यान रखें, तो संस्कृति सबधी बहुत-सी गुत्थियाँ अनायास सुलझ जावेंगी, इस तरह विद्वान् सस्कृति और समाजके महान् उपकारक सिद्ध होगे।

कर्मसबधी गुत्थी भी वडी जटिल है। उसके एक अश गोत्रके विपयमें यहाँपर विचार किया जा रहा है। समयानुसार अन्तराय आदि दूसरे अशोपर भी विचार किया जायगा।

गोत्रकर्मपर विचार करनेसे पहले मैं पाठकोको एक बात सुझाना चाहता हूँ कि फल देनेमें कर्मके लिये नोकर्म सहायता प्रदान करता है। आगममे भी नोकर्मको कर्मका सहायक कर्म माना गया है, इसका अभिप्राय यही है कि कर्म जीवको अपना फल देनेमे नोकर्मके साहाय्यकी अपेक्षा रखता है।

यह बात इतनी स्पष्ट होते हुए भी आधुनिक और बहुतसे भूतकालीन विद्वानोंने इस सिद्धान्तको मान्यता दे रखी है कि कर्म और नोकर्ममे भी कार्य-कारणभाव है अर्थात् जीवको कर्मफल भोगनेमे नोकर्मका

समागम भी कर्मसे ही प्राप्त होता है। जैसे—साता और असाता वेदनीय कर्मोका कार्य जीवको क्रमश साता और असाताका अनुभव कराना है। लेकिन विद्वान् मानते है कि साता और असातारूप अनुभवनके अनुकूल साधनोको जुटाना भी क्रमश साता और असाता वेदनीय कर्मोंका ही कार्य है।

यहाँपर हमे (विद्वानोको) क्रम-से-कम यह तो सोचना चाहिये कि जब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल सहायक साधनोके अभावमे नही दे सकते है तो फिर सहायक साधनोको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोंका कार्य कैसे माना जा सकता है ? कारण कि सहायक साधनोको जुटाना कर्मका फल मान लेनेसे उक्त मान्यताके अनुसार उसमें भी सहायक साधनोके समागमकी आवश्यकता उत्पन्न हो जायगी, इस तरह साता और असाता वेदनीय कर्मोके कार्यमे अनवस्थिति दोषका प्रसग उपस्थित हो जायगा। इसलिये यही मानना उचित है कि सहायक साधनोको जुटाना साता और असाता वेदनीय कर्मोका कार्य नही है, बल्कि स्वपुरुषार्थ या परपुरुषार्थसे अथवा अन्य प्रकारसे अनायास ही जीवको जब साता-सामग्री या असाता सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब साता और असाता वेदनीय कर्म जीवको अपना फल साता और असाताके रूपमें देने लगते है। बस ! यही बात उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोके विषयमें भी समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्मोका कार्य जीवमे क्रमश उच्चता और नीचताका व्यवहार कराना है। परन्तु उच्चगोत्र कर्म जीवमें उच्चताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) उच्चकुलमे पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोकी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार नीचगोत्रकर्म जीवमे नीचताका व्यवहार करानेके लिये उसके (जीवके) नीचकुलमे पैदा होने अथवा उसकी (जीवकी) नीच आचाररूप प्रवृत्ति होने रूप सहायक साधनोकी अपेक्षा रखता है, इसप्रकार जीवका उच्चकुलमे पैदा होना अथवा उसकी उच्च-आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्रकर्मका तथा जीवका नीच कुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मका कार्य कदापि नही माना जा सकता है। अन्यथा पूर्वोक्त प्रकारसे अनवस्थिति दोषका प्रसग साता और असाता वेदनीय कर्मोंकी तरह यहाँपर भी उपस्थित हो जायगा।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीवका उच्च या नीच कुलमे पैदा होना अथवा उसकी उच्च या नीच आचारणरूप प्रवृत्ति होना उच्च और नीचगोत्र कर्मोंका कार्य नही है बल्कि कोई जीव जब उच्चकुलमे पैदा होता है अथवा उच्च आचाररूप प्रवृत्ति करने लगता है तो इनकी सहायतासे उच्चगोत्रकर्म उस जीवमे उच्चताका व्यवहार कराने लगता है। इसी तरह जब कोई जीव नीचकुलमे पैदा हो जाता है अथवा नीच आचार-रूप प्रवृत्ति करने लगता है तब इनकी सहायतासे नीचगोत्रकर्म उस जीवमे नीचताका व्यवहार कराने लगता है।

जीवका उच्चकुलमे पैदा होना अथवा उसकी उच्च आचाररूप प्रवृत्ति होना उच्चगोत्र कर्मके और जीवका नीचकुलमें पैदा होना अथवा उसकी नीच आचाररूप प्रवृत्ति होना नीचगोत्रकर्मके नोकर्म (सहायक कर्म) होनेके कारण ही लोक जीवमे उच्चता और नीचताका व्यवहार जन्मना और कर्मणा दोनो प्रकारसे किया करता है। परन्तु जैन सस्कृति जन्मसे उच्च-नीच व्यवहारको महत्त्व नही देती है। वह तो जीवकी उच्च और नीच आचाररूप प्रवृत्तियोसे ही उसमें (जीवमे) उच्च और नीच व्यवहारकी हामी है। यही कारण है कि जैन सस्कृतिमे गोत्र-परिवर्तनका सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और यह बात इसलिये असगत नही मानी जा सकती है कि कन्या जब विवाहित हो जाती है, तो उसका पितृगोत्रसे सबध विच्छेद होकर पतिगोत्रसे सबन्ध स्थापित हो जाता है।

जैन संस्कृतिमे जीवकी उच्च-नीच आचार-प्रवृत्तियोके आधारपर ही उसमे (जीवमे) उच्च-नीच व्यवहार माननेका मुख्य कारण यह है कि वहाँपर (जैन सस्कृतिमें) उच्च और नीच सभी प्रकारके कुलोकी व्यवस्था भी उस-उस प्रकारके उच्च और नीच आचारके आधारपर ही स्वीकार की गयी है। जैसे—चमारके कुलमें उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति चमार तो कहलाता है परन्तु वह कुल, जो चमार कहलाता है, उसका मूलकारण यही है कि उस कुलमे चमडेका कार्य किया जाता है। इसीप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों तथा सुनार, लुहार, बढई, कुम्हार आदि जातियो (जो कुलके ही नामान्तर है) के नामकरण भी मनुष्योके उस-उस प्रकारके आचारके आधारपर ही स्वीकार किये गये है। लोकमें उक्त सभी प्रकारके आचारोमेसे जिस-जिस आचारको उच्च माना गया है उसके आधारपर उस कुलको उच्च और जिस-जिस आचारको नीच माना गया है उसके आधारपर उस-उस कुलको नीच मान लिया गया है।

यद्यपि देशविशेष, प्रान्तविशेष, व्यक्तिविशेष आदि दूसरे विविधप्रकारके आधारोपर भी जातियोका निर्माण हुआ है। परन्तु जीवोकी उच्चता और नीचताके व्यवहारमे इनका कुछ भी उपयोग नही होता। इसी प्रकार जैन, बौद्ध, वैष्णव, आर्यसमाज, मुसलमान, ईसाई आदि जातियोंका निर्माण उस-उस संस्कृतिकी मान्यताके आधारपर हुआ है। लेकिन इनको भी जीवोकी उच्चता और नीचताका द्योतक नही माना जा सकता है।

प्राय लोगोका ख्याल है कि धर्माचरण उच्चताका और अधर्माचरण नीचताका व्यवहार करानेमे कारण है परन्तु उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत है, कारण कि लोकव्यवहारमे यह भी देखा जाता है कि अधर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण उच्चगोत्री माना जाता है और धर्माचरण करनेवाला शूद्र नीचगोत्री ही माना जाता है। जैन सस्कृतिमें भी मिथ्यादृष्टि जीवोको भी उच्चगोत्री और देशविरत (पंचम गुणस्थानवर्ती) जीवोको भी नीचगोत्री स्वीकर किया गया है।

इस तरह यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक जीवके कुलपरपरागत जीवन-सरक्षणके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंकी उच्चता और नीचताके आधारपर ही उनमें उच्चता और नीचताका व्यवहार करना उचित है।

"सतानकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्च णीच चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥"—(गोम्मटसारकर्मकाण्ड)।

यह गाथा भी हमे यही उपदेश देती है कि जीवों द्वारा अपने जीवनसरक्षण (जीविका)के लिये अपनाया गया जो कुलपरम्परागत पेशा है वही गोत्र है। वह गोत्र (पेशा) उच्च और नीच दो प्रकारका है।

गाथामे गोत्रसम्बन्धी यह वर्णन वास्तवमे मनुष्यजातिको लक्ष्यमे रखकर किया गया है। फिर भी इतना तो निश्चित समझना चाहिये कि गाथाके "जीवाचरण" शब्दका अर्थ जीविका (जीववृत्ति) ही है। इस तरह नारकजातिके जीवोमें या तो जीवनवृत्तिका सर्वथा अभाव है अथवा उनकी जीववृत्ति कष्टमय है, इस तरह नारकियोकी जीवनवृत्तिमें नीचताका व्यवहार उपयुक्त होनेके कारण सभी नारकी जीव नीचगोत्री माने गये है। तिर्यग्गतिके जीवोकी जीवनवृत्ति क्रूरता और दीनताको लिये हुए कष्टमय होनेके कारण नीच है, अतः सभी तिर्यंच भी नीचगोत्री ही माने गये है। देवोंकी वृत्तिको सात्त्विकवृत्ति कहा जा सकता है, अतः सभी देव उच्चगोत्री मान लिये गये है। मनुष्यवर्गको चार भागोमे विभक्त किया गया है। उनमेसे ब्राह्मणोकी वृत्तिको सात्त्विक तथा क्षत्रियों और वैश्योकी वृत्तिको राजस माना गया है। ये दोनो प्रकारकी वृत्तियाँ लोकमे उच्च

मानी गयी है। अत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके सभी मनुष्य उच्चगोत्री माने गये है। शूद्रोकी वृत्ति दीनवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति है। लोकमे तामसवृत्ति नीचवृत्ति कही जाती है, अत सभी शूद्र नीचगोत्री माने गये है। इनके अतिरिक्त म्लेच्छवृत्तिको अपनानेवाले भी मनुष्य होते है। म्लेच्छवृत्ति भी चूँकि क्रूरवृत्ति होनेके कारण तामसवृत्ति मानी गयी है, अत. म्लेच्छमानव भी नीचगोत्री माने गये है। भोगभूमिके तिर्यच-दीनवृत्तिके कारण नीचगोत्री और भोगभूमिके मनुष्य सात्विकवृत्तिके कारण उच्चगोत्री माने गये है। इस तरह मानवजातिमे उच्च और नीच दोनो गोत्रवाले जीवोका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

जो मनुष्य अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुमार्गको अपना लेते है उनकी वृत्ति जैन सस्कृतिके अनुसार सात्विक हो जाती है। अतः साधुओकी श्रेणीमे पहुँचा हुआ नीचगोत्री मनुष्य भी उस हालतमें उच्चगोत्री हो जाता है। इस तरह शूद्रको नीचगोत्री होनेके कारण दीक्षा लेनेका जो निषेध किया जाता है, वह उचित नही है बल्कि यही मानना उचित है कि यदि कोई शूद्र कदाचित् अपने गार्हस्थ्य जीवनको लाँघकर साधुजीवनमे प्रवेश कर जाये, तो उसका नीचगोत्र बदलकर उच्चगोत्र हो जायगा। कारण कि साधुजीवनमें प्रवेश पानेसे उसकी गार्हस्थ्यजीवन सम्बन्धी शूद्रकुलवृत्ति समाप्त होकर साधुजीवन सम्बन्धी सात्विकवृत्ति हो जावेगी। यदि कहा जावे कि कम-से-कम अस्पृश्य शूद्रको तो दीक्षा लेनेका निषेध होना ही चाहिये, तो मैं कहूँगा कि शूद्रोमे अस्पृश्यता और स्पृश्यताका भेद ब्राह्मण (वैदिक) संस्कृतिकी ही देन है। जैन संस्कृतिमे अस्पृश्यताको कोई स्थान प्राप्त नही है।

ऊपरके कथनसे यद्यपि यह बात सिद्ध होती है कि शूद्र बौद्ध संस्कृतिमे दीक्षित होनेपर ५० वर्ष बाद भी उच्चगोत्री नही हो सकता है, कारण कि कोई भी सस्कृति गोत्रपरिवर्तनमे कारण नही होती है। परन्तु संस्कृति बदले या न बदले, फिर भी यदि कौलिक आचार (जीवनवृत्ति) बदल जाता है तो किसी भी समय शूद्र (नीचगोत्री) उच्चगोत्री और उच्चगोत्री नीचगोत्री हो जायगा। इससे इस बातका भी निषेध हो जाता है कि अव्रत रहते हुए गोत्रपरिवर्तन नही हो सकता है। कारण कि धर्म उच्चगोत्रका और अधर्म नीचगोत्रका कारण नही है। साधुजीवनको जो गोत्रपरिवर्तनमे कारण माना है वह धार्मिक वृद्धिके कारण नही, बल्कि जीवनवृत्ति बदल जानेके कारण ही वहाँ गोत्रपरिवर्तन माना गया है।

उक्त विषयको कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी स्पष्ट कर देना मैं उचित समझता हूँ—आयुकर्मकी सब प्रकृतियोको छोडकर शेष सातावेदनीय और असातावेदनीय, उच्चगोत्र और नीचगोत्र तथा चारो गति आदि परस्पर विरोधी जितनी कर्मप्रकृतियाँ है उन सबकी प्रत्येक जीवमें अपनी-अपनी सीमा तक एक साथ सत्ता स्वीकार की गयी है। इन प्रकृतियोके बन्धके विषयमें ऐसा कोई नियम नही है कि नीचगोत्री उच्चगोत्रका और उच्चगोत्री नीचगोत्रका बन्ध नही करता है बल्कि यहाँ तक सभव है कि कोई जीव प्रथम क्षणमें यदि नीचगोत्रका बन्ध कर रहा हो तो वही जीव द्वितीय क्षणमें उच्चगोत्रका भी बन्ध कर सकता है। यही बात उक्त साता और असाता वेदनीय तथा चारो गति आदि सभी परस्पर विरोधी प्रकृतियोमें भी लागू होती है। इन सब प्रकृतियोकी अन्तरालरहित निषेक रचना अपने-अपने अबाधाकालको छोडकर स्थितिके अनुसार बन्धके साथ ही हो जाया करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ तक संभव है वहाँ तक एक भी क्षण ऐसा परिलक्षित नही होता, जिस क्षणमें परस्पर विरोधी उक्त कर्मप्रकृतियोंके निषेकोकी सत्ता न पायी जाती हो। प्रत्येक कर्मप्रकृतिके प्रत्येक निषेकका अपने-अपने समयमें खिरनेका नियम है। इस तरह जिस क्षणमे उच्चगोत्रका निषेक खिरता है उसी क्षणमे उसका विरोधी नीचगोत्रका निषेक भी खिरता है। यह खिरना तीन प्रकारसे सभव है—सक्रमण होकर, फल देकर और फल न देकर। संक्रमणका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र-

का निषेक कभी-कभी नीचगोत्रका निषेक बनकर खिरता है और इसी तरह नीचगोत्रका निषेक कभी-कभी उच्चगोत्रका निषेक बनकर खिरता है। फल देकर और फल नही देकर खिरनेका अर्थ यह है कि यदि खिरते समय उच्चगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो उच्चगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उस समय नीचगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। इसी तरह यदि खिरते समय नीचगोत्रके निषेकको नोकर्मकी सहायता प्राप्त हो जाती है तो नीचगोत्रका निषेक तो फल देकर खिरता है और उच्चगोत्रका निषेक बिना फल दिये ही खिर जाता है। यही व्यवस्था साता और असाता आदि परस्पर विरोधी सभी कर्मप्रकृतियोके निषेकोके खिरनेमे लागू होती है।

कर्मसिद्धान्तके इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवको एक ही भवमे जिस प्रकार अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी सातावेदनीय और कभी असातावेदनीय कर्म अपना फल देते रहते हैं। इसी प्रकार जीवको एक ही भवमे अपने-अपने अनुकूल नोकर्मकी सहायतासे कभी उच्चगोत्र और कभी नीचगोत्र कर्म भी अपना-अपना फल दे सकते है। चूँकि नारकी, तिर्यंच, देव इन तीनो गतियोमे तथा भोगभूमिमें कही उच्चगोत्रका और कही नीचगोत्रका ही नोकर्म नियमसे रहता है, अत नारकियो, तिर्यंचो, देवों और भोगभूमिके तिर्यंचो तथा मनुष्योका गोत्रपरिवर्तन नही होता है। परन्तु कर्मभूमिज मनुष्योके जीवनमे पूर्वोक्त प्रकार जीवनवृत्ति बदलनेकी सभावनाके आधारपर उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनोके नोकर्ममे परिवर्तनकी संभावना बनी रहती है, अत कर्मभूमिज मनुष्योके गोत्रपरिवर्तन स्वीकार किया गया है।

भुज्यमान आयुमें अपकर्षण और उत्कर्षण

कई विद्वानोका ऐसा मत है कि भुज्यमान किसी भी आयुमें उत्कर्षणकरण नही होता, अपकर्षणकरण भी भुज्यमान तिर्यंगायु और मनुष्यायुमे ही हो सकता है, कारण इन दोनोकी उदीरणा सभव है। भुज्यमान देवायु और नरकायु अनपवर्त्य होनेके कारण उदीरणारहित है, इसलिये इनमें अपकर्षणकरण भी नही होता है। आयुकर्ममे यदि उत्कर्षण, अपकर्षणकरण हो तो वे वध्यमानमे ही होगे।

वध्यमान आयुमें उत्कर्षण, अपकर्षणकरण होते हैं, इसमे किसीका विवाद नही, लेकिन अभीतक मेरा ख्याल है कि भुज्यमान सम्पूर्ण आयुओमें भी उत्कर्षण, अपकर्षणकरण हो सकते है, इसका कारण यह है कि भुज्यमान तिर्यंगायु और मनुष्यायुकी उदीरणा तो सर्वसम्मत है; भुज्यमान देवायु और नरकायुकी भी उदीरणा सिद्धान्तग्रन्थोंमे बतलाई हैं—

संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व-आऊणं ।। गोम्मट० कर्म० गा० ४४१।

एक सक्रमणकरणको छोडकर बाकीके बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना ये नवकरण सपूर्ण आयुओमे होते है।

किसी भी कर्मकी उदीरणा उसके उदयकालमें ही होती है, कारण उदीरणाका लक्षण निम्न प्रकार माना गया है —

अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थि तं ।। गो० कर्म० गा० ४३९।

सं० टी०—उदयावलिवाह्यस्थितस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावल्या निक्षेपणमुदीरणा खलु।

उदयावलीके द्रव्यसे अधिक स्थितिवाले द्रव्यको अपकर्षणकरणके द्वारा उदयावलीमे डाल देना अर्थात् उदयावलीप्रमाण उस द्रव्यकी स्थिति कर देनेका नाम उदीरणा है। उदयगतकर्मके वर्तमान समयसे लेकर आवली पर्यन्त जितने समय हो उन सबके समूहको उदयावली कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कर्मकी उदीरणा उसके उदय हालतमें ही हो सकती है।

परभव-आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेण ।। —गो०कर्म० गा० १५९।

यह नियम स्पष्टरूपसे परभवकी (वध्यमान) आयुकी उदीरणाका निषेध कर रहा है।

उदयाणमावलिह्मि च उभयाण बाहिरम्मि खिवणट्ठ। लब्धिसार, गा० ६८।

अर्थात्—उदयावलीमे उदयगत प्रकृतियोंका ही क्षेपण होता है। उदयावलीके बाहिर उदयगत और अनुदयगत दोनो तरहकी प्रकृतियोका क्षेपण होता है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिस कर्मका उदय होता है उसीका उदयावली-बाह्यद्रव्य उदयावलीमे दिया जा सकता है। इसलिये देवायु और नरकायुकी उदीरणा क्रमसे देवगति और नरकगतिमें होगी, अन्यत्र नही, अर्थात् भुज्यमान देवायु और नरकायुकी ही उदीरणा हो सकती है, वध्यमान की नही।

शंका—परभव-आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेव ।। —गो० कर्म० गा० ९१८।

सं० टीका—परभवायुषो नियमेनोदीरणा नास्ति, उदयगतस्यैवोपपादिकचरमोत्तमदेहा-संख्येयवर्षायुर्भ्योऽन्यत्र तत्संभवात् ।।

अर्थात्—परभवकी (वध्यमान) आयुकी नियमसे उदीरणा नही होती, कारण कि देव, नारकी,

चरमोत्तमदेहके धारक तथा असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य-तिर्यंचोको छोडकर बाकीके जीवोके उदयगत आयुकी ही उदीरणा सभव है। इस कथनसे यह बात निकलती है कि देवायु और नरकायुकी उदीरणा ही नही होती है तथा पूर्वकथनसे यह सिद्ध होता है कि देवायु और नरकायुकी भी उदीरणा होती है, इसलिये शास्त्रोमें ही पूर्वापर विरोध आता है ?

उत्तर—शास्त्रोमे उदीरणा दो तरहकी बतलायी है—एक तो अन्य निमित्तसे मरण हो जानेको उदीरणा कहते है, दूसरी स्वत आत्माकी क्रियाविशेषसे उदयावली बाह्यद्रव्यको उदयावलीमे डाल देनेको उदीरणा कहते है। ऐसी उदीरणा देवायु और नरकायुकी भी होती है, उदीरणामरण नही होता। आचार्य-कल्प प० टोडरमलजी इस शकाका निरास इस प्रकार करते हैं—"बहुरि उदीरणाशब्दका अर्थ जहाँ देवादिकके उदीरणा न कही तहाँ तो अन्य निमित्ततै मरण होय ताका नाम उदीरणा है। अर दश करणनिके कथनविषें उदीरणाकरण देवायुके भी कहा, तहाँ ऊपरके निषेकनिके द्रव्यको उदयावली विषे दीजिये, ताका नाम उदीरणा है —मोक्ष० प्रकाश, पुस्तकाकार, पृ०–४२१।

इस प्रकार शास्त्रके दोनो प्रकारके कथनोको आपेक्षिक कथन स्वीकार करनेसे पूर्वापर-विरोधकी शका नही रहती है।

कर्मोकी उदीरणा अपकर्षणपूर्वक ही होती है। जबतक कर्मके द्रव्यकी स्थितिका अपकर्षण नही होगा तबतक उस द्रव्यका उदयावलीमें प्रक्षेप नही हो सकता है, कारण कि उदयावलीमें प्रक्षेपका मतलब ही यह है कि जो कर्मद्रव्य अधिक समयमे उदय आने योग्य था वह अब उदयावलीमे ही उदय आकर नष्ट हो जायगा। इसी अभिप्रायसे कर्मकाण्डकी सस्कृत टीकाकारने उदीरणाके लक्षणमे "अपकर्षणवशात्" यह पद दिया है।

इस कथनसे भुज्यमान देवायु और नरकायुमे अपकर्षणकरण होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

"हाणी ओक्कट्टण णाम", "उक्कट्टणं हवे वड्ढी" ॥ गो० कर्म० गा० ४३८।

स० टी०—स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणम्, स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिरुत्कर्षणम् ॥

कर्मोकी स्थिति और अनुभागको घटा देना अपकर्षण है और बढा देना उत्कर्षण है। शुभ प्रकृतियोके स्थिति और अनुभागमे कमी संक्लेशपरिणामोसे होती है और वृद्धि विशुद्ध परिणामोसे होती है। अशुभ प्रकृतियोकी स्थिति और अनुभागमें हानि विशुद्ध परिणामोसे होती है और वृद्धि सक्लेशपरिणामोंसे होती हैं। देवायु शुभप्रकृति है, इसलिये उसके स्थिति और अनुभागमें कमी संक्लेशपरिणामोसे होगी और वृद्धि विशुद्ध परिणामोसे होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब देवोके सक्लेशता होनेसे देवायुका अपकर्षण हो सकता है तो विशुद्धता होनेसे देवायुका उत्कर्षण होना भी न्यायसगत है। इसीप्रकार नरकायु अशुभ प्रकृति है, इसलिये उसके स्थिति और अनुभागमे कमी विशुद्ध परिणामोसे होगी और वृद्धि संक्लेश परिणामोंसे होगी, इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब नारकियोके विशुद्धता होनेसे नरकायुका अपकर्षण हो सकता है तो संक्लेशता होनेसे नरकायुका उत्कर्षण होना भी न्यायसगत है। इस प्रकार भुज्यमान देवायु और नरकायुमें भी अपकर्षण और उत्कर्षण सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार भुज्यमान तिर्यगायु और मनुष्यायुमे भी अपकर्षणकरणकी तरह उत्कर्षण करण स्वीकार करना चाहिये।

शंका—किसी भी कर्मप्रकृतिका उत्कर्षण उसकी बन्धव्युच्छित्तिके पहिले तक ही होता है।

बंधुक्कट्टणकरणं सग-सग बन्धोत्ति णियमेण ॥४४४॥कर्मं०॥

इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्माकी जो अवस्था जिस कर्मप्रकृतिके बन्धमे कारण पडती है उसी अवस्थामे उस प्रकृतिका उत्कर्षण हो सकता है। वर्तमान भवमे उत्तर भवकी आयुका ही बन्ध होता है—वर्तमान (भुज्यमान) का नही। इसलिये भुज्यमान आयुका उत्कर्षण भी नही हो सकता है ?

उत्तर—बन्धव्युच्छित्तिके पहिले-पहिले ही उत्कर्षण होता है, यह कथन उत्कर्षणकी मर्यादाको बतलाता है अर्थात् जहाँतक जिस प्रकृतिका बध हो सकता है वहीतक उस प्रकृतिका उत्कर्षण होगा, आगे नही। इसका यह आशय नही कि आत्माकी जो अवस्था कर्मप्रकृतिके बन्धमें कारण है उसी अवस्थामे उस प्रकृतिका उत्कर्षण हो सकता है, अन्यत्र नही। यदि ऐसा माना जाय, तो उत्कर्षणकरणको त्रयोदशगुणस्थान तक मानना असगत ठहरेगा।

छच्च सजोगित्ति तदो ॥कर्मं० गा० ४४२।

संयोगीपर्यन्त उत्कर्षण, अपकर्षण, उदय, उदीरणा, बन्ध और सत्व ये ६ करण होते है। लेकिन स्थिति-अनुभागकी वृद्धिको उत्कर्षणकरण माना गया है, यहाँ आत्माकी कोई भी अवस्था किसी भी कर्मके स्थिति-अनुभागबन्धमे कारण नही, तब ऐसी हालतमे उस कर्मके स्थिति और अनुभागका उत्कर्षण भी नही सकेगा। किन्तु जब उक्त वचनको उत्कर्षणकी मर्यादा बतलानेवाला मान लेते हैं तो कोई विरोध नही रहता, कारण कि त्रयोदशगुणस्थानमे सातावेदनीयका प्रकृति-प्रदेशबन्ध होता ही है। इसलिये उसीका उत्कर्षण भी त्रयोदशगुणस्थानतक होगा, अन्यका नही, ऐसा सगत अर्थ निकल आता है।

उक्त वचन मर्यादासूचक ही है। इसमे दूसरा प्रमाण यह है कि सक्रमणकरण को—

संकमणं करण पुण सग-सग जादीण बधोत्ति ॥ कर्मं० ४४४॥

इस वचनके द्वारा अपनी-अपनी सजातीय प्रकृतिके बन्धपर्यन्त बतला करके भी—

णवरि विसेस जाणे सकममवि होदि सतमोहम्मि ॥
मिच्छस्स यमिस्सस्स य सेसाणं णत्थि संकमणं ॥ कर्मं० ४४३ ।

इस वचनके द्वारा मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृतिका संक्रमण ११वे गुणस्थान तक बतलाया है। इसलिये जिस प्रकार यह वचन सक्रमणके लिये यह नियम नही बना सकता कि आत्माकी जिस अवस्थामें जिस कर्मकी सजातीय प्रकृतियोका बन्ध हो सकता है उसी अवस्थामें उस कर्मका सक्रमण होगा, दूसरी अवस्थामे नहीं, इसी प्रकार उक्त वचन उत्कर्षणके लिये भी ऐसा नियमसूचक नही है।

इस लेखका साराश यह हुआ कि चारो भुज्यमान आयुओकी उदीरणा हो सकती है और उदीरणा अपकर्षणपूर्वक ही होती है। इसलिये चारो भुज्यमान आयुओमे अपकर्षण भी सिद्ध हो जाता है। शुभ प्रकृतियोका अपकर्षण सक्लेश परिणामोसे और अशुभका विशुद्ध परिणामोसे होता है। जब चारों आयुओके अपकर्षणके योग्य शुभ-अशुभकी अपेक्षा सक्लेश या विशुद्ध परिणाम चारो गतियोमें पैदा हो सकते हैं तो उनके उत्कर्षणके योग्य उनसे विपरीत परिणाम भी चारो गतियोमें पैदा हो सकते हैं। इसलिये चारो भुज्यमान आयुओमें उत्कर्षण भी सिद्ध हो जाता हैं।

यह लेख मैंने अपनी शकाको दूर करनेके लिये लिखा है। इसलिये विद्वानोंसे निवेदन है कि यदि उनको मेरे ये विचार विपरीत मालूम पडे, तो अपने विचार प्रमाणसहित अवश्य ही जैन दर्शनमें प्रकट करें, ताकि इस बातका निर्णय हो सके।

क्या असंज्ञी जीवोंमें मनका सद्भाव है ?

श्री डॉ० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुरने अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलनके १६वे अधिवेशनके समय प्राकृत और जैनधर्म विभागमे जो निवन्ध पढा था उसका हिन्दी अनुवाद 'असज्ञी जीवोकी परपरा' शीर्षकसे अनेकान्तपत्रके वर्ष १३ की सयुक्त किरण ४-५ और ७ मे प्रकाशित हुआ है ।

डॉ० साहवके निवन्धका साराश यह है कि असंज्ञी माने जाने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तिर्यंचोके जव मति और श्रुत दोनो ज्ञानोका सद्भाव जैन आगममें स्वीकार किया गया है तो निश्चित ही उन सभी जीवोके मनका सद्भाव सिद्ध होता है कारण कि मति और श्रुत ये दोनो ही ज्ञान मनकी सहायताके विना किसी भी जीवके सम्भव नही हैं ।

अभी तकको प्रचलित दि० आगमपरपरा यह है कि जिन जीवोंके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव सज्ञी और जिन जीवोके मनका सद्भाव नही पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहे जाते हैं । परन्तु डॉ० साहवने सज्ञी जीवोके साथ असज्ञी जीवोका अन्तर दिखलानेके लिये अमनस्क शव्दका मनरहित अर्थ न करके 'ईषत् मन वाला' अर्थ किया है ।

डॉ० साहवने अपने उक्त विचारोकी पुष्टि आगमके कतिपय उद्धरणो और युक्तियो द्वारा की है ।

इन्द्रियजन्य सभी प्रकारके मतिज्ञानमे मनकी सहायता अनिवार्य है—यह विचार न तो आज तक मेरे मनमे उठा और न अव भी मैं इस वातको माननेके लिये तैयार हूं । परतु समूचे जैन आगममे असज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेसे मेरे मनमे यह विचार सतत उत्पन्न होता रहा कि श्रुतज्ञान, जो कि मनके अवलम्बनसे ही उत्पन्न होता है, मन रहित असज्ञी जीवोके कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्राय वर्तमान समयके सभी दि० विद्वान् असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव निश्चित मानते हैं; इसलिये उनके (असज्ञी जीवोके) आगममे स्वीकृत श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करके भी वे विरोधका परिहार इस तरह कर लेते हैं कि असज्ञी जीवोके मनका अभाव होनेके कारण लब्धिरूप ही श्रुतज्ञान पाया जाता [illegible] उपयोगरूप श्रुतज्ञान मनके सद्भावके विना उनके (असज्ञी जीवोंके) सभव नही है ।

दि० विद्वानोका उक्त निष्कर्ष मुझे सतोषप्रद नहीं मालूम होता है । अत. मेरे [illegible] प्रश्न खडा हुआ है कि मनके अभावमे असज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी [illegible] किस तरह [illegible]

श्वे० आगमग्रंथ विशेषआवश्यकभाष्यका वह [illegible] उद्धरण [illegible] निवन्धमे दिया है और जिसमे एकेन्द्रिय आदि समस्त [illegible] स्वीकार किया गया है । करीब २० वर्ष पहले मेरे भी [illegible] उचित समाधान नही होता है, क्योंकि असज्ञी जीवोंके म[illegible] करने और उनके ईषत्-मनका सद्भाव स्वीकार करके [illegible] स्थितिका विशेष अन्तर नही है ।

चूंकि डा० साहवने [illegible] [illegible]

ज्ञानकी उत्पत्ति दो प्रकारसे सम्भव है—स्वापेक्ष और परापेक्ष। अवधि, मन पर्यय और केवल इन तीनोकी उत्पत्ति स्वापेक्ष मानी गई है तथा मति और श्रुत इन दोनो ज्ञानोकी उत्पत्ति परापेक्ष मानी गई है। यहाँ परशब्दसे मुख्यतया स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँच द्रव्य-इन्द्रियाँ और द्रव्यमन ग्रहीत होते है।

मतिज्ञानका प्रारम्भिक रूप अवग्रह ज्ञान है और अनुमान उस मतिज्ञानका अन्तिमरूप है। मतिज्ञानका अतिम रूप यह अनुमानज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। आगमके 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इस वाक्यसे भी उक्त बातका समर्थन होता है।

किसी एक घटशब्दमें गुरु द्वारा घटरूप अर्थका सकेत ग्रहण करा देनेके अनन्तर शिष्यको सतत घट-शब्दश्रवणके अनन्तर जो घटरूप अर्थका बोध हो जाया करता है वह बोध उस शिष्यको अनुमान द्वारा उस घट शब्दमे घटरूप अर्थका सकेत ग्रहण करनेपर ही होता है। अत अनुमानकी श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणता स्पष्ट है और चूँकि अनुमान मतिज्ञानका ही अतिमरूप है, अत 'मतिपूर्वं श्रुतम्' ऐसा निर्देश आगममें किया गया है।

कई लोगोका ख्याल है कि 'जब अर्थसे अर्थान्तरके बोधको श्रुतज्ञान कहतेहै तो श्रुतज्ञानको अनुमान ज्ञानसे पृथक् नही मानना चाहिये', परन्तु उन लोगोका उक्त ख्याल गलत है, क्योकि मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि श्रुतज्ञानमे अनुमान कारण है, अत अनुमानज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो एक कैसे हो सकते है?

जिस प्रकार श्रुतज्ञानमें कारण अनुमानज्ञान है और अनुमानज्ञानके अनन्तर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनुमानज्ञानमें कारण तर्कज्ञान होता है और तर्कज्ञानके अनन्तर ही अनुमानज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है, इसी तरह तर्कज्ञानमें कारण प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानमें कारण स्मृतिज्ञान और स्मृतिज्ञानमें कारण धारणा ज्ञान हुआ करता है तथा तर्कज्ञानके अनन्तर ज्ञानकी उत्पत्तिके समान ही प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर ही तर्कज्ञानकी, स्मृतिज्ञानके अनन्तर ही प्रत्यभिज्ञानकी और धारणाज्ञानके अनन्तर ही स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञानकी तरह उक्त प्रकारके मतिज्ञानोमे भी मतिज्ञानकी कारणता स्पष्ट हो जाती है क्योकि अनुमान, तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और धारणा ये सभी ज्ञान मतिज्ञानके ही प्रकार मान लिये गये है—'मति स्मृति सज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस अगमवाक्यमे मतिके अर्थमें 'अवग्रहेहावायधारणा' इस सूत्रवाक्यनुसार धारणाका अन्तर्भाव हो जाता है तथा प्रत्यभिज्ञानका ही अपर नाम सज्ञाको, तर्कका ही अपर नाम चिन्ताको और अनुमानका ही अपर नाम अभिनिबोधको माना गया है।

यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिये कि जब स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सब प्रकारके मतिज्ञानोमें तथा श्रुतज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर यथायोग्य ऊपर बतलाये गये प्रकारानुसार पदार्थज्ञान अथवा यो कहिये कि पदार्थज्ञानका दर्शन ही कारण हुआ करता है। अत ये सब ज्ञान परोक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते है क्योकि पदार्थदर्शनके अभावमें उत्पन्न होनेके कारण इन सब ज्ञानोमे विशदताका अभाव पाया जाता है जबकि 'विशद प्रत्यक्षम्' आदि वाक्यो द्वारा आगममें विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षज्ञान बतलाया गया है। यहाँ पर ज्ञानकी विशदताका तात्पर्य उसकी स्पष्टतासे है और ज्ञानमे स्पष्टता तभी आ सकती है जबकि वह ज्ञान पदार्थदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक ज्ञानमे दर्शन कारण होता है। परन्तु इतना विशेष है कि किसी-किसी

ज्ञानमे तो पदार्थका दर्शन कारण होता है और किसी-किसी ज्ञानमे पदार्थका दर्शन कारण न होकर पदार्थ-ज्ञानका दर्शन कारण होता है, जिन ज्ञानोमे पदार्थका दर्शन कारण होता है उन ज्ञानोमे पदार्थ स्पष्टताके साथ झलकता है। अत' वे ज्ञान विशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी विशदताके कारण ही वे ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान-की कोटिमें पहुँच जाते है। जैसे—अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीनो स्वापेक्षज्ञान तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंसे होने वाला पदार्थज्ञान तथा मानस प्रत्यक्ष ज्ञान। एव किन ज्ञानोमे पदार्थका दर्शन कारण नही होता हैं अर्थात् जो ज्ञान पदार्थदर्शनके अभावमे ही पदार्थज्ञानपूर्वक या यो कहिये कि पदार्थज्ञानदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ करते है उन ज्ञानोमे पदार्थ स्पष्टताके साथ नही झलक पाता है अत वे ज्ञान अविशद कहलाते है और इस प्रकारकी अविशदताके कारण ही वे ज्ञान परोक्ष-ज्ञानकी कोटिमे चले जाते है जैसे—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दर्शन और ज्ञानमे जो कार्य-कारण भाव पाया जाता है, वह सहभावी है। इसलिए जब तक जिस प्रकारका दर्शनोपयोग विद्यमान रहता है तब तक उसी प्रकारका ज्ञानोपयोग होता रहता है और जिस क्षणमें दर्शनोपयोग परिवर्तित हो जाता है उसी क्षणमे ज्ञानोपयोग भी बदल जाता है—'दसणपुव्वं णाण' इस आगमवाक्यका यह अर्थ नही है कि दर्शनोपयोगके अनन्तरकालमे ज्ञानोपयोग होता है क्योकि यहाँ पर पूर्वशब्द ज्ञानमे दर्शनकी सिर्फ कारणताका बोध करानेके लिये ही प्रयुक्त किया गया है जिसका भाव यह है कि दर्शनके बिना किसी ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव नही है।

इस कथनसे छद्मस्थजीवोमें दर्शयोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमवर्त्तीपनेकी मान्यताका खण्डन तथा केवलीके समान ही उनके (छद्मस्थोके) उक्त दोनो उपयोगोके यौगपद्यका समर्थन होता है।

इस विपयके मेरे विस्तृत विचार पाठकोको भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होने वाले 'ज्ञानोदय' पत्रके अप्रैल सन् १९५१ के अंकमे प्रकाशित 'जैन दर्शनमे दर्शनोपयोगका स्थान' शीर्षक लेखमे तथा जून ५१ के अंकमे प्रकाशित 'ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोका आधार' शीर्षक लेखमें देखनेको मिल सकते हैं। ये दोनों लेख इसी ग्रन्थमें यथास्थान प्रकाशित हैं।

अस्तु! ऊपर जो स्मृतिमें कारणभूत धारणाज्ञानका संकेत किया गया है वह धारणाज्ञान चूँकि पदार्थ दर्शनके सद्भावमे ही उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाता है। तथा इस धारणा-ज्ञानके अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती अवाय, ईहा और अवग्रहज्ञान भी चूँकि पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न हुआ करते है अत. ये तीनो ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते है।

यहाँपर इतना विशेष समझना चाहिए कि अवाय, ईहा और अवग्रह ये तीनो ज्ञान यद्यपि धारणाज्ञानके पूर्ववर्ती होते हैं परन्तु इनका धारणाज्ञानके साथ कार्यकारणसम्बन्ध नही है अर्थात् जिस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे धारणा आदि ज्ञान स्मृति आदि ज्ञानोमें कारण होते हैं उस प्रकार धारणाज्ञानमे अवाय आदि ज्ञानोको कारण माननेकी आवश्यकता नही है क्योंकि ऐसा कोई नियम नही है कि धारणाज्ञानके पहले अवाय आदि ज्ञान होना ही चाहिये।

तात्पर्य यह है कि कभी कभी हमारा ऐन्द्रियिकज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमक्षणमें ही धारणारूप हो जाया करता है, अत यहाँपर यह भेद करना असम्भव होता है कि ज्ञानकी यह हालत तो अवग्रहज्ञानरूप है और उसकी यह हालत धारणारूप है। कभी-कभी हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमक्षणमें धारणा-रूप नहीं हो पाता, धीरे-धीरे क्षणान्तरमें ही वह धारणाका रूप ग्रहण करता है। इसलिए जब तक हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान धारणारूप नहीं होता, तब तक वह ज्ञान अवग्रहज्ञानकी कोटिमें बना रहता है। यदि कदाचित्

हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान किन्ही कारणोको वजहमे सशयात्मक हो जाता है तो निराकरणके साधन उपलब्ध हो, जानेपर संशयके निराकरणकालमें ही वह ज्ञान धारणारूप नही हो जाया करता है। कदाचित् सशयके निराकरणकालमे वह ज्ञान धारणा रूप नही हो सका तो जब तक वह ज्ञान धारणारूप नही होता तब तक उसकी अवायरूप स्थिति रहा करती है। कभी कभी सशयनिराकरणके साधन उपलब्ध होनेपर भी यदि संशयका पूर्णतः निराकरण नही हो सका तो उस हालतमे हमारा वह ज्ञान ईहात्मक रूप धारण कर लेता है और कालान्तरमे वह ज्ञान या तो सीधा धारणारूप हो जाया करता है अथवा पहले अवायात्मक होकर कालान्तरमे धारणारूप होता है। इस तरह ज्ञानके धारणारूप होनेमे निम्न प्रकार विकल्प खडे किए जा सकते हैं—

१ पदार्थदर्शनकी मौजूदगीमें ही उस पदार्थका प्रत्यक्ष होता है।

२. इन्द्रियो अथवा मन द्वारा होनेवाला पदार्थ प्रत्यक्ष या तो सीधा धारणारूप होता है। अथवा

३ अवग्रहपूर्वक धारणारूप होता है। अथवा

४. संशयात्मक अवग्रहण होनेके अनन्तर यथायोग्य साधन मिलनेपर धारणारूप होता है। अथवा

५ सशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोके मिलनेपर उसकी अवायात्मक स्थिति होती है और तदनन्तर वह धारणारूप होता है अथवा

६ संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोके मिलनेपर उसकी ईहात्मक स्थिति होती है और तब वह धारणारूप होता है। अथवा

७ ईहाके बाद आवायात्मक स्थिति होकर वह धारणारूप होता है। इस प्रकार ऐन्द्रियिक पदार्थ प्रत्यक्षके धारणारूप होनेमे ऊपर लिखे विकल्प बन जाते है और इन सब विकल्पोके साथ पदार्थदर्शनका सबध जैसाका तैसा बना रहता है। लेकिन जिस समय और जिस हालतमे पदार्थका दर्शन होना बन्द हो जाता है उसी समय और उसी हालतमें पदार्थप्रत्यक्षकी धारा भी बन्द हो जाती है। इस तरह कभी तो ऐन्द्रियिक पदार्थ-प्रत्यक्ष धारणारूप होकर ही समाप्त होता है और कभी-कभी यथायोग्य अवग्रह, सशय, ईहा या अवायकी दशामें ही वह समाप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार धारणाप्रत्यक्षसे लेकर परोक्ष कहे जाने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतरूप ज्ञानोमे नियत, आनन्तर्य पाया जाता है उस प्रकार प्रत्यक्ष कहे जानेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञानोमे आनन्तर्य नियत नही है तथा यह बात तो हम पहले हा कह आये है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारो प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानोमे उत्तरोत्तर कार्यकारणभावका सर्वथा अभाव ही रहता है।

इन पूर्वोक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ऐन्द्रियिक ज्ञानोमेंसे एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तकके समस्त असंज्ञी जीवोके पदार्थका केवल अवग्रहरूप प्रत्यक्षज्ञान स्वीकार किया जावे और शेष प्रत्यक्ष कहे जानेवाले ईहा, अवाय और धारणाज्ञान तथा परोक्ष कहे जानेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान उन असज्ञी जीवोके न स्वीकार किये जायें, जैसा कि बुद्धिगम्य प्रतीत होता है, तो इनके (असज्ञी जीवोके) ईषत् मनकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नही रह जाती है और तब संज्ञी तथा असज्ञी जीवोकी 'जिनके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव सज्ञी, तथा जिनके मनका सद्भाव नही पाया जाता है वे जीव असज्ञी कहलाते हैं' ये परिभाषाएँ भी सुसंगत हो जाती है।

इतना स्वीकार कर लेनेपर अब हमारे सामने यह मुख्य प्रश्न विचारके लिए रह जाता है कि जब असज्ञी जीवोके मनका सद्भाव नही है तो केवलियोके अतिरिक्त पचेन्द्रियसे लेकर एकेन्द्रिय तकके समस्त ससारी जीवोके मति और श्रुत दोनो ज्ञानोकी सत्ता बतलानेका कारण क्या है ?

इसका उत्तर यह है कि जैन सस्कृतिमें वस्तुविवेचनके विषयमे दो प्रकारकी पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं—एक तो करणानुयोगकी आगमिक पद्धति और दूसरी द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धति । इनमेंसे जो द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिका श्रुतज्ञान है, जिसका अपर नाम आगमज्ञान है और जिसका कथन द्रव्यश्रुतके रूपमे 'द्व्यनेकद्वादशभेदम्' इस सूत्रवाक्य द्वारा किया गया है अथवा जो वचनादिनिबन्धन अर्थज्ञानके रूपमे प्रत्येक सज्ञी जीवके हुआ करता है—वह श्रुतज्ञान असज्ञी जीवोके नही होता, यह बात तो निर्विवाद है तब फिर इसके अतिरिक्त कौन-सा ऐसा श्रुतज्ञान शेष रह जाता है जिसकी सत्ता असंज्ञी जीवोके स्वीकार की जावे ?

शका—एकेन्द्रियादि सभी असज्ञी जीवोकी भी सज्ञी जीवोकी तरह सुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोका ग्रहण और दुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोका वर्जनरूप, जो यथासम्भव प्रवृत्तियाँ देखनेमे आती है वे उनकी प्रवृत्तियाँ बिना श्रुतज्ञानके सम्भव नही जान पडती है ?

प्राय. देखनेमे आता है कि चीटी मिठासजन्य सुखानुभवन होनेपर मीठे पदार्थकी ओर दौडकर जाती है और उष्णताजन्य दु खानुभवन होनेपर अग्नि आदि पदार्थोसे दूर भागती है, इस प्रकार चीटीकी इस प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप क्रियाका कारण श्रुतज्ञानको छोडकर दूसरा क्या हो सकता है ? अत असज्ञी जीवोके श्रुतज्ञानकी सत्ता भले ही वह किसी रूपमे हो—मानना अनिवार्य है और इसीलिए उनके ईषत् मनका सद्भाव स्वीकार करना असगत नही माना जा सकता है ?

समाधान—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोका प्रत्येक ज्ञान स्वसवेदी होता है । ज्ञानकी यह स्वसंवेदना प्रकाशमे रहनेवाली स्वप्रकाशकताके समान है । अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशको अपना प्रकाश करनेके लिये दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नही होती है उसी प्रकार ज्ञानको अपना प्रकाश करने (ज्ञान कराने) के लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नही रहती है ।

ज्ञानका यह स्वसवेदन ही एकेन्द्रिय आदि सभी असज्ञी जीवोको प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप समस्त क्रियाओमें प्रेरक हुआ । करता है अत इनको (असज्ञी जीवोकी) उक्त प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाओके लिये कारण रूपसे उन जोवोके अतिरिक्त श्रुतज्ञानका सद्भाव माननेकी आवश्यकता ही नही रह जाती है, जिसके लिये हमें उनके ईषत् मनकी कल्पना करनेके लिये बाध्य होना पडे ।

मेरा ऐसा मत है कि करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमे उक्त स्वसवेदन ज्ञानको ही सभवत श्रुतज्ञान शब्दसे पुकारा गया है, क्योकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञानरूप श्रुतज्ञानका लक्षण उसमे घटित हो जाता है । घट पदार्थका ज्ञान होनेके साथ जो घटज्ञानका स्वसवेदनरूप ज्ञान हमे होता है वह अर्थान्तर ज्ञानरूप ही तो है । यह स्वसवेदनरूप श्रुतज्ञान चूँकि इन्द्रियो द्वारा न होकर ज्ञानद्वारा ही हुआ करता है, अत श्रुतको अनिन्द्रियका विषय माननेमे कोई विरोध भी उत्पन्न नही होता है क्योकि "अ" का अर्थ निषेध करके अनिन्द्रिय शब्दका "ज्ञान" अर्थ करनेमें भी कोई बाधा उपस्थित नही होती है ।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिमे जिस श्रुतका विवेचन किया जाता है वह तो मनका विषय होता है । अत इस प्रकरणमे अनिन्द्रियको "अ" का ईषत् अर्थ करके मनका वाची मान लेना चाहिये और करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें जिस स्वसवेदनरूप ज्ञानको श्रुत नामसे ऊपर बतला आये है

वह ज्ञानका विषय होता है। अत उस प्रकरणमे अनिन्द्रिय शब्दको "अ" का अर्थ निषेध करके ज्ञानवाची मान लेना चाहिये।

अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ भी कुछ असगत-सा प्रतीन होता है। अर्थात् इन्द्रियशब्द-के साथ अनिन्द्रिय शब्दका "ईषत् इन्द्रिय" अर्थ जितना उचित प्रतीत होता है उतना समनस्क शब्दके साथ अमनस्क शबदका "ईषत् मन वाला" अर्थ उचित प्रतीत नही होता, क्योकि समनस्क शब्दमे 'सह' शब्दका प्रयोग मनकी मौजूदगीके अर्थमे ही किया गया है। अत स्वभावत· अमनस्कशब्दमें "अ" का अर्थ मनकी गैर-मौजूदगी ही करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अनिंद्रियशब्दके विशेषणार्थक सज्ञा होनेकी वजहसे उसका वाच्यार्थ मन होता है, इसलिये जिस प्रकार इन्द्रियशब्दके साथ अनित्द्रियशब्दके प्रयोगमे सामजस्य पाया जाता है, उस प्रकार अमनस्कशब्दका "ईषित् मनवाला" अर्थ करके समनस्क शब्दके साथ उसका (अमनस्कशब्दका) प्रयोग करनेमे सामजस्य नही है क्योकि अमनस्कशब्दका जब हम "ईषित् मनवाला" अर्थ करेंगे तो स्वभावत = समनस्कशब्दका हमें "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना होगा, लेकिन समनस्क शब्दका "पूर्ण मनवाला" अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।
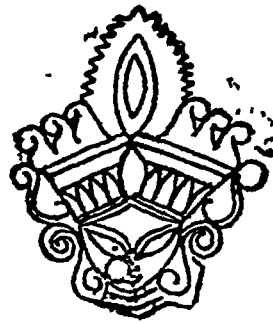
पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी[1]

पूर्वपक्षका प्रश्न—द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है या अनियतक्रमसे भी ?

उत्तरपक्षका उत्तर—द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है।

समीक्षा

पर्यायोका विवरण

१. प्रवचनसारके दूसरे ज्ञेयतत्त्वाधिकारकी[2] गाथा १ में बतलाया है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ है उन्हे द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्यमे स्वतःसिद्ध अनन्त गुण है। तथा प्रत्येक द्रव्यमे द्रव्य-पर्यायें व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमें गुणपर्यायें होती हैं। तत्त्वार्थसूत्रके "गुणपर्ययवद्द्रव्य" (५-३८) सूत्रका भी यही अभिप्राय है।

२. तत्त्वार्थसूत्रके "सद्द्रव्यलक्षणम्" (५-२९) सूत्रमे द्रव्यका लक्षण "सत्" कहा है तथा द्रव्यका स्वतःसिद्ध स्वभाव होनेसे गुण भी 'सत्" कहलाता है। प्रत्येक द्रव्यमे व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे परिणमन होता रहता है। द्रव्य ओर गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्यायके विकासको उत्पाद और पूर्वपर्यायके विनाशको व्यय कहते हैं। द्रव्यो और गुणोमें ये उत्पाद और व्यय दोनो उनकी द्रव्यरूपता और गुणरूपताको सुरक्षित रखकर ही होते हैं। अत द्रव्य और गुणमे ध्रौव्यरूपता भी सतत् बनी रहती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" (५–३०) सूत्रमे सत्का लक्षण ऐसा ही निर्धारित किया गया है।

पर्यायोंकी द्विरूपता :

सभी द्रव्यपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती है तथा सभी गुणपर्यायोंमेंसे षट्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायें स्वप्रत्यय और इनके अतिरिक्त शेषगुणपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती है। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो उसे स्व-परप्रत्यय और जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य-सामग्रीकी सहायताके बिना उपादानकारणजन्य हो उसे स्वप्रत्यय कहते है। पर्यायका-विभाजन कालद्रव्यकी अखण्ड पर्यायभूत समयसापेक्ष होनेसे द्रव्य और गुणकी प्रत्येक पर्याय समयवर्ती मानी गई है।

उभय पर्यायोकी आगमद्वारा पुष्टि :

तत्त्वार्थसूत्रके "निष्क्रियाणि च" (५-७) सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे व नियमसारकी गाथा १४ के उत्तरार्धमें पर्यायोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्पष्ट स्वीकार किये गये है।

पर्यायोंका उत्पत्तिमे नियतक्रमता और अनियतक्रमताका निर्णय :

यतः स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अतः वह नियतक्रमसे ही होती है और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अतः वह निमित्तोंके समागमके अनुसार नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

---

१. वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित, १९८४ ई०।

२. अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहि पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥

स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी अन्य आगमवचनो द्वारा पुष्टि :

समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति टीकामे "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपारिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव , एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीव " यह कथन पाया जाता है। इस कथनमे विद्यमान "जीव एव नाजीव " और "अजीव एव न जीव " इन दोनो अशोसे ज्ञात होता है कि जीवकी पर्यायें अजीवकी सहायतापूर्वक और अजीवकी पर्यायें जीवकी सहायतापूर्वक उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जावे, तो उक्त कथनके ये दोनो अंश निरर्थक हो जायेंगे, क्योकि जीवको अजीवरूप और अजीवको जीवरूप माननेका प्रसग तभी उपस्थित होता है जब जीवकी पर्यायोका अजीवके साथ और अजीवकी पर्यायोका जीवके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणसम्बन्ध माना जावे। समयसार-कलश १९५ में स्पष्ट कहा गया है कि जीवका प्रकृतियोके साथ जो बन्ध होता है वह जीवके अज्ञानभावका ही माहात्म्य है। समयसारकी गाथा ३१२-१३ मे तो और भी स्पष्ट लिखा है कि जीव प्रकृतिके निमित्त (सहयोग) से उत्पन्न और विनष्ट होता है व प्रकृति जीवके निमित्त (सहयोग) से उत्पन्न और विनष्ट होती है। समयसारकी गाथा ८०, ८१ और १०५ तथा प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा ७७ से भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोका स्पष्ट समर्थन होता है।

इसके अलावा जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा (भाग—१) के अन्तर्गत प्रश्नोत्तर—१की समीक्षामें मैंने तर्क और आगम प्रमाणोके आधारसे निमित्तोके प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) दो भेद बतलाकर उनके लक्षण इस रूपमें निर्धारित किये है कि प्रेरक निमित्त वे है जिनके साथ उपादानके कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो तथा उदासीन निमित्त वे है जिनकी उसी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो। इन लक्षणोके अनुसार वहीपर मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रेरकनिमित्तोके बलसे कार्य आगे-पीछे भी किया जा सकता है तथा अनुकूल उदासीन निमित्तोका भी यदि उपादानको सहयोग प्राप्त न हो तो उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति नही होती है। इससे भी निर्णीत होता है कि निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर ही स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणो द्वारा किया जाता है—

१ पठनकी योग्यताविशिष्ट शिष्यकी पठनक्रिया प्रेरकनिमित्तकारणभूत अध्यापककी सहायतासे होती हैं, उसकी सहायताके बिना नही होती। तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत प्रकाशका अभाव हो तो न अध्यापक पढा सकता है और न शिष्य पढ सकता है। इसी प्रकार चलनेकी योग्यताविशिष्ट रेलगाडी प्रेरकनिमित्तकारणभूत इजनके चलनेपर ही चलती है, उसके अभावमें नही चलती, तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत रेलपटरीका सहयोग प्राप्त न हो तो न इजन चल सकता है और न रेलगाडी चल सकती है। इस विवेचनके अनुसार स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनो ही प्रकारकी व्यवस्था निश्चित होती है।

२. प्रेरक निमित्तकारणभूत कुम्भकार अन्य प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोकी सहायतापूर्वक घटरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट मिट्टीसे क्रमश स्थास, कोश और कुशल पर्यायोकी उत्पत्तिपूर्वक ही संकल्पित घटको उत्पन्न करता है, तथा आवश्यक होनेपर वह कुम्भकार उसी मिट्टीसे विवक्षित सकोरा आदिको भी उत्पन्न करता है। इतना ही नही, यदि दडका आघात आदि कारण मिल जायें तो चालू कार्यके

विनाश आदि कार्य भी उत्पन्न हो जाते है। इसी तरह क्रोधकर्मका उदय रहते क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट जीवकी क्रोधपर्याय होते-होते यदि मान, माया या लोभ कर्मका उदय हो जावे तो क्रोध पर्याय रुककर उस जीवकी यथायोग्य मान, माया या लोभ पर्याय होने लगती है। इस विवेचनके अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमे क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियत-क्रमता दोनो ही प्रकारकी व्यवस्था निर्णीत होती है।

३. पकनेकी योग्यता विशिष्ट आम्रफलका पाक ऋतुके अनुसार समयपर होनेका नियम है, परन्तु उस आम्रफलको यदि कृत्रिम ऊष्माका योग मिल जावे तो वह असमयमे भी पक जाता है। इसी प्रकार मरणकी योग्यताविशिष्ट ससारी जीवका मरण आयुकर्मके स्थितिबन्धके अनुसार आयुकी समाप्तिपर होना निश्चित है, परन्तु यदि विषपान आदिका योग मिल जावे तो जीव असमयमे भी मरणको प्राप्त हो जाता है। इस विवेचन-के अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमे क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनो ही प्रकारकी व्यवस्था सिद्ध होती है।

यहाँ 'असमय' शब्दका अर्थ नियतसमयसे भिन्न अनियतसमय ही ग्रहण करना युक्त है, समयसे भिन्न अन्य निमित्तकारणभूत पदार्थ ग्रहण करना युक्त नही है—जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है। इतना अवश्य है कि जिस पर्यायकी उत्पत्ति उस अनियतसमयमे होती है वह अनुकूल निमित्तकारणसापेक्ष ही होती है।

उत्तरपक्षकी दृष्टिमे स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिकी व्यवस्था :

१ समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८ से ३३१ तककी गाथाओकी आत्मख्याति-टीकाके पूर्वोक्त कथनके अंशभूत दोनो "क्रमनियमितात्मपरिणामै" पदोमे विद्यमान "क्रमनियमित" शब्दका डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्लने अपनी "क्रमबद्धपर्याय" पुस्तकमे पृष्ठ १२३ पर यह स्पष्टीकरण किया है कि "क्रम-नियमितशब्दमे क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आने-वाली है वही आयेगी इसमें फेरफार नही हो सकता। उत्तरपक्ष भी यही मानता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उत्तरपक्ष आत्मख्याति-टीकाके उक्त क्रमनियमित शब्दके आधारपर प्रत्येक स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिका नियत समय मानकर अपना यह मत निश्चित करता है कि सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नही होती।

२ सम्पूर्ण द्रव्योकी त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें सर्वज्ञके केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, अतः उन पर्यायोकी उत्पत्तिको स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही मानना युक्त है, अन्यथा अर्थात् उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे स्वीकार करनेपर प्रत्येक द्रव्यकी त्रैकालिक उन पर्यायोकी केवलज्ञानमे प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असम्भव हो जायेगा, फलत इस तर्कके आधारसे वह अपना यह मत निश्चित करता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति स्व-प्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नही होती।

निष्कर्ष—

यद्यपि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा[1] व आचार्य रविषेण रचित पद्मपुराणके[2] प्रतिपाद्य विषयको प्रमाण मानता है, तथापि ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ पूर्व पक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमे जिस देश और जिस कालमे पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको महत्व न देकर उपादान कारणभूत अन्तरग सामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व देता है, वहाँ उत्तरपक्ष उस स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमे उपादानकारणभ्त अन्तरग सामग्रीको महत्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व न देकर उस देश और उस कालको महत्त्व देता है जिस देश और जिस कालमें वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी।

पूर्वपक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमे उक्त देश और कालको महत्व न देकर जो उपादानकारण-भूत अन्तरगसामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्व देता है। उसमे हेतु यह है कि वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमे उस देश और उस कालको नियामक नही मानता है जिस देश और जिस कालमें उस पर्यायकी उत्पत्ति हुई, हो रही है या होगी। तथा वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमे उपादानकारणभूत अन्तरग सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर और निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमे सहायक होनेके आधारपर नियामक मानता है। इसके विपरीत उत्तरपक्ष उस स्व-पर-प्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमे उपादानकारणभूतअन्तरग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्य-सामग्रीको महत्व न देकर जो उक्त देश और कालको महत्व देता है उसमे हतु यह है कि वह पक्ष उस पर्याय-की उत्पत्तिमें उपादानको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर नियामक मानते हुए भी निमित्तकारणभूत सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत न होने और उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानते हुए नियामक न मानकर केवलज्ञानसे ज्ञात होनेके आधारपर उस देश और उस कालको ही नियामक मानता है जिस देश और जिस कालमे वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी। प्रकृतमे दोनो पक्षोके मध्य यही मतभेद है।

तथ्यका निर्णय :

स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनो ही प्रकारकी पर्यायोको उत्पत्तिमे जिस देश और जिस कालमे वे पर्यायें उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही हैं या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको नियामक न माना जाकर स्वप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें मात्र उपादानकारणको व स्व-परप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिमे उपादानकारणके साथ निमित्तकारणको भी नियामक मानना युक्त है, क्योकि कार्यकी उत्पत्तिकी नियामक वही वस्तु हो सकती है

---

१ ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरण वा॥ ३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
का सक्कइ चालेदु इदो वा अह जिणिदो वा॥ ३२२॥

२ प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यदा यत।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्य तेन तत्र तदा तत॥]--सर्ग ११०, श्लोक ४०।

जो कार्यरूप परिणत हो या उस कार्यरूप परिणतिमें उसकी सहायक हो। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है उस वस्तुका कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना निर्विवाद है, परन्तु जो वस्तु उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होती है उस वस्तुका भी उस कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना आवश्यक है, जैसा कि परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशके सूत्र ६३ की प्रमेयरत्नमाला-टीकामें कहा गया है—

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभाव'। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापार-सव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलश प्रति।"

अर्थ—कार्यकारणभावकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेकपर आधारित है। तथा वे (अन्वय और व्यतिरेक) कार्यके प्रति कारणव्यापार सापेक्ष ही सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार घटकार्यके प्रति कुम्भकारके अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होते हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर जैसा कार्यकारणभाव स्वप्रत्ययकार्य और उपादानमें व स्व-परप्रत्ययकार्य और उपादानकारण तथा निमित्तकारणमे निर्णीत होता है वैसा कार्य-कारणभाव उस कार्य और उक्त देश व कालमें निर्णीत नही होता, क्योकि कार्योत्पत्तिमे जिस प्रकार उपादान-कारण कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर व प्रेरक और उदासीन दोनो निमित्तकारण उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होते है उस प्रकार उस कार्योत्पत्तिमे उक्त देश और उक्त काल कार्यरूप परिणत होने या उसमे सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध नही होते। तात्पर्य यह है कि देश, कार्य और कारणभूत वस्तुओका अवगाहक मात्र होता है व कालके आधारसे कार्य और कारणभूत वस्तुओंकी वृत्ति (मौजूदगी) मात्र सिद्ध होती है। तथा कालद्रव्यकी जो पर्यायें है वे उन द्रव्योकी पर्यायोका सीमानिर्धारण या विभाजन मात्र करती है। अतएव देश और कालकी कार्योत्पत्तिमें कुछ भी उपयोगिता नही है, केवल आवश्यकतानुसार उपादान कारण व प्रेरक और उदासीन निमित्तकारण ही कार्योत्पत्तिमे उपयोगी होते हैं।

आगममें जो यह बतलाया गया है कि क्षेत्रकी अपेक्षा भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोके भव्य मानव ही मुक्ति प्राप्त कर सकते है, हेमवत आदि क्षेत्रोके भव्य मानव नही। इसी प्रकार कालकी अपेक्षा विदेह क्षेत्रके भव्य मानव मोक्ष-प्राप्तिके अनुकूल स्थिति विद्यमान रहनेके कारण सर्वदा मुक्त हो सकते हैं, तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रोके भव्य-मानव उत्सर्पिणी कालके तृतीय भागमे व अवसर्पिणी कालके चतुर्थ भागमें सामान्य रूपमे एवं अवसर्पिणी कालके तृतीय भागके अन्तिम हिस्सेमे व पचम भागके प्रारम्भिक हिस्सेमे अपवाद रूपसे मुक्ति प्राप्त कर सकते है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके शेष भागोंमे या उन भागोके किसी अन्य हिस्सेमें कदापि मुक्ति प्राप्त नही कर सकते हैं। सो आगमके इस कथनसे यद्यपि देश और कालको भी मुक्तिरूप कार्यके प्रति उदासीनरूपसे निमित्तकारणता सिद्ध होती है, परन्तु इस कथनका यही आशय है कि जीव और पुद्गल द्रव्योके यथायोग्य मध्यम उत्कर्षापकर्षमय देश और कालकी स्थिति ही जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्तकारण सिद्ध होती है। अमूर्त होनेके कारण देश और कालकी मुक्तिके प्रति कारणता सिद्ध नही होती, क्योकि देश और कालका कार्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यदि देश और काल भी जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्त-कारण होने लगे, तो ऐसी स्थितिमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा—२२१-२२ व पद्मपुराण सर्ग—११० के श्लोक ४० मे उनका कारणसामग्रीसे पृथक् निर्देश करना असगत हो जायेगा।

उत्तरपक्ष स्वपरप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा ३०८-११ की आत्मख्याति-टीकाके 'क्रमनियमित' शब्दका यह आशय ग्रहण करना है कि 'क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्वरबार) नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली हो वही आयेगी, उसमें फेर-बदल नही हो सकता।" सो यह उसकी भ्रमवुद्धि है, क्योकि उस टीकामें प्रयुक्त 'क्रमनियमित' शब्दका क्रमसे नियमित अर्थात् वद्ध अर्थ ही ग्राह्य है, जिसका अभिप्राय है कि एकजातीय स्व-परप्रत्यय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही उत्पन्न होती हैं। एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें युगपत् (एकसाथ) एकसमयमे कदापि उत्पन्न नही होती। फलत उक्त 'क्रमनियमित' शब्दका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त अर्थ युक्त न होकर पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत क्रममें अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममें नियमित अर्थात् बद्ध अर्थ ही युक्त है।

यद्यपि त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें केवलज्ञानमें एकसाथ एकसमयमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, परन्तु उसके आधारसे उन पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार करना युक्त नही है, क्योकि उन त्रैकालिक पर्यायोका केवलज्ञानमें युगपत् (एकसाथ) प्रत्येक समयमें क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है और उनका उपादान और प्रेरक तथा उदासीन निमित्त कारणोके बलसे यथासभव क्रमवद्ध या अक्रमबद्ध रूपमे उत्पन्न होना अन्य बात है। अर्थात् केवलज्ञानी जीव क्रम अथवा अक्रमसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोको क्रमबद्धरूपमें जानता है। फलत- स्व-परप्रत्यय पर्यायोके विषयमे यदि उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणसापेक्ष होनेसे क्रमवद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप सिद्ध होती है तथा ज्ञप्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि उनका प्रतिभासन केवलज्ञानमें युगपत् (एकसाथ) एक समयमे क्रमबद्ध ही होता हैं।

स्व-परप्रत्यय पर्यायोके विषयमें उत्पत्ति और ज्ञप्तिका यह अन्तर उत्तरपक्षके प्रमुख प्रतिनिधि पडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यने जैन-तत्व-मीमासा (प्रथम सस्करण) पृष्ठ--२९१ पर इस प्रकार प्रकट किया है—

"यद्यपि हम मानते है कि केवलज्ञानको सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायोको जाननेवाला मानकर भी क्रमवद्ध पर्यायोकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्य-कारणपरम्पराको ध्यानमे रखकर ही की जाना चाहिए।"

इस प्रकार कार्य-कारणभावके आधारपर होनेवाली स्व-परप्रत्यथ पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमवद्ध और अक्रमवद्ध तथा केवलज्ञानमे होनेवाली उनकी ज्ञप्तिको मात्र क्रमवद्ध मान्य करनेमे पूर्वपक्षके समान उत्तरपक्षको भी कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि केवलज्ञानमे ही नही, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें भी अमुक कार्य अमुक कारणोसे अमुक देशमें अमुक कालमे अमुकरूपसे उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हो रहा है या उत्पन्न होगा ऐसा क्रमवद्ध प्रतिभासन यथायोग्य सीमामे होता है, परन्तु यह अवश्य ध्यातव्य है कि चाहे केवलज्ञान हो अथवा चाहे मतिज्ञान, अवधिज्ञान या मन-पर्ययज्ञान हो, ये सभी ज्ञान अपने द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें अक्षम ही है। स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

नेत्रइन्द्रियसे उत्पन्न हुए चाक्षुप-मतिज्ञानसे घटका ज्ञान तो होता है परन्तु वह घट है ऐसा विश्लेषण

उस मतिज्ञानसे नही होता, तथा कर्णेन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्रावण-मतिज्ञानसे घटशब्दका ज्ञान तो होता है, परन्तु घटशब्दका अर्थ घटरूप पदार्थ है, यह विश्लेषण उस मतिज्ञानसे नही होता। यही स्थिति अन्य इद्रियो-से उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानकी एव अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी जान लेना चाहिए। इसमे हेतु यह है कि मति आदि उक्त चारो ज्ञानो द्वारा प्रतिभासित पदार्थोका विश्लेषण वितर्कात्मक ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। जबकि वे चारो ज्ञान वितर्कात्मक नही होते। यत श्रुतज्ञान वितर्कात्मक होता है, अत मति आदि उक्त ज्ञानो द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा ही हो सकता है। यत मति-ज्ञानो, अवधिज्ञानी और मन·पर्ययज्ञानी जीवोमे श्रुतज्ञानका सद्भाव नियमसे रहता है, अत मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव इन ज्ञानोसे प्रतिभासित पदार्थोंका श्रुतज्ञानके आधारपर विश्लेषण भी करते है पर जो केवलज्ञानी जीव है उनमे केवलज्ञानके साथ यत श्रुतज्ञानका सद्भाव नही रहता है, अतः केवलज्ञानी जीव द्वारा केवलज्ञानमे प्रतिभासित पदार्थोका विश्लेषण किया जाना सम्भव नही है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञानी तीर्थंकर जीवकी भव्य जीवोके भाग्य और वचनयोगके बलसे जो निरक्षरी दिव्य-ध्वनि खिरती है उसके अर्थको गणधर अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतज्ञानशक्तिके आधारपर ग्रहणकर उस आधारसे अक्षरात्मक श्रुतका निर्माण करते है, तथा इस अक्षरात्मक श्रुतका अध्ययन करके अन्य विशेष श्रुतज्ञान शक्तिके धारक महापुरुष भी ग्रन्थोका निर्माण करते है।

वर्तमानमे भी तीर्थंकर महावीरने केवलज्ञान द्वारा विश्वके सभी पदार्थोंको और उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायोको युगपत् एक समयमें जब क्रमबद्ध जान लिया तब भव्यजीवोके भाग्य और वचनयोगके बलसे उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरी जिसके अर्थको गोतमगणधरने अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतशक्तिके बलसे ग्रहण किया और उन्होने अक्षरात्मक श्रुतकी रचना की। उसी प्रकार अपनी श्रुतज्ञानशक्तिके बलसे उसका अध्ययन करके अन्य आचार्योंने भी ग्रन्थोका निर्माण किया। इस तरह यह श्रुत-परम्परा आजतक चल रही है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य-कारणभावका विश्लेषण वितर्कात्मक श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान द्वारा नही, क्योकि इन ज्ञानोमे वितर्का-त्मकताका अभाव है।

जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंका एक साथ सद्भाव रहता, है तथा किसी-किसी जीवमे मति-ज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका अथवा अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान दोनोका सद्भाव भी आगम द्वारा स्वीकार किया गया है, किन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास हो जाता है तब उसमे पहलेसे यथायोग्यरूपमे विद्यमान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है, क्योकि आगमे क्षायिक केवलज्ञानका जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उससे ज्ञात होता है कि क्षायिक केवलज्ञानके साथ जीवमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका सद्भाव सम्भव नही है, क्योकि वे क्षायोपशमिक हैं। तथा केवलज्ञानका विकास जीवमे समस्त ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर ही होता है, केवलज्ञानावरणकर्मका क्षय-होनेपर नही होता।

इसप्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन-पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव होनेसे मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव तो श्रुतज्ञानके बलसे कार्य-कारणभावका विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव निश्चित हो जानेसे केवलज्ञानी जीव कार्यकारणभावका विश्लेषण नही

करते है। एक बात और है कि मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव यत कृतकृत्य नही होते, अत उन्हे तो कार्योत्पत्तिके लिए कार्य-कारणभावका विश्लेपण करना अनिवार्य है, परन्तु केवलज्ञानी जीव यत कृतकृत्य होते है, अत. उन्हे कार्योत्पत्तिके अनावश्यक हो जानेसे उसमे हेतुभूत कार्य-कारणभावका विश्लेपण करना आवश्यक नही है।

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त-जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ विद्यमान है उन सबमें प्रतिसमय स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्ययके भेदसे दोनो प्रकारके परिणमन होते रहते है व उनमेसे जो स्व-परप्रत्यय परिणमन है वे प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगपूर्वक ही होते है। एव उन परिणमनोकी उत्पत्तिके लिए पदार्थोको प्रेरक और उदासीन निमित्तोका सहयोग प्राय निसर्गत ही प्राप्त रहता हैं। परन्तु किन्ही-किन्ही पदार्थोको उन प्रेरक और उदासीन निमित्तोका सहयोग आवश्यकतानुसार जीवोंके प्रयत्नपूर्वक भी होता है। जैसे रेलगाडीको उसकी चलनक्रियामे प्रेरक निमित्तभूत इजनका और उदासीन निमित्तभूत रेलपटरीका जो सहयोग प्राप्त होता है वह जीवोके प्रयत्नपूर्वक ही होता है।

यद्यपि कार्तिकेयानुपेक्षाकी गाथा—३२१-२२, पद्मपुराण सर्ग—११० के श्लोक—४० और अन्य आगम-वचनोसे भी यह ज्ञात होता है कि पदार्थोमे जो परिणमन होते है वे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें जैसे प्रतिभासित होते हैं वैसे ही होते है, परन्तु इस कथनका यह आशय नही ग्रहण करना चाहिए कि उन परिण-मनोकी उत्पत्तिमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे होनेवाला वह प्रतिभासन कारण होता है, क्योकि केवलज्ञानी जीव कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होने वाली पर्यायोको ही जानते हैं। अतएव केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार उन पर्यायोकी उत्पत्ति स्वीकार करना गलत है। फलत प्रकृत विषयमे दोनो पक्षोके मध्य जो मतभेद है वह इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष पदार्थोंके सभी परिणमनोकी उत्पत्तिमे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर क्रम-बद्धता अर्थात् नियतक्रमता स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष उन परिणकनोकी उत्पत्तिमे श्रुतज्ञानसे ज्ञात कार्य-कारणभावके आधारपर यथासम्भव क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनो ही बातोको स्वीकार करता है। अर्थात् पूर्वपक्षकी मान्यता है कि स्वप्रत्यय परिणमन तो प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगके बिना उपादानकारणजन्य होनेसे क्रमबद्ध ही होते है तथा स्व-परप्रत्यय परिणमन प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगपूर्वक उपादानकारणजन्य होनेसे प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी प्राप्तिके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप होते हैं। पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिके विपयमे दोनो पक्षोकी परस्परविरोधी इन मान्यताओमेंसे कौन मान्यता युक्त और कौन मान्यता अयुक्त हैं, इसका निर्णय किया जाता है—

१ यद्यपि कार्तिकेयानुप्रेक्षाको गाथा—३२१-२२, पद्मपुराण सर्ग—११० के श्लोक—४० एवं अन्य आगमवचनोके आधारपर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनो ही पदार्थोके परिणमनोके विपयमें यह स्वीकार करते है कि वे परिणमन जैसे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे प्रतिभासित होते है वैसे ही होते हैं। पर ध्यान रहे कि केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे होनेवाला पदार्थोके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमनोका वह प्रति-भासन उनको उत्पत्तिका नियामक नही होता है, क्योकि वास्तविकता यह है कि पदार्थोके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमन स्वकीय कार्य-कारणभावके आधारपर जिस रूपमे उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे हैं और

विवेकी है तो अपने प्रयत्नके सफल हो जानेपर वह अहकार नही करता है और असफल हो जानेपर हताश होकर अकर्मण्य भी नही होता है। परन्तु जीव यदि अविवेकी है तो वह अपने प्रयत्नके सफल होनेपर अहंकार करने लगता है व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य भी हो जाता है।

३ मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोको कार्योत्पत्तिके अवसरपर एक तो उसके विपयमे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्या प्रतिभासित हो रहा है ? इसकी जानकारी (ज्ञान) होनेका कोई नियम नही है। वे तो मात्र "जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" यह विकल्प ही कर सकते हैं। दूसरे, कार्योत्पत्तिके अवसर-पर कदाचित् किसी जीवको कार्योत्पत्तिके विषयमे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे जो प्रतिभासित हो रहा है उसका ज्ञान हो भी जावे, परन्तु वह जीव यदि अविवेकी है तो उस अविवेकके आधारपर वह अपना प्रयत्न विपरीत करनेको भी उद्यत हो सकता है। जैसे मारीचको तीर्थंकर ऋषभदेवकी दिव्यध्वनिके श्रवणसे जब यह ज्ञात हुआ कि वह भी तीर्थंकर होगा, तो 'नान्यथावादिनो जिना' ऐसा अटल विश्वास करके वह कुमार्गगामी बनकर नानाप्रकारकी कुत्सित योनियोमे वहुत काल तक भ्रमण करता रहा और जब वह सुबोधके आधारपर कुमार्गको त्यागकर सन्मार्गका पथिक बना तभी वह महावीरके रूपमे अन्तिम तीर्थंकर बन सका। इस विषयमे उत्तरपक्षका "मारीचको अन्तिम तीर्थंकर महावीर वनना था, इसलिए वह कुमार्गगामी बना।" यह कथन तर्कपूर्ण नही माना जा सकता है, क्योकि वह सन्मार्गपर चलकर उत्तम योनियोमे भ्रमण करके भी अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर बन सकता था। इससे निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोके परिणमनोकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त नही है अपितु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

४ श्रीकानजी स्वामीने तो भैया भगवतीदासजीके 'जो-जो देखी वीतरागने सो-सो होसी वीरा रे' इस वचनपर आधारित पर्यायोकी उत्पत्तिकी क्रमबद्धतामे अटूट विश्वास रखकर यहाँ तक मान लिया कि कार्योत्पत्तिके लिये किया जानेवाला जीवोका प्रयत्न (पुरुषार्थ) भी उसी क्रमबद्धताका अग है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब उन्हें शारीरिक व्याधि हुई, तो वे अपनेको महान् अध्यात्ममार्गी व अध्यात्मके अभूतपूर्व उपदेष्टा मानते हुए भी राजसी वैभवमे लिप्त रहनेके कारण उस व्याधिको सहन नही कर सके और भैया भगवतीदासजीके उक्त वचनके आधारपर पुरुषार्थहीन होकर वे न केवल इस मार्गको भूल गये, अपितु भक्तोकी प्रार्थना और डाक्टरोके सुझावोकी उपेक्षा करके उस व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए बम्बई जाकर जसलोक अस्पतालमे प्रविष्ट हुए एव वही कालकवलित हो गये। इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोके परिणमनोकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवोकी केवलज्ञानविषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है, किन्तु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

५ माना कि तीर्थंकर नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके श्रवणसे श्रोताओको ज्ञात हुआ कि बारह वर्ष व्यतीत होनेपर द्वारिकापुरी भस्म हो जायेगी और उसे भस्म न होने देनेके लिए लोगो द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी वह भस्म हो गयी, परन्तु इसमे ज्ञातव्य यह है कि द्वारिकापुरी तदनुरूप कारणोके मिलनेपर ही भस्म हुई वह तीर्थंकर नेमिनाथके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके बलपर अथवा भगवान नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके बलपर नही भस्म हुई। इसी प्रकार केवलज्ञानी जीवोके समान मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और

मन पर्ययज्ञानी जीवोकी भविष्यवाणियाँ भी यथायोग्य सत्य हो सकती है या होती है, परन्तु वहाँ भी कार्य तो श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर ही सम्पन्न होते है। मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोके यथायोग्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके बलपर अथवा उनकी भविष्य-वाणियोके बलपर नही। इस विवेचनसे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्ति-को केवलज्ञानी जीवकी केवलज्ञानविपयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणामोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

६ उत्तरपक्षकी मान्यता है कि भवितव्यता (भविष्यमे होनेवाली कार्योत्पत्ति) के अनुसार ही जीवकी बुद्धि हो जाती है। उसका पुरुषार्थ भी उसी भवितव्यताके अनुसार होता है और अन्य सहायक कारण भी उसी भवितव्यताके आधारपर प्राप्त होते है—

"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवमायश्च तादृश।
सहायस्तादृशाः सन्ति यादृशी भविव्यता॥"

सो उसकी यह मान्यता भी मिथ्या है क्योकि वह पक्ष भवितव्यताके अनुसार होनेवाली कार्योत्पत्तिमे कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय (पुरुषार्थ) और अन्य सहायक कारणोकी प्राप्ति भी उसी भवितव्यताके अनुसार मानता है। फलत ऐसी अवस्थामे उक्त बुद्धि, पुरुषार्थ और सहायक कारणोके विना भी कार्योत्पत्तिके होनेका प्रसंग उपस्थित होता है। इसपर यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि वह प्रसग उसको इष्ट है, तो उसका ऐसा कहना आप्तमीमासाकी कारिका[1] ८८, ८९, ९० और ९१ के कथनके विरुद्ध है। इस बातको दार्शनिक विद्वान् अच्छी तरह समझ सकते है।

तात्पर्य यह है कि आप्तमीमासाकी उक्त कारिकाओके अनुसार भवितव्यता (भविष्यमे होनेवाली) कार्योत्पत्ति), जिसे वर्तमानमें कार्योत्पत्तिको योग्यता, अदृष्ट या दैव कहा जाता है—के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है। तथा इससे होनेवाली कार्योत्पत्ति (उसकी कार्यरूप परिणति) जीवकी बुद्धि (श्रुतज्ञान और व्यवसाय (पुरुषार्थ) तथा अन्य सहायक कारणोका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है, अत भवितव्यताको उक्त बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायक कारणोकी प्राप्तिमे कारण नही माना जा सकता है। फलत उक्त कारिकाओके आधारपर यही निर्णीत होता है कि पदार्थमे विवक्षित भवितव्यता (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) हो उसे बुद्धि, पुरुषार्थ तथा अन्य साधनसामग्रीका योग प्राप्त हो जावे, तो ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पदार्थमे विवक्षित भवितव्यता विद्यमान रहनेपर भी यदि बुद्धि, व्यवसाय और अन्य

---

१. दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैव पौरुपत कथम्।
दैवतश्चेदविर्मोक्ष पौरुष निष्फल भवेत्॥८८॥
पौरुपादेवार्थसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवत कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघ स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥८९॥
विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यैतकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥९०॥
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत.।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात्॥९१॥

साधनसामग्रीका योग न प्राप्त हो तो विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि भवितव्यताके अनुसार जो कार्यकी उत्पत्ति होनी है वह बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायकसामग्रीकी अपेक्षाके बिना ही होती है, तो उसकी यह स्वीकृति एक तो आप्तमीमांसाकी उपर्युक्त कारिकाओंके विरुद्ध है और दूसरे वह अयुक्त भी है, क्योंकि कार्योत्पत्तिके विषयमें कारणसामग्रीकी अपेक्षा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ में व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० में भी स्वीकार की गयी है। सज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंके अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कसे भी ऐसा ही निर्णीत होता है।

निष्पत्ति

१ समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति-टीकाका जो कथन पूर्वमें उद्धृत किया गया है उसमें निर्दिष्ट "क्रमनियमित" शब्दका उत्तरपक्षने जो यह अर्थ समझा है कि "क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आयेगी, उसमें फेर-फार नहीं हो सकता।" उसे मैं उसकी भ्रमबुद्धिका परिणाम मानता हूँ, क्योंकि प्रकरणको देखते हुए उस 'क्रमनियमित' शब्दका क्रम अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममें नियमित अर्थात् निश्चित अर्थ ही संगत है। भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थकी एकजातीय नाना पर्यायोंकी उत्पत्ति एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही होती है, युगपत् अर्थात् एकसाथ एक ही समयमें नहीं होती। इस बातको पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

२ केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके अनुसार निर्णीत पर्यायोंकी क्रमबद्धताके आधारपर उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उन पर्यायोंकी उत्पत्ति श्रुतज्ञानके आधारपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों प्रकारसे होती है तथा श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं। इस विषयको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० तथा अन्य आगम-वाक्योंमें पर्यायोंकी जिस क्रमबद्धताका विवेचन किया गया है उसका उपयोग पर्यायोंकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका उपयोग कार्योत्पत्तिके लिए प्रयत्नशील जीवोंको अपने प्रयत्नमें सफल होनेपर अहंकार न करने व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य न बननेके लिए करना ही उचित है। यदि कोई व्यक्ति उसका उसके अतिरिक्त अन्य उपयोग करना चाहता है तो उसका मारीच व कानजीस्वामीके समान अकल्याण होना संभव है। इस विवेचनको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार प्रकृत विषयके संबंधमें अबतक जो विवेचन किया गया है उससे निर्णीत होता है कि पदार्थोंकी श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे निष्पन्न हुई, निष्पन्न हो रही और आगे निष्पन्न होने वाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी केवल-ज्ञानी जीवके केवलज्ञान द्वारा होने वाली ज्ञप्तिको ही क्रमबद्ध स्वीकार करना उचित है। उनकी उत्पत्तिको तो श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य करना ही युक्त और कल्याणकारी है।

मुझे इस बातका आश्चर्य है कि श्री कानजीस्वामीने अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे विरुद्ध आगम-के अभिप्रायको ग्रहणकर केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर निर्णीत पर्यायोंकी क्रमबद्धताका

श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावपर आधारित पर्यायोकी उत्पत्तिमें उपयोग किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि सोनगढसिद्धान्तवादी वर्ग भी उनके उपदेशसे प्रभावित होकर उनकी अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध मान्यताका अनुसरण कर रहा है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी और डॉ० हुकुमचंद्र भारिल्ल जयपुरने उक्त मान्यताको पुष्ट किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि डॉ हुकमचन्द्र भारिल्लकी 'क्रमबद्ध पर्याय' पुस्तकमे निर्दिष्ट आचार्यो मुनिराजो, व्रतियो, विद्वानो और लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओने आगमके अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा न करके उनकी मान्यताका समर्थन किया है और मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि कतिपय अन्य साधु, व्रती, विद्वान् और सामान्य जन भी कार्योत्पत्तिके विषयमे उनकी (कानजीस्वामीकी) उस मान्यताको स्वीकार करनेके लिए उत्सुक है। ऐसी विचित्र दशा देखते हुए मेरी दृष्टि आगमके उस वचनपर जाती है जिसमे यह बतलाया गया है कि सिद्धान्तग्रन्थोका पठन-पाठन गृहस्थोके लिए उचित नही है। वर्तमानमे तो आगमका वह वचन कतिपय साधु-संतोंपर भी लागू होता है। वास्तवमे सिद्धान्तका अनर्थ और दुरुपयोग रोकनेसे लिए ही आचार्योंने बडी सूझ-बूझसे सिद्धान्तग्रन्थोंके अध्ययनका सर्वसाधारणके लिए निषेध किया है।

मुझे आशा है कि सोनगढसिद्धान्तवादी सभी जन मेरे इस विवेचनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके तथ्यका निर्णय करेंगे। तथा आगमके अभिप्रायको समझनेमें लापरवाह एवं सशयमे पडे हुए पुरातन सिद्धान्तवादी सभीजन भी उत्पत्तिकी अपेक्षा आगम द्वारा स्वीकृत व अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे सिद्ध स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध और स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको निमित्तोंके समागमके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध ही मान्य करेंगे।

केवलज्ञानकी विषयमर्यादा

समयसार गाथा १०३ मे बतलाया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ सयुक्त या बद्ध होनेपर भी वे दोनो द्रव्य कभी तन्मयरूपसे एकरूताको प्राप्त नही होते। और न एक-दूसरे द्रव्यके गुण-धर्म ही एक-दूसरे द्रव्यमे सक्रमित होते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण सकमदि दव्वे।

पचास्तिकायकी गाथा ७ मे भी बतलाया गया है कि सभी द्रव्य परस्परमें प्रविष्ट होते हुए भी, परस्परको अवगाहित करते हुए भी और परस्पर (दूध और जलकी तरह) मिलकर रहते हुए भी कभी अपने स्वभावको नही छोडते है—

अण्णोण्णं पविसता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्च सगं सहावं ण विजहति ॥

तात्पर्य यह है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असख्यात् काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ है वे सभी यथायोग्य परस्पर संयुक्त होकर ही रह रहे है तथा जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध होकर भी रह रहे है। तथापि सभी द्रव्य अपने-अपने द्रव्यरूप, गुणरूप और पर्यायरूप स्वभावमें रह रहे है और रहते जावेगे। कोई भी पदार्थ संयुक्त या बद्ध दशामें दूसरे पदार्थकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको प्राप्त नही होता, न हो सकता है। इतना अवश्य है कि सभी पदार्थ यथायोग्य उस सयुक्त या बद्ध दशामें परस्परके सहयोगसे अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन करते

रहते है। जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल तो उस बद्ध दशामे परस्परके सहयोगसे अपना-अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन विकृत भी करते रहते हैं। समयसार गाथा ८० में कहा भी है कि जीवके परिणामोंके निमित्त (सहयोग) से पुद्गल कर्मरूप परिणत होते है और पुद्गलकर्मके निमित्त (सहयोग) से जीव भी तथैव (रागादिभावकर्मरूप) परिणत होता है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई ॥

समयसार गाथा ८१ मे यह भी कहा गया है कि बद्ध दशामें जीव पुद्गलकर्मगुणरूप परिणत नही होता और पुद्गलकर्म जीवगुणरूप परिणत नही होता। परस्परके निमित्तसे (सहयोगसे) दोनोका अपना-अपना परिणमन अवश्य होता है—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णपि ॥

यह वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उपर्युक्त सभी पदार्थ परस्पर सयुक्त होकर रह रहे हैं व जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल अनादिकालसे परस्पर बद्ध होकर भी रहते आये हैं, तथापि वे पदार्थ यथायोग्य उस सयुक्त दशामे या बद्ध दशामें भी सतत अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतामे ही विद्यमान है। जैसे सयुक्त दशामे आकाशकी अपनी द्रव्यरूपता नियत अनन्तप्रदेशात्मक ही है। धर्मकी, अधर्मकी और सभी जीवोमेंसे प्रत्येक जीवकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता नियत असख्यातप्रदेशात्मक ही है। तथा समस्त कालोमेसे प्रत्येक कालकी व समस्त पुद्गलोमेंसे प्रत्येक पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता एकप्रदेशात्मक ही है। ऐसी ही स्थिति सयुक्त दशामें उन पदार्थोंकी अपनी-अपनी गुणरूपता और स्वप्रत्यय एव स्व-परप्रत्ययपर्यायरूपताकी भी नियत है तथा बद्धदशामें जीव और पुद्गलकी व पुद्गल और पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता, व स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपताकी भी ऐसी ही स्थिति नियत है। यही कारण है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय (पद्य एक) में बतलाया गया है कि सभी पदार्थ केवलज्ञानमे दर्पणतलके समान अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता, और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्ययपर्यायरूपतासहित प्रतिसमय युगपत् पृथक्-पृथक् ही प्रतिफलित हो रहे है—

तज्जयति परं ज्योति समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

जो बात इस पद्यमे बतलाई गई है वही बात तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' (१-२९) सूत्रमे भी बतलाई गई है।

यह विवेचन हमे इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि उक्त सभी पदार्थ परस्पर सयुक्त रहते हुए भी जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध रहते हुए भी जब केवलज्ञानमे सतत् अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतासहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं तो उस स्थितिमे उन पदार्थोंकी सयुक्त दशाका व जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गलकी बद्धदशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमे नही हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि समयसार, गाथा १०३, पचास्तिकाय, गाथा ७ और समयसार, गाथा ८१ के अनुसार उक्त पदार्थोंका परस्पर पृथक्कपना वास्तविक सिद्ध होता है व उनकी यथायोग्य सयुक्त व बद्ध दशा

अवास्तविक सिद्ध होती है। इसलिए केवलज्ञानमें जब प्रतिक्षण पदार्थोंकी वास्तविक पृथक्-पृथक्‌रूपताका प्रतिभासन हो रहा है तो उसमें उनकी अवास्तविक यथायोग्य परस्पर सयुक्त दशाका या बद्ध दशाका प्रतिभासन होना सभव नही रह जाता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमेंसे मतिज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिसमे सीपकी वास्तविक सीपरूपताका और आस्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन सम्भव है। परन्तु उस मतिज्ञानमें भी जब सीपका वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन नही होता है और उसमे जब सीपकी अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन नही होता है।

यदि कहा जाये कि सीपकी रजतरूपता जैसी अवास्तविक है वैसी अवास्तविक पदार्थोकी सयुक्त दशा या बद्ध दशा नही है, क्योकि जिस प्रकार मतिज्ञानमे सीपकी अवास्तविक रजरूपताका प्रतिभासन मिथ्या माना जाता है उस प्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे होनेवाले पदार्थोकी सयुक्त दशा या बद्धदशाके प्रतिभासनको मिथ्या नही माना जाता है, इसलिए केवलज्ञानके विषयमे 'मतिज्ञानका उपर्युक्त उदाहरण अयुक्त है, तो इसका समाधान यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाली पदार्थोंकी सयुक्तदशा या बद्धदशा नानापदार्थनिष्ठ होनेसे उपचरित धर्मके रूपमे उपचारसे ही वास्तविक हैं। एकपदार्थनिष्ठ स्वरूपदृष्टिसे तो वह मिथ्या ही हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थके पृकक्-पृथक् स्वरूपका प्रतिभासन करनेवाले केवलज्ञानमें उसके प्रतिभासनका निषेध किया गया है, क्योकि केवलज्ञानमे सतत प्रत्येक पदार्थके पृथक्-पृथक् तदात्मक स्वरूपका ही प्रतिभासन होता है। इस विवेचनसे यह भी सिद्ध होता है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन केवलज्ञानमें होनेवाले पदार्थके प्रतिभासनसे विलक्षण ही होता है। इस विलक्षणताका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

१—यतः जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर ही प्रकट होता है, अत केवलज्ञानमे समस्त पदार्थोकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिके प्रतिभासनकी क्षमता होनेसे उसमे सभी पदार्थोकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिका पृथक् पृथक् प्रतिभासन होता है। यत जीवमे मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता हैं, अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है और मन पर्ययज्ञान मन पर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है, अत तीनो ज्ञानोमे अपने-अपने विषयभूत पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोका अखण्डरूपसे प्रतिभासन होनेकी क्षमता होनेसे उस पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोका ही अखण्डरूपसे प्रतिभासन होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उक्त प्रकार क्षायिक होनेसे केवलज्ञानमे होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन क्षण-क्षणमे परिवर्तनशील है वहाँ उक्त प्रकार क्षायोपशमिक होनेसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यज्ञान इन तीनोमे होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन अन्तर्मुहूर्तकालमें ही परिवर्तनशील हैं। एक-एक क्षणमे परिवर्तनशील नही है।

२—यत जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अत उसमें समस्त पदार्थोका प्रतिभासन मात्र स्व-सापेक्ष होनेसे असीम होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (१-२९) सूत्रसे जानी जाती है। इसके विपरीत जीवमें मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है अतः उसमे होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन पौद्गलिक स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र, कर्ण और मनके अवलम्बनपूर्वक होनेसे मर्यादित होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" (१-२६) सूत्रसे जानी जाती है। तथा जीवमे अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर व मनःपर्ययज्ञान मन.पर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते हैं। अत इनमे होनेवाला

पदार्थका प्रतिभासन स्वसापेक्ष होनेपर भी एक तो मात्र रूपी पदार्थका होता है। दूसरे वह प्रतिभासन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिए हुए होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "रूपिष्ववधे" (१-२७) व "तदनन्तभागे मन पर्ययस्य" (१-२८) दोनो सूत्रोसे जानी जाती है।

३—यत जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अत निराबाध होनेसे उसमें सयुक्त या बद्धपदार्थोका सयुक्त या बद्धरूपसे प्रतिभासन न होकर पृथक्-पृथक् ही होता है जबकि जीवमे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते हैं, अत बाधासहित होनेसे उनमे सयुक्त या बद्ध पदार्थोका प्रतिभासन तो सयुक्त या बद्धरूपमें ही होता है व असयुक्त व अबद्ध पदार्थोका प्रतिभासन असयुक्त या अबद्धरूपमे (पृथक्-पृथक्रूपमे) ही होता है। जैसे इन तीनो ज्ञानोमें दूध और जलके मिश्रणमें तो दूध और जलका मिश्रितरूपसे ही प्रतिभासन होता है और पृथक्-पृथक्रूपमें विद्यमान दूध और जलका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् ही होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मन पर्यज्ञानमे दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त अणुओके स्कन्धरूपको प्राप्त अणुओका प्रतिभासन पिण्डरूपसे ही होता है व पृथक्-पृथक्रूपमें विद्यमान अणुओका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् रूपसे ही होता है।

इससे निर्णीत होता है कि जहाँ केवलज्ञानमें सयुक्त या बद्ध पदार्थोका प्रतिभासन सयुक्त दशामें या बद्ध दशामे सयुक्त या बद्धरूपसे न होकर पृथक्-पृथक् रूपसे होता है वहाँ मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे अपने-अपने विषयभूत सयुक्त और बद्ध पदार्थोका प्रतिभासन पृथक्-पृथक्रूपसे न होकर संयुक्त और बद्धरूपसे ही होता है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारके उपयोगप्रकरण[1]में सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोको विभावज्ञानकी व क्षायिकपनेको प्राप्त केवलज्ञानको स्वभावज्ञानको सज्ञा दी है। इस विषयको मैंने जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर—४ के प्रथम दौरकी समीक्षामें स्पष्ट किया है।

पूर्वमें यह बात बतलायी जा चुकी है कि जीवमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो एकसाथ अनादिकालसे विद्यमान है। तथा किसी-किसी जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका अथवा अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान दोनोका भी विकास हो जाता है। परन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है। इससे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

---

१ जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विभावणाणत्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहिय असहाय तं सहावणाणत्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाण हवे दुविह ॥११॥
सण्णाण चउभेद मदिसुदओही तहेव मणपज्ज।
अण्णाणं तिवियप्प मदियाईभेददो चेव ॥१२॥
तह दसण उवओगी ससहावेदर-वियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं त सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
चक्खू अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छित्ति। गाथा १४ का पूर्वार्ध।

१—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव ता मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानसे ज्ञात पदार्थका उस श्रुतज्ञानके बलसे विश्लेषण भी करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेसे केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानसे ज्ञात पदार्थका कदापि विश्लेषण नही करते है।

२—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन.पर्ययज्ञानी जीव श्रुतज्ञानके बलसे एक ही पदार्थमे गुण-गुणीभावका भेद करके गुण और गुणीमें आधाराधेयभावका विश्लेषण करते है, तथा एक ही पदार्थमे भेदके बलपर उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावका भी विश्लेषण करते है। इतना ही नही, तादाम्यसम्बन्धाश्रित अन्य सभी प्रकारके सम्बन्धोका भी विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव एक ही पदार्थमे भेदकी अवास्तविकताके कारण उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेपण नही करते हैं।

३—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे नाना पदार्थोंमे भी आधाराधेयभाव और निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव आदि सयोगसम्बन्धाश्रित सभी प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण करते हैं। परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव नाना पदार्थोंमे सयोगसम्बन्धाश्रित उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोका कदापि विश्लेषण नही करते है।

४—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे अर्थ और शब्दमे वाच्य-वाचकभाव व पदार्थ व ज्ञानमें ज्ञेय-ज्ञायकभाव आदि विविध प्रकारके सम्बन्धोका भी विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव इस प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण नही करते है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोंका कार्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जाननेका तथा श्रुतज्ञानके द्वारा विविध प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण करना है वहाँ केवलज्ञानी जीवका कार्य केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानना तो है, परन्तु श्रुतज्ञानका अभाव होनेसे उक्त किसी भी प्रकारके सम्बन्धका विश्लेपण करना उसका कार्य नही है।

पुद्गलोंका आवश्यक विवेचन

जिस प्रकार कालद्रव्य अणुरूप है उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अणुरूप है। दोनोमें विशेषता यह है कि जहाँ कालद्रव्य असंख्यात है और निष्क्रिय है वहाँ पुद्गल द्रव्य अनन्त है और क्रियाशील भी है। काल और पुद्गल दोनो द्रव्योमे एक विशेषता यह भी है कि जहाँ सभी कालाणु स्वभावदृष्टिसे समान है वहाँ सभी पुद्गलाणु स्वभावदृष्टिसे समान नही है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावत काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच वर्णोंमेसे कोई एक वर्ण रहता है। अत सभी पुद्गलाणु वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके हो जाते है। वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके सभी पुद्गलाणुओमेसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा और कपायला इन पाँच रसोंमे कोई एक रस रहता है। अत सभी पुद्गलाणु पाँच वर्णो और पाँच रसोकी अपेक्षा ५ × ५ = २५ प्रकारके हो जाते हैं। इन २५ प्रकारके पुद्गलाणुओमेसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें सुगन्ध और दुर्गन्ध दो गन्धोंमेसे कोई एक गन्ध

रहता है। अत सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे २५ × २ = ५० प्रकारके हो जाते हैं। इन ५० प्रकारके पुद्गलाणुओमेसे प्रत्येक पुद्गलाणुमे स्निग्ध और रूक्ष इन दो स्पर्शोमेसे कोई एक स्पर्श रहता है। इस प्रकार सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे ५० × २ = १०० प्रकारके हो जाते है। इस १०० प्रकारके पुद्गलाणुओमेसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें शीत और उष्ण इन दो स्पर्शोमेसे कोई एक स्पर्श रहता है। अत सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे १०० × २ = २०० प्रकारके हो जाते है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि आगममें स्पर्शके स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, हल्का, भारी, कठोर और कोमल इस प्रकार आठ भेद बतलाये गये है। किन्तु सभी पुद्गलाणु यत एकप्रदेशात्मक ही होते है। अत उनमे स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श रहते हुए भी हल्का, भारी, कठोर, और कोमल इन चार स्पर्शोका सद्भाव सम्भव नही है, क्योकि हल्का, भारी, कठोर और कोमल ये चार स्पर्श नानाप्रदेशात्मक पुद्गल वस्तुमे ही सम्भव होते है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक पुद्गलाणुमे जो स्निग्ध और रूक्ष दो स्पर्शोमेसे कोई एक स्पर्श पाया जाता है, उसके आधारपर एक पुद्गलाणु दूसरे पुद्गलाणुके साथ बन्धको भी प्राप्त होता रहता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके "स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध" (५-३३) सूत्रसे स्पष्ट है। इस प्रकार दो आदि संख्यात, असख्यात और अनन्त पुद्गलपरमाणु जब परस्पर बन्धको प्राप्त हो जाते है तब उनमें हल्का, भारी, कठोर और कोमल इन चार स्पर्शोंके सद्भावकी सम्भावना हो जाती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "अणव स्कन्धाश्च" (५-२५) सूत्रमे पुद्गलके अणु और स्कन्ध दो भेद बतलाये गये है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हल्का और भारी तथा कोमल और कठोर परस्परसापेक्ष होकर ही उस-उस स्पर्शरूपताको प्राप्त होते हैं।

पुद्गलोमें पृथ्वी, जल अग्नि और वायु ये चार स्कन्ध तो प्रत्यक्ष अनुभवमे आते है। इनका निर्माण भी पुद्गलाणुओके परस्पर बन्धके आधारपर ही समझना चाहिए। गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ६०२ में जो बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म ओर सूक्ष्म-सूक्ष्म ये ६ भेद पुद्गलोंके बतलाये गये हैं, उनमेंसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि बादर-बादर स्कन्ध है। जल, तेल आदि बादर स्कन्ध हैं। छाया, आतप चाँदनी आदि बादर-सूक्ष्म स्कन्ध है। शब्द, गन्ध, रस आदि सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध है। ज्ञानावरणादिकर्म सूक्ष्म स्कन्ध है और अखण्ड पुद्गल परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्मरूपमे अणु ही है।

गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ५९३-९४ मे पुद्गलोके वर्गणाओके रूपमे २३ भेद भी बतलाये गये है। इनमेंसे वर्ग सूक्ष्म पुद्गलाणुरूप है और एकजातीय वर्गोके समूहका नाम वर्गणा है। इस तरह २३ वर्गणाओकी व्यवस्था आगमके अनुसार ज्ञातव्य है। यहाँ आवश्यक जानकर आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके विषयमे स्पष्टीकरण किया जाता है।

आहारवर्गणाके तीन भेद है। एक आहारवर्गणा वह है जिससे औदारिक शरीरकी रचना होती है। दूसरी आहारवर्गणा वह है जिससे वैक्रियिक शरीरका निर्माण होता है और तीसरी आहारवर्गणा वह है जो आहारकशरीररूप परिणत होती है। इनके भी यथासम्भव अनेक प्रकार आगमके आधारपर जान लेना चाहिए। जैसे तिर्यन्चोकी नाना जातियाँ देखनेमे आती हैं तो उनके शरीरका निर्माण भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी औदारिक वर्गणाओसे होता है। तैजसवर्गणासे तैजस शरीरका निर्माण होता है। भाषावर्गणासे शब्दकी रचना होती है व मनोवर्गणासे द्रव्यमनका निर्माण होता है। इसीप्रकार कार्मणवर्गणायें मूलमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारकी है व इनके बन्धकी अपेक्षा १४६ उत्तरभेद हैं। इनसे ही पृथक्-पृथक् उस-उस कर्मप्रकृतिका निर्माण होता है।

पुद्गलके विषयमें इतना जो विवेचन किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि जो अणुरूप अनन्त-पुद्गल हैं वे ही कालाणुओंकी तरह वास्तविक द्रव्य हैं, अत उनका प्रतिभासन ही केवलज्ञानमे होता है तथा पुद्गलाणुओंकी जितनी परस्पर सयुक्त या वद्ध दशाएँ हैं वे वास्तविक नही है अर्थात् उपचरित है, अत. पुद्गलाणुओकी संयुक्त या बद्ध दशामें भी पृथक्-पृथक् पुद्गलाणुका ही प्रतिभासन केवलज्ञानमे होता है। उन संयुक्त या वद्ध दशाओका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नही होता। इतना अवश्य है कि पुद्गलाणुकी सयुक्त या वद्ध दशाएँ लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोमे उपयोगी है अत. उन्हे भी उपचरितरूपसे वास्तविक कहा जाता है। तथा उनका यथासम्भव प्रतिभासन भी मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानमें होता है व श्रुतज्ञान द्वारा उनका विश्लेषण भी होता है। यह सब विषय पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है।

इसप्रकार "केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा" प्रकरणमें अब तक जो विवेचन किया गया है उससे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि विश्वमे एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असंख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलके रूपमे जितने पृथक्-पृथक् स्वतंत्रसत्ताधारी पदार्थ विद्यमान है वे सब पदार्थ परस्पर सयुक्त रहते हुए भी तथा जीव और पुद्गल एवं पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध रहते हुए भी अपनी-अपनी द्रव्य-रूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतामे ही रह रहे हैं, क्योकि प्रत्येक पदार्थकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपता सयुक्त या वद्ध दशामें भी एक दूसरे पदार्थकी द्रव्यरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतासे भिन्न तदात्मक एकत्व प्राप्त धर्म है तथा प्रत्येक पदार्थकी ऐसी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपताका प्रतिभासन ही केवलज्ञानमे होता है। इनके लौकिक व आध्यात्मिक क्षेत्रोमे उपयोगी होनेके कारण उपचरितरूपसे वास्तविक सयुक्त दशा या वद्ध दशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमे नही होकर मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें ही होता है। एव विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा होता है। अतएव इस विवेचनको ध्यानमे रखकर ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-२२ का, पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० का और कविवर भैया भगवतीदासजीके "जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" इस कथनका तथा इसी प्रकारके अन्य आगम-वचनोंका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही वर्तमानमे जैनागमका वास्तविक रहस्य समझमे आ सकता है व सोनगढ़ द्वारा स्थापित की गयी गलत व्यवस्थाओंसे दिगम्बर जैन समाजमे जो उथल-पुथल मच गयी है वह शान्त हो सकती है। इस विषयमे वर्तमान पीढ़ीके विद्वानोंका यह उत्तरदायित्व है कि वे जैन संस्कृतिके आगममे प्रतिपादित सिद्धान्तोंका निष्कषायभावसे सम्यक् उद्घाटन करें।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाके अन्तर्गत उपयोगी

प्रश्नोत्तर १ की सामान्य समीक्षा

प्रश्नोत्तर १ के आवश्यक अशोके उद्धरण

पूर्वपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नही ? त० च० पृ० १ ।

उत्तरपक्ष १—द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध नही है ।–त० च० पृ० १ ।

पूर्वपक्ष २—इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही है, सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नही है, क्योकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही पूछा है ।— त० च० पृ० ४ ।

उत्तरपक्ष २—यह ठीक है कि प्रश्नका उत्तर देते हुए समयसारकी ८० से ८२ तककी जिन तीन गाथाओका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रममें न पड जाय कि यदि आगममे निमित्तमे कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमे कर्ता बनकर कार्यको करता होगा । वस्तुत जैनागममें कर्त्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि जिनागममें कर्त्ताका लक्षण "जो परिणमन करता है वह कर्त्ता होता है" यह किया गया है ।–त० च० पृ० ८ ।

पूर्वपक्ष ३—इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमे जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्यकर्मोदयके बिना होते है या द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं । ससारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गतिभ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या वह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतत्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गतिभ्रमण कर रहा है ।

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमे दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमे दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था । आपने अपने दोनो वक्तव्योमे निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है ।

यह तो सर्वसम्मत है कि जीव अनादिकालसे विकारी हो रहा है । विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योकि दो पदार्थोके परस्पर बन्ध बिना लोकमे विकार नही होता । कहा भी है—"द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" —पद्मनन्दि-पचविंशतिका २३-७ ।

यदि क्रोध आदि विकारीभावोको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान वे भी जीवके स्वभाव-भाव हो जायेंगे और ऐसा माननेपर इन विकारीभावोका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसग आ जावेगा ।–त० च० पृ० १० ।

उत्तरपक्ष ३—इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमे ही हम यह बतला आये हैं कि ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्त मात्र है । विकारभाव और चतुर्गति-परिभ्रमणका मुख्यकर्त्ता तो स्वय आत्मा ही है । इस तथ्यकी पुष्टिमे हमने समयसार, पचास्तिकायटीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये है । किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान

माननेके लिये तैयार नही प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूलप्रश्नका उत्तर नही मानता, इसका हमे आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यकर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशका २ के उत्तरमे भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूलप्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही इस दूसरे वक्तव्यमे दिया गया है। "ससारी जीवके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमे कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्त मात्र है, मुख्यकर्त्ता नही" इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है यह अप्रासगिक है या अपर पक्षका यह कथन अप्रासगिक ही नही, सिद्धान्तविरुद्ध है, जिसमे उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है, इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दिपंचविंशतिका २३-७ का "द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्" इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है ? वह दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नही जा सकता, क्योकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमे नही कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्यातिटीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है।

> नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
> उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥
>
> —त० च० पृ० ३२

इन उद्धरणोंको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन

इन उद्धरणोको यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वजिज्ञासुओको यह समझमे आ जाए कि पूर्व पक्षने अपने प्रश्नोमें जो पूछा है उसका समाधान उत्तरपक्षके उत्तरसे नही होता। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है—

पूर्व पक्षके उद्धरणोसे यह स्पष्ट होता है कि वह उत्तरपक्षसे यह पूछ रहा है कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त होता है या नही। स्वय उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमे उस बातको स्वीकार किया है[1]। इसलिये उत्तरपक्षको अपना उत्तर या तो ऐसा देना चाहिए था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे निमित्त होता है। अथवा ऐसा देना चाहिए था कि वह उसमें निमित्त नही होता है—ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण द्रव्यकर्मके उदयके निमित्त हुए विना अपने आप ही होता रहता है।

उत्तरपक्षने प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि "द्रव्यकर्मके उदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नहीं है।" त० च० पृ० १।

इस उत्तरमे "व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है" इस कथनका आशय यह होता है कि

---

१. एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है।—त० च० पृ० ३२।

द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। स्वय उत्तरपक्षने भी अपने तृतीय दौरके अनुच्छेद १ मे यह स्वीकार किया है[1]। परन्तु पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमें यह नही पूछा है कि द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है या निश्चयनयका। अथवा यह नही पूछा है कि उक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारसे है या निश्चयसे। पूर्वपक्षका प्रश्न तो यह है कि द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नही (त० च० पृ० १)। इसका आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे निमित्त होता है या नही। अथवा यह आशय होता है कि द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है या नही। प्रश्नका स्पष्ट आशय यह होता है कि द्रव्यकर्मका उदय ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँपर उस रूपमें सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है और ससारी आत्मा द्रव्यकर्मोदयके निमित्त हुए बिना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणरूप परिणमन करता रहता है।

यत उत्तरपक्ष द्वारा दिये गये उक्त उत्तरसे उक्त प्रश्नका उपर्युक्त प्रकार समाधान नही होता, अत निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नही है।

उत्तर प्रश्नके बाहर भी है

उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें यह अतिरिक्त बात भी जोड दी है कि द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमे कर्तृ-कर्म सम्बन्ध नही है, जिसका प्रश्नके साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है, क्योकि पूर्वपक्षने अपने प्रश्नमे उनके मध्य कर्तृ-कर्म सम्बन्ध होने या न होनेकी चर्चा ही नही की है। इस तरह इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नही है।

उत्तर अप्रांसगिक है

यत उपर्युक्त विवेचनके अनुसार उत्तरपक्ष द्वारा दिया गया उत्तर पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर नही है अत स्पष्ट हो जाता है कि उक्त उत्तर अप्रसागिक है।

उत्तर अनावश्यक है

एक बात यह भी है कि दोनो ही पक्ष उक्त-नैमित्तिक सम्बन्धको व्यवहारनयका विषय मानते हैं। उसमें दोनो पक्षोके मध्य कोई विवाद ही नही है। इस बातको उत्तर पक्ष भी जानता है। अत. उसे अपने उत्तरमे उसका निर्देश करना अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमें दोनो पक्षोके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष व्यवहारनयके विषयको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ मानता है, परन्तु वह प्रकृत प्रश्नके विषयसे भिन्न होनेके कारण उसपर स्वतन्त्र रूपसे ही विचार करना सगत होगा। अतएव इस पर यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

दूसरी बात यह है कि द्रव्यकर्मके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें दोनो पक्ष कर्तृ-कर्म सम्बन्धको नही मानते है और मानते भी है तो उपचारसे मानते हैं। इस बातको भी

---

१. और दूसरी ओर द्रव्यकर्मोदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारनयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नही मानता, इसका हमें आश्चर्य है।—त० च० पृ० ३२।

उत्तरपक्ष जानता है। अत उसके द्वारा उत्तरमें इसका निर्देश किया जाना भी अनावश्यक है।

यद्यपि इस विषयमे भी दोनो पक्षोके मध्य यह विवाद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उस उपचारको सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे कथंचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ मानता है। इसपर भी यथावश्यक आगे विचार किया जायगा।

यत प्रसगवश प्रकृत विषयको लेकर दोनो पक्षोके मध्य विद्यमान मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाना तत्त्वजिज्ञासुओकी सुविधाके लिए आवश्यक है अत. यहाँ उनके मतैक्य और मतभेदका स्पष्टीकरण किया जाता है।

मतैक्यके विषय

१. दोनो ही पक्ष ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकारण और ससारी आत्माको उपादानकारण मानते है।

२ दोनो ही पक्ष मानते है कि उक्त विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उपादानकारणभूत संसारी आत्माका ही होता है। निमित्तिकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मका नही होता।

३. दोनो ही पक्षोकी मान्यतामे उक्त कार्यका उपादानकारणभूत संसारी आत्मा यथार्थ कारण और मुख्य कर्त्ता है व निमित्तिकारणभूत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्म अयथार्थ कारण और उपचरित कर्त्ता है।

४. दोनो ही पक्षोका कहना है कि उक्त कार्यके प्रति उपादानकारणभूत ससारी आत्मामे स्वीकृत उपादानकारणता, यथार्थकारणता और मुख्यकर्तृत्व निश्चयनयके विषय है और निमित्तकारणभूत उदय-पर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्ममे स्वीकृत निमित्तकारणता, अयथार्थकारणता और उपचरितकर्तृत्व व्यवहारनयके विषय हैं।

मतभेदके विषय

१. यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृति कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी मानते है, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्त कारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधारपर अकिंचित्कर और उपादानकारणभूत ससारी आत्माको उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी मानता है।

२ यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारणरूपसे स्वीकृत ससारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता मानते है, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर अयथार्थकारण और उपचरितकर्त्ता मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँपर उस कार्यरूप परिणत न होनेके साथ उपादानकारण-भूत ससारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर अयथार्थ कारण और उपचरितकर्त्ता मानता है।

३. यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्यकारण और मुख्यकर्त्ता रूपसे स्वीकृत ससारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानते है, परन्तु जहाँ उत्तर पक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, अयथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट

द्रव्यकर्मको उस कार्यरूप परिणत न होने और ससारी आत्माको उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अभूतार्थ मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानता है।

४ यद्यपि दोनो ही पक्ष प्रकृत कार्यके प्रति उपादानकारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता रूपसे स्वीकृत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर निश्चयनयका विषय मानते हैं, परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष उसी कार्यके प्रति निमित्तकारण, यथार्थकारण और उपचरित कर्त्ता रूपसे स्वीकृत उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको उस कार्य रूप परिणत न होने और ससारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधार पर सर्वथा अभूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पर उस कार्य रूप परिणत न होनेके आधार पर अभूतार्थ और संसारी आत्माकी उस कार्य रूप परिणतिमे सहायक होनेके आधारपर भूतार्थ मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यके प्रति दोनो पक्षोके मध्य न तो संसारी आत्माको उपादान कारण, यथार्थकारण और मुख्य कर्त्ता माननेके विषयमे विवाद है और न उसकी कार्यकारिता, भूतार्थता और निश्चयनय विषयताके विषयमें विवाद है। इसी तरह उसी कार्यके प्रति दोनो पक्षोके मध्य न तो उदयपर्याय विशिष्ट द्रव्यकर्मको निमित्त कारण, अयथार्थ कारण और उपचरितकर्त्ता माननेके विषयमे विवाद है और न उसकी व्यवहारनयविषयताके विषयमें विवाद है। दोनो पक्षोंके मध्य विवाद केवल उक्त कार्यके प्रति उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मकी उत्तरपक्षको मान्य सर्वथा अकिंचित्करता और सर्वथा अभूतार्थता तथा पूर्व पक्षको मान्य कथचित् अकिंचित्करता व कथचित् कार्यकारिता तथा कथचित् अभूतार्थता व कथचित् भूतार्थताके विषयमे है।

उपयुंक्त विवेचनके आधारपर दो विचारणीय बातें

उपयुंक्त विवेचनके आधार पर दो बातें विचारणीय हो जाती है। एक तो यह कि ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमे दोनो पक्षो द्वारा निमित्तकारणरूपसे स्वीकृत उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार उस कार्यरूप परिणत न होनेके आधार पर अकिंचित्कर और उपादान कारणभूत संसारी आत्माको उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उस कार्य रूप परिणत न होने और उपादानकारणभूत ससारी आत्माकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर माना जाय। और दूसरी यह कि उस उदयपर्यायविशिष्ट द्रव्यकर्मको पूर्व पक्षकी मान्यताके अनुसार उपयुंक्त प्रकारसे कथचित् अकिंचित्कर व कथचित् कार्यकारी मानकर उस रूपमें कथचित् अभूतार्थ और कथचित् भूतार्थ माना जाय, व इस तरह उसे अभूतार्थ और भूतार्थरूपमे व्यवहारनयका विषय माना जाए या उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार उसे वहाँपर उपयुंक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उस रूपमे सर्वथा अभूतार्थ माना जाए व इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ रूपमे व्यवहारनयका विषय माना जाए।

उपयुंक्त दोनो बातोंमेसे प्रथम बातके सम्बन्धमे विचार करनेके उद्देश्यसे ही खानिया तत्त्वचर्चाके अवसरपर दोनो पक्षोकी सहमतिपूर्वक उपयुंक्त प्रथम प्रश्न उपस्थित किया गया था। इतना ही नही, खानिया तत्त्वचर्चाके सभी १७ प्रश्न उभयपक्षकी सहमति पूर्वक ही चर्चाके लिये प्रस्तुत किये गये थे।

यहाँ प्रसगवश मैं इतना सकेत कर देना उचित समझता हूँ कि तत्त्वचर्चाकी भूमिका तैयार करनेके

अवसरपर पं० फूलचन्द्रजीने मेरे समक्ष एक प्रस्ताव इस आशयका रखा था कि चर्चाके लिए जितने प्रश्न उपस्थित किये जायेंगे वे सब उभय पक्षकी सहमतिसे ही उपस्थित किये जायेंगे और उपस्थित सभी प्रश्नोंपर दोनो पक्ष प्रथमतः अपने-अपने विचार आगमके समर्थन पूर्वक एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा दोनों ही पक्ष एक दूसरे पक्षके समक्ष रखे गये उन विचारोपर आगमके आधारपर ही अपनी आलोचनाएँ एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे और अन्तमे दोनो ही पक्ष उन आलोचनाओका उत्तर भी आगमसे प्रमाणित करते हुए एक दूसरे पक्षके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि प० फूलचन्द्रजीके इस प्रस्तावको मैंने सहर्ष तत्काल स्वीकार कर लिया था, परन्तु चर्चाके अवसरपर पं० फूलचन्द्रजी सोनगढके प्रतिनिधि नेमिचन्द्रजी पाटनीके दुराग्रहके सामने झुककर अपने उक्त प्रस्तावको रचनात्मक रूप देनेके लिए तैयार नही हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सभी प्रश्न उभय पक्ष सम्मत होकर दोनो पक्षोको समान रूपसे विचारणीय थे, वे पूर्वपक्षके प्रश्न बनकर रह गये और उत्तर-पक्ष उनका समाधानकर्त्ता बन गया।

यतः प्रश्नोको प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षने प्रमुख भूमिकाका निर्वाह किया था, अतः उसे एक तो पं० फूलचन्द्रजीके उक्त परिवर्तित रुखको देखकर उसको दृष्टिसे ओझल कर देना पड़ा और दूसरी बात यह भी थी कि उसके सामने तत्त्वनिर्णयका उद्देश्य प्रमुख था व उसको अणु मात्र भी यह कल्पना नही थी कि उत्तर-पक्ष पूर्वपक्षकी इस सहनशीलताका दुरुपयोग करेगा। परन्तु तत्त्वचर्चा अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तर पक्षने पूर्वपक्षकी सहनशीलताका तत्त्वचर्चामे अधिकसे अधिक दुरुपयोग किया है। यह बात तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षासे भी ज्ञात हो जायगी।

समीक्षा लिखनेमे हेतु

यत' उभय पक्ष सम्मत वे सभी प्रश्न उपर्युक्त प्रकार पूर्वपक्षके प्रश्न बन गये और उत्तरपक्ष उनका समाधानकर्त्ता। अत. इस समीक्षाका लिखना तत्त्वनिर्णय करनेकी दृष्टिसे आवश्यक हो गया है। एक बात और है कि पं० फूलचन्द्रजीके प्रस्तावके अनुसार दोनो पक्ष प्रत्येक प्रश्नपर यदि अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते तो दोनो पक्षोकी अन्तिम सामग्री एक-दूसरे पक्षकी समालोचनासे अछूती रहती। और इस तरह दोनो पक्षोकी अन्तिम सामग्रीपर मतभेद रहनेपर तत्त्वनिर्णय करनेका अधिकार तत्त्वजिज्ञासुओंको प्राप्त होता। परन्तु जिस रूपमें तत्त्वचर्चा सामने है उसमे अन्तिम उत्तर उत्तरपक्षका होनेसे तत्त्वजिज्ञासुओको तत्त्वनिर्णय कर लेना सम्भव नही रह गया है। इस दृष्टिसे भी इस समीक्षाकी उपयोगिता बढ गई है।

उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरमे विपरीत परिस्थितियोका निर्माण

पूर्वमे बतलाया जा चुका है कि प्रकृत प्रश्नको प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षका आशय इस बातको निर्णीत करनेका था कि द्रव्यकर्मका उदय संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणमें निमित्त रूपसे अर्थात् सहायक होने रूपसे कार्यकारी होता है या वह वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है व ससारी आत्मा द्रव्यकर्मके उदयका सहयोग प्राप्त किये विना अपने आप ही विकारभाव तथा चतुर्गतिभ्रमण करता रहता है। उत्तरपक्ष प्रश्नको प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षके इस आशयको समझता भी था, अन्यथा वह अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमे पूर्वपक्षके प्रति ऐसा क्यों लिखता कि "एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्त रूपसे स्वीकार करता है।" परन्तु जानते हुए भी उसने अपने प्रथम दौरमें, प्रश्नका उत्तर न देकर उससे भिन्न नयविषयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासगिक और अनावश्यक चर्चाको प्रारम्भ कर दिया। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने उत्तरमें विपरीत परिस्थितियोका निर्माण किया है और

इसके कारण ही पूर्वपक्षको अपने तृतीय दौरके अनुच्छेदमें यह लिखना पडा कि 'आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमे दिया गया है और न दूसरे वक्तव्यमे दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था। आपने अपने दोनो वक्तव्योंमें निमित्त-कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है।

उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर उल्टा आरोप

ऊपर किये गये स्पष्टीकरणसे यह ज्ञात हो जाता है कि उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० २ में जो यह लिखा है कि 'वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासगिक है या अपरपक्षका यह कथन अप्रासगिक ही नही सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण वाह्य सामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है।' सो उसका—उत्तरपक्षका ऐसा लिखना 'उल्टा चोर कोतवालको डाँटे' जैसा ही है, क्योकि उसने स्वयं तो पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर न देकर नयविपयता और कर्तृ-कर्म सम्बन्धकी अप्रासगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की, लेकिन अपनी इस त्रुटिको स्वीकार न कर उसने अप्रासंगिकताका उल्टा पूर्वपक्षपर ही आरोप लगाया। इससे यही स्पष्ट होता है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका उत्तर देनेमें आनाकानी की है और इसे छिपानेके लिये ही उसने उक्त अप्रासगिक और अनावश्यक चर्चा प्रारम्भ की। यही कारण है कि उसके इस प्रयत्नको पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न कहा है। इसी तरह उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमे जो यह लिखा है कि 'विकारका कारण बाह्यसामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है' सो यह भी पूर्वपक्षके ऊपर उत्तरपक्षका मिथ्या आरोप है, क्योकि पूर्वपक्ष, जैसाकि पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है, विकारकी कारणभूत बाह्यसामग्रीको उत्तरपक्षके समान अयथार्थ कारण ही मानता है।

इस विषयमे दोनो पक्षोके मध्य यह मतभेद अवश्य है कि जहाँ उत्तरपक्ष विकारकी कारणभूत उस बाह्यसामग्रीको वहाँ पूर्वोक्त प्रकार सर्वथा अकिंचित्कर रूपमें अयथार्थ कारण मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे वहाँ पूर्वोक्तप्रकार ही कथंचित् अकिंचित्कर और कथचित् कार्यकारी रूपमें अयथार्थ कारण मानता है। दोनो पक्षोकी परस्पर विरोधी इन मान्यताओमेंसे कौन-सी मान्यता आगमसम्मत है और कौन-सी आगमसम्मत नही है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके अनु० ३ में पूर्वपक्ष द्वारा तृतीय दौरमें उद्धृत 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस आगमवाक्यको लेकर उसपर (पूर्वपक्षपर) मिथ्या आरोप लगानेके लिये लिखा है कि 'अपरपक्षने पद्मनन्दिपचविशतिका २३–७ के 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस कथनको उद्धृत कर जो विकारको दो का कार्य बतलाया है सो वहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभावपरिणति है या दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है? वह दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति है यह तो कहा नही जा सकता, क्योकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमे नही कर सकते।'

इस विषयमें मेरा कहना है और उत्तरपक्ष भी जानता है कि उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय नही है कि दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, अपितु उसका अभिप्राय यही है कि एक वस्तुकी विकारी परिणति दूसरी अनुकूल वस्तुका सहयोग मिलनेपर ही होती है व पूर्वपक्षने इसी आशयसे उक्त आगमवाक्यको अपने वक्तव्यमें उद्धृत किया है, दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है, इस आशयसे नही। इस तरह उत्तरपक्षका पूर्वपक्षपर यह आरोप लगाना भी मिथ्या है।

जान पडता है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षपर उक्त प्रकारका मिथ्या आरोप लगानेकी दृष्टिसे ही उक्त आगमवाक्यका यह अभिप्राय लेना चाहता है कि दो द्रव्योकी मिलकर एक विभावपरिणति होती है। इस तरह कहना चाहिए कि उत्तरपक्षकी यह वृत्ति उस व्यक्तिके समान है जो दूसरेको अपशकुन करनेके लिये अपनी आँख फोडनेका प्रयत्न करता है।

अन्तमें मैं कहना चाहता हूँ कि तत्त्वफलित करनेकी दृष्टिसेकी जानेवाली इस तत्त्वचर्चामे ऐसे सारहीन और अनुचित प्रयत्न करना उत्तरपक्षके लिये शोभास्पद नही है। किन्तु उसने ऐसे प्रयत्न तत्त्वचर्चामें स्थान-स्थानपर किये है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरपक्षने अपने इसप्रकारके प्रयत्नो द्वारा पूर्वपक्षको उलझा देना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझ लिया था।

उत्तरपक्षके इस तरहके प्रयत्नोका एक परिणाम यह हुआ है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्वचर्चा न रह-कर केवल वितण्डावाद बन गई है और वह इतनी विशालकाय हो गई है कि उसमेसे तत्त्व फलित कर लेना विद्वानोके लिए भी सरल नही है।

यद्यपि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योमें शक्ति भर यह प्रयत्न किया है कि खानिया तत्त्वचर्चा तत्त्व फलित करने तक ही सीमित रहे। परन्तु इस विषयमे उत्तरपक्षका सहयोग नही मिल सका, यह खेदकी बात है।

वास्तविक बात यह है कि इस तत्त्वचर्चामें उत्तरपक्षने अपनी एक ही दृष्टि बना ली थी कि जिस किसी प्रकारसे अपने पक्षको विजयी बनाया जावे। इसलिए उसके आदिसे अन्त तकके सभी प्रयत्न केवल अपने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही हुए है।

यहाँपर मै एक बात यह भी कह देना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमे जिस आगमकी पग-पगपर दुहाई दी है उसका उसने बहुतसे स्थानोपर साभिप्राय अनर्थ भी किया है। जैसा कि पूर्वमें बत-लाया जा चुका है कि पद्मनन्दि पचविंशतिका २३-७ का उसने पूर्वपक्षका मिथ्या विरोध करनेके लिए जान-बूझकर विपरीत अर्थ करनेका प्रयत्न किया है और इसी तरहके प्रयत्न उसने आगे भी किये है जिन्हे यथास्थान प्रकाशमे लाया जायगा।

प्रश्नोत्तर २ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म-अधर्म होता है या नही ? त० च० पृ० ७६।

उत्तरपक्षका उत्तर—जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमे अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। त० च० पृ० ७६।

प्रश्न प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षका अभिप्राय—पूर्वपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म मानता है। यत उत्तरपक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म और अधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार नही है, अत उसने उत्तरपक्षके समक्ष प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था।

जीवित शरीरकी क्रियासे पूर्वपक्षका आशय—जीवित शरीरकी क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक तो जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया और दूसरी शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया। इन दोनोमेंसे प्रकृतमे पूर्वपक्षको शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया ही विवक्षित है, जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रिया विवक्षित नही है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनों जीवकी ही परिणतियाँ है और उनके सुख-दु ख रूप फलका भोक्ता भी जीव ही होता है। अत जिस जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामे धर्म और अधर्म होते है उसका कर्त्ता जीवको मानना ही युक्तिसंगत है, शरीरको नही।

उत्तरपक्षके उत्तरपर विमर्श—उत्तरपक्षने प्रश्नका जो उत्तर दिया है उससे उत्तरपक्षकी यह मान्यता ज्ञात होती है कि वह जीवित शरीरकी क्रियाको मात्र पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करके उससे आत्मामे धर्म और अधर्म होनेका निषेध करता है। उत्तरपक्षकी इस मान्यतामें पूर्वपक्षको जीवके सहयोगसे होनेवाली शरीरकी क्रियाकी अपेक्षा तो कुछ विरोध नही है, परन्तु आत्मामें होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति पूर्वपक्ष द्वारा कारण रूपसे स्वीकृत शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाकी अपेक्षा विरोध है। यदि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षको मान्य शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया रूप जीवित शरीरकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत करे तथा उससे आत्मामे धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति न माने तो उसकी इस मान्यतासे पूर्वपक्ष सहमत नही है, क्योंकि चरणानुयोगका समस्त प्रतिपादन इस बातकी पुष्टि करता है कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रिया जीवित शरीरकी क्रिया है और पुद्गल द्रव्यकी पर्याय न होनेसे अजीव तत्त्वमें अन्तर्भूत न होकर जीवकी पर्याय होनेसे जीव तत्त्वमे अन्तर्भूत होती है तथा उससे आत्मामें धर्म और अधर्म उत्पन्न होते है।

उत्तरपक्षके समक्ष एक विचारणीय प्रश्न

उत्तरपक्ष यदि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको स्वीकार न करे या स्वीकार करके भी उसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानकर उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करे तथा उसको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण न माने तो उसके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मामे धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिका आधार क्या है ? किन्तु पूर्वपक्षके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित नही होता, क्योंकि वह शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियाको आत्मामे होनेवाले धर्म और अधर्मके प्रति कारण रूपसे आधार मानता है।

यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि धर्म और अधर्मकी उत्पत्तिमे आत्माका पुरुषार्थ कारण है, तो वह पुरुषार्थ शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे भिन्न नही है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा। इसके अलावा यदि वह यह कहे कि आत्मामें धर्म और अधर्म आत्माकी कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूप नियतिके अनुसार होते है तो इस प्रकारकी नियतिका निर्माण आत्माकी नित्य उपादान शक्ति (स्वाभाविक योग्यता) के आधारपर शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप आत्मपुरुषार्थके बलपर ही होता है। इसका विशेष कथन प्रश्नोत्तर एककी समीक्षामें किया जा चुका है और आगे भी प्रकरणानुसार किया जायेगा।

प्रकृत विषयके सम्बन्धमे कतिपय आधारभूत सिद्धान्त

(१) धर्म और अधर्म दोनो जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन है और शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया उसकी (जीवकी) क्रियावती शक्तिका परिणमन है। और जीवकी क्रियावती शक्तिका यह प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियापरिणाम ही उसकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप धर्म और अधर्म मे कारण होता है।

(२) प्रकृतमें 'जीवित शरीर' पदके अन्तर्गत 'शरीर' शब्दसे शरीरके अगभूत द्रव्यमन, वचन (बोलनेका स्थान मुख) और शरीर इन तीनोका ग्रहण विवक्षित है, क्योंकि जीवकी भाववती शक्तीके परिणमनस्वरूप धर्म और अधर्ममें जीवकी क्रियावती शक्तिका प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप जो क्रियारूप परिणाम कारण होता है वह शरीरके अगभूत द्रव्यमन, वचन (मुख) और शरीर इन तीनोमेंसे प्रत्येकके सहयोगसे अलग-अलग प्रकारका होता है तथा जीवकी क्रियावती शक्तिका वह क्रियापरिणाम यदि बाह्य पदार्थोके प्रति प्रवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन अधर्म रूप होता है और यदि उसी क्रियावती शक्तिका वह क्रिया परिणमन बाह्य पदार्थोके प्रति प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होता है तो उसके सहयोगसे

आत्माकी उस भाववती शक्तिका वह परिणमन धर्मरूप होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

जीव द्रव्यमनके सहयोगसे शुभ-अशुभ सकल्पके रूपमे प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है, वचनके सहयोगसे शुभ-अशुभ बोलनेके रूपमे प्रवृत्तिरूप या इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है और शरीरके सहयोगसे शुभ-अशुभ हलन-चलनके रूपमे प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापार करता है। द्रव्यमन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाला जीवका उक्त शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप या उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप आत्म-व्यापारका अपर नाम आत्म-पुरुषार्थ है और इसे ही जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनके रूपमें जावकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रिया कहते है।

(३) जीवका संसार, शरीर और भोगोके प्रति अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, भोग और संग्रह रूप पाँच पापोके प्रति उक्त प्रकारका मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्म-व्यापार अशुभ कहलाता है व उसका देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, दान, अणुव्रत, महाव्रत, समिति आदिके प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापार शुभ कहलाता है। तथा उसका इन मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप आत्मव्यापारोसे मन, वचन और कायगुप्तियोके रूपमे निवृत्तिरूप शुद्ध-आत्मव्यापार होता है।

(४) शरीरके अंग-भूत द्रव्य मन, वचन और शरीरके सहयोगसे होनेवाले उक्त तीनो प्रकारके आत्म-व्यापारोमेंसे शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप दोनो प्रकारके आत्मव्यापारोंसे जीव यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है व उक्त प्रकारकी प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिरूप आत्मव्यापारोसे जीव उन कर्मोंका संवर और निर्जरण करता है। इस तरह बद्धकर्मोंके उदयसे जीवमें भाववती शक्तिके विभाव परिणामके रूपमे अधर्मभाव प्रगट होता है तथा बधनेवाले कर्मोंके बन्धमे रुकावटरूप संवर और बद्ध कर्मोके उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप निर्जरणसे जीवमे भाववती शक्तिके स्वभावपरिणमनके रूपमे धर्मभाव प्रगट होता है।

यहाँपर यह ज्ञातव्य है कि जब तक प्रथम गुणस्थानमे विद्यमान जीव केवल अशुभ प्रवृत्ति करता है तब तक वह यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करता है। तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोमे विद्यमान जीव जो अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करते है वे भी यथायोग्य कर्मोंका बन्ध ही करते हैं। इतना ही नही, यदि कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करने लगा हो तो वह भी कर्मोका बन्ध ही करता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य जीव कदाचित् आसक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर देता है तथा यथावश्यक या किंचित् अनिवार्य अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ प्रधानतया शुभ प्रवृत्ति करने लगता है तो वह भी कर्मोंका बन्ध ही करता है। लेकिन कोई विरला मिथ्यादृष्टि भव्य जीव या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीव आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागके आधारसे करणलब्धिके रूपमें आत्मोन्मुख हो जाता है तो वह यथायोग्य कर्मोंका सवर और निर्जरण भी करने लगता है व अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्ति करता हुआ कर्मोका आस्रव और बन्ध भी करता है। इसी प्रकार आशक्तिवश होनेवाली अशुभप्रवृत्तिके सर्वथा त्याग पूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका भी एक देश त्याग कर अपनी आत्मोन्मुखतामें वृद्धि कर लेता है तो

वह यथायोग्य कर्मोके संवर और निर्जरणमे वृद्धि कर यथायोग्य रूपमे विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी प्रकार आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ या पचम गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली प्रवृत्तिका यथायोग्य सर्वदेश त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामे और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोके सवर और निर्जरणमे और भी वृद्धि करके यथायोग्य रूपमे विद्यमान अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके साथ शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह आसक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आत्मोन्मुखताको प्राप्त प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम या षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव यदि अशक्तिवश होनेवाली अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्यागकर अपनी आत्मोन्मुखतामें और भी वृद्धि कर लेता है तो वह यथायोग्य कर्मोके संवर और निर्जरणमे और भी वृद्धि करके क्रमशः सप्तम, अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानोमें पहुँचकर केवल आभ्यन्तर शुभ प्रवृत्तिके आधारपर कर्मोंका आस्रव और बन्ध करता है। इसी तरह ऐसा दशम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तमें अपनी शुभ पुरुषार्थरूप प्रवृत्तिको भी समाप्त कर यथायोग्य आत्मोन्मुखताकी पूर्णताको प्राप्न होकर संवर और निर्जरणमें वृद्धि कर एकादश या द्वादश गुणस्थानमे और द्वादश गुणस्थानके पश्चात् त्रयोदश गुणस्थानमे केवल मानसिक, वाचनिक और कायिक योगप्रवृत्तिके आधारपर मात्र सातावेदनीय कर्मका केवल प्रकृति और प्रदेश बन्धके रूपमें आस्रव और बन्ध करने लग जाता है और त्रयोदश गुणस्थानवर्ती जीवकी जब उक्त योगप्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है तो वह चतुर्दश गुणस्थानके प्रारम्भमे पूर्ण सवरको प्राप्त कर तथा अन्त समयमें शेष विद्यमान अघातिया कर्मोंका भी क्षयके रूपमे पूर्ण निर्जरण करके नोकर्मोसे सर्वथा सम्बन्ध समाप्त कर सिद्ध पदवीको प्राप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप जीवित-शरीरकी क्रियाके आधारसे अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप विभावरूप अधर्मभावको प्राप्त होता है और अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुभ-अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप जीवित शरीरकी क्रियाके आधारसे वह अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप स्वभावरूप धर्मभावको प्राप्त होता है।

इस विवेचनके आधारसे उत्तरपक्ष यदि कदाचित् प्रकृत विषय सम्बन्धी आगमके अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा करे, तो मुझे विश्वास है कि वह पूर्वपक्षकी इस मान्यताको नियमसे स्वीकार कर लेगा कि शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियारूप जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है।

प्रश्नोत्तर ३ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?—त० च० पृ० ९३।

उत्तरपक्षका उत्तर—(क) इस प्रश्नमें यदि "धर्म" पदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नही है, क्योकि जीवदयाकी परिगणना शुभपरिणामोमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्यभाव माना है।—त० च० पृ० ९३।

(ख) यदि इस प्रश्नमें "धर्म" पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, सवर और निर्जरा तत्त्वमें अन्तर्भाव नही होता।—त० च० पृ० ९३।

जीवदयाके प्रकार

(१) जीवदयाका एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। इसे आगमके आधारपर उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष

भी मानता है तथा उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष यह भी मानता है कि पुण्यभाव रूप होनेके कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे होता है सवर और निर्जरामे अन्तर्भाव नही होता। इसके सम्बन्धमें दोनो पक्षोमें इतना मतभेद अवश्य है कि जहाँ पूर्वपक्ष पुण्यभाव रूप जीवदयाको व्यवहारधर्म रूप जीव दयाकी उत्पत्तिमे कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है। पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहारधर्म रूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण होती है, इस बातको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

(२) जीवदयाका दूसरा प्रकार जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप है। इसकी पुष्टि पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोमे धवल पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचनके आधार-पर की है—

"करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो"

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है अत॰ इसके कर्मजनित होनेका विरोध है।

यद्यपि धवलाके इस वचनमे जीवदयाको जीवका स्वत सिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीवके स्वत सिद्ध स्वभावभूत वह जीवदया अनादिकालसे मोहनीय कर्मकी क्रोध प्रकृतियोके उदयसे विकृत रहती आई है, अत मोहनीय कर्मकी उन क्रोध प्रकृतियोके यथास्थान यथायोग्य रूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जब वह शुद्ध रूपमे विकासको प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमे नही होता, क्योकि जीवके शुद्धस्वभावभूत होनेके कारण वह कर्मोके आस्रव और बन्धका कारण नही होती है। तथा इसका अन्तर्भाव सवर और निर्जरा तत्त्वमे भी नही होता, क्योकि इसकी उत्पत्ति ही सवर और निर्जरापूर्वक होती है।

(३) जीवदयाका तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्तिके रूपमे व्यवहारधर्मरूप है। इसका समर्थन पूर्वपक्षने अपने द्वितीय और तृतीय दौरोमें आगम प्रमाणोके आधारपर किया है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेके आधारपर सवर और निर्जराका कारण होनेसे सवर और निर्जरा तत्त्वमे होता है व दयारूप पुण्यप्रवृत्तिरूप होनेके आधारपर आस्रव और बन्धका कारण होनेसे आस्रव और बन्धतत्त्वमे भी होता है। कर्मोके संवर और निर्जरणमे कारण होनेसे यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जाव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है। तथा कदाचित् ससारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते है। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते है तो उनके अन्त करणमे उस अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे घृणा उत्पन्न हो जाती है और तव वे उस अदया-रूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त हो जाते है। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप संकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उत्पत्तिमे कारण सिद्ध होती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्ति भव्य जीवमें ही होती है, अभव्य जीवमें नही। तथा उस भव्य-जीवमे उसकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन-रूप कषायोकी क्रोध प्रकृतियोका यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर शुद्ध स्वभावके रूपमें उत्तरोत्तर प्रकर्षको लेकर होती है। इसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार है —

(क) अभव्य और भव्य दोनो प्रकारके जीवोकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे अनन्तानुवन्धी आदि उक्त चारो कषायोकी क्रोध प्रकृतियोके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनो प्रकारके जीवोमें उस अदयारूप विभावपरिणमनकी समाप्तिमें कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासकी योग्यता स्वभावत विद्यमान है। भव्य जीवोमे तो उस अदयारूप विभाव परि-णतिकी समाप्तिमे अनिवार्यकारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासकी योग्यता भी स्वभावत विद्य-मान है। इस तरह जिस भव्य जीवमे जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास हो जानेपर उक्त करणलब्धिका भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धिके बलसे उस भव्य जीवमें मोहनीय कर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियोका व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुवन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध प्रकृतिका भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमें उसको उस भाववतो शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे एक प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्य जीवमें यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्रमोहनीय कर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायकी नियममे विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर पचमगुणस्थानके प्रथम समयमें उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे दूसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीवमे यदि आत्मोन्मुखता रूप करणलब्धिका और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बलसे उसमें चारित्र-मोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषायकी नियमसे विद्य-मान मान, माया और लोभ प्रकृतियोके साथ क्रोध प्रकृतिका भी क्षयोपशम होनेपर सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमे उसकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमें तीसरे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थानको प्राप्त जीव सतत सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनो गुणस्थानोमें अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम दोनो गुणस्थानोमें झूलते हुये उस जीवमे यदि सप्तमगुणस्थानसे पूर्व ही दर्शनमोहनीय कर्मकी उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्मके प्रथम भेद अनन्तानुवन्धी कषायकी उक्त चार इन सात प्रकृतियोका उपशम या क्षय हो चुका हो अथवा सप्तम गुणस्थानमें ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानोमे क्रमश' अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके रूपमे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थानमें ही उस जीवमें चारित्रमोहनीय कर्मके उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोकी क्रोध प्रकृतियोके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके ही चतुर्थ

भेद सज्वलन कषायकी क्रोध प्रकृतिका भी उपशम या क्षय होनेपर उस जीवकी उस भाववती शक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मके रूपमे चौथे प्रकारकी जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवोकी भाववती शक्तिका अनादिकालसे चारित्रमोहनीयकर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कपायोकी क्रोध प्रकृतियोके सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता है, परन्तु जब जिस भव्य जीवकी उस भाववती शक्तिका वह अदयारूप विभावपरिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध प्रकृतिका यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर यथायोग्यरूपमे समाप्त होता जाता है तब उसके बलसे उस जीवकी उस भाववतीशक्तिका उत्तरोत्तर विशेषता लिये हुये शुद्ध स्वभावरूप निश्चयधर्मके रूपमे दयारूप परिणमन भी होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन उन क्रोध प्रकृतियोका यथास्थान यथायोग्यरूपमे होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीवमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदयाका विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीवमें उपर्युक्त पाँचो लब्धियोंका विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियोको क्रियावती शक्तिके ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तियोंसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वककी जानेवाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिका नाम ही व्यवहारधर्मरूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदयाके बलपर ही भव्य जीवमे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धियोका विकास होता है। इस तरह निश्चयधर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे व्यवहारधर्मरूप जीवदया कारण सिद्ध होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी इस व्यवहारधर्मरूप दयाको अगीकार करके अपनेमे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यताके कारण उसमें आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास नही होता है। इस तरह उसमे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीवदयाका विकास भी नही होता है। यहाँ यह भो ज्ञातव्य है कि भव्य जीवमे उक्त क्रोध प्रकृतियोका यथासम्भव रूपमें होनेवाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धिका विकास क्रमश क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चारो लब्धियोका विकास होनेपर ही होता है। अत इन चारो लब्धियोको भी उक्त क्रोध प्रकृतियोके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममे कारण माना गया है।

जीवकी भाववती और क्रियावती शक्तियोके सामान्य परिणमनोका विवेचन

जीवकी भाववती और क्रियावती दोनो शक्तियोको प्रश्नोत्तर २ की समीक्षामे उसके स्वत सिद्ध स्वभावके रूपमें बतलाया गया है। इनमेसे भाववतीशक्तिके परिणमन एक प्रकारसे तो मोहनीयकर्मके उदय-में विभावरूप व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें शुद्ध स्वभावरूप होते है व दूसरे प्रकारसे हृदयके सहारे-पर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते है।

एव क्रियावती शक्तिके परिणमन ससारावस्थामे एक प्रकारसे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते है। दूसरे प्रकारसे पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते है और तीसरे प्रकारसे सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके सहारेपर पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित आत्मक्रियाके रूपमे होते है। इनके अतिरिक्त संसारका विच्छेद हो जानेपर जीवकी क्रियावती शक्तिका चौथे प्रकारसे जो परिणमन होता है वह स्वभावत उर्ध्वगमनरूप होता है। जीवकी क्रियावती शक्तिके इन चारो प्रकारसे होनेवाले परिणमनोमेसे पहले प्रकारके परिणमन कर्मोके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकारके बन्धमें कारण होते है। दूसरे प्रकारके परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप होनेसे भव्यजीवमें यथायोग्य कर्मोके सवरपूर्वक निर्जरणमे कारण होते है व पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होनेसे यथायोग्य कर्मोके आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकारके बन्धमे कारण होते है। तीसरे प्रकारके परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपतासे रहित होनेसे केवल सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्धमे कारण होते है और चौथे प्रकारका परिणमन केवल आत्माश्रित होनेसे कर्मोके आस्रव और बन्धमे कारण नही होता है और कर्मोके सवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मोका सर्वथा अभाव हो जानेपर होनेसे उसके कर्मोके सवर और निर्जरणका कारण होनेका तो प्रश्न ही नही रहता है।

जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप परिणमनोका विश्लेषण

जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप व मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते है उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते है। एव कदाचित् ससारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते है। इसी तरह जीवकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानरूप और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते है उनसे प्रभावित होकर जीवकी क्रियावती शक्तिके एक तो अशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते है और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन होते है।

ससारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेषके वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थोके अनावश्यक भोग और सग्रह रूप क्रियायें सतत करता रहता है वे सभी क्रियायें सकल्पी पाप कहलाती है। इनमे सभी तरहकी स्वपरहितविघातक क्रियायें अन्तर्भूत होती है।

ससारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिरूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और सग्रहरूप क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें आरम्भी पाप कहलाती है। इनमे जीवनका सचालन, कुटुम्बका भरण-पोषण तथा धर्म, सस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोकका सरक्षण आदि उपयोगी कार्योको सम्पन्न करनेके लिये नीतिपूर्वक की जानेवाली असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और सग्रहरूप क्रियाये अन्तर्भूत होती है।

ससारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियायें करता है वे सभी क्रियायें पुण्य कहलाती है। इस प्रकारकी पुण्यरूप क्रियायें दो प्रकारकी होती है—एक तो सासारिक स्वार्थवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया। इनमेसे कर्त्तव्यवशकी जानेवाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रियासे ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके

अतिरिक्त वीतरागी देवकी आराधना, वीतरागताके पोषक शास्त्रोका पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीतरागताके मार्गपर आरूढ गुरुओकी सेवा-भक्ति तथा स्वावलम्बन शक्तिको जागृत करनेवाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्यक्रियाओमे अन्तर्भूत होते है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदिके वशीभूत होकर किये जाते है तथा पुण्य भी यदि अहकार आदिके वशीभूत होकर किये जाते है तो उन्हे सकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीवकी क्रियावती शक्तिके दया और अदया रूप परिणमनोका विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवकी भाववती शक्तिका चारित्रमोहनीय कर्मके भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायोकी क्रोध प्रकृतियोके उदयमे अदयारूप विभाव परिणमन होता है व उन्ही क्रोधप्रकृतियोके यथास्थान यथासम्भव रूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशममें दयारूप स्वभाव परिणमन होता है। यहाँ जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनोके विषयमें यह बतलाना है कि जीव द्वारा परहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें पुण्यके रूपमें दया कहलाती है और जीव द्वारा परके अहितकी भावनासे की जानेवाली क्रियायें संकल्पी पापके रूपमे अदया कहलाती है। इनके अतिरिक्त जीवकी जिन क्रियाओमें परके अहितकी भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहितकी भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे परका अहित होना निश्चित हो वे क्रियायें आरम्भी पापके रूपमे अदया कहलाती है। जैसे एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण करना सकल्पी पापरूप अदया है। परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षाके लिये उस आक्रमण व्यक्तिपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भी पापरूप अदया है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवकी पुण्यमय क्रिया सकल्पी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है और आरम्भी पापमय क्रियाके साथ भी सम्भव है, परन्तु सकल्पी और आरम्भी दोनो पापरूप क्रियाओमे जीवकी प्रवृत्ति एक साथ नही हो सकती है क्योकि सकल्पी पापरूप क्रियाओके साथ जो आरम्भी पापरूप क्रियायें देखनेमे आती है उन्हे वास्तवमे सकल्पी पापरूप क्रियाये ही मानना युक्तिसगत है। इस तरह सकल्पी पापरूप क्रियाओके सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भी पापरूप क्रियाये की जाती है उन्हें ही वास्तविक आरम्भी पापरूप क्रियायें समझना चाहिए।

व्यवहार धर्मरूप दयाका विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओके साथ परहितकी भावनासे की जानेवाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाये पुण्यके रूपमे दया कहलाती है और वे कर्मोके आस्रव और बन्धका कारण होती है। परन्तु भव्य और अभव्य दोनो प्रकारके जीवो द्वारा कम-से-कम मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दयाके रूपमे पुण्यमय शुभ क्रियाये की जाने लगती है वे क्रियायें ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती है। इसमे हेतु यह है कि उक्त सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओंसे निवृत्तिपूर्वक की जानेवाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोंके विकासका कारण होती है तथा भव्य जीवमे तो वह इन लब्धियोके विकासके साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिके विकासका भी कारण होती है जो करणलब्धि प्रथमत मोहनीयकर्मके भेद दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासभव रूपमें विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्मके भेद चारित्र-

मोहनीयकर्मकी अनन्तानुवन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात प्रकृतियोके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममे कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्मरूप दया भव्यजीवमे कर्मोके सवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध होती हैं। इतनी बात अवश्य है कि भव्यजीवकी उस व्यवहारधर्म-रूप दयामे जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्तिका अश विद्यमान रहता है वह तो कर्मोके आस्रव और वन्धका ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्मरूप दयाका सकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्तिसे होनेवाली सर्वथा निवृत्तिका अश कर्मोके सवर और निर्जरणका कारण होता है। द्रव्यसग्रह ग्रन्थकी गाथा ४५ मे जो व्यवहारचारित्रका लक्षण निर्धारित किया गया है उसके आधारपर व्यवहारधर्मरूप दयाका स्वरूप स्पष्ट रूपसे समझमे आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली शुभमे प्रवृत्तिको जिन भगवानने व्यवहारचारित्र कहा है। ऐसा व्यवहारचारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथामे व्रत, समिति और गुप्तिको व्यवहारचारित्र कहनेमे हेतु यह है कि इनमे अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिका रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथासे निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदयाको जब तक पापरूप अदयाके साथ करता है तब तक तो उस दयाका अन्तर्भाव पुण्यरूप दयामें होता है और वह जीव उक्त पुण्यरूप जीवदयाको जब पापरूप अदयासे निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहारधर्मका रूप धारण कर लेती है, क्योकि इस दयासे जहाँ एक ओर पुण्य-प्रवृत्तिरूपताके आधारपर कर्मोका आस्रव और बन्ध होता है वहाँ दूसरी ओर उस दयासे पापप्रवृत्तिसे निवृत्तिरूपताके आधार-पर भव्य जीवमे कर्मोका सवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहारधर्मरूप दयासे कर्मोका सवर और निर्जरण होता है इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेनके द्वारा जयधवलाके मगलाचरणकी व्याख्यामे निर्दिष्ट निम्न वचनसे होती है—

"सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो"

अर्थ—शुभ और शुद्धके रूपमें मिश्रित परिणामोसे यदि कर्मक्षय नही होता हो तो कर्मक्षयका होना असंभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेनके वचनमे "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदका ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेनके उक्त वचनके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमे 'सुह' और 'सुद्ध' दो शब्द विद्यमान हैं। इनमेसे 'सुह' शब्दका अर्थ भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमनके रूपमें और 'सुद्ध' शब्द-का अर्थ उस भव्य जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभसे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमनके रूपमें ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्दका अर्थ जीवकी भाववती शक्तिके पुण्यकर्मके उदय होनेवाले शुभ परिणामके रूपमे और 'सुद्ध' शब्दका अर्थ उस जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीयकर्मके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाले शुद्ध परिणमनके रूपमे ग्रहण करना युक्त नही है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मोके आस्रव और बन्धके कारण होते है और उसी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक उस

प्रवृत्तिरूप परिणमनोसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीवमे कर्मोंके सवर और निर्जरणके कारण होते हैं। जीवकी भाववती शक्तिके न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारण होते है और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मोंके सवर ओर निर्जरणके कारण होते है। इसमे यह हेतु है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका मन, वचन और कायके सहयोगसे जो क्रियारूप परिणमन होता है उसे योग कहते है—("कायवाङ्मन कर्मयोग" त० सू० ६-१)। यह योग यदि जोवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनोसे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते है और वह योग यदि जीवकी भाववती शक्तिके पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनोंसे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं। (शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभ। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो योग· अशुभ·"—सर्वार्थसिद्धि ६-३)। यह योग ही कर्मोका आस्रव अर्थात् बन्धका द्वार कहलाता है—("स आस्रवः" त० सू० ६-२)। इस तरह जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्धका कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योगकी शुभरूपता और अशुभरूपताका कारण होनेसे जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनोंको व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वधान रूप अशुभ परिणमनोको भी कर्मोंके आस्रवपूर्वक बन्धका कारण मानना अयुक्त नही है। परन्तु कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशीमें रखी हुई तेजावको भ्रमवश आँखकी दवाई समझ रहा है तो भी तबतक वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि नही पहुँचाती है जब तक वह डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे नही डालता है और जब डाक्टर उस तेजाबको रोगीकी आँखमे डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगीकी आँखको हानि पहुँचा देती है। इसी तरह आँखकी दवाईको आँखकी दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगीकी आँखमे नही डालता है तब तक वह दवाई उस रोगीकी आँखको लाभ नही पहुँचाती है। परन्तु जब डाक्टर उस दवाईको रोगीकी आँखमे डालता है तो तत्काल वह दवाई रोगीकी आँखको लाभ पहुँचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीवकी क्रियावती शक्तिका शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्धका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन व जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला तत्त्वज्ञानरूप शुभपरिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योगकी शुभरूपता और अशुभरूपतामे कारण होनेसे परम्परया आस्रव और बन्धमे कारण माने जा सकते हे। परन्तु आस्रव और बन्धमें साक्षात् करण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनके निरोधको ही कर्मके सवर और निर्जरणमे कारण मानना युक्त है—("आस्रवनिरोध सवर" त० सू० ९-१) जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममे होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोको सवर और निर्जराका कारण मानना युक्त नही है, क्योकि भाववती शक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीयकर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होनेके कारण सवर और निर्जराके कार्य होनेसे कर्मोके सवर और निर्जरणमे कारण सिद्ध नही होते है। एक बात और है कि जब जीवकी क्रियावती शक्तिके योगरूप परिणमनोंमे कर्मोंका आस्रव होता है तो कर्मोंके सवर और निर्जरणका कारण योगनिरोधको ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जिस जीवमे गुणस्थानक्रमसे जितना-जितना योगका निरोध होता जाता है उस जोवमे वहाँ उतना-उतना कर्मोंका संवर नियमसे होता जाता है तथा जब योगका पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मोका सवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मोंका संवर होनेपर बद्ध कर्मोंकी निर्जरा या तो निषेक रचनाके अनुसार सविपाक रूपमें

होती है अथवा "तपसा निर्जरा च" (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तपके बलपर अविपाक रूपमे भी होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीवकी भाववती शक्तिसे स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोको संवर और निर्जराका कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानोमे सातावेदनीय कर्मका आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूपमें बन्ध नही होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे ही भाववती शक्तिके स्वभावभूत परिणमनकी शुद्धताका पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घातिकर्मोंका तथा चारों अघातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना चाहिये। परन्तु जब ऐसा नही होता है तो यही स्वीकार करना पडता है कि वहाँ आस्रव और बन्धका मूल कारण योग है व विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनो घातिकर्मोंकी एव चारो अघातिकर्मोंकी निर्जरा निषेकक्रमसे ही होती हैं। त्रयोदय गुणस्थानमें केवली भगवान अघातीकर्मोंकी समान स्थितिका निर्माण करनेके लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्तिका ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवलाके मगलाचरणकी व्याख्यामें निर्दिष्ट आचार्य वीरसेनके उपर्युक्त वचनके अगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदमें आये 'सुह' शब्दसे जीवकी क्रियावती शक्तिके अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना ही सगत है। भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ व मोहनीय कर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशममे होनेवाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनोका अभिप्राय ग्रहण करना सगत नही है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जयधवलाके उक्त वचनके 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका अर्थ यदि जीवकी भाववती शक्तिके मोहनीय कर्मके यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशममे विकासको प्राप्त शुद्ध परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मके रूपमे स्वीकार किया जाये तो उस पदके अन्तर्गत "सुह" शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीवकी भाववतीशक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनके रूपमे तो स्वीकार किया ही नही जा सकता है, क्योकि जीवकी भाववती शक्तिके तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप वे परिणमन पूर्वोक्त प्रकार न तो कर्मोके आस्रव और बन्धके साक्षात् कारण होते है और न ही बद्ध कर्मोके सवर और निर्जरणके ही साक्षात् कारण होते हैं। इसलिए उस "सुह" शब्दका अर्थ यदि जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमे स्वीकार किया जाये तो यह भी सम्भव नही है, क्योकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मोंके आस्रव और बन्धका ही कारण होती है। अत उस "सुह" शब्दका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मके पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अशसे जहाँ कर्मोका आस्रव और बन्ध होता है वही उसके पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप अशसे कर्मोका सवर और निर्जरण भी होता हैं। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भी जीवकी भाववती शक्तिके स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमनको पूर्वोक्त प्रकार कर्मोके सवर और निर्जरणका कारण सिद्ध न होनेसे वहाँ "सुद्ध" शब्दका अर्थ कदापि नही माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवलाके "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दके निरर्थक होनेका प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अत उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" इस सम्पूर्ण पदका अर्थ जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिके रूपमें ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि कहा जाये कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति उसकी भाववतीशक्तिका शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मके रूपमे परिणमन होनेपर ही होती है, इसलिए "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्द निरर्थक

नही है तो इस बातको स्वीकार करनेमे यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्षकी प्राप्ति जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके होनेपर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मक्षयका कारण मानना अन्य बात है, क्योकि वास्तवमे देखा जाये तो द्वादश गुणस्थानवर्ती जीवका वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभावका ही अश है जो मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय होनेपर ही प्रकट होता है।

अन्तमें एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त "सुह-सुद्धपरिणामेहिं" पदके अन्तर्गत "सुद्ध" शब्दका जीवकी भाववतीशक्तिका स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्ण विकास हो जानेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घातिकर्मोका तथा चारो अघातिकर्मोंका एक साथ क्षय होनेकी प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीवकी भाववतीशक्तिके स्वभावभूत शुद्ध परिणमनके विकासका प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थानके अन्त समयमे मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जानेपर चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे होता है तो ऐसी स्थितिमें उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमनको कर्मोके सवर और निर्जरणका कारण कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नही माना जा सकता है। यह बात पूर्वमे स्पष्ट की जा चुकी है। उत्तरपक्षकी यह जो मान्यता है कि जीव द्रव्यकर्मोके उदयकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही अज्ञानी बना हुआ है और उन कर्मोसे यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं (अपने आप) ही ज्ञानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है सो इस मान्यताका निराकरण प्रश्नोत्तर एकको समीक्षामे किया जा चुका है तथा प्रश्नोत्तर षष्ठकी समीक्षामे भी किया जायेगा। इसी तरह उत्तरपक्षको मान्य नियतिवाद और नियतवादका निराकरण प्रश्नोत्तर पाँचकी समीक्षामे किया जायेगा।

प्रकृतमे कर्मोके आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जराकी प्रक्रिया

(१) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जबतक आशक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते है तबतक वे उस प्रवृत्तिके आधारपर सतत कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है। तथा इस सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्तिके साथ वे यदि कदाचित् सासारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते है तो भी वे उन प्रवृत्तियोके आधारपर सतत कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

(२) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आशक्तिवश होनेवाले सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्तव्यवश करने लगते हैं तब भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(३) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके रूपमें सर्वथा त्याग कर यदि अशक्तिवश होनेवाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है तो भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(४) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और

कायगुप्तिके रूपमे एक देश अथवा सर्वदेश त्यागकर कर्त्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है तो भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(५) अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा त्याग कर उक्त आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा व उक्त आरभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियोका अपनेमे विकास कर लेते है तो भी वे कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

(६) यत मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीवके ही होते हैं अभव्य जीवके नही, अत जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हो उनमें भी उक्त पाँचो अनुच्छेदोमेंसे दो, तीन और चार सख्यक अनुच्छेदोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्वसस्कारवश या सामान्यरूपसे लागू होती है तथा अनुच्छेद तीन और चारमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोमे भी लागू होती हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोमें अनुच्छेद एकमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे जीव एक तो केवल सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नही करते है व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होनेके कारण पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सासारिक स्वार्थवश नही करते है। तथा उनमें अनुच्छेद पाँचमे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियमसे मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोमे अनुच्छेद एक और दोमें प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसीलिए लागू नही होती क्योकि उनमें सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमे अनुच्छेद पाँच की व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए होनेके कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थानको ही प्राप्त करते है। इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थानकी ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मोका आस्रव और बन्ध ही किया करते है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोकी प्रवृत्तियाँ भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती है।

(७) उपर्युक्त जीवोसे अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्तिकी ओर झुके हुए हो अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्तिमे अनिवार्य कारणभूत करणलब्धिको प्राप्त हो गये हो वे नियमसे यथायोग्य कर्मोका आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्मकी यथासम्भवरूपमें विद्यमान मिथ्यातत्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात कर्मप्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशमके रूपमे सवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोमें विद्यमान जीव भी यथायोग्य कर्मोका आस्रव और वन्ध तथा यथायोग्य कर्मोका सवर और निर्जरण किया करते है।

उपर्युक्त विवेचनाका फलितार्थ

(१) कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी

किया करते है। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभके साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्तिको कर्त्तव्यवश किया करते है। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एव कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागपूर्वक कर्त्तव्य-वश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है।

(२) कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ पूर्व-सस्कारके वलपर कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है। कोई सासादनसम्यग्दृष्टि जीव पूर्व-संस्कारके वलपर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय अदयारूप शुभरूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है और कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वसस्कारवश सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा व आरम्भीपापरूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है। परन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि जीवकी यथायोग्य ये सब प्रवृत्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही हुआ करती है।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोके समान ही प्रवृत्ति ही किया करते है परन्तु उनमे इतनी विशेपता है कि वे संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूपमे नही करते है। तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी भी प्रवृत्तियाँ सासादन सम्यग्दृष्टि जीवके समान अवुद्धिपूर्वक ही हुआ करती है।

(४) चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोमे विद्यमान सभी जीव सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित होते है। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो अशक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है अथवा आरम्भीपाप-मय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(५) पचम गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे एकदेश निवृत्ति-पूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है, क्योकि ऐसा किये विना जीवको पचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नही होता है। इतना अवश्य है कि कोई पचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे-सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक भी कर्त्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

(६) षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्त्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति किया करते है; क्योकि ऐसा किये बिना जीवको षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नही होता।

(७) षष्ठ गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानोमे जीव आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्यरूपमे नही करते हुए अन्तरंगरूपमे ही तब तक करता रहता है जब तक नवम गुणस्थानमे उसकी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनकषायोको क्रोध प्रकृतियोके सर्वथा उपशम या क्षय करनेकी क्षमता प्राप्त नही होती। तात्पर्य यह है कि जीवके अप्रत्या-ख्यानावरण क्रोधकर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानके अन्त समय तक रहता है व पचम गुणस्थानमे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीवके प्रत्याख्यानावरण क्रोध

कर्मका उदय प्रथम गुणस्थानसे लेकर पचम गुणस्थानके अन्त समयतक रहा करता है व पष्ठ गुणस्थानमे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानोमें संज्वलन क्रोध कर्मका उदय ही रहा करता है। परन्तु सज्वलनक्रोधकर्मका उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मोका क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थानमें इनका सर्वथा उपशम या क्षय नही हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध पचम गुणस्थान तक ही होता है और सज्वलन क्रोध कर्मका बन्ध नवम गुणस्थानके एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्धका कारण जीवकी भाववती शक्तिके हृदय और मस्तिष्क के सहारेपर होनेवाले यथायोग्य परिणमनोसे प्रभावित जीवकी क्रियावती शक्तिका मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थानमे जब तक आरभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका यथा-योग्य रूपमे एकदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मका बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका एकदेश त्याग कर देता है और उस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमे उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रथम और तृतीय गुणस्थानोमे भी लागू होती है। इसी तरह जीव पंचम गुणस्थानमें जब तक आरभीपापमय अदया-रूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्मका बन्ध होता ही है। परन्तु यह जीव यदि आरभीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिका सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्यागके आधारपर उसमें कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मके क्षयोपशमकी क्षमता प्राप्त हो जाती है तो उस जीवमें उस क्रोध कर्मके बन्धका अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थानके समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानोमें भी लागू होती है। पंचम गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोमें तब तक जीव सज्वलन-क्रोधकर्मका बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थानमे बन्धके अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता है। और जब वह नवम गुणस्थानमें सज्वलनक्रोध कर्मके उपशम या क्षयकी क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उस जीवके उस क्रोधकर्मके बन्धका अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करनेमे मेरा उद्देश्य इस बातको स्पष्ट करनेका है कि जीवकी क्रियावती शक्तिके मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियोके रूपमें होनेवाले परिणमन ही क्रोधकर्मके आस्रव और बन्धमें कारण होते हैं व उन प्रवृत्तियोका निरोध करनेसे ही उन क्रोध कर्मोका सवर और निर्जरण करनेकी क्षमता जीवमें आती है। जीवकी भाववती शक्तिका न तो मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाला विभावरूप परिणमन आस्रव और बन्धका कारण होता है और न ही मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें होनेवाला भाववती शक्तिका स्वभावरूप शुद्ध परिणमन सवर और निर्जराका कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीवकी भाववतीशक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्व-श्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपताके आधारपर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मोके आस्रव और बन्धके पर-म्परया कारण होते हैं व तत्त्वश्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शनके रूपमें तथा तत्त्वज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञानके रूपमें यथायोग्य कर्मोके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोके सवर और निर्जराके भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावतीशक्तिके परिणमनस्वरूप जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियाँ यथायोग्य अशुभ और शुभ

कर्मोंके आस्रव और बन्धका साक्षात् कारण होती हैं तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक होनेवाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मोंके आस्रव और बन्धके साथ यथायोग्य कर्मोंके सवर और निर्जरणका साक्षात् कारण होती है एव जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप तथा दयारूप शुभरूपता और अदयारूप अशुभरूपतासे रहित जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्मके आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धका कारण होती है तथा योगका अभाव कर्मोंके सवर और निर्जरणका कारण होता है।

इस सामान्य समीक्षाके सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीवके शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्मरूप भी होती है व इस निश्चय धर्मरूप जीवदयाकी उत्पत्तिमे कारणभूत व्यवहार धर्मरूप भो होतो है। अर्थात् तीनो प्रकारकी जीवदयाएँ अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती है।

प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

१. प्रश्नोत्तर ४ की सामान्य समीक्षा

पूर्वपक्षका प्रश्न—व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममे साधक है या नही ? त० च० पृ० १२९।

उत्तरपक्षका उत्तर—निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नही है, क्योकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। त० च० पृ० १२९।

धर्मका लक्षण

वस्तुविज्ञान (द्रव्यानुयोग) की दृष्टिसे "वत्थुसहाओ धम्मो" इस आगम वचनके अनुसार धर्म यद्यपि आत्माके स्वत सिद्ध स्वभावका नाम है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान (करणानुयोग और चरणानुयोग) की दृष्टिसे धर्म उसे कहते है जो जीवको ससारदु खसे छुडाकर उत्तम अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य रूप मोक्षसुखमें पहुँचा देता।[1]

आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण

रत्नकरण्डकश्रावकाचार[2] मे आध्यात्मिक धर्मका विश्लेषण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे किया गया है जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससारके कारण होते है।

आध्यात्मिक धर्मका निश्चय और व्यवहार दो रूपोमे विभाजन और उनमे साध्य-साधक भाव

श्रद्धेय प० दौलतरामजीने छहढाला[3] मे कहा है कि आत्माका हित सुख है। वह सुख आकुलताके

---

१ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
ससारदु खत. सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

२. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥३॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार

३ आतम कौ हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहियै।
आकुलता शिवमाहिं न तातै शिवमग लाग्यो चहियै ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो ॥३-१॥

अभावमे प्रकट होता है। आकुलताका अभाव मोक्षमें है, अत जीवोको मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है। एव वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भागोमें विभक्त है। जो सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सत्यार्थ अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभावभूत है उन्हे निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं व जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयमोक्षमार्गके प्रगट होनेमें कारण है उन्हे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।

छहढालाके इस प्रतिपादनसे मोक्षमार्गका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके रूपमे विश्लेपण, उनकी निश्चय और व्यवहार दो भेदरूपता व निश्चय और व्यवहार दोनो मोक्षमार्गोमें विद्यमान साध्य-साधकभाव इन सबका परिज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त पचास्तिकायकी गाथा १०५ की आचार्य जयसेन कृत टीकामे[1] भी व्यवहारमोक्षमार्गको निश्चयमोक्षमार्गका कारण बतलाकर दोनो मोक्षमार्गोमें साध्य-साधकभाव मान्य किया गया है। तथा गाथा १५९, १६० और १६१ की आचार्य अमृतचंद्र कृत टीका[2] में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

निश्चयधर्मकी व्याख्या

करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार जीव अनादिकालसे मोहनीयकर्मसे बद्ध है और उसके उदयमें उसकी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववती शक्तिका शुद्धस्वभावभूत परिणमनके विपरीत अशुद्ध विभावभूत परिणमन होता है। भाववती शक्तिके इस अशुद्ध विभावरूप परिणमनकी समाप्ति करणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार मोहनीयकर्मके यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होती है। इस तरह जीवकी भाववती शक्तिके अशुद्ध विभावभूत परिणमनके समाप्त हो जानेपर उसका जो शुद्ध स्वभावभूत परिणमन होता है उसे ही निश्चयधर्म जानना चाहिए। इसके प्रकट होनेकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(क) सर्वप्रथम जीवमें दर्शनमोहनीयकर्मकी यथासम्भव रूपमे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन व चारित्रमोहनीयकर्मके प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक निश्चय-सम्यग्दर्शनके रूपमे व निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमे शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

(ख) इसके पश्चात् जीवमे चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका पचमगुणस्थानके प्रथम समयमें देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् जीवमे चारित्रमोहनीयकर्मके तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरणकषायकी नियमसे विद्यमान क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका क्षयोपशम होनेपर उस जीवकी भाववती शक्तिका सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमे सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्धस्वभावभूत परिणमन प्रकट होता है।

---

१. निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतो व्यवहारमोक्षमार्ग ।—गा० १०५, टीका।

२ (क) निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधकभावत्वात्। गा० १५९ की टीका।

(ख) निश्चयमोक्षमार्गसाधकभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्। गा० १६० की टीका।

(ग) व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्। गा० १६१ की टीका।

ऐसा सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तरालसे सप्तमसे षष्ठ और षष्ठसे सप्तम इस तरह दोनो गुणस्थानोमें यथायोग्य समय तक सतत झूलेकी तरह झूलता रहता है।

(घ) यदि वह सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव पहलेसे ही उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शन-को प्राप्त हो अथवा सप्तम गुणस्थानके कालमे ही वह उक्त औपशमिक या क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शनको प्राप्त हो जावे तो वह तब करणलब्धिके आधारपर नव नोकषायोके साथ चारित्रमोहनीयकर्मके द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण और तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण इन दोनो कषायोकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका तथा उसके चतुर्थ भेद सज्वलनकषायकी क्रोध, मान, माया और लोभ प्रकृतियोका भी यथास्थान नियमसे उपशम या क्षय करता है और उपशम होनेपर उसको भाववती शक्तिका एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमे औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा क्षय होनेपर उसकी भाववती शक्तिका द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे शुद्ध स्वभावभूत परिणमन प्रगट होता है।

व्यवहारधर्मकी व्याख्या

व्यवहारधर्मकी व्याख्या करनेसे पूर्व यहाँ मै यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नारकी, देव और तिर्यंच इन तीनो प्रकारके जीवोमें केवल अगृहीत मिथ्यात्व पाया जाता है। अत इनमे व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव नही है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमे अगृहीत मिथ्यात्वके साथ गृहीत मिथ्यात्व भी पाया जाता है। फलत मनुष्योमे व्यवहारधर्मका व्यवस्थित क्रमसे विवेचन करना सम्भव हो जाता है। अत यहाँ मनुष्योकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका विवेचन किया जाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार पापभूत अघातिकर्मोके उदयमें अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योकी भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर अतत्त्वश्रद्धानके रूपमे और मस्तिष्कके सहारेपर अतत्त्वज्ञानके रूपमें मिथ्या परिणमन होते रहते है तथा जब उनमे पुण्यभूत अघातिकर्मोका उदय होता है तब अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानरूप उन परिणमनोकी समाप्ति होनेपर उनकी उस भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर तत्त्वश्रद्धानके रूपमें और मस्तिष्कके सहारेपर तत्त्वज्ञानके रूपमे सम्यक्परिणमन होने लगते है। भाववती शक्तिके दोनो प्रकारके सम्यक् परिणमनोमेंसे तत्त्वश्रद्धानरूप परिणमन सम्यग्दर्शनके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है और तत्त्वज्ञानरूप परिणमन सम्यग्ज्ञानके रूपमे व्यवहारधर्म कहलाता है।

चरणानुयोगकी व्यवस्थाके अनुसार भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञानसे प्रभावित अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियाँ किया करते है और कदाचित् साथमे लौकिक स्वार्थवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करते है। तथा जब वे भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होते है तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त संकल्पी-पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोको सर्वथा त्याग कर मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ कर्त्तव्यवश पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ भी करने लगते है। इतना ही नही, भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानके आधारपर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य कदाचित् क्रियावती शक्तिके परिणमनस्वरूप उक्त सकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका भी एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए अनिवार्य आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते है। इस प्रकार अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य

भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोको सर्वथा त्याग कर जो अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमन-स्वरूप आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोके साथ पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं उन प्रवृत्तियोको नैतिक आधारके रूपमे व्यवहारधर्म कहा जाता है। तथा वे ही मनुष्य जब संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोंके सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करते हुए पुण्यभूत शुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं तब उन्हे क्रमशः देशविरति अथवा सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमे व्यवहारधर्म कहा जाता है।

प्रसंगवश मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्योकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप हृदयके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वश्रद्धान व्यवहारमिथ्यादर्शन कहलाता है। और उनकी उसी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला अतत्त्वज्ञान व्यवहार-मिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान इन दोनोसे प्रभावित उन मनुष्योकी क्रियावती शक्तिके परिणाम स्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापभूत जो अशुभ प्रवृत्ति हुआ करती है वह व्यवहारमिथ्याचारित्र कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रकारके व्यवहारमिथ्यादर्शन और व्यवहारमिथ्याज्ञानके विपरीत व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञानसे प्रभावित होकर वे अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य संकल्पी पापभूत अशुभ प्रवृत्तियोका सर्वथा त्याग करते हुए यदि अशक्तिवश आरम्भी पापका अणुमाण भी त्याग नही कर पाते है तो उनकी वह आरम्भी पापरूप अशुभ प्रवृत्ति व्यवहाररूप अविरति कहलाती है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पूर्वमें मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोके यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होनेवाले भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यक्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान व देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमे निश्चयधर्मका विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहाँ प्रथम गुणस्थानमे मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनो प्रकृतियो-के उदयमे भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्या-चारित्रके रूपमें, द्वितीय गुणस्थानमें मोहनीयकर्मकी अनन्तानुबन्धी प्रकृतिके उदयमे भाववती शक्तिके परिणमन-स्वरूप सासादनसम्यक्त्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमें एव तृतीय गुणस्थानमे मोहनीयकर्मकी सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे भाववती शक्तिके परिणामस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वभूत भावमिथ्यादर्शन, भावमिथ्याज्ञान और भावमिथ्याचारित्रके रूपमे निश्चय (भाव) अधर्मका भी विवेचन कर लेना चाहिए। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि चतुर्थ गुणस्थानके जीवमे नव नोकषायोके उदयके साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोके सामूहिक उदयमे जीवकी भाववती शक्तिका जो परिणमन होता है उसे भाव-अविरति जानना चाहिये। इसे न तो भावमिथ्याचारित्र कह सकते है और न विरतिके रूपमे भावसम्यक्चारित्र ही कह सकते है, क्योकि भावमिथ्याचारित्र अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होता है और विरतिके लिये कम-से-कम अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनो प्रकारके स्पष्टीकरणोके साथ ही यहाँ निम्नलिखित विशेषताये भी ज्ञातव्य है—

(१) अभव्य जीवोके केवल प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है जबकि भव्य जीवोंके प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर चतुर्थदश अयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त सभी गुणस्थान सम्भव है।

(२) निश्चयधर्मका विकास भव्य जीवोमे ही होता है, अभव्य जीवोमें नही होता। तथा भव्य जीवोमें

भी उस निश्चयधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयसे प्रारम्भ होता है, इसके पूर्वके गुणस्थानोसे नही होता।

(३) जीवके चतुर्थ गुणस्थानके प्रथम समयमे जो निश्चयधर्मका विकास होता है वह उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानके रूपमें होता है। इसके पश्चात् जीवके पचम गुणस्थानके प्रथम समयमे निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप देशविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमें होता है तथा इसके भी पश्चात् जीवके निश्चयधर्मका विकास सप्तम गुणस्थानके प्रथम समयमे उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप सर्वविरति निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है और जीवमे उसका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उत्तरोत्तर उत्कर्षके रूपमें विद्यमान रहता है। दशम गुणस्थानके आगे जीवके एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है अथवा दशम गुणस्थानसे ही आगे जीवके द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमें निश्चयधर्मका विकास उस जीवकी भाववती शक्तिके परिणमन स्वरूप क्षायिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे होता है तथा यह जीवके आगेके सभी गुणस्थानोमे विद्यमान रहता है।

(४) पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शनके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका हृदयके सहारेपर होनेवाला परिणमन है और दूसरा व्यवहारधर्म सम्यग्ज्ञानके रूपमें जीवकी भाववती शक्तिका मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाला परिणमन है। एव तीसरा व्यवहारधर्म नैतिक आचार तथा देशविरति व सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्रके रूपमें मन, वचन और कायके सहारेपर होनेवाला जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है। इस सभी प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमे सम्भव है और अभव्य व भव्य दोनो प्रकारके जीवोमें हो सकता है। इतना अवश्य है कि उक्त सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप तथा नैतिक आचाररूप व्यवहारधर्मका विकास प्रथम गुणस्थानमे नियमसे होता है क्योकि इस प्रकारके व्यवहारधर्मका विकास किये बिना अभव्य जीवमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियोका व भव्य जीवमें इन चारो लब्धियोके साथ करणलब्धिका विकास नही हो सकता है।

प्रथम गुणस्थानमे देशविरति और सर्वविरति सम्यक्चारित्र रूप व्यवहारधर्मके विकसित होनेका कोई नियम नही है परन्तु देशविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका विकास चतुर्थ गुणस्थानमें होकर पचम गुणस्थानमें भी रहता है। एवं सर्वविरति सम्यक्चारित्ररूप व्यवहारधर्मका पचम गुणस्थानमे विकास होकर आगे षष्ठसे दशम गुणस्थान तक उसका सद्भाव नियमसे रहता है।

यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक उस व्यवहारधर्मका सद्भाव अन्तरगरूपमें ही रहता है। तथा द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोमें यथासम्भव रूपमे रहनेवाला व्यवहारधर्म भी अबुद्धिपूर्वक ही रहता है। एकादश गुणस्थानसे लेकर आगेके सभी गुणस्थानोमे व्यवहारधर्मका सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ केवल निश्चयधर्मका ही सद्भाव रहता है। क्रियावती शक्तिके परिणमन स्वरूप व्यवहार अविरतिका सद्भाव प्रथम गुणस्थानसे चतुर्थ गुणस्थान तक ही सम्भव है।

जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक होती है

प्रकृतमें मोक्ष शब्दका अर्थ जीव और शरीरके विद्यमान सयोगका सर्वथा विच्छेद हो जाना है। जीव और शरीरके विद्यमान सयोगका सर्वथा विच्छेद चतुर्दश गुणस्थानमें तब होता है जब उस जीवके साथ बद्ध चार अघाती कर्मोका सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको चतुर्दश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब त्रयो-

दश गुणस्थानमें कर्मास्रवमे कारणभूत जीवके योगका सर्वथा निरोध हो जाता है। जीवको त्रयोदश गुणस्थानकी प्राप्ति तब होती है जब जीवके साथ बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मोका द्वादश गुणस्थानमें सर्वथा क्षय हो जाता है। जीवको द्वादश गुणस्थानकी प्राप्ति तव होती है जब जीवके साथ बद्ध मोहनीयकर्मप्रकृतियोका पूर्वमे यथासमय क्षय होते हुए दशम गुणस्थानके अन्त समयमे शेष सूक्ष्म लोभ प्रकृतिका भी क्षय हो जाता है। द्वादश गुणस्थानका अर्थ ही दशम गुणस्थानके अन्त समयमें मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मका पूर्णत हो जाना है। इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि जीवको मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्म पूर्वक होती है।

जीवको निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक होती है

जीवकी भाववती शक्तिका निश्चयधर्मके रूपमे प्रारम्भिक विकास चतुर्थगुणस्थानके प्रथम समयमे होता है और उसका वह विकास पचमादि गुणस्थानोमे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर एकादश गुणस्थानके प्रथम समयमें औपशमिक यथाख्यात निश्चयसम्यक्चारित्रके रूपमे अथवा द्वादश गुणस्थानके प्रथम समयमे क्षायिक यथाख्यात सम्यक्चारित्रके रूपमे पूर्णताको प्राप्त होता है। निश्चयधर्मका यह विकास मोहनीयकर्मकी उन-उन प्रकृतियोके यथास्थान यथासभव रूपमे होनेवाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम पूर्वक होता है। तथा मोहनीय-कर्मकी प्रकृतियोका यथायोग्य वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम भव्य जीवमे आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धिका विकास होनेपर होता है व उसमें उस करणलब्धिका विकास क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोके विकासपूर्वक होता है। एवं जीवमें इन लब्धियोका विकास व्यवहारधर्म पूर्वक होता है। यह व्यवहारधर्म अशुभ प्रवृत्तिसे निवृत्तिपूर्वक शुभमे प्रवृत्तिरूप होता है। जीवको इसकी प्राप्ति तब होती है जब उस जीवमे भाववती शक्तिके हृदयके सहारेपर होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्दर्शनकी और मस्तिष्कके सहारेपर होनेवाले तत्त्वज्ञानरूप व्यवहारसम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। इसके विकासकी प्रक्रियाको पूर्वमें व्यवहारधर्मकी व्याख्यामे बतलाया जा चुका है। इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारण होता है। यह विषय प्रश्नोत्तर २ और ३ की समीक्षासे भी जाना जा सकता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवको अपनी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें कारणभूत मोहनीयकर्मका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम करनेके लिए इस व्यवहारधर्मके अन्तर्गत एकान्तमिथ्यात्वके विरुद्ध प्रशमभाव, विपरीतमिथ्यात्वके विरुद्ध सवेगभाव, विनयमिथ्यात्वके विरुद्ध अनुकम्पाभाव, सशयमिथ्यात्वके विरुद्ध आस्तिक्यभाव और अविवेकरूप अज्ञानमिथ्यात्वके विरुद्ध विवेकरूप सम्यग्ज्ञानभावको भी अपनेमे जागृत करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवको समस्त जीवोके प्रति मित्रता (समानता) का भाव, गुणीजनोके प्रति प्रमोदभाव, दु खी जीवोके प्रति सेवाभाव और विपरीत दृष्टि, वृत्ति और प्रवृत्ति वाले जीवोके प्रति मध्यस्थता (तटस्थ) का भाव भी अपनानेकी आवश्यकता है। इस तरह सर्वांगीणताको प्राप्त व्यवहारधर्म उपर्युक्त प्रकार निश्चयधर्मकी उत्पत्तिमें साधक सिद्ध हो जाता है।
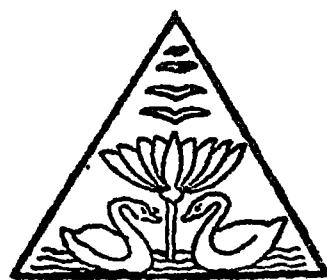
●

दर्शन और वाङ्मय

दर्शन और न्याय

●

भारतीय दर्शनोंका मूल आधार

'दर्शन' शब्द संस्कृत भाषाका शब्द है। यह शब्द संस्कृतव्याकरणके अनुसार "दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्" अथवा "दृश्यते = निर्णीयत इद (वस्तु तत्त्व) इति दर्शनम्" इन दोनो व्युत्पत्तियोके आधारपर "दृश्" धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर निष्पन्न 'दर्शन' शब्द तक, वितर्क मथन या परीक्षा स्वरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोंके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर निष्पन्न 'दर्शन' शब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधारा द्वारा निर्णीत तत्त्वोकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द दार्शनिक जगतमें इन दोनो प्रकारके अर्थोमे व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न दर्शनोकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें है उनको और जिन तार्किक मुद्दोके आधारपर उन मान्यताओका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

वर्तमान दृश्य जगत्की परपराको सभी दर्शनोमे किसी-न-किसी रूपसे अनादि स्वीकार किया गया है। इसलिए जगतकी इस परपरामे न मालूम कितने दर्शन विकासको प्राप्त होकर विलुप्त हो गये होगे और कौन कह सकता है कि भविष्यमें भी नये-नये दर्शनोका प्रादुर्भाव नही होगा। परन्तु आज हम सिर्फ उन्ही दर्शनोके बारेमें कुछ सोच सकते है जो उपलब्ध है या साहित्यके आधारपर जिनकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। ये दर्शन सबसे पहले भारतीय और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शनोंके रूपमे हमारे सामने आते है। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमें हुआ है वे दर्शन भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोमें हुआ है वे अभारतीय या पाश्चात्य दर्शनोके नामसे पुकारे जाते है।

भारतीय दर्शन भी दो भागोमें विभक्त किये गये है—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव और विकास हुआ है तथा जो वैदिक परम्पराके पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने गये हैं और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतत्र परम्परा है या जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन है उनको अवैदिक दर्शन स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शनोमें मुख्यत साख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन माने गये है और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनोंको अवैदिक दर्शन स्वीकार किया गया है। इनके अलावा छोटे-मोटे भेदो और उपभेदोंके रूपमें और भी वैदिक तथा अवैदिक दर्शनोको गणना की जा सकती है, परन्तु अनावश्यक विचारके भयसे उन्हें इस विभागक्रममें स्थान नही दिया गया है। आजकलके बहुतसे विद्वानोमें गीताको एक स्वतन्त्र दर्शन माननेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु वास्तवमें गीता कर्त्तव्यरूप धार्मिक या आध्यात्मिक महान उपदेश मात्र है। यही कारण है कि गीतामें स्थान-स्थानपर श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुनके लिए कर्मयोगकी ओर झुकनेकी प्रेरणा की गई है। गीताको कर्मयोगका प्रतिपादक ग्रन्थ मानना भी मेरे विचारके अनुसार ठीक नही है। लेकिन मैं इतना अवश्य स्वीकार करता हूँ कि गीतामें कर्मयोगके आधारपर प्रायः समस्त वैदिक दर्शनोंके समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है।

इन वैदिक और अवैदिक दर्शनोको दार्शनिक विकासके मध्य युगमें क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोंसे भी पुकारा जाने लगा था। परन्तु मालूम पड़ता है कि वैदिक और अवैदिक दर्शनोका इस प्रकारका नामकरण वेदपरम्पराके समर्थन और विरोधके कारण प्रशसा और निन्दा रूपमें साम्प्रदायिक व्यामोहके वशीभूत लोगों द्वारा किया गया है, कारण कि यदि प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध ये दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोंकी कोटिसे निकलकर आस्तिक दर्शनोंकी कोटिमें आ जायेंगे; क्योंकि ये दोनो दर्शन प्राणियोके जन्मान्तर

रूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिका समर्थन करते हैं। और यदि जगतका कर्ता अनादिनिधन ईश्वर को न माननेरूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमांसा इन दोनो वैदिक दर्शनो को उपस्थित दर्शनोकी कोटिमेंसे निकालकर नास्तिक कोटिमे पटक देना पडेगा, क्योकि ये दोनो दर्शन अनादि-निधन ईश्वरको जगतका कर्ता माननेसे इन्कार करते हैं। इस प्रकार ऊपर बतलाया गया सम्पूर्ण विभागक्रम अव्यवस्थित हो गया है। "नास्तिको वेदनिन्दक" इत्यादि प्रसिद्ध वाक्य भी हमे यह बतला रहे हैं कि वेद परम्पराको न मानने वालोके बारेमें ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्राय सभी सम्प्रदायवादियो-ने अपने सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालाको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके मानने वालोंको नास्तिक स्वीकार किया है। जैन सम्प्रदायमे भी जैन परम्पराके माननेवालोको सम्यक्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। मेरे कहनेका मतलब यह है कि भार-तीय दर्शनका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोके रूपमे विभाग किया गया है वह निरर्थक एव अनुचित है। इसलिए उनका विभाग उल्लिखित वैदिक और अवैदिक दर्शनोके रूपमे ही करना चाहिए।

उल्लिखित दर्शनोकी उत्पत्तिके बारेमे जब हम सोचते हैं, तो हमे इनके मूलमे दो प्रकारके वादोका पता चलता है—एक अस्तित्ववाद और दूसरा उपयोगितावाद। अर्थात् ये सभी दर्शन अस्तित्ववाद या उपयो-गितावादके आधारपर प्रादुर्भूत हुए हैं, ऐसा माना जा सकता है। जगत क्या और कैसा है? जगतमे कितने पदार्थोका अस्तित्व है? उन पदार्थोके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर सामान्यतया तत्त्वोका विचार करना अस्तित्ववाद कहलाता है और जगतके प्राणी दुखी क्यो हैं? वे सुखी कैसे हो सकते हैं? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर सिर्फ लोककल्याणोपयोगी तत्त्वोके बारेमे विचार करना उपयोगितावाद सम-झना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अस्तित्ववादके आधारपर वे सब तत्त्व मान्यताकी कोटिमे आ जाते हैं जिनका अस्तित्व प्रमाणोके आधारपर सिद्ध होता हो और उपयोगितावादके आधारपर सिर्फ वे ही तत्त्व मान्यताकी कोटिमें पहुँचते हैं जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हो। मेरी रायके मुताबिक इस उपयोगिता-वादका ही अपर नाम आध्यात्मिकवाद और अस्तित्ववादका ही दूसरा नाम आधिभौतिकवाद समझना चाहिये। जिन विद्वानोका यह ख्याल है कि समस्त चेतन और अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मासे मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड पदार्थसे मानना आधिभौतिक-वाद है, उन विद्वानोके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है और इस मतभेदसे मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उल्लिखित अर्थके मुताबिक जो वेदान्त दर्शनको आध्यात्मिक दर्शन तथा चार्वाक दर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया गया है वह ठीक नही है। मैंने अभारतीय दर्शनोका तो नही, परन्तु भारतीय दर्शनोका जो थोडा बहुत अध्ययन एवं चिन्तन किया है उससे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक ये वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके आधारपर ही प्रादुर्भूत हुए हैं, इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके अतर्गत माने जाने चाहिए। किसी भी दर्शनका अनुयायी आज अपने दर्शनके बारमे यह आक्षेप सहन नही कर सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिए नही हुआ है और इसका भी कारण यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिए समस्त भारतीय दर्शनोका मूल आधार उपयोगितावादको मानना युक्तिपूर्ण है।

लोककल्याणशब्दमें पठित लोकशब्द "जगतका प्राणिसमूह" अर्थमे प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है, इसलिए यहाँपर लोककल्याणशब्दसे "जगतके प्राणिसमूहका कल्याण" अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-

रूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिका समर्थन करते हैं। और यदि जगतका कर्ता अनादिनिधन ईश्वर को न मानने रूप अर्थमें नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो सांख्य और मीमासा इन दोनो वैदिक दर्शनो को उपस्थित दर्शनोकी कोटिमेसे निकालकर नास्तिक कोटिमे पटक देना पडेगा, क्योकि ये दोनो दर्शन अनादि-निधन ईश्वरको जगतका कर्ता माननेसे इन्कार करते है। इस प्रकार ऊपर बतलाया गया सम्पूर्ण विभागक्रम अव्यवस्थित हो गया है। "नास्तिको वेदनिन्दक" इत्यादि प्रसिद्ध वाक्य भी हमे यह बतला रहे हैं कि वेद परम्पराको न मानने वालोके बारेमे ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्राय सभी सम्प्रदायवादियो-ने अपने सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोंको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके मानने वालोको नास्तिक स्वीकार किया है। जैन सम्प्रदायमें भी जैन परम्पराके माननेवालोको सम्यक्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। मेरे कहनेका मतलब यह है कि भार-तीय दर्शनका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोके रूपमे विभाग किया गया है वह निरर्थक एवं अनुचित है। इसलिए उनका विभाग उल्लिखित वैदिक और अवैदिक दर्शनोके रूपमे ही करना चाहिए।

उल्लिखित दर्शनोकी उत्पत्तिके बारेमें जब हम सोचते है, तो हमे इनके मूलमें दो प्रकारके वादोका पता चलता है—एक अस्तित्ववाद और दूसरा उपयोगितावाद। अर्थात् ये सभी दर्शन अस्तित्ववाद या उपयो-गितावादके आधारपर प्रादुर्भूत हुए हैं, ऐसा माना जा सकता है। जगत क्या और कैसा है? जगतमें कितने पदार्थोंका अस्तित्व है? उन पदार्थोके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर सामान्यतया तत्त्वोका विचार करना अस्तित्ववाद कहलाता है और जगतके प्राणी दु खी क्यो है? वे सुखी कैसे हो सकते है? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर सिर्फ लोककल्याणोपयोगी तत्त्वोके बारेमें विचार करना उपयोगितावाद सम-झना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अस्तित्ववादके आधारपर वे सब तत्त्व मान्यताकी कोटिमे आ जाते है जिनका अस्तित्व प्रमाणोंके आधारपर सिद्ध होता हो और उपयोगितावादके आधारपर सिर्फ वे ही तत्त्व मान्यताकी कोटिमें पहुँचते है जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हो। मेरी रायके मुताविक इस उपयोगिता-वादका ही अपर नाम आध्यात्मिकवाद और अस्तित्ववादका ही दूसरा नाम आधिभौतिकवाद समझना चाहिये। जिन विद्वानोका यह ख्याल है कि समस्त चेतन और अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मासे मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थसे मानना आधिभौतिक-वाद है, उन विद्वानोके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है और इस मतभेदसे मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उल्लिखित अर्थके मुताविक जो वेदान्त दर्शनको आध्यात्मिक दर्शन तथा चार्वाक दर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया गया है वह ठीक नही है। मैंने अभारतीय दर्शनोका तो नही, परन्तु भारतीय दर्शनोका जो थोडा बहुत अध्ययन एव चिन्तन किया है उससे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय और वैशेषिक ये वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके आधारपर ही प्रादुर्भूत हुए है, इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके अतर्गत माने जाने चाहिए। किसी भी दर्शनका अनुयायी आज अपने दर्शनके बारमें यह आक्षेप सहन नही कर सकता हैं कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिए नही हुआ है और इसका भी कारण यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिए समस्त भारतीय दर्शनोका मूल आधार उपयोगितावादको मानना युक्तिपूर्ण है।

लोककल्याणशब्दमें पठित लोकशब्द "जगतका प्राणिसमूह" अर्थमें प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है, इसलिए यहाँपर लोककल्याणशब्दसे "जगतके प्राणिसमूहका कल्याण" अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-

कोई दर्शन प्राणियोके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते है और किन्ही-किन्ही दर्शनोमें सिर्फ दृश्य प्राणियोके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो प्रकारके पाये जाते है। एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्राय समष्टि-प्रधान है और दूसरे प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्राय व्यष्टिप्रधान है। मनुष्य समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोमेंसे है क्योकि मनुष्योका जीवन प्राय एक दूसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायतापर निर्भर है। बाकीके सभी दृश्य प्राणी पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छू, कीट, पतग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवन वाले प्राणी कहे जा सकते है; क्योकि इनके जीवनमे मनुष्यो जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताकी आवश्यकता प्राय देखनेमे नही आती है! व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही जैनदर्शनमे इन पशु, पक्षी आदि प्राणियोका तिर्यंग् (तिर्यञ्च) नामसे पुकारा जाता हैं, कारण कि तिर्यक् शब्दका समानता अर्थमे प्रयोग पाया जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोने अपने-अपने दर्शनके विकासमे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार जगत्के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोके कल्याणका लक्ष्य अवश्य रखा है। एक चार्वाक दर्शनको छोडकर उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोमे प्राणियोके जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिका समर्थन किया गया है, इसलिये इन दर्शनोके आविष्कर्ताओकी लोककल्याणभावनाके प्रति तो सदेह करनेकी गुजाइश ही नही है। लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोडा-बहुत चार्वाक दर्शनका हमे दिग्दर्शन होता है उससे उसके आविष्कर्ताकी लोककल्याण भावनाका पता भी हमे सहज हीमे लग जाता है।

"श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया, महाजनो येन गत स पन्था ॥"

इस पद्यमें चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिलता है। इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोक-कल्याणके लिये है तो उसे अखड एकरूप होना चाहिये-नाना रूप नही। लेकिन धर्मतत्त्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ नाना और परस्पर-विरोधी देखनेमें आती है। हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओने भी धर्मतत्त्वका प्रतिपादन एकरूपसे न करके भिन्न-भिन्न रूपसे किया है इसलिये उनके वचनोको भी सर्वसम्मत प्रमाण मानना असम्भव है। ऐसी हालतमें सर्वसाधारणके लिये धर्मतत्त्व एक गूढ पहेली बना हुआ है। अर्थात् धर्मतत्त्वके समझनेमे हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्मप्रवर्तक सहायक नही हो सकता है। इसलिए धर्मतत्त्वकी पहेलीमे न उलझ करके हमे अपने कर्त्तव्यमार्गका निर्णय महात्मापुरुषोके कर्त्तव्यमार्गके आधारपर करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि महात्मा पुरुषोका जीवन स्वपरकल्याणके लिये ही होता है, इसलिये हमारा जो कर्त्तव्य स्वपरकल्याणविरोधी न हो उसे ही अविवाद रूपसे हमे धर्म समझना चाहिये।" मालूम पडता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ताका अन्त करण धर्मके बारेमे पैदा हुए लोककल्याणके लिए खतरनाक मतभेदोंको देखकर ऊब गया था, इसलिए उसने दुनियाके समक्ष इस बातको रखनेका प्रयत्न किया था कि जन्मान्तररूप परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्ति जैसे अदृश्य तत्त्वोकी चर्चा, जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोडकर केवल हमे ऐसा कर्त्तव्यमार्ग चुन लेना चाहिये, जो जनहितका साधक हो सकता है और ऐसे कर्त्तव्यमार्गमे किसीको विवाद करनेकी भी कम गुजाइश रह सकती है।

"यावज्जीव सुखी जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥"

यह जो चार्वाकदर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पडती है। इस प्रकार दूसरे भारतीय दर्शनोकी तरह चार्वाकदर्शनको भी उपयोगितावाद अर्थात् आध्यात्मिकताकी कोटिसे बाह्य नही किया जा सकता है।

तत्त्वको दृष्टान्त देकर उसकी निर्लेपताका समर्थन किया गया है। इससे मालूम पडता है कि वेदान्तको परब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति अभीष्ट नही है। प्रत्युत उसकी निगाहमें आकाश एक स्वतन्त्र अनादिनिधन पदार्थ है और आकाशकी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्व भी परब्रह्म है, सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है। ये तत्त्व भी परब्रह्मसे उत्पन्न नही हुए है।

यहाँपर एक प्रश्न सिर्फ यह उपस्थित हो सकता है कि जब साख्य और वेदान्त दोनो दर्शनोमे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु और आकाश तत्त्वोका एक तो स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है और दूसरे साख्यकी मान्यतामें प्रकृतिसे तथा वेदान्तकी मान्यतामें परब्रह्मसे उनकी उत्पत्तिका समर्थन भी नही होता है, तो ऐसी हालतमें ये दोनो दर्शन अधूरे दर्शन रह जायँगे।

इसका समाधान यह है कि यदि हम यह बात मान लेते हैं कि यह दोनो दर्शन उपयोगितावादके आधारपर प्रादुर्भूत हुए है अर्थात् इन दोनोमे सिर्फ लोककल्याणोपयोगी तत्त्वोका ही वर्णन किया गया है तो फिर यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित ही नही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि साख्य और वेदान्त दर्शनोमें पृथ्वो आदि पाँच तत्त्वोकी न तो प्रकृति अथवा परब्रह्मसे उत्पत्ति मानी गई है और न इनका स्वतत्र अस्तित्व-के आधारपर ही वर्णन किया गया है, किन्तु इनका स्वतत्र अस्तित्त्व स्वीकार करते हुए भी लोककल्याणके लिए उपयोगी न होनेके कारण इन दोनो दर्शनोंने इन तत्त्वोके कथनके बारेमें सिर्फ उपेक्षावृत्ति धारण की है।

जैनदर्शन भी यद्यपि दूसरे सभी भारतीय दर्शनोकी तरह उपयोगितावादके आधारपर उत्पन्न हुआ है। परन्तु जैनदर्शनमें उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनो वादोके आधारपर स्वतत्र दो प्रकारकी तत्त्व-मान्यतायें पाई जाती है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोकी मान्यता उपयोगितावादके आश्रित है, क्योकि इस मान्यतामे सिर्फ जीव, जीवका ससार और उसके कारण तथा जीव-मुक्ति और उसके कारणरूप उपयोगी तत्त्वोको ही स्थान दिया गया है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन ६ तत्त्वोकी मान्यता अस्तित्ववादके आश्रित है, क्योकि इस मान्यतामे लोककल्याणोपयोगिताका ध्यान रखते हुए जगतके सम्पूर्ण पदार्थोके अस्तित्वपर सामान्यतया विचार किया गया है।

जैनदर्शनमें प्रमाण और नय*

व्याकरणके अनुसार दर्शनशब्द 'दृश्यते=निर्णीयते वस्तुतत्वमननेनेति दर्शनम्' अथवा 'दृश्यते निर्णीयत इद वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्, इन दोनो व्युत्पत्तियोके आधारपर दृश् धातुसे निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचारधाराका नाम है जो तत्त्वोके निर्णयमें प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्तिके आधारपर दर्शनशब्दका अर्थ उल्लिखित विचारधाराके द्वारा निर्णीत तत्त्वोकी स्वीकारता होता है। इस प्रकार दर्शनशब्द दार्शनिक जगत्मे इन दोनो प्रकारके अर्थोंमे व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न मतोकी जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यताये है उनको और जिन तार्किक मुद्दोके आधारपर उन मान्यताओका समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दोको दर्शनशास्त्रके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहले दर्शनोको दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है—भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षमे हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्षके बाहर पाश्चात्य देशोमे हुआ है वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये है। भारतीय दर्शन भी दो भागोमें विभक्त हो जाते है—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्पराके अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो वेदपरम्पराके पोषक दर्शन है वे वैदिक दर्शन माने जाते है और वैदिक परम्परासे भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक परम्पराके विरोधी दर्शन है उनका समावेश अवैदिक दर्शनोमे होता है। इस सामान्य नियमके आधारपर वैदिक दर्शनोमे मुख्यत साख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते है और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन अवैदिक दर्शन ठहरते है।

वैदिक और अवैदिक दर्शनोको दार्शनिक मध्यकालीन युगमे क्रमसे आस्तिक और नास्तिक नामोसे भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम पडता है कि इनका यह नामकरण साम्प्रदायिक व्यामोहके कारण वेद-परम्पराके समर्थन और विरोधके आधारपर प्रशसा और निन्दाके रूपमे किया गया है। कारण, यदि प्राणियोके जन्मान्तररूप परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिके न माननेरूप अर्थमे नास्तिक शब्दका प्रयोग किया जाय तो जैन और बौद्ध दोनो अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनोकी कोटिसे निकलकर आस्तिक दर्शनोकी कोटिमे आ जायेंगे, क्योकि ये दोनो दर्शन परलोक—स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी मान्यताको स्वीकार करते है। और यदि जगत्का कर्ता अनादिनिधन ईश्वरको न मानने रूप अर्थमे नास्तिकशब्दका प्रयोग किया जाय तो साख्य और मीमासा दर्शनोको भी आस्तिक दर्शनोकी कोटिसे निकालकर नास्तिक दर्शनोकी कोटिमे रख देना पडेगा, क्योकि ये दोनो दर्शन अनादिनिधन ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेसे इन्कार करते है। 'नास्तिको वेद-निन्दक' इत्यादि वाक्य भी हमे यह बतलाते है कि वेदपरम्पराको न माननेवालो या उसका विरोध करने-वालोके बारेमे ही नास्तिक शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोमें अपनी परम्पराके मानने-वालोको आस्तिक और अपनेसे भिन्न दूसरे सम्प्रदायकी परम्पराके माननेवालोको नास्तिक कहा गया है। जैनसम्प्रदायमे जैनपरम्पराके माननेवालोको सम्यग्दृष्टि और जैनेतर परम्पराके माननेवालोको मिथ्यादृष्टि कहनेका रिवाज प्रचलित है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनोका जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनोके रूपमें विभाग किया जाता है वह निरर्थक एवं अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनोमेंसे एक-दो दर्शनोको छोडकर प्राय· सभी दर्शनोका साहित्य काफी विशालताको लिये हुए पाया जाता है। जैनदर्शनका साहित्य भी काफी विशाल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो दर्शनकारोने समानरूपसे जैनदर्शनके साहित्यकी समृद्धिमे काफी हाथ बढाया है। दिगम्बर

* डॉ० कोठिया द्वारा सम्पादित न्यायदीपिकागत प्राक्कथन, १९४५।

और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोमे परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नही, आगमिक है। इसलिये इन दोनोके दर्शन-साहित्यकी समृद्धिके धारावाहिक प्रयासमे कोई अन्तर नही आया है।

दर्शनशास्त्रका मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूपव्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शनमे वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिये जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्तकी मान्यता) है। अनेकान्तका अर्थ है—परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोका एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनोमें वस्तुको सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमें वस्तुको सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शनकी यह सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर-विरोधी दो तत्त्वोका एकत्र समन्वयको सूचित करती है।

वस्तुकी इस अनेकधर्मात्मकताके निर्णयमें साधक प्रमाण होता है। इसलिये दूसरे दर्शनोकी तरह जैनदर्शनमें भी प्रमाण-मान्यताको स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनोमे जहाँ कारकसाकल्यादिको प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शनमे सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थके निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है, क्योकि ज्ञप्ति-क्रियाके प्रति जो करण हो उसीका जैनदर्शनमे प्रमाणनामसे उल्लेख किया गया है। ज्ञप्तिक्रियाके प्रति करण उक्त प्रकारका ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नही, कारण कि क्रियाके प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूपसे साधक कारणको ही व्याकरणशास्त्रमे करणसज्ञा दी गयी है[1] और अव्यवहितरूपसे ज्ञप्तिक्रियाका साधक उक्त प्रकारका ज्ञान ही है। कारकसाकल्यादि ज्ञप्तिक्रियाके साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूपसे साधक नही हैं, इसलिये उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है।

प्रमाण-मान्यताको स्थान देनेवाले दर्शनोमे कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाणको, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणोको, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणोको और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोको मानते हैं। कोई दर्शन एक सम्भव नामके प्रमाणको भी अपनी प्रमाणमान्यतामे स्थान देते है। परन्तु जैनदर्शनमें प्रमाणको इन भिन्न-भिन्न सख्याओको यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूलमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाणके स्वीकार किये गये है। प्रत्यक्षके अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियो और मनका साहाय्य होनेके कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके भेद अवधिज्ञान और मन-पर्ययज्ञानको जैनदर्शनमें देशप्रत्यक्ष सज्ञा दी गई है। कारण कि इन दोनो ज्ञानोका विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञानको सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है, क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत्के सपूर्ण पदार्थ अपने-अपने त्रिकालवर्ती विवर्तो सहित इसकी विषयकोटिमें एक साथ समा जाते है। सर्वज्ञमे केवलज्ञाननामक इसी सकलप्रत्यक्षका सद्भाव स्वीकार किया गया है। अतीन्द्रिप्रयत्यक्षको परमार्थप्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षको साव्यवहारिकप्रत्यक्ष

---

१. 'साधकतमं करणम्।' —जैनेन्द्रव्याकरण १।२।११३।

भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञानको आत्माका स्वभाव या गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रियप्रत्यक्ष इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्ररूपसे आत्मामें उद्भूत हुआ करते हैं, इसलिये इन्हे परमार्थ संज्ञा दी गई है और इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्तिमें इन्द्रियाधीन हैं, इसलिये वास्तवमे इन्हे प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अतः लोकव्यवहारकी दृष्टिसे ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तवमे तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको भी परोक्ष ही कहना उचित है। फिर जब ये प्रत्यक्ष पराधीन है तो इन्हे परोक्ष प्रमाणोमे ही अन्तर्भूत क्यो नहीं किया गया है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जिस ज्ञानमे ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका इन्द्रियोके साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो, परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञानको परोक्ष प्रमाणमे अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहो इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षो (साव्यवहारिकप्रत्यक्षो)मे प्रत्येककी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थायें स्वीकार की गयी है। अवग्रह—ज्ञानकी उस दुर्बल अवस्थाका नाम है जो अनन्तरकालमें निमित्त मिलनेपर विरुद्ध नानाकोटि विषयक सशयका रूप धारण कर लेती है और जिसमे एक अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। सशयके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटिविषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञानका नाम ईहा माना गया है। और ईहाके बाद अवग्रहज्ञानकी विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञानका नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तरमें होनेवाली स्मृतिका कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कही जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुषको सामने पाकर उसके बारेमे "यह पुरुष है" इस प्रकारका ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञानकी दुर्बलता इसीसे जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तरकालमें निमित्त मिल जानेपर "वह पुरुष है या ठूंठ" इस प्रकारके सशयका रूप धारण कर लिया करता है। यह सशय अपने अनन्तरकालमे निमित्तविशेषके आधारपर 'मालूम पडता है कि यह पुरुष ही है' अथवा 'उसे पुरुष ही होना चाहिये' इत्यादि प्रकारसे ईहाज्ञानका रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहाज्ञान ही अपने अनन्तर समयमे निमित्तविशेषके बलपर 'वह पुरुष ही है' इस प्रकारके अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है। यही ज्ञान नष्ट होनेसे पहले कालान्तरमें होनेवाली 'अमुक समयमे अमुक स्थानपर मैंने पुरुषको देखा था' इस प्रकारकी स्मृतिमें कारणभूत जो अपना सस्कार मस्तिष्कपर छोड जाता है उसीका नाम धारणाज्ञान जैनदर्शनमें माना गया है। इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष (साव्यवहारिकप्रत्यक्ष) भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न निमित्तोके आधारपर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपोको धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मनसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानमें सम्भव हुआ करते है। जैनदर्शनमें प्रत्यक्षप्रमाणका स्पष्टीकरण इसी ढङ्गसे किया गया है।

जैनदर्शनमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेद स्वीकार किये गये है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमेंसे धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञानविशेषका नाम स्मृति है। स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थोंके एकत्व अथवा सादृश्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है, प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थोंके अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिका ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधनसे साध्यका ज्ञान अनुमान माना गया है। इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है' ऐसा निर्णय हो जानेके बाद ही श्रोता किसी शब्दको सुनकर उसके अर्थका ज्ञान कर सकता है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि साव्यवहारिकप्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्षप्रमाण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षजन्य है। बस, साव्यवहारिकप्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणमे इतना ही अन्तर है।

जैनदर्शनमे शब्दजन्य अर्थज्ञानको आगमप्रमाण माननेके साथ-साथ उस शब्दको भी आगमप्रमाणमें

संग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शनमें आगमप्रमाणके दो भेद मान लिये गये हैं—एक स्वार्थ-प्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही है। परन्तु एक आगमप्रमाण ही ऐसा है, जिसे स्वार्थप्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है। शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञानरूप होनेके कारण स्वार्थप्रमाणरूप है। लेकिन शब्दमें चूँकि ज्ञानरूपताका अभाव है इसलिये वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्यके भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे दो या दोसे अधिक पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं और दो या दोसे अधिक वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं, दो या दोसे अधिक महावाक्योंके समूहको भी महावाक्यके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि परार्थप्रमाण एक सखण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाणके जो खण्ड हैं उन्हें जैनदर्शनमें नयसंज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जैनदर्शनमें वस्तुस्वरूपके व्यवस्थापनमें प्रमाणकी तरह नयोंको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नयोंका लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिये—

"वक्ताके उद्दिष्ट अर्थका पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्तासे उद्दिष्ट अर्थके अंशका प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्यको नयसंज्ञा दी गयी है।"

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय वचनरूप है और चूँकि वस्तुनिष्ठ सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर-विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है, इसलिए इनके आधारपर जैनदर्शनका सप्तभंगीवाद कायम होता है। अर्थात् उक्त सत्व और असत्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तुके प्रतिपादनमें उक्त परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय सात रूप धारण कर लिया करते हैं।

प्रमाणवचनके सात रूप निम्न प्रकार हैं

सत्व और असत्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका पहला रूप है। असत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका दूसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन करना प्रमाणवचनका तीसरा रूप है। सत्व और असत्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एकसाथ) वस्तुका प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये अवक्तव्य नामका चौथा रूप प्रमाणवचनका निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ सत्वमुखेन वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है इस तरहसे प्रमाणवचनका पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादन-की असम्भवताके साथ-साथ असत्वमुखेन भी वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका छठा रूप बन जाता है। और उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तुके प्रतिपादनकी असम्भवताके साथ-साथ उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तुका प्रतिपादन हो सकता है, इस तरहसे प्रमाणवचनका सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शनमें इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचनके सात रूप निम्न प्रकार है

वस्तुके सत्व और असत्व इन दो धर्मोंमेंसे सत्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका पहला रूप है। असत्वधर्मका प्रतिपादन करना नयवचनका दूसरा रूप है। उभयधर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचनका तीसरा रूप है और चूँकि उभयधर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिये इस तरहसे अवक्तव्य

नामका चौथा रूप नयवचनका निष्पन्न होता है। नयवचनके पाँचवे, छठे और सातवे रूपोको प्रमाणवचनके पाँचवें, छठे और सातवे रूपोके समान समझ लेना चाहिये। जैनदर्शनमे नयवचनके इन सात रूपोको नयसप्तभगी नाम दिया गया है।

इन दोनो प्रकारकी सप्तभंगियोमे इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि जब सत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके सत्वधर्मका प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तुकी असत्वधर्मविशिष्टताको अथवा वस्तुके असत्वधर्मको अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्वधर्ममुखेन वस्तुका अथवा वस्तुके असत्वधर्मका प्रतिपादन करते समय वस्तुकी सत्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुके सत्वधर्मके बारेमे समझना चाहिये। इस प्रकार धर्मोकी विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता) के स्पष्टीकरणके लिये स्याद्वाद अर्थात् स्यात्की मान्यताको भी जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। स्याद्वादका अर्थ है—किसी भी धर्मके द्वारा वस्तुका अथवा वस्तुके किसी भी धर्मका प्रतिपादन करते समय उसके अनुकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्यको लक्ष्यमें रखना। और इस तरहसे ही वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तुमे विरुद्ध धर्मका अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकारके स्याद्वादको नही अपनाया जायगा, तो वस्तुकी विरुद्धधर्मविशिष्टताका अथवा वस्तुमे विरोधी धर्मका अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरहसे अनेकान्तवादका भी जीवन समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शनके अनूठे सिद्धान्त है। इनमेसे एक प्रमाणवादको छोडकर बाकीके चार सिद्धान्तोको तो जैनदर्शनकी अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारो सिद्धान्त जैनदर्शनकी अपूर्वता एव महत्ताके अतीव परिचायक है। प्रमाणवादको यद्यपि दूसरे दर्शनोमे स्थान प्राप्त है परन्तु जिस व्यवस्थित ढग और पूर्णताके साथ जैनदर्शनमे प्रमाणका विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनोमे नही मिल सकता है। मेरे इस कथनकी स्वाभाविकताको जैनदर्शनके प्रमाणविवेचनके साथ दूसरे दर्शनोके प्रमाणविवेचनका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् सहज ही समझ सकते है।

एक बात जो जैनदर्शनकी यहाँ पर कहनेके लिये रह गई है वह है सर्वज्ञतावादकी, अर्थात् जैनदर्शनमे सर्वज्ञतावादको भी स्थान दिया गया है और इसका कारण यह है कि आगमप्रमाणका भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञताके सभव नही है। कारण कि प्रत्येक दर्शनमे आप्तका वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवचकताकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमे सर्वज्ञताका सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

जैनदर्शनमे इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्यात और सर्वज्ञताकी मान्यताओको गभीर और विस्तृत विवेचनके द्वारा एक निष्कर्षपर पहुँचा दिया गया है। न्यायदीपिकामे श्रीमदभिनव धर्मभूपणयतिने इन्ही विषयोका सरल और सक्षिप्त ढगसे विवेचन किया है और श्री प० दरबारीलाल कोठियाने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवादसे सुसस्कृत बनाकर सर्वसाधारणके लिये उपादेय बना दिया है। प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणो द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ गयी है। आपने न्यायदीपिकाके कठिन स्थलोका भी परिश्रमके साथ स्पष्टीकरण किया है।

●

ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार

एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यो है ? इसके समाधानमे जैनागममे जो कुछ कहा गया है उसका सार यह है—"सब जीवोमे पदार्थोके जाननेकी शक्ति विद्यमान है उसके द्वारा प्रत्येक जीव पदार्थबोध किया करता है। पदार्थबोध मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। मतिज्ञानमे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोमेंसे किसी भी इन्द्रिय अथवा मनकी सहायता अपेक्षित रहा करती है। श्रुतज्ञान सिर्फ मनकी सहायतासे हुआ करता है और अवधि, मन पर्यय तथा केवल ये तीनो ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही हुआ करते है। यथायोग्य इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहते है तथा इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण अवधिज्ञान, मन-पर्ययज्ञान और केवलज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है।"

जैनागममे इससे भी आगे इतना कथन और पाया जाता है—"स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो प्रकारके मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं। अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष है। शेष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो प्रकारके मतिज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण जहाँ परोक्ष है वहाँ लोकसव्यवहारमे प्रत्यक्ष माने जानेके कारण उक्त चारो ज्ञान (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) प्रत्यक्ष भी है।"

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारो मतिज्ञानोको लौकिक व्यवहारमे जो प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है उसका कारण क्या है ? इस प्रश्नके समाधानमें मेरा मत यह है कि जैनागममे इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानोको परोक्ष और इन्द्रियादिककी सहायताके बिना ही होनेवाले ज्ञानोको प्रत्यक्ष कहनेका आशय उन-उन ज्ञानोकी पराधीनता और स्वाधीनता बतलाना मात्र है, इसे स्वरूपकथन नही समझना चाहिये। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षके उक्त लक्षण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे कहे गये है। लेकिन स्वरूपका कथन करनेवाला जो द्रव्यानुयोग है उसकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष वह ज्ञान कहलाता है, जिसमे पदार्थका साक्षात्काररूप बोध हो और परोक्ष वह ज्ञान कहलाता है, जिसमें पदार्थका बोध तो हो, लेकिन वह बोध साक्षात्कार रूप न हो। पदार्थका साक्षात्काररूप बोध वहाँ होता है जहाँ पदार्थ-दर्शनके सद्भावमें पदार्थज्ञान हुआ करता है और पदार्थका असाक्षात्काररूप बोध वहाँ होता है जहाँ पदार्थदर्शनके बिना ही पदार्थका ज्ञान हो जाया करता है। इस प्रकार पदार्थदर्शनके सद्भावमें जो पदार्थबोध हुआ करता है उसे प्रत्यक्ष और पदार्थदर्शनके बिना ही जो पदार्थबोध हो जाया करता है उसे परोक्ष समझना चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्षके इन लक्षणोके अनुसार पदार्थदर्शनके सद्भावमे होनेके कारण अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब प्रत्यक्ष है और शेष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब चूँकि पदार्थदर्शनके बिना ही हो जाया करते हैं, इसलिये परोक्ष है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवमें पदार्थोके जाननेकी योग्यताकी तरह पदार्थोके देखनेकी भी योग्यता विद्यमान है, इसलिए जिस प्रकार प्रत्येक जीव जाननेकी योग्यताका सद्भाव रहनेके कारण पदार्थोको जानता है उसी प्रकार वह देखनेकी योग्यताका सद्भाव रहनेके कारण पदार्थोंको देखता भी है और चूँकि पदार्थका दर्शन पदार्थके प्रत्यक्षमे कारण होता है। अत जो जीव पदार्थका प्रत्यक्षज्ञान करना चाहता है उसे पदार्थका दर्शन अवश्य होना चाहिए, क्योकि बिना पदार्थदर्शनके किसी भी पदार्थका प्रत्यक्ष होना सभव नही है।

प्रत्यक्षशब्दका अर्थ "अक्षं = आत्मानं प्रति" इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थकी आत्मावलम्बनतापूर्वक होनेवाला पदार्थज्ञान होता है और परोक्षशब्दका अर्थ "अक्षात् = आत्मन परम्" इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थकी आत्मावलम्बनताके बिना ही होनेवाला पदार्थज्ञान होता है तथा यहाँपर जो पदार्थकी आत्मावलम्बनताका कथन किया गया है उसका अर्थ "आत्मप्रदेशोका हमारे ज्ञानके आधारभूत पदार्थके आकाररूप परिणत हो जाना" होता है बस, इसीको पदार्थका दर्शन या दार्शनोपयोग समझना चाहिए। यह पदार्थदर्शन कही-कही तो स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोमेसे किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा यथासम्भव यथायोग्यरूपमे हुआ करता है और कही-कही इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही यथायोग्यरूपमे हुआ करता है। इस तरह जैनागममे पदार्थदर्शनके चार भेद मान लिए गये है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

नेत्र इन्द्रिय द्वारा पदार्थके नियत आकारका नियत आत्मप्रदेशोमें पहुँच जानेको चक्षुदर्शन, नेत्र इन्द्रियको छोडकर शेष स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन चारो इन्द्रियोमेसे किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा अपने-अपने अनुरूप पदार्थके नियत आकारोका नियत आत्म-प्रदेशोमें पहुँच जानेको अचक्षुदर्शन, इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही रूपवान् (पुद्गल) पदार्थके आकारका नियत आत्मप्रदेशोमे पहुँच जानेको अवधिदर्शन, तथा इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही विश्वके समस्त पदार्थोके आकारोका सर्व आत्मप्रदेशोमे पहुँचनेको केवलदर्शन समझना चाहिये।

नेत्र इन्द्रियसे होनेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानोमे चक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है, स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन्द्रियोमेसे किसी भी इन्द्रिय अथवा मनसे होनेवाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानोमे उस-उस इन्द्रिय अथवा मनके द्वारा होनेवाले अचक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है तथा अवधिज्ञानमे अवधिदर्शनका और केवलज्ञानमें केवलदर्शनका सद्भाव कारण होता है। मन-पर्ययज्ञानमे भी मानसिक अचक्षुदर्शनका सद्भाव कारण होता है।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सर्वथा प्रत्यक्ष है अर्थात् इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण ये तीनो ज्ञान चूँकि स्वाधीन ज्ञान है अत करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष हैं और चूँकि ये तीनो ज्ञान उक्त प्रकारके पदार्थदर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न होते है अत स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे भी ये प्रत्यक्ष हो है। तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब सर्वथा परोक्ष है अर्थात् यथासम्भव इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेसे कारण चूँकि ये ज्ञान पराधीन है अत- करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे परोक्ष है और चूँकि ये ज्ञान उक्त प्रकारके पदार्थदर्शनके बिना ही उत्पन्न हो जाया करते है अत- स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे भी ये परोक्ष ही है। लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान कथचित् प्रत्यक्ष और कथचित् परोक्ष माने गये है अर्थात् ये चारो ज्ञान चूँकि उक्त प्रकारके चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन रूप पदार्थदर्शनके सद्भावमे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए स्वरूपका कथन करनेवाले द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे तो ये प्रत्यक्ष है और चूँकि ये इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करते है अत करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे ये परोक्ष भी है। इस कथनके साथ जैनागमके पूर्वोक्त इस कथनका भी सामञ्जस्य वैठ जाता है कि अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान सर्वथा परोक्ष हैं तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान कथचित् प्रत्यक्ष और कथचित् परोक्ष है।

शका—केवलज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जो दर्शनके सद्भावमें हुआ करता है। शेष ज्ञान तो दर्शनके

सद्भावमें न होकर दर्शनपूर्वक ही हुआ करते हैं, इसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानको छोडकर शेप ज्ञानदर्शन-के बाद ही हुआ करते हैं, आगममे भी ऐसा ही वतलाया गया है, इसलिये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान तथा अवधि और मन पर्ययज्ञान ये सब दर्शनके सद्भावमे होते हैं—ऐसा कहना गलत है ?

उत्तर—केवलज्ञानकी तरह उक्त अवग्रहादि ज्ञान भी दर्शनके सद्भावमे ही हुआ करते हैं। आगम-मे जो इनका दर्शनपूर्वक होना लिखा है उसका आशय इतना ही है कि इन ज्ञानोके होनेमे दर्शन कारण है। जिस प्रकार "सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है" इस आगमवाक्यमे पूर्वशब्दको कारणरूप अर्थका बोधक स्वीकार किया गया है उसी प्रकार "दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है" इस आगमवाक्यमे भी पूर्वशब्दको कारण रूप अर्थका बोधक ही स्वीकार करना उचित है। दूसरी बात यह है कि कार्यकारणभावकी स्वीकृतिके लिए कार्योत्पत्तिके समयमे कारणकी उपस्थिति रहना आवश्यक है, इसलिए जब दर्शन और ज्ञानमे कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है तो दर्शनका ज्ञानोत्पत्तिके समयमे उपस्थित रहना आवश्यक हो जाता है।

शंका—जिस प्रकार किसी भी वस्तुकी किसी एक 'पूर्व पर्यायके वाद दूसरी कोई उत्तर पर्याय हुआ करती है या एक नक्षत्रके उदयके वाद दूसरे नक्षत्रका उदय हुआ करता है तो जैसा कार्यकारणभाव पूर्वपर्याय-का उत्तरपर्यायके साथ या एक नक्षत्रके उदयका दूसरे नक्षत्रके उदयके साथ पाया जाता है वैसा ही कार्य-कारणभाव पूर्व और उत्तर कालमे उत्पन्न होनेवाले दर्शन और ज्ञानमे भी समझ लेना चाहिए, इसलिए दर्शन और ज्ञानमे कार्यकारणभाव रहते हुए भी दर्शनका ज्ञानोपत्पत्तिके समयमे उपस्थित रहना आवश्यक नही है ?

उत्तर—पहली वात तो यह है कि दर्शन और ज्ञान ये दोनो एक ही गुणकी पूर्वोत्तरकालन्वर्ती दो पर्यायें नही हैं अपितु अलग-अलग दो गुणोकी अलग-अलग पर्यायें हैं, अन्यथा इनके आवारक दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनो कर्मोका आत्मामे पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानना असगत हो जायगा। दूसरी बात यह है कि वस्तुकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे अथवा पूर्व नक्षत्रका उदय उत्तर नक्षत्रके उदयमे कारण नही होता है। केवल पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमे उत्पत्तिकी अपेक्षा तथा पूर्व नक्षत्र और उत्तर नक्षत्रमे उदयकी अपेक्षा जो क्रमपना पाया जाता है वह क्रमपना यहाँ पर कार्यकारणभावका व्यवहार करने मात्रमे कारण होता है क्योकि पूर्व नक्षत्रका उदय उत्तर नक्षत्रके उदयमे कारण नही होता है, यह बात ता स्पष्ट है ही, परन्तु वस्तुकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें कारण नही होती है, यह बात भी उतनी ही स्पष्ट समझनी चाहिए। इसका आशय यह है कि पूर्वपर्यायके विनाशके बिना उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति सभव नही है, इसलिए पूर्वपर्यायका विनाश ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमें कारण होता है, पूर्वपर्याय नही। यदि कहा जाय कि पूर्व-पर्यायका विनाश ही तो उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है इसलिए पूर्वपर्यायके विनाशको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे कारण कैसे माना जा सकता है ? इसलिए पूर्वपर्यायको ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमे कारण मानना उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि इस तरहसे पूर्वपर्यायके विनाशको ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति स्वीकार कर लेनेके बाद पूर्वपर्यायको अपने विनाशका ही कारण मानना अपने आप अयुक्तिक हो जाता है क्योकि पूर्व-पर्यायका विनाश उसके अपने स्वतत्र कारणो द्वारा होता है, पूर्वपर्याय उसमें कारण नही है, यही मानना उचित है और चूंकि पूर्वपर्यायका विनाश ही उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है। अत जो पूर्वपर्यायके विनाशका कारण है उसीको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे कारण माना जा सकता है, पूर्व पर्यायको नही। इस कथनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जो लोग पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे उपादान कारण मानते हैं उनका यह मानना गलत है क्योकि उत्तरपर्यायकी तरह पूर्वपर्याय भी कार्यमात्र है, उत्तर पर्यायकी वह उपादान नही। इन दोनोका उपादान वह है, जिसकी कि ये पर्यायें हैं। लेकिन इस तरह इन दोनोकी

उत्पत्ति एक साथ इसलिए नही होती है कि दोनो पर्यायोंकी उत्पत्तिमे अलग-अलग निमित्तसामग्री अपेक्षित रहा करती है और यह युक्ति-सगत भी है क्योकि उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिकी जो निमित्तसामग्री है वह तो पूर्वपर्यायके विनाशमें ही निमित्त हो सकती है, उत्पत्तिमे नही ।

इस कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपादान और निमित्त दोनो तरहके कारणोका कार्योत्पत्तिके समयमे सद्भाव रहनेसे ही कार्य उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नही, इसलिये जिन (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, अवधि, मन पर्यय और केवल) ज्ञानोकी उत्पत्तिमें दर्शन कारण है उनकी उत्पत्तिके समयमे अपने-अपने अनुकूल दर्शनका सद्भाव रहना ही चाहिए ।

शका—दर्शन और ज्ञानमे कार्यकारणभाव वास्तविक नही है, बात सिर्फ इतनी है कि छद्मस्थोके दर्शन और ज्ञानकी उत्पत्तिमे जो स्वाभाविक क्रमपना पाया जाता है उसकी अपेक्षासे इन दोनोमें कार्यकारण-भावका व्यवहार मात्र किया जाता है ?

उत्तर—हम पहले कह आये है कि पदार्थके प्रत्यक्षमे पदार्थका दर्शन कारण होता है, आगममे भी दर्शनको ज्ञानमे कारण स्वीकार किया गया है । इसके विपरीत भी यदि दर्शनको ज्ञानमे कारण नही माना जायगा, तो फिर आत्मामे ज्ञानगुणसे पृथक् दर्शनगुणका अस्तित्व मानना व्यर्थ हो जायगा, ज्ञानगुणकी ही पूर्वपर्यायका नाम दर्शन और उत्तरपर्यायका नाम ज्ञान मान लेना पर्याप्त होगा । लेकिन जब आत्मामे ज्ञान-गुणसे पृथक् दर्शनगुणका अस्तित्व स्वीकार किया गया है और सर्वज्ञमे भी केवलज्ञानके समसमयमे केवल-दर्शनका सद्भाव भी जब कारणरूपसे स्वीकार किया गया है, तो इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि दर्शन और ज्ञानमें कार्यकारणभाव वास्तविक है, उपचारसे नही ।

शंका—"यदि छद्मस्थो (अल्पज्ञो) के दर्शन और ज्ञानका एकसाथ सद्भाव मान लिया जाता है, तो "छद्मस्थोके एक साथ दो उपयोग नही होते है" इस आगमवाक्यकी सगति कैसे होगी ?

उत्तर—उपयोग, परिणमन, पर्याय, व्यापार या क्रिया ये सब एकार्थबोधक शब्द है और यह स्वत-सिद्ध नियम है कि एक गुणके दो परिणमन एक कालमे नही होते है, बस, इसी आधारपर आगममे यह बात बतलायी गयी है कि छद्मस्थोके एक साथ दो उपयोग नही होते है । लेकिन यदि दर्शनगुण और ज्ञानगुण दोनोका छद्मस्थोके एकसाथ व्यापार होना अशक्य है तो फिर उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र आदि गुणोका भी एक साथ व्यापार मानना अयुक्त हो जायगा ।

यहाँपर इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार सर्वज्ञकी तरह छद्मस्थोके नाना गुणोके व्यापारोका एक कालमे सद्भाव मानना युक्त है उसी प्रकार छद्मस्थोकी तरह सर्वज्ञके एक गुणके दो व्यापारो का अभाव मानना भी युक्त है । इसलिये सर्वज्ञको जो सम्पूर्ण पदार्थोका युगपत् ज्ञान होता रहता है वह भी ज्ञानगुणका एक व्यापार रूप ही होता है । अत उक्त आगमवाक्यको नियामक न मानकर स्वरूपका प्रतिपादक मात्र समझना चाहिए ।

शंका—छद्मस्थोके इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे दर्शन होता है और इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे ही ज्ञान होता है, इसलिए जब इन्द्रिय अथवा मन दर्शनमे कारण होते है तब वे ज्ञानमें कारण नही हो सकते है और जब वे ज्ञानमे कारण होते है तब दर्शनमें कारण नही हो सकते है, अत उनके दर्शन और ज्ञानका एक साथ सद्भाव मानना अयुक्त है ?

उत्तर—एक ही वस्तु एक साथ भिन्न-भिन्न अनेक कार्योंमे निमित्त देखी जाती है, अत॰ इन्द्रिय अथवा मनका एक साथ दर्शन और ज्ञानके व्यापारमें निमित्त होना असभव नही है। दूसरी बात यह है कि जब अवधिदर्शन और अवधिज्ञान दोनो ही इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होते है तो उनके एकसाथ उत्पन्न होनेमें कौनसी बाधा रह जाती है। तीसरी बात यह है कि निमित्तोंका सद्‌भाव रहते हुए प्रत्येक गुणका प्रति समय कुछ न कुछ परिणमन अर्थात् व्यापार होना ही चाहिए अन्यथा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, इसलिए भी छद्मस्थोके दर्शन और ज्ञानके एक साथ उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नही रह जाता है और मुख्य बात तो यह है कि जब दर्शन ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण होता है तथा केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनो सर्वज्ञमे एक साथ विद्यमान रहते हैं तो दर्शन और ज्ञान ये दोनो परस्पर विरोधी भी नही हैं।

शंका—एक तरफ तो निमित्तोंका सद्‌भाव रहते हुए दर्शन और ज्ञान आदि गुणोका प्रतिसमय कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है, ऐसा मान लिया गया है और दूसरी तरफ यह भी कहा गया है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान पदार्थदर्शनके बिना ही उत्पन्न हो जाया करते है अर्थात् जिस कालमें ज्ञानगुणका स्मृत्यादिरूप व्यापार होता है उस कालमें दर्शनगुण व्यापारशून्य हो रहता है, तो इन दोनों परस्परविरोधी कथनोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—स्मृति आदि ज्ञान पदार्थदर्शनके बिना ही हो जाया करते हैं, यह तो ठीक है, परन्तु वहाँ दर्शन गुण व्यापारशून्य ही बना रहता है अथवा उन स्मृत्यादि ज्ञानोमें दर्शनगुणके व्यापारका कोई उपयोग ही नही हैं, ऐसी बात नही समझनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि स्मृतिज्ञानमें धारणा ज्ञानको कारण माना गया है। परन्तु हमें धारणाज्ञान रहते हुए भी पदार्थका सर्वदा स्मरण क्यो नही होता रहता है ? इसका उत्तर यह है कि धारणा जिस कालमें उद्‌बुद्धताका रूप धारण कर लेती है उस कालमें ही स्मृति होती है, अन्यकालमें नहीं, और धारणाज्ञानकी यह उद्‌बुद्धता नियत आत्मप्रदेशोका उस धारणज्ञानरूप परिणमनको छोडकर कुछ भी नही है, जिसे पहले दर्शनोपयोग कह आये हैं। इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि स्मृति आदि ज्ञान भी दर्शनोपयोग अर्थात् दर्शनगुणके व्यापारके अभावमें उत्पन्न नही हो सकते है अर्थात् जिस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मन॰पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब दर्शनगुणका व्यापार रहते हुए ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये सब भी दर्शनगुणका व्यापार रहते हुए ही उत्पन्न होते हैं। लेकिन अवग्रहादि ज्ञानोमें आत्माके दर्शनगुणका अर्थाकाररूप व्यापार कारण होनेकी वजहसे जहाँ उन्हें प्रत्यक्ष मान लिया गया है। वहाँ स्मृति आदि ज्ञानोमें आत्माके दर्शनगुणका अर्थका अभाव रहते हुए धारणा आदि ज्ञानका रूप व्यापार कारण होनेकी वजहसे उन्हें परोक्ष माना गया है। स्मृतिको धारणाज्ञानपूर्वक, प्रत्यभिज्ञानको स्मृति और प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक, तर्कको प्रत्यभिज्ञानपूर्वक, अनुमानको तर्कज्ञानपूर्वक और श्रुतज्ञानको शब्दश्रवण या अगुल्यादिदर्शन तथा इनमें संकेत ग्रहणरूप मतिज्ञानपूर्वक माननेका अभिप्राय यही है कि जिस कालमे आत्माके दर्शनगुणका उस-उस ज्ञानरूप व्यापार होता है उस कालमे वे-वे ज्ञान उत्पन्न हो जाया करते हैं।

शंका—ईहाज्ञान अवग्रहज्ञानपूर्वक होता है, अवायज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है, धारणाज्ञान अवग्रह या अवायपूर्वक होता है और मन पर्ययज्ञान मानसिक ईहाज्ञानपूर्वक हुआ करता है, इस प्रकार ज्ञानपूर्वक होनेकी वजहसे इन ज्ञानोको भी परोक्षज्ञान मानना उचित है ?

उत्तर—ईहा आदि ज्ञान अवग्रहादि ज्ञानपूर्वक होते है, इसका आशय इतना ही है कि ईहा आदि ज्ञान अवग्रह आदि ज्ञानोके उत्पन्न होनेके बाद हुआ करते है। परन्तु जिस कालमे ईहा आदि ज्ञान उत्पन्न होते है उस कालमे आत्माके दर्शनगुणका अर्थाकाररूप व्यापार ही इनमें कारण होता है, अतः इन सबको प्रत्यक्ष ज्ञानोकी कोटिमें ग्रहण किया गया है।

शंका—जब कि प्रत्येक जीवमे दर्शन और ज्ञानगुणका कुछ-न-कुछ विकास सर्वदा पाया जाता है तो क्या विग्रहगतिमे भी अल्पज्ञ जीवोके किसी-न-किसी रूपमें पदार्थोका दर्शन और ज्ञान स्वीकार करना चाहिए या नही ?

उत्तर—विग्रहगतिमें अल्पज्ञ जीवोंके इन्द्रियादि निमित्तोका अभाव होनेके कारण दर्शन और ज्ञान दोनो गुणोका कुछ भी व्यापार नही होता है, उस समय ये केवल अपने विकसित रूपमें ही अवस्थित रहते है।

शंका—जिस प्रकार अल्पज्ञ जीवोके विग्रहगतिमे देखने और जानने रूप योग्यताओका सद्भाव रहते हुए भी पदार्थोका देखना और जानना नही होता है उसी प्रकार उनके (अल्पज्ञ जीवोके) देखनेरूप व्यापारके समय जाननेरूप योग्यताका और जाननेरूप व्यापारके समय देखनेरूप योग्यताका व्यापाररहित (लब्धिरूपसे) सद्भाव माननेमे क्या अपत्ति है ?

उत्तर—विग्रहगतिमे इन्द्रियादि निमित्तोका अभाव पाया जानेके कारण ही अल्पज्ञ जीवोंमें देखने और जाननेकी योग्यताएँ लब्धिरूपसे विद्यमान रहती हैं। लेकिन चूँकि पर्याप्त अवस्थामे इन्द्रियादि निमित्तोका सद्भाव अल्पज्ञ जीवोके पाया जाता है। अत उपादान और निमित्त दोनो कारणोके सद्भावमे दोनो योग्यताओंके व्यापारका अर्थात् दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका एक ही साथ सद्भाव मानना अनिवार्य हो जाता है।

जैनदर्शनमें नयवाद

इसमे सदेह नही कि विश्वके प्राचीनतम सभी दर्शनकारोमे जैनदर्शनकार विलक्षण प्रतिभाके धनी रहे है। यही कारण है कि जैनदर्शनकारोने अन्य सभी दर्शनकारोको अटपटे लगनेवाले अनेकान्तवाद, स्याद्वाद[1], नयवाद और सप्तभगीवादको अपने अनुभवके आधारपर वस्तुव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये जैनदर्शनमें स्थान दिया हैं। जैनदर्शनका आलोडन करनेसे यह बात सहज ही जानी जा सकती है कि जबतक उक्त वादोको स्वीकार नही कर लिया जाता तबतक वस्तुव्यवस्था या तो अधूरी रहेगी या फिर गलत होगी।

प्रकृत लेखमे हम नयवादका विवेचन करना चाहते है। लेकिन नयोका आधार जैन आगममें[2] चूकि प्रमाणको ही बतलाया गया है, अत यहाँपर सर्वप्रथम प्रमाणका ही सक्षेपमे दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रमाण-निर्णय

लौकिक तथा दार्शनिक जगत्मे वस्तुतत्त्वको समझनेके लिये प्रमाणको स्थान प्राप्त है। जैनदर्शनमें प्रमाणशब्दका जो व्युत्पत्त्यर्थ किया गया है उससे वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थामें प्रमाणके महत्त्वको सहज ही जाना जा सकता है। यथा—

'प्रकर्षेण सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम्।'

—परीक्षामुखटीका १–१

'अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सशय[3], विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण होकर निर्णय होता है वह प्रमाण है।'

चूँकि उल्लिखितरूपमें वस्तुतत्त्वका निर्णय ज्ञानके द्वारा ही सभव है। अत जैनदर्शनमे मुख्यरूपसे ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। यथा—

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम्।' —परीक्षामुख १–१

अर्थात्—अपना और अपनेसे भिन्न पूर्वमे अनिर्णीत पदार्थका निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ १–२ में ही आगे बतलाया है—

"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत्।"

अर्थात् चूकि प्रमाण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ होता है, अत ज्ञान ही प्रमाण कहलाने योग्य है।

इसका फलितार्थ यह है कि ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर सकती है, अत उपर्युक्त कथनके आधारपर जैनदर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है।

ज्ञान अप्रमाण भी होता है

ऊपर हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें ज्ञानको ही समर्थ बतलाया गया है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि सभी ज्ञान हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकी सामर्थ्य नही रखते है। अत

---

१ स्याद्वादका ही अपर नाम अपेक्षावाद है। इसका उपयोग सीमित दायरेमें अर्वाचीन एव पाश्चात्य दर्शनकारोने भी किया है।

२ 'नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्।' —सर्वार्थसिद्धि १–६।

३ 'सशय उभयकोटिसस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परामर्श। विपर्यय पुनरतस्मिस्तदिति विकल्प.। विशेषानवधारणमनध्यवसाय।' —प्रमेयरत्नमाला ६–२।

जिन ज्ञानोंमे उक्त सामर्थ्य नही पायी जाती है उन ज्ञानोको अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये। जैनदर्शनमे अप्रमाणका माणाभासनामसे उल्लेख करते हुए उसके जो भेद गिनाये गये है उनमे ज्ञानविशेषोका भी समावेश किया गया है। यथा—

'अस्वसविदितगृहीतार्थदर्शनसशयादय प्रमाणाभासा:।' —परीक्षामुख ६–२

अर्थात् जो अपना सवेदन करनेमे असमर्थ हो या जो गृहीत अर्थको ग्रहण करनेवाला हो या जो निराकार दर्शनरूप हो और या जो सशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय स्वरूप हो वे सभी अपने-अपने ढगसे प्रमाणाभास है।

ज्ञानके भेद और उनका प्रमाण तथा अप्रमाणरूपमे विभाजन

तत्त्वार्थसूत्रमे ज्ञानके पाँच भेद गिनाये गये है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान[1]। तथा इन पाँचो ज्ञानोको प्रमाण[2] कहा गया है और आदिके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानोको प्रमाणके साथ-साथ अप्रमाण[3] भी बतलाया गया है। इस प्रकार पाँच प्रमाणरूप और तीन अप्रमाणरूप कुल मिलाकर ज्ञानके आठ भेद कर दिये गये है[4]।

ज्ञानोकी प्रमाणता और अप्रमाणताका कारण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे मोहकर्मका अभाव होनेपर उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको ज्ञानकी प्रमाणताका कारण बतलाया है[5] और आचार्य पूज्यपादने[6] "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" (१-३१) सूत्रकी व्याख्या करते हुए ज्ञानकी अप्रमाणताका कारण मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शनको बतलाया है। इस तरह ऐसा समझना चाहिये कि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है और मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे जीवको जो पदार्थज्ञान होता है वह अप्रमाण ज्ञान कहलाता है।

इस विषयमे हम इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार 'उपर्युक्त पाँच सामान्य ज्ञानोमेसे मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान दोनो मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थितिमे ही हुआ करते है। इतना ही नही, मन·पर्ययज्ञान तो सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जीवमे सकलचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर तथा केवलज्ञान सकलसयमसे भी आगे यथाख्यातचारित्रकी उत्पत्ति हो जानेपर ही हुआ करता है। इसलिये मन पर्यय और केवल ये दोनो ज्ञान सतत प्रमाणरूप ही रहा करते है। परन्तु मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जीवमे चूंकि मोहकर्मके उदयका अभाव होनेपर उत्पन्न सम्यग्दर्शनकी स्थिति मे भी होते है व मोहकर्मके उदयमे उत्पन्न मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे भी होते हैं। अत ये तीनो ज्ञान सम्यग्दर्शनकी स्थितिमे होनेके आधारपर तो प्रमाणरूप व मिथ्यादर्शनकी स्थितिमे होनेके आधारपर अप्रमाणरूप इस तरह दोनो प्रकारके हुआ करते है। इससे यह बात भी फलित होती है कि ज्ञान सामान्यके ऊपर बतलाये गये

---

१. मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। —तत्त्वा० १-९।
२ वही, १-१०।
३. वही, १-३१।
४. द्रव्यसग्रह गा० ५।
५ "मोहतिमरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान:।" —पद्य ४७ का पूर्वार्ध।
६. कुत· पुनरेतेषा विपर्यय ? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात्।

पाँच भेद ही सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अपेक्षासे क्रमश. प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होकर ज्ञानकी आठ भेदरूपताको प्राप्त हो जाते हैं।

जिस ज्ञानमे मोहकी प्रेरणा कार्यकर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी सपूर्तिके लिये हो उसे तो मिथ्यादर्शन (अविवेक) की स्थितिमे होनेवाला अप्रमाण ज्ञान जानना चाहिये और जिस ज्ञानमें मोह की प्रेरणा कार्य न कर रही हो या जो ज्ञान मोहके आधारपर उत्पन्न राग तथा द्वेषकी संपूर्तिके लिये न हो उसे सम्यग्दर्शन (विवेक) की स्थितिमें उत्पन्न हुआ प्रमाण ज्ञान जानना चाहिये।

यहाँपर अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंकी प्राप्तिमे और अनभिलषित परपदार्थोंके वियोगमे हर्ष करना राग है तथा अनभिलषित परपदार्थोंकी प्राप्तिमे और अभिलषित आवश्यक अथवा अनावश्यक परपदार्थोंके वियोगमे विषाद करना द्वेष है एव परपदार्थोंमे अहबुद्धि या ममबुद्धि करना मोह है। इसी प्रकार परपदार्थोंमें इष्टबुद्धि या अनिष्टबुद्धि करना मोह है व इस तरह इष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति आकृष्ट होकर उसमे प्रीति करने लग जाना राग है तथा अनिष्टरूपसे स्वीकृत परपदार्थके प्रति घृणा व ग्लानिरूप अप्रीति करने लग जाना द्वेष है—ऐसा जानना[1] चाहिये।

जैनागममें बतलाया है कि ज्ञानके उल्लिखित पाँच भेदोमेंसे अन्तके अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीन भेद तो जीवमे पररूप साधनोकी सहायताके विना केवल आत्मनिर्भरताके आधारपर ही उत्पन्न होते हैं[2], लेकिन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे आत्मबलकी आवश्यकता होनेपर भी दोनोमेंसे मतिज्ञान तो पररूप स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियो तथा मन हृदय)की यथावश्यक सहायतासे[3] उत्पन्न होता है व श्रुतज्ञान पररूप मन (मस्तिष्क)की[4] सहायतासे उत्पन्न होता है।

इतना बतलानेमे हमारा प्रयोजन यह है कि जब मतिज्ञानका उल्लिखित पाँच इन्द्रियो और मनकी सहायतासे व श्रुतज्ञानका मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेका नियम है और चूंकि पाँचो इन्द्रियो व मनका सदोष अथवा निर्दोष होना भी सम्भव है तो इसके आधारपर जैनदर्शनकी यह भी मान्यता है कि जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन सदोष हालतमे हो उस जीवमें उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन सदोष हालतमे हो उस जीवमे उसको सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनो ही अप्रमाणरूप होते हैं। इसी प्रकार जिस जीवकी इन्द्रियाँ व मन निर्दोष हालतमे हो उस जीवमे उनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तथा जिस जीवका मन निर्दोष हालतमे हो उस जीवमे उसकी सहायतासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान दोनो ही प्रमाणरूप होते हैं।

कानोमे बहरापन आ जाना, आँखोपर पीलिया रोगका प्रभाव हो जाना या मोतियाविन्दु आदिके कारण दृष्टिका कमजोर हो जाना, नाकमें भी सर्दी-जुकामका हो जाना आदि यथायोग्य निमित्तोसे इन्द्रियाँ सदोष हो जाती हैं व जीवमें क्रोधादिकषाय उत्पन्न होनेपर मन सदोष हो जाया करता है। इसी तरह मद्य आदि मादक पदार्थोंका सेवन आदि कारणोसे भी मन सदोष हो जाया करता है।

---

१. 'य प्रीतिरूपो राग· ''''''योऽप्रीतिरूपो द्वेष यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोह ।' —समयसारटीका, अमृतचन्द्र, गा० ५०-५५।

२ सर्वार्थसिद्धिमें 'प्रत्यक्षमन्यत् ।' –१-१२ सूत्रकी व्याख्या।

३ 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।' –तत्त्वार्थसूत्र १-१४।

४. 'श्रुतमनिन्द्रियस्य ।' –वही, २-११।

इस तरह उल्लिखित कथनका सार यह है कि सम्यग्दर्शनके सद्भावमे ही उत्पन्न होनेका नियम होनेसे मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो सतत प्रमाणरूप ही हुआ करते हैं। अवधिज्ञान यदि सम्यग्दर्शनके सद्भावमे उत्पन्न हुआ हो तो प्रमाणरूप होता है और यदि मिथ्यादर्शनके सद्भावमे उत्पन्न हुआ हो तो अप्रमाणरूप होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके सद्भावमें उत्पन्न होनेके कारण क्रमशः प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते है तथा निर्दोष और सदोष इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी वे क्रमश प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप हुआ करते हैं।

वचन भी प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप होता है :

जिस प्रकार उल्लिखित प्रकारसे ज्ञान प्रमाण और अप्रमाणरूप होता है उसी प्रकार वचन भी प्रमाण और अप्रमाणरूप होता हैं। वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका आधार यह है कि वह (वचन) प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण[1] होता है। अर्थात् वक्ताके वचनको सुनकर श्रोताको व लेखकके वचनको पढकर पाठकको जो पदार्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान यदि प्रमाणरूप होता है तो इसके निमित्तभूत वचनको भी प्रमाणरूप माना जाता है और वह (श्रुतज्ञान) यदि अप्रमाणरूप होता है तो उसके निमित्तभूत वचनको भी अप्रमाणरूप माना जाता है।

वचनकी प्रमाणता और अप्रमाणताका एक अन्य आधार उस (वचन) की उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुरुषकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी होती है। अर्थात् वचनकी उत्पत्ति वक्ताके बोलनेरूप या लेखकके लिखनेरूप व्यापारसे होती है इसलिये वक्ता या लेखक यदि प्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमश बोला गया या लिखा गया वचन भी प्रमाणरूप माना जाता है और वक्ता या लेखक यदि अप्रामाणिक व्यक्ति होता है तो उसके द्वारा क्रमश' बोला गया या लिखा गया वचन भी अप्रमाणरूप माना जाता है। यही कारण है कि वचनकी प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे वचनके साथ 'आप्तोपज्ञ'[2] विशेषण लगाया है। आप्तका अर्थ प्रामाणिक व्यक्ति होता है—यह बात स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकमे पाये जानेवाले आप्तके लक्षणसे ही प्रकट होती है। यथा—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थात् जिसके अन्दरसे सर्व प्रकारके दोष निकल गये हों, साथ ही जो सर्वज्ञ और आगमका स्वामी हो वही आप्त कहला सकता है। इन बातोके अभावमे आप्तता सम्भव नही है।

स्वामी समन्तभद्र द्वारा बतलाया गया आप्तका उपर्युक्त लक्षण आप्तसामान्यका न होकर आप्तविशेषका अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आप्तका ही लक्षण है। इससे यह बात फलित होती है कि ऐसे पुरुष भी आप्त कहे जाने योग्य है जो अल्पज्ञ होकर भी कम से-कम पूर्वोक्त प्रकारके राग, द्वेष और मोहको नष्ट करके सम्यग्दृष्टि बन गये हो। यही कारण है कि आचार्य अनन्तवीर्यने आप्तका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

"यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्त ।" —प्रमेयरत्नमा० ३-९९।

---

१ 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम ।' —परीक्षामुख ३-९९ सूत्रमें प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें आप्तवचनको व 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।'—परीक्षामुख ६-५१ सूत्रमें अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें अनाप्तवचनको कारण माना गया है।

२. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम् ॥९॥

अर्थात् जो जिस विषयमें अवञ्चक है यानी धोखा-धड़ी नही करता है वह उस विषयमे आप्त कहलाता है।

इस तरह जैनदर्शनमे ऐसी ग्रन्थ-रचनाओको भी प्रमाण माना जाता है जो विद्वान् महर्षियो द्वारा अल्पज्ञ रहते हुए भी परकल्याणभावनासे निरीहवृत्तिपूर्वक की गयी है तथा लोकव्यवहारमे उक्त राग-द्वेष और मोहसे अनाक्रान्त साधारण अल्पज्ञानीजनोमें स्वीकृत आप्तता भी अपना कम महत्त्व नही रखती है। अर्थात् जनहितकारी उपदेशदाता या ग्रन्थकर्त्ता महर्षिजन व प्रशस्त लोकव्यवहारमे प्रवृत्त साधारण लौकिकजन अल्पज्ञ रहते हुए भी अपने-अपने दायरेमें आप्त अर्थात् प्रामाणिक माने जाते हैं।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालामे आप्तके जो लक्षण बतलाये गये है उनसे ठीक विपरीत लक्षण अनाप्त पुरुषका जानना चाहिये। इसीलिये आचार्य माणिक्यनन्दिने आगामाभास (अप्रमाणरूप श्रुतज्ञान) का लक्षण बतलाते हुए 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।' (प० मु० ६-१५) में अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत पुरुषके साथ 'रागद्वेषमोहाक्रान्त' विशेषण लगाया है।

इस तरह उपर्युक्त लक्षण वाले आप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको प्रमाणरूप और इससे विपरीत उपर्युक्त लक्षणवाले अनाप्तपुरुष द्वारा कहे गये या लिखे गये वचनको अप्रमाणरूप जानना चाहिए।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि या तो प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण होनेके आधारपर कारणमे कार्यधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे या फिर वचनकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत आप्त-पुरुष और अनाप्तपुरुषका कार्य होनेके आधारपर कार्यमे कारणधर्मका आरोप करनेरूप उपचारसे वचनको यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मानना चाहिये।

जैनागममे वचनको परार्थश्रुत भी कहा गया है

जैनागममें[1] प्रमाणके दो भेद स्वीकार किये गये है—एक तो स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जितना ज्ञानरूप प्रमाण है वह सब स्वार्थप्रमाण कहलाता है और जितना वचनरूप प्रमाण है वह सब परार्थप्रमाण कहलाता है। इस तरह मति, अवधि, मन पर्यय और केवल-रूप जो चार प्रमाण हैं वे अपनी ज्ञानरूपताके कारण स्वार्थप्रमाण ही है। लेकिन श्रुतप्रमाण चूकि ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनो ही प्रकारका होता है, अत जितना ज्ञानात्मक श्रुतप्रमाण है वह तो स्वार्थप्रमाण और जितना वचनात्मक श्रुत प्रमाण है वह परार्थप्रमाण है।

ज्ञानको स्वार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उस (ज्ञान) का पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (ज्ञान) के आश्रयभूत 'स्व' अर्थात् ज्ञाताको प्राप्त होता है तथा वचनको परार्थप्रमाण कहनेका अभिप्राय यह है कि उसका (वचनका) पदार्थके विषयमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उस (वचन) की उत्पत्तिमे निमित्तभूत वक्ता या लेखकसे भिन्न 'पर' अर्थात् श्रोता या पाठकको प्राप्त होता है।

जिस प्रकार प्रमाण स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रमाण भी स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका समझ लेना चाहिये। इनमेंसे स्वार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी ज्ञानरूपताके कारण मिथ्या मतिज्ञान, मिथ्या श्रुतज्ञान और मिथ्या अवधिज्ञान रूपसे तीन प्रकारका तथा परार्थ अप्रमाणको उसकी अपनी वचनरूपताके कारण अनाप्तवचनके रूपमे एक प्रकारका जानना चाहिये। चूकि मन पर्यय और केवल

१ 'प्रमाण द्विविध स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाण श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मकं परार्थमिति।'—सर्वार्थसिद्धि १-६।

ये दोनो ज्ञान सर्वदा सम्यक् ही हुआ करते है, कभी मिथ्यारूप नही होते। अत. इन दोनोको अप्रमाणताकी कोटिसे बाहर रखा गया है।

प्रमाण और अप्रमाणरूप सभी ज्ञानोंमे पदार्थग्रहणकी व्यवस्था

प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान व अवधिज्ञान एव प्रमाणरूप मन पर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको एकदेशरूपमें अखण्ड भावसे ग्रहण करते है, प्रमाणरूप केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थको युगपत् सर्वदेशरूपमे अखण्ड भावसे ग्रहण करता है। लेकिन प्रमाण और अप्रमाण दोनो ही तरहका श्रुतज्ञान श्रुतज्ञाना-वरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होने व उत्पत्तिमे साश वचनका अवलम्बन आवश्यक रहनेके कारण अपने विषयभूत पदार्थके एक-एक अंशको पृथक्-पृथक् कालमे क्रमश ग्रहण करता हुआ पदार्थको सखण्डभावसे ही ग्रहण किया करता है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि यथायोग्य प्रमाण अथवा अप्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनः-पर्यय ज्ञानमें अंशमुखेन अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है, प्रमाणरूप केवलज्ञानमे सर्वात्मना युगपत् अखण्ड भावसे पदार्थ गृहीत होता है। परन्तु प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे पदार्थके एक-एक अंशका क्रमशः ग्रहण होता हुआ पदार्थके सपूर्ण अंशोका ग्रहण सखण्डभावसे होता है क्योकि प्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति तो साश और क्रमवर्ती प्रमाणरूप आप्तवचनसे तथा अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति साश और क्रमवर्ती अप्रमाण-रूप अनाप्तवचनसे हुआ करती हैं। आगे वचनकी साशताके विषयमे विचार किया जाता है।

वचन सांश होता है

अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे वचन पाँच प्रकारका होता है। वचनके इन पाँचों प्रकारोमेसे शब्दके अंगभूत निरर्थक अकारादिवर्ण अक्षर कहलाते है, अर्थवान् अकारादि अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोका अर्थवान् समुदाय 'शब्द' कहलाता है, अर्थवान् शब्दरूप प्रकृतिका संस्कृत भाषामें 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययके साथ सयोग होनेपर पदका[1] निर्माण होता है तथा परस्पर सापेक्ष दो आदि पदोंके निरपेक्ष समूहसे 'वाक्य'का[2] एव परस्परसापेक्ष दो आदि वाक्योके निरपेक्ष समूहसे 'महावाक्य'का निर्माण होता है। यद्यपि दो आदि महावाक्योका भी निरपेक्ष समूह हुआ करता है परन्तु महावाक्योंके उस समूहको भी 'महावाक्य' शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है।

---

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—अष्टाध्यायी, पाणिनि, १-४-१४।

२. 'पदाना परस्परसापेक्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम्।' -अष्टशती, अकलङ्क, अष्टसहस्री पृ० [illegible]।

३ 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'—साहित्यदर्पण, परिच्छेद २, श्लोक १।

इस श्लोकके 'वाक्योच्चय' पदका विश्लेषण इसीकी टीकामे 'योग्यताकाक्षा[illegible]' किया गया है। इस तरह महावाक्यका इस प्रकार लक्षण होता है—

'परस्परसापेक्षाणा वाक्याना निरपेक्ष समुदायो महावाक्यम्।'

इस लक्षणके आधारपर ही गोम्मटसार जीवकाण्डके श्रुतज्ञानप्रकरणमें [illegible] भेदोंमेंसे आदिके अक्षर, पद और सघात (वाक्य) से आगे जितने भेद हैं वे सब महावाक्यके ही भेद समझना चाहिए।

नोट—इस टिप्पणीमें 'सघात' शब्दका अर्थ वाक्य हमने आप्तमीमासाकी कारिका १०३ की अष्टसहस्री टीकाके आधारपर किया है।

इस कथनसे यह बात निश्चित होती है कि अक्षर शब्दका, शब्द पदका, पद वाक्यका और वाक्य महावाक्यका यथायोग्य अश होता है। इसी तरह एक आदि महावाक्य भी दो आदि महावाक्योंके समूहरूप महावाक्यके अश सिद्ध हो जाते है। चूँकि वचनके अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोमे ही समानरूपसे पाये जाते है। अत प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनो ही समानरूपसे उक्त आधारपर साश सिद्ध हो जाते हैं।

वचनकी साशता ही श्रुतज्ञानमे सांशता-सिद्धिका कारण है

कोई भी ज्ञान, चाहे वह प्रमाणरूप हो अथवा चाहे अप्रमाणरूप हो, असख्यात प्रदेशी अखण्ड आत्माके अखण्ड ज्ञानगुणकी अखण्ड पर्याय ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रमाण और अप्रमाणरूप मतिज्ञान तथा अवधिज्ञानको व प्रमाणरूप मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानको निरश मान लिया गया है। यद्यपि इस प्रकारसे तो प्रमाण और अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानको भी निरश मानना उचित प्रतीत होता है परन्तु प्रमाणरूप मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान एव अप्रमाणरूप मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनो तरहके श्रुतज्ञानमें यह विशेषता पायी जाती है कि इसकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारके साश वचनके अवलम्बनसे हुआ करती है इसलिये प्रमाणरूप और अप्रमाणरूप दोनो ही प्रकारके श्रुतज्ञानको साश मानना ही उचित है।

वचनकी सांशतासे ज्ञानमे सांशता-सिद्धिका प्रकार

(१) वचनमे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात साश पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पायी जाती है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक ऐसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके लिए वचनका प्रयोग किया करता है।

(२) वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात साश पदार्थका क्रमश श्रोता या पाठकको बोध करानेके लिये ही वचनका प्रयोग किया करता है क्योकि बोले गये वचनको सुनकर श्रोताको तथा लिखे गये वचनको पढकर पाठकको क्रमश वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका बोध हो जाया करता है।

(३) चूकि ऊपर बतलाये गये प्रकारसे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात साश पदार्थ वचनका प्रतिपाद्य होता है और इस प्रकारका वचन-प्रतिपाद्य पदार्थ साश होता है, यह आगे बतलाया जायगा तथा वचन भी साश होता है, यह बतला ही चुके है। अत वक्ता या लेखक द्वारा प्रयुक्त साश वचनसे प्रतिपादित उक्त प्रकारके साश पदार्थका श्रोता या पाठकको बोध भी साशरूपमे ही होगा।

इन कारणोंके बलपर वचनकी साशताकी सिद्धि होना अयुक्त नही है।

वचनके प्रयोग और उससे पदार्थ-प्रतिपादनकी व्यवस्था

ऊपर वचनके जो अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यके भेदसे पाँच भद बतलाये गये है उनमेसे पद, वाक्य और महावाक्यके रूपमे ही वचन प्रयोगार्ह होता है, अक्षर और शब्दके रूपमे नही, क्योकि निरर्थक अक्षर तो हमेशा शब्दके अविभाज्य अंग ही रहा करते है, इसलिए उनका प्रयोग स्वतत्ररूपमे न होकर शब्दके अगरूपमे ही हुआ करता है तथा अर्थवान् अक्षर और निरर्थक दो आदि अक्षरोके समुदायरूप शब्द भी सस्कृत भाषामे तो तभी प्रयुक्त होते है जबकि वे यथायोग्य 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्ययसे सयुक्त होकर पदका रूप धारण कर लेते है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अक्षर और शब्द कभी प्रयोगार्ह नही होते है, केवल पद, वाक्य और महावाक्य ही प्रयोगार्ह होते हैं। पद, वाक्य और महावाक्यमेसे पदको वक्ता या लेखक किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही प्रयुक्त करता है तथा वाक्य अथवा महावाक्यको वक्ता या लेखक कही तो यथायोग्य अनुकूल महावाक्यका अवयव मानकर प्रयुक्त करता है और कही आवश्यकतानुसार स्वतत्ररूपमे प्रयुक्त करता हैं।

वचनसे होनेवाले पदार्थप्रतिपादनकी व्यवस्था यह है कि शब्दके अंगभूत अक्षर तो हमेशा निरर्थक ही रहा करते है। स्वतत्र अक्षर और दो आदि निरर्थक अक्षरोके समुदायरूप शब्द यद्यपि अर्थवान् होते है परन्तु इनका प्रयोग सस्कृत भाषामे तो यथायोग्य सुवन्त अथवा तिङन्त होकर पदका रूप धारण करनेपर ही सभव है। इसलिये शब्दके अगभूत निरर्थक अक्षरो, अर्थवान स्वतंत्र अक्षरो एव दो आदि निरर्थक अक्षरोके समुदायरूप अर्थवान् शब्दोके विषयमे अर्थप्रतिपादनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त वचनके जो पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेद है उनका प्रयोग करके ही वक्ता या लेखक अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर सकता है। लेकिन इनमेसे पद हमेशा वक्ता या लेखकके उक्त प्रकारके पदार्थके अशका प्रतिपादन करनेमे ही समर्थ रहता है, वह कभी भी पदार्थके प्रतिपादनमे समर्थ नही होता। यही कारण है कि वक्ता या लेखक एक तो कभी पदका प्रयोग स्वतत्ररूपमे करता नही है और यदि कदाचित् वह उसका (पदका) प्रयोग स्वतत्ररूपमे करता भी है तो वहाँपर भी वह उसका वह प्रयोग किसी अनुकूल वाक्यका अवयव मानकर ही करता है। इसलिये ऐसे स्थलपर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका बोध करनेके लिये यथायोग्य श्रोता या पाठक द्वारा अन्य अनुकूल पदका आक्षेप नियमसे कर लिया जाता है, क्योकि पदके स्वतत्र प्रयोगमे जबतक उसे किसी अनुकूल वाक्यका अवयव नही मान लिया जाता तब तक उससे वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका पूर्णरूपसे प्रतिपादन होना तो दूर रहा, उससे उक्त पदार्थके अंशका प्रतिपादन होना भी असंभव बात है।

इस विषयमे उदाहरण यह है कि कोई वक्ता या लेखक कदाचित् सिर्फ अस्तित्वबोधक 'है' इस क्रियापदका यदि स्वतत्र प्रयोग करता है तो जबतक इस क्रियापदके साथ वक्ता या लेखक द्वारा अपने अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये घडा, कपडा, आदमी आदि किसी अनुकूल संज्ञापदका प्रयोग नही किया जायगा अथवा प्रकरण आदिके आधारपर उक्त प्रकारके सज्ञापदका श्रोता या पाठक द्वारा स्वय आक्षेप नही कर लिया जायगा तबतक उस श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमे क्या है ? यह प्रश्न चक्कर काटता ही रहेगा। इसी तरह वक्ता या लेखक द्वारा घडा, वस्त्र, आदमी आदि किसी भी सज्ञापदका स्वतत्र प्रयोग किये जानेपर श्रोता या पाठकके मस्तिष्कमे नियमसे उत्पन्न होनेवाले प्रश्नका समाधान करनेके लिये 'है' इत्यादि क्रियापदके सबन्धमे प्रयोग या आक्षेपकी यही व्यवस्था लागू होती है।

इस उदाहरणसे यह समझा जा सकता है कि अन्य अनुकूल पदनिरपेक्ष स्वतत्र पदका प्रयोग यदि कदाचित् कर भी दिया जाय तो भी वह पद उस हालतमें न तो वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करता है और न उस प्रकारके पदार्थके यथायोग्य किसी अशका प्रतिपादन करता है लेकिन उसी पदको जब किसी अनुकूल पद या पदोके साथ जोड दिया जाता है तो वाक्यका अवयव बन जानेपर वह तब वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन न करता हुआ भी उस पदार्थके अशका नियमसे प्रतिपादन करने लग जाता है।

वाक्य और महावाक्य ऐसे वचन है कि जिनसे यथावसर वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका अथवा उसके अशका प्रतिपादन सभव है। यही कारण है कि वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह उस वाक्य अथवा महावाक्यका स्वतत्र रूपमे ही प्रयोग करता है और वक्ता या लेखक जहाँ जिस वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अशका प्रतिपादन करना चाहता है वहाँ वह वाक्य या महावाक्यका प्रयोग स्वतत्र रूपमे न करके किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें किया करता है अथवा यो कहिये कि किसी वाक्य अथवा महावाक्यका कहीपर किसी वक्ता या लेखक द्वारा यदि स्वतत्र प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका ही प्रतिपादन होगा और यदि इसी वाक्य अथवा महावाक्यका वक्ता या लेखक द्वारा किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमें प्रयोग किया जाय तो उस वाक्य या महावाक्यसे उस वक्ता या लेखकके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अशका ही प्रतिपादन होगा।

वाक्यका स्वतन्त्र रूपमें प्रयोग करनेके विषयमें उदाहरण यह है कि मान लीजिये—एक व्यक्ति स्वामी है और दूसरा व्यक्ति उसका सेवक है। स्वामी पानी बुलानेरूप पदार्थका मनमें सकल्प करके सेवकको बोलता है—'पानी लाओ ?', सेवक भी इस एक ही वाक्यसे स्वामीके उस मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थको समझकर पानी लानेके लिये चल देता है। इस तरह यहाँपर 'पानी लाओ' यह वाक्य स्वामी-के उल्लिखित पदार्थका ही प्रतिपादन कर रहा है तथा 'पानी' और 'लाओ' ये दोनो पद चूकि 'पानी लाओ' इस वाक्यके अवयव बने हुए हैं अत ये दोनो पद स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके एक-एक अंशका प्रति-पादन कर रहे है। यदि उक्त दोनो पदोको उक्त वाक्यसे पृथक् करके स्वतत्र-स्वतत्र रूपमे प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमें फिर वे दोनो ही पद न तो स्वामीके उल्लिखित प्रकारके पदार्थका प्रतिपादन करेंगे और न उस पदार्थके किसी अशका ही प्रतिपादन कर सकेगे।

स्वतन्त्र रूपसे प्रयुक्त महावाक्य अथवा उसके अवयवोके रूपमे प्रयुक्त वाक्योका उदाहरण यह है कि जब स्वामीका मनोगत अभिप्राय रूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ लोटा ले जाकर पानी लाने रूप हो तो वह अपने इस अभिप्रायरूप पदार्थको सेवकपर प्रकट करनेके लिये 'लोटा ले जाओ और पानी लाओ' इस तरह दो वाक्योके समूहरूप महावाक्यका प्रयोग करता है।

यहाँ पर यह समझा जा सकता है कि 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनो वाक्य मिलकर एक महावाक्यका रूप धारण करके ही स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रति-पादन कर रहे है तथा 'लोटा ले जाओ' और 'पानी लाओ' ये दोनो वाक्य जबतक 'लोटा ले जाओ और पान लाओ' इस महावाक्यके अवयव बने हुए है तब तक दोनो ही वाक्य वक्ता या लेखकके उल्लिखित पदार्थके एक एक अंशका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि इन दोनो वाक्योको इनके समूहरूप उक्त महावाक्यसे पृथक् करके स्वतत्र-स्वतत्र रूपमे प्रयुक्त कर दिया जाय तो उस हालतमे ये दोनो ही वाक्य स्वतत्र रूपसे स्वामीके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पृथक्-पृथक् दो पदार्थोंका प्रतिपादन करने लगेंगे। उस हालतमें ये दोनो वाक्य न तो स्वामीके उल्लिखित महावाक्यके प्रयोगमे प्रतिज्ञात पदार्थके अशोंका प्रतिपादन करेंगे और न पदकी तरह पदार्थके प्रतिपादनमे असमर्थ ही रहेगे।

अनेक महावाक्योके समूहरूप महावाक्य अथवा ऐसे महावाक्यके अवयवोंके रूपमें प्रयुक्त महावाक्योका उदाहरण यह है कि आचार्य उमास्वामिने अपने मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थ मोक्ष-

मार्ग और उसके विषयभूत सप्ततत्त्वोका प्रतिपादन करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थरूप एक महावाक्यकी रचना की है तथा उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अशभूत एक विषयका प्रतिपादन करनेके आधारपर उसके दश अध्यायरूप दश अश बना दिये है । इस तरह दश अध्यायरूप दश महावाक्योका समुदायरूप तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थ एक महावाक्य के रूपमे आचार्य श्री उमास्वामिके मनोगत अभिप्रायरूप यानी संकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन कर रहा है तथा उसके अशभूत दशो अध्याय उस पदार्थके एक-एक अशका प्रतिपादन कर रहे है । यदि दूसरा कोई व्यक्ति इन दश अध्यायोमे वर्णित प्रत्येक अध्यायके विषयको स्वतन्त्ररूपसे पृथक्-पृथक् प्रतिज्ञात करके अलग-अलग दश ग्रन्थोंका निर्माण कर देता है तो उस हालतमे स्वतन्त्ररूपमे निर्मित वे दश ग्रन्थ अपने-अपने विषयका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करने लगेगे ।

उपर्युक्त कथनसे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि प्रयुक्त होने व पदार्थके प्रतिपादनकी क्षमता पद, वाक्य और महावाक्यमे ही पायी जाती है व दूसरी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पद, वाक्य और महावाक्यमेंसे पद हमेशा वाक्यका अवयव होकर ही प्रयुक्त होता है और वह हमेशा पदार्थ के अशका ही प्रतिपादन करता है, शेष वाक्य और महावाक्य दोनो कही तो प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार स्वतन्त्ररूपमे प्रयुक्त होते है और कही वे प्रयोक्ताके अभिप्रायके अनुसार ही किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमे भी प्रयुक्त होते है । वाक्य और महावाक्य जहाँ स्वतन्त्ररूपमें प्रयुक्त होते हैं वहाँ तो वे प्रयोक्ताके मनोगत अभिप्रायरूप यानी सकल्पित या प्रतिज्ञात पदार्थका प्रतिपादन करते है और जहाँ किसी अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमे प्रयुक्त होते है वहाँ वे प्रयोक्ताके उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अशोका ही प्रतिपादन करते है अथवा यो कहिये कि प्रयोक्ताको जहाँ किसी वाक्य अथवा महावाक्यसे उल्लिखित प्रकारके स्वतन्त्र पदार्थका प्रतिपादन करना होता है वहाँ तो वह उनका प्रयोग स्वतन्त्र रूपमे अलग-अलग ही करता है और जहाँ इनसे उल्लिखित प्रकारके पदार्थके अंशका प्रतिपादन करना ही प्रयोक्ताका लक्ष्य रहता है वहाँ वह इनका प्रयोग अनुकूल महावाक्यके अवयवके रूपमे ही करता है ।

वचनमे अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यका भेद करके जिस साशताका विवेचन किया गया है वह साशता जिस प्रकार ऊपर लौकिक वचनोमे दर्शायी गयी है उसी प्रकार वह साशता शास्त्रीय वचनोमे भी दर्शायी जा सकती है । जैसे जैनदर्शनमे वस्तुको नित्य और अनित्य उभय धर्मात्मक माना गया है। इसके विपरीत साख्यदर्शनमे उसे नित्यधर्मात्मक व बौद्धदर्शनमे उसे अनित्यधर्मात्मक स्वीकार किया गया है । इस तरह जैनदर्शनमें जहाँ भी 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है । यही कारण है कि उस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है । इसी प्रकार जैनदर्शनमे जहाँ भी 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग मिलता है वहाँपर वह भी 'वस्तु नित्य है और अनित्य है' इस महावाक्यका अवयव ही माना जाता है । यही कारण है कि इस वाक्यका हमेशा यही अर्थ होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है । इस तरह जैनदर्शनमे पाये जानेवाले इन दोनो प्रयोगोसे हमेशा यथायोग्य नित्यानित्यात्मक वस्तुकी अशात्मक नित्यता व अनित्यताका ही प्रतिपादन होता है । इसके विपरीत साख्य दर्शनमे वस्तुको चूकि सर्वथा नित्य माना गया है और बौद्धदर्शनमें उसे चूकि सर्वथा अनित्य माना गया है अत. साख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह प्रयोग और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह प्रयोग एक दूसरे वचनका अवयव न होकर दोनो ही स्वतन्त्र प्रयोग सिद्ध होते है । अत साख्य और बौद्ध दर्शनोमे पाये जानेवाले उस-उस प्रयोगसे यथायोग्य पदार्थके रूपमे ही नित्यता अथवा अनित्यताका प्रतिपादन होता है, पदार्थके अशके रूपमें नही ।

इस कथनसे एक बात यह भी फलित होती है कि वचनमे अक्षर, शब्द, पद, वाक्य और महावाक्यरूप भेदोके आधारपर जिस साशताका प्रतिपादन किया गया है वह साशता प्रमाणरूप आप्तवचन और अप्रमाणरूप अनाप्तवचन दोनोमे ही समानरूपसे पायी जाती है। जैनदर्शनमे प्रतिपादित वचनकी यह साशता ही श्रुत-प्रमाणमे नयोत्पत्तिकी जननी है। आगे इसी विषयपर विचार किया जाता है।

नयोका विकास

इस लेखके प्रारम्भमें ही हम बतला आये है कि नयोका आधारस्थल प्रमाण होता हैं। इसके साथ ही जैनागममे स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि नय प्रमाणका अशरूप ही होता है। यथा—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मत ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० १, सू० ६, वा० २१।

अर्थात् ज्ञानात्मक नय न तो अप्रमाणरूप होता है और न प्रमाणरूप ही होता है किन्तु प्रमाणका एकदेश (अश) रूप ही होता है।

इससे दो बाते फलित होती है—एक तो यह कि नयव्यवस्था प्रमाणमे ही होती है, अप्रमाणमे नही। और दूसरी यह कि नय हमेशा प्रमाणका अशरूप ही रहा करता है, वह स्वय कभी पूर्ण रूप नही होता। अप्रमाणमे नयव्यवस्था नही होती—इसका खुलासा हम आगे करेंगे। अत इसे छोडकर यहाँपर हम इस बातका स्पष्टीकरण कर देना चाहते है कि नय प्रमाणका अशरूप ही रहा करता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नय स्मृतः। —अ० १, सू० ६, वा० ४।

अर्थात् प्रमाणके वियभूत 'स्व' और 'पदार्थके एक देश (अश)' का जिसके द्वारा निर्णय किया जाय वह नय कहलाता है।

इस पद्यमे नयको जो पदार्थके एकदेश (अश) का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है उससे सिद्ध होता है कि नय हमेशा प्रमाणका अश ही हुआ करता है। सर्वार्थसिद्धिमे आचार्य पूज्यपादने भी लिखा है—

सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन ।

—तत्त्वा० १-६।

अर्थात् पदार्थका पूर्णरूपसे ग्राहक प्रमाण होता है और उसके अशका ग्राहक नय होता है।

इस तरह नय जब प्रमाणका अश सिद्ध हो जाता है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध हो जाती है कि नय-व्यवस्था साश प्रमाणमे ही होती है, निरश प्रमाणमे नही। इसका कारण भी यह समझना चाहिये कि निरश ज्ञानमे ज्ञानका अखण्ड भाव रहनेके कारण अशोका विभाजन नही हो सकता है। इससे प्रमाणके पूर्वोक्त पाँच भेदोमेंसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योकि इन ज्ञानोमे पदार्थग्रहणका अखण्ड भाव ही पाया जाता है और चूँकि श्रुतज्ञानमे पदार्थग्रहणके अशोका विभाजन होता है, अत उसमें नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है जैसा कि पूर्वमे बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें उस-उस ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण यद्यपि पदार्थका ज्ञान सर्वात्मना न होकर अशमुखेन ही होता है लेकिन वह ज्ञान होता अखण्डभावसे ही है। इसी तरह केवलज्ञानमे समस्त ज्ञानावरण-

कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण पदार्थका ग्रहण यद्यपि सर्वात्मना होता है तो भी वह ज्ञान चूंकि युगपत् सम्पूर्ण अशोका एक साथ ही हुआ करता है अत वह भी अंशोका भेदरहित अखण्डभावसे ही हुआ करता है। इस प्रकार इन चारो ज्ञानोमे नयव्यवस्थाकी सिद्धि होना असम्भव बात है। लेकिन श्रुतज्ञानमें इन चारों ज्ञानोकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक शाब्दवचनके अवलम्बनसे उत्पन्न होनेके कारण उसमे (श्रुतज्ञानमें) पदार्थका ज्ञान अखण्डभावसे न होकर पदार्थके एक-एक अशका क्रमश ज्ञान होता हुआ सम्पूर्ण अशोका ज्ञान हो जाया करता है, इसलिये इस ज्ञानमे पदार्थग्रहणका सखण्ड-भाव रहनेके कारण नयव्यवस्थाकी सिद्धि हो जाती है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (१-३३-६) में जो नयका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमे तो स्पष्टरूपसे कहा गया है कि नयव्यवस्था श्रुतज्ञान में ही होती है। यथा—

"नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स ।"

अर्थात् जिसके द्वारा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणके विषयभूत पदार्थके अशका ज्ञान किया जाय वह नय कहलाता है।

नयव्यवस्था श्रुतज्ञानमें ही होती है, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञानमे नही होती, इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थके निम्नलिखित वार्त्तिकोसे भी होती है—

"मतेरवधितो वापि मन पर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥
निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात् ।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः ॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते।
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥

—त० श्लो० १-६-२४, २५, २६, २७।

इन वार्त्तिकोका अर्थ यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे नयोंकी प्रवृत्ति नही होती है, क्योकि इन ज्ञानोमे नि शेपदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है। अर्थात् ये तीनो ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करनेमे असमर्थ रहते है। केवलज्ञान यद्यपि अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है लेकिन उसके (केवलज्ञानके) ग्रहणमे स्पष्टता[1] (प्रत्यक्षाकारता) पायी जाती है जब कि नयोके ग्रहणमे परोक्षाकारता ही रहा करती है। इस प्रकार नयोका उद्भव मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमे न होकर श्रुतज्ञानमें ही होता है, क्योकि वह एक तो अपने विषयभूत पदार्थको सम्पूर्ण देश और कालकी विशिष्टताके साथ ग्रहण करता है। दूसरे उसमे परोक्षाकारता[2] पायी जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धिके लिये दो बाते अपेक्षित है— एक तो प्रमाणकी नि शेपदेशकालार्थविषयिता और और दूसरी परोक्षाकारता। प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु नि.शेप-

---

१. विशदं प्रत्यक्षम्।' —परीक्षामुख २-३।
२. आद्ये परोक्षम्।' —तत्त्वार्थसू० १-११।

देशकालार्थविषयिताके सद्भावका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमे नयव्यवस्थाकी सिद्धिकी जाय उसके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोंका विषय होना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन-पर्ययज्ञानरूप प्रमाणोंमे क्षायोपशमिकज्ञान होनेके कारण चूँकि नि शेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव रहता है अत इनमे नयव्यवस्थाकी सिद्धिका विरोध किया गया है। इसी प्रकार प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धिहेतु परोक्षाकारताका प्रयोजन यह है कि जिस प्रमाणमें नयव्यवस्थाकी सिद्धि की जाय उस प्रमाणके द्वारा पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका ज्ञान क्रमश होना आवश्यक है कारण कि पदार्थके सम्पूर्ण अशोका ज्ञान प्रमाण द्वारा यदि युगपत् होता है तो उसमे अशोका विभाजन होना असम्भव है। इसका निष्कर्ष यह है कि केवलज्ञानमें नि'शेष-देशकालार्थविषयिताका सद्भाव रहते हुए भी क्षायिकज्ञान होनेके कारण प्रत्यक्षाकारता आ जानेसे पदार्थके सम्पूर्ण अशोका ज्ञान चूँकि युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अत. उसमें (केवलज्ञानरूप प्रमाणमे) भी नयव्यवस्थाका अभाव सिद्ध हो जाता है और चूँकि श्रुतज्ञान एक ऐसा प्रमाण है कि जिसमे नि शेषदेशकालार्थ-विषयिता और परोक्षाकारता दोनो ही बातें पायी जाती है अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा एक तो पदार्थके सम्पूर्ण अंशोका ज्ञान होता है और दूसरे क्षायोपशमिक व वचनावलम्वी ज्ञान होनेके कारण उसमे (श्रुतज्ञानमे) परोक्षा-कारताके आजानेसे पदार्थके उन सम्पूर्ण अशोका ज्ञान क्रमश सखण्डभावसे ही हुआ करता है, अत उसमे नय-व्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। स्वामी समन्तभद्रने श्रुतज्ञानको क्रमश. सर्वतत्त्वप्रकाशक स्वीकार किया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ —आप्तमीमासा, का०, १०५।

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही पदार्थको सर्वात्मना ग्रहण करते हैं लेकिन केवलज्ञान जहाँ पदार्थको साक्षात अर्थात् प्रत्यक्षरूपमें युगपत् अखण्डभावसे ग्रहण करता है वहाँ श्रुतज्ञान उसे असाक्षात् अर्थात परोक्षरूपमे क्रमश सखण्डभावसे ही ग्रहण करता है।

तात्पर्य यह है कि पदार्थका जहाँ सम्पूर्णताके साथ ग्रहण होता है वहाँ पदार्थके सपूर्ण अशोका ग्रहण होता हुआ भी यदि वह ग्रहण प्रत्यक्षरूपमें होता है तो उसमें पदार्थके वे सपूर्ण अश युगपत् अखण्डभावसे ही गृहीत होते हैं और यदि वह ग्रहण परोक्षरूपमे होता है तो उसमे पदार्थके वे सपूर्ण अश क्रमसे एक-एक अशके रूपमें सखण्डभावसे ही गृहीत होतं हैं।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोके मध्य इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानमें पदार्थके सम्पूर्ण अशोका ग्रहण प्रत्यक्षरूपमे होनेके कारण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है और श्रुतज्ञानमें पदार्थके सम्पूर्ण अशो-का ग्रहण परोक्षरूपमे होनेके कारण क्रमश सखण्डभावसे ही हुआ करता है।

स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि—

'तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम्॥ —आप्तमीमासा का० १०१।

अर्थात् हे भगवन् आपके मतमें युगपत् सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् केवलज्ञान और स्याद्वादनयसे सस्कृत क्रमसे उत्पन्न होनेवाला सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान दोनो ही प्रमाणरूप माने गये है।

इससे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमे उल्लिखित प्रकारका अन्तर स्पष्टरूपसे समझमें आ जा जाता है।

इस तरह आगमप्रमाणोके आधारपर यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि नयव्यवस्था श्रुत-ज्ञानमें ही होती है।

श्रुतज्ञानकी निःशेषदेशकालार्थविषयिताका स्पष्टीकरण

ऊपर तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६ के व्याख्यानस्वरूप तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके २४ से २७ संख्या तकके वार्त्तिकोमे नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी ज्ञानकी नि शेषदेशकालार्थविषयिताका कथन किया है । परन्तु उसका रूप ऐसा होना चाहिये कि वह श्रुतज्ञानके साथ-साथ केवलज्ञानमे तो पायी जाती हो, किन्तु मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें न पायी जाती हो ।

केवलज्ञानमे विद्यमान तत्त्वार्थसूत्रके 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' । (१–२९) सूत्रमे प्रतिपादित नि शेष-देशकालार्थविषयिता ऐसी है कि इसका श्रुतज्ञानमे पाया जाना सभव नही है, कारण कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानकी तरह श्रुतज्ञान भी तो क्षायोपशमिक ज्ञान है और यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके ही 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' (१–२६) सूत्र द्वारा मतिज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमे भी उसका निषेध कर दिया गया है । तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार विश्वमे अपनी-अपनी स्वतत्र सत्ता लिये हुए अनन्त वस्तुएँ विद्यमान है व इनमेसे प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर अपने-अपने पृथक् अनन्त धर्मोको समाये हुए है । विश्वकी इस प्रकारकी सभी वस्तुएँ 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्रके अनुसार अपने-अपने उन अनन्त धर्मोके साथ केवलज्ञानका विषय तो होती है परन्तु 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।' सूत्रके अनुसार मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका विषय नही होती है ।

इससे सिद्ध होता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमे जो अनन्तधर्मात्मकता जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत की गयी है उसके आधारपर निष्पन्न ज्ञानकी नि शेषदेशकालार्थविषयिता श्रुतज्ञानमे स्वीकृत नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी नही है क्योकि उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रुतज्ञानमे उसका अभाव रहता है । इस तरह प्रकृतमे यह प्रश्न होता है कि, उक्त नि शेषदेशकालार्थविषयिताको छोडकर ऐसी कौनसी ज्ञानकी नि.शेषदेशकालार्थविषयिता है जो केवलज्ञानके साथ-साथ श्रुतज्ञानमे पायी जाकर नयव्यवस्थाके लिये उपयोगी हो ?

विचार करनेपर मालूम पडता है कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु जैनदर्शनकी मान्यतानुसार जिस प्रकार अनन्तधर्मात्मक है उसी प्रकार वह अनेकान्तात्मक भी है । यहाँपर परस्पर विरोधी दो धर्मोका एक ही साथ एक वस्तुमे पाया जाना उस वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमे जैसे उसके अनन्तधर्म एक साथ रह रहे है वैसे ही परस्पर-विरोधी दो धर्म भी रह रहे है । तात्पर्य यह है कि वस्तुकी अनेकान्तात्मकताके कथनमे जो अनेकान्त शब्द आया है उसमे गर्भित अनेक शब्दका अर्थ जैनदर्शनमे 'दो' लिया गया है । इसका कारण यह है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोमे ही सभव हो सकती है, तीन, चार आदि सख्यात, असंख्यात व अनन्तधर्मोमे नही । और इसका भी कारण यह है कि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक ही धर्म हो सकता है, दो, तीन, चार आदि धर्म नही, क्योकि एक धर्मका प्रतिपक्षी दूसरा एक धर्म यदि है तो तीसरा एक धर्म उन दोनोका प्रतिपक्षी कदापि नही हो सकता है अर्थात् तीसरा एक धर्म यदि प्रथम एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो प्रथम एक धर्मके प्रतिपक्षी दूसरे एक धर्मका वह नियमसे सपक्षी हो जायगा, और यदि वह दूसरे एक धर्मका प्रतिपक्षी है तो उस हालतमें वह प्रथम एक धर्मका नियमसे सपक्षी हो जायगा । यही नियम चौथे, पाँचवें आदि सख्यात, असख्यात और अनन्तधर्मोके विषयमे भी जान लेना चाहिये । इस अभिप्रायसे ही जैनदर्शनमे प्रत्येक वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष अनन्त वचनप्रयोगोके आधारपर सप्त-भंगीके विरुद्ध अनन्तभगीकी प्रसक्तिको परस्परविरोधी युगलधर्मोके आधारपर अनन्त सप्तभंगीके रूपमे इष्ट मान लिया गया है । यथा—

'नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्ताना धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गा स्याद्वादिना

भवेयुर्न पुन सप्तैव, वाच्येयत्तात्वाद्वाचकेयत्ताया । ततो विरुद्धैव सप्तभङ्गीति चेत्, न, विधीयमाननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात्, 'प्रतिपर्याय सप्तभङ्गी वस्तुनि' इति वचनात् । ततो अनन्ता सप्तभङ्ग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम् ।' —त० श्लोकवा० १-६-५२

अर्थात् शका पक्ष कहता है कि एक वस्तुमें कथन करने योग्य जब अनन्तधर्म स्वीकार किए गये है तो इनका कथन करनेके लिए स्याद्वादियोके सामने अनन्तसख्यक वचनमार्गोको प्रसक्ति होती है, केवल सात वचनमार्गोंकी नही, क्योकि जितने वाच्य होते है उतने ही वाचक हो सकते है, हीनाधिक नही, अत सप्तभंगीकी मान्यता असंगत है ।

उत्तर पक्ष यह है कि सप्तभगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान युगलधर्मोके विकल्पोके आधारपर जैनदर्शनमे स्वीकृत की गयी है, अनन्तधर्मोके विकल्पोके आधारपर नही, कारण कि 'प्रत्येक पर्यायमें सप्तभगी सिद्ध होती है' ऐसा आगमका निर्देश है। इस तरह प्रत्येक वस्तुमे विद्यमान अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्ममें विधीयमान और निषिध्यमान धर्मयुगलकी स्वीकृतिके आधारपर सप्तभगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभगीके बजाय अनन्त सप्तभगीकी स्वीकृति हम स्याद्वादियोके लिये अनिष्ट नही है ।

वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है। इन दोनोमेंसे जैनेतर दर्शनकारोके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमे कोई आपत्ति नही हो सकती है क्योकि पृथ्वीमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चतुष्टयको वे भी एक साथ स्वीकार करते है। परन्तु वे (जैनेतर दर्शन) वस्तुको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेमें हिचकिचाते है । इसके विपरीत जैनदर्शनकारोने वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप स्वीकार किया है। उपर्युक्त प्रकारके अनेकान्तकी स्वीकृतिके आधारपर ही जैनदर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। और उसकी अस्वीकृतिके आधारपर ही जैनेतर दर्शनोको एकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि परस्पर-अविरोधी अनन्तधर्मोको सत्ता एक साथ ही वस्तुमे जैन और जैनेतर दोनो दर्शनोमे स्वीकार की गयी है। परन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मोकी सत्ता एक साथ एक ही वस्तुमे जैनदर्शन तो स्वीकार करता है किन्तु जैनेतर दर्शन नही स्वीकार करते है। जैनेतर दर्शनोमेसे कोई दर्शन परस्पर विरोधी दो धर्मोंमें यदि एक धर्मको स्वीकार करता है तो द्वितीय धर्मका वह निषेधक हो जाता है और कोई जैनेतर दर्शन यदि द्वितीय धर्मको स्वीकार करता तो प्रथम धर्मका वह निषेधक हो जाता है । जैसे साख्य दर्शन बतलाता है कि 'वस्तु नित्य है' और बौद्धदर्शन बतलाता है कि 'वस्तु अनित्य है ।' परन्तु जैनदर्शन प्रतिपादन करता है कि 'वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है ।'

अनेकान्तके अंगभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलके प्रत्येक वस्तुमें अनन्त विकल्प समाये हुए है। उनमेसे अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिए आचार्य श्री अमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमें कतिपय परस्पर-विरोधी धर्मयुगलोकी गणना भी की है । यथा—

'यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैक तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्य तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।'

अर्थात् जो ही वह है वही वह नही है, जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नही है अर्थात् असत् है और जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है—इस प्रकार एक वस्तुके वस्तुत्व (स्वरूप) की निष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयका प्रकाशन करना ही अनेकान्त है ।

इसका आशय यह है कि विश्वकी अनन्तानन्त वस्तुओमेसे प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता), गुणरूपता (स्वभाववत्ता) और पर्यायरूपता (परिणमनवत्ता) को लिये हुए ही

अस्तित्वको प्राप्त हो रही है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा-संख्या १ के द्वारा वही बात बतलायी है। यथा—

'अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया—'

अर्थात् अर्थ यानी पदार्थ (वस्तु) द्रव्यरूपताको लिए हुए है, द्रव्य गुणात्मक होता है और द्रव्य तथा गुण दोनोमे पर्यायरूपता भी पायी जाती है।

तात्पर्य वह है कि प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति (प्रदेशरचना) उपलब्ध होती है, यही उसकी द्रव्यरूपता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपताके आधारपर अपनी पृथक्-पृथक् प्रकृति (स्वभावशक्ति) हुआ करती है—यही उसकी गुणरूपता है और इसी तरह प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त प्रकारको द्रव्यरूपता और गुणरूपताके अनुरूप अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विकृति अर्थात् परिणति भी देखी जाती है। यह उसकी पर्यायरूपता है। प्रत्येक वस्तुकी अपनी-अपनी उक्त आकृति-रूप द्रव्यरूपता और प्रकृतिरूप गुणरूपता दोनो ही शाश्वत (स्थायी) है तथा विकृतिरूप पर्यायरूपता समय, आवली, मुहूर्त्त, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। जैनदर्शनमे इन्ही तीन बातोके आधारपर प्रत्येक वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली[1] माना गया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमे द्रव्यपर्यायो और गुणपर्यायोके रूपमें उत्पाद तथा व्यय एवं द्रव्यत्व तथा गुणत्वके रूपमे ध्रौव्यका सद्भाव जैनदर्शनद्वारा स्वीकार किया गया है।

प्रत्येक वस्तुकी उक्त प्रकारकी द्रव्यरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत है। अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह कदापि दूसरी वस्तुकी नही हो सकती है। अत इस स्थितिके आधारपर ही जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि 'जो ही वह है वही वह नही है।' इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु कभी दूसरी वस्तु नही बन सकती[2] है। यानी जीव पुद्गल आदि अन्य वस्तु नही बन सकता है, वह हमेशा जीव ही रहता है और यहाँतक कि एक जीव कभी दूसरे जीवरूप भी परिणत नही हो सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार ही विश्वमें विद्यमान वस्तुओंकी नियत[3] परिमाणमें अनन्तानन्त संख्या निश्चित की गयी है।

ऊपर किये गये कथनके आधारपर प्रत्येक वस्तुके निम्न प्रकारसे तीन विकल्प-युगलोके रूपमे अश-भेद निर्धारित होते है—(१) एक द्रव्य उसके गुणोके रूपमे, (२) द्रव्य और उसकी पर्यायोके रूपमे और (३) गुण और उसकी पर्यायोके रूपमे। इन सभी विकल्प-युगलोपर जब ध्यान दिया जाता है तो समझमें आ जाता है

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।'—तत्वार्थसूत्र ५-३०।

२. णवि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो विहु पुग्गलकम्ण अणेयविहं ॥६६॥
समयसारकी इस गाथाको आदि देकर ७७, ७८ और ७९ सख्याक गाथाओमें आचार्य श्री कुन्दकुन्दने जो भी विवेचन किया है वह 'जो ही वह है वही वह नही है' इस सिद्धान्तके आधारपर ही किया है।

३. तत सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्त केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीय-द्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतत पर-रूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त।' आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा समयसार गाथा २ पर किया गया यह व्याख्यान इसी मान्यतापर आधारित है।

कि प्रत्येक द्रव्यमे अनेक गुण विद्यमान रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणकी क्रमवर्ती अनेक पर्यायें हुआ करती हैं। इस आधारपर ही जैनदर्शनमें यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है।'

प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (अवस्था) के आधार ही हुआ करता है। इनमेसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने जो और जितने प्रदेश है वह उन्ही और उतने प्रदेशोंके रूपमें सत् है, उन प्रदेशोसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके रूपमें वह सत् नही है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु आकाशके जिन और जितने प्रदेशोपर स्थित है वह आकाशके उन और उतने ही प्रदेशोपर सत् है, उन प्रदेशोंसे भिन्न आकाशके अन्य प्रदेशोपर वह सत् नही है अर्थात् असत् है। कालद्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार है कि जिन और जितने कालाणुओंसे वस्तु सबद्ध है वह उन और उतने कालाणुओपर सत् है, उन कालाणुओंसे भिन्न अन्य कालाणुओपर सत् नही है अर्थात् असत् है। व्यवहारकालके आधारपर भी जिस समय वस्तु विद्यमान है वह उस समय सत् है, अन्य कालमे वह असत् है। इसी तरह भावके आधारपर भी वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि कोई भी वस्तु अपनी जिस अवस्थामे विद्यमान है वह उसी अवस्थामें सत् है, उससे भिन्न अन्य अवस्थामे वह सत् नही है अर्थात् असत् है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने अनेकान्तका लक्षण वतलाते हुए उल्लिखित विकल्पोके साथ एक चौथा विकल्प यह भी वतलाया है कि जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रत्येक वस्तु पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है क्योकि वह द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको धारण किये हुये है। वस्तुका जहाँ तक द्रव्यरूपता और गुणरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक तो वह ध्रौव्यरूप है और जहाँ तक उसका पर्यायरूपतासे सम्बन्ध है वहाँ तक वह उत्पाद और व्ययरूप है। इनमेंसे ध्रौव्य वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद तथा व्यय उसकी अनित्यताके चिह्न हैं।

जिस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए उस अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प-युगल वतलाते है उसी प्रकार उन्होने समय-सारकी गाथा १४२ की टीकामे आत्म-तत्त्वका अवलम्वन लेकर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प-युगलोका प्रतिपादन किया है। इस तरह हम देखते हैं कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकारसे परस्परविरोधी दो धर्मोका आश्रय सिद्ध होती हुई अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है। इसका केवलज्ञानद्वारा सर्वात्मना ग्रहण युगपत् अखण्डभावसे ही हुआ करता है। अत इस अपेक्षासे केवलज्ञानमे नि शेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। व श्रुतज्ञानद्वारा परस्पर-विरोधी उक्त दोनो अशोमेंसे एक-एक अशका क्रमसे ग्रहण होता हुआ सर्वात्मना ग्रहण सखण्ड भावसे हुआ करता है। अत श्रुतज्ञानमे भी नि शेषदेशकालार्थविषयिताका सद्भाव सिद्ध होता है। लेकिन मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके द्वारा इस अनेकान्तात्मक वस्तुका न तो युगपत् अखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है और न क्रमश सखण्डभावसे सर्वात्मना ग्रहण होता है। प्रत्युत अशमुखेन सामान्यतया वस्तुका ही ग्रहण होता है। अत इन तीनो ज्ञानोमे उक्त प्रकारकी नि शेषदेशकालार्थविषयिताका अभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुकी परस्पर-विरोधी धर्मद्वयात्मकतारूप अनेकान्तात्मकता उस (वस्तु) की पूर्णता है। उस वस्तुका इस तरहकी पूर्णताके साथ ग्रहण होना प्रमाणरूप है तथा अशरूपसे ग्रहण होना नयरूप है। मतिज्ञान, अवधि-ज्ञान और मन पर्ययमानमे वस्तुका ग्रहण यद्यपि अशरूपसे ही होता है परन्तु वह ग्रहण अशरूपमे विभाजित

नही हो पाता है क्योंकि उस ग्रहणमें अंशमुखेन वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके अशका नही। जैसे चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूपमुखसे रूपवान् वस्तुका ही ग्रहण होता है, वस्तुके एक अशके रूपमे रूपका ग्रहण नही होता यही कारण है कि अशमुखेन वस्तुका ग्रहण होता हुआ भी वस्तुके अशका अशरूपसे ग्रहण न होनेसे मतिज्ञान निरश प्रमाण ही मानने योग्य है। यही बात क्षायोपशमिकज्ञानरूप अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके विषयमे भी समझ लेना चाहिये। इस तरह ये तीनो ज्ञान कभी नयरूपताको प्राप्त नही होते है। केवलज्ञानमे वस्तुका ग्रहण सर्वात्मना होता है, इसलिये उसकी प्रमाणरूपता निर्विवाद है। लेकिन उसमे वस्तुके सम्पूर्ण अश युगपत् गृहीत होनेके कारण पृथक्-पृथक् रूपमें गृहीत नही होते, इसलिये उसमे भी नयरूपताका अभाव सिद्ध हो जाता है। श्रुतज्ञानमे प्रमाणरूपता इसलिये सिद्ध होती है कि उसमे उल्लिखित अनेकान्तरूप पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है लेकिन चूँकि श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति पूर्वोक्त प्रकारसे साश वचनके आधारपर हुआ करती है। अत जिस वचनसे अशी (पूर्ण) रूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे तो प्रमाणरूप साश वचन जानना चाहिये और जिस वचनसे अशरूप वस्तुका ग्रहण होता है उसे नयरूप अशात्मक वचन जानना चाहिये। तथा इस तरहके प्रमाणरूप और नयरूप वचनोके आधारपर उत्पन्न होनेवाले श्रुतरूप ज्ञानको भी क्रमश प्रमाणरूप और नयरूप जानना चाहिये।

अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्थाका निषेध क्यों ?

पूर्वमे यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि जिस प्रकार साश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे साशता सिद्ध होती है उसी प्रकार साश वचनके आधारपर उत्पन्न होनेके कारण अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे भी साशता सिद्ध होती है। इसलिये जिस प्रकार प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे भी नयव्यवस्थाका सद्भाव सिद्ध होनेका प्रसग उपस्थित होता है, लेकिन आगमप्रमाणके आधारपर पूर्वमे यह बतलाया जा चुका है कि अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नयव्यवस्था नही होती है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि साशवचनके आधारपर उत्पन्न होनेकी समानता रहते हुए भी अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे ऐसी विशेषता पायी जाती है जो उसमे नयव्यवस्थाका कारण बन जाती है और चूँकि वह विशेषता अप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमे नही पायी जाती है, अत उसमें नयव्यवस्थाका निषेध सगत हो जाता है।

वह विशेषता यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमे विद्यमान उसके अपने अनन्तधर्मोमेसे प्रत्येक धर्म उस वस्तुमे अपने विरोधी धर्मके साथ ही रह रहा है। जैसे घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटत्वधर्मका सद्भाव पाया जाता है उसी प्रकार उसमे घटत्वधर्मके विरोधी पटत्व आदि धर्मोका अभाव भी पाया जाता है। यही कारण है कि हमें घटरूप वस्तुमे जिस प्रकार घटरूपताका ज्ञान होता है उसी प्रकार उसमे पटादिरूपताके अभावका ज्ञान होना भी स्वाभाविक है। अब जैसा घटरूप वस्तुमें घटरूपताके सद्भाव और पटादिरूपताके अभावका ज्ञान हमे होता है वैसा ज्ञान उस घटरूप वस्तुमें हम यदि दूसरे व्यक्तिको कराना चाहे तो इसके लिए हमें तदनुकूल वचनको या तो मुखसे उच्चरित करना होगा या फिर उसे हस्तसे लिपिबद्ध करना होगा, तब कहीं जाकर दूसरा व्यक्ति उच्चरित वचनको तो सुनकर व लिपिबद्ध वचनको पढकर ही घटरूप वस्तुके विषयमे हमारा पूर्ण अभिप्राय जान सकेगा। चूकि यह बात निर्विवाद है कि प्रत्येक वचन शब्दकोष, शब्दव्युत्पत्ति अथवा शब्दपरिभाषा आदिका अवलम्बन लेकर प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादक होता है। इसलिये जब हम 'यह घट है' यह वाक्य बोलते है तो इससे लक्षित वस्तुमे घटरूपताका प्रतिपादन तो हो जाता है परन्तु इससे उस वस्तुमे पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन कदापि नही हो पाता है। अत: लक्षित वस्तुमे घटरूपताके सद्भावके साथ पटादिरूपताके अभावका प्रतिपादन

करनेके लिये 'यह घट है' इस वाक्यके साथ 'पटादि नही है' इस वाक्यका भी प्रयोग करना होगा, तब जाकर ही वचनके श्रोता या पाठकको वह लक्षित वस्तु घटरूपताको लिए हुए है व पटादिरूपताको लिये हुए नही है—ऐसा पूर्णता लिये हुए वस्तुका बोध होगा। इस तरह 'यह घट है' यह वाक्य ओर 'पटादि नही है' यह वाक्य दोनो ही 'यह घट है पटादि नही है' इस महावाक्यके अवयव हो जानेपर वस्तुका सही रूपमे प्रतिपादन करते हुए श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्त्वका सही रूपमे बोध करा सकते है।

यहाँ पर समझनेकी बात यह है कि 'यह घट है पटादि नही है' यह महावाक्य वस्तुत्त्वका पूर्णरूपसे प्रतिपादक होने व श्रोता या पाठकको उस वस्तुतत्त्वका पूर्णताके साथ ज्ञान करानेमे समर्थ होनेके कारण प्रमाणवाक्य है तथा इस महावाक्यके अवयभूत 'यह घट है' और 'पटादि नही है' ये दोनो वाक्य नयवाक्य है व इन दोनो वाक्योके समूहरूप 'यह घट है पटादि नही है' इस महावाक्यके जरिये श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्त्वका पूर्णता लिये हुए ज्ञान प्रमाणज्ञान है व इस महावाक्यके अवयभूत 'यह घट है' और 'पटादि नही है' इन दोनो वाक्योसे श्रोता या पाठकको होनेवाला वस्तुतत्त्वके एक-एक अशका ज्ञान नयज्ञान है। यही बात 'वस्तु नित्य है और नित्य नही है अर्थात् अनित्य है' इस महावाक्य तथा इसके अवयवभूत 'वस्तु नित्य है' और वस्तु नित्य नही है अर्थात् अनित्य है' इन वाक्योके विषयमे भी जान लेना चाहिये।

अब देखना यह है कि अप्रमाणज्ञानमे नयव्यवस्था क्यो नही होती ? तो इसपर ध्यान देनेसे मालूम पडता है कि जितनी भी एकान्तवादकी मान्यताये है उनमें जिस एक धर्मको जिस वस्तुमें स्वीकार किया गया है उस वस्तुमे उस धर्मके साथ उस धर्मके विरोधी धर्मको जैसा जैनदर्शनमे स्वीकार किया गया है वैसा उन मान्यताओमे स्वीकार नही किया गया है। जैसे जैनदर्शन कहता है कि जब वस्तुमे पूर्वोक्त प्रकारसे आकृति, प्रकृति और विकृतिके रूपमे क्रमश- द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता पायी जाती है तो फिर यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता और गुणरूपता तो शाश्वत होनेसे नित्य है तथा उसकी पर्यायरूपता अशाश्वत होनेसे अनित्य है। लेकिन वस्तुतत्त्वकी यह स्थिति सही होते हुए भी जो दर्शन वस्तुको नित्य मानता है वह उसे अनित्य माननेके लिये तैयार नही है और जो दर्शन वस्तुको अनित्य मानता है वह उसे नित्य माननेके लिये तैयार नही है इसलिये ये दोनो ही एकान्तवादी दर्शन अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार 'वस्तु नित्य है' या 'वस्तु अनित्य है' इन दो वाक्योमेंसे एक ही वाक्यसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर देना चाहते है। लेकिन वास्तवमें बात यह है कि जैसा नित्यरूप या अनित्यरूप वस्तुको वे मानते है वैसा उस वस्तुका पूर्णरूप न होकर अशमात्र सिद्ध होता है। अत 'वस्तु नित्य है' और 'वस्तु अनित्य है' ये दोनो वाक्य पृथक्-पृथक् रहकर चूकि वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कर नही सकते है, इसलिये तो इन्हे प्रमाणवाक्य नही कहा जा सकता है और वे एकान्तवादी दर्शन इन वाक्योको वस्तुके अशके प्रतिपादक माननेको तैयार नही है। इसलिये इन्हे नयवाक्य भी नही कहा जा सकता है। इस तरह ये दोनो ही वाक्य प्रमाण-वाक्य तथा नय-वाक्यकी कोटिसे निकल कर अप्रमाण या प्रमाणासभाकी कोटिमे ही गर्भित होते है। इन्हें नयाभास इसलिये नही कहा जा सकता है कि एक नयके विषयको दूसरे नयके विषयरूपमें स्वीकार करना या कथन करना ही नयाभासका लक्षण है जो यहाँ पर घटित नही होता है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु नित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपता नित्य है और 'वस्तु अनित्य है' इस वाक्यका अभिप्राय यह होता है कि वस्तुकी पर्यायरूपता अनित्य है। अब यदि कोई व्यक्ति वस्तुकी द्रव्यरूपता या गुणरूपताको अनित्य तथा पर्यायरूपताको नित्य मानने या कहने लग जाय तो उस हालतमे ऐसी मान्यता या ऐसा कथन ही नयाभास माना जायगा।

इस प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य नयवाक्य है क्योंकि इससे वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन होता है तथा सांख्य दर्शनका 'वस्तु नित्य है' यह वाक्य प्रमाणाभास है या अप्रमाण है क्योंकि इस वाक्यसे सांख्य वस्तुके नित्यतारूप अंशका प्रतिपादन करना नहीं चाहता है और चूंकि वह नित्यतारूप अंशसे वस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करना चाहता है, जैसा प्रतिपादन होना असंभव है, क्योंकि वस्तु मात्र नित्यरूप ही नहीं है बल्कि नित्य होनेके साथ-साथ वह अनित्य भी है। इसी प्रकार जैनदर्शनका 'वस्तु अनित्य है' यह वाक्य और बौद्ध दर्शनका 'वस्तु अनित्य है।' यह वाक्य इन दोनोंके विषयमें क्रमशः नयरूपता और अप्रमाणरूपताकी ऐसी ही व्यवस्था समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

इस संपूर्ण विवेचनका सार यह है कि विश्वकी संपूर्ण अनन्तानन्त वस्तुओंमेंसे प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने इन अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही प्रत्येक वस्तुमें रह रहा है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको जैनदर्शनमें अनेकान्तात्मक माना गया है। इस अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करना वचनका कार्य है। वचन भी यदि वस्तुके परस्परविरोधी दोनों धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो उसे प्रमाणरूप कहा जायगा और यदि वह परस्परविरोधी दोनों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है तो वह नयरूप माना जायगा। इसके विपरीत उक्त प्रकारके अनेकान्तात्मकरूपसे प्रसिद्ध वस्तुके किसी एक धर्मके रूपमें एकान्तात्मक मानकर उसे जिस वचन द्वारा प्रतिपादित किया जायगा वह वचन अप्रमाणरूप माना जायगा, क्योंकि वस्तुका जैसा अनेकान्तात्मक स्वरूप है वैसा उस वचनसे प्रतिपादित नहीं होगा और जैसा एकान्तात्मक स्वरूप वस्तुका नहीं है वैसा उससे प्रतिपादित होगा। जिस वचनसे वस्तुका जो धर्म प्रतिपादित होना चाहिये, यदि उससे विपरीत धर्मका जहाँ प्रतिपादन किया जायगा वहाँ वह वचन नयाभासरूप माना जायगा। इसी तरह वचनसे उक्त प्रकारका जैसा प्रतिपादन वक्ता या लेखक द्वारा किया जायगा वैसा ही उस वचनसे श्रोता या पाठकको वस्तुके विषयमें बोध होगा। इस प्रकार यह बोध भी यथायोग्य प्रमाणरूप, नयरूप, अप्रमाणरूप या नयाभासरूप ही माना जायगा।

इस लेखमें हमने उत्पत्ति और विकासके आधारपर जैनदर्शनके नयवादको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। जैनागममें नयोंका विस्तार करते हुए द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय और व्यवहारनय इस प्रकार दो तरहसे नय-भेदोंका विवेचन पाया जाता है। इनमेंसे नयोंके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद वस्तुतत्त्वकी स्वरूपव्यवस्थाके आधारपर तथा निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद आध्यात्मिक दृष्टिकोणके आधारपर जैनागम द्वारा मान्य किये गये हैं। इनके अलावा जैनागममें और भी अर्थनय तथा शब्दनयके रूपमें नयोंका विवेचन पाया जाता है तथा अर्थनयके नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र व शब्दनयके शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत भेद भी जैनागममें देखनेको मिलते हैं। एवं सभी प्रकारके नयोंके उपभेद भी जहाँ-तहाँ देखनेको मिलते हैं। इन नयोंका विस्तारसे विवेचन करनेकी वर्तमानमें अतीव आवश्यकता हो गयी है। कारण कि इस समय जैनसमाजमें जो तात्त्विक विवाद उठ रहे हैं उनका कारण नयोंको निश्चित ढंगसे नहीं समझ पाना ही है। लेकिन चूंकि लेख काफी विस्तृत हो गया है अतः स्वतन्त्र लेख द्वारा ही इन सबका विवेचन करना उचित होगा।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

कोई भी धर्मप्रवर्तक अपने शासनको स्थायी और व्यापक रूप देनेके लिये मनुष्य-समाजके सामने दो बातोको पेश करता है—एक तो धर्मका उद्देश्य-रूप और दूसरा उसका विधेय-रूप । दूसरे शब्दोमे धमके उद्देश्य-रूपको साध्य, कार्य या सिद्धान्त कह सकते है और उसके विधेय-रूपको साधन, कारण या आचरण कह सकते है । वीरशासनके पारिभाषिक शब्दोमें धर्मके इन दोनो रूपोको क्रमसे निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म कहा गया है । प्राणिमात्रके लिये आत्मकल्याणमे यही निश्चय-धर्म उद्दिष्ट वस्तु है और व्यवहारधर्म है इस निश्चय-धर्मकी प्राप्तिके लिये उसका कर्त्तव्यमार्ग ।

इन दोनो बातोंको जो धर्मप्रवर्त्तक जितना सरल, स्पष्ट और व्यवस्थित रीतिसे रखनेका प्रयत्न करता है उसका शासन ससारमें सबसे अधिक महत्त्वशाली समझा जा सकता है । इतना ही नही, वह सबसे अधिक प्राणियोको हितकर हो सकता है । इसलिये प्रत्येक धर्मप्रवर्त्तकका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तकी ओर दौडता है । वीरभगवान्का ध्यान भी इस ओर गया और उन्होने दार्शनिक तत्त्वोको व्यवस्थित रूपसे उनकी तथ्यपूर्ण स्थिति तक पहुँचानेके लिये दर्शनशास्त्रके आधारस्तम्भ रूप अनेकान्तवाद और स्याद्वाद इन दो तत्त्वोका आविर्भाव किया ।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ये दोनो दर्शनशास्त्रके लिये महान् गढ है । जैनदर्शन इन्हीकी सीमामे विचरता हुआ ससारके समस्त दर्शनोके लिये आज तक अजेय बना हुआ है । दूसरे दर्शन जैनदर्शनको जीतनेका प्रयास करते तो है परतु इन दुर्गोंके देखने मात्रसे उनको नि शक्त होकर बैठ जाना पडता है—किसीके भी पास इनके तोडनेके साधन मौजूद नही है ।

जहाँ अनेकान्तवाद और स्याद्वादका इतना महत्त्व बढा हुआ है वहाँ यह भी नि संकोच कहा जा सकता है कि साधारणजनकी तो बात ही क्या ? अजैन विद्वानोके साथ-साथ प्राय जैन विद्वान् भी इनका विश्लेपण करनेमे असमर्थ है ।

अनेकान्त और स्यात् ये दोनो शब्द एकार्थक है या भिन्नार्थक ? अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वतन्त्र स्वरूप क्या है ? अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनोका प्रयोगस्थल एक है या स्वतन्त्र ? आदि समस्याएँ आज हमारे सामने उपस्थित है ।

यद्यपि इन समस्याओका हमारी व दर्शनशास्त्रकी उन्नति या अवनतिसे प्रत्यक्षरूपमें कोई सम्बन्ध नही है परन्तु अप्रत्यक्षरूपमे ये हानिकर अवश्य है । क्योकि जिस प्रकार एक ग्रामीण कवि छद, अलकार, रस, रीति आदिका शास्त्रीय परिज्ञान न करके भी छद, अलकार आदिसे सुसज्जित अपनी भावपूर्ण कवितासे जगतको प्रभावित करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार सर्वसाधारण लोग अनेकान्तवाद और स्याद्वादके शास्त्रीय परिज्ञानसे शून्य होनेपर भी परस्परविरोधी जीवनसबन्धी समस्याओका इन्ही दोनो तत्त्वोके बलपर अविरोध रूपसे समन्वय करते हुए अपने जीवन-सबन्धी व्यवहारोको यद्यपि व्यवस्थित बना लेते है परन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियोके जीवनसबन्धी व्यवहारोमे परस्पर विरोधीपन होनेके कारण जो लडाई-झगडे पैदा होते है वे सब अनेकान्तवाद और स्याद्वादके रूपको न समझनेके ही परिणाम है । इसी तरह अजैन दार्शनिक विद्वान् भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादको दर्शनशास्त्रके अग न मानकरके भी अपने सिद्धान्तोमें उपस्थित हुई परस्पर विरोधी समस्याओको इन्हीके बलपर हल करते हुए यद्यपि दार्शनिक तत्त्वोकी व्यवस्था करनेमें समर्थ होते हुए नजर आ रहे है, तो भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकोके सिद्धान्तोमें परस्पर विरोधीपन होनेके कारण उनके द्वारा

अपने सिद्धान्तोंको सत्य और महत्त्वशाली तथा दूसरेके सिद्धान्तको असत्य और महत्त्वरहित सिद्ध करनेकी जो असफल चेष्टा की जाती है वह भी अनेकान्तवाद और स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेका ही फल है।

साराश यह कि लोकमे एक दूसरेके प्रति जो विरोधी भावनाएँ तथा धर्मोंमे जो साम्प्रदायिकता आज दिखाई दे रही है उसका कारण अनेकान्तवाद और स्याद्वादको न समझना ही कहा जा सकता है।

जैनी लोग यद्यपि अनेकान्तवादी और स्याद्वादी कहे जाते है और वे खुद भी अपनेको ऐसा कहते है, फिर भी उनके मौजूदा प्रचलित धर्ममे जो साम्प्रदायिकता और उनके हृदयोमे दूसरोके प्रति जो विरोधी भावनाएँ पाई जाती है उसके दो कारण है—एक तो यह कि उनमे भी अपने धर्मको सर्वथा सत्य और महत्त्वशील तथा दूसरे धर्मोंको सर्वथा असत्य और महत्त्वरहित समझनेकी अहकारवृत्ति पैदा हो जानेसे उन्होने अनेकान्तवाद और स्याद्वादके क्षेत्रको बिलकुल सकुचित बना डाला है, और दूसरे यह कि अनेकान्तवाद और स्याद्वादकी व्यावहारिक उपयोगिताको वे भी भूले हुए है।

अनेकान्त और स्यात्का अर्थभेद

बहुतसे विद्वान् इन दोनो शब्दोका एक अर्थ स्वीकार करते है। उनका कहना है कि अनेकान्तरूप-पदार्थ ही स्यात् शब्दका वाच्य है और इसीलिये वे अनेकान्त और स्याद्वादमे वाच्य-वाचक सम्बन्ध स्थापित करते है—उनके मतसे अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक है। परन्तु "वाक्येष्वनेकान्तद्योती" इत्यादि कारिकामे पडे हुए "द्योती" शब्दके द्वारा स्वामी समन्तभद्र स्पष्ट सकेत कर रहे है कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक है, वाचक नही।

यद्यपि कुछ शास्त्रकारोने भी कही-कही स्यात् शब्दको अनेकान्त अर्थका बोधक स्वीकार किया है, परन्तु वह अर्थ व्यवहारोपयोगी नही मालूम पडता है—केवक स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप रूढ अर्थ मानकरके इन दोनो शब्दोकी समानार्थकता सिद्ध की गई है। यद्यपि रूढिसे शब्दोके अनेक अर्थ हुआ करते है और वे असगत भी नही कहे जाते है फिर भी यह मानना ही पडेगा कि स्यात् शब्दका अनेकान्तरूप अर्थ प्रसिद्धार्थ नही है। जिस शब्दसे जिस अर्थका सीधे तौरपर जल्दीसे बोध हो सके वह उस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ माना जाता है और वही प्राय व्यवहारोपयोगी हुआ करता है; जैसे 'गो' शब्द पशु, भूमि, वाणी आदि अनेक अर्थोमे रूढ है परन्तु उसका प्रसिद्ध अर्थ पशु ही है, इसलिये वही व्यवहारोपयोगी माना जाता है। और तो क्या ? हिन्दीमें गौ या गाय शब्द जो कि गो शब्दके अपभ्रश है केवल स्त्री गो मे ही व्यवहृत होते है, पुरुष गो अर्थात् बैल रूप अर्थमे नही, इसका तात्पर्य यह नही कि वे बैल रूप अर्थके वाचक ही नही है किन्तु बैल रूप अर्थ उनका प्रसिद्ध अर्थ नही, ऐसा ही समझना चाहिये। स्यात् शब्द उच्चारणके साथ-साथ कथचित् अर्थकी ओर संकेत करता है अनेकान्तरूप अर्थकी ओर नही, इसलिये कथचित् शब्दका अर्थ ही स्यात् शब्दका अर्थ अथवा प्रसिद्ध अर्थ समझना चाहिये।

अनेकान्तवाद और स्याद्वादका स्वरूप

अनेकान्तवाद शब्दके तीन शब्दाश है—अनेक, अन्त और वाद। इसलिये अनेक—नाना, अन्त—वस्तु-धर्मोंकी, वाद—मान्यताका नाम 'अनेकान्तवाद' है। एक वस्तुमे नानाधर्मों (स्वभावो) को प्राय सभी दर्शन स्वीकार करते हैं, जिससे अनेकान्तवादकी कोई विशेषता नही रह जाती है और इसलिये उन धर्मोका क्वचित् विरोधीपन भी अनायास सिद्ध हो जाता है, तब एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी नाना धर्मोंकी मान्यताका नाम अनेकान्तवाद समझना चाहिये। यही अनेकान्तवादका अविकलस्वरूप कहा जा सकता है।

स्याद्वाद शब्दके दो शब्दांश है—स्यात् और वाद। ऊपर लिखे अनुसार स्यात् और कथञ्चित् ये दोनो शब्द एक अर्थके बोधक है—कथंचित् शब्दका अर्थ है "किसी प्रकार"। यही अर्थ स्यात् शब्दका समझना चाहिये। वाद शब्दका अर्थ है मान्यता। "किसी प्रकारसे अर्थात् एकदृष्टिसे—एक अपेक्षासे या एक अभिप्रायसे", इस प्रकारकी मान्यताका नाम स्याद्वाद है। तात्पर्य यह कि विरोधी और अविरोधी नानाधर्मवाली वस्तुमे अमुक धर्म अमुक दृष्टिसे या अमुक अपेक्षा या अमुक अभिप्रायसे है तथा व्यवहारमें "अमुक कथन, अमुक विचार, या अमुक कार्य, अमुक दृष्टि, अ मुक अपेक्षा, या अमुक अभिप्रायको लिये हुए है"। इस प्रकार वस्तुके किसी भी धर्म तथा व्यवहारकी सामजस्यताकी सिद्धिके लिये उसके दृष्टिकोण या अपेक्षाका ध्यान रखना ही स्याद्वादका स्वरूप माना जा सकता है।

अनेकान्त और स्याद्वादके प्रयोगका स्थलभेद

(१) इन दोनोके उल्लिखित स्वरूपपर ध्यान देनेसे मालूम पडता है कि जहाँ अनेकान्तवाद हमारी बुद्धिको वस्तुके समस्त धर्मोकी ओर समानरूपसे खीचता है वहाँ स्याद्वाद वस्तुके एक धर्मका ही प्रधानरूपसे बोध करानेमें समर्थ है।

(२) अनेकान्तवाद एक वस्तुमें परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मोका विधाता है—वह वस्तुको नाना धर्मात्मक बतलाकर ही चरितार्थ हो जाता है। स्याद्वाद उस वस्तुको उन नाना धर्मोके दृष्टिभेदोको बतलाकर हमारे व्यवहारमे आने योग्य बना देता है—अर्थात् वह नानाधर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस हालतमे किस तरह उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद बतलाता है। थोडेसे शब्दोमे यो कह सकते है कि अनेकान्तवादका फल विधानात्मक है और स्याद्वादका फल उपयोगात्मक है।

(३) यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवादका फल स्याद्वाद है—अनेकान्तवादकी मान्यताने ही स्याद्वादकी मान्यताको जन्म दिया है, क्योकि जहाँ नानाधर्मोका विधान नही है वहाँ दृष्टिभेदकी कल्पना हो ही कैसे सकती है?

उल्लिखित तीन कारणोसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तवाद ओर स्याद्वादका प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थलोमें होना चाहिये। इस तरह यह बात भलीभाति सिद्ध हो जाती है कि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ये दोनो एक नही हैं, परन्तु परस्पर सापेक्ष अवश्य है। यदि अनेकान्तवादकी मान्यताके बिना स्याद्वादकी मान्यताके बिना स्याद्वादकी मान्यताकी कोई आवश्यकता नही है तो स्याद्वादकी मान्यताके बिना अनेकान्तवादकी मान्यता भी निरर्थक ही नही बल्कि असगत ही सिद्ध होगी। हम वस्तुको नानाधर्मात्मक मान करके भी जबतक उन नानाधर्मोका दृष्टिभेद नही समझेंगे तबतक उन धर्मोकी मान्यता अनुपयोगी तो होगी ही, साथ ही वह मान्यता युक्ति-सगत भी नही कही जा सकेगी।

जैसे लघन रोगीके लिये उपयोगी भी है और अनुपयोगी भी, यह तो हुआ लघनके विषयमें अनेकान्तवाद। लेकिन किस रोगीके लिये वह उपयोगी है और किस रोगीके लिये वह अनुपयोगी है, इस दृष्टिभेदको बतलाने वाला यदि स्याद्वाद न माना गया तो यह मान्यता न केवल व्यर्थ ही होगी, बल्कि पित्तज्वरवाला रोगी लघनकी सामान्यतौरपर उपयोगिता समझकर यदि लघन करने लगेगा तो उसे उस लघनके द्वारा हानि ही उठानी पडेगी। इसलिये अनेकान्तवादके द्वारा रोगीके सम्बन्धमे लघनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता रूप दो धर्मोको मान करके भी वह लघन अमुक रोगीके लिये उपयोगी और अमुक रोगीके लिये अनुपयोगी है, इस दृष्टि-भेदको बतलाने वाला स्याद्वाद मानना ही पडेगा।

एक बात और है, अनेकान्तवाद वक्तासे अधिक सबन्ध रखता है, क्योकि वक्ताकी दृष्टि ही विधा-

नात्मक रहती है। इसी प्रकार स्याद्वाद श्रोतासे अधिक सम्बन्ध रखता है; क्योकि उसकी दृष्टि हमेशा उपयोगात्मक रहा करती है। वक्ता अनेकान्तवादके द्वारा नानाधर्मविशिष्ट वस्तुका दिग्दर्शन कराता है और श्रोता स्याद्वादके जरियेसे उस वस्तुके केवल अपने लिये उपयोगी अंशको ग्रहण करता है।

इन कथनसे यह तात्पर्य नही लेना चाहिये कि वक्ता 'स्यात्' की मान्यताको और श्रोता 'अनेकान्त' की मान्यताको ध्यानमे नही रखता है। यदि वक्ता 'स्यात्'की मान्यताको ध्यानमे नही रखेगा तो वह एक वस्तुमें परस्पर विरोधी धर्मोका समन्वय न कर सकनेके कारण उन विरोधी धर्मोका उस वस्तुमें विधान ही कैसे करेगा ? ऐसा करते समय विरोधरूपी सिपाही चोरकी तरह उसका पीछा करनेको हमेशा तैयार रहेगा। इसी तरह यदि श्रोता 'अनेकान्त'की मान्यताको ध्यानमे नही रखेगा तो वह दृष्टिभेद किस विषयमे करेगा ? क्योकि दृष्टिभेदका विषय अनेकान्त अर्थात् वस्तुके नानाधर्म ही तो है।

इसलिये ऊपरके कथनसे केवल इतना तात्पर्य लेना चाहिये कि वक्ताके लिये विधान प्रधान है—वह स्यात्की मान्यतापूर्वक अनेकान्तकी मान्यताको अपनाता है और श्रोताके लिये उपयोग प्रधान है—वह अनेकान्तकी मान्यतापूर्वक स्यात्की मान्यताको अपनाता है।

मान लिया जाय कि एक मनुष्य है, अनेकान्तवादके जरिये हम इस नतीजेपर पहुँचे कि वह मनुष्य वस्तुत्वके नाते नानाधर्मात्मक है—वह पिता है, पुत्र है, मामा है, भाई है आदि आदि बहुत कुछ है। हमने वक्ताकी हैसियतसे उसके इन सम्पूर्ण धर्मोका निरूपण किया। स्याद्वादसे यह बात तय हुई कि वह पिता है स्यात्—किसी प्रकारसे—दृष्टिविशेषसे-अर्थात् अपने पुत्रकी अपेक्षा, वह पुत्र है, स्यात्—किसी प्रकार अर्थात् अपने पिताकी अपेक्षा; वह मामा है स्यात्—किसी प्रकार अर्थात् अपने भानजेकी अपेक्षा, वह भाई है स्यात्—किसी प्रकार—अर्थात् अपने भाईकी अपेक्षा।

अब यदि श्रोता लोगोका उस मनुष्यसे इन दृष्टियोमेसे किसी भी दृष्टिसे सम्बन्ध है तो वे अपनी-अपनी दृष्टिसे अपने लिये उपयोगी धर्मको ग्रहण करते जावेंगे। पुत्र उसको पिता कहेगा, पिता उसको पुत्र कहेगा, भानजा उसको मामा कहेगा और भाई उसको भाई कहेगा; लेकिन अनेकान्तवादको ध्यानमे रखते हुए वे एक दूसरेके व्यवहारको असगत नही ठहरावेंगे। अस्तु।

इस प्रकार अनेकान्तवाद और स्याद्वादके विश्लेषणका यह यथाशक्ति प्रयत्न है। आशा है इससे पाठकजन इन दोनोके स्वरूपको समझनेमे सफल होनेके साथ साथ वीर-भगवान्के शासनकी गम्भीरताका सहज हीमें अनुभव करेंगे और इन दोनो तत्त्वोके द्वारा साप्रदायिकताके परदेको हटाकर विशुद्ध धर्मकी आराधना करते हुए अनेकान्तवाद और स्याद्वादके व्यावहारिक रूपको अपने जीवनमें उतारकर वीर-भगवान्के शासनकी अद्वितीय लोकोपकारिताको सिद्ध करनेमे समर्थ होगे।

●

स्याद्वाद् दर्शन और उसके उपयोगका अभाव

स्याद्वादका अर्थ

'स्याद्वाद' इस शब्दके अन्तर्गत दो शब्द है—स्यात् और वाद। स्यात्का अर्थ अपेक्षासहित (दृष्टि-कोणसहित) तथा वाद शब्दका अर्थ सिद्धान्त या मत होता है। इस प्रकार स्याद्वादका अर्थ सापेक्ष सिद्धान्त समझना चाहिये।

स्याद्वादकी परिभाषा

अपने व दूसरे के विचारो, वचनो व कार्योंमे अपेक्षा या दृष्टिकोणका ध्यान रखना ही स्याद्वादकी परिभाषा है।

स्याद्वादकी आवश्यक्ता

मनुष्यके जितने विचार, वचन व कार्य है उनका कोई-न-कोई दृष्टिकोण अवश्य होना चाहिये, उसीके आधार पर उनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता समझी जा सकती है। हम अपने विचारों वचनो व कार्योंको दृष्टिकोणके अनुकूल बनायेंगे, तो वे लाभप्रद होगे, दृष्टिकोणके प्रतिकूल बनायेंगे या उनका कोई दृष्टिकोण नही रखेंगे तो वे लाभप्रद तो होगे ही नही, बल्कि कभी-कभी हानिप्रद हो सकते है। इसी प्रकार दूसरोंके विचारो, वचनो व कार्योंको उनके दृष्टिकोणको ध्यानमे रखकर देखेंगे तो हम उनकी सत्यता (उपादेयता) या असत्यता (अनुपादेयता) का ज्ञान कर सकेंगे। यदि दूसरेके विचारो, वचनो व कार्योंको उनके प्रतिकूल दृष्टि-कोणसे देखेंगे या विना दृष्टिकोणके देखेंगे तो हम उनकी सत्यता या असत्यताका ज्ञान नही कर सकेंगे। इस-लिये हमको स्याद्वाद या सापेक्ष सिद्धान्तके अपनानेकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जीवनकी स्थिरता के लिये भोजनकी।

स्याद्वादका विकास

यो तो वस्तुएँ तथा उनके विचारक अनादि है तो स्याद्वाद भी अनादि ही कहा जायगा, लेकिन आव-श्यकताके आधारपर ही किसी भी वस्तुका विचार किया जाता है।

इसी स्याद्वादको ही लें—विचार करनेपर मालूम पडता है कि जितना भी लोकव्यवहार है उसका आधार स्याद्वाद ही है, पर जनसाधारण तो स्याद्वादका नाम तक नही जानते, और ऐसे मनुष्योकी भी कमी नही है, जो स्याद्वादको जान करके भी अपनाना नही चाहते, इतनेपर भी उनका व्यवहार अव्यवस्थित या बन्द नही हो जाता। इसका आशय यही है कि जब जिस वस्तुकी आवश्यकता बढ जाती है उसके जाने बिना हमारा कार्य नही चलता है, तब उसके जाननेकी लोगोके हृदयमें भावना पैदा होती है और तभीसे उसका विकास माना जाता है। स्याद्वादके विकासका विचार इसी आधारपर किया जाता है।

प्राय सभी मतोके अनुसार पौराणिक दृष्टिसे सृष्टिके आदि[1] भागमे जीवन सुख और शान्तिके साम्राज्यसे परिपूर्ण था। शनै शनै सुख और शान्तिमें विकृति पैदा हुई अर्थात् लोगोके हृदयोमे अनुचित

---

१ प्राय सभी मत सृष्टिका उत्पाद और विनाश मानते है, जैनमत ऐसा नही मानता—उसके अनुसार जगत् अनादिनिधन है, पर उसमे सुख और शान्तिकी वृद्धि और हानि रूपसे परिवर्तन माना गया है। इसलिये जैनमतानुसार जिस समय सुख और शान्तिमे हानिका रूप नही दिखाई दिया था उसको सृष्टिका आदि भाग समझना चाहिये।

पापवासनाओका अकुर जन्मा, वहीसे धर्मतत्व प्रकाशमे आया। तात्पर्य यह कि अनुचित पापवासनाओसे लोगो-की अनुचित पापोमे प्रवृत्ति होने लगी, उसको हटानेके लिये तात्कालिक महापुरुषोने पापप्रवृत्तिके त्यागरूप व्यवस्था बनाई, उसीको धर्मका रूप दिया गया।

सुख और शान्तिके सहायक नियम या धार्मिक नियम वैसे-वैसे ही बढते गये, जैसे-जैसे उनके प्रतिबन्धक निमित्तोका प्रादुर्भाव होता गया। इसके अतिरिक्त विविध लोगोकी विवेकबुद्धिने भी काम किया, जिससे देश-कालके अनुसार नानाप्रकारके धार्मिक नियम बने, और उनकी उपादेयताके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका महत्त्व दर्शाया गया। तात्पर्य यह कि धीरे-धीरे धर्मोमें विविधता पैदा हुई। इस धर्मविविधताके कारण भिन्न-भिन्न समष्टियोकी रचना हुई। उन समष्टियोमे कालक्रमसे अपनेको सत्यमार्गानुगामी और दूसरोको असत्य-मार्गानुगामी ठहरानेकी कुत्सित ऐकान्तिक भावनाये जागृत हुई। यहीसे दर्शनशास्त्रका कलेवर पुष्ट हुआ, जिससे बल पर लोगोने स्वपक्षपुष्टि और परपक्ष-खण्डनमे कालयापन करना प्रारम्भ किया, जिससे विरोध-रूपी अन्धकारसे लोक व्याप्त हो गया। उसका अन्त करनेके लिये स्याद्वादरूपी सूर्यका उदय हुआ।

स्याद्वादकी जैनधर्माङ्गता

स्याद्वादतत्त्वका विकास उन महापुरुषोकी तर्कणाशक्तिका फल है, जिन्होने समय और परिस्थितिके अनुसार निर्मित धार्मिक नियमोके परस्पर समन्वय करनेकी कोशिश की थी, तथा इसमे उनको आश्चर्यजनक सफलता भी मिली थी। पर लोकहितभावनामे स्वार्थभावनाका समावेश हो जानेसे उसकी धारा एक देशमे ही रह गई। वे महापुरुष जैन थे, इसलिये कालान्तरमे स्याद्वाद जैनधर्मका मूल बन गया, दूसरोको स्याद्वादके नामसे घृणा हो गई।

जैनाचारमे स्याद्वाद

इसके विषयमे अमृतचन्द्र सूरिने हिंसाके विषयमे स्याद्वादका जो भावपूर्ण चित्रण किया है वही पर्याप्त होगा। वे कहते हैं—

"कोई मनुष्य हिंसा नही करके अर्थात् प्राणियोको नही मार करके भी हिंसाके फलको पाता है, जबकि दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसाके फलको नही पाता है। एक मनुष्यको अल्प हिंसा महान् फल देती है जबकि दूसरे मनुष्यको अधिक हिंसा भी अल्प फल देती है। समान हिंसा करनेवाले दो पुरुषोमेसे एक को वह हिंसा तीव्र फल देती है और दूसरेको वही हिंसा मद फल देती है। किसीको हिंसा करनेके पहले ही हिंसाका फल मिल जाता है और किसीको हिंसा करनेके बाद हिंसाका फल मिलता है। किसीने हिंसा करना प्रारम्भ किया, लेकिन वादमे बन्द कर दिया तो भी हिंसा करनेके भाव हो जानेसे हिंसाका फल मिलता है। किसी समय हिंसा एक करता है, उसका फल अनेक भोगते है। किसी समय हिंसक अनेक होते है और फल एकको भोगना पडता है। किसीकी हिंसा हिंसाका अल्पफल देती है किसीकी वही हिंसा अहिंसाका अधिक फल देती है। किसीकी अहिंसा हिंसाका फल देती है, किसीकी हिंसा अहिंसाके फलको देती है।

इस प्रकार विविध प्रकारके भङ्गोसे दुस्तर हिंसा आदिके स्वरूपको समझानेके लिये स्याद्वादतत्त्वके वेत्ता ही समर्थ होते है।"[1]

राजनैतिक दण्डव्यवस्था भी इसी आधारपर बनी हुई है, जिससे हिंसा आदिके विषयमे स्याद्वादका स्वरूप अच्छी तरह समझमे आ सकता है।

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ५१ से ५८ तक।

जैन सस्कृतिमे स्याद्वादका व्यावहारिक उपयोग उसकी सफलता

समय-समयपर जै . सस्कृतिमे वहुतसे परिवर्तन हुए होंगे। परन्तु भगवान् महावीरसे लेकर आज तक जितने परिवर्तन हुए वे ऐतिहासिक कहे जा सकते है।

जैनियोके वाह्याचार पर भगवान् महावीरके वादसे विक्रमकी १५वी, १६वी शताब्दी तक उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव पडता गया। इसका कारण यह है कि यद्यपि भगवान महावीर और महात्मा बुद्धने वैदिक क्रियाकाण्डका अन्त कर दिया गया था, पर इस तरहकी भावनाएँ कुछ लोगोके हृदयमे वनी रही थी, जिनके आधारपर ब्राह्मण संस्कृतिका उत्थान हुआ। इधर जैनधर्म और वौद्धधर्मकी वागडोरें ढीली पड़ी, जिससे ब्राह्मण सस्कृतिको वढनेका अच्छा मौका मिला और उसका धीरे-धीरे व्यापक रूप वन गया। यही कारण है कि जैनधर्म उससे अछूता न रह सका।

मेरा तो विश्वास है और सिद्ध भी किया जा सकता है कि वौद्धधर्मके तत्कालीन महापुरुषोने वौद्ध-धर्मके वाह्यरूपमे रचमात्र परिवर्तन नही किया, इसीसे वह भारतसे लुप्त हो गया। किन्तु जैनो स्याद्वादके महत्त्वको समझते थे, उनको देश-कालकी परिस्थितिका अच्छा अनुभव था, इसलिए उन्होने समयानुसार जैन-धर्मकी सत्ता कायम रखनेके लिये ब्राह्मण सस्कृतिको अपनाया।

उस समय ब्राह्मण सस्कृतिका इतना अधिक प्रभाव था कि सभी लोगोका झुकाव उस तरफ हो गया था। इसलिये जैनाचार्योको लिखना प ा कि "जिस लोकाचारसे सम्यक्त्वका हानि या व्रत दूपित नही होते है वह लोकाचार जैनधर्म वाह्य नही कहा जा सकता।" इस प्रकार उस समय जो जैनधर्मसे विमुख हो रहे थे उनकी स्थिरता करते हुए जैनाचार्योने जैनधर्मकी सत्ता कायम रखी थी जिसका फल यह है कि आज भी भारतवर्षमें जैनी लोग विद्यमान है, अन्यथा वौद्धोकी तरह जैनी भी आज दूसरे धर्मका वखतर पहिने दिखाई देते।

आधुनिक भूलें

ऊपरके कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व पुरुषोने वस्तुव्यवस्थामें अपना सिद्धान्त व अपना आचार व्यवहार स्याद्वादकी सहायतासे निश्चित किया था।

तात्पर्य यह कि किसी भी सिद्धान्तका साधक तर्क है—स्याद्वाद सहायक और विश्वास उसका आधार है। इन तीनोका आश्रय लेकरके जिन लोगोने वस्तुव्यवस्थाके सिद्धान्त स्थिर किये थे या जो आज करते हैं उनका ऐसा करना असगत नही कहा जायगा। वल्कि जिसका हृदय तर्क, स्याद्वाद और विश्वाससे व्याप्त होगा उसके द्वारा की गई वस्तुव्यवस्था आदरणीय समझी जायगी। जैन सिद्धान्तकी सत्यता या उपादेयता इसलिये नही है कि वह सर्वज्ञभाषित है, किन्तु इसलिये है कि उसका मूल तर्क, स्याद्वाद और विश्वास है। सर्वज्ञ तो सिद्धान्तकी अविरोधतासे सिद्ध किया जाता है। हेतुका साध्य उसी हेतुका हेतु नही माना जाता।

इसलिये जो लोग पूर्व पुरुषोंके किसी भी सिद्धान्तको तर्क, स्याद्वाद और विश्वासके बिना मिथ्या सिद्ध करनेकी कोशिश करते है वे स्वय भूल करते है और जो किसी सिद्धान्तकी तर्क, स्याद्वाद और विश्वासके अधार पर परीक्षा करना पाप समझते है वे भी भूल करते है। दोनो ही स्याद्वाद के रहस्यसे अनभिज्ञ है।

इसी प्रकार जो आचरण या व्यवहार आज सक्लेश-वर्धक, लोकानुपयोगी, लोकनिन्दनीय हो वे भले ही किसी समय शान्तिवर्धक, लोकोपयोगी व लोकप्रशसित रहे हो, आज उनको मिथ्या या अनुपादेय समझा

जायगा। इससे विपरीत जो आचार या व्यवहार आज शान्तिवर्धक, लोकोपयोगी व लोकप्रशसित हो वे भले ही किसी समय सक्लेशवर्धक, लोकानुपयोगी व लोकनिन्दनीय रहे हो, आज उनको सत्य या उपादेय ही समझा जायगा। इसलिये जो लोग परिस्थितिका अध्ययन किये विना ब्राह्मण सस्कृतिके अपनानेमे तात्कालीन जैनाचार्यों की भूल बतलाते है वे स्वय भूल करते है। और जो आज की परिस्थितिका अध्ययन किये विना उस जमाने-की संस्कृतिको आजकी सस्कृति बनाना चाहते है वे भी भूल करते है—दोनो ही स्याद्वादके रहस्यसे अनभिज्ञ है। इतना ही नही, स्याद्वादके रहस्यको हम लोग इतना भूल गये कि "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की लोकोक्ति जैनियोके अन्दर ही अन्दर चरितार्थ हो रही है। प्रत्येक जैनी इच्छानुकूल अपनी समझके अनुसार अपने आचार व व्यवहारको ही धर्म समझने लगा है। उसके सामने दूसरोके उपदेशोका कुछ महत्त्व नही, जबतक कि वे उसकी इच्छाके अनुकूल न हो।

स्याद्वादके उपयोगकी कमीका फल

जहाँ जैनधर्ममे स्याद्वादका अधिक-से-अधिक उपयोग किया गया है वही उसके उपयोगमें कमी भी रह गई है। स्याद्वादका उद्देश्य सपूर्ण धर्मोका समन्वय करके मनुष्यसमाजमे शान्ति स्थापित करना था, लेकिन दूसरी धार्मिक समष्टियाँ स्वार्थवासनाकी पूर्तिके लिये स्वधर्मप्रेमी होती हुई भी परमधर्मासहिष्णु व हटग्राही बन गई थी, इसलिये उस उद्देशकी पूर्तिमे तो स्याद्वादी असफल ही रहे। इसके अतिरिक्त जैनियोमे भी स्वार्थवासना आने लगी थी, जिससे जैनी भी स्वधर्मप्रियताके साथ-साथ परधर्मासहिष्णुता व हटग्राहिताके शिकार हो गये, जिससे धीरे-धीरे स्याद्वादी जैनी भी सम्प्रदायवादी बने। स्याद्वादका महत्त्व एक साप्रदायिक पुष्टिसे अधिक न रह सका। दूसरोकी दृष्टिमे जैनधर्म एक सम्प्रदाय समझा जाने लगा। इधर जैनियोने भी पक्षपुष्टिमें अपनी शक्तिका उपयोग करना प्रारम्भ किया, जिससे जैनाचार्य जैसा कि ऊपर स्याद्वादका उपयोग बतला आये हैं उनके अनुसार सम्प्रदाय रूपसे ही जैनधर्मको कायम रख सके। उसका परिणाम यह हुआ कि आज जब साम्प्रदायिकता मनुष्य-समाजका रक्त-शोषण कर रही है उसमे जैनी भी कम भाग नही ले रहे हैं। तात्पर्य यह है कि स्याद्वादी होकरके जैनियोने स्याद्वादका क्रियात्मक उपयोग करना नही सीखा, जिससे स्या-द्वादके द्वारा मनुष्य-समाजका जो कुछ हित हो सकता था वह न तो हुआ और न हो रहा है।

हमारा कर्तव्य

इस भयानक किन्तु विचारशील युगमें हमारा कर्त्तव्य है कि अपने जीवनको लोकोपयोगी बनावें। यदि हम अपने जीवनको लोकोपयोगी नही बना सकते तो विश्वास रखना चाहिये कि हम परलोकके लिये भी कुछ नही कर रहे हैं। स्याद्वादसिद्धान्तके अधिकारी रहने मात्रसे हम स्याद्वादका असर दूसरो पर नही डाल सकते। कार्योका ही दूसरोपर असर हुआ करता है। हम अपने लोकोपयोगी कर्त्तव्यको स्याद्वादके द्वारा निर्धारित कर उसीके लिये जीवन समर्पित कर दें; उसके द्वारा हमारे जीवनको शान्ति ही न होगी बल्कि आपसे धर्म-धर्म चिल्लानेकी भारतकी कुप्रवृत्ति नष्ट होगी एवं जैनधर्मकी लोकोपयोगिता मनुष्य-समाजमें क्रियात्मक चमत्कार दिखला देगी।

●

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेषण

विश्व की रचना

जैनदर्शनमें विश्वकी रचना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे छह प्रकारके पदार्थोंके आधारपर स्वीकृत की गयी है। इनमेंसे जीवोंकी सख्या अनन्तानन्त है, पुद्गलोंकी सख्या भी अनन्तानन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है तथा काल असख्यात है।

प्रत्येक पदार्थका स्वभाव

धर्म, अधर्म, आकाश और सभी कालोंमें अपनी-अपनी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्ति विद्यमान है व सभी जीवो और पुद्गलोमे अपनी-अपनी स्वत सिद्ध स्वभावभूत भाववतीशक्तिके साथ-साथ अपनी-अपनी स्वत सिद्ध स्वभावभूत क्रियावतीशक्ति भी विद्यमान है। क्रियावतीशक्तिकी विद्यमानताके कारण ही जीव और पुद्गल दोनो प्रकारके पदार्थ सक्रिय कहलाते हैं और क्रियावतीशक्तिकी अविद्यमानताके कारण ही धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके पदार्थ निष्क्रिय कहलाते हैं।[1]

प्रत्येक पदार्थका कार्य

प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी भाववती शक्तिके आधारपर सतत अपना-अपना कार्य कर रहा है। अर्थात् आकाश अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोंको सतत अपने पेटमें समाये हुए है, सभी काल अपनी-अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोंको सतत एक क्षणवर्ती तथा अनेक क्षणवर्ती पर्यायोके रूपमे विभाजित कर रहे हैं। धर्म अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर जीवो और पुद्गलोकी यथावसर होनेवाली हलन-चलनरूप क्रियामें सतत सहायक होता रहता है और अधर्म अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर जीवो और पुद्गलोकी उक्त क्रियाके यथावसर होनेवाले स्थगनमे सतत सहायक होता रहता है। इसी प्रकार प्रत्यक जीव अपनी-अपनी यथायोग्य रूपमे विकसित भाववतीशक्तिके आधारपर स्व और अन्य सभी पदार्थोका सतत यथायोग्य रूपमें सामान्य अवलोकन (दर्शन) पूर्वक विशेप अवलोकन (ज्ञान) करता रहता है और इसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल अपनी-अपनी भाववतीशक्तिके आधारपर सतत रससे रसान्तररूप, गन्धसे गन्धान्तररूप, स्पर्शसे स्पर्शान्तररूप और वर्णसे वर्णान्तररूप परिणमन किया करता है। इसके अतिरिक्त जीव और पुद्गल अपनी-अपनी क्रियावतीशक्तिके आधारपर यथावसर क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप क्रिया सतत करते रहते है और अपनी इसी क्रियावतीशक्तिके आधारपर ससारी जीव यथावसर पौद्गलिक कर्मों तथा नोकर्मोके साथ व पुद्गल यथावसर संसारी जीवो और अन्य पुद्गलोके साथ सतत मिलते व विछुडते रहते है। मुक्त जीवोका जो ऊर्ध्वगमन होता है वह भी उनकी अपनी इसी क्रियावतीशक्तिके आधार पर होता है[2] किन्तु वे जो लोकके अग्रभागमे स्थित होकर रह जाते है उसका कारण आगे धर्मास्तिकायका अभाव है।[3]

---

१ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक २५, २६, २७।

२. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। –तत्त्वार्थसूत्र १०-५।

३ प्रश्न—"आह यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते ? (सर्वार्थसिद्धि), समाधान—धर्मास्तिकायाभावात्। –तत्त्वार्थसूत्र। "जीवाण पौग्गलाण गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी। धम्मत्थिकायऽभावे तत्तो परदो ण गच्छंति। –नियमसार, १८३।

जीवकी भावती शक्तिमें विशेषता

प्रत्येक जीवकी भाववतीशक्ति अनादिकालसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय नामके पौद्गलिक कर्मोंसे प्रभावित होकर रहती आयी है, परन्तु अनादिकालसे ही प्रत्येक जीवमे उक्त तीनो कर्मोंका नियमसे यथायोग्यरूपमें क्षयोपशम रहनेके कारण वह भाववती शक्ति भी यथायोग्यरूपमे विकासको प्राप्त होकर रहती आयी है। प्रत्येक जीवकी भाववतीशक्तिका यह विकास ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके आधार-पर ज्ञानशक्तिके रूपमे दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमके आधारपर दर्शनभक्तिके रूपमे और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमके आधारपर वीर्यशक्तिके रूपमें रहता आया है ।

यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि जिन जीवोमे समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका पूर्ण क्षय हो चुका है उनमे उनकी उस भाववतीशक्तिका ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्तिके रूपमे पूर्ण विकास हो चुका है व जिन जीवोमें उक्त समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका आगे जब पूर्ण क्षय हो जायगा तब उनमे भी उनकी उस भाववतीशक्तिका ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्तिके रूपमे पूर्ण विकास हो जायगा।

यद्यपि जीवकी भाववतीशक्तिपर दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मोंका भी अनादिकालसे प्रभाव पड रहा है और अनादिकालसे इन कर्मोंका भी क्षयोपशम रहनेके कारण प्रत्येक जीवमे उस भाववतीशक्तिका दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति और उपभोगशक्तिके रूपमे यथायोग्य विकास भी अनादिकालसे रहता आया है, परन्तु इन दानादि चारो शक्तियोका सम्बन्ध जीवकी क्रियावती-शक्तिके साथ होनेके कारण यहाँ इनको उपेक्षित किया जा रहा है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका स्वरूप

जीवकी विकासको प्राप्त ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और वीर्यशक्ति—इन तीनो शक्तियोमेसे ज्ञानशक्ति-का कार्य जीवको स्व और अन्यपदार्थोंका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान करानेका है, दर्शनशक्तिका कार्य जीवको स्व और अन्यपदार्थोका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन करानेका है और वीर्यशक्तिका कार्य उक्त ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्तिके कार्यमे जीवको यथायोग्यरूपमे सक्षम बनानेका है। इस तरह जीवकी विकसित ज्ञानशक्तिका जो स्व और अन्य पदार्थोंका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य है उसका नाम ज्ञानो-पयोग है और उसकी विकसित दर्शनशक्तिका जो स्व और अन्यपदार्थोंका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होनेरूप कार्य है उसका नाम दर्शनोपयोग है।

विशेष अवलोकन और सामान्य अवलोकनका अर्थ

यहाँपर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके स्वरूप-निर्देशनमे जो यह बतलाया गया है कि जीवकी विक-सित ज्ञानशक्तिका स्व और अन्यपदार्थोका विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञान होने रूप कार्य तो ज्ञानोपयोग है व उसकी विकसित दर्शनशक्तिका स्व और अन्यपदार्थोका सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन होने रूप कार्य दर्शनोपयोग है। इसमें विशेष अवलोकन अर्थात् ज्ञानका अर्थ जीव द्वारा दीपककी तरह स्व और अन्य पदार्थों-को प्रतिभासित किया जाना है और सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शनका अर्थ जीवमें दर्पणकी तरह स्व और अन्यपदार्थोंका प्रतिबिम्बित होना है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि जिस प्रकार दीपकका स्वभाव स्व और अन्यपदार्थोको प्रतिभासित करनेका है उसी प्रकार जीवका स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित करनेका है तथा जिस प्रकार दर्पणका स्वभाव स्व और अन्यपदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका है उसी प्रकार जीवका स्वभाव भी स्व और अन्यपदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करनेका है।

यहाँ पर प्रतिविम्बित शब्दका अर्थ स्वकी अपेक्षा दर्पण अथवा जीवकी तदात्मक स्थितिके रूपमें और अन्यपदार्थोंकी अपेक्षा दर्पण अथवा जीवकी उन अन्यपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाली तदनुरूप परिणतिके रूपमें लेना चाहिये।

जीवके स्वभावको समझनेके लिये यहाँ पर जो दीपक और दर्पण दोनोको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है, इसका कारण यह है कि यद्यपि दीपकका स्वभाव अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेका है, परन्तु उन अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिविम्बित करनेका स्वभाव नही है। इसी तरह यद्यपि दर्पणका स्वभाव अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिविम्बित करनेका है, परन्तु उन अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव नही है जब कि जीवमे दीपक और दर्पणकी अपेक्षा यह विशेषता पायी जाती है कि उसका स्वभाव दीपककी तरह अन्य पदार्थोंको प्रतिभासित अर्थात् ज्ञान करनेका भी है और दर्पणकी तरह अन्य पदार्थोंको अपने अन्दर प्रतिविम्बित करनेका भी है। आगममे भी इसीलिये जीवके स्वभावको समझनेके लिये दीपक और दर्पण दोनोको उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया है।[1]

दीपक और जीव द्वारा अन्य पदार्थोंके प्रतिभासित होनेका आधार

देखनेमे आता है कि दीपक अन्य पदार्थोंके साथ जब तक अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर लेता है तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् प्रकाशित करनेमे असमर्थ ही रहा करता है। इसी प्रकार जीवके सम्बन्धमे भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि वह भी जब तक अन्य पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर लेगा तब तक वह उनको प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करनेमे असमर्थ ही रहेगा। परन्तु यह निर्विवाद बात है कि जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थोंके पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है उस प्रकार जीव अन्य पदार्थोंके पास पहुँच कर उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर पाता है। अत जैनदर्शनमे यह स्वीकार किया गया है कि जीवमे दर्पणकी तरह जब अन्य पदार्थ प्रतिविम्बित होते है तभी वह उनको दीपककी तरह प्रतिभासित अर्थात् ज्ञात करता है।

इस विवेचनके आधारपर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके सम्बन्धमे मैं यह कहना चाहता हूँ कि जीवमे दर्पणकी तरह पदार्थका प्रतिविम्बित हो जाना ही दर्शनोपयोग है और इस प्रकारके दर्शनोपयोगपूर्वक जीवको दीपककी तरह पदार्थका प्रतिभासित अर्थात् ज्ञान हो जाना ही ज्ञानोपयोग है। दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगमे कारण होता है—यह बात आचार्य नेमिचन्द्रने द्रव्यसग्रहमें "दसणपुव्व णाण" गाथाश द्वारा स्पष्ट कर दी है।

उपर्युक्त कथनका समर्थन

उपर्युक्त कथनके समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शनमे वर्णित दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रत्यक्षमे समानता पायी जाती है। इतना अवश्य है कि बौद्धदर्शनमें जहाँ उसके द्वारा माने गये प्रत्यक्षको प्रमाण माना गया है वहा जैनदर्शनमें उसके द्वारा माने गये दर्शनोपयोगको प्रमाणता और अप्रमाणताके दायरेसे परे रखा गया है। इसका कारण यह है कि जैनदर्शनमें स्वपरव्यवसायीको प्रमाण माना गया है और जो स्वव्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नही होता उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनो प्रकार

---

१ जीवके स्वभावको समझनेके लिये परीक्षामुखमे "प्रदीपवत् ॥१-१२॥" सूत्र द्वारा दीपकको व पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे "तज्जयति पर ज्योति" इत्यादि पद्य द्वारा तथा रत्नकरण्डकश्रावकाचारमे "नम श्रीवर्द्धमानाय" इत्यादि पद्य द्वारा दर्पणको उदाहरणके रूपमे प्रस्तुत किया गया है।

की अवस्थायें ज्ञानोपयोगकी ही हुआ करती हैं, अत ज्ञानोपयोग तो प्रमाण तथा अप्रमाण दोनो रूप होता है, किन्तु दर्शनोपयोगमे स्व और पर दोनो प्रकारकी व्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव जैनदर्शनमे स्वीकार किया गया है। अत उसे न तो प्रमाणरूप ही कह सकते हे ओर न अप्रमाणरूप ही कह सकते है। इतना अवश्य है कि ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमे अनिवार्य कारणताके आधारपर दर्शनोपयोगकी सत्ता और उपयोगिताको अवश्य ही जैनदर्शनमे स्वीकृत किया गया है।

दर्शनोपयोगकी यह स्थिति, जीवमे पदार्थके प्रतिबिम्बित रूपको दर्शनोपयोग माननेसे ही बन सकती है। अत. जीवमे पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेको ही दर्शनोपयोग स्वीकृत करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जब सामान्य अवलोकन अर्थात् दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ ज्ञेय पदार्थका जीवके अन्दर प्रतिबिम्बित होना स्वीकृत किया जाता है तभी उसकी स्थिति जैनदर्शनके अनुसार प्रमाणता और अप्रमाणतासे परे सिद्ध हो सकती है व बौद्धदर्शनके अनुसार सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसायरूप दोषोंसे रहित हो सकती है।

इसका कारण यह है कि जैनदर्शनमे एक तो स्वपरव्यवसायात्मकताको प्रमाणताका और स्वव्यवसायात्मकताके रहते हुए भी परव्यवसायात्मकताके अभावको अप्रमाणताका चिन्ह मानकर दर्शनोपयोगमें स्वव्यवसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनोका अभाव स्वीकार किया गया है। दूसरे, जीवमें पदार्थका प्रतिबिम्ब पडे बिना ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिकी असभावनाको स्वीकार किया गया है, तीसरे दर्शनोपयोगका ऐसा कोई अर्थ नही स्वीकृत किया गया है जो दर्शनोपयोगके उपर्युक्त स्वरूपके विरुद्ध हो और चौथे यह बात भी है कि ज्ञानोपयोग जैसा विद्यमान और अविद्यमान दोनो तरहके पदार्थोके विषयमे होता है वैसा दर्शनोपयोग विद्यमान और अविद्यमान दोनो प्रकारके पदार्थोके विषयमे न होकर केवल विद्यमान पदार्थोके विषयमे ही होता है, इस बातको भी जैनदर्शनमे स्वीकार किया गया है। इतना ही नही, इसी आधारपर बौद्धदर्शनमें प्रत्यक्षकी स्थिति सशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप दोपोसे रहित स्वीकृत की गयी है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैनदर्शनके दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शनके प्रत्यक्षका अर्थ जीवमे पदार्थका प्रतिबिम्बित होना ही है और इसके आधारपर जीवको जो पदार्थका प्रतिभास होता है वही ज्ञानोपयोग है।

यहा इतनी बात और समझ लेना चाहिये कि यत सर्वज्ञके दर्शनावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे उसमे सपूर्ण पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायोके साथ प्रतिक्षण स्वभावत प्रतिबिम्बित होते रहते है अत उसको ज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षय हो जानेके आधारपर वे सम्पूर्ण पदार्थ अपनी उन त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोके साथ प्रतिक्षण स्वभावत प्रतिभासित होते रहते हैं और यत अल्पज्ञमे ऐसे पदार्थोंका प्रतिबिम्बित होना निमित्ताधीन हैं अर्थात् प्रतिनियत पदार्थका प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमे जब प्रतिबिम्ब पडता है तब उस-उस इन्द्रिय द्वारा उस-उस पदार्थका ज्ञान जीवको हुआ करता है। जैनदर्शनमें उस-उस इन्द्रिय द्वारा आत्मप्रदेशोमे पडनेवाले पदार्थप्रतिबिम्बको तो उस-उस इन्द्रियके दर्शन नामसे पुकारा गया है और इसके आधारपर होनेवाले पदार्थज्ञानको उस-उस इन्द्रियके मतिज्ञान नामसे पुकारा गया है। अर्थात् जैनदर्शनमे चक्षुसे आत्मामें पडनेवाले पदार्थप्रतिबिम्बको चक्षुदर्शन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, कर्ण और मनसे आत्मामें पडनेवाले पदार्थ प्रतिबिम्बको अचक्षुदर्शन कहा गया है तथा उस-उस दर्शनके आधारपर उस-उस इन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञानको देखने, छूने, चखने, सूघने, सुनने और अनुभव करनेके रूपमे उस-उस इन्द्रियका मतिज्ञान कहा गया है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानमे पदार्थदर्शन

साक्षात् कारण होता है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानरूप मतिज्ञानमे तथा श्रुतज्ञानमे पदार्थदर्शन परपरया कारण होता है। इसका आधार यह है कि दर्शन और अवग्रह, ईहा, अवाय अथवा धारणारूप मतिज्ञानोंके मध्य कोई व्यवधान नही है जबकि दर्शन और स्मृतिके मध्य धारणाज्ञानका, दर्शन और प्रत्यभिज्ञानके मध्य स्मृतिका, दर्शन और तर्कके मध्य प्रत्यभिज्ञानका, दर्शन और अनुमानके मध्य तर्कका और दर्शन और श्रुतज्ञानके मध्य अनुमानज्ञानका व्यवधान रहा करता है। यहा श्रुतसे शब्दजन्य श्रुत लिया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

जिन जीवोको अवधिज्ञान होता है उनके उसकी उत्पत्तिमे भी दर्शन कारण होता है, जिसे अवधिदर्शन कहते है और केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें जो दर्शन कारण होता है उसे केवलदर्शन कहा जाता है। यद्यपि मन-पर्ययज्ञान भी दर्शनपूर्वक ही होता है परन्तु उस दर्शनको कौनसा दर्शन कहा जाय? इसका उल्लेख मुझे आगममें देखनेको नही मिला है। फिर भी मेरा अभिमत है कि मन पर्ययज्ञान मन स्थित आत्मप्रदेशोमें मन-पर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमपूर्वक होता है और वह ईहाज्ञानके पश्चात् होता है अत हो सकता है कि उस दर्शनको मानस दर्शनके रूपमें अचक्षुदर्शनमे अन्तर्भूतकर दिया गया हो, विद्वान पाठकोको इसपर विचार करना चाहिये।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके विविध नाम और उनका आधार

(१) यत दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्मामे पदार्थोका प्रतिविम्बित होना ही है अतएव उसे सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहण नामोसे पुकारा जाता है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको पदार्थोंका प्रतिभासित होना ही है अत उसे विशेष अवलोकन या विशेषग्रहण नामोसे पुकारा जाता है। यहाँपर वस्तुके सामान्य अशका प्रतिभास होना दर्शन और विशेष अशका प्रतिभास होना ज्ञान है—ऐसा अर्थ सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहणका और विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहणका नही करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होनेसे वह पदार्थावलोकन या पदार्थ ग्रहणरूप तो है फिर भी वह द्रष्टाको अपना सवेदन करानेमें असमर्थ है और जो अपना संवेदन नही करा सकता है वह परका सवेदन कैसे करा सकता है? अत दर्शन या दर्शनोपयोगको सामान्य अवलोकन या सामान्य ग्रहण नामोसे पुकारा जाता है। चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमें स्वपरसवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमें परसवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत उन्हें विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण नामोसे पुकारा जाता है।

(२) दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामे पदार्थका प्रतिविम्बित होना ही है तभी उसे आगममें निराकार शब्दसे पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रतिभासित होना ही है तभी उसे साकार शब्दसे पुकारा जाता है।

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमें पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसवेदकता और परसवेदकता दोनो ही प्रकारके आकारोका अभाव पाया जाता है अत उसे निराकार शब्दसे पुकारते है। चूकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे स्वपरस्वेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानमें परसंवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत उन्हे साकार शब्दसे पुकारते हैं।

(३) दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामे पदार्थका प्रतिविम्बित होना ही है तभी उसे आगममें

निर्विकल्पक शब्दसे पुकारते है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रतिभासित होना ही है तभी उसे सविकल्पक शब्दसे पुकारते हैं ।]

इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारके दर्शन या दर्शनोपयोगमे पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेदकता और परसवेदकता दोनो ही प्रकारके विकल्पोका अभाव पाया जाता है अत उसे निर्विकल्पक शब्द-से पुकारते हैं । चूंकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे स्वपरसवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञान-रूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे परसवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसंवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत उन्हे सविकल्पक शब्दसे पुकारते है ।[अर्थात् विद्यमान घडेको विषय करनेवाले प्रमाणज्ञानमे "मै घडेको जानता हूँ" ऐसा विकल्प और "यह घडा है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है तथा अप्रमाणज्ञानमे भी सीपमे "यह सीप है या चाँदी है" या "यह चादी है" अथवा "यह कुछ है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है। परन्तु उक्त प्रकारके दर्शनमे उक्त प्रकार या अन्य प्रकारका कोई विकल्प सभव नही है ।]

[(४) इसी प्रकार दर्शन या दर्शनोपयोगका अर्थ जब आत्मामे पदार्थका प्रतिबिम्बित होना ही है तभी उसे अव्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा गया है और ज्ञान या ज्ञानोपयोगका अर्थ जब आत्माको पदार्थका प्रति-भासित हो जाना है तभी उसे व्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा जाता है ।]

[इसका भी तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शन या दर्शनोपयोगमे पदार्थका अवलम्बन होते हुए भी स्वसंवेद-कता और परसवेदकता दोनो ही प्रकारकी व्यवसायात्मकताका अभाव पाया जाता है अत उसे अध्यवसायात्मक शब्दसे पुकारते है । चूकि प्रमाणज्ञानरूप ज्ञान अथवा ज्ञानोपयोगमे स्वपरसवेदकता पायी जाती है और अप्रमाणज्ञानरूप ज्ञान या ज्ञानोपयोगमे परसवेदकताका अभाव रहते हुए भी स्वसवेदकता तो नियमसे पायी जाती है अत उन्हें व्यवसायात्मक शब्दसे पुकारा जाता है ।]

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि आगममे अप्रमाणज्ञानको जो अव्यवसायी कहा गया है वह इस-लिये कहा गया है कि विपर्ययज्ञानमे जिस पदार्थका दर्शन होता है उससे भिन्न पदार्थका ही सादृश्यवशात् बोध होता है, सशयज्ञानमें जिस पदार्थका दर्शन होता है उसका तथा उसके साथ ही उससे भिन्न पदार्थका भी सादृश्यवशात् ढुलमिल बोध होता है और अनध्यवसायज्ञानमें तो पदार्थका दर्शन होते हुए भी अनिर्णीत बोध होना स्पष्ट है ।

दर्शनोपयोगकी उपयोगात्मकता

आगममे दर्शन या दर्शनोपयोग और ज्ञान या ज्ञानोपयोग दोनोको ही उपयोगात्मक माना गया है । इनमेंसे ज्ञान या ज्ञानोपयोगको पूर्वोक्त प्रकार विशेष अवलोकन या विशेष ग्रहण रूप होनेसे तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक होनेसे उपयोगात्मक मानना तो निर्विवाद है, परन्तु दर्शन या दर्शनोपयोगको सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहणरूप होनेसे तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक होनेसे उप-योगात्मक मानना अयुक्त जान पडता है । फिर भी उसे इसलिये उपयोगात्मक माना गया है कि एक इन्द्रियसे पदार्थका प्रतिबिम्ब आत्मामे पडनेके अवसरपर अन्य इन्द्रियोसे भी पदार्थका प्रतिबिम्ब आत्मामे पडता है और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियसे एक साथ नाना पदार्थोंका प्रतिबिम्ब भी आत्मामे एक साथ पडता है । इस तरह आत्मा नाना इन्द्रियोंसे नानापदार्थोंका प्रतिबिम्ब एक साथ पडने पर भी अथवा एक ही इन्द्रियसे नाना पदार्थों का प्रतिबिम्ब एक साथ पडनेपर भी उस समय उसी इन्द्रियसे और उसी पदार्थके आत्मामे पडनेवाले प्रति-बिम्बको दर्शन या दर्शनोपयोग कहना चाहिये, जो अपने प्रभावको अधिकताके कारण उस समय होनेवाले पदार्थज्ञानमे कारण होता है, क्योकि नाना इन्द्रियोसे नाना पदार्थोंके तथा एक ही इन्द्रियसे नाना पदार्थोंके

प्रतिविम्ब आत्मामें एक साथ पड़नेपर भी अल्पज्ञ जीवोंको उस अवनरपर एक ही इन्द्रियसे एक ही पदार्थका बोध हुआ करता है। इस प्रकार आगममें पदार्थप्रतिविम्वग्राहकताको दर्शन या दर्शनोपयोग न मानकर पदार्थप्रतिविम्बनिक्षेपको ही दर्शन या दर्शनोपयोग स्वीकार किया गया है।

दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगसे पृथक् है

यद्यपि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों ही उपयोगात्मक हैं फिर दर्शनोपयोगको ज्ञानोपयोगसे पृथक् ही जैनदर्शनमें स्थान दिया गया है। इसका एक कारण तो यह है कि जहा ज्ञानोपयोगको विशेष अवलोकन या विशेषग्रहणरूप तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है वहा दर्शनोपयोगको सामान्य-अवलोकन या सामान्यग्रहणरूप तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है। दूसरा कारण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमें कारण होता है। तीसरा कारण यह है कि दर्शनोपयोग विद्यमान पदार्थका ही हुआ करता है जबकि ज्ञानोपयोग विद्यमान और सादृश्य-वशात् कदाचित् अविद्यमान पदार्थका भी हुआ करता है। चौथा कारण यह है कि दर्शन पदार्थप्रतिविम्वरूप होता है जबकि ज्ञान पदार्थप्रतिभासरूप होता है। और पाचवा कारण यह है कि आगममें जीवकी भाववती-शक्तिके विकासके रूपमें दर्शन और ज्ञान दो पृथक् पृथक् शक्तिया स्वीकार की गयी हैं तथा इनको ढकने-वाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक् पृथक् कर्म भी वहा स्वीकार किये गये हैं जिनके क्षयोपशम या क्षय से इनका पृथक् पृथक् विकास होता है। इन्ही विकसित दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्तिके पृथक् पृथक् सामान्य अवलोकन और विशेष अवलोकन करने रूप व्यापारोंको ही क्रमश दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग समझना चाहिये।

दोनो उपयोगोंके क्रम और यौगपद्यपर विचार

यद्यपि आत्मामे पदार्थके प्रतिविम्बित होनेका नाम दर्शनोपयोग है और वह तबतक विद्यमान रहता है जबतक जीवको पदार्थज्ञान होता रहता है, परन्तु दर्शनोपयोगकी पूर्वोक्त उपयोगात्मकताको लेकर यदि विचार किया जाय तो यही तत्त्व निष्पन्न होता है कि छद्मस्थ जीवोंको दर्शनोपयोगके अनन्तर ही ज्ञानोपयोग होता है व सर्वज्ञको दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों साथ-साथ ही हुआ करते हैं। जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट है—

> "दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाण ण दुण्णि उवओगा।
> जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥"

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवोंको दर्शनोपयोगपूर्वक अर्थात् दर्शनोपयोगके अनन्तर पश्चात् ज्ञानोपयोग हुआ करता है क्योंकि उनके ये दोनों उपयोग एकसाथ नही हुआ करते हैं लेकिन सर्वज्ञके ये दोनों उपयोग एक ही साथ हुआ करते हैं।

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगकी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) और सर्वज्ञकी अपेक्षासे क्रम और यौगपद्य रूप उपर्युक्त व्यवस्थाको स्वीकृत करनेका आधार यह है कि सर्वज्ञके ज्ञानमें सपूर्ण पदार्थ कालके प्रत्येक क्षणसे विभाजित अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायोंके साथ सतत् प्रतिभासित होते रहते हैं अर्थात् कालका ऐसा एक क्षण भी नही है जिसमे सम्पूर्ण पदार्थोंका अपनी-अपनी उक्त प्रकारकी समस्त त्रैकालिक पर्यायोंके साथ प्रतिभास न होता हो, क्योंकि उसका (सर्वज्ञका) ज्ञान भी पूर्वोक्त प्रकारके दर्शनका अवलम्बन लेकर ही उत्पन्न हुआ करता है। यत उसके दर्शन और ज्ञानमे सहभावीपना निश्चित हो जाता है। यत अल्पज्ञका ज्ञान विषयीकृत पदार्थकी क्षणवर्ती पर्यायको पकड़नेमे असमर्थ रहता है क्योंकि वह अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायोकी स्थूलरूपताको ही सतत एक पर्यायके रूपमे ग्रहण करता है अत उसके ज्ञानमें क्षणिक विभाजन नही हो पाता है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञका

ज्ञान समयके भेदसे परिवर्तित होनेपर भी विषयके भेदसे कभी परिवर्तित नही होता है, क्योकि उसका ज्ञान प्रथम क्षणमे पदार्थोंको जिस रूपमे जानता है उसी रूपमें द्वितीयादि क्षणोमे भी जानता है। परन्तु अल्पज्ञका ज्ञान विषयभेदके आधारपर सतत परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् अल्पज्ञको कभी किसी इन्द्रियद्वारा किसी रूपमें पदार्थज्ञान होता है और कभी किसी इन्द्रियद्वारा किसी रूपमे पदार्थज्ञान होता है। इसी प्रकार एक ही इन्द्रियसे कभी किसी रूपमे पदार्थज्ञान होता है और कभी किसी रूपमे पदार्थज्ञान होता है। पदार्थज्ञानकी यह स्थिति अल्पज्ञके दर्शनोपयोगमे परिवर्तन माननेके लिये बाध्य कर देती है। तीसरी बात, जैसी कि पूर्वमे स्पष्टकी गयी है, यह है कि आत्मामे पडने वाले पदार्थ प्रतिविम्बसामान्यका नाम दर्शनोपयोग नही है किन्तु आत्मामें पड़ने वाले पदार्थप्रतिविम्बविशेपका नाम ही दर्शनोपयोग है अर्थात् ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिके कारणभूत आत्मामे पडनेवाले पदार्थप्रतिबिम्बका नाम ही दर्शनोपयोग है। इस प्रकार इन आधारोसे अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे दोनोकी उपयोगात्मकता और कार्यकारणभावके आधारपर दोनोमे क्रम सिद्ध हो जाता है। अर्थात् विशेपग्रहणके अवसरपर सामान्यग्रहणकी स्थिति उपयोगात्मकताके आधारपर क्षीण हो जाती है और कार्यकारणभावके आधारपर जैसे कपायका पूर्णरूपेण उपशम अथवा क्षय दशवें गुणस्थानके अन्त समयमे मानकर उसके अनन्तर समयमे उपशान्तमोह नामक एकादश गुणस्थानकी अथवा क्षीणमोह नामक द्वादश गुणस्थानकी व्यवस्थाको आगममे स्वीकार किया गया है वैसे ही अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमको स्वीकार करना चाहिये तथा जैसे कषायके उपशम व क्षयके साथ आत्माकी उपशान्तमोहरूप अवस्थाके व क्षीणमोहरूप अवस्थाके सद्भावकी अपेक्षा क्षणभेद नही है वैसा ही क्षणभेद सद्भावकी अपेक्षा अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें नही है। अर्थात् ज्ञानोपयोगके साथ दर्शनोपयोगका यदि सद्भाव न स्वीकार किया जाय तो ज्ञानोपयोगका आधार समाप्त हो जानेसे ज्ञानोपयोगका ही अभाव हो जायगा।

दर्शनोपयोगका महत्त्व

यद्यपि पूर्वके विवेचनसे ज्ञानोपयोगके समान दर्शनोपयोगका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। फिर भी यहाँ अनेक प्रकारसे दर्शनोपयोगका महत्त्व स्पष्ट किया जा रहा है।

[ज्ञान या ज्ञानोपयोपके अवस्थाओके भेदके आधारपर आगममे पूर्वोक्त प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवलके भेदसे बारह भेद बतलाये गये है और इन सबको प्रत्यक्ष और परोक्षके नामसे दो वर्गोंमे गर्भित कर दिया गया है।]

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष क्यो है ? इस प्रश्नके समाधान स्वरूप आगममे जो कुछ प्रतिपादित है उसका सार यह है कि सब जीवोमें पदार्थोके जाननेकी जो शक्ति विद्यमान है उसके आधारपर ही प्रत्येक जीव पदार्थोंका बोध किया करता है, जिस बोधका फल प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा उपेक्षाके रूपमे जीवको प्राप्त होता है। पदार्थोंका बोध सामान्यतया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। मतिज्ञानमे स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियो अथवा मनकी सहायता अपेक्षित रहा करती है। श्रुतज्ञान केवल मनकी सहायतासे ही उत्पन्न हुआ करता है तथा अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

ज्ञानके उपर्युक्त बारह भेदोमे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सबको मतिज्ञानमे अन्तर्भूत कर दिया गया है तथा शेष श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये चार स्वतत्र ज्ञान हैं। इनमेसे अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीन ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष है, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क,

अनुमान और श्रुत ये पाँच ज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष हैं और कथंचित् परोक्ष हैं।

अब यहाँ ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि मतिज्ञानके भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान ये सब सर्वथा परोक्ष क्यों हैं ? तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष क्यों हैं ? व इसी प्रकार मतिज्ञानके ही भेद अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष क्यों हैं ?

इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि आगममें प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दोंके दो-दो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। अर्थात् एक प्रत्यक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताकी अपेक्षा किये बिना ही होता है और दूसरा प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होता है। इसी प्रकार एक परोक्ष तो वह ज्ञान है जो इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे होता है और दूसरा परोक्ष वह ज्ञान है जिसमें पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध होता है।

प्रत्यक्ष और परोक्षके उक्त लक्षणोंमेंसे पहला-पहला लक्षण तो करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक पद्धतिके आधारपर निश्चित किया गया है और दूसरा-दूसरा लक्षण द्रव्यानुयोगकी तत्त्वप्रतिपादक पद्धतिके आधारपर निश्चित किया गया है। पहला-पहला लक्षण तो ज्ञानोंकी स्वाधीनता व पराधीनता बतलाता है और दूसरा-दूसरा लक्षण ज्ञानोंके तथ्यात्मक स्वरूपका प्रतिपादन करता है।

इस विवेचनके आधारपर मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुत ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके आधारपर पराधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिकदृष्टिसे भी परोक्ष हैं व इनमें पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टिसे भी परोक्ष हैं, अतः सर्वथा परोक्ष हैं। इसी तरह अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होनेके आधारपर स्वाधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिकदृष्टिसे भी प्रत्यक्ष हैं व इनमें पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टिसे भी प्रत्यक्ष हैं, अतः सर्वथा प्रत्यक्ष हैं। लेकिन अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके आधारपर पराधीन होनेके कारण करणानुयोगकी विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे जहाँ परोक्ष हैं वहाँ इनमें पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध होनेके कारण द्रव्यानुयोगकी तथ्यात्मकस्वरूप-प्रतिपादनदृष्टिसे प्रत्यक्ष है, अतः कथंचित् परोक्ष और कथंचित् प्रत्यक्ष हैं।

यहाँपर यदि यह प्रश्न किया जाय कि पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? और पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध क्या है ? तो इसका समाधान यह है कि जिस बोधमें पदार्थदर्शन साक्षात् कारण होता है वह बोध पदार्थका स्पष्ट बोध होनेके आधारपर विशद (साक्षात्कार) रूप बोध कहलाता है और जिस बोधमे पदार्थदर्शन साक्षात् कारण न होकर परम्परया कारण होता है वह बोध पदार्थका अस्पष्ट बोध होनेके आधारपर अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध कहलाता है और यह बात पूर्वमे बतलायी जा चुकी है कि पदार्थका विशद (साक्षात्कार) रूप बोध ही प्रत्यक्ष है और पदार्थका अविशद (असाक्षात्कार) रूप बोध ही परोक्ष है। यतः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानोमे व अवधि, मनःपर्यय और केवलरूप ज्ञानोमे पदार्थदर्शन साक्षात् कारण होता है, इसलिये इस दृष्टिसे ये सब ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाते हैं और यतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा-अनुमानरूप मतिज्ञानोमे व श्रुतज्ञानमें पदार्थदर्शन साक्षात् कारण नही होकर

परपरया कारण होता है क्योकि दर्शन और इन ज्ञानोंके मध्य अन्य ज्ञानोका व्यवधान रहा करता है जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि दर्शन और स्मृतिके मध्य धारणाज्ञानका व्यवधान होता है क्योकि स्मृति-ज्ञान धारणाज्ञानपूर्वक होता है, दर्शन और प्रत्यभिज्ञानके मध्य धारणाज्ञानके अनन्तर पश्चात् होनेवाले स्मृतिज्ञानका व्यवधान रहा करता है क्योकि प्रत्यभिज्ञान स्मृतिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और तर्क ज्ञानके मध्य स्मृतिज्ञानके अनन्तर पश्चात् होने वाले प्रत्यभिज्ञानका व्यवधान रहता है क्योकि तर्कज्ञान प्रत्यभिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन और अनुमान ज्ञानके मध्य प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर पश्चात् होने वाले तर्क ज्ञानका व्यवधान रहता है क्योकि अनुमानज्ञान तर्कज्ञान पूर्वक होता है और दर्शन और श्रुतज्ञानके मध्य तर्क ज्ञानके अनन्तर पश्चात् होनेवाले अनुमान ज्ञानका व्यवधान रहता है क्योकि श्रुतज्ञान अनुमान पूर्वक होता है, इसलिये ये स्मृति आदि ज्ञान इस दृष्टिसे परोक्ष कहलाते है।

इस विवेचनसे यह बात बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि एक तो पदार्थदर्शन पदार्थज्ञानमे अनि-वार्य कारण होता है और दूसरे पदार्थदर्शनको साक्षात् कारणता पदार्थ ज्ञानकी प्रत्यक्षताका और पदार्थदर्शनकी असाक्षात् कारणता अर्थात् परपरया कारणता पदार्थ ज्ञानकी परोक्षताका आधार है, इसलिये दर्शनोपयोगका महत्त्व प्रस्थापित हो जाता है और तब इस प्रश्नका भी समाधान हो जाता है। कि एक ज्ञान प्रत्यक्ष और दूसरा ज्ञान परोक्ष क्यो है?

अब यहाँ पर एक बात और विचारणीय रह जाती है कि जिस प्रकार दर्शन और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान और श्रुतनामके ज्ञानोके मध्य पूर्वोक्त प्रकार यथासम्भव धारणा आदि ज्ञानोका व्यवधान रहता है उसी प्रकार जब ईहाज्ञान अवग्रहपूर्वक होता है, अवायज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है और धारणाज्ञान अवाय-ज्ञानपूर्वक होता है, तथा इसी प्रकार मन पर्ययज्ञान भी ईहाज्ञानपूर्वक ही होता है तो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञानोमें तथा मन पर्ययज्ञानमे भी दर्शनके साथ यथासम्भव अन्य ज्ञानोका व्यवधान सिद्ध हो जाने से इन्हे प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ईहाज्ञानमे अवग्रहज्ञानकी कारणता, अवायज्ञानमे ईहाज्ञानकी कार-णता, धारणाज्ञानमें अवायज्ञानकी कारणता और मन पर्ययज्ञानमे भी ईहाज्ञानकी कारणता विद्यमान है अर्थात् ये सब ज्ञान इनके पश्चात् ही होते है फिर भी पूर्वोक्त दर्शन इन ज्ञानोमे साक्षात् ही कारण होता है अर्थात् दर्शन और इन ज्ञानोके मध्य वे अवग्रह आदि ज्ञान व्यवधानकारक नही होते है इसलिये इन ज्ञानोमे दर्शन-की साक्षात् कारणताकी सिद्धिमे कोई बाधा नही उत्पन्न होती है। अत. इन ज्ञानोकी प्रत्यक्षतामे भी इस दृष्टिसे कोई बाधा नही उत्पन्न होती है।

यहाँ प्रसंगवश मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि कही-कही (अभ्यस्त दशामे) अवग्रहज्ञान अवायात्मक रूपमे ही उत्पन्न होता है और कही-कही (अनभ्यस्त दशामे) अवग्रहज्ञानके पश्चात् सशय उत्पन्न होने पर ईहाज्ञान उत्पन्न होता है और तब वह अवग्रहज्ञान अवायज्ञानका रूप धारण करता है।

जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान

बौद्धदर्शनमें वर्णित प्रत्यक्ष और जैनदर्शनमें वर्णित दर्शनोपयोग दोनोंके स्वरूपमें करीब-करीब साम्य पाया जाता है। लेकिन बौद्धदर्शनमें जहाँ उनके माने हुए प्रत्यक्षको प्रमाण मान लिया गया है वहाँ जैनदर्शनमें दर्शनोपयोगको प्रमाणता और अप्रमाणताके दायरेसे परे रखा गया है, क्योंकि जैनदर्शनमें स्वपरव्यवसायीको प्रमाण माना गया है और जो व्यवसायी होते हुए भी परव्यवसायी नहीं है उसे अप्रमाण माना गया है। ये दोनों प्रकारकी अवस्थाएँ ज्ञानोपयोगकी ही हुआ करती हैं, अतः ज्ञानोपयोगमें ही प्रमाणता और अप्रमाणता होती है लेकिन दर्शनोपयोगमें स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है, अतः उसे न तो प्रमाण कह सकते हैं और न अप्रमाण ही कह सकते हैं। फिर भी ज्ञानोपयोगकी उत्पत्तिमें अनिवार्य कारण होनेकी वजहसे दर्शनोपयोगका महत्त्व जैनदर्शनमें कम नहीं आँका गया है।

विश्वको जैनदर्शनमें छह प्रकारके द्रव्योंमें विभक्त कर दिया गया है—(१) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले अनन्त जीव द्रव्य, (२) अणु और स्कन्ध (पिंड) के भेदरूप अनन्त पुद्गलद्रव्य, (३) एक धर्मद्रव्य, (४) एक अधर्मद्रव्य, (५) अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावाले असंख्यात कालद्रव्य और (६) एक आकाशद्रव्य। इन सब द्रव्योंको समुदायरूपसे विश्व नामसे पुकारा जाता है क्योंकि इनके अतिरिक्त विश्वमें कुछ शेष नहीं रह जाता है और विश्वको जगत् इसलिये कहते हैं क्योंकि ये सब अपने-अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए परिणमनशील हैं। ये सब द्रव्य प्रतिसमय अपने-अपने नियत स्वभावके अनुरूप कार्य करते रहते हैं—आकाशद्रव्य समस्त द्रव्योंको सतत अपने अन्दर समाये हुए है, सभी कालद्रव्य समस्त द्रव्योंको प्रतिक्षण उनकी अपनी सभाव्य पर्यायोंके रूपमें पलटाते रहते हैं, धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गल द्रव्योंको हलन-चलनरूप क्रिया करते समय उन क्रियामें सतत सहायक होता रहता है, अधर्मद्रव्य उन सभी जीव और पुद्गल द्रव्योंको उक्त हलन-चलनरूप क्रियाको बन्द करते समय उसमें सतत सहायक होता रहता है, सभी पुद्गल द्रव्य अशुद्ध जीव-द्रव्योंके साथ और परस्पर एक दूसरे पुद्गलद्रव्योंके साथ सतत मिलते और बिछुड़ते रहते हैं तथा सभी जीव-द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंको अपनी-अपनी योग्यताके विकासके अनुसार सर्वदा देखते और जानते रहते हैं। जीवोंकी इस देखनेरूप प्रवृत्तिको ही जैनागममें दर्शनोपयोग और जाननेरूप प्रवृत्तिको ज्ञानोपयोग कहा गया है। इन दोनों उपयोगोंमें अविनाभावरूप सबन्ध पाया जाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थके ज्ञानमें उस पदार्थका दर्शन कारण हुआ करता है। इसलिये प्रत्येक जीवमें ज्ञानोपयोगके साथ दर्शनोपयोगकी सत्ता जैनदर्शनमें स्वीकार की गयी है। परन्तु साथ ही आगमग्रन्थोंमें यह बात भी बतलायी गयी है कि सर्वज्ञजीवके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों एक साथ होते रहते हैं और अल्पज्ञजीवके दर्शनोपयोगके अनन्तर ज्ञानोपयोग हुआ करता है अर्थात् उसके दर्शनोपयोगकी दशामें ज्ञानोपयोग उत्पन्न नहीं होता है और ज्ञानोपयोगकी दशामें दर्शनोपयोग समाप्त हो जाता है।

बहुत कुछ सोचनेके बाद मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोंके भी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोंकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति होनी चाहिये, अन्यथा दोनोंमें कार्यकारणभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि कारणके सद्भावमें ही कार्य हुआ करता है कारणके अभावमें नहीं, इसलिये "अल्पज्ञजीवके दर्शनके अनन्तर ज्ञान होता है" यह कल्पना अर्वाचीन जान पड़ती है, जैनदर्शनकी यह मौलिक बात नहीं है। यदि कहा जाय कि "द्रव्यकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायमें कारण हुआ करती है और दर्शनोपयोग अल्पज्ञजीवकी पूर्वपर्याय ज्ञानोपयोग उसकी उत्तरपर्याय ही तो है, अतः उक्त कार्यकारणभावमें कोई विरोध नहीं है", तो ऐसा माननेपर यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि सर्वज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें

भी क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप स्वीकार करना चाहिये । यदि सर्वज्ञकी सर्वज्ञताकी समाप्तिके भयसे उसके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे क्रमसे पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायका रूप नही स्वीकार करके दोनोकी एक ही साथ उत्पत्ति और अवस्थिति स्वीकार कर ली जाती है तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे क्रमसे पूर्वपर्यायता और उत्तरपर्यायताका अभाव निश्चित हो जानेकी वजहसे अल्पज्ञके दर्शनोपयोगको उसकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय कैसे कहा जा सकता है ?

वास्तवमें जीवकी देखने और जानने रूप दो पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं। यही सबब है कि दोनो शक्तियोको ढकनेवाले दर्शनावरण और ज्ञानावरण दो पृथक्-पृथक् कर्मजैन कर्मसिद्धान्तमे स्वीकार किये गये है । इन्ही दोनो शक्तियोके पुथक्-पृथक् विकास ही दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके नामसे पुकारे जाते है, इसलिये दर्शनोपयोगको जीवकी पूर्वपर्याय और ज्ञानोपयोगको उसकी उत्तरपर्याय मानना अयुक्त है । यदि ये दोनो एक ही शक्तिके दो विकास होते, तो इन्हे अवश्य ही पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायके रूपमे स्वीकार किया जा सकता था परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे न तो ये एक ही शक्तिके दो विकास सिद्ध होते है और न इन्हे एक ही शक्तिके दो विकासके रूपमे स्वीकार ही किया गया है इसलिये जब दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे कार्य-कारणभाव मान्य है तो सर्वज्ञकी तरह अल्पज्ञोमे भी इनका एक ही साथ सद्भाव रहना उपयुक्त है ?

शका—सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञान सर्वथा निरावरण हो जानेकी वजहसे अपने आपमे परिपूर्ण और परावलंबनसे रहित है अत· दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनोके एक साथ होने या रहनेमे कोई बाधा नही आती है । परन्तु अल्पज्ञके दर्शन और ज्ञान जब अपने आपमे पूर्णतारहित एव यथायोग्य समान परावलम्बी पाये जाते है तो उनका एक साथ पैदा होना या रहना कैसे संभव हो सकता है ? अत· सर्वज्ञके एक साथ दोनो उपयोगोका सद्भाव मानना और अल्पज्ञके दोनोका एक साथ अभाव स्वीकार करना अयुक्त नही है ?

समाधान—यदि जीवमे दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता है तो अल्पज्ञता उसमें बाधक नही हो सकती है और यदि जीवमें दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता नही है तो सर्वज्ञता उसमे साधक नही हो सकती है । जैसे एक ही दर्शनशक्ति या ज्ञानशक्तिके विकास स्वरूप दो उपयोग एक साथ रहनेकी योग्यता जीवमे नही है तो इस प्रकारके दो उपयोग एक साथ सर्वज्ञमे भी सभव नही हो सकते है । इसका मतलब यह हुआ कि सर्वज्ञके भी प्रतिक्षण जो सपूर्ण पदार्थोका दर्शन और ज्ञान होता रहता है वह दर्शन और ज्ञान अनन्त पदार्थोंका होते हुए भी पृथक्-पृथक् अनन्त उपयोग रूप नही होता, अपितु अनन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला एक ही दर्शनरूप उपयोग और एक ही ज्ञानरूप उपयोग होता है । इसी प्रकार जीवकी एक ही श्रद्धाशक्ति, एक ही चारित्रशक्ति, एक ही सुखशक्ति, एक ही वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोका पृथक्-पृथक् दो तरहका विकास सर्वज्ञके भी एक साथ सभव नही है । परन्तु जीवमें अनन्त प्रकारकी उक्त जितनी शक्तियाँ पायी जाती है वे सब अपने-अपने पृथक्-पृथक् एक-एक विकसित रूपमे सर्वज्ञ और अल्पज्ञ सब अवस्थाओमे एक साथ पायी जाती है और पायी जाना उचित भी है क्योकि जो भी शक्ति अपने किसी एक विकसित रूपके साथ एक अवस्थामें नही पायी जायगी, तो उस शक्तिका जीवकी सब अवस्थाओमे अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा । इसलिये सर्वज्ञको तरह अल्पज्ञ जीवमे जब ज्ञानशक्तिके किसी-न-किसी विकसित रूपके साथ श्रद्धाशक्ति, चारित्रशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति आदि अनन्त शक्तियोका अपना अपना कोई-न-कोई विकसित रूप सर्वदा विद्यमान रहता ही है, तो इन सबके साथ दर्शनशक्तिका भी कोई-न-कोई विकसित रूप उसमे अवश्य ही सर्वदा विद्यमान रहना चाहिये । जोवकी प्रत्येक शक्तिका इस प्रकार अपने अपने किसी-न-किसी विकसित रूपमें रहने का नाम ही उपयोग है । यहापर यह बात भी ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार सर्वज्ञके केवलज्ञान-मे केवलदर्शन कारण हुआ करता है उसी प्रकार अल्पज्ञके अवधिज्ञानमे अवधिदर्शनको तथा उस उस इन्द्रियसे

होनेवाले मतिज्ञानमें उस उस इन्द्रियसे होनेवाले दर्शनको ही कारण माना गया है। यदि भिन्न समयका दर्शन भिन्न समयके ज्ञानमे कारण माना जाता है तो "अमुक प्रकारके ज्ञानमे अमुक प्रकारका दर्शन ही कारण होता है" इस प्रकारका प्रतिनियत कार्यकारणभाव अल्पज्ञके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमे नही बन सकता है, क्योकि फिर तो अवधिदर्शनके बाद भी मतिज्ञान हो जाना चाहिए और चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शनके बाद भी अवधिज्ञान हो जाना चाहिए। लेकिन जब ऐसा अप्रतिनियत कार्यकारणभाव न तो सभव है और न माना ही गया है तो इसका आशय यही है कि अल्पज्ञजीवके भी दर्शनके सद्भावमे ही ज्ञान हुआ करता है, दर्शनके अनन्तर उसके अभावमे नही।

शका—दर्शनोपयोगको आगममे सामान्यग्रहण, निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक तथा ज्ञानोपयोगको विशेषग्रहण, साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है, अत परस्पर विरोधपना होनेकी वजहसे दर्शन और ज्ञानका एक कालमे सद्भाव मानना अयुक्त है?

समाधान—उक्त प्रकारका विरोधीपना जब सर्वज्ञके दर्शन और ज्ञानके अन्दर भी विद्यमान है और फिर भी उसके दर्शन और ज्ञान साथ-साथ एक ही कालमें उत्पन्न होते और अवस्थित रहते है तो इसका आशय यही है कि दर्शन और ज्ञानका उक्त प्रकारका विरोधीपना उनके एक कालमें एकसाथ उत्पन्न होने या रहनेमें बाधक नही होता है। यदि कहा जाय कि वास्तवमें सर्वज्ञके सर्वदा सिर्फ ज्ञानोपयोग ही रहता है—उसके दर्शनका अद्भाव तो केवल उपचार मात्र है तो इस तरहसे फिर जीवमें ज्ञानशक्तिसे पृथक् दर्शननामकी एक शक्ति और उसके आवारक स्वतत्र दर्शनावरणकर्मको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इसलिये दर्शनोपयोगके सामान्यग्रहण आदि और ज्ञानोपयोगके विशेषग्रहण आदि सकेतोका ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकनेके कारण ही यह भ्रम पैदा हो गया है कि दर्शन और ज्ञान परस्पर विरोधी है। अत इस भ्रमका निराकरण करनेके लिये यहाँपर उक्त सकेतोंके अर्थपर तथा दर्शनके स्वरूपपर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

वर्तमानमे दर्शनके निम्नलिखित अर्थ प्रचलित है—

१ वस्तुविशेषका बोधरहित "है" इत्याकारक मानका नाम दर्शन है।

२ पहले पदार्थसे उपयोग हटनेके बाद जबतक दूसरे पदार्थसे उपयोग नही जुड जाता, इस अन्तराल मे जो केवल आत्मबोध हुआ करता है उसको दर्शन समझना चाहिये।

३ उक्त प्रकारके अन्तरालमे चैतन्यकी जो अनुपयुक्त अवस्था रहती है उसका नाम दर्शन है।

दर्शनके उक्त प्रचलित अर्थोंमेंसे पहले और दूसरे प्रकारके अर्थ इसलिये गलत है कि उक्त अर्थोंके स्वीकार करनेसे दर्शन भी ज्ञानकी तरह सविकल्पक, साकार और व्यवसायात्मक हो जायगा। तीसरा अर्थ इसलिये गलत है कि ऐसा कोई क्षण नही, जिसमें चैतन्य अनुपयुक्त अवस्थामें रहता हो। साथ ही अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शनोपयोग माननेसे दर्शनकी उपयोगात्मकता समाप्त हो जायगी। तीसरे अनुपयुक्त चैतन्यको दर्शन और उपयुक्त चैतन्यको ज्ञान स्वीकार कर लेनेसे दर्शनावरणकर्मका पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना असगत हो जायगा।

मेरे मतसे दर्शनका अर्थ है आत्मप्रदेशोमें ज्ञेय पदार्थके आकारका आ जाना। इस प्रकार जिस कालमें जिस ज्ञेय पदार्थका आकार आमोद आत्मप्रदेशोमें आता है उस कालमे उस पदार्थका ही बोध हुआ करता है, सर्वज्ञके दर्शनावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके सबबसे समस्त आत्मप्रदेशोमे सपूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण स्वभावत प्रतिबिम्बित होते रहते है। अत सर्वज्ञको प्रतिक्षण सपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता रहता है। लेकिन अल्पज्ञके आत्मप्रदेशोमें ज्ञेय पदार्थका प्रतिबिम्बित होना निमित्ताधीन है अर्थात् प्रतिनियत पदार्थोंका प्रतिनियत इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमे जब-जब आकार आता है तब-तब उस-उस इद्रिय द्वारा उन-उन पदार्थोका मतिज्ञान हुआ

करता है और तब दर्शनको भी उस-उस इन्द्रियका दर्शन कहा जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है, अत उसके लिये दर्शनके सद्भावकी आवश्यकता नही रहती है। अवधिज्ञानमें दर्शनकी आवश्यकता रहती है अर्थात् प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमे प्रतिनियत पदार्थोंका बिना इन्द्रियोकी सहायताके जो प्रतिबिम्ब आता है उसके सद्भावमे अवधिज्ञान हुआ करता है ऐसे प्रतिबिम्बको अवधिदर्शन कहते है। मन पर्ययज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक हुआ करता है, अत ईहामतिज्ञानमे जिस दर्शनकी अपेक्षा रहती है वही दर्शन मन पर्ययज्ञानके समय विद्यमान रहता है।

इस विवेचनका निष्कर्ष यह है कि—

१. एक पदार्थ या नाना अथवा सपूर्ण पदार्थोंका आत्मप्रदेशोमे इन्द्रिय आदि निमित्तसापेक्ष अथवा निमित्तकी अपेक्षारहित प्रतिबिम्बित होना ही दर्शन कहलाता है।

२. इस प्रकारके दर्शनके सद्भावमे ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनो तरहके जीवोको पदार्थज्ञान हुआ करता है अन्यथा नही।

३ प्रतिनियत दर्शन ही प्रतिनियत पदार्थज्ञानमें कारण हुआ करता है। उक्त दर्शन सामान्यग्रहणरूप है क्योकि उसमे ज्ञानकी तरह प्रमाणता और अप्रमाणताका विशेष (भेद) नही पाया जाता है और इसका कारण हम पहले बतला आये है कि दर्शनमे स्वपरव्यवसायात्मकताका सर्वथा अभाव पाया जाता है जबकि स्वपर-व्यवसायात्मकता प्रमाणताका तथा स्वव्यवसायात्मकताके रहते हुए परव्यवसायात्मकताका अभाव अप्रमाणताका चिह्न माना जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त दर्शनमे पदार्थका अवलम्बन होनेकी वजहसे वह पदार्थग्रहणरूप तो होता है फिर भी वह द्रष्टाको अपना सवेदन करानेमे असमर्थ रहता है और जो अपना सवेदन नही करा सकता है वह परका सवेदन कैसे करा सकता है ? इसलिये दर्शनको "सामान्यग्रहण" शब्दसे पुकारना उपयुक्त ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या चाहे अप्रमाण हो—उसमे स्वसवेदकता तो हर हालतमे रहती ही है अत उसे (ज्ञानको) "विशेषग्रहण" शब्दसे पुकारा जाता है। उक्त दर्शनको निराकार भी कहते है क्योकि उसमे पूर्वोक्त प्रकारसे स्वसवेदकता और परसवेदकता दोनोका अभाव होनेके कारण न तो प्रमाणताका आकार पाया जाता है और न अप्रमाणताका ही आकार पाया जाता है। इसी प्रकार उक्त दर्शनको अव्यवसायात्मक भी कहते है क्योकि हम बतला चुके है कि उसमे स्वसवेदकता और परसवेदकता दोनोका अभाव रहता है जबकि प्रमाण-ज्ञानमें स्वसवेदकता और परसवेदकता दोनोका सद्भाव और अप्रमाणज्ञानमे परसवेदकताका अभाव रहते हुए भी कम-से-कम स्वसवेदकताका सद्भाव पाया जाता है। इस प्रकार जो अव्यवसायात्मक होता है वह सविकल्पक नही हो सकता है इसलिये दर्शनको "निर्विकल्पक" शब्दसे भी पुकारा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घडेको विषय करनेवाले प्रमाणज्ञानमे "मैं घडेको जानता हूँ" ऐसा विकल्प और उक्त ज्ञानके विषयभूत घडेमे "यह घड़ा है" ऐसा विकल्प ज्ञाताको होता है तथा अप्रमाणज्ञानके भेद सशय, विपरीत और अनध्य-वसाय इन तीनोमे क्रमसे "सीप है या चाँदी" या सीपमे "यह चाँदी है" अथवा 'कुछ है" इस प्रकार वस्तुकी अनिर्णीत अवस्थाका रूप ज्ञानविकल्प और विषयविकल्प ज्ञाताको होते रहते है उस प्रकार घडा आदि पदार्थोके उक्त प्रकारके दर्शनमे "मैं घडेका दर्शन कर रहा हूँ" या "यह घडा है" आदि विकल्पोका होना सभव नही है क्योकि पूर्वोक्त प्रकारसे दर्शनमे स्वव्यसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनोका अभाव विद्यमान रहता है। अत दर्शनको निर्विकल्पक कहा गया है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञानमे सामान्य और विशेष, निराकार और साकार, अव्यवसायात्मक और व्यवसायात्मक तथा निर्विकल्पक और सविकल्पकका भेद रहते हुए भी इन दोनोका एक कालमे एक साथ सद्भाव पाया जाना असंभव नही ठहरता है।

आशा है दर्शनोपयोगके बारेमे मैंने यहाँपर जो विचार उपस्थित किये है उनपर विद्वज्जनोका अवश्य ही ध्यान जायगा।

जैनदर्शनमें वस्तुका स्वरूप : एक दार्शनिक विश्लेषण

जैनदर्शनमे वस्तुको अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तात्मक उभयरूप माना गया है। एक ही वस्तुमे एक ही साथ अनन्तधर्मोंका पाया जाना वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता है और अनन्तधर्मात्मक उसी वस्तुमे परस्पर विरोधी अनेक धर्मोका पाया जाना वस्तुकी अनेकान्तात्मकता है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि विश्वकी सभी वस्तुयें अपने अन्दर अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनन्तधर्मोकी एक ही साथ सत्ता रख रही है व प्रत्येक वस्तुके अपने-अपने उन अनन्तधर्मोमेसे प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्मके साथ ही वहाँ पर रह रहा है।

अनेकान्तशब्दका ऊपर जो "वस्तुमे परस्पर विरोधी अनेक धर्मोका पाया जाना" अर्थ किया गया है उसमें अनेकशब्दका तात्पर्य दो सख्यासे है। इस तरह अनेकान्त शब्दका वास्तविक अर्थ "वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोका एक ही साथ पाया जाना" होता है। यह अर्थ वास्तविक इसलिये है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मोमे ही सभव है, तीन, चार आदि संख्यात, असख्यात व अनन्त धर्म मिलकर कभी परस्पर विरोधी नही होते है, कारण कि एक धर्मका विरोधी यदि दूसरा एक धर्म है तो शेष सभी धर्म परस्पर विरोधी उन दो धर्मोंमेसे किसी एक धर्मके नियमसे अविरोधी हो जावेंगे।

उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि वस्तुका अनन्तधर्मात्मक होना एक बात है और उसका (वस्तुका) अनेकान्तात्मक होना दूसरी बात है। यही कारण है कि जैनेतर सभी दर्शनकारोंके लिये वस्तुको अनन्तधर्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति नही है क्योकि पृथ्वीमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप धर्मचतुष्टयकी एक ही साथ सत्ताको वे भी स्वीकार करते है। परन्तु वे (जैनेतर दर्शनकार) वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमे हिचकिचाते है। जैन और जैनेतर दर्शनकारोके मध्य मुख्यतया अन्तर यही है कि जहाँ उक्त प्रकारके अनेकान्तकी मान्यताके आधारपर जैनदर्शन अनेकान्तवादी कहलाता है वहाँ जैनेतर सभी दर्शन उसका विरोध करनेके कारण एकान्तवादी कहलाते हैं।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि परस्पर अविरोधी अनन्त धर्मोंकी एक ही साथ एक ही वस्तुमे सत्ता जैन और जैनेतर सभी दर्शनोमें मान्य कर ली गयी है। परन्तु परस्परविरोधी दो धर्मोंकी एक ही साथ एक ही वस्तुमें सत्ता जिस प्रकार जैन दर्शनमें मान्य की गयी है उस प्रकार जैनेतर दर्शन उसे मान्य करनेके लिये तैयार नही है। यह बात दूसरी है कि परस्परविरोधी दो धर्मोंमेसे किसी एक धर्मको कोई एक दर्शन स्वीकार करता है और उसमे अन्य दूसरे धर्मको दूसरा दर्शन स्वीकार करता है लेकिन दोनो ही दर्शन अपनेको मान्य धर्मके विरोधी धर्मको अस्वीकृत कर देते है। जैसे साख्यदर्शन वस्तुमें नित्यताधर्मको स्वीकार करता है लेकिन अनित्यताधर्मका वह निषेध करता है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन वस्तुमे अनित्यताधर्मको स्वीकार करता है लेकिन नित्यताधर्मका वह निषेध करता है। जबकि जैनदर्शन वस्तुमे नित्यता और अनित्यता दोनो ही धर्मोको स्वीकार करता है।

वस्तुके अनन्त धर्मात्मक होने व उसमे (वस्तुमे) उन अनन्त धर्मोमेसे प्रत्येक धर्मके अपने विरोधी धर्मके साथ ही रहनेके कारण प्रत्येक वस्तुमे परस्परविरोधी धर्मयुगलके अनन्त विकल्प हो जाते है। यही कारण है कि जैन दर्शनमे प्रत्येक वस्तुगत अनन्त धर्म सापेक्ष परस्परविरोधी धर्मयुगलके अनन्तविकल्पोके आधार पर अनन्तसप्तभगियोकी स्थितिको स्वीकार कर लिया गया है। यथा—

> "नन्वेकत्र वस्तुन्यनन्ताना धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनन्ता एव वचन-मार्गा स्याद्वादिनाँ भवेयुर्न पुन सप्तैव, वाच्येयत्तात्वाद्वाचकेयत्ताया·। ततो विरुद्धैव सप्तभगीति चेन्न,

विधीयमाननिपिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात् । "प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनि" इति वचनात् । तथानन्ता सप्तभग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम् ।" (श्लोकवा०, सूत्र ६, वा० ५२ के आगे सप्तभगी प्रकरण)

इस उद्धरणका भाव यह है कि जैनदर्शनमे वस्तुगत परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर सप्तभगी को मान्यता दी गयी है। इसपर कोई यह आपत्ति करता है कि एक वस्तुमे कथन करने योग्य जब अनन्त धर्म विद्यमान है तो इन सब धर्मोका कथन करनेके लिये स्याद्वादियो (जैनो) के सामने अनन्तसख्याक वचन-मार्गोंकी प्रसक्ति होती है, केवल सात ही वचनमार्गोंकी नही, क्योकि जितने वाच्य हो सकते है उतने ही वाचक होने चाहिये, अत सप्तभगीकी मान्यता असगत है।

इस आपत्तिका उक्त उद्धरणमे जो कुछ समाधानके रूपमे लिखा गया है उसका भाव यह है कि सप्तभगीकी मान्यता विधीयमान और निषिध्यमान धर्मद्वयके विकल्पोके आधारपर ही जैनदर्शनमे स्वीकृत की गयी है इसलिए एक ही वस्तुमे विद्यमान अनन्तधर्मोमेसे प्रत्येक धर्मको लेकर विधीयमान और निषिध्यमान धर्मद्वयके विकल्पोके आधारपर जैन दर्शनमे सप्तभंगीको स्थान प्राप्त हो जानेसे अनन्तभगीके बजाय अनन्त-सप्तभगीकी स्वीकृति स्याद्वादियो (जैनो) के लिए अनिष्ट नही है।

इस प्रकार वस्तुगत अनन्तधर्मसापेक्ष परस्परविरोधी धर्मद्वयके प्रत्येक वस्तुमे निष्पन्न अनन्तविकल्पो-मेंसे आचार्य श्रीअमृतचन्द्रने समयसारके स्याद्वादाधिकार प्रकरणमे अनेकान्तका स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कतिपय विरोधी धर्मद्वयविकल्पोकी निम्न प्रकार गणना की है—

"यदेव तत् तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकन्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्य तदेवानित्य-मित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।."

अर्थ—जो ही वह है वही वह नही है, जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है, जो ही सत् है वही सत् नही है अर्थात् असत् है, जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है इस प्रकार एक ही वस्तुके वस्तुत्व (स्वरूप) की निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तिद्वयका प्रकाशन करना अनेकान्त कहलाता है।

अनेकान्तके इसमे चार विकल्प बतलाये है। इन चारो विकल्पोमेसे "जो ही वह है वही वह नही है" इस विकल्पका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति प्रकृति और विकृतिके आधारपर ही विश्वमे अपना अस्तित्व जमाये हुए है। आकृतिसे वस्तुकी द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता) का ग्रहण होता है, प्रकृतिसे उसकी गुणरूपता (स्वभावशक्ति) का ग्रहण होता है और विकृतिसे उसमे होनेवाली परिणति (पर्याय) का ग्रहण होता है। जैसाकि आचार्यश्री कुन्दकुन्दने प्रवचनसार ग्रन्थके ज्ञेयाधिकारकी गाथा १ मे दर्शाया है। यथा—

अत्थो खलु दव्वमयो दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥

अर्थ—अर्थ अर्थात् पदार्थ यानी वस्तु द्रव्यरूप है अर्थात् किसी-न-किसी आकृतिको धारण किए हुए है, द्रव्यमें अपनी गुणरूपता (स्वभावशक्ति) पायी जाती है तथा द्रव्य और गुण दोनो ही परिणमन अर्थात् पर्यायरूपताको धारण किए हुए है। लोकमे जितना भी परसमय पाया जाता है वह सब पर्यायोमे ही रमकर मूढताको प्राप्त हो रहा है।

प्रत्येक वस्तुकी आकृति अर्थात् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता), प्रकृति अर्थात् स्वभावशक्तिरूप गुणरूपता और विकृति अर्थात् परिणति क्रियारूप पर्यायरूपता प्रतिनियत है अर्थात् एक वस्तुकी जो आकृति, प्रकृति और विकृति है वह त्रिकालमे कभी भी दूसरी वस्तुकी न तो हुई है और न हो सकती है। अत इस स्थितिके

आधारपर ही जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि जो ही वस्तु वह है वही वस्तु वह नही है।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि विश्वमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामसे छह प्रकारकी वस्तुएँ विद्यमान है। इनमे जीव नामकी वस्तुएँ अनन्तानन्त है, पुद्गल नामकी वस्तुएँ भी अनन्तानन्त है। धर्म, अधर्म और आकाश नामकी वस्तुएँ एक, एक है तथा काल नामकी वस्तुएँ असख्यात है। ये सब वस्तुएँ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण करके ही लोकमे रह रही है। जीव नामक वस्तु कभी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है। पुद्गल नामकी वस्तु कभी जीव, धर्म, अधर्म आकाश और कालकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है। और यही बात धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामकी वस्तुओंमे भी समझना चाहिए। इतना हा नही, एक जीवनामक वस्तु कभी दूसरी जीवनामक वस्तुकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है व एक पुद्गलनामक वस्तु भी कभी दूसरी पुद्गलनामक वस्तुकी आकृति, प्रकृति और विकृतिको धारण नही करती है। यहाँ तक कि जीव और पुद्गलका तथा दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त पुद्गलोका परस्पर मेल (मिश्रण) होनेपर भी ये कभी एकत्वको प्राप्त नही होते है। यह बात दूसरी है कि उक्त वस्तुओके परस्पर सयोग अथवा मिश्रणसे एक दूसरेमे परिणमन अवश्य हुआ[1] करते है। लेकिन वे भी परिणमन उनके अपने-अपने रूप ही हुआ करते हैं। कभी एक-दूसरे रूप नही होते "जो ही वह है वही वह नही है" इस सिद्धान्तकी मान्यताका ही यह परिणाम है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारग्रन्थके कर्तृ-कर्माधिकार प्रकरणमे निम्नलिखित गाथाओ द्वारा आत्मा और पुद्गलमें पररूप परिणतियोका निषेध किया है—

"णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्म अणेयविह ॥७६॥
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु सगपरिणाम अणेयविह ॥७७॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणत ॥७८॥
णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्व पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥"

इन गाथाओका भाव यह है कि आत्मा पुद्गल कर्मको, अपने परिणामको और पुद्गल कर्मके फलको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायरूपसे न परिणमन करता है, न उन्हें स्वीकार करता है और न उनमे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीवपरिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नही जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्याय रूपसे न परिणमन करता है, न उन्हे स्वीकार करता है और उनमे उत्पन्न होता है।

इसी तरह "जो ही वह है वही वह नही है" इस सिद्धान्तको लक्ष्यमे रखकर ही आचार्य श्री कुन्द-कुन्दने समयसारके कर्तृ-कर्माधिकार प्रकरणकी निम्नलिखित गाथाका प्रणयन किया है—

"जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि ण सकमदि दव्वे।" (गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

इसकी टीका आचार्य श्री अमृतचन्द्रने निम्न प्रकारकी है—

'इह किल यो यावान् कश्चित् वस्तु विशेषो यस्मिन् यावति कस्मिश्चिच्चि-दात्मनि-अचिदात्मनि वा

---

१. समयसार, गाथा ८०।

द्रव्ये, गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्त स खलु-अचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुन. द्रव्यान्तर गुणान्तर वा संक्रामेत् ।"

गाथा और टीकाका भाव यह है कि कोई भी वस्तु सर्वदा अपनी ही द्रव्यरूपता और अपनी ही गुणरूपतामे वर्तमान रहती है, त्रिकालमे कभी भी दूसरी वस्तुकी द्रव्यरूपता व गुणरूपतामे संक्रमण नही करती है ।

इसी प्रकार उक्त सिद्धान्तके आधारपर ही आचार्य श्री अमृतचन्द्रके निम्नलिखित कथनकी सगति वैठती है—

> "तत सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्त केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नस्वधर्मचक्रचुविनोऽपि परस्परमचुविनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्त. पररूपणापरिणमनादनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्त" (समयसार गाथा ३ की आत्मख्यातिटीका) ।

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यमय सपूर्ण लकमे जितने परिमाणमे जो कुछ पदार्थ है वे सभी अपने-अपने धर्म समूहका चुम्वन करते हुए भी एक दूसरे पदार्थका चुम्वन नही कर रहे है, यद्यपि सभी पदार्थ एक दूसरे पदार्थसे अत्यन्त सयुक्त हो रहे है तो भी वे कभी अपने स्वरूपसे च्युत नही होते—इस तरह पररूपसे परिणत न होनेके कारण उनकी नियत परिमाणरूप अनन्तता कभी नष्ट नही हो सकती है इसलिए जैसे टाकीसे ही उत्कीर्ण किये गये हो ऐसे ही अपनी-अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हुए नियत अनन्त सख्याके रूपमे ही वे सब रह रहे है ।

इस तरह कहना चाहिए कि "विश्वके जितने परिमाणमे अनन्तसख्याके पदार्थ है वे उतने परिमाणमे ही अनादिसे अनन्तकाल तक रहनेवाले है उनकी उस सख्यामे कभी भी घटा बढी नही होती है" इस मान्यताकी पुष्टि "जो ही वह है वही वह नही है" इस अनेकान्तकी स्वीकृतिके आधारपर ही हो सकती है ।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने दूसरे प्रकारका अनेकान्त यह वतलाया है कि "जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है" । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वस्तुकी द्रव्यात्मकता, गुणात्मकता और पर्यायात्मकताके आधारपर "अत्थो खलु दव्वमयो" इत्यादि गाथाके अनुसार प्रत्येक वस्तुके अलग-अलग प्रकार से दो दो अश निर्धारित होते है । उनमे एक प्रकारसे दो अश है—द्रव्याश और गुणाश, दूसरे प्रकारसे दो अंश है—द्रव्याश और पर्यायाश तथा तीसरे प्रकारसे दो अश है—गुणाश और पर्यायाश ।

प्रत्येक वस्तुका द्रव्यांश एक ही रहा करता है लेकिन इसमें गुणाश नाना रहा करते हैं । जैसे आत्मा एक वस्तु है । परन्तु उसमे ज्ञानदर्शन आदि नाना गुणोका सद्भाव है । इसी तरह पुद्गल एक वस्तु है । परन्तु उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि नाना गुणोका सद्भाव है । इसी प्रकार दूसरे प्रकारसे यो कहा जा सकता है कि वस्तुका द्रव्याश हमेशा एक ही रहा करता है परन्तु उसमे वदलाहट होती रहती है जिससे पर्यायाश अनेक हो जाते है । जैसे आत्मा यद्यपि नियत असख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है परन्तु छोटे-बडे शरीरके अनुसार उसकी छोटी वडी आकृति होती रहती है । इसी तरह प्रत्येक वस्तुमे विद्यमान उसके अपने-अपने नाना गुणोमेसे प्रत्येक गुण भी अपनेमे परिवर्तन करता रहता है । जैसे आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नियत है परन्तु उसका यह ज्ञानरूप स्वभाव यथायोग्य मति, श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवलके भेदसे पाचरूपोमे परिणमन कर सकता है । इसी तरह मति आदि ज्ञान भी यथायोग्य इन्द्रियादिक साधन व विषयभूत पदार्थकी विभिन्नताके आधारपर परिणमन करते रहते है । इस प्रकार आत्माका एक ज्ञानरूप स्वभाव भी उपर्युक्त

प्रकारसे नाना पर्यायोमें बदलता रहता है। इस प्रकार वस्तुके द्रव्याशकी एकता और उसके गुणाशकी अनेकताके आधार पर, वस्तुके द्रव्याशकी एकता और उसके पर्यायाशकी अनेकताके आधार पर तथा वस्तुके गुणाशकी एकता और उसके पर्यायाशकी अनेकताके आधारपर जैनदर्शनमे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जो ही एक है वही एक नही है अर्थात् अनेक है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रने तीसरे प्रकारका अनेकान्त यह बतलाया है कि "जो ही सत् है वही सत् नही है अर्थात् असत् है"। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधार पर हुआ करता है। इनमेसे द्रव्यके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि यद्यपि घटरूपसे परिणत पुद्गलद्रव्य पटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता रखते है, परन्तु जिस समय जो पुद्गलद्रव्य घटरूपसे परिणत हो रहे हैं उस समय वे पटरूपसे परिणत नही हो रहे है इसलिये जिस समय जिस वस्तुमे घटरूपताका सद्भाव है उस समय उस वस्तुमे पटरूपताका अभाव है। इस तरह घटरूपसे परिणत वस्तु घटरूपसे ही सत् है पटरूपसे वह सत् नही है अर्थात् असत् है। क्षेत्रके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु जिस समय आकाशके जिन और जितने प्रदेशोपर अवस्थित है वह वस्तु उस समय आकाशके उन और उतने प्रदेशो पर ही सत् कही जा सकती है उन और उतने प्रदेशोसे अतिरिक्त अन्य सभी आकाशप्रदेशोपर वह वस्तु उस समय असत् ही कही जायगी। कालके आधारपर वस्तुकी सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु स्वभावसे त्रैकालिक सत्स्वरूप है परन्तु जो वस्तु जिस समय जिन कालद्रव्योसे सयुक्त है उस समय वह वस्तु उन कालाणुओकी अपेक्षा ही वर्तमान रूपमें सत् है शेष अन्य सभी कालाणुओकी अपेक्षा उस समय वह वर्तमान रूपमें सत् नही है अर्थात् असत् है। भावके आधारपर सत्ताका निर्णय इस प्रकार होता है कि जो वस्तु जिस समय अपनी जिम अवस्था (पर्याय) को धारण किये हुए है उस समय वह वस्तु उस अवस्था (पर्याय) की अपेक्षा सत् है शेप अन्य सम्भव सभी पर्यायोकी अपेक्षा वह सत् नही अर्थात् असत् है। इन सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारपर जो प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका निर्णय होता है वह व्यवहारकालको समय, आवली, मुहूर्त, घडी, घटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त करके उनके आधार पर ही होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रने चौथे प्रकारका जो अनेकान्त बतलाया है वह यह है कि "जो ही नित्य है वही नित्य नही है अर्थात् अनित्य है"। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु अपनी आकृति अर्थात् द्रव्यरूपता (प्रदेशवत्ता) और प्रकृति अर्थात् गुणरूपता (स्वभावशक्ति) की अपेक्षा शाश्वत बनी हुई है तथा विकृति अर्थात् पर्यायरूपता (परिणति—क्रिया) की अपेक्षा व्यवहारकालके भेद— समय, आवली, मुहूर्त, घडी, घटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदिके रूपमे विभक्त होकर अशाश्वत बनी हुई है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुको द्रव्यरूपता और गुणरूपताके आधारपर ध्रौव्यस्वभाववाली तथा पर्यायरूपताके आधारपर उत्पाद और व्यय स्वभाववाली माना गया है। इनमेसे ध्रौव्यस्वभाव वस्तुकी नित्यताका चिह्न है और उत्पाद और व्ययरूप स्वभाव उसकी अनित्यताका चिह्न है।

जिस प्रकार आचार्य श्री अमृतचन्द्रने वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर अनेकान्तके तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य ये चार विकल्प बतलाये है उसी प्रकार उन्होने समयसारकी गाथा १४२ की टीका करते हुए आत्माका अवलम्बन लेकर परस्परविरोधी धर्मद्वयके आधारपर बद्ध-अबद्ध, मोही-अमोही, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विविध प्रकारके और भी विकल्प बतला दिये है।

इस तरह हम देखते हैं कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक सिद्ध होती हैं और वह अनन्तधर्मात्मक वस्तु परस्परविरोधी धर्मद्वयके अनन्त विकल्पोके आधारपर विविध प्रकारसे अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है।

मैंने इस लेखमे वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता और अनेकात्मकतापर यथाशक्ति प्रकाश डाला है। आशा है इससे सर्वसाधारणको जैन तत्वज्ञानको समझनेकी दिशा प्राप्त होगी। वास्तवमें आज जैन तत्त्वज्ञानका प्रत्येक अग विवादग्रस्त वन गया है। इसमें मैं सारा दोप विद्वानोंका मानता हूँ। हमेशा विद्वान ही तत्त्वज्ञानके सरक्षक रहे है। आज भी विद्वानोको ऐसा ही प्रयास करना चाहिए। यद्यपि आजका प्रत्येक विद्वान कहता है कि मेरा प्रयास तत्त्वसरक्षणके लिये ही है। परन्तु यह प्रयास कैसा, जिसमे आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्द आदि महर्षियोंके वचनोमे भी परस्पर विरोध दीखने लग जाय। प्रत्येक विद्वानको इस प्रश्न पर गहराईके साथ ही दृष्टिपात करना चाहिये।

जैनदर्शनमें सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य

प्रास्ताविक

अखण्ड मानव-समष्टिको अनेक वर्गोमे विभक्त कर देनेवाले जितने पथभेद लोकमे पाये जाते हैं उन सबको यद्यपि 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है, परन्तु उन्हें 'धर्म' नाम देना अनुचित मालूम देना है, क्योकि धर्म एक हो सकता है, दो नही, दो-से अधिक भी नही, धर्म धर्ममें यदि भेद दिखाई देता है तो उन्हे धर्म समझना ही भूल है।

अपने अन्त करणमे क्रोध, दुष्टविचार, अहकार, छल—कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना एव सरलता, नम्रता और आत्मगौरवके साथ-साथ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया तथा सहानुभूति आदि सद्भावनाओको जाग्रत करना ही धर्मका अन्तरग स्वरूप माना जा सकता है और मानवताके धरातलपर स्वकीय वाचनिक एव कायिक प्रवृत्तियोमे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्तिका यथायोग्य सवर्धन करते हुए समता और परोपकारकी ओर अग्रसर होना धर्मका वाह्य स्वरूप मानना चाहिये।

पन्थ-भेदपर अवलवित मानवसमष्टिके सभी वर्गोको धर्मकी यह परिभाषा मान्य होगी, इसलिये सभी वर्गोकी परस्पर भिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओ—जिन्हे लोकमे 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है—के बीच दिखाई देनेवाले भेदको महत्त्व देना अनुचित जान पडता है।

मेरी मान्यता यह है कि मानव समष्टिके हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि वर्गोमे एक दूसरे वर्गसे विलक्षण जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताये पाई जाती है उन मान्यताओ को 'धर्म' न मानकर धर्म-प्राप्तिकी साधनस्वरूप 'सस्कृति' मानना ही उचित है। प्रत्येक मानव, यदि उसका लक्ष्य धर्म-प्राप्तिकी ओर है तो लोकमे पाई जानेवाली उक्त सभी सस्कृतियोमेंसे किसी भी सस्कृतिको अपनाकर उल्लिखित अविवादी धर्मको प्राप्त कर सकता है। सस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी भ्रान्तिपूर्ण प्रचलित परिपाटी-से हिन्दू, जैन आदि सभी वर्गोका उक्त वास्तविक धर्मकी ओर झुकाव ही नही रह गया है। इसीलिये इन वर्गोमें विविध प्रकारके अनर्थकर विकारो, पाखण्डो एव रूढियोको अधिक प्रश्रय मिला हुआ है और इस सबका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ उक्त वास्तविक धर्म मनुष्यके जीवनसे सर्वथा अलग होकर एक लोकोत्तर वस्तु मात्र रह गया है वहाँ मानवतासे विहीन तथा अन्याय और अत्याचारसे परिपूर्ण उच्छृङ्खल जीवनप्रवृत्तियोके सद्भावमे भी सस्कृतिका छद्मवेप धारण करने मात्रसे प्रत्येक मानव अपनेको और अपने वर्गको कट्टर धर्मात्मा समझ रहा है। इतना ही नही, अपनी सस्कृतिसे भिन्न दूसरी सभी सस्कृतियोको अधर्म मानकर उनमेसे किसी भी सस्कृतिके माननेवाले व्यक्ति तथा वर्गको धर्मके उल्लिखित चिह्न मौजूद रहनेपर भी वह अधर्मात्मा ही मानना चाहता है और मानता है और एक ही सस्कृतिका उपासक वह व्यक्ति भी उसकी दृष्टिमें अधर्मात्मा ही है जो उस सस्कृतिके नियमोकी ढोगपूर्वक ही सही, आवृत्ति करना जरूरी नही समझता है, भले ही वह अपने जीवनको धर्ममय बनानेका सच्चा प्रयत्न कर रहा हो। इस तरह आज प्रत्येक वर्ग और वर्गके प्रत्येक मानवमे मानवताको कलकित करनेवाले परस्पर विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहके दर्दनाक चित्र दिखाई दे रहे हैं।

यदि प्रत्येक मानव और प्रत्येक वर्ग धर्मकी उल्लिखित परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए उसे सस्कृतिका साध्य और सस्कृतिको उसका साधन मान लें तो उन्हे यह बात सरलताके साथ समझमे आजायगी कि वही सस्कृति सच्ची और उपादेय हो सकती है तथा उस सस्कृतिको ही लोकमे जीवित रहनेका अधिकार प्राप्त हो सकता है जो मानव जगत्को धर्मकी ओर अग्रसर करा सके और ऐसा होनेपर प्रत्येक मानव तथा प्रत्येक वर्ग

अपने जीवनको धर्ममय बनानेके लिये अपनी सस्कृतिको विकारो, पाखण्डों और रूढियोसे परिष्कृत बनाते हुए अधिक-से-अधिक धर्मके अनुकूल बनानेके प्रयत्नमे लग जायेंगे तथा उनमेसे अहकार, पक्षपात और हठके साथ-साथ परस्परके विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहका खातमा होकर सम्पूर्ण मानव-समष्टिमे विविध सस्कृतियोके सद्भावमे भी एकता और प्रेमका रस प्रवाहित होने लगेगा।

मेरा इतना लिखनेका प्रयोजन यह है कि जिसे लोकमे 'जैन धर्म, नामसे पुकारा जाता है उसमें दूसरी दूसरी जगह पाये जानेवाले विशुद्ध धार्मिक अशको छोडकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओके रूपमे जितना जैनत्वका अंश पाया जाता है उसे 'जैन सस्कृति' नाम देना ही उचित है, इसलिये लेखके शीर्षकमे मैंने 'जैनधर्म'के स्थानपर 'जैनसस्कृति' शब्दका प्रयोग उचित समझा है और लेखके अन्दर भी यथास्थान धर्मके स्थानपर सस्कृति शब्दका ही प्रयोग किया जायगा।

विषयप्रवेश

किसी भी सस्कृतिके हमे दो पहलू देखनेको मिलते हैं—एक सस्कृतिका आचार-सबन्धी पहलू और दूसरा उसका सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलू।

जिसमे निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्राणियोंके कर्त्तव्यमार्गका विधान पाया जाता है वह सस्कृतिका आचारसम्बन्धी पहलू है। जैनसस्कृतिमे इसका व्यवस्थापक चरणानुयोग माना गया है और आधुनिक भाषा-प्रयोगकी शैलीमें इसे हम 'कर्त्तव्यवाद' कह सकते हैं।

सस्कृतिके सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलूमें उसके (सस्कृतिके) तत्त्वज्ञान (पदार्थव्यवस्था) का समावेश होता है। जैनसस्कृतिमे इसके दो विभाग कर दिये हैं—एक सप्ततत्त्वमान्यता और दूसरी षड्द्रव्यमान्यता। सप्ततत्त्वमान्यतामे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थोंका और षड्द्रव्य-मान्यतामें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह पदार्थोका समावेश किया गया है। जैन-सस्कृतिमे पहली मान्यताका व्यवस्थापक करणानुयोग और दूसरी मान्यताका व्यवस्थापक द्रव्यानुयोगको माना गया है। आधुनिक भाषाप्रयोगकी शैलीमे करणानुयोगको उपयोगितावाद और द्रव्यानुयोगको अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) कहना उचित जान पडता है। यद्यपि जैन सस्कृतिके शास्त्रीय व्यवहारमे करणानुयोगको आध्यात्मिक पद्धति और द्रव्यानुयोगको दार्शनिक पद्धति इस प्रकार दोनोको अलग-अलग पद्धतिके रूपमे विभक्त किया गया है। परन्तु मै उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनोको दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नही करना चाहता हूँ क्योकि मैं समझता हूँ कि भारतवर्षके साख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय और वैशेषिक आदि सभी वैदिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी अवैदिक दर्शनोका मूलत विकास उपयोगितावादके आधारपर ही हुआ है, इसलिये मेरी मान्यताके अनुसार करणानुयोगको भी दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नही किया जा सकता है।

जगत् क्या और कैसा है ? जगत्मे कितने पदार्थोका अस्तित्व है ? उन पदार्थोंके कैसे-कैसे विपरिणाम होते है ? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर प्रमाणो द्वारा पदार्थोके अस्तित्व और नास्तित्वके विपयमे विचार करना अथवा पदार्थोके अस्तित्व या नास्तित्वको स्वीकार करना अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) और जगत्के प्राणी दु खी क्यो है ? वे सुखी कैसे हो सकते है ? इत्यादि प्रश्नोके आधारपर पदार्थोकी लोककल्याणोपयोगिताके आधारपर प्रमाणसिद्ध अथवा प्रमाणो द्वारा असिद्ध भी पदार्थोको पदार्थ व्यवस्थामे स्थान देना उपयोगितावाद समझना चाहिये। सक्षेपमे पदार्थोके अस्तित्वके बारेमे विचार करना अस्तित्ववाद और पदार्थोकी उपयोगिताके बारेमे विचार करना उपयोगितावाद कहा जा सकता है। अस्तित्ववादके आधारपर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमे पहुँचते है जिनका अस्तित्व मात्र प्रमाणो द्वारा सिद्ध होता हो, भले ही वे पदार्थ लोककल्याणके लिये

उपयोगी सिद्ध हो अथवा उनका लोककल्याणोपयोगितासे थोडा भी सम्बन्ध न हो और उपयोगितावादके आधार पर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमे स्थान पाते है, जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हो, भले ही उनका अस्तित्व प्रमाणो द्वारा सिद्ध हो सकता हो अथवा उनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध न भी हो।

दर्शनोमे आध्यात्मिकता और आधिभौतिकताका भेद दिखलानेके लिये उक्त उपयोगितावादको ही आध्यात्मिकवाद और उक्त अस्तित्ववादको ही आधिभौतिकवाद कहना चाहिये, क्योंकि आत्मकल्याणको ध्यानमें रखकर पदार्थ-प्रतिपादन करनेका नाम आध्यात्मिकवाद और आत्मकल्याणकी ओर लक्ष्य न देते हुए भूत अर्थात् पदार्थोंके अस्तित्वमात्रको स्वीकार करनेका नाम आधिभौतिकवाद मान लेना मुझे अधिक सगत प्रतीत होता है। जिन विद्वानोका यह मत है कि समस्त चेतन-अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मा-से मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड पदार्थसे मानना आधिभौतिकवाद है उन विद्वानोके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है। इस मतभेदसे भी मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उनको मान्य अर्थके अनुसार उन्होंने जो वेदान्तदर्शनको आध्यात्मिक दर्शन और चार्वाकदर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया है वह ठीक नही है। मेरा यह स्पष्ट मत है और जिसे मैं पहिले लिख चुका हुँ कि साख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय और वैशेषिक ये सभी वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके अधारपर ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके ही अन्तर्गत माने जाने चाहिये। उक्त दर्शनोमेसे किसी भी दर्शनका अनुयायी अपने दर्शनके बारेमे यह आक्षेप सहन करने को तैयार नही हो सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिये नही हुआ है और इसका भी सबब यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये समस्त भारतीय दर्शनोका मूल आधार उपयोगितावाद मानना ही सगत है। इसका विशेष स्पष्टी-करण नीचे किया जा रहा है—

'लोककल्याण' शब्दमे पठित लोकशब्द 'जगत्का प्राणिसमूह' अर्थमें व्यवहृत होता हुआ देखा जाता है, इसलिये यहाँपर लोककल्याणशब्दसे 'जगत्के प्राणिसमूहका कल्याण' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-कोई दर्शन प्राणियोके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते है और किन्ही-किन्ही दर्शनोमें सिर्फ दृश्य प्राणियोंके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो तरह के पाये जाते हैं—एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे है जिनका जीवन प्राय समष्टि-प्रधान रहता है। मनुष्य इन्ही समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोंमे गिना गया है क्योकि मनुष्योंके सभी जीवन-व्यवहार प्राय एक-दूसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायता-पर ही निर्भर हैं, मनुष्योके अतिरिक्त शेष सभी दृश्य प्राणी पशु-पक्षी, सर्प-बिच्छू, कीट-पतंग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणी कहे जा सकते हैं क्योकि इनके जीवन-व्यवहारोमे मनुष्यो जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताकी आवश्यकता प्राय· देखनेमे नही आती है। इस व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही इन पशु-पक्षी आदि प्राणियोको जैनदर्शनमे 'तिर्यग्' नामसे पुकारा जाता है, कारण कि 'तिर्यग्' शब्दका समानता अर्थमे भी प्रयोग देखा जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोने अपने-अपने दर्शनके विकासमे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार यथायोग्य जगत्के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोके कल्याणका ध्यान अवश्य रखा है। चार्वाकदर्शनको छोडकर उल्लिखित सभी भारतीयदर्शनोमें प्राणियोके जन्मान्तररूप परलोकका समर्थन किया गया है। इसलिये इन दर्शनोके आविष्कर्ताओकी लोककल्याणभावनाके प्रति तो सदेह करनेकी गुजाइश ही नही है लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोडा बहुत चार्वाकदर्शनका हमे दिग्दर्शन होता है उससे उसके (चार्वाकदर्शनके) आविष्कर्ताकी भी लोककल्याणभावनाका पता हमें सहज मे ही लग जाता है।

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत स पन्था ॥"

इस पद्यमे हमे चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिल जाता है । इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोककल्याणके लिये है तो उसे अखण्ड एकरूप होना चाहिये, नानारूप नही, लेकिन धर्मतत्त्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ नाना और परस्परविरोधी अर्थको कहने वाली देखी जाती है । हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओने भी धर्मतत्त्वका प्रतिपादन एकरूपसे न करके भिन्न-भिन्न रूपसे किया है । इसलिये इनके (धर्मप्रवर्तक महात्माओके) वचनोको भी सर्वसम्मत प्रमाण मानना असंभव है । ऐसी हालतमे धर्मतत्त्व साधारण मनुष्योके लिये गूढ पहेली बन गया है अर्थात् धर्मतत्त्वको समझनेमे हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्मप्रवर्तक सहायक नही हो सकता है । इसलिये धर्मतत्त्वकी पहेलीमे न उलझ करके हमे अपने कर्त्तव्यमार्गका निर्णय महापुरुषोके कर्त्तव्यमार्गके आधारपर ही करते रहना चाहिये । तात्पर्य यह है कि महापुरुषोका प्रत्येक कर्त्तव्य स्वपरकल्याणके लिये ही होता है । इसलिये हमारा जो कर्त्तव्य स्वपरकल्याणविरोधी न हो उसे ही अविवादरूपसे हमको धर्म समझ लेना चाहिये ।"

मालूम पडता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ताका अन्त करण अवश्य ही धर्मके बारेमे पैदा हुए लोककल्याणके लिये खतरनाक मतभेदोसे ऊब चुका था । इसलिये उसने लोकके समक्ष इस बातको रखनेका प्रयत्न किया था कि जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी चर्चा—जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोडकर हमे केवल ऐसा मार्ग चुन लेना चाहिये जो जनहितका साधक हो सकता है और ऐसे कर्त्तव्यमार्गमे किसीको भी विवाद करनेकी कम गुंजाइश रह सकती है ।

"यावज्जीवं सुखी जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥"

यह जो चार्वाक दर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पडती है अर्थात् यह उन लोगोका चार्वाकदर्शनके बारेमे आक्षेप है जो साम्प्रदायिक विद्वेपके कारण चार्वाकदर्शनको सहन नही कर सकते थे ।

समस्त दर्शनोमे बीजरूपसे इस उपयोगितावादको स्वीकार लेने पर ये सभी दर्शन जो एक-दूसरेके अत्यन्त विरोधी मालूम पड रहे है, ऐसा न होकर अत्यन्त निकटतम मित्रोके समान दिखने लगेगे अर्थात् उक्त प्रकारसे चार्वाक दर्शनमे छिपे हुए उपयोगितावादके रहस्यको समझ लेनेपर कौन कह सकता है कि उसका (चार्वाकदर्शनका) परलोकादिके बारेमें दूसरे दर्शनोके साथ जो मतभेद है वह खतरनाक है क्योकि जहाँ दूसरे दर्शन परलोकादिको आधार मानकर हमें मनुष्योचित कर्त्तव्यमार्ग पर चलनेकी प्रेरणा करते है वहाँ चार्वाक दर्शन सिर्फ वर्तमान जीवनको सुखी बनानेके उद्देश्यसे ही हमें मानवोचित कर्त्तव्यमार्गपर चलनेकी प्रेरणा करता है । चार्वाकदर्शनकी इस मान्यताका दूसरे दर्शनोकी मान्यताके साथ समानतामे हेतु यह है कि परलोकादिके अस्तित्वको स्वीकार करनेके बाद भी सभी दर्शनकारोको इस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आना पडता है कि "मनुष्य अपने वर्तमान जीवनमे अच्छे कृत्य करके ही परलोकमे सुखी हो सकता है या स्वर्ग पा सकता है ।" इसलिये चार्वाक मतका अनुयायी यदि अपने वर्तमान जीवनमे अच्छे कृत्य करता है तो परलोक या स्वर्गके अस्तित्वको न मानने मात्रसे उसे परलोकमे सुख या स्वर्ग पानेसे कौन रोक सकता है ? अन्यथा इसी तरह नरकका अस्तित्व न माननेके सबब पाप करनेपर भी उसका नरकमे जाना कैसे सभव हो सकेगा ? तात्पर्य यह है कि एक प्राणी नरकके अस्तित्वको न मानते हुए भी बुरे कृत्य करके यदि नरक जा सकता है तो दूसरा प्राणी स्वर्गके अस्तित्वको न मानते हुए अच्छे कृत्य करके स्वर्ग भी जा सकता है । परलोक तथा

स्वर्गादिके अस्तित्वको न मानने वाला व्यक्ति अच्छे कृत्य कर ही नही सकता है, यह बात कोई भी विवेकी व्यक्ति माननेको तैयार न होगा, कारणकि हम पहले बतला आये है कि मनुष्यका जीवन परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताके आधारपर ही सुखी हो सकता है। यदि एक मनुष्यको अपना जीवन सुखी बनानेके लिये सम्पूर्ण साधन उपलब्ध हैं और दूसरा उसका पडोसी मनुष्य चार दिनसे भूखा पडा हुआ है तो ऐसी हालतमे या तो पहिले व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके बारेमे सहायताके रूपमे अपना कोई न कोई कर्त्तव्य निश्चित करना होगा, अन्यथा नियमसे दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्तिके सुखी जीवनको ठेस पहुँचानेका निमित्त बन जायेगा। तात्पर्य यह है कि हमे परलोककी मान्यतासे अच्छे कृत्य करनेकी जितनी प्रेरणा मिल सकती है उससे भी कही अधिक प्रेरणा वर्तमान जीवनको सुखी बनानेकी आकाक्षासे मिलती है, चार्वाकदर्शनका अभिप्राय इतना ही है।

बौद्धोके क्षणिकवाद और ईश्वरकर्तृत्ववादियोके ईश्वरकर्तृत्ववादमें भी यही उपयोगितावादका रहस्य छिपा हुआ है। बौद्धदर्शनमे एक वाक्य पाया जाता है—"वस्तुनि क्षणिकत्वपरिकल्पना आत्मबुद्धिनिरासार्थम्" अर्थात् पदार्थोमे जगत्के प्राणियोके अनुचित राग, द्वेष और मोहको रोकनेके लिये ही बौद्धोने पदार्थोकी अस्थिरताका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी प्रकार जगत्का कर्ता अनादि-निधन एक ईश्वरको मान लेनेसे ससारके बहुजन समाजको अपने जीवनके सुधारमें काफी प्रेरणा मिल सकती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति पदार्थोकी क्षणभगुरता स्वीकार करके उनसे विरक्त होकर यदि आत्मकल्याणकी खोज कर सकता है और दूसरा व्यक्ति ईश्वरको कर्ता-वर्ता मान करके उसके भयसे यदि अनर्थोसे बच सकता है तो इस तरह उन दोनो व्यक्तियोके लिये क्षणिकत्ववाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद दोनोकी उपयोगिता स्वय सिद्ध हो जाती है। इसलिये इन दोनो मान्यताओके औचित्यके बारेमे "पदार्थ क्षणिक हो सकता है या नही ? जगत्का कर्ता ईश्वर है या नही ?" इत्यादि प्रश्नोके आधारपर विचार न करके "क्षणिकत्ववाद अथवा ईश्वरकर्तृत्ववाद लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते है या नही ?" इत्यादि प्रश्नोके आधारपर ही विचार करना चाहिये।

साख्य और वेदान्तदर्शनोकी पदार्थमान्यतामे उपयोगितावादको स्पष्ट झलक दिखाई देती है, इसका स्पष्टीकरण 'षड्द्रव्यमान्यताके' प्रकरणमे किया जायगा।

मीमासादर्शनका भी आधार मनुष्योको स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे यागादि कार्योमे प्रवृत्त कराने रूप उपयोगितावाद ही है तथा जैनदर्शनमे तो उपयोगितावादके आधारपर सप्ततत्वमान्यता और अस्तित्ववादके आधारपर षड्द्रव्यमान्यता इस प्रकार पदार्थव्यवस्थाको ही अलग-अलग दो भागोमें विभक्त कर दिया गया है।

इस तरहसे समस्त भारतीयदर्शनोमे मूलरूपसे उपयोगितावादके विद्यमान रहते हुए भी अफसोस है कि धीरे-धीरे सभी दर्शन उपयोगितावादके मूलभूत आधारसे निकल कर अस्तित्ववादके उदरमे समा गये अर्थात् प्रत्येक दर्शनमे अपनी व दूसरे दर्शनकी प्रत्येक मान्यताके विषयमे अमुक मान्यता लोककल्याणके लिये उपयोगी है या नही ?' इस दृष्टिसे विचार न होकर 'अमुक मान्यता सभव हो सकती है या नही ?' इस दृष्टिसे विचार होने लग गया और इसका यह परिणाम हुआ कि सभी दर्शकारोने अपने-अपने दर्शनोके भीतर उपयोगिता और अनुपयोगिताकी ओर ध्यान न देते हुए अपनी मान्यताको सभव और सत्य तथा दूसरे दर्शनकारोकी मान्यताको असभव और असत्य सिद्ध करनेका दुराग्रहपूर्ण एव परस्पर कलह पैदा करने वाला ही प्रयास किया है।

३. सप्ततत्त्व

ऊपर बतलाये गये दर्शनोंमें परलोक, स्वर्ग, नरक और मुक्तिकी मान्यताके विषयमें जो मतभेद पाया जाता है उसके आधारपर उन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा भी यथासंभव भिन्न-भिन्न प्रकारसे निश्चित की गयी है। चार्वाकदर्शनमें प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग, पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्तिका स्थान नरक और प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप निःश्रेयसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है इसलिये वहाँपर लोक-कल्याणकी सीमा प्राणियोंके और विशेषकर मानवसमाजके वर्तमान जीवनकी सुख-शान्तिको लक्ष्य करके ही निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणको ध्यानमें रखकरके ही वहाँ पदार्थोंकी व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। मीमांसादर्शनमें यद्यपि प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप निःश्रेयस और उसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है। वहाँपर स्वर्गसुखको ही निःश्रेयस पदका और स्वर्गको ही मुक्तिपदका वाच्य स्वीकार किया गया है, फिर भी प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग और पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्तिका स्थान नरक इन तत्त्वोंको वहाँ अवश्य स्वीकार किया गया है। इसलिये वहाँपर लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके वर्तमान (ऐहिक) जीवनके साथ-साथ परलोककी सुखशान्तिको ध्यानमें रखकर निर्धारित की गई है और इसी लोककल्याणको ध्यानमें रखकरके ही वहाँ पदार्थ-व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। चार्वाक और मीमांसा दर्शनोंके अतिरिक्त शेष उल्लिखित वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें उक्त प्रकारके परलोक, स्वर्ग और नरककी मान्यताके साथ-साथ प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप निःश्रेयस और निःश्रेयसका स्थान मुक्तिकी मान्यताको भी स्थान प्राप्त है। इसलिये इन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्तिके साथ-साथ उक्त निःश्रेयस और मुक्तिको भी ध्यानमें रखते हुए निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणके आधारपर ही इन दर्शनोंमें पदार्थव्यवस्थाको स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक दर्शनको छोड़कर परलोकको माननेवाले मीमांसादर्शनमें और परलोकके साथ-साथ मुक्तिको भी माननेवाले सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें जगत्के प्रत्येक प्राणीके शरीरमें स्वतंत्र और शरीरके साथ घुल-मिल करके रहनेवाला एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है और न ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही वर्तमानमें मौजूद है जिसको इसका प्रत्यक्ष हो रहा हो। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्राणीमें दूसरे प्राणियोंकी प्रेरणाके बिना ही जगत्के पदार्थोंके प्रति राग, द्वेष या मोह करना अथवा विरक्ति अर्थात् समताभाव रखना, तथा हर्ष करना, विषाद करना दूसरे प्राणियोंका अपकार करना, पश्चात्ताप करना, परोपकार करना, हँसना, रोना, सोचना, समझना, सुनना, देखना, सूँघना, खाना, पीना, बोलना, बैठना, चलना, काम करना, थक जाना, विश्रान्ति लेना, पुनः काममें जुट जाना, सोना, जागना और पैदा होकर छोटे-से बड़ा होना इत्यादि यथासंभव जो विशिष्ट व्यापार पाये जाते हैं वे सब व्यापार प्राणिशरीरको [illegible], मिट्टी, पत्थर, मकान, कपड़ा, बर्तन, कुर्सी, टेबुल, सोना चाँदी, लोहा, पीतल, घड़ी, रेडियो, ग्रामोफोन, [illegible], सिनेमाके चित्र, मोटर, रेलगाड़ी, टैंक, हवाई जहाज और इंजन आदि [illegible] तथा [illegible] पाकर आकार करनेवाले पदार्थोंसे पृथक कर देते हैं और इन व्यापारोंके आधारपर [illegible] स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक प्राणीके शरीरमें [illegible] पृथक् [illegible] भी विद्यमान है, जिसकी प्रेरणासे ही प्रत्येक प्राणीमें उल्लिखित विशिष्ट व्यापार हुआ करते हैं। इस [illegible] सभी दर्शन, [illegible]

शक्तिविशिष्ट स्वीकार करते हैं तथा अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार सभी दर्शन इसको पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य अलग नामोंसे उल्लेख करते हैं।

प्रत्येक प्राणीके शरीरमें एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वके अस्तित्वकी समान स्वीकृति रहते हुए भी उक्त दर्शनोंमेंसे कोई-कोई दर्शन तो इन सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंको परस्पर मूलतः ही पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं और कोई-कोई ईश्वर या परब्रह्मके एक-एक अंशके रूपमें इन्हें पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। अर्थात् कोई-कोई दर्शन उक्त चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई दर्शन उनकी नित्य और व्यापक ईश्वर या परब्रह्मसे उत्पत्ति स्वीकार करके एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको उक्त ईश्वर या परब्रह्मका एक-एक अंश मानते हैं, उन्हें मूलतः पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं। सांख्य, मीमांसा आदि कुछ दर्शनोंके साथ-साथ जैनदर्शन भी संपूर्ण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करके उन्हें परस्पर भी पृथक्-पृथक् ही मानता है।

उक्त प्रकारसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध ये सभी दर्शन प्राणियोंको समय-समयपर होनेवाले सुख तथा दुःखका भोक्ता उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको ही स्वीकार करते हैं सभी दर्शनोंकी इस समान मूलमान्यताके आधारपर उनमें (सभी दर्शनोंमें) समानरूपसे निम्नलिखित चार सिद्धान्त स्थिर हो जाते हैं—

(१) प्रत्येक प्राणीके अपने-अपने शरीरमें मौजूद तथा भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारे जानेवाले प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्टतत्वका अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध होनेका कोई-न-कोई कारण अवश्य है।

(२) जब कि प्राणियोंके उल्लिखित विशिष्ट व्यापारोंके प्रादुर्भाव और सर्वथा विच्छेदके आधारपर प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ प्राप्त हुई बद्धताका जन्म और मरणके रूपमें आदि तथा अन्त देखा जाता है तो मानना पड़ता है कि ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व सीमित काल तक ही अपने-अपने वर्तमान शरीरमें आबद्ध रहते हैं। ऐसी हालतमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले ये चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किस रूपमें विद्यमान रहे होंगे? यदि कहा जाय कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले वे सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व शरीरके बन्धनसे रहित बिल्कुल स्वतंत्र थे, तो प्रश्न उठता है कि इन्हें अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेका कारण अकस्मात् कैसे प्राप्त हो गया? इस प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले उक्त सभी दर्शनोंमें यह बात स्वीकार की गयी है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पूर्व भी ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किसी दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे और उससे भी पूर्व किसी दूसरे-दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे। इस प्रकार सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताकी यह पूर्वपरंपरा इनकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा अनादिकाल तक और ईश्वर या परमब्रह्मसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा ईश्वर या परमब्रह्मसे जबसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है तब तक माननी पड़ती है।

(३) चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताका कारण उनका स्वभाव है—यह मानना असंगत है, कारण कि एक तो स्वभाव परतन्त्रताका कारण ही नहीं हो सकता है। दूसरे, स्वभावसे प्राप्त हुई परतन्त्रताकी हालतमें उन्हें दुःखानुभवन नहीं होना चाहिये, लेकिन दुःखानुभवन होता है। इसलिये सभी चित्शक्तिविशि-

टतत्त्वोकी शरीरबद्धताका कारण स्वभावसे भिन्न किसी दूसरी चीजको ही मानना युक्तियुक्त जान पडता है और इसीलिये साख्यदर्शनमे त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोगुणात्मक) अचित् प्रकृतिको, वेदान्तदर्शनमे असत् कही जानेवाली अविद्याको, मीमासादर्शनमे चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोमे विद्यमान अशुद्धि (दोप) को, ईश्वरकर्तृत्व-वादी योग, न्याय और वैशेपिक दर्शनोमे इच्छा, ज्ञान और कृति शक्तित्रयविशिष्ट ईश्वरको, जैनदर्शनमे अचित् कर्म (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि द्रव्योका सजातीय पौद्गलिक वस्तुविशेप) को और बौद्धदर्शनमे विपरीताभिनिवेशस्वरूप अविद्याको उसका कारण स्वीकार किया गया है। इनमेसे योग, न्याय और वैशेपिक दर्शनोमे माना गया ईश्वर उनकी मान्यताके अनुसार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोके साथ असबद्ध रहते हुए भी उनके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एव पापरूप कृत्योके आधारपर सुख तथा दु खके भोगमे सहायक शरीरके साथ उन्हें आवद्ध करता रहता है। शेप साख्य आदि दर्शनोमे चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धता-में माने गये प्रकृति आदि कारण उन चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंक साथ किसी-न-किसी रूपमे सवद्ध रहते हुए ही उनके मन, वचन ओर शरीर सम्बन्धी पुण्य एव पापरूप कृत्योके आधारपर सुख तथा दु खके भोगमे सहायक शरीरके साथ उन्हे आवद्ध करते रहते है। इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोकी शरीरबद्धताकी जिस पूर्व-परम्पराका उल्लेख पहले किया जा चुका है उसकी सगतिके लिये योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोमे ईश्वरको शाश्वत (अनादि और अनिधन) मान लिया गया है तथा एक जैनदर्शनको छोडकर शेप साख्य आदि सभी दर्शनोमें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोके साथ प्रकृति आदिके सम्बन्धको यथायोग्य अनादि अथवा ईश्वर या परमब्रह्म-से उनकी (चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोकी) उत्पत्ति होनेके समयसे स्वीकार किया गया है। जैनदर्शनमे चित्शक्ति-विशिष्टतत्वोको शरीरबद्धतामे कारणभूत कर्मके सम्बन्धको तो सादि स्वीकार किया गया है परन्तु उनकी उस शरीरबद्धताकी पूर्वोक्त अविच्छिन्न परम्पराकी सगतिके लिये वहापर (जैनदर्शनमे) शरीरसम्बन्धकी अविच्छिन्न अनादि परम्पराकी तरह उसमे कारणभूत कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न अनादि परम्पराको स्वीकार किया गया है और इसका आशय यह है कि यदि चित्शक्तिविशिष्टतत्वोकी शरीरबद्धतामे कारणभूत उक्त कर्मसम्बन्ध को अनादि माना जायगा तो उस कर्मसम्बन्धको कारण रहित स्वाभाविक ही मानना होगा, लेकिन ऐसा मानना इसलिये असगत है कि इस तरहसे प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दु खकी परपरास्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेदके अभावका प्रसग प्राप्त होगा, जो कि साख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध इन दर्शनो मेसे किसी भी दर्शनको अभीष्ट नही है। मीमासादर्शनमे जो प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सु ख-दुखकी पर-परारूप ससारका सर्वथा विच्छेद नही स्वीकार किया गया है उसका सबब यही है कि वह चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोमें विद्यमान अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब कारणरहित स्वाभाविक स्वीकार करता है। परन्तु जो दर्शन प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दु खकी परम्परास्वरूप ससारका सर्वथा विच्छेद स्वीकार करते हैं उन्हें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोकी शरीरबद्धतामे कारणरूपसे स्वीकृत पदार्थके सम्बन्धको कारणसहित—अस्वा-भाविक ही मानना होगा और ऐसा तभी माना जा सकता है जबकि उस सम्बन्धको सादि माना जायगा। यही सबब है कि जैनदर्शनमे मान्य प्राणियोके जन्म-मरण अथवा सुख-दु.खकी परम्परास्वरूप ससारके सर्वथा विच्छेदको सगतिके लिये वहापर (जैनदर्शनमें) शरीरसम्बन्धमे कारणभूत कर्मके सम्बन्धको तो सादि माना गया है और शरीरसम्बन्धकी पूर्वोक्त अनादि परम्पराको सगतिके लिये उस कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न परम्पराको अनादि स्वीकार किया गया है। इसकी व्यवस्था जैनदर्शनमे निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

जैनदर्शनमे कार्माणवर्गणा नामका चित्शक्तिसे रहित तथा रूप, रस गध और स्पर्श गुणोसे युक्त होनेके कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वोका सजातीय एक पौद्गलिक तत्त्व स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म है और पृथ्वी आदि तत्त्वोकी ही तरह नाना परमाणुपुजोमे विभक्त होकर समस्त-

लोकाकाशमे सर्वदा अवस्थित रहता है। प्राणियोकी मन, वचन और शरीरके जरिये पुण्य एवं पापरूप कार्योंमे जो प्रवृत्ति देखी जाती है उस प्रवृत्तिसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य बहुतसे परमाणुओंके पुज-के-पुज उन प्राणियोके शरीरमें रहने वाले चित्शक्तविशिष्ट तत्त्वोके साथ चिपट जाते हैं अर्थात् अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला पानीके बीचमे पड जानेसे जिस प्रकार चारो ओरसे पानीको खीचता है उसी प्रकार अपने मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एव पापरूप कृत्यो द्वारा गरम हुआ (प्रभावित) उक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व समस्त लोकमे व्याप्त कार्माणवर्गणाके बीचमे पडजानेके कारण चारो ओरसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य परमाणु-पुजोको खीच लेता है और इस तरहसे कार्माणवर्गणाके जितने परमाणुपुज जबतक चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोके साथ चिपटे रहते हैं तबतक उन्हें जैनदर्शनमे 'कर्म' नामसे पुकारा जाता है तथा इस कर्मसे प्रभावित होकरके ही प्रत्येक प्राणी अपने मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य एव पापरूप कृत्य किया करता है अर्थात् प्राणियोकी उक्त पुण्य एव पापरूप कार्योंमे प्रवृत्ति करानेवाले ये कर्म ही हैं। प्राणियोकी पुण्य एवं पापरूप कार्योंमे प्रवृत्ति करा देनेके बाद इन कर्मोका प्रभाव नष्ट हो जाता है और ये उस हालतमे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंसे पृथक् होकर अपना वही पुराना कार्माणवर्गणाका रूप अथवा पृथ्वी आदि स्वरूप दूसरा और कोई पौद्गलिक रूप धारण कर लेते हैं।

यहापर यह खासतौरसे ध्यानमे रखने लायक बात है कि इन कर्मोंके प्रभावसे प्राणियोकी जो उक्त पुण्य एव पापरूप कार्योंमे प्रवृत्ति हुआ करती है उस प्रवृत्तिसे उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चितशक्तिविशिष्टतत्त्व कार्माणवर्गणाके दूसरे यथायोग्य परमाणुपुजोके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और इस तरहसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोकी पूर्वोक्त शरीरसम्बन्धपरम्पराकी तरह उसमे कारणभूत कर्मसम्बन्धकी परम्परा भी अनादिकालसे अविच्छिन्नरूपमे चली आ रही है। अर्थात् जिस प्रकार वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष की उत्पत्ति होते हुए भी उनकी यह परम्परा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपमे चली आ रही है उसी प्रकार कर्मसम्बन्धसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोका शरीरके साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बद्धशरीरकी सहायतासे प्राणी पुण्य एवं पापरूप कार्य किया करते हैं। उन कार्योंसे उनके साथ पुन कर्मोका बन्ध हो जाता है और कर्मोका यह बन्धन उन्हें दूसरे शरीरके साथ सम्बद्ध करा देता है। इस तरहसे यह कर्मसम्बन्धपरम्परा भी अनादिकाल से अविच्छिन्न रूपमे चलती रहती है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोके आबद्ध होनेका कारण साख्य, वेदान्त, मीमासा, योग, न्याय, वैशेषिक जैन और बौद्ध इन सभी दर्शनोमे स्वरूप तथा कारणताके प्रकारकी अपेक्षा यद्यपि यथायोग्य भिन्न-भिन्न बतलाया गया है तथापि इस बातमें ये सभी दर्शन एकमत हैं कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोके आबद्ध होनेका कारण अतिरिक्त पदार्थ है।

(४) उल्लिखित तीन सिद्धान्तोके साथ-साथ एक चौथा जो सिद्धान्त इन दर्शनोमें स्थिर होता है वह यह है कि जब चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोका शरीरके साथ सबद्ध होना उनसे अतिरिक्त कारणके अधीन है तो इस शरीरसबधपरपराका उक्त कारणके साथ-साथ मूलत विच्छेद भी किया जा सकता है। परन्तु इस चौथे सिद्धान्तको मीमासादर्शनमे नही स्वीकार किया गया है क्योकि पहले बतलाया जा चुका है कि मीमासादर्शनमे शरीरसम्बन्धमे कारणभूत अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब अकारण स्वीकार किया गया है। इसलिये उसकी मान्यताके अनुसार इस सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होना असभव है।

इन सिद्धान्तोके फलित अर्थके रूपमे निम्नलिखित पाँच तत्त्व कायम किये जा सकते हैं—(१) नाना चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व, (२) इनका शरीरसम्बन्धपरपरा अथवा सुख-दु खपरपरारूप ससार, (३) ससारका कारण, (४) ससारका सर्वथा विच्छेद स्वरूपमुक्ति और (५) मुक्तिका कारण।

चार्वाक दर्शनमे इन पाँचो तत्त्वोको स्वीकार नही किया गया है क्योकि ये पाँचो तत्त्व परलोक तथा मुक्तिकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखते है। मीमासादर्शनमे इनमेसे आदिके तीन तत्त्व स्वीकृत किये गये है, क्योकि आदिके तीन तत्त्व परलोककी मान्यतासे सम्बन्ध रखते है और मीमासादर्शनमे परलोककी मान्यताको स्थान प्राप्त है। परन्तु वहाँ पर (मीमासादर्शनमें) भी मुक्तिकी मान्यताको स्थान प्राप्त न होनेके कारण अन्तके दो तत्त्वोको नही स्वीकार किया गया है। शेष साख्य, वेदान्त, योग, न्याय और वैशेषिक तथा जैन और बौद्धदर्शनमे इन पाँचो तत्त्वोको स्वोकार गया गया है, क्योकि इन दर्शनोमे परलोक और मुक्ति दोनोकी मान्यताको स्थान प्राप्त है।

जैन सस्कृतिकी जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप सप्ततत्त्ववाली जिस पदार्थमान्यताका उल्लेख लेखमे किया गया है उसमे उक्त दर्शनोको स्वीकृत इन पाँचो तत्त्वोका ही समावेश किया गया है अर्थात् सप्ततत्त्वोमे स्वीकृत प्रथम जीवतत्त्वसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वका अर्थ लिया गया है, द्वितीय अजीवतत्त्वसे उक्त कार्माणवर्गणाका अर्थ स्वीकार करते हुए इन दोनो अर्थात् चित्शक्तिविशिष्ट-तत्त्व स्वरूप जोवतत्त्व और कार्माणवर्गणास्वरूप अजीवतत्त्वकी सम्बन्धपरम्परारूप मूल ससारका चौथे बन्ध-तत्त्वमे समाविष्ट करके चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वके शरीरसम्बन्धपरपरारूप अथवा सुख-दु खपरपरारूप ससारको इसीका विस्तार स्वीकार किया गया है। तीसरे आस्रवतत्त्वसे उक्त जीव और अजीव दोनो तत्त्वोकी सम्बन्ध-परपरारूप मूल ससारमे कारणभूत प्राणियोके मन, वचन और शरीर सम्वन्धी पुण्य एव पापरूप कार्योका बोध होता है।

तत्त्वव्यवस्थामें बन्ध तत्त्वको चौथा और आस्रवतत्त्वको तोसरा स्थान देनेका मतलब यह है कि बन्ध-रूप ससारका कारण आस्रव है इसलिये कारणरूप आस्रवका उल्लेख कार्यरूप बन्धके पहले करना ही चाहिये और चूकि इस तत्त्वव्यवस्थाका लक्ष्य प्राणियोका कल्याण ही माना गया है तथा प्राणियोकी हीन और उत्तम अवस्थाओका ही इस तत्त्वव्यवस्थासे हमे बोध होता है। इसलिये तत्त्वव्यवस्थाका प्रधान आधार होनेके कारण इस तत्त्वव्यवस्थामे जीवतत्त्वको पहला स्थान दिया गया है। जीवतत्त्वके बाद दूसरा स्थान अजीवतत्त्वको देनेका सबब यह है कि जीवतत्त्वके साथ इसके (अजीवतत्त्वके) सयोग और वियोग तथा सयोग और वियोगके कारणोको ही शेष पाँच तत्त्वोमे सगृहीत किया गया है।

सातवे मोक्षतत्त्वसे कर्मसम्बन्धपरपरासे लेकर शरीरसम्वन्धपरपरा अथवा सुख-दु खपरपरारूप ससारका सर्वथा विच्छेद अर्थ लिया गया है और चूकि प्राणियोकी यह अन्तिम प्राप्य और अविनाशी अवस्था है इसलिये इसको तत्त्वव्यवस्थामे अन्तिम सातवाँ स्थान दिया गया है।

पाँचवें सवरतत्त्वका अर्थ ससारके कारणभूत आस्रवका रोकना और छठे निर्जरातत्त्वका अर्थ सबद्ध कर्मों अर्थात् ससारको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न करना स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्वोक्त ससारके आत्यन्तिक विनाशका नाम मुक्ति है तो इस प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्तिके लिए हमे ससारके कारणोका नाश करके ससारके नाश करनेका प्रयत्न करना होगा, सवर और निर्जरा इन दोनो तत्त्वोकी मान्यताका प्रयोजन यही है और चूकि इन दोनो तत्त्वोको सातवे मोक्षतत्त्वकी प्राप्तिमे कारण माना गया है, इसलिये तत्त्वव्यवस्थामे मोक्षतत्त्वके पहले ही इन दोनो तत्वोको स्थान दिया गया है। सवरको पाँचवाँ और निर्जराको छठा स्थान देनेका मतलव यह है कि जिस प्रकार पानीसे भरी हुई नावको डूबनेसे वचानेके लिये नावका बुद्धिमान मालिक पहले नो पानी आनेमे कारणभूत नावके छिद्रको बद करता है और तव बादमे भरे हुए पानीको नावसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार मुक्तिके इच्छुक प्राणीको पहले तो

कर्मबन्धमें कारणभूत आस्रवको रोकना चाहिये जिससे कि कर्मबन्धकी आगामी परपरा रुक जाय और तब बादमें बद्ध कर्मोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यहाँपर इतना और समझ लेना चाहिए कि पूर्ण सवर होजानेके बाद ही निर्जराका प्रारम्भ नही माना गया है बल्कि जितने अंशोमें सवर होता जाता है उतने अशोमें निर्जराका प्रारम्भ भी होता जाता है। इस तरह पानी आनेके छिद्रको बद करने और भरे हुए पानीको धीरे-धीरे बाहर निकालनेसे जिस प्रकार नाव पानी रहित हो जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धके कारणोको नष्ट करने और बद्ध कर्मोंका धीरे-धीरे विनाश करनेसे अन्तमे जीव भी ससार (जन्म-मरण अथवा सुख-दु खकी परंपरा) से सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है।

साख्य आदि दर्शनोको यद्यपि पूर्वोक्त पाचो तत्त्व मान्य है। परन्तु उनकी पदार्थव्यवस्थामे जैनदर्शनके साथ परस्पर जो मतभेद पाया जाता है उसका कारण उनका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही है। तात्पर्य यह है कि सारभूत-मुख्य-मूलभूत या प्रयोजनभूत पदार्थोको तत्त्वनाममे पुकारा जाता है। यही सबब है कि जैन दर्शनके दृष्टिकोणके मुताबिक जगत्मे नाना तरहके दूसरे-दूसरे पदार्थोंका अस्तित्व रहते हुए भी तत्त्व शब्दके इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर प्राणियोके आत्यन्तिक सुख (मुक्ति) की प्राप्तिमे जिनका समझ लेना प्रयोजनभूत मान लिया गया है उन पूर्वोक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व स्वरूप जीव, कार्माणवर्गणास्वरूप अजीव तथा इन दोनोके सयोगरूप बन्ध और वियोगरूप मुक्ति एव सयोगके कारणभूत आस्रव और वियोगके कारणस्वरूप सवर और निर्जराको ही सप्ततत्त्वमयपदार्थव्यवस्थामे स्थान दिया गया है।

साख्य दर्शनके दृष्टिकोणके अनुसार मुक्तिप्राप्तिके लिये चित्शक्तिविशिष्टतत्वस्वरूप पुरुष तथा इनकी शरीरसम्बन्धपरपरारूप ससारकी मूलकारण स्वरूप प्रकृति और इन दोनोके सयोगसे होनेवाले बुद्धि आदि पच-महाभूत पर्यन्त प्रकृतिविकारोको समझ लेना ही जरूरी या पर्याप्त मान लिया गया है। इसलिये साख्यदर्शनमें नानाचित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व, इनका शरीरसम्बन्धपरपरा अथवा सुख-दु खपरपरारूप ससारका कारण, ससारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन पाँचो तत्त्वोकी मान्यता रहते हुए भी उसकी (साख्यदर्शनकी) पदार्थव्यवस्थामे सिर्फ पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि तेईस प्रकृतिविकारोको ही स्थान दिया गया है।

जैनदर्शनकी सप्ततत्त्वस्वरूप पदार्थव्यवस्थाके साथ यदि साख्यदर्शनकी पच्चीस तत्त्वस्वरूप पदार्थ-व्यवस्थाका स्थूल रूपसे समन्वय किया जाय तो कहा जा सकता है कि जैनदर्शनके जीवतत्वके स्थानपर साख्य-दर्शनमे पुरुषतत्वको और जैनदर्शनके अजीवतत्त्व (कार्माणवर्गणा) के स्थानपर साख्यदर्शनमे प्रकृतितत्वको स्थान दिया गया है तथा जैनदर्शनके बन्धतत्वका यदि विस्तार किया जाय तो साख्यदर्शनकी बुद्धि आदि तेईस तत्वोकी मान्यताका उसके साथ समन्वय किया जा सकता है। इतना समन्वय करनेके बाद इन दोनो दर्शनोकी मान्यताओमें सिर्फ इतना भेद रह जाता है कि जहाँ साख्यदर्शनमे बुद्धि आदि सभी तत्वोको पुरुषसयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमे कुछको तो प्रकृतिसयुक्त पुरुषका विकार और कुछको पुरुषसयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि साख्यदर्शनके पच्चीस तत्वोको जैनदर्शनके जीव, अजीव और बन्ध इन तीन तत्त्वोमे सग्रहीत किया जा सकता है। इस प्रकार साख्यदर्शनमें पच्चीस तत्वोके रूपमे नानाचित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व और इनका शरीरसम्बन्धपरम्परा अथवा सुख-दु ख परम्परारूप ससार ये दो तत्व तो कठोक्त स्वीकार किये गये है। शेष ससारका कारण, ससारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तीन तत्वोकी मान्यता रहते हुए भी इन्हे पदार्थमान्यतामे स्थान नही दिया गया है।

योगदर्शनमें नाना चित्शक्तिविशिष्टतत्व, उनका संसार, संसारका कारण, मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तत्वोकी मान्यता रहते हुए भी उसकी पदार्थव्यवस्था करीब-करीब साख्यदर्शन जैसी ही है। विशेषता इतनी है कि योगदर्शनमें पुरुष और प्रकृतिके सयोग तथा प्रकृतिकी बुद्धि आदि तेईस तत्वरूप होने वाली परिणतिमे सहायक एक शाश्वत ईश्वरतत्वको भी स्वीकार किया गया है और मुक्तिके साधनोका विस्तृत विवेचन भी योगदर्शनमे किया गया है।

साख्यदर्शनकी पदार्थव्यवस्था योगदर्शनकी तरह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है। लेकिन वेदान्तदर्शनमें उक्त पदार्थव्यवस्थाके मूलमे नित्य, व्यापक और एक परब्रह्म नामक तत्वको स्वीकार किया गया है तथा ससार-को इसी परब्रह्मका विस्तार स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनमे यद्यपि एक परब्रह्मको ही तत्व-रूपसे स्वीकार किया है परन्तु वहाँपर (वेदान्तदर्शनमें) भी प्रत्येक प्राणीके शरीरमे पृथक्-पृथक् रहने वाले चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंको उस परब्रह्मके अशोके रूपमे स्वीकार करके उनका असत् स्वरूप अविद्याके साथ संयोग, इस संयोगके आधारपर उन चित्शक्तिविशिष्टतत्वोका सुख-दुःख तथा शरीर-सबन्धकी परम्परारूप संसार, इस संसारसे छुटकारा स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण ये सब बाते स्वीकार की गयी है। वेदान्त-दर्शनमें परब्रह्मको सत् और संसारको असत् माननेकी जो दृष्टि है उसका सामञ्जस्य जैनदर्शनकी करणानुयोग-दृष्टि (उपयोगितावाद) से होता है क्योकि जैनदर्शनमे भी ससार अथवा शरीरादि जिन पदार्थोको द्रव्या-नुयोग (वास्तविकतावाद) की दृष्टिसे सत् स्वीकार किया गया है उन्हीको करणानुयोगकी दृष्टिसे असत् स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमे भी करणानुयोगकी दृष्टिसे एक चित्शक्तिविशिष्ट आत्मतत्वको ही शाश्वत् होनेके कारण सत् स्वीकार किया गया है और शेष ससारके सभी तत्वोको अशाश्वत, आत्मकल्याणमे अनुपयोगी अथवा बाधक होनेके कारण असत् (मिथ्या) स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्ट तत्व, उनका पूर्वोक्त संसार और ससारका कारण इन तीन तत्वोको स्वीकार करने वाले मीमासादर्शनमें तथा इनके साथ-साथ मुक्ति और मुक्तिके कारण इन दो तत्वोको मिलाकर पाँच तत्वोको स्वीकार करने वाले न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोमे भी इनका जैनदर्शनकी तरह जो तत्वरूप से व्यवस्थित विवेचन नही किया गया है वह इन दर्शनोके भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणका ही परिणाम है।

इस सपूर्ण कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शनकी सप्ततत्वमय पदार्थव्यवस्था यद्यपि उक्त सभी दर्शनोको स्वीकार्य है परन्तु जहाँ जैनदर्शनमे उपयोगितावादके आधारपर उसका सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढगसे विवेचन किया गया है वहाँ दूसरे दर्शनोमे उसका विवेचन सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढगसे नही किया गया है।

●

अर्थमें भूल और उसका समाधान

यो तो शब्दोके अर्थमे कभी-कभी भूल हो जाया करती हैं और वादमे वह ठीक भी हो जाती है। लेकिन कोई-कोई भूल ऐसी हो जाती है जो कि परम्परामे पहुँच जाती है। फिर उसके विषयमे यह ध्यान भी नही होता कि भूल है या नही। ऐसे ही कुछ स्थलोको यहाँपर रखता हूँ आशा है विद्वान पाठक अवश्य विचार करेगे।

१. न्यायदीपिका

"असाधारणधर्मवचन लक्षणमिति केचित्, तदनुपपन्न लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसगात्।"

यह तो मुझे स्मरण नही कि गुरुमुखसे इसका क्या अर्थ मैंने सुना था, किन्तु उस समय मुझे इस ग्रथकी एटा निवासी प० खूबचन्द्र जी कृत हिन्दी-टीका देखनेका मौका मिला था, उसमें इन पक्तियोका जो अर्थ किया गया है वह मुझे असगत जान पडा। मालूम होता है इस हिन्दी-टीकाके सहारेपर ही कम-से-कम विद्यार्थी-समाजमे तो यह अर्थ अवश्य ही माना जाता है।

हमारी जैन परीक्षाओमें भी यह प्रश्न प्राय' पूछा जाता है और बहुधा विद्यार्थी भी इसी ढगसे समाधान करते होगे। अच्छा होता, यदि विद्वान परीक्षक इस अर्थके विषयमे कुछ सकेत करते, लेकिन इसपर आज तक किसीका भी ध्यान नही गया। अस्तु, उल्लिखित टीकामें इस प्रकार अर्थ किया गया है—

"कई मतवाले सर्वथा असाधारण धर्मको लक्षण कहते है, परन्तु यह उनका कहना ठीक नही है क्योकि लक्ष्य और लक्षण दोनो एक ही अधिकरणमें रहते है ऐसा नियम है। यदि ऐसा न मानोगे तो घटका लक्षण पट भी मानना पडेगा, परन्तु प्रवादीके माने हुए लक्षणके अनुसार लक्ष्य तथा लक्षण (का) रहना एक ही अधिकरणमे नही बन सकता, क्योकि उसके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमे रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोमे रहता है। जैसे पृथिवीका लक्षण गध है वह गध पृथिवीमें रहता है और पृथिवी अपने अवयवोमे रहती है इसलिये इस लक्षणमे असभव दोष आता है।"

१ यहाँपर टीकाकारने लक्ष्य और लक्षणके विषयमें एक अधिकरणका नियम मानकर उस नियमके अभावमें जो जो यह आपत्ति दी है कि घटका लक्षण पट भी मानना पडेगा, वह ठीक नही, कारण कि दूध और जल ये दोनो पदार्थ एक पात्रमें रखे जा सकते है तो उस अवस्थामे दूध और जलमे परस्परके लक्ष्य लक्षणभावकी आपत्ति एक अधिकरणके माननेपर भी बनी रहती है। रस और रूप तो सर्वदा एक ही अधिकरणमे रहते है, इसलिये इनमे तो यह आपत्ति स्पष्ट ही है।

२ स्वय न्यायदीपिकाकारने भी लक्ष्य और लक्षणका एक अधिकरण स्वीकार नही किया है, अग्निका लक्षण उष्णपना और देवदत्तका लक्षण दण्ड इन दोनो लक्षणोमे लक्ष्य और लक्षणका एक आधार कोई भी विद्वान स्वीकार नही करेगा।

३ आगे चलकर जो यह लिखा है कि "नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमे रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोमे रहता है", यह लिखना भी ठीक नही, कारण एक तो लक्ष्य और लक्षणकी एकाधिकरणता लक्ष्य-लक्षणभावकी नियामक नही, जवकि लक्ष्य सर्वदा लक्षणका आधार ही रहता है। दूसरी वात यह है कि नैयायिकके मतानुसार गुणका लक्षण तो गुणमे रहता है और गुण द्रव्यमें रहता है न कि अपने अवयवोमें,

तव हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमे रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोमे रहता है। यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षासे यह कथन सम्मत कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ पर लक्ष्य-लक्षणभावका सामान्य कथन होनेके कारण ऐसा लिखना समालोच्य अवश्य है।

अब मैं पाठकोके सामने उस अर्थको रखता हूँ जो संगत मालूम होता है। वचनका अर्थ वाक्य या शब्द होता हैं। लक्षणके कथनमे दो वाक्य होते हैं—१ लक्ष्यवाक्य, २ लक्षणवाक्य। नैयायिक असाधारण-धर्मवचनको लक्षण मानता है, इसलिये उसके अनुसार जब लक्षण धर्मवचन हुआ तो लक्ष्यको र्धामिवचन मानना होगा, कारण किसी पदार्थका आसाधारणधर्म जब उस पदार्थका लक्षण माना जाता है तो लक्ष्यपदार्थ र्धामिरूप ही सिद्ध होता है।

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, गंधवती[1] पृथ्वी" इनमे सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका और गधवत्व या गध पृथिवीका लक्षण है इसलिये 'सम्यग्ज्ञान' और 'गधवती' ये दोनो वचन लक्षणवचन है और 'प्रमाण' तथा 'पृथिवी' ये दोनो लक्ष्यवचन है। यहाँपर सम्यग्ज्ञानपदवाच्य जो वस्तु है वही प्रमाणपदवाच्य है तथा गधवतीपदवाच्य जो वस्तु है वही पृथिवीपदवाच्य हैं। इस प्रकार लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका सामानाधिकरण्य मानना पडता हैं, कारण बिना सामानाधिकरण्यके समानविभक्तिक प्रयोग नही हो सकते।

[2]भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले शब्दोको एक अर्थमे वृत्तिको सामानाधिकरण्य कहते है। यहाँ पर वृत्तिका अर्थ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकभावरूप माना गया है। "सम्यग्ज्ञान प्रमाण" इसमें 'सम्यग्ज्ञानं' इस लक्षणवचनका प्रवृत्तिनिमित्त सम्यग्ज्ञानत्व है, 'प्रमाणं' इस लक्ष्यवचनका प्रवृत्तिनिमित्त प्रमाणत्व है। इस तरह भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले ये दोनो शब्द एक ही अर्थके बोधक है अर्थात् सम्यग्ज्ञान-शब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ प्रमाणशब्दसे जाना जाता है, कारण कि जो वस्तु सम्यग्ज्ञान है वही तो प्रमाण है। इसी प्रकार गन्धवत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले गन्धवतीशब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले पृथिवीशब्दसे जाना जाता है, कारण जो पदार्थ गन्धवान् है वही तो पृथिवी है। इस तरह लक्ष्यवचन और लक्षणवचन एक ही अर्थके प्रतिपादक होनेसे वे समानाधिकरण सिद्ध होते हैं। नैयायिकके मतानुसार लक्ष्यवचन र्धामिवचनरूप और लक्षणवचन धर्मवचन रूप ही सिद्ध होते है। लेकिन र्धामिवचन और धर्मवचन कभी भी एक अर्थके प्रतिपादक नही होते हैं—धर्मवचन धर्मका ही प्रतिपादन करता है और र्धामिवचन र्धामीका ही प्रतिपादन करता है, इसलिये इन दोनोमें एकार्थप्रतिपादनरूप सामाना-धिकरण्यका अभाव प्राप्त होता है, वह उचित नही कहा जा सकता हैं, कारण कि लक्ष्यवचन और लक्षण-वचनमे सामानाधिकरण्य "सम्यग्ज्ञान प्रमाण, गन्धवती पृथ्वी" इत्यादि स्थलोमे माना गया है, इसलिये नैयायिकके द्वारा माना हुआ लक्षणका लक्षण ठीक नही है। उसमे असम्भव दोष आता है।

२. आप्तपरीक्षा

"स्यान्मत पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि नवद्रव्याणि। द्रव्यपदस्यार्थ इति (चेत्), कथमेको द्रव्यपदार्थ ? सामान्यसज्ञाभिधानादिति चेन्न सामान्यसज्ञाया सामान्यवद्विपयत्वात्। तदर्थस्य सामान्यपदार्थत्वे ततो विशेष्वप्रवृत्तिप्रसगात्; द्रव्यपदार्थस्यैकस्यासिद्धेश्च" (पृष्ठ ४, पुराना सस्करण)।

१. नैयायिक मतानुसार।

२ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्ति मामानाधिकरण्यम्।
—सिद्धान्तकौमुदी व्याकरण, न्या० त० बोधनी टीका।

बहुधा विद्यालयोमें इस स्थलपर "सामान्यवद्विषयत्वात्" के स्थानमें 'सामान्यविषयत्वात्' ऐसा पाठ सुधार दिया जाता है तथा अभी इस ग्रन्थका नवीन सस्करण कठनेराजीने निकाला है। उसमे तो "वत्" शब्दको बिलकुल निकाल दिया गया है। मेरी समझसे संशोधकोका कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे जिस पाठको अशुद्ध समझें उसका पाठान्तर कर दे, यह रीति बहुत ही आदरणीय मानी जा सकती है क्योकि कही-कहीपर शुद्ध पाठको अशुद्ध समझ कर निकाल देनेमें शुद्ध पाठकी खोजके लिये बहुत कठिनाई उठाना पडती है।

ऊपर लिखा पाठ ही शुद्ध है। अभी तक जो हमारे विद्वान "वत्" शब्दको निकालकर अर्थ करते आ रहे है वह अशुद्ध है। इसका विचार करनेके लिये इस स्थलका अर्थ यहाँ लिखा जाता है।

यहाँपर वादी वैशेषिक द्रव्यपदार्थको एक सिद्ध करना चाहता है। लेकिन वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नवको द्रव्यपदका अर्थ स्वीकार करता है, इसलिये उससे प्रश्न किया गया है कि जब तुम द्रव्यपदके नव (नौ) अर्थ मानते हो तो एक द्रव्यपदार्थ कैसे सिद्ध होगा? इसके उत्तरमे वह कहता है कि 'द्रव्य' यह पद नौकी सामान्यसंज्ञा है। वह समझता है कि सामान्यसज्ञाका वाच्य सामान्य ही हो सकता है, इसलिये द्रव्यपदका सामान्यरूप एक अर्थ सिद्ध होनेमे कोई बाधा नही हो सकती है। इसपर ग्रन्थकारने निम्न प्रकार बाधायें उपस्थित की है—

(१) सामान्यसज्ञाका सामान्य विषय (वाच्य) नही होकर सामान्यवान् विषय होता है क्योकि जिस शब्दके श्रवणसे जिस पदार्थमे लोगोकी प्रवृत्ति देखी जाती है उस शब्दका वही अर्थ माना जाता है। "द्रव्य-मानय", "द्रव्यं पश्य" इत्यादि वाक्योसे पृथिवी, जल आदि विशेषमे ही आनयन व देखनेरूप मनुष्योकी प्रवृत्ति देखी जाती है, द्रव्यत्वसामान्यमें नही, इसलिये द्रव्यपदके द्रव्यत्वसामान्यवान् पृथिवी, जल आदि विशेष नौ पदार्थ ही अर्थ सिद्ध होगे, एक सामान्यपदार्थ नही।

(२) यदि द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य ही अर्थ माना जाय तो द्रव्यपदके श्रवणसे पृथिवी, जल आदि विशेषमे मनुष्योकी प्रवृत्ति नही होना चाहिये, लेकिन होती है, इसलिये द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य अर्थ युक्ति-सगत नही कहा जा सकता है।

(३) किसी तरहसे द्रव्यत्वसामान्य-अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी द्रव्यपदार्थ एक सिद्ध न होगा। इसका कारण ग्रन्थमे इस स्थलके आगे स्पष्ट किया गया है, यहाँपर उपयोगी न होनेसे नही लिखा है।

मुझे आशा है कि अब अवश्य ही इन स्थलोके अर्थमे सुधार किया जायगा और यदि मेरे लिखनेमे कोई त्रुटि होगी तो विद्वान पाठक मुझे अवश्य ही सूचित करेंगे।

इस लेखपर स्व० प० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशीने अपना अभिप्राय निम्न रूपमें प्रकट किया था।

जैन मित्र(४ मई १९३३) मे भाई वशीधरजी व्याकरणाचार्यका "अर्थमे भूल" शीर्षक लेख देखा। मैं पडितजीकी इस उपयोगी चर्चाका अभिनन्दन करता हूँ। प० खूबचन्द्रजी कृत न्यायदीपिकाकी हिन्दी टीका तथा प० जीके अर्थका मिलान किया। इस विषयमे मेरे विचार निम्न प्रकार हैं—

न्यायदीपिकाकारने लक्षणके दो भेद किये है—(१) आत्मभूत, (२) अनात्मभूत। अनात्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना जरूरी नही, क्योकि वह लक्षण वस्तुस्वरूपमें मिला हुआ नही होता, भिन्न पदार्थ ही

इसमें लक्षक होता है। 'दण्डः पुरुषस्य' इस लक्षणमे यदि एकाधारवृत्तित्वलक्षण सामानाधिकरण्य नही है तो एकार्थप्रतिपादकत्वलक्षण सामानाधिकरण्य भी नही है। जिस तरह 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाण', इस लक्षणमे भी जो सम्यग्ज्ञानपदवाच्य है वही तो प्रमाणपदवाच्य है या जो प्रमाणपदवाच्य है वही तो सम्यग्ज्ञानपद वाच्य है ऐसा एकार्थप्रतिपादकत्वेन सामानाधिकरण्य होता है वैसा 'दण्डःपुरुषस्य' यहाँपर "जो पुरुपपद-वाच्य है वही दण्डवत्वपदवाच्य है या जो दण्डवत्वपदवाच्य है वही पुरुपपदवाच्य" ऐसा नियम नही है, क्योकि दण्डवत्वाभावमे भी पुरुष और पुरुषाभावमे भी दण्डवत्व हो सकता है। परन्तु आत्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना अत्यावश्यक है। वह सामानाधिकरण्य यदि एकार्थप्रतिपादकत्वेन हो सकता है तो एकाधारवृत्तित्वेन होनेमे कोई बाधा नही है क्योकि आत्मभूतलक्षण वस्तुस्वरूपात्मक होता है। स्वरूपसे कथञ्चित्तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओमे भिन्नाधिकरणता सभव ही नही है अन्यथा स्वरूप-स्वरूपवद्भाव ही न हो सकेगा।

यह आपत्ति भी ठीक नही है कि दूध और जलमे एक भाजनवृत्तित्वेन सामानाधिकरण्य एव रूप और रसमे अभिन्नद्रव्याधारतया सामानाधिकरण्य जब है तो लक्ष्यलक्षणभाव होना चाहिये, क्योकि लक्ष्यलक्षण-भाव व्याप्य है सामानाधिकरण्य व्यापक; इसलिये जहाँ-जहाँ लक्ष्यलक्षणभाव (आत्मभूतीय) होगा वहाँ-वहाँपर सामानाधिकरण्य अवश्य होगा, किन्तु सामानाधिकरण्य होनेपर लक्ष्यलक्षणभाव होना जरूरी नही है।

'अग्नेरौष्ण्य' यहाँपर एकाधिकरण है क्योकि जो औष्ण्यका आधार है वही तो अग्निका है कथं-चित्तादात्म्य होनेसे भिन्नाधिकरणता कदापि सम्भव नही', अन्यथा गुणगुणिभावका लोप हो जायगा। नैया-यिकके यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म आदि स्वतंत्र पदार्थ है। इनमे समवायसम्बन्ध होता है कथचित् तादात्म्यसम्बन्ध उसने माना नही है। इसलिये उसके यहाँ द्रव्यका लक्षण द्रव्यमे रहेगा तो द्रव्य अपने अवयवोमे, इस तरह भिन्नाधिकरणता, गुणका लक्षण गुणमें, गुण द्रव्यमे इस तरह भिन्नाधिकरणता, कर्मका लक्षण कर्ममे, कर्म द्रव्यमें इस तरह भिन्नाधिकरणता सर्वत्र बनी रहती है, इसलिये असम्भवदोप बाधितलक्ष्यवृत्ति होनेसे आ जाता है।

न्यायदीपिकाकारने आत्मभूतलक्षणको जो पृथक् किया है उसका अन्तरगकारण सामानाधिकरण्यकी आवश्यकता ही है। आशा है कि इस ग्रन्थको लगाते समय इन बातोका ध्यान अवश्य रखा जायगा।

जैनमित्र, ता० ८ जून सन् १९३३, अंक ३२ वर्ष ३४ मे प्रकाशित।

इसका उत्तर हमने निम्नलिखित दिया।

बन्धुवर प० महेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्या० महाविद्यालय काशीने मेरे द्वारा किये गये न्यायदीपिकाके अर्थमे मतभेद दिखलाते हुए कुछ विचार प्रकट किये है।

पं० जीका आशय है कि "आत्मभूतलक्षणमे मामानाधिकरण होना आवश्यक है वह एकार्थप्रति-पादकत्वरूप या एकाधारवृत्तित्वरूप हो सकता है। अनात्मभूतलक्षणमे सामानाधिकरण्य आवश्यक नही, चाहे वह एकार्थप्रतिपादकत्वरूप हो या एकाधारवृत्तित्वरूप हो।"

यह बात ध्यानमे रखना चाहिये कि एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य शब्दवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमे रहेगा, एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य अर्थवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्य-वस्तु और लक्षणवस्तुमे पाया जायगा।

मेरा खयाल है कि आत्मभूतलक्षणमें भी अनात्मभूतलक्षणकी तरह लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमें एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका सद्भाव अथवा उसका ज्ञान लक्ष्यलक्षणभावका प्रयोजक नहीं, यदि माना जाय तो नैयायिकको कभी भी गन्धवतीशब्दसे पृथ्वीका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि गंध और पृथ्वीका एक आधार नहीं होनेसे लक्ष्यलक्षणभाव नहीं बन सकता है। और तो क्या जैनी भी यदि नैयायिकके ग्रन्थोंमें गन्धवती शब्दको देखते हैं तो उसका अर्थ पृथ्वी ही करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि नैयायिकने गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार किया है उसके यहाँ पृथ्वीका बोधक गन्धवतीशब्द लाक्षणिक है, सांकेतिक नहीं। इसलिये हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके यहाँ लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमें भिन्नाधिकरणता रहनेसे असाधारणधर्म रूप लक्षणमें असम्भव दोष आता है जबकि उसके मतानुसार हम गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार कर लेते हैं। 'गंध पृथ्वीका लक्षण' हम (जैनी) इसलिये नहीं करते कि इसमें असभव दोष आता है किन्तु इसलिये नहीं करते हैं कि गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म नहीं है, कारण कि (जैन मान्यतानुसार) जलादिकमें भी गंध पाया जाता है। लक्षण पदार्थका ज्ञापक माना गया है। नैयायिककी मान्यतानुसार गन्ध पृथ्वीका ज्ञापक सिद्ध होता ही है, भले ही उनमें एकाधिकरण्य न हो। इसलिये इस ढंगसे असम्भव दोष बतलाना सगत नहीं कहा जा सकता है। जो लक्षण लक्ष्यमें न पाया जाय, उसको असभवित कहते हैं, नैयायिक असाधारणधर्मको लक्षण मानता है तथा उसके यहाँ गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म है अर्थात् गन्ध पृथ्वीरूप लक्ष्यमें रहता है तो यह लक्षण बाधितलक्ष्यवृत्ति कैसे हो सकता है? 'गन्धवज्जल' यह लक्षण उसके मतसे असभवित है क्योकि वह बाधितलक्ष्यवृत्ति है।

जैनियोंने लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद स्वीकार किये है। नैयायिक इन भेदोको नहीं मानता, तब यदि वह 'गन्धवती पृथ्वी' इस लक्षणको 'दण्डी पुरुष' की तरह अनात्मभूत स्वीकार कर ले तो फिर उसके यहाँ इस लक्षणमे असभव दोष कैसे आ सकता है? इतने पर भी यदि एकाधारवृत्तित्त्वरूप सामानाधिकरण्यके अभावसे यहाँपर असभव दोष माना जाय तो 'दण्डी पुरुष' इस अनात्मभूतलक्षणमे वह दोष क्यो नही होगा? यह बात विचारने योग्य है। दूध और जल तथा रूप और रसमे जब एकाधारवृत्तित्व है तो वहाँ पर लक्ष्य-लक्षण भावकी आपत्ति बिल्कुल स्पष्ट है। यद्यपि सामानाधिकरण्यको व्यापक और लक्ष्यलक्षणभावको व्याप्य मान लेनेसे यह आपत्ति नही रहती, किन्तु विचारना यह है कि ऐसा व्याप्य-व्यापकभाव सगत है या नही?

अनात्मभूतलक्षणमे एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका अभाव रहनेपर भी लक्ष्य-लक्षणभाव स्वीकार किया गया है, इसलिये लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य नही हो सकता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव उक्त सामानाधिकरण्यका व्याप्य है अनात्मभूतीय नही, इस तरहके भेदका कोई नियामक नही, जबकि दोनो जगह समानरूपसे लक्ष्य-लक्षणभाव पाया जाता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव भी सामानाधिकरण्यका व्याप्य सिद्ध नही होता है, कारण कि जैसा एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकारण्य रूप और रस तथा दूध और जलमे पाया जाता है वैसा अग्नि और उष्णतामे नहा पाया जाता, इस प्रकार जब अग्नि और उष्णतामे सामानाधिकरण्याभाव ही सिद्ध होता है तो लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य कैसे हो सकता है?

रूप और रस तथा दूध और जलमे सामानाधिकरण्य रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षणभाव आप स्वीकार नही करते है। इससे सुतरा सिद्ध होता है कि लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नही, बल्कि दूसरा ही कोई कारण है जिससे पदार्थोमे लक्ष्य-लक्षणभावकी कल्पना की जाती है। इसलिये आत्मभूतलक्षण-

मे लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक लक्ष्य और लक्षणवस्तुओका एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यको मानना ठीक नही है। आत्मभूतलक्षणमे उक्त सामानाधिकरण्यको लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक माननेमे एक दोष यह भी है कि जब अनात्मभूतलक्षणमे भी लक्ष्यलक्षणभाव रहता है तो वहाँपर भी उसका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य भी रहना चाहिये, अन्यथा अनात्मभूतलक्षणमे लक्ष्य-लक्षणभावका अभाव मानना पडेगा।

यदि कहा जाय कि उक्त सामानाधिकरण्य लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक नही, किन्तु लक्षण ही आत्मभूतताका प्रयोजक है तो प्रथम तो लक्ष्य-लक्षणभावमे इसके माननेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती है, दूसरे लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नही है, कारण अग्निका लक्षण उष्णता है उष्णताका आधार अग्नि है, यह तो ठीक है किन्तु अग्निको स्वका भी आधार मान करके सामानाधिकरण्यकी कल्पना युक्ति और अनुभवसे विरुद्ध जान पडती है। तीसरे, ऐसा सामानाधिकरण्य तो अनात्मभूतलक्षणमें भी रह सकता है क्योकि जिस पुरुषके हस्तमें जो दण्ड रहता है वही दण्ड लक्षक होता है और वह भी उसी पुरुष का, वह दण्ड दूसरे पुरुषका लक्षक नही, तथा दूसरा दण्ड उस पुरुषका लक्षक नही, ऐसी हालतमे उस दण्डका आधार वह पुरुष है—जिस तरह कि उष्णताका आधार अग्नि होता है तथा उस पुरुषको स्वका आधार मान लेना चाहिये, जिस तरह कि अग्निको स्वका आधार मान लिया गया है, इस तरहसे लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद असगत ठहरते है। इसलिये एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक सिद्ध नही होता है। लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभुत भेदोका प्रयोजक अपृथक्पना और पृथक्पना है। उष्णताको अग्निसे कभी भी पृथक् नही कर सकते, जबकि दण्ड और पुरुष दोनो पदार्थ पृथक् सिद्ध हैं।

जैनियोने स्वरूप-स्वरूपवान तथा गुण-गुणीमे तादात्म्यसम्बन्ध माना है। तादात्म्यका अर्थ भेद और अभेद है, स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव भेदका नियामक है, कारण स्वरूप और स्वरूपवानमे तथा गुण और गुणीमे भेद माननेसे ही स्वरूपस्वरूपवद्भाव और गुणगुणिभावकी कल्पना हो सकती है, अभेद माननेसे अग्नि स्वरूपवान या गुणी है और उष्णता उसका स्वरूप या गुण है ऐसा भान या कथन नही हो सकता है। अभेद मानते इसलिये है कि उष्णता अग्निका ही स्वरूप है अन्यका नही। उष्णताको छोडकर अग्निकी स्वतत्र सत्ता निर्धारित नही कर सकते, यही तादात्म्यसम्बन्धका अभिप्राय है। उष्णताका आधार अग्नि है या उष्णता अग्निका लक्षण है, यह कथन भी भेददृष्टिसे हो हो सकता है, अभेदकी अपेक्षासे आधाराधेयभाव या लक्ष्यलक्षणभावकी कल्पना कदापि सभव नही। तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओमे भिन्नाधिकरणता भले ही आप न माने, लेकिन उनमे एकाधिकरणता सभव नही, अथवा एकाधिकरणता स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव, आधाराधेयभाव, लक्ष्यलक्षणभाव आदिकी नियामक नही, यह वात स्पष्ट हो चुकी है।

अब हमको थोडा न्यायदीपिकाके शब्दोपर भी ध्यान देना चाहिये। न्यायदीपिकाकारने लक्ष्यधर्मिवचन और लक्षणधर्मवचनमे सामानाधिकरण्यके अभावका प्रसग वतलाया है, न कि लक्ष्यवस्तु और लक्षणवस्तुमे। इसलिये वह भी सामानाधिकरण्य एकार्थप्रतिपादकत्वरूप ही हो सकता है और वह आत्मभूत एव अनात्मभूत दोनो तरहके लक्षणवाक्योके लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें समानरूपसे पाया जाता है। जिस प्रकार 'सम्यग्ज्ञान प्रमाण' यहापर सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका लक्षण है, इसलिये 'सम्यग्ज्ञान यह पद लक्षणवचन है और प्रमाण लक्ष्य है, इसलिये 'प्रमाण' यह पद लक्ष्यवचन है। ये दोनो वचन एकार्थके प्रतिपादक है क्योकि सम्यग्ज्ञानवस्तुको छोड़कर प्रमाण कोई दूसरी वस्तु नही। इसी प्रकार 'दण्डी पुरुष' यहापर दण्डित्व (दण्ड)

पुरुषका लक्षण है इसलिये 'दण्डी' यह पद लक्षणवचन है और पुरुष लक्ष्य है इसलिये 'पुरुष.' यहाँपर लक्ष्य-वचन है। ये दोनो वचन भी एकार्थके प्रतिपादक हैं क्योकि दण्डीशब्दसे दण्डविशिष्टका बोध होता है। दण्ड-विशिष्ट यहाँपर पुरुषपदार्थ है वही पुरुषपदार्थ पुरुषशब्दका भी अर्थ होता है। इस तरह अनात्मभूतलक्षणमें भी लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य रहता ही है। जहाँ यह नही हो, वह लक्षण दूषित कहा जाता है। जैसे 'विषाणी पुरुषः' यहाँपर 'विषाणी' इस लक्षणवचनका विषाणविशिष्ट अर्थ होता है लेकिन पुरुषपदार्थ विषाणविशिष्ट नही होता, इसलिये विषाणी और पुरुषः' इन दोनो वचनोमें एकार्थ-प्रतिपादकत्वका अभाव होनेसे यह लक्षण असभवित कहा जाता है।

जैनमित्र, २४ अगस्त १९३३, अक ४३ वर्ष २४
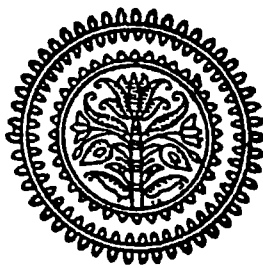
साहित्य और इतिहास

१ वीराष्टकम्, समस्या—कान्ताकटाक्षाक्षतः (क्षताः)

२. समयसारकी रचनामे आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि

३. तत्त्वार्थ-सूत्रका महत्व

४. जैन व्याकरणकी विशेषताएँ

५. षट्खण्डागमके 'संजद' पदपर विमर्श

६. सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता ।

७. जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान

८. युगधर्म बननेका अधिकारी कौन् ?

९. ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति

●

वीराष्टकम्
[समस्या–कान्ताकटाक्षाक्षतः (क्षताः)]

य कल्याणकरो मतस्त्रिजगतो लोकश्च यं सेवते ।
येनाकारि मनोभवो गतमदो यस्मै भवः क्रुध्यति ॥
यस्मान्मोहमहाभटोऽपि विगतो यस्य प्रिया मुक्तिरमा ।
यस्मिन्स्नेहगत. स नो भवति क कान्ताकटाक्षाऽक्षत. ॥ १ ॥

यस्याधृष्यमत मत जनहित सद्धर्मषाणोपलम् ।
नम्रीभूतसुरेन्द्रवृन्दमुकुटे पादच्छलात्सङ्गतम् ॥
भव्यैरप्यनुगीयमानयशसा व्याक्रान्तलोकत्रय ।
यस्माद्योऽस्ति नयार्पणां[1] दधदनेकान्ताऽकटाऽऽक्षाऽक्षत ॥ २ ॥

यस्य प्रेङ्खदखर्वकांतिमणिभि–प्रोद्योतितामातता–
मास्थानावनिभागतैर्दिविरतै. प्रक्रान्ततूर्यत्रिकाम् ॥
तामालोक्य भवाङ्गभोगनिरता मिथ्यादृशोऽप्यादृताः ।
सम्यक्त्वं विभव भवन्ति [2]कुनयैकान्ताऽऽकटाक्षाऽक्षता ॥ ३ ॥

ये प्राक् त्रासमुपागता मतिहता वाण्या कृपाण्या परेऽ-
नीतिज्ञानलवोद्धता गतपथास्तत्त्वार्थके[3] सङ्गरे ॥
निक्षिप्ता सुनयप्रमाणभुवि ते चेतश्चमत्कारिणो ।
येन ज्ञानसमाहिता खलु कृता कान्ताकटाक्षाऽक्षता. ॥ ४ ॥

यस्य प्रार्चनभक्तिचञ्चितमना भेकोऽपि तत्कोपिना ।
दैवेन प्रहतोऽप्यभूदमरभूकान्ताकटाक्षाऽऽक्षताः[4] ॥
तत् किं यस्य पदार्चने कृतधियः सामोदभावेन हि ।
जायन्ते भवयोषितां शिवरमाकान्ताः कटाक्षाऽक्षता ॥ ५ ॥

यस्याद्य[5] भ्रमरावलीव कमले[6] भव्यावलीमन्दिरे ।
सम्फुल्लत्कमलावली परिकनद्दीपावली विन्दती ॥

---

१ नयार्पणा नयविवक्षा दधत् दधानो योऽनेकान्त एकत्र वर्तमानसत्त्वासत्त्वादिरूपस्तस्य, अकट-कटति गच्छति नश्यतीति यावत्, कटम् (पचाद्यच्प्रत्यय) विनशनशील, न कटमकटमविनाशि तच्च तद् आक्षम्, अक्ष आत्मा, स्वाभाव्येन तत्संबधि-आक्ष ज्ञानम्, अकटाक्ष केवलज्ञान, तेन अक्षतो व्याप्त इत्यर्थ. ।

२ कुत्सिता नया कुनयास्तद्विपयभूतस्तद्रूपो वा य एकातस्तस्य, आकटाक्षा –ईषत्कटाक्षा (आङ्ईषदर्थे) तैरपि, अक्षता अविद्धा भवन्तीत्यन्वय ।

३. तत्त्वं स्वसिद्धान्त शत्रुपक्षे–स्वाभिलापारूपमर्थ प्रयोजन यस्य स तस्मिन्, सगरे प्रतिज्ञावाक्ये । अत्रेद तात्पर्यम् प्रतिज्ञावाक्यमुपन्यस्यन्त एव परे त्रासमुपागता, न तु तै हेत्वाद्युपन्यस्तम्, पक्षे–सङ्गरे युद्धे ।

४. अमरभू स्वर्ग., तस्या कान्ता अमराङ्गना, तासा कटाक्षै आक्षत –आ समन्तात् क्षत ।

५ अद्य श्रीवीरभगवतो निर्वाणदिवसे । ६. जलविशिष्टसरोवरे ।

५–१

चेतस्याप्तमुदावलीति तु वरं चित्रं विचित्रं न्विद[1]-
मेका[2] कामवशाऽपरा[3] भवति नो कान्ताकटाक्षाक्षताः[4] ॥ ६ ॥
वीर· सोऽस्तु मम प्रसन्नमतये तं सङ्गतोऽहं तत ।
सूक्त तेन हितं मतं जगदतो वीराय तस्मै नमः ॥
अन्यो नास्ति ततः प्रियङ्कर इतस्तस्य स्मृतिर्मे हृदि ।
वीरे तत्र रतो भवान्ययमहं कान्ताकटाक्षाऽक्षत ॥ ७ ॥

व-शोन्नत्यकरोऽप्यसौ नरपतेः सिद्धार्थकस्यात्मभू ।
शी-लेनाधिकृताहितोऽपि तपसास्त्रेण प्रकृत्[5] कर्मणाम् ॥
ध-न्यानामिति विस्मयं विदधती पूर्वं तु पश्चात् प्रभो-
र-स्येयं कृतिरातनोतु[6] कमनक्काऽन्ताऽकटाक्षाऽऽक्षत ॥८॥

●

---

१. न्विति नन्वर्थे ।

२ भ्रमरावली ।

३ भव्यावली ।

४. कान्ताना कटाक्षै आक्षता—इतिच्छेदस्तस्य आ—ईषदपि क्षता विद्धा नो भवतीत्यर्थ इति चित्रम्, भ्रमरावलीभव्यावलीयुगलस्य प्रदर्शितसादृश्येऽपि विरुद्धकरणमिति चित्रत्व स्पष्टमेव । किञ्च कान्ताना कटाक्षै अक्षता—इतिच्छेद तस्य न क्षतेति अक्षता—अविद्धा नो भवतीत्यर्थः, इति विचित्र विगतचित्रमित्यर्थ । भ्रमरावलीभव्यावलीद्वयस्य यत्पूर्वं सादृश्य प्रदर्शित तदधुनापि वर्तते एवेति चित्रत्वाभाव । परमेतस्मिन्नर्थे भव्यावल्यपि, वीरभगवतो जिनालय सम्प्राप्तापि, भगवतो निर्वाणमहोत्सव विदधानापि, तत्रामोद दधानापि कान्ताकटाक्षैरक्षता न भवतीतिविशेषण चित्रतेति ।

५. प्रकर्षेण कृन्तति छिनत्तीति प्रकृत् ।

६. नश्यतीति नक्, न नक् अनक्, अविनाशि, अनन्तमिति यावत्, तच्च तत्क सुख, तद् अन्त· स्वभावो यस्येति अनक्कान्त अत्र अनन्तसुखसाहचर्याद् अनन्तज्ञानादिकमपि सगृहीत भवतीति अनन्तचतुष्टयस्वरूप इति तात्पर्यम्, स चासौ अश्च विष्णुर्व्यापक इत्यर्थ । भगवतो वीरस्य सकलपदार्थविषयज्ञानवित्वात् व्यापकत्वमक्षतम् इति अनक्कान्ता भगवान् वीर एव तस्य कटाक्षा· तेभ्यो जात यद् आक्ष ज्ञान तस्मादिति (तसिल् प्रत्यय) तस्माद्धेतो अस्य प्रभोरियमस्य श्लोकस्य पूर्वार्धे दर्शिता कृति क—सुखमातनोतु विस्तारयतु, धन्यानामिति पूर्वेण सम्बन्ध· । पूर्वं विस्मयकरी पश्चात्तु भगवत्प्रसादात् ज्ञानलाभात् सुखकरी भवतु कृतिरियं भगवत इति भाव । एव वंशीधरस्येय वीरस्तुतिरूपकृति· भगवत· प्रसादजन्यज्ञानलाभात् सुखकरी भवतु धन्यानामित्यपि बोध्यमिति ।

समयसारकी रचनामें आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि

समयसारका आलोडन करनेसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि उसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्दने इस दृष्टिसे की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि इसे पढकर इसके अभिप्रायको समझें और उस अभिप्रायके अनुसार अपनी जीवनप्रवृत्तियोको नैतिक रूप देनेका दृढ सकल्प करें, जिससे वे जीवनके अन्ततक सुखपूर्वक जिन्दा रह सके।

इस प्रकार अपनी जीवनप्रवृत्तियोको नैतिक रूप देनेवाली मानवसमष्टिमेसे जो मानव जितने परिणाम मे अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलम्बनताका अपनेमें विकास कर ले, उतना वह आध्यात्मिक (आत्म-स्वातन्त्र्यके) मार्गका पथिक बन सकता है।

जीवके भेद

जैनशासनमे जीवोके संसारी और मुक्त दो भेद बतलाये गये है। (देखो, त सू., अ. २ का "ससारिणो मुक्ताश्च" सू० १०)।

इस सूत्रसे यह भी ज्ञात होता है कि ससारकी समाप्तिका नाम ही मुक्ति है और जो जीव ससारसे मुक्त हो जाते है, वे ही सिद्ध कहलाते है। जैनशासनके अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नही है। जैसा कि इतर दार्शनिकोने माना है।

संसारी जीवोंके भेद

जैनशासनके अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकारके है। उनमेंसे भव्य जीव वे हैं जिनमें ससारसे मुक्त होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यता विद्यमान हो और अभव्य जीव वे है, जिनमें उस स्वभावसिद्ध योग्यताका सर्वथा अभाव हो।

भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके जीव अनादिकालसे पौद्गलिक कर्मोसे बद्ध होनेके कारण उन कर्मोके प्रभावसे अनादिकालसे ही यथायोग्य नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोमे परिभ्रमण करते आये है और अपनी स्वावलम्बनशक्तिको भूलकर यथासभव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनताकी स्थितिमे रहते आये है, तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें रहते हुए सतत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये है। ऐसे जीवोको समयसार गाथा १२ से लेकर गाथा २३ तक अपनेसे भिन्न पदार्थोमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि होनेके कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है। तथा ये जीव अप्रतिबुद्ध क्यो है, इस बातको समयसार गाथा-२४ और २५ मे आगम और तर्कके आधारपर सिद्ध किया गया है।

यद्यपि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन सभी गतियोके जीव इस प्रकारसे अप्रतिबुद्ध हो रहे है, और सभी गतियोके बहुतसे जीव इस अप्रतिबुद्धताको समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते है, परन्तु जीवोको मुक्तिकी प्राप्ति मनुष्यगतिसे ही हो सकती हैं। इसलिए समयसारमे जो विवेचन किया गया है वह मानवसमष्टिको लक्ष्यमे रखकर ही किया गया है।

जैनशासनके अनुसार भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके जीव मुक्तिके मार्गमे प्रवेश कर सकते है, क्योंकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यताकी पहिचान कर सकते है और न अभव्य जीव अपनी अभव्यताकी पहिचान कर सकते है इसलिए भव्य जीवोके समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझकर मुक्तिके मार्गमे

प्रवृत्त होते है । समयसार गाथा १७५ मे बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीवके समान मोक्षके मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमे रुचि रखता है और उसमे प्रवृत्त भी होता है । इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्तिका कारण न होकर यथायोग्य सासारिक सुखकी वृद्धिका ही कारण होता है ।

तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकारके जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके प्रभावमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवोके समान धर्माचरण करते है । और इस प्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवोंके समान अपनेमे क्षयोपशम, विशुद्धि देशना और प्रायोग्य लब्धियोका विकास कर लेते है जिनके प्रभावसे वे नवम ग्रैवेयिक तक स्वर्गमे भी उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वे भव्य जीवोके समान आत्मविशुद्धिको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप नही बना सकते है, क्योकि जैनशासनमे बतलाया गया है कि उसी जीवकी आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शनरूप होती है जिसने दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो । इसी प्रकार आत्माकी विशुद्धि देशव्रतरूप उसी जीवकी होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन और अनन्तानुबन्धी कषायकी चार इन सात प्रकृतियोके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके साथ अप्रत्याख्यानावरण कषायकी चार प्रकृतियो-का क्षयोपशम किया हो, तथा आत्माकी विशुद्धि सर्वव्रतरूप उसी जीवकी होती है, जिसने उक्त दर्शनमोहनीय कर्मकी तीन, अनन्तानुबन्धी कपायकी चार इन सात प्रकृतियोके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्या-ख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम किया हो ।

इसका भाव यह है कि मिथ्यात्वगुणस्थानमे मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोका यथासम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीवमें होता है, जो भव्य हो । तथा, उस जीवमें वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है, जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है । वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धिको प्राप्त करता है अर्थात् क्रमश अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोको प्राप्त होकर मोहनीयकर्मकी उक्त प्रकृतियोका यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है । उसे करणलब्धिकी प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसारमें प्रतिपादित भेदविज्ञानको प्राप्त कर लेता है । वह उक्त भेदविज्ञानको तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियो को प्राप्त कर लेता है । वह इन चार लब्धियोको तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरणके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ देशव्रतके रूपमें अथवा नैतिक आचरणके साथ सर्वव्रतके रूपमे मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक आगममे वर्णित व्यवहारधर्मको अगीकार करता है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मको अगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्ध, वेदना और प्रायोग्य इन लब्धियोको प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यताके कारण उक्त भेदविज्ञानको प्राप्त नही होता है । समयसार गाथा १७५ का यही अभिप्राय है ।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि उन भव्य और अभव्य जीवोको उक्त चार लब्धियोकी प्राप्ति नही होती है जो उक्त प्रकारके व्यवहारधर्मोको अगीकार तो करते है, परन्तु मन, वचन और कायके समन्वयपूर्वक नही अंगीकार करते हैं ।

इस विवेचनसे निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती भव्य जीवको ही उपर्युक्त क्रमसे भेद-विज्ञानकी प्राप्ति होती है, अभव्य जीवोको नही ।

समयसारकी बेजोड व्याख्या करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्रके कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामें मुमुक्षु जीवके लिए मुक्तिकी प्राप्तिमे भेदविज्ञानको प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ उन कलशपद्योको उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरताना भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलभः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थिताना,
भवति सति च तस्मिन्नक्षय कर्ममोक्ष ।।१२८।।

अर्थ—जो जीव निजमहिमामे रत है अर्थात् उस महिमाके जानकार है उन जीवोको भेदविज्ञानके आधारपर नियमसे शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूपका उपलम्भ (ज्ञान) होता है। ऐसे जीवोके अन्य द्रव्योसे सर्वथा दूर हो जानेपर अर्थात् पर-पदार्थोमे अहम्बुद्धि और ममबुद्धिकी समाप्ति हो जानेपर कर्मोका स्थायी क्षय हो जाता है।

सपद्यते सवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्य ।। १२९ ।।

अर्थ—शुद्ध आत्मतत्वका ज्ञान हो जानेपर साक्षात् सवरका सपादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्वका ज्ञान भेदविज्ञानके आधारपर होता है, इसलिए जीवोको भेदविज्ञानकी प्राप्तिका अभ्यास करना चाहिये।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठते ।।१३०।।

अर्थ—उस भेद विज्ञानका आच्छिन्न धारासे तबतक अभ्यास करना चाहिये, जबतक वह जीवपरसे च्युत होकर अर्थात् परमे अहकार और ममकार समाप्त करके ज्ञानमे प्रतिष्ठित होता है।

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।१३१।।

अर्थ—जो कोई जीव सिद्ध हुए है, वे भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए है और जो कोई जीव बद्ध है वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध है।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलभात्,
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा सवरेण।
बिभ्रत्तोष परममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्यातमेतत् ।।१३२।।

अर्थ—जीवको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होनेपर शुद्धतत्त्वका उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इस प्रकार रागसमूहका विनाश हो जानेसे कर्मोका सवर होनेपर तोपको प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाशवाला निर्दोप, अद्वितीय ज्ञान नियमसे उदित होकर शाश्वत प्रकाशमान होता है।

समयसारकी रचनामे जो क्रम पाया जाता है उससे भी वही भाव प्रकट होता है। जो निम्न-प्रकार है—

प्रथम गाथामे आचार्य कुन्दकुन्दने जो सिद्धोको नमस्कार किया है इससे मुमुक्षु जीवके अपने लक्ष्यका निर्धारण होता है। दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि जो जीव अभेददृष्टिसे अपने अखण्ड स्वभावभूत ज्ञानमे और भेददृष्टिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सतत स्थिर रहे, उन्हे स्वसमय कहा जाता है। तथा जो जीव पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित अर्थात् पुद्गलकर्मोंस बद्ध होनेके कारण परपदार्थोमे अहबुद्धि और ममबुद्धि

करते है, वे परसमय कहलाते हैं। तीसरी गाथामें यह शका उठाई गई है कि लोकमे जितने पदार्थ है वे सब अपने अखण्ड एक स्वभावमे रहकर ही-सुन्दरताको प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीवके विषयमे बन्धकी कथा विसवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथामे इस शकाका इसप्रकार समाधान किया गया है कि सम्पूर्ण जीवोको काम, भोग और बन्धकी कथा सुननेमे आई है, देखनेमे आई है और अनुभूत भी है कि परन्तु उसके अखण्ड एक स्वरूपका ज्ञान होना उसे सुलभ नही है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्दने पाँचवी गाथामे आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको समयसारमे स्पष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की है। तथा छठी गाथामें आत्माके उस अखण्ड एक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया गया है। इसके पश्चात् गाथा १३मे आचार्यश्रीने आध्यात्मिक मार्गमें उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, आस्त्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध ओर मोक्षको जैसे है उसी रूपमें जिस जीवने जाना है, उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थोको उनके पृथक्-पृथक् स्वरूपके आधारपर जान लेना ही भेदविज्ञान है। इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्दने इसी जीवाधिकारमें जीवके स्वरूपका, अजीवाधिकारमे अजीवके स्वरूपका, कर्तृकर्माधिकारमे जीव और अजीवके विषयमे कर्ता और कर्मको व्यवस्थाके निषेधका, पुण्यपापाधिकारमे पुण्य और पापका, आस्रवाधिकारमें आस्रवका, संवराधिकारमे सवरका, निर्जराधिकारमें निर्जराका, बन्धाधिकारमें बन्धका और मोक्षाधिकारमे मोक्षका जो पृथक् पृथक् स्वरूपविवेचन किया है, वह भेदविज्ञानका पोषण करनेके लिए किया है। और अन्तमे सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमे आत्माके स्वतत्र स्वरूपका विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारकी रचनामे मुमुक्षु जीवोको प्रथमत भेदविज्ञानी बननेका ही उपदेश मुख्यतासे दिया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्यके भेदसे मिथ्यादृष्टि ससारीजीवोके जो दो प्रकार आगममे निश्चित किये गये है वे दोनो ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञीपञ्चेन्द्रिय और सज्ञीपञ्चेन्द्रियके भेदसे छह प्रकारके है। इनमेसे एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकके जीवोमे केवल कर्मफलचेतना पायी जाती है, अर्थात् ये सब जीव कर्मफलका मात्र सुख-दु ख रूप अनुभव ही कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव है वे सतत अपने अभिलषितकी सम्पन्नताके लिए सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते है और उनका वह पुरुषार्थ असीमित भोग और सग्रहका होता है। तथा, उनकी प्राप्तिके लिए वे हिंसा, असत्य भाषण और चोरीका भी पुरुषार्थ करते है और ऐसे पुरुषार्थमे उन्हें हमेशा हर्ष होता है, विषाद कभी नही होता। यही कारण है कि उनका ऐसा पुरुषार्थ अनैतिक आचरणके रूप में सकल्पी पाप माना गया है। इस सकल्पी पापका सद्भाव उन जीवोमे जबतक रहता है, तबतक वे मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते है। तथा इनमेसे जो जीव उक्त सकल्पी पापोका सर्वथा त्याग कर अशक्ति या आवश्यकताके आधारपर जिन पापोमे प्रवृत्त होते है उनके वे पाप अशक्तिवश और आवश्यकतावश होनेके कारण आरम्भी पाप कहलाते है। इस प्रकार आरम्भी पापोमे प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अविरत कहे जाते है। और जो भव्य और अभव्य उस अविरतिका एक देश त्याग कर देते हैं वे देशविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, तथा जो भव्य और अभव्य उक्त आरम्भी पापोका यथायोग्य सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देते है वे सर्वविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। ये भव्य और अभव्य दोनो जीव ही उक्त प्रकार अविरत, देशविरत और सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियोको भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियोको प्राप्त करके भी अपनी अभव्यताके कारण भेदविज्ञानी नही बन सकते है। भव्य जीव ही अपनी भव्यताके आधारपर भेदविज्ञानी बन सकते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व

महत्त्व और उसका कारण

इसमे सदेह नही, कि तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायोने समानरूपसे स्वीकार किया है। यही सबब है कि दोनो सम्प्रदायोके विद्वान आचार्योंने इसपर टीकायें लिखकर अपनेको सौभाग्यशाली माना है। सर्वसाधारणके मनपर भी तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वकी अमिट छाप जमी हुई है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फलं स्यादुपवासस्य भाषित मुनिपुङ्गवै ॥

इस पद्यने सर्वसाधारणकी दृष्टिमे इसका महत्त्व बढानेमें मदद दी है। यही कारण है कि कम से-कम दिगम्बर समाजकी अपढ महिलायें भी दूसरोके द्वारा सूत्रपाठ सुनकर अपनेको धन्य समझने लगती है। दिगम्बर समाजमे यह प्रथा प्रचलित है कि पर्यूपणपर्वके दिनोमे तत्त्वार्थसूत्रकी खासतौरसे सामूहिक पूजा की जाती है और स्त्री एव पुरुष दोनों वर्ग बडी भक्तिपूर्वक इसका पाठ किया या सुना करते है। नित्यपूजामे भी तत्त्वार्थसूत्रके नामसे पूजा करनेवाले लोग प्रतिदिन अर्घ चढाया करते है और वर्तमानमे जबसे दिगम्बर समाजमे विद्वान दृष्टिगोचर होने लगे, तबसे पयूर्पणपर्वमे इसके अर्थका प्रवचन भी होने लगा है। अर्थ-प्रवचनके लिए तो विविध स्थानोकी दि० जैन जनता पर्यूषणपर्वमें बाहरसे भी विद्वानोको बुलानेका प्रबन्ध किया करती है। तत्त्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायोके बीच कर्त्ताविषयक मतभेद पैदा हुआ जान पडता है।

यहाँपर प्रश्न यह पैदा होता है कि तत्त्वार्थसूत्रका इतना महत्त्व क्यो है? मेरे विचारसे इसका सीधा एव सही उत्तर यही है कि इस सूत्रग्रन्थके अन्दर समूची जैन सस्कृतिका अत्यन्त कुशलताके साथ समावेश कर दिया गया है।

संस्कृति-निर्माणका उद्देश्य

संस्कृति-निर्माणका उद्देश्य लोक-जीवनको सुखी बनाना तो सभी सस्कृति-निर्माताओने माना है। कारण कि उद्देश्यके विना किसी भी सस्कृतिके निर्माणका कुछ भी महत्त्व नही रह जाता है। परन्तु बहुत-सी संस्कृतियाँ इससे भी आगे अपना कुछ उद्देश्य रखती है और उनका वह उद्देश्य आत्मकल्याणका लाभ माना गया है। जैन संस्कृति ऐसी सस्कृतियोमेसे एक है। तात्पर्य यह है कि जैन सस्कृतिका निर्माण लोकजीवनको सुखी बनानेके साथ-साथ आत्मकल्याणकी प्राप्ति (मुक्ति) को ध्यानमे रख करके ही किया गया है।

संस्कृतियोंके आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओके प्रकार

विश्वकी सभी संस्कृतियोको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ माननेमें किसीको भी विवाद नही होना चाहिए, क्योकि आखिर प्रत्येक सस्कृतिका-उद्देश्य लोकजीवनमे सुखव्यवस्थापन तो है ही, भले ही कोई सस्कृति आत्मतत्त्वको स्वीकार करती हो या नही करती हो। जैसे चार्वाककी सस्कृतिमे आत्मतत्त्वको नही स्वीकार किया गया है फिर भी लोकजीवनको सुखी बनानेके लिए "महाजनो येन गत स पन्था" इस वाक्यके द्वारा उसने लोकके लिये सुखकी साधनाभूत एक जीवन-व्यवस्थाका निर्देश तो किया ही है। सुखका व्यवस्थापन और दु खका विमोचन ही सस्कृतिको आध्यात्मिक माननेके लिये आधार है। यहाँतक कि जितना भी भौतिक विकास है उसके अन्दर भी विकासकर्त्ताका उद्देश्य लोकजीवनको लाभ पहुँचाना ही रहता है अथवा रहना चाहिये। अतः समस्त भौतिक विकास भी आध्यात्मिकताके दायरेसे पृथक् नही है। लेकिन ऐसी स्थितिमे आध्यात्मिकता और

भौतिकताके भेदको समझनेका एक ही आधार हो सकता है कि जिस कार्यके अन्दर आत्माके लौकिक लाभकी दृष्टि अपनायी जाती है वह कार्य आध्यात्मिक और जिस कार्यमें इस तरहके लाभकी दृष्टि नही अपनायी जाती है, या जो कार्य निरुद्दिष्ट किया जाता है वह भौतिक माना जायगा।

यद्यपि यह सभव है कि आत्मा या लोकके लाभकी दृष्टि रहते हुए भी कर्त्तामे ज्ञानकी कमीके कारण उसके द्वारा किया गया कार्य उन्हें अलाभकर भी हो सकता है परन्तु इस तरहसे उसकी लाभसम्बन्धी दृष्टिमे कोई अन्तर नही होनेके कारण उसके उस कार्यकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण वनी रहती है। अत. आत्मतत्त्वको नही स्वीकार करनेवाली चार्वाक जैसी सस्कृतियोकी आध्यात्मिक सस्कृतियाँ मानना अयुक्त नही है।

यह कथन तो मैंने एक दृष्टिसे किया है। इस विषयमे दूसरी दृष्टि यह है कि कुछ लोग आध्यात्मिकता और भौतिकता इन दोनोके अन्तरका इस तरह प्रतिपादन करते है कि जो सस्कृति आत्मतत्त्वको स्वीकार करके उसके कल्याणका मार्ग बतलाती है वह आध्यात्मिक सस्कृति है और जिस सस्कृतिमे आत्मतत्त्वको ही नही स्वीकार किया गया है वह भौतिक सस्कृति है। इस तरह आत्मतत्त्वको मानकर उसके कल्याणका मार्ग बतलाने वाली जितनी सस्कृतिया है वे सब आध्यात्मिक और आत्मतत्त्वको नही माननेवाली जितनी सस्कृतियाँ है वे सब भौतिक सस्कृतियाँ ठहरती है। इस विचारधारासे भी मेरा कोई मतभेद नही है, कारण कि यह कथन केवल दृष्टिभेदका ही सूचक है—आध्यात्मिकता और भौतिकताके मूल आधारमे इससे कोई अन्तर नही पडता है।

आध्यात्मिकता और भौतिकताके अन्तरको बतलानेवाला एक तीसरा विकल्प इस प्रकार है—एक ही संस्कृतिके आध्यात्मिक और भौतिक दोनो पहलू हो सकते है। सस्कृतिका आध्यात्मिक पहलू वह है जो आत्मा या लोकके लाभालाभसे सम्बन्ध रखता है और भौतिक पहलू वह है जिसमे आत्मा या लोकके लाभालाभका कुछ भी ध्यान नही रखकर केवल वस्तुस्थितिपर ही ध्यान रखा जाता है। इस विकल्पमें जहाँतक वस्तुस्थिति-का ताल्लुक है उसमें विज्ञानका सहारा तो अपेक्षणीय है ही, परन्तु विज्ञान केवल वस्तुस्थितिपर तो प्रकाश डालता है, उसका आत्मा या लोकके लाभालाभसे कोई सम्बन्ध नही रहता है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान केवल वस्तुके स्वरूप और विकासपर ही नजर रखता है, भले ही उससे आत्माको या लोकको लाभ पहुँचे या हानि पहुँचे। लेकिन आत्मकल्याण या लोककल्याणकी दृष्टिसे किया गया प्रतिपादन या कार्य वास्तविक ही होगा, यह नियम नही है वह कदाचित् अवास्तविक भी हो सकता है, कारण कि अवास्तविक प्रतिपादन भी कदाचित् किसी किसीके लिये लाभकर भी हो सकता है। जैसे सिनेमाओके चित्रण, उपन्यास या गल्प वगैरह अवास्त-विक होते हुए भी लोगोकी चित्तवृत्तिपर असर तो डालते ही है। तात्पर्य यह है कि चित्रण आदि वास्तविक न होते हुए यदि उनसे अच्छा शिक्षण प्राप्त किया जा सकता है तो फिर उनकी अवास्तविकताका कोई महत्त्व नही रह जाता है। जैन सस्कृतिके स्तुतिग्रन्थोमें जो कही कही ईश्वरकर्तृत्वकी झलक दिखाई देती है वह इसी दृष्टिका परिणाम है जबकि विज्ञानकी कसौटीपर खरा न उतर सकनेके कारण ईश्वरकर्तृत्ववादका जैन दार्शनिक ग्रन्थोमें जोरदार खण्डन मिलता है और इसी दृष्टिसे ही जैन सस्कृतिमे अज्ञानी और अल्पज्ञानी रहते हुए भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी माना गया है, जबकि वास्तविकताके नाते जीव बारहवें गुणस्थानतक अज्ञानी या अल्प-ज्ञानी बना रहता है।

इस विकल्पके आधारपर जैन सस्कृतिको दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है—एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक।

जैन संस्कृतिके उक्त प्रकारसे आध्यात्मिक और भौतिक ये दो भाग तो है ही, परन्तु सभी सस्कृतियोके समान इसका एक तीसरा भाग आचार या कर्तव्यसम्बन्धी भी है। इस तरह समूची जैन सस्कृतिको यदि विभक्त

करना चाहे तो वह उक्त तीन भागोमे विभक्त की जा सकती है। इनमेसे आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादक करणानुयोग, भौतिक विषयका प्रतिपादक द्रव्यानुयोग और आचार या कर्त्तव्य विषयका प्रतिपादक चरणानुयोग इस तरह तीनो भागोका अलग-अलग प्रतिपादन करनेवाले तीन अनुयोगोमे जैन आगमको भी विभक्त कर दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र मुख्यत. आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है, कारण कि इसमे जो कुछ लिखा गया है वह सब आत्मकल्याणकी दृष्टिसे ही लिखा गया है अथवा वही लिखा गया है जो आत्म-कल्याणकी दृष्टिसे प्रयोजन भूत है, फिर भी यदि विभाजित करना चाहें तो कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थके पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, छठे, आठवें और दशवें अध्यायोमे मुख्यत' आध्यात्मिक दृष्टि ही अपनायी गयी है, इसी तरह पाँचवे अध्यायमे भौतिक दृष्टिका उपयोग किया गया है और सातवें तथा नवम अध्यायोमे विशेपकर आचार या कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखा गया है या उसमें आध्यात्मिक विषयका ही प्रतिपादन किया गया है यह निष्कर्ष इस ग्रन्थकी लेखनपद्धतिसे जाना जा सकता है। इस ग्रन्थका 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' यह पहला सूत्र है, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रको मोक्षका मार्ग बतलाया गया है। तदनन्तर 'तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्-दर्शनका स्वरूप बतलाते हुए 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्' इस सूत्रद्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष रूपसे उन तत्त्वार्थोंकी सात सख्या निर्धारित कर दी गयी है और द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-अध्यायोमे जीवतत्त्वका, पञ्चम अध्यायमे अजीवतत्त्वका, छठे और सातवें अध्यायोमे आस्रव तत्त्वका, आठवें अध्यायमें बन्धतत्त्वका, नवम अध्यायमे सवर और निर्जरा इन दोनो तत्त्वोका और दशवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका इस तरह क्रमश विवेचन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

जैन आगममे वस्तुविवेचनके प्रकार

जैन आगममे वस्तुतत्त्वका विवेचन हमे दो प्रकारसे देखनेको मिलता है—कही तो द्रव्योके रूपमें और कही तत्त्वोके रूपमे। वस्तु-तत्त्व-विवेचनके इन दो प्रकारोका आशय यह है कि जब हम भौतिक दृष्टिसे अर्थात् सिर्फ वस्तुस्थितिके रूपमे वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तुतत्त्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्यो[1]के रूपमे हमारी जानकारीमे आयेगा और जब हम आध्यात्मिक दृष्टिसे अर्थात् आत्मकल्याणकी भावनासे वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेगे तो उस समय वस्तुतत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोके[2] रूपमे हमारी जानकारीमे आयगा। अर्थात् जब हम 'विश्व क्या है ?' इस प्रश्नका समाधान करना चाहेंगे तो उस समय हम इस निष्कर्पपर पहुँचेगे कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्योका समुदाय ही विश्व है और जब हम अपने कल्याण अर्थात् मुक्तिकी ओर अग्रसर होना चाहेंगे तो उस समय हमारे सामने ये सात प्रश्न खड़ हो जावेंगे—(१) मैं कौन हूँ ?, (२) क्या मैं बद्ध हूँ ?, (३) यदि बद्ध हूँ तो किससे बद्ध हूँ ?, (४) किन कारणोसे मैं उससे बद्ध हो रहा हूँ ?, (५) बन्धके वे कारण कैसे दूर किये जा सकते हैं ? (६) वर्तमान बन्धनको कैसे दूर किया जा सकता है ? और (७) मुक्ति क्या है ? और तब इन प्रश्नोके समाधानके रूपमें जीव, जिससे जीव, बधा हुआ है ऐसा कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल, जीवका उक्त दोनो प्रकारके पुद्गलके साथ सयोगरूप बन्ध,

१ तत्त्वार्थसूत्र ५-१, २, ३, ३९।

२ जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। —तत्त्वार्थसूत्र, १–४।

इस बन्धके कारणीभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आस्रव, इन मिथ्यात्व आदिकी समाप्तिरूप संवर, तपश्चरणादिके द्वारा वर्तमान बन्धनको ढीला करनेरूप निर्जरा और उक्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेरूप मुक्ति ये सात तत्त्व हमारे निष्कर्षमें आवेंगे।

भौतिक दृष्टिसे वस्तुतत्त्व द्रव्यरूपमे ग्रहीत होता है और आध्यात्मिक दृष्टिसे वह तत्त्वरूपमे ग्रहीत होता है। इसका कारण यह है कि भौतिक दृष्टि वस्तुके अस्तित्व, स्वरूप और भेद-प्रभेदके कथनसे सम्बन्ध रखती है और आध्यात्मिक दृष्टि आत्माके पतन और उसके कारणोका प्रतिपादन करते हुए उसके उत्थान और उत्थानके कारणोका ही प्रतिपादन करती हैं। तात्पर्य यह है कि जब हम अवस्तुके अस्तित्वकी ओर दृष्टि डालते हैं तो उसका वह अस्तित्व किसी-न-किसी आकृतिके रूपमें ही हमे देखनेको मिलता है। जैन संस्कृतिमें वस्तुकी यह आकृति ही द्रव्यपद वाच्य है। इस तरहसे विश्वमे जितनी अलग-अलग आकृतियाँ है उतने ही द्रव्य समझना चाहिये। जैन संस्कृतिके अनुसार विश्वमें अनन्तानन्त आकृतियाँ विद्यमान है अत द्रव्य भी अनन्तानन्त ही सिद्ध हो जाते है। परन्तु इन सभी द्रव्योको अपनी-अपनी प्रकृतियो अर्थात् गुणों और परिणमनो अर्थात् पर्यायोकी समानता और विषमताके आधारपर छह वर्गोंमें संकलित कर दिया गया है अर्थात् चेतनागुण-विशिष्ट अनन्तानन्त आकृतियोको जीवनामक वर्गमें, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणविशिष्ट अणु और स्कन्धके भेदरूप अनन्तानन्त आकृतियोको पुद्गल-नामक वर्गमें, वर्तनालक्षण विशिष्ट असंख्यात आकृतियोको काल-नामक वर्गमें, जीवों और पुद्गलोकी क्रियामें सहायक होनेवाली एक आकृतिको धर्मनामक वर्गमें, उन्ही जीवो और पुद्गलोंके ठहरनेमे सहायक होने वाली एक आकृतिको अधर्म-नामक वर्गमें तथा समस्त द्रव्योंके अवगाहनमें सहायक होने वाली एक आकृतिको आकाश-नामक वर्गमें संकलित किया गया है। यही कारण है कि द्रव्योकी संख्या जैन संस्कृतिमें छह ही निर्धारित कर दी गई है।

इसी प्रकार आत्मकल्याणके लिये हमे उन्ही बातोकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है जो कि इसमे प्रयोजनभूत हो सकती हैं। जैन संस्कृतिमें इसी प्रयोजनभूत बातको तत्त्व नामसे पुकारा गया है, ये तत्त्व भी पूर्वोक्त प्रकारसे सात ही होते हैं।

इस कथनसे एक निष्कर्ष यह भी निकल आता है कि जो लोग आत्मतत्त्वके विवेचनको अध्यात्मवाद और आत्मासे भिन्न दूसरे अन्य तत्त्वोंके विवेचनको भौतिकवाद मान लेते है उनकी यह मान्यता गलत है क्योकि उक्त प्रकारसे, जहाँपर आत्माके केवल अस्तित्व, स्वरूप या भेद-प्रभेदोका ही विवेचन किया जाता है वहाँपर उसे भी भौतिकवादमे ही गर्भित करना चाहिये और जहाँपर अनात्मतत्त्वोका भी विवेचन आत्मकल्याणकी दृष्टिसे किया जाता है वहाँपर उसे भी अध्यात्मवादकी कोटिमे ही समझना चाहिये। यह बात तो हम पहले ही लिख आये हैं कि जैन संस्कृतिमे अध्यात्मवादको करणानुयोग और भौतिकवादको द्रव्यानुयोग नामोसे पुकारा गया है।

इस प्रकार समूचा तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे लिखा जानेके कारण आध्यात्मिक या करणानुयोगका ग्रन्थ होते हुए भी उसके भिन्न-भिन्न अध्याय या प्रकरण भौतिक अर्थात् द्रव्यानुयोग और चारित्रिक अर्थात् चरणानुयोगकी छाप अपने ऊपर लगाये हुए है, जैसे पाँचवें अध्यायपर द्रव्यानुयोगकी और सातवें तथा नवम अध्यायोपर चरणानुयोगकी छाप लगी हुई है।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपाद्य विषय

तत्त्वार्थसूत्रमें जिन महत्त्वपूर्ण विषयोपर प्रकाश डाला गया है वे निम्नलिखित हो सकते हैं—

'सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा इनकी मोक्षमार्गता, तत्त्वोका स्वरूप, वे

जीवादि सात ही क्यो ? प्रमाण और नय तथा इनके भेद, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, जीवकी स्वाधीन और पराधीन अवस्थायें, विश्वके समस्त पदार्थोका छह द्रव्योमे समावेश, द्रव्योकी सख्या छह ही क्यो ? प्रत्येक द्रव्यका वैज्ञानिक स्वरूप, धर्म और अधर्म द्रव्योकी मान्यता, धर्म और अधर्म ये दोनो द्रव्य एक-एक क्यो ? तथा लोकाशके बराबर इनका विस्तार क्यो ? आकाशद्रव्यका एकत्व और व्यापकत्व, कालद्रव्यकी अणुरूपता और नानारूपता, जीवकी पराधीन और स्वाधीन अवस्थाओके कारण, कर्म और नोकर्म, मोक्ष आदि ।'

इन सब विषयोपर यदि इस लेखमे प्रकाश डाला जाय तो यह लेख एक महान् ग्रन्थका आकार धारण कर लेगा और तब वह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वका प्रतिपादक न होकर जैन सस्कृतिके ही महत्त्वका प्रतिपादक हो जायगा, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रमे निर्दिष्ट उक्त विषयो तथा साधारण दूसरे विषयोपर इस लेखमे प्रकाश न डालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस सूत्रग्रन्थमे सम्पूर्ण जैन सस्कृतिको सूत्रोके रूपमें बहुत ही व्यवस्थित ढगसे गूँथ दिया गया है । सूत्रग्रन्थ लिखनेका काम बडा ही कठिन है, क्योकि उसमें एक तो संक्षेपसे सभी विषयोका व्यवस्थित ढगसे समावेश हो जाना चाहिए । दूसरे उसमे पुनरुक्तिका छोटे-से-छोटा दोष नही होना चाहिये । ग्रन्थकार तत्त्वार्थसूत्रको इसी ढगसे लिखनेमे सफल हुए हैं, यह बात निर्विवाद कही जा सकती है ।

उपसंहार

बडे-बडे विद्वानोके सामने विश्व स्वय एक पहेली बन कर खडा हुआ है । ससारकी दु खपूर्ण अजीब-अजीब घटनाओसे उद्विग्न आत्मोन्निनीषु लोगोके सामने आत्मकल्याणकी भी एक समस्या है । इसके अतिरिक्त मानवमात्रकी जीवन-समस्या तो, जिसका हल होना पहले और अत्यन्त आवश्यक है, बडा विकराल रूप धारण किये हुए है । इन सब समस्याओको सुलझानेमे जैन सस्कृति पूर्णरूपसे सक्षम है । तत्त्वार्थसूत्र—जैसे महान ग्रन्थोका योग सौभाग्यसे हमे मिला हुआ है और इन ग्रन्थोका पठन-पाठन भी हम लोग सतत किया करते है । परन्तु हमारी ज्ञानवृद्धि और हमारा जीवनविकास नही हो रहा है, यह बात हमारे लिये गम्भीरता-पूर्वक सोचनेकी है । यदि हमारे विद्वानोका ध्यान इस ओर जावे तो इन सब समस्याओका हल हो जाना असम्भव बात नही है ।

जैन व्याकरणकी विशेषताएँ

ससारमे यदि भाषातत्त्व नही होता तो सर्व सचेतन जगत् पाषाणकी तरह मूक ही रहता, इसमें कोई सन्देह नही। यो तो भाषातत्त्व पशु, पक्षी आदिको भी उपयोगी है, किन्तु मनुष्यका तो एक-एक क्षण भी भाषातत्त्वके विना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। भाषाके जरिये ही हम अपने अभिप्रायको दूसरोंके प्रति प्रकट कर सकते हैं। हमारा जितना लोकव्यवहार है वह भाषातत्त्वके ऊपर ही निर्भर है। यहाँ तक कि भाषा-विज्ञान भी मुक्ति-प्राप्तिमे एक कारण है।

ससारमे नाना भाषाएँ प्रचलित है। प्रत्येक भाषाका गौरव और लोकमान्यता उस भाषाके शब्दोकी प्रचुरता एव मधुरताके साथ-साथ प्रत्येक शब्दके अर्थप्राचुर्यसे ही हो सकते है। यदि हम बिना व्याकरणके उल्लिखित कारणोकी पुष्टिके लिये शब्दकल्पना और अर्थकल्पना करने बैठें, तो शायद जीवनकी परिसमाप्ति होने पर भी उसे पूर्ण नही कर सकने तथा शब्दप्रयोगकी व्यवस्था बनाना असम्भव हो जाय, इसलिये भाषाके गौरव और लोकमान्यताके लिये भाषासम्बन्धी नियमका जानना आवश्यक होता है और इस नियमका नाम ही व्याकरण है। (वि + संस्कारविशेषेण) सस्कारविशेषसे (आ = समन्तात्) सपूर्ण (शब्दान्) शब्दोको जो, (करोति = निष्पादयति) उत्पन्न करता है वह व्याकरण है। अथवा (वि = सस्कारविशेषेण) सस्कारविशेषसे (आ = समन्तात्) सपूर्ण (शब्दा) शब्द (क्रियन्ते = निष्पाद्यन्ते) उत्पन्न किये जाते है (येन) जिससे, वह व्याकरण है। इन दोनो व्युत्पत्तियोंसे भी उल्लिखित भाव स्पष्ट झलकता है। व्याकरणसे भिन्न-भिन्न अर्थोमे शब्दनिष्पत्ति की जाती है, इसलिये अर्थप्राचुर्यमे भी व्याकरण ही कारण है। 'अर्थभेदात् ध्रुव शब्दभेद., सर्वे शब्दा सर्वार्थवाचका" इत्यादि नियम भी व्याकरणको ही अर्थप्राचुर्यमे कारण बतला रहे है। इसलिये व्याकरण ही भाषातत्त्वमें प्रवेश करनेका मुख (द्वार) है। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादिका यदि मुख नही होता, तो उनका जिन्दा रहना दु शक्य तो क्या असम्भव हो था। ठीक यही हालत उस भाषाकी भी है, जिसको कि अपनी व्याकरण नही है।

भावकी स्थिति उस भाषाके प्रचुर साहित्य पर है। साहित्यका निर्माता कवि होता है और कवि नानार्थसे मीठे-मीठे शब्दोकी चाह रखता है। जहा उसको ऐसे शब्द नही मिलते है वहाँ वह अपने साहित्यको रमणीय एव हृदयवेधी नही बना सकता है और ऐसी हालतमे उसके उस साहित्यको साधारण लोग भी पसन्द नही करते है। इसका परिणाम यह होता है कि वह भाषा, जिसमे साहित्यकी रमणीयता और हृदयवेधिता नही रहती है, अन्तको प्राप्त हो जाती है।

संस्कृत व्याकरण और उसका वैशिष्ट्य

सस्कृत भाषाका प्रचार ससारके कोने-कोनेमे (चाहे वह किसी रूपमें क्यो न हो) आज भी विद्यमान है। इसका कारण यह है कि उसका साहित्य विस्तृत तो है ही, साथमें ग्राह्य भी अधिक है। इसका भी कारण सस्कृत भाषाका व्याकरण ही है। सस्कृत व्याकरणकी यह खूबी है कि एक ही शब्दसे शब्दान्तरके योगसे नाना शब्द बन जाते है। हार, विहार, आहार, संहार, प्रहार, निहार इत्यादि अनेक शब्दोकी सृष्टि "हृ" शब्दसे ही हुई है। इस खूबीको अन्य किसी भाषाका व्याकरण आज तक नही प्राप्त कर सका, इसलिये उन भाषाओकी संकीर्ण भूमिपर किसी साहित्यनिर्माता कविका अन्त करण स्वच्छन्द विहार नही कर सकता है। यद्यपि इग्लिश आदि भाषाओमे साहित्यकी अधिकता है, फिर भी शब्दोकी अधिक पुनरुक्ति कवियोके लिये अवश्य करनी पडती है तथा शब्दकल्पना भी उनको बहुत करनी पडी है।

आज सस्कृतभाषारूपी सूर्य, जो अपना प्रकाश नही फैला रहा है, उसका कारण उसके व्याकरण,

साहित्य और ग्राह्यताकी कमी नही है, किन्तु उसके साहित्यके अन्तरतत्त्व तक पहुँचनेके लिये हम असमर्थ हो गये है तथा राजाश्रय छूट गया है इत्यादि है। भाषा स्वभावसे परिवर्तनशील होती है। राजाश्रयके बिना उसकी व्यावहारिक उपयुक्तता कम हो जाती है, अत' वह हमारे लौकिक कार्योमे विशेप सहायक नही बन सकती है। यदि सस्कृतभाषा राजभापा होती ओर उसके आश्रयसे ही लोग (जबकि हम लोगोने नौकरी पेशा को ही अपना जीवनोपाय बना लिया है) लौकिक आवश्यक कार्योका सम्पादन करते होते, तो मालूम पडता कि उस भाषाके अन्दर प्रवेश होनेसे हमारा जीवन कितनी धार्मिकताके साथ व्यतीत हो सकता था, तथा हमारे संस्कारोमे कितनी आर्यताकी सस्कृतिका विकास होता, जिसके कि ह्राससे आज हम गुलाम हो रहे है।

सस्कृतव्याकरणमे जैन व्याकरण और उसका महत्त्व तथा ग्राह्यता

भारतमें जितने दर्शनोका आविष्कार हुआ है, उन्होने सस्कृत भापाको जरूर अपनाया है। इसका कारण उसकी व्यापकता और अर्थपूर्ण भाव द्योतकता है। यह मानी हुई बात है कि जो जिस विपयका पूरा विद्वान् है, वह उस विषयको दूसरोके सामने स्वतत्र ढगसे पेश करता है, तथा जो जिस मतको अपना हितकर समझता है और उसके पोषक जितने विषय उसे आवश्यक प्रतीत होते है, उनमे दूसरे मतोकी अपेक्षा रखना वह पसन्द नही करता, क्योकि वह समझता है कि इस थोडी-सी परतन्त्रतासे हमारी सस्कृतिमे दुर्बलता आती है, अत उसके अग उपायभूत साहित्यका भी निर्माण वह स्वय करता है और इस गौरवान्वित महत्त्वाकाक्षासे साहित्यका कलेवर परिपुष्ट होता है।

यद्यपि व्याकरण शब्दार्थज्ञानके लिये है, उससे किसी मतविशेषकी पुष्टि नही होती, भले ही उसका निर्माता किसी मतविशेषसे सम्बन्ध रखता हो, फिर भी अपना स्वतन्त्र व्याकरण नही होनेसे कोई भी मताव-लम्बी अपने लिये व अपने सिद्धान्तके लिये प्रभावित नही कर सकता है। इसके ऊपर पराधीनता, अर्वाचीनता आदि दोपोका (चाहे वह मत स्वतत्र व प्राचीन क्यो न हो) आरोप लगाया जाता है। इसी कारणसे सस्कृत-भापासम्बन्धी नाना व्याकरणोका आविष्कार हुआ है। उनमे प्रसिद्ध व्याकरणो और उनके निर्माताओका निर्देश निम्न प्रकार पाया जाता है—

ऐन्द्रं, चान्द्रं, काशकत्स्नं, कौमारं, शाकटायनम्।
सारस्वत, चापिशल, शाकल पाणिनीयकम् ।। १ ।।
इन्द्रश्चन्द्र काशकत्स्ना पिशली शाकटायनः
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ।। २ ।।

पहले पद्यमे नव व्याकरणोके नाम है। उनमे शाकटायनव्याकरण शाकटायननामके जैनाचार्यकृत है। दूसरे पद्यमें आठ वैय्याकरणोके नाम है, जिनमे शाकटायन और जैनेन्द्र ये दो जैन वैय्याकरण है। इन सव व्याकरणो व वैय्याकरणोमे कौन किससे प्राचीन है, इसका निर्णय पद्यके निर्देशक्रमसे निश्चित नही कर सकते है, क्योकि पहले पद्यमे आपिशल व्याकरणका शाकटायन व्याकरणके पश्चात् निर्देश किया है और दूसरे पद्यमे उनके निर्माताओका पूर्व निर्देशसे विपरीत निर्देश किया है। इनकी प्राचीनताका विशेप निर्णय तो इस समय इतिहासवेत्ताओ पर ही छोडता हू क्योकि मेरी गति इतिहासविपयक नही है। किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि पाणिनीय व्याकरणसे शाकटायन व्याकरण पूर्वका होना चाहिये, क्योकि पाणिनिने अपने व्या-करणमे "त्रिप्रभृतिपु शाकटायनस्य" इस सूत्रके द्वारा शाकटायनका निर्देश किया है। आपिशल, काशकृत्स्न, शाकल आदि व्याकरणकर्ताओका भी निर्देश पाणिनिने अपने ग्रथोमे किया है। इसलिये ये व्याकरण भी पाणिनि व्याकरणसे प्राचीन है।

पाणिनि नन्दराज्यके समयमें हुए हैं। इससे भी प्राचीन समयमें उल्लिखित वैय्याकरणोकी उपस्थिति थी। कई लोग शाकटायन नामके जैन-अजैन दो विद्वानको स्वीकार करते है। इससे उनका प्रयोजन यह है कि जैन शाकटायनाचार्य पाणिनिसे अर्वाचीन हैं और पाणिनिने अपने व्याकरणमे जिनका निर्देश किया है, वे अजैन थे और पाणिनिके पूर्वमे विद्यमान थे। वे इसमे यह कारण उपस्थित करते हैं कि शाकटायनका, जिनका कि पाणिनिने निर्देश किया है, वेदादि ग्रन्थोसे भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। किन्तु यह कारण इतना पुष्कल नही है कि उनके प्रयोजनको सिद्ध कर सके, क्योकि मैंने पहले लिखा है कि व्याकरण शब्दार्थ-ज्ञानका ही प्रयोजक है। वैय्याकरण व्याकरण लिखते समय किसी सिद्धान्तविशेषसे कोई प्रयोजन नही रखता है। वह तो शब्दसिद्धि ही अपने ग्रन्थ निर्माणका ध्येय समझता है। यदि ऐसा नही होता, तो काशिकाकार, जोकि जैन थे, पाणिनीय व्याकरणके ऊपर काशिकावृत्ति नामक टीका नही लिखते। और सिद्धान्तकौमुदीके पहले अजैन लोग भी जो उसका रुचिपूर्वक अध्ययन, अध्यापन करते थे वह भी अनुचित ठहरता। कादम्बरी ग्रन्थके ऊपर जैन टीकाकारने जो टीका लिखी है वह भी इसी सिद्धान्तको स्वीकार करनेमे सहायक है कि जो विषय किसी भी सिद्धान्तका विरोधी नही होकर समान रूपसे सर्वके उपयोगी हैं, वे सबको ग्राह्य है। कोई-कोई विरोधी ग्रन्थोकी टीकायें भी आचार्योने की है। लेकिन अवश्य है कि उसका उद्देश्य केवल उनके सिद्धान्तको विस्तारसे समझ उनकी असत्यता प्रकट करना ही है। यह भावना दार्शनिक ग्र थोमे ही सम्भव है क्योकि विरोधकी सत्ता सिद्धान्तके विषयमे ही पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जबतक अकाट्य प्रबल प्रमाण नही मिल जाता तवतक जैन शाकटायनाचार्यके अतिरिक्त एक अजैन शाकटायनाचार्यकी सत्ता स्वीकार करना विद्वानोको रुचिकर प्रतीत नही होता। इस समय इस लेखको समयाभावसे सक्षेपमें लिख रहा हूँ अत सम्पूर्ण बातोपर विशेष प्रकाश नही डाल सका हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि जैन व्याकरणका सस्कृत-ससारमे प्रचुर प्रचार हो और यह तभी हो सकता है जब विद्वान् लोग व्याकरणके उद्देश्यको सामने रख कर उसकी महत्ताका प्रचार करें। इसके लिये भी मैं भविष्यमे यथासम्भव प्रयत्न करूँगा। इस समय तो इस लेखको सक्षेप पूर्वक लिखनेका ही प्रयोजन है।

जैनेन्द्र व्याकरण तो उनके नामसे ही जैनाचार्य कृत सिद्ध होता है। जैनेन्द्र व्याकरणके नामसे दो रूपक हमारे सामने उपस्थित हैं। एक तो वह, जिसकी टीका जैनेन्द्रमहावृत्ति है और दूसरा वह, जिसकी कि टीका शब्दार्णवचन्द्रिका है। इन दोनो रूपकोके कर्ता स्वतत्र है या एक दूसरेका रूपान्तर है, इसमे विद्वानोका मत-भेद है। किन्हीका कहना है कि जिसकी टीका जैनेन्द्रमहावृत्ति है वह जैनेन्द्र व्याकरण है और उसके कर्ता देवनन्दि अपरनाम सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादाचार्य है। और जिसकी टीका शब्दार्णवचन्द्रिका है उस व्याकरणका नाम शब्दार्णव है और उस टीकाका नाम चन्द्रिका ही है, क्योकि "शब्दार्णवचन्द्रिका" शब्दका शब्दार्णवव्याकरणकी चन्द्रिकानामक टीका अर्थ होता है। किन्हीका कहना है। एक, दूसरेका रूपान्तर है कि इन दोनोके कर्ता स्वतत्र ही नही है। शब्दार्णवचन्द्रिका यह नाम टीकाका ही है। जैसे पाणिनीय व्याकरणकी टीका सिद्धान्तकौमुदी। अर्थात् जिस प्रकार सिद्धान्तकौमुदीशब्दका अर्थ सिद्धान्त नामक व्याकरणकी कौमुदी नामक टीका नही होता है उसी प्रकार शब्दार्णवव्याकरणकी टीका चन्द्रिका यह अर्थ शब्दार्णवचन्द्रिका शब्दका नही होना चहिये। तथा इन दोनोमें सूत्रसादृश्य भी अधिक है। यदि ये स्वतन्त्र व्याकरण होते, तो अन्य व्याकरणोकी तरह इन दोनोमे भी इतना सूत्रसादृश्य नही होता। परन्तु इन दोनोमे एक कोई मत तभी मान्य हो सकता है, जबकि एक मत अपनेमे सभव विरोधका निराकरण करते हुए अपनी सिद्धिमे प्रबल प्रमाण रखता हो। मैं इस समय तीनोके विषयमे तटस्थरूप हूँ क्योकि इस समय मेरे पास पर्याप्त सामग्री नही, जिसके आधारपर कुछ लिख सकू, फिर भी इसके निर्णयके लिये सचिन्त अवश्य हूँ।

यद्यपि और भी वैय्याकरणोंका उल्लेख जैनेन्द्रव्याकरणमे पाया जाता है। जैसे "चतुष्टय समन्तभद्रस्य, राद्भूतवले , वेत्तेः सिद्धसेनस्य" इत्यादि। तथापि उनके निर्मित व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसीलिये सम्भवत उनका निर्देश प्रसिद्ध वैय्याकरणोमे नही किया गया है। अथवा जबतक पद्योका निर्माण हुआ है उसके बाद साम्प्रदयिकताके विषने प्रवेश करके इनकी कीर्तिको छुपानेका प्रयत्न किया हो। अस्तु; कुछ भी हो, जैनेन्द्र-व्याकरणमे इनका निर्देश पाया जाता है। इससे सम्भव है कि जैन साहित्यके अन्य आचार्योंने भी इस विषयमें कलम उठायी थी तथा वाङ्मयकी पवित्र सेवा करके जगतका कल्याण किया था। इस कथनसे मालूम पडता है कि जैन ससारमे बडे-बडे महत्त्वशाली वैय्याकरण हुए है। कोई यह कहनेका दावा नही कर सकता कि जैनियोमे व्याकरणसूत्रकार नही हुए है, प्रत्युत हम यह कहनेमें समर्थ है कि जितने व्याकरणसूत्रकार जैनियोमें हुए है उतने शायद ही किसी सप्रदायमे हुए हो। इनमे उपलब्ध व्याकरणोकी टीकाये-प्रतिटीकाये उपलब्ध है, जिनको प्रकाशमे लानेकी बहुत आवश्यकता है। हाँ, इतना विस्ताररूप, जितना कि पाणिनीय व्याकरणकी टीका-प्रतिटीकाओका है जैन व्याकरणोकी टीका-प्रतिटीकाओका नही है। तथा पाणिनीय व्याकरणका इतना फैलाव इसीलिए हुआ कि उसका वैदिक विद्वानोने अत्यन्त श्रम करके प्रचार किया है। किन्तु जैनियोने इस विषयपर बहुत दिनोसे ध्यान देना छोड दिया है।

किसी भी व्याकरणका महत्त्व लघुतामे है। वह लघुता कई तरहसे हो सकती है। जैसे प्रक्रियाकृत लघुता, प्रतिपत्तिकृत लघुता. संज्ञाकृत लघुता आदि। जैन व्याकरणमें इन सब प्रकारकी लघुताओका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

पाणिनीय व्याकरणमे जहाँ ङीप, ङीष, ङीन प्रत्ययोका विधान स्वरादिभेदके लिये स्वीकार किया है वहाँ जैनेन्द्र व्याकरणमे ङी प्रत्ययसे ही कार्य निकाल लिया है। यह प्रक्रियाकृत लघुता है। इसी तरह सर्वत्र प्रक्रियाकृत लघुता पायी जाती है।

पाणिनिने "अर्धमात्रालाघव पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा" इस न्यायको स्वीकार करके भी जब संज्ञाओके विषयमे लघुताका अभाव देखा, तब सज्ञाविधिमे इस न्यायकी प्रवृतिका निषेध भी किया। लेकिन जैन व्याकरणमे संज्ञाकी लघुताको स्वीकार कर न्यायकी प्रवृत्तिको अक्षुण्ण रक्खा है। जैसे सवर्णसज्ञाके स्थानमें स्वसंज्ञा, प्रतिपादिक सज्ञाके स्थानमे मृत सज्ञा, सभास संज्ञाके स्थानमे सखज्ञा इत्यादि सभी सज्ञाओको लघु बनाया है जो ग्रन्थोको देखनेसे स्पष्ट मालूम पड सकता है।

जहाँ प्रक्रियाकृत और सज्ञाकृत लघुता है वहाँ पर प्रतिपत्तिकृत लघुता है ही, क्योकि उक्त दोनो लघुताओके रहनेसे पदार्थज्ञानमे सरलता पड जाती है।

पाणिनिने इत्सज्ञा विधानमें कई नियम वताये है किन्तु जैनेन्द्र व्याकरणमे "अप्रयोगीत" इस नियमको स्वीकार करके अन्य नियमोकी आवश्यकता नही समझी गयी है। इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी लघुतायें व्याकरणकी महत्ताको प्रकट करती है। यहाँपर सक्षेपमें दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

कातन्त्रव्याकरणमे तो इतनी प्रतिपत्तिकृत लघुता मानी हुई है कि वंगाल प्रान्तमे उसीका प्रचार है और उसकी परीक्षा कलकत्ता सस्कृत कालेजमे होती है, जोकि कलाप व्याकरणके नामसे प्रसिद्ध है। यह उसकी महत्ताका द्योतक है।

मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार कातन्त्रव्याकरणका किसी जमानेमें प्रचार हुआ है उसी प्रकार अन्य जैन व्याकरणोका भी प्रचार हो सकता है। लेकिन हम स्वय उसकी महत्ताको नही समझे है। कातन्त्रका भी

प्रचार जैनियोने नही किया, दूसरोने स्वयं ही उसकी महत्तासे उसे ग्राह्य समझकर उसको अपनाया है। इसमे भी हमें इतनेसे ही सन्तोष करना पडता है कि उसका प्रचार है। पढने-पढाने वाले यह नही समझते कि इस व्याकरणके मूलकर्ता जैन थे। परन्तु यह बात सब व्याकरणोके लिये लागू नही हो सकती है, क्योकि जो स्वयं अपनी वस्तुको पसन्द नही करता है उसको दूसरा कैसे पसन्द कर सकता है। हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये कि उसकी महत्ताको समझें और उसकी उपादेयताका विचार कर उसीका अध्ययन-अध्यापन करें।

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमे जो काम नही निकलता, वह जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीसे अनायास सिद्ध हो जाता है। पाणिनिकी कमीको वार्तिककारने पूरी की और वार्तिककार भी जिन शब्दोको सिद्ध करना भूल गये उनकी सिद्धि भाष्यकारने भाष्यवार्तिक बनाकर की है। लेकिन ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलिने सिद्ध किया हो और जैनेन्द्र पचाध्यायीसे सिद्ध न होता हो। यह भी जैनेन्द्र व्याकरणकी महत्ताका प्रयोजक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जैन व्याकरणोको महत्त्वशाली बनानेमें आचार्योंने पूरा-पूरा प्रयास किया है।

भाषाके प्रचारसे अपनी सस्कृतिका प्रचार होता है। परकी सस्कृतिसे बचाव होता है। यह तत्त्व सर्वमान्य है और यही कारण है कि मुसलमान और यूरोपियन शासकोने अपनी-अपनी भाषाओको राजाश्रय दिया है। यदि ऐसा नही किया होता तो इनके साम्राज्यका वा जातीय महत्त्वका प्रचार ही नही हो पाता। यह तत्त्व आज ही नही, प्राचीन कालसे सस्कृतिकी रक्षाके लिये अत्यन्त उपयोगी माना गया है। हमारे आचार्यों-ने भी इसका उपयोग किया है, अत हमारे यहाँ जितने आचार्य हुए है वे दार्शनिक हो या कवि सभीने आवश्यकता पडनेपर जैन व्याकरणको ही अपनाया है। मुझे तो विश्वास है कि उन्होने जैन व्याकरणके द्वारा ही सस्कृत भाषाका ज्ञान किया होगा। क्योकि उन्होने अपने ग्रन्थोमे जगह-जगह जैन व्याकरणका उल्लेख किया है। अकलक देव, प्रभाचन्द्राचार्य, विद्यानन्द स्वामी प्रभृति कम विद्वान नही थे, जिन्होने जैन व्याकरण-का पूरा-पूरा गौरव रखा। वात तो यह है कि उन्होने उसके गौरव और ग्राह्यताको समझ लिया था। पं० आशाधरजी, कवि अर्हद्दासजी आदि, जो कि पूर्वाचार्योंकी अपेक्षासे बहुत अर्वाचीन है, जैन व्याकरणके सहारेपर ही उच्च विद्वान हुए, जिनकी मान्यता और जिनके ग्रन्थोकी मान्यताको आज हम बडे गौरव और उत्साहके साथ उल्लिखित करते है। अब हम समझ सकते है कि कितनी उपादेयता जैन व्याकरणमे भरी हुई है।

हमारे पूज्य आचार्योंने व्याकरण इसलिये नही बनाया था कि हम लोग उसको व्यवहृत करना भूल जावेंगे, किन्तु उसका ध्येय, भाषा और भावका, जो बोध्य-बोधक सम्बन्ध है और वैय्याकरण भी अपने ही धर्म सम्बन्धी उदाहरणोसे व्याकरणके नियमोका विकास करता हुआ जो श्रद्धाका भाव पुष्टि करता है उसके प्रचारका था। जैसे आप जब अन्य काव्य पढते है उससे उसके कर्ता कविके विचारोका आपपर असर पडता है वैसे ही आप अन्य व्याकरण पढते है उस समय भी अन्यके विचारोका अनायास ग्रहण होता है। उदाहरणके लिये पाणिनीय व्याकरणमें 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति राम ।' जैनेन्द्र व्याकरणमें 'सासारिकसुख-दु खत उत्तमे मोक्षसुखे धरतीति धर्म ' आदि-आदि उदाहरणोमें कितना धार्मिक भाव भरा हुआ है, जिसका कि असर कोमल हृदय विद्यार्थीके अन्त करणपर पडे बिना नही रह सकता है। यदि सब विषयके ग्रन्थ अपने होते तो अपनी सस्कृतिका भी अच्छा प्रचार हो सकता है। तथा विपुल साहित्यरूप कार्य देखकर अपनी समाज विद्वान कहला कर आदर्श समाजकी पदवीको प्राप्त हो सकती है। अन्यथा जिस प्रकार खजाना और सेनाका परस्पर अविनाभाव है। खजानेके रहनेपर ही सेनाका जीवननिर्वाह तथा सेनाके रहनेपर ही खजानेकी रक्षा हो सकती है उसी प्रकार जैनधर्ममे स्वसमय और परसमयका भी अविनाभाव है। जितने भी सिद्धान्तग्रन्थ है और

जिनका सम्बन्ध आध्यात्मिकतासे है वे स्वसमयमे अन्तर्भूत होते है तथा जितने न्याय, व्याकरण, साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ है ये परसमय कहलाते है ।

न्याय, व्याकरण, साहित्यरूप परसमयके ग्रन्थोके बिना सिद्धान्तग्रथो (स्वसमय) का स्वरूप व्यवस्थित नही हो सकता, न उनसे आत्मार्थी पुरुष कुछ लाभ भी ले सकता है एव बिना स्वसमयके न्यायादि परसमयका भी कुछ उपयोग नही हो सकता । अत ऐसी हालतमे समाज जो दोनोको अनुपादेय समझ रहा है उससे समाजका और उसके स्वसमय-परसमयरूप साहित्यका नाश हो रहा है । इसलिये इनकी रक्षा करनेका हमारे समाजका परम कर्त्तव्य है । अत इनके उद्धारके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये ।

षट्खण्डागमके 'संजद्' पदपर विमर्श

[यह लेख साहित्यिक एव सैद्धान्तिक चर्चाओके ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे आज भी महत्त्वपूर्ण है ।]

अर्सेसे प्रोफेसर हीरालालजी जैनके "क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर सम्प्रदायोके शासनोमे कोई मौलिक भेद है ?" शीर्षक वक्तव्यपर उनके और दिगम्बर जैन समाजके वीच विवाद चल रहा है । दिगम्बर समाजने प्रोफेसर साहवके वक्तव्यको दिगम्वर मान्यताओके मूलपर एक आघात समझा है । उसकी धारणा है कि यदि इस वक्तव्यका निराकरण न करके इसके प्रति उपेक्षा धारण कर ली जाय, तो भविष्यमे दिगम्बर मान्यताओके प्रति जनसाधारणका अविश्वास हो सकता है ।

किसी भी सस्कृतिकी उपासक समष्टि उस सस्कृतिको जहाँ अपने कल्याणका साधन समझती है वहाँ उसकी सन्तान और दूसरे-दूसरे लोग भी उस संस्कृतिसे अपना कल्याण कर सकें, यह भावना भी उसमें स्वाभाविक तौरपर विद्यमान रहती है । यही एक आधार है कि प्रत्येक समष्टिके ऊपर अपनी-अपनी सस्कृतिके सरक्षण और प्रसारका भार बना हुआ है । इस दृष्टिसे प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजका आवाज़ उठाना जहाँ न्याय-सगत माना जा सकता है वहाँ यह मानना भी न्याय्य है कि प्रोफेसर साहबने अपनी बुद्धिपर भरोसा करके दिगम्बर आगमग्रन्थोका एक निष्कर्ष निकालने और उस निष्कर्षको समाजके सामने रखनेका जो प्रयत्न किया है वह उनके भी स्वतत्र अधिकारकी बात है । फिर जिस विषयको एक निष्कर्षके रूपमें प्रोफेसर साहबने समाजके सामने उपस्थित किया है वह विषय सदिग्धरूपसे न मालूम कितने आगमके अभ्यासी व्यक्तियोके हृदयमे विद्यमान होगा । इसलिये प्रोफेसर साहबके इस प्रयत्नसे वक्तव्य-सग्रहीत विषयोको आगमग्रन्थोके निर्विवाद अर्थों द्वारा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा देनेका योग्य अवसर ही समझना चाहिये था । परन्तु हम देखते है कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियो तथा दिगम्बर समाजके विचारोका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके अधिकारीवर्गके बीच लम्बे अर्सेसे चल रहे वाद-विवादके बाद भी उभयपक्षके बहुत कुछ अनुचित प्रयत्नो द्वारा परस्पर कटुता बढनेके अतिरिक्त कोई लाभ नही हुआ है । और यही कारण है कि इस तथ्यहीन वाद-विवादसे ऊबकर 'जैनमित्र' के सम्पादक महोदयको बाध्य होकर यह लिखना पडा है कि इस विवादसे सम्वन्ध रखनेवाले किसी भी लेखको 'जैनमित्र' में स्थान नही दिया जायगा ।

तात्पर्य यह है कि कोई भी विषय जब पक्ष और विपक्षके झमेलेमे पड जाता है तो वहाँ विचारकी दृष्टि जाती रहती है और मान-अपमानका प्रश्न खडा हो जाता है, इसलिये उभय पक्षकी ओरसे प्रधानतया अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखने तथा दूसरे पक्षका प्रभाव नष्ट करनेका ही प्रयत्न होने लगता है । दूसरे-दूसरे बाह्य कारणोके साथ यह एक अतरग कारण है कि इस विषयमे हम अभी तक मौन रहते आये हैं । लेकिन आज हम जो अपने विचारोको नही दवा सक रहे है उसका कारण यह है कि हमारे सामने एक तो श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तारका वह लेख है जो उन्होने श्री प्रेमीजीके "अन्यायका प्रमाण मिल गया" शीर्षक लेखके ऊपर जैनमित्रमें लिखा है और दूसरे दिगम्बर जैन समाज बम्बईकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके वे दोनो भाग है जिनमें भिन्न-भिन्न विद्वानो द्वारा श्री प्रोफेसर साहवके उक्त वक्तव्य तथा दूसरे वक्तव्योके विरोधमें लिखे गये लेखोका सग्रह है ।

श्री प्रेमीजीने अपने उक्त लेखमे यह लिखा था कि सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमे प्रोफेसर साहवने लेखकोकी गलतीसे 'सयत' पद छूट जानेकी जो कल्पना की है वह सही है और वह पद मूडबिद्रीकी प्रतिमे मौजूद है । इसपर श्री मुख्तारसाहबने अपने लेखमें कई आनुषगिक शकायें उपस्थित की है और उनके निराकरण

करनेके लिये प्रेरणा करते हुए कुछ उपाय भी सुझाये है। और हमे विश्वास है कि श्री मुख्तार साहब भी स्वप्नमें यह नही सोच सकते हैं कि प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियो द्वारा मूडबिद्रीकी प्रतिमे संयत-पद जोडनेका अनुचित प्रयत्न किया गया होगा, परन्तु सदेह पैदा होनेके कारणभूत जिन दलीलोका श्री मुख्तार साहवने अपने लेखमें सकेत किया है वे इतनी स्वाभाविक है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती हैं। हम आशा करते है कि सवधित महानुभावोका ध्यान श्री मुख्तार साहबके लेख पर पहुँचा होगा और उन्होने सदेह निवारण करनेके लिये प्रयत्न चालू कर दिया होगा।

हम मानते है कि उक्त सदेह श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोकी नीयत पर भयकर हमला है परन्तु जब मनुष्य किसी भी वाद-विवादके दलदलमें फँस जानेपर अपनी प्रामाणिकताको सुरक्षित रखनेके महत्त्वको भूल कर स्वार्थ और अभिभावकी पुष्टिके लिये उदारता और सहिष्णुताके मार्गको छोड देता है तो उसकी नीयत पर ऐसे भयकर हमलोका होना आश्चर्यकी बात नही है। और हमें कहना पड रहा है कि साधारण समाजने प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध अपनी जो भावना प्रदर्शित की है वह तो किसी रूपमें उचित मानी जा सकती है परन्तु समाजके विचारोका प्रतिनिधित्व करनेवाले विषयके विद्वानोने तथा श्री प्रोफेसर साहब और उनके सहयोगियोने निश्चित ही अपनी जवाबदारी यथोचित रीतिसे नही निबाही है।

जब श्री प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यके विरुद्ध दिगम्बर समाजमें आवाज उठी तो उन्होने यह कह-कर उस आवाजको दबानेकी कोशिश की, कि उन्होने वह वक्तव्य जिज्ञासुभावसे प्रेरित होकर प्रकट किया है, उनकी मशा दिगम्बर मान्यताओ पर चोट करनेकी नही है। प्रोफेसर साहबकी मशा भले ही दिगम्बर मान्यताओ पर चोट करनेकी न हो, परन्तु उनका वक्तव्य दिगम्बर मान्यताओका स्पष्ट खण्डन है, इस बातसे इन्कार नही किया जा सकता है। हमे प्रोफेसर साहबके उक्त वक्तव्यमें ऐसा एक भी वाक्य नही मिल रहा है जो उनके जिज्ञासुभावको प्रदर्शित कर रहा हो। इसलिये वक्तव्य प्रकट करनेके बाद दिगम्बर समाजको सान्त्वना देनेके लिये प्रोफेसर साहब द्वारा लुभावने शब्दोका प्रयोग हमारी समझके अनुसार निरर्थक ही नही बल्कि अनुचित जान पडता है।

इसी प्रकार कहना होगा कि श्री प्रेमीजीके लेखका "अन्यायका प्रमाण मिल गया" यह शीर्षक उनके स्वगत अभिमान और विरोधी पक्षके प्रति रोष एव तिरस्कारका ही सूचक है। हमारा यह भी खयाल है कि प्रोफेसर साहब व पं० फूलचन्द्रजीके बीच चल रही उक्त वक्तव्यसे संबद्ध तत्त्वचर्चाका बीच में ही पं० फूलचन्द्रजीसे बिना पूछे ही स्वतंत्र पुस्तकके रूपमें प्रकाशित कर देना श्री प्रेमीजी जैसे गण्यमान्य व्यक्तिके लिये शोभास्पद बात नही है।

हमें अच्छी तरह याद है कि गतवर्ष कलकत्तामे वीर-शासन महोत्सवके अवसरपर प्रोफेसर साहब-के उक्त वक्तव्यपर उभय पक्षकी ओरसे जिस तत्त्वचर्चाका आयोजन किया गया था वह तत्त्वचर्चा उस आयोजनके लिये निर्णीत सभापतिके सचालनकी ढिलाईके कारण अनावश्यक और अनुचित शास्त्रार्थका रूप धारण कर गयी थी और उपस्थित समाजको अपनी ओर आकर्षित करना तथा अपने प्रतिपक्षी किसी तरह मुख बन्द करना ही उसका प्रधान लक्ष्य हो गया था। हम मानते हैं कि इसमें अधिक अपराधी वक्तव्यके विरुद्ध बोलनेवालो पार्टीका ही ठहराया जा सकता है।

हम पं० हीरालालजीके "प्रोफेसर साहबके वक्तव्य पर मेरा स्पष्टीकरण" शीर्षक वक्तव्यको [illegible] मान [illegible] हुआ दिगम्बरके [illegible] हुए भी सूत्रमें 'संजद' पद जोडनेकी उनकी [illegible] ठहरानेके लिये उन्होंने अनुचित अशोभनीय और असफल प्रयत्नको अपनाया है। यहां यह देख कर तो और भी

आश्चर्य हुआ कि बम्बईकी दिगम्बर समाजने इस सारहीन वक्तव्यका प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध प्रकाशित पुस्तकमे उपयोग करना उचित समझा है। क्या प० हीरालालजीने ग्रन्थ प्रकाशित हो जानेके बाद उस टिप्पणीको नही देखा होगा ? ओर जिस वाक्याशका उनकी दृष्टिसे भ्रामक अर्थ छपा है उसके बारे मे क्या वे फुटनोट द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट नही कर सकते थे ? यदि उन्हें ऐसा नही करने दिया गया हो, तो वे समाचारपत्रो द्वारा अपनी सम्मति उसी समय समाज पर प्रकट नही कर सकते थे ? उन्होंने ऐसा नही किया, इसका अर्थ यह करना अनुचित नही माना जायगा कि प० हीरालाल जी "जैसी चले वयार पीठ पुनि तैसी दीजैं"की नीतिका अनुसरण करना जानते है। इसी तरह बम्वईकी दिगम्बर जैन समाजको भी कहा जा सकता है कि उसने श्री पं० हीरालालजीके उक्त स्पष्टीकरणको प्रोफेसर साहवके विरुद्ध हथियार बनाकर 'अर्थी दोप न पश्यति' की नीतिको चरितार्थ किया है।

उभय पक्षकी ऐसी बहुत-सी मिसालें यहाँ पर उद्धृत की जा सकती है, जिन्होने विषयको निष्कर्ष पर पहुँचानेकी अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाई है। विचार-विनिमयसे उभय पक्षको जितना एक-दूसरेके निकट आना चाहिए था उक्त दूपित नीतिका अनुसरण करनेके कारण वे उतनी ही दूरी पर चले गये है। और यह सभीके लिये अत्यन्त खेदकी बात होना चाहिये, कारण कि ऐसी प्रवृत्तियोंसे उभय पक्षका गौरव नष्ट होता है और सर्वसाधारणके अहितकी सम्भावना रहती है। इसीलिये हमने यहापर सक्षेपमें उभय पक्षकी दूषित मनोवृत्तिकी परिचायक कुछ प्रवृत्तियोका सकेत किया है, ताकि उभय पक्ष अज्ञान, प्रमाद अथवा और किसी हेतुसे की गयी अपनी दूपित प्रवृत्तियोकी ओर दृष्टिपात कर सके तथा अपनी बौद्धिक शक्तिका उपयोग धर्म, सस्कृति और समाजके हितसाधनमं कर सके। हम आशा करते है कि जब तक प्रोफेसर साहबके वक्तव्यमें निर्दिष्ट विवाद-ग्रस्त विषय एक निष्कर्ष पर न पहुँचा दिये जायें, तब तक उभय पक्षकी चर्चा व्यक्तिको छोडकर विषय तक ही सीमित रहेगी।

बम्बईकी दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरुद्ध यद्यपि हमारे सामने मौजूदा दो पुस्तकें प्रकाशित हुई है। परन्तु इतने मात्रसे दिगम्बर समाजका उद्देश्य सफल नही हो सका है और हमारी धारणा है कि इस प्रकारके प्रयत्नो द्वारा कभी भी उद्देश्यमें सफलता प्राप्त नही की जा सकती है। हमारी राय है कि उद्देश्यकी सफलताके लिये उभय पक्षकी ओरसे सिलसिलेवार उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप चलनेवाली एक लेखमालाकी ही स्वतन्त्र व्यवस्था होना चाहिये। हमारी हार्दिक इच्छा है कि इस प्रकारकी व्यवस्था करनेका भार विद्वत् परिषदको अपने ऊपर ले लेना चहिये, साथ ही उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रोफेसर साहबके साथ इस विपयके निर्णयमें भाग लेनेके लिये दिगम्बर समाजकी ओरसे कुछ विद्वानोकी एक उपसमिति कायम करें और कोई भी विद्वान प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें जो कुछ लिखे, वह इस उपसमितिकी देखरेखमे ही प्रकाशित हो, क्योकि प्राय सभी विद्वानोमें किसी-न-किसी उद्देश्यको लेकर कुछ-न-कुछ लिखनेकी आकाक्षा पैदा होना स्वाभाविक वात है और यदि एक ही पक्षका समर्थन करनेवाले दो विद्वान एक ही विषयमे अज्ञान अथवा प्रमादकी वजहसे भिन्न-भिन्न विचार प्रगट कर जाते है तो विषयका निर्णय करना बहुत ही जटिल हो जाता है। हम देखते है कि प० मक्खनलालजी न्यायालंकार और पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई (जिन्हे स्वय अपनी विद्वत्तापर पूर्ण विश्वास है और समाज भी योग्य विद्वानोमे जिनकी गणना करती है) अपने लेखोमे षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वे सूत्रकी धवला-टीकाके कुछ अशोका परस्पर भिन्न अनुवाद कर गये है और प्रोफेसर साहबके वक्तव्यके विरोधमें बम्बई दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे प्रकाशित दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पणके दोनो भागोका सम्पादन करते समय भी इसकी ओर लक्ष्य नही

रखा गया है। आज यदि इसका स्पष्टीकरण किया जाता है तो बहुत कछ सम्भव है कि ये दोनो विद्वान भी अपनी-अपनी ज़िदपर अड सकते है। इसलिये विपयके निर्णयके लिये सीधा और उपयुक्त मार्ग यही है कि विद्वत् परिषद् कुछ चुने हुए विद्वानोकी एक उपसमिति कायम करे। हम आशा करते है विद्वत् परिषद्का ध्यान हमारे इस मुझावकी ओर अवश्य जायगा।

प० मक्खनलालजी व प० रामप्रसादजी शास्त्रीके ऊपर निर्दिष्ट अनुवाद-भेदका स्पष्टीकरण तथा उक्त सूत्रमे 'सयत' पदकी आवश्यक्ता और अनावश्यक्तापर विचार किया जायेगा।

पहले किये गये सकेतके अनुसार यहाँपर हम शीर्षकके अन्तर्गत निर्दिष्ट सूत्रकी धवलाटीकाके प० मक्खनलालजी न्यायालकार ओर प० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा किये गये परस्पर-भिन्न हिन्दी अनुवादोपर विचार करते हुए सूत्रमे 'सयत' पदकी आवश्यक्ता और अनावश्यक्तापर यहाँ अपना विचार प्रकट करेंगे।

धवलाटीकाका वह मूल अश, जिसके हिन्दी अनुवादमे उक्त उभय विद्वानोका मतभेद बतलाया गया है, मुद्रित प्रतिमे निम्न प्रकार पाया जाता है—

> "हुण्डावसर्पिण्या स्त्रीपु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणास्थिताना सयमानुपपत्तेः।"

इसका हिन्दी अनुवाद मुद्रित प्रतिमे निम्न प्रकार पाया जाता है—

शका—हुण्डावसर्पिणी काल सबन्धी स्त्रियोमे सम्यग्दृष्टि जीव क्यो नही उत्पन्न होते है ?

समाधान—नही, क्योकि उनमे सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते है।

शका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान—इसी आगम प्रमाणसे जाना जाता है।

शका—तो इसी आगमप्रमाणसे द्रव्यस्त्रियोका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नही, क्योकि वस्त्रसहित होनेसे उनके सयतासयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके सयमकी उत्पत्ति नही हो सकती है।

प० मक्खनलालजीने धवलाटीकाके उक्त अशका हिन्दी अनुवाद करते हुए मुद्रित प्रतिके इस अनुवादको पूर्णत सही माना है, परन्तु प० रामप्रसादजी शास्त्रीने वाक्यविन्यासको गलतीके आधारपर इस अनुवादको गलत माना है और अपना भिन्न ही अभिप्राय प्रकट किया है। उनकी दृष्टिके अनुसार इस अशकी स्थिति निम्न प्रकार है—

> "हुण्डावसर्पिण्या स्त्रीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्त इति चेत् नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्षात्, अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति। सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान-गुणस्थिताना सयमानुपपत्ते।"

मुद्रित प्रतिके उक्त अशसे इसमें एक तो वाक्यविन्यासकी विशेषता है और दूसरे 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति'-के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' ऐसा पाठभेद स्वीकार किया गया है तथा इसका जो हिन्दी अनुवाद पं० रामप्रसादजीको मान्य है उसको निम्न प्रकारसे प्रकट किया गया है—

शंका—हुण्डावसर्पिणीकालदोषके प्रभावसे स्त्रियोमें सम्यग्दृष्टि जीव क्या नही उत्पन्न होते है ?

समाधान—नही उत्पन्न होते हैं।

शका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान—इसी (९३वें) ऋपिप्रणीत आगमसूत्रसे जाना जाता है और इसी (९३वें) ऋपिप्रणीत आगमसूत्रसे यह भी जाना जाता है कि द्रव्यस्त्रियोके मोक्ष नही होता है।

शका—द्रव्यस्त्रियोको मोक्ष तो सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—नही, क्योकि वस्त्रसहित होनेसे वे सयतासयत गुणस्थानमे स्थित रहती हैं, इसलिये उनके सयमकी उत्पत्ति नही हो सकती है।

पाठक देखेंगे, कि दोनो प्रकारका हिन्दी अनुवाद उत्तरोत्तर तीन शका-समाधानामे विभक्त है। इनमेसे प० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा धवलाटीकाकी मुद्रित वाक्ययोजनाको बदल कर किये गये अनुवादके पहले शंकासमाधानरूप भागसे हम भी सहमत है क्योकि हुण्डावसर्पिणीकालदोपके प्रभावसे परपराविरुद्ध कार्य तो हो सकते है परन्तु उनसे करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीत सिद्धान्तोका अपलाप नही हो सकता है, कारण मपूर्ण काल, सपूर्ण क्षेत्र, सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण अवस्थाओको ध्यानमे रखकर करणानुयोग और द्रव्यानुयोग द्वारा निर्णीन सिद्धान्तोपर कालविशेप, क्षेत्रविशेप, द्रव्यविशेष और अवस्थाविशेपका प्रभाव नही पड सकता है। इसलिये जव करणानुयोगका यह नियम है कि कोई प्राणी सम्यग्दर्शनकी हालतमे मर कर स्त्रियोमे उत्पन्न नही होता है तो हुण्डावसर्पिणीकालका दोप इसका अपवाद नही हो सकता है। इस प्रकार प० रामप्रसादजी शास्त्रीके साथ-साथ हमारी भी यह मान्यता है कि मुद्रित प्रतिमें धवलाटीकाके इस अशकी वाक्ययोजना निश्चित करने और उसका हिन्दी अनुवाद करनेमे गलती कर दी गई है और प० मक्खनलालजी न्यायालकार भी अपने अनुवादमे उस गलतीको दुहरा गये। परन्तु आगे प० रामप्रसादजी शास्त्रीने मुद्रित प्रतिमे स्वीकृत धवला टीकाके 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति·' इस वाक्याशके स्थानपर 'न' पद जोडकर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस वाक्याशको स्वीकार करके वाक्ययोजना बदलने और उस बदली हुई वाक्ययोजनाके आधारपर हिन्दी अनुवाद करनेका जो प्रयास किया है उसमे एक तो अनुवाद करते समय अधिक खीचातानी करनी पडी है, दूसरे उनके अभिप्रायकी पुष्टिके लिये इसे हम उनका द्राविडीय प्राणायामका अनुसरण कह सकते है और तीसरे उनका यह प्रयास निरर्थक भी है।

इनमेसे अनुवाद करते समयकी खीचातानी तो यहाँपर स्पष्ट ही है क्योकि धवलाटीकाके इस अशका जो अभिप्राय अनुवादद्वारा प० रामप्रसादजी शास्त्री निकालना चाहते है उसके अनुकूल वाक्यरचनाका धवलाटीकामे अभाव है। यदि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस वाक्यको सिद्धान्तपरक मानकर सिर्फ 'सिद्धचेत्' इस क्रियारूप वाक्यको ही आक्षेपपरक माना जाय तो वाक्यरचनामे अधूरेपनका अनुभव होने लगता है जो कि अनुचित है।

द्राविडीय प्राणायामका अनुसरण हम इसलिये कहना चाहते है कि पं० रामप्रसादजी शास्त्री 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस वाक्यसे उक्त ९३वें सूत्रमें 'सयत' पदके अभावके आधारपर दिगबर संप्रदायको मान्य 'द्रव्यस्त्रियोकी मुक्तिका अभाव' प्रस्थापित करना चाहते है और 'सिद्धचेत्' इस वाक्यसे क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणाके आधारपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उक्त मान्यतापर आक्षेप उपस्थित करना चाहते है, जिसका समाधान 'सवासत्वात्–' आदि पक्ति द्वारा किया गया है। लेकिन इस विषयमे हमारा कहना यह है कि यदि प० रामप्रसादजी शास्त्रीको यह अर्थ अभीष्ट है तो इसके लिये 'द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति'के स्थानपर 'द्रव्यस्त्रीणा न निर्वृति' इस पाठको मान कर एक ही वाक्यमें दो वाक्योकी कल्पना करनेके कष्टसाध्य प्रयत्नके करनेकी उन्हे क्या जरूरत है ? क्योकि 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्याशको सूत्रपरक न मानकर यदि सूत्रोके समूहरूप ग्रन्थपरक मान लिया जाय और इसका अर्थ इसी

ऋषिप्रणीत ९३वें सूत्रसे' इस प्रकार न करके 'इसी ऋषिप्रणीत आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा' इस प्रकार मान लिया जाय, तो उसके लिये अभीष्ट 'संयत-पदका अभाव' भी सूत्रमें बना रहता है और 'न' पद जोड कर एक वाक्यमें दो वाक्योकी कल्पना भी उन्हे नही करनी पडती है। केवल 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा निर्वृति सिद्धचेत्' इस सपूर्ण वाक्यको आक्षेपपरक एक वाक्य मान करके पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके अभिप्रायानुसार 'इसी आगमग्रन्थसे अर्थात् क्षेत्रानुगम आदि प्ररूपणाओके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणा द्वारा द्रव्यस्त्रियोकी मुक्तिका प्रसङ्ग हो सकता है'। इस प्रकारके प्रकरणगत अर्थकी संगति बैठ जाती है। परन्तु पं० रामप्रसादजी शास्त्रोकी 'अस्मादेवार्षाद्' इस वाक्यको सूत्रोके समूहरूप ग्रन्थपरक न मान कर केवल सूत्रपरक मानते हुए उसका 'इसी ९३वे सूत्ररूप आगम-प्रमाणसे' ऐसा अर्थ करना [जो कि हमारी रायमे भी ठीक अर्थ है] इसलिये अभीष्ट है कि वे इसी आधारपर इस ९३वें सूत्रमे विवादग्रस्त 'सयत' पदका अभाव सिद्ध करना चाहते है। लेकिन हमारी रायसे वे इसमे भी सफल नही हो सकते है।

प० रामप्रसादजी शास्त्रीका खयाल है कि क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदिकी मनुष्यप्ररूपणाओमें केवल मनुष्यणी शब्द पाया जाता है इसलिये उन सूत्रोमे इसका अर्थ भावस्त्री करना चाहिये और सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्रमे मनुष्यणी शब्दका अर्थ द्रव्यस्त्री करना चाहिए, परन्तु उनका यह ख्याल गलत है क्योकि सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि सभी प्ररूपणाओमें 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ समानरूपसे पर्याप्तनामक कर्म, स्त्रीवेदनोकषाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव' ही मुक्ति-पात्र तथा आगमसम्मत है और मनुष्यणी सज्ञावाले इस जीवके ही ९२ वें और ९३ वें सूत्रो द्वारा यदि वह निर्वृत्यपर्याप्तक हालतमें है तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थानोकी और यदि वह निर्वृत्त्यपर्याप्तक हालतको पारकर गया हो तो उसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम, षष्ठ आदि सभी गुणस्थानोकी सभावना बतलाई गई है। सत्प्ररूपणाके ९३वे सूत्रमे 'मनुष्यणी' शब्दसे यदि सिर्फ द्रव्यस्त्रीको ही ग्रहण किया जाता है तो जो जीव दिगम्बर मान्यताके अनुसार द्रव्यसे पुरुष और भावसे स्त्री है उसका ग्रहण उक्त सूत्रमे पठित मनुष्यणी शब्दसे न हो सकनेके कारण उसकी निर्वृत्त्यपर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थानके प्रसगको टालनेके लिये आगमका कौनसा आधार होगा, कारण कि दिगम्बर मान्यताके अनुसार कर्मसिद्धातके आधारपर स्त्रीवेदोदयविशिष्ट पुरुषके भी निर्वृत्त्य-पर्याप्तक हालतमें चतुर्थ गुणस्थान नही स्वीकार किया जाता है। इसलिये आगमग्रथोमें जहा भी मनुष्यणीशब्द-का उल्लेख पाया जाया है वहापर उसका अर्थ 'पर्याप्तनामकर्म, स्त्रीवेदनोकपाय और मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करनेमे सिर्फ एक यह शका अवश्य उत्पन्न होती है कि स्त्री-वेदोदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाले जीवके अधिक-से-अधिक नौ (९) गुणस्थान तक हो सकते है। इसलिये इस जीवके १४ गुणस्थानोका कथन करना असंगत और आगमविरुद्ध है। लेकिन इसका समाधान उक्त ९३वें सूत्रकी धवला टीकामे कर दिया गया है कि यहाँपर मनुष्यगतिनामकर्मका उदय प्रधान है और स्त्रीवेद-नोकपायका उदय इसका विशेषण है। इसलिये विशेपणके नष्ट हो जानेपर भी विशेष्यका सद्भाव बना रहनेके कारण ही मनुष्यणीके १४ गुणस्थानोकी सम्भावना बतलायी गयी है।

इस प्रकार जब उक्त ९३वें सूत्रमे 'मनुष्यणी' शब्दसे स्त्रीवेदोदयविशिष्ट द्रव्यपुरुपका ग्रहण भी अभीष्ट है तो क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओके अन्तर्गत मनुष्यप्ररूपणावाले सूत्रोके साथ सामञ्जस्य बिठलाने-के लिये इस सूत्रमे भी सयतपदका सद्भाव अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ता है और तब प० राम-प्रसादजी शास्त्रीने उक्त ९३वें सूत्रमे संयतपदका अभाव सिद्ध करनेके लिये जिन दलीलोंका उपयोग किया है वे सब नि सार हो जाती है।

अपने लेखके परिशिष्टमे प० रामप्रसादजी शास्त्री एक और गलती कर गये है। उन्होने अपनी ऊपर बतलायी हुई कल्पनाको गौण करके वहाँपर एक दूसरी ही कल्पनाको जन्म दिया है। वे कहते हैं कि 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणाँ निवृ॑त्ति सिद्धयेदिति चेन्न' इस पक्तिमें द्वितकारवाले 'निवृ॑त्ति' शब्दका अर्थ मुक्ति नही है वल्कि निष्पत्ति है। हम नही समझते कि 'निर्गता नष्टा नृत्तिर्वर्तन संसारभ्रमणमित्यर्थ' इस व्युत्पत्ति के आधारपर द्वितकारवाले निवृ॑त्ति शब्दका अर्थ 'मुक्ति' करनेमे उन्हें क्या आपत्ति है और फिर श्रीवीरसेन स्वामीने द्वितकारवाले 'निवृ॑त्ति' शब्दका पाठ न करके एक तकारवाले 'निवृ॑ति' शब्दका पाठ किया हो, इस सम्भावनाको कैसे टाला जा सकता है? यद्यपि वाक्यविन्यासको तोड-मरोड करके प० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस बातकी कोशिश की हैं कि श्री वीरसेन स्वामीको वहापर द्वितकारवाले 'निवृ॑त्ति' शब्दका पाठ ही अभीष्ट है, परन्तु हम कहेंगे कि पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने इस प्रयत्नमे विशुद्ध वैयाकरणत्वका ही आश्रयण किया है क्योकि उनकी अपने ढगसे वाक्योकी तोडमरोड करनेकी कोशिशके बाद भी वे अपने उद्देश्यके नजदीक नही पहुँच सकते है अर्थात् पहले कहा जा चुका है कि मनुष्यणी शब्दका अर्थ पर्याप्तनामकर्म और स्त्रीवेदनोकषायके उदयविशिष्ट मनुष्यगतिनामकर्मके उदयवाला जीव ही आगमग्रन्थोमें लिया गया है और वह द्रव्यसे स्त्रीकी तरहसे द्रव्यसे पुरुष भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यणी' शब्दका अर्थ स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यस्त्रीकी तरह स्त्रीवेदनोकषायके उदयसहित द्रव्यपुरुष भी होता है और यही अर्थ समानरूपसे सत्प्ररूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्ररूपणाओमें 'मनुष्यणी' शब्दका है ऐसा समझना चाहिये। इस तथ्यको समझनेके लिये सम्बद्ध सूत्रो तथा उनकी धवला टीकाका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करनेको जरूरत है। सम्बद्ध सूत्रो और उनकी धवला टीका गम्भीरतापूर्वक चिन्तन न करनेका ही यह परिणाम है कि प० रामप्रसाद-जी शास्त्री और भी वहुत-सी आलोचनाके योग्य बातें अपने लेखमे लिख गये हैं, जिनपर विचार करना यहाँ पर हम अनावश्यक समझते है।

बहुत विचार करनेके बाद हमने श्री प० रामप्रसादजी शास्त्रीके उनके अपने लेखमें गलत और कष्ट-साध्य प्रयत्न करनेका एक ही निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि वे इस बातसे बहुत ही भयभीत हो गये है कि यदि सत्प्ररूपणाके ९३वे सूत्रमें 'सयत' पदका समावेश हो गया तो दिगम्बर सम्प्रदायकी नीव ही चौपट हो जायगी। परन्तु उन्हें विश्वास होना चाहिये कि ९३वें सूत्रमे सयतपदका समावेश हो जानेपर भी न केवल स्त्रीमुक्तिका निषेधविषयक दिगम्वर मान्यताको आच आनेकी सम्भावना नही है अपितु षट्खण्डागमकी सत्प्र-रूपणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम आदि प्रकरणगत सूत्रोमें परस्पर सामञ्जस्य भी हो जाता है।

हमारे इस कथनका मतलब यह है कि मूडविद्रीको प्राचीनतम प्रतिमे भी सयत पद मौजूद हो, या न हो, परन्तु सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमे उसकी (संयतपदकी) अनिवार्य आवश्यकता है, हर हालतमे वह अभीष्ट हैं। दिगम्वर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोमे परस्पर जो मतभेद है वह पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थान न मानने अथवा माननेका नही है क्योकि पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोकी मान्यता उक्त दोनो सम्प्रदायोमेंसे किसी एक सम्प्रदायकी मान्यता नही है बल्कि जैनधर्मकी ही मूल मान्यता है और इस मान्यताको उभय सम्प्रदायोने समान रूपसे अपनी-अपनी मान्यतामें स्थान दिया है। इन दोनो सम्प्रदायोमे जो मतभेद है वह इस बातका है कि जैनधर्ममें पर्याप्त मनुष्यणीके जो चौदह गुणस्थान स्वीकार किये गये है वे जहाँ दिगम्बर सम्प्रदायोमे पर्याप्त मनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे पुरुषके ही सभव माने गये है वहाँ श्वेताम्वर सम्प्रदायमे पर्याप्तमनुष्यणीशब्दसे व्यवहृत स्त्रीवेदनोकषायके उदयवाले द्रव्यसे स्त्रीके भी सभव माने गये है और इस मतभेदका मूल कारण यही जान पडता है कि दिगम्वर सम्प्रदायमें वस्त्रग्रहणको सयमका

घातक स्वीकार किया गया है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमे उसे (वस्त्रग्रहणको) सयमका घातक स्वीकार नही किया गया है। इसलिये द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थान हो सकते है या नही ? इस प्रश्नका निर्णय इस प्रश्नके निर्णयपर अवलंबित है कि वस्त्रग्रहणके साथ सयमका सद्भाव रह सकता है या नही ?

जो विद्वान् वेदवैषम्यके आधारपर द्रव्यस्त्रीके सयम तथा मुक्तिकी निषेधविषयक दिगम्बर-मान्यता का समर्थन करना चाहते है वे भी हमारी रायसे इस तरहसे दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य 'द्रव्यस्त्रीके संयम तथा मुक्तिके अभाव' का समर्थन नही कर सकते है, कारण कि द्रव्यस्त्रीके सयम तथा मुक्तिका निषेध विषयक मान्यताके सद्भावमे दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार वेदवैषम्यके आधारपर जैनधर्मकी 'पर्याप्त मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोकी प्राप्ति विषयक मूल्यमान्यता'का समन्वय तो किया जा सकता है परन्तु इसके (वेदवैषम्यके) आधारपर यह तो किसी हालतमे नही कहा जा सकता है कि द्रव्यस्त्रीके आदिके पाँच गुणस्थानोको छोडकर ऊपरके प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान नही हो सकते है।

इसी प्रकार प्रोफेसर हीरालालजीके बारेमे भी हम यह निवेदन कर देना उचित समझते है कि भले ही षट्खण्डागमग्रन्थमे द्रव्यस्त्रीके लिये आदिके पाँच गुणस्थान तक प्राप्त कर सकनेका स्पष्ट उल्लेख न हो, परन्तु वहाँपर ऐसा उल्लेख भी ता स्पष्ट नही है कि द्रव्यस्त्रीके भी चौदह गुणस्थान हो सकते है, इसलिये षट्खण्डागमकी सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी धवलाटीका कितनी ही अर्वाचीन क्यो न हो, उसे षट्खण्डागमके आशयके विपरीत आशयको प्रकट करनेवाली तो किसी भी हालतमे नही कहा जा सकता है। इस प्रकार षट्खण्डागमग्रन्थमे बतलायी गयी मनुष्यणीके चौदह गुणस्थानोकी प्राप्तिका अर्थ वेदवैषम्यकी असंभवताके आधारपर 'द्रव्यस्त्रीके चौदह गुणस्थानोकी प्राप्ति' आगमकी मान्यता न होकर प्रोफेसर सा० की ही मान्यता कही जा सकती है क्योकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायोमे जब वेदवैषम्य स्वीकर किया गया है तो इसपर (वेदवैषम्यकी असभवतापर) आगमकी छाप किसी भी हालतमे नही लगाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि 'वेदवैषम्य संभव है या नही ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जैसे कि 'शरीरसे भिन्न जीव नामका कोई स्वतत्र पदार्थ है या नही ?' 'जीवकी मुक्ति होती है या नही ?' 'स्वर्ग, नरक आदि वास्तविक है या काल्पनिक ?' आदि प्रश्न है क्योकि इन प्रश्नोके समान ही यह प्रश्न भी आगमको सदिग्ध कोटिमें रख देनेके बाद ही उठ सकता है। इसलिये इस प्रश्नके बारेमे विचार करना मानो वेदवैषम्यको मानने वाला आगम प्रमाण है या अप्रमाण ? इस प्रश्नके बारेमे ही विचार करना है। यद्यपि इस प्रश्नपर विचार करनेको हम बुरा नही समझते हैं परन्तु इस लेखके लिखते समय हमारे भतीजे श्री प० बालचन्द्रजी शास्त्री सह-सम्पादक धवलाके द्वारा हमे जो सिद्धान्त-समीक्षा भाग १-२ प्राप्त हुए है उनमेसे पहले भागके ऊपर दृष्टि डालनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे है कि वेदवैषम्य सम्भव है या नही ? इस प्रश्नके विचारके झमेलेमे पडकर 'द्रव्यस्त्रीको मुक्ति हो सकती है या नही ?' यह प्रश्न सर्वसाधारणके लिये और भी जटिल बन गया है।

हम पहले कह आये हैं कि द्रव्यस्त्रीके छठा आदि गुणस्थान हो सकते है या नही ? इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये सयमके लिये वस्त्रत्याग आवश्यक है या नही ? इस प्रश्नका समाधान हो जाना ही साधारण जनताके लिये सीधा और सरल उपाय है। यद्यपि विद्वानोने इस प्रश्नपर भी बहुत कुछ विचार किया है और प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसका 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म' शीर्षक ट्रैक्ट इस विषयका काफी महत्त्वपूर्ण ट्रैक्ट माना जाता है। परन्तु अभी तक इस विषयका उभय-पक्षसम्मत कोई निर्णय सामने नही है। इस विषयमे हमारे विचार निम्न प्रकार है—

शरीरके सद्भावकी तरह वस्त्रके सद्भावमे भी सयम रह तो सकता है परन्तु वस्त्रग्रहण उसका विरोधी अवश्य है, कारण कि ग्रहणका अर्थ स्वीकृति है और जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति मौजूद है वहाँ वस्त्रसम्बन्धी

असंयम मानना ही चाहिये। इस वस्त्रसम्बन्धी असंयमके लिये शेष संयमकी पूर्णता रहते हुए श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताको ध्यानमें रखते हुए हम छठे गुणस्थानका जघन्य रूप कह सकते हैं और दिगम्बर मान्यताको ध्यानमें रखते हुए पंचम गुणस्थानका उत्कृष्ट रूप कह सकते हैं। इन दोनों मान्यताओंमें वास्तविक अन्तर कुछ भी नहीं रह जाता है। केवल पाँचवें गुणस्थानकी अन्तभूत और छठे गुणस्थानकी आदिभूत मर्यादा बाँधनेका बाह्य अन्तर दोनों सम्प्रदायोंके बीच रह जाता है।

वस्त्रको संयमका विरोधी न मानकर वस्त्रग्रहणको ही संयमका विरोधी माननेका हमारा मतलब यह है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी चेलोपसृष्ट मुनिके संयमका अभाव नहीं स्वीकार किया गया है। तथा मिथ्यात्व-व्रतरहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनके साथ-साथ देशव्रतकी अवस्थाओंमें संयमकी ओर अभिमुख होनेवाले व्यक्तिके जहाँ प्रथम ही सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतलाई गयी है वहाँ वस्त्रत्यागकी अनिवार्यता नहीं मानी गयी है। इसका मतलब यह है कि सातवें गुणस्थानकी प्राप्ति सवस्त्र हालतमें दिगम्बर मान्यताके अनुसार भी असंभव नहीं है, तो फिर सवस्त्र हालतमें छठे गुणस्थानकी प्राप्तिका निषेध दिगम्बर सम्प्रदाय क्यों करता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चौदह गुणस्थानोंमेंसे दूसरे, तीसरे और सातवेंसे लेकर बारहवें तक तथा चौदहवें इन गुणस्थानोंका जितना वर्णन किया गया है वह भावाधारपर किया गया है और पहला, चौथा, छठा तथा तेरहवाँ इन गुणस्थानोंका कथन व्यवहाराश्रित है, क्योंकि इन गुणस्थानोंका कथन व्यक्तिके अन्तरंग भावोंका कार्यस्वरूप बाह्य प्रवृत्तिके आधारपर किया गया है, इसलिये दिगम्बर सम्प्रदायकी यह मान्यता युक्तियुक्त है। वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भावापेक्षासे भी सकलसंयम नहीं रह सकता है। परन्तु जहाँ वस्त्रकी स्वीकृति रहते हुए भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय सकलसंयमकी प्राप्तिको स्वीकार करता है वहाँ दिगम्बर सम्प्रदायकी भी यह मान्यता है कि वस्त्रके सद्भावमें भावापेक्षया भी सकलसंयम नहीं रह सकता है। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र हालतमें व्यवहाराश्रित षष्ठ गुणस्थानकी सम्भावनाको तो किसी तरह टाला जा सकता है परन्तु सप्तम आदि गुणस्थानोंकी सम्भावना अनिवार्य रूपसे जैसीकी तैसी बनी रहती है और इसका अर्थ यह है कि द्रव्यस्त्रीके लिये भी उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी आदि चढनेका कोई विरोध नहीं होना चाहिये, परन्तु 'कर्मभूमिज स्त्रियोंके अन्तके तीन ही संहनन हो सकते हैं' यह आगम इसमें बाधक हो सकता है, इसलिये इस आगमकी प्रमाणताके लिए आज वैज्ञानिक शोधकी आवश्यकता है।

केवली-कवलाहारके बारेमें विचार करनेका अर्थ है जैन धर्ममें मानी हुई सर्वज्ञकी परिभाषाके बारेमें विचार, कारण कि ये दोनों (कवलाहार और जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता) परस्पर-विरोधी ही माने जा सकते हैं, इसलिये जो विद्वान् तत्त्वनिर्णयकी दृष्टिसे इस विषयमें प्रविष्ट हों उन्हें इस मूल बातको पहले ध्यानमें रख लेना चाहिये। हमने इस विषयमें अभी तक जितना विचार किया है उसमें यह निर्णय नहीं कर पाये हैं कि केवलीके कवलाहार माना जाय या जैन धर्मोक्त सर्वज्ञता।

अन्तमें हमारा निवेदन यह है कि इन विषयों पर या इसी तरहके और भी विषयों पर जितना भी विचार किया जाय वह सब तत्त्वनिर्णायक द्रव्यानुयोगकी दृष्टि है। इससे सर्व साधारणको लाभ और अलाभका सीधा सम्बन्ध नहीं है। सर्व साधारणके लाभ और अलाभका सम्बन्ध तो आध्यात्मिक करणानुयोगकी दृष्टिमें ही है। इसलिये न तो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-संयम और केवलि-कवलाहारके सिद्ध हो जानेपर समाजका उद्धार हो जायगा और न इनके निषिद्ध कर दिये जाने पर ही समाज उद्धार पा जायगा। अतएव विद्वानोंका एक ओर तो यह कर्तव्य है कि ऐसे विशुद्ध तात्त्विक मामलोंमें समाजको घसीटनेका प्रयत्न न करते हुए उसके उद्धारका मार्ग खोजनेका प्रयत्न करें और दूसरी ओर स्वपक्षहठ और विचारोंकी खींचातानी न करते हुए तत्त्व-निर्णायक (वैज्ञानिक) दृष्टिसे गूढ तत्त्वोंकी शोध भी करें।

सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता[1]

देव-आगम-गुरु वन्दना पुर.सर

भो विद्वद्वृन्द ! और समादरणीय उपस्थित जन-समूह !

आज मुझे इस बातका अत्यन्त सकोच हो रहा है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् जैसी महत्त्वपूर्ण सस्थाका मुझे अध्यक्ष बना दिया गया है। मेरे इस सकोचका कारण यह है कि एक तो शास्त्र-मर्मज्ञ, कार्यकुशल और समाजमे ख्याति प्राप्त वडे-वडे विद्वान विद्वत्परिषद्मे सम्मिलित है, दूसरे इसके सामने आज जो समस्याये हल करनेके लिये उपस्थित है उन्हे देखते हुए जब मैं गहराईके साथ सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि इन समस्याओको हल करनेकी अल्पतम क्षमता भी मेरे अन्दर नही है। लेकिन आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर मैं उन समस्याओको आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन पर हमे व आपको गम्भीरताके साथ मथन करना है।

प्रथम समस्या मास्कृतिकताकी रक्षा करें

विश्वके प्रागणमे आप देखनेका प्रयत्न करेगे तो वहाँ प्रत्येक स्थल पर आपको किसी-न-किसी सस्कृतिके दर्शन अवश्य होगे। हमारा भारतवर्ष तो अत्यन्त प्राचीनतम कालसे ही विविध संस्कृतियोकी जन्म-भूमि रहा है और आज भी यहाँपर अनेक सस्कृतिया विद्यमान है।

आप जब उनपर दृष्टिपात करेंगे तो आपको उनके दो पहलू देखनेको मिलेंगे। एक पहलू तो उस सस्कृतिके विशिष्ट तत्त्वज्ञानका होगा और दूसरा पहलू मानवप्राणियोके जीवन-निर्माणके लिये उनके द्वारा निश्चित की गई आचारपद्धतिका होगा।

सम्पूर्ण मानव-समष्टिमे सास्कृतिक आधारको लेकर जितने समाज पाये जाते है उन सब समाजोमेसे जिस समाजका ढाचा जिस सस्कृतिके आधारपर निर्मित हुआ है उस समाजके प्रत्येक व्यक्तिका स्वाभाविकरूप से यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति दृढतम आस्था रखे तथा उसमे उपदिष्ट आचारपद्धतिके आधारपर यथाशक्ति अपनी जीवन-प्रवृत्तियोके निर्माण करनेका प्रयत्न करे। यह तभी हो सकता है जब व्यक्तिको उस सस्कृतिके तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपयोगी ज्ञान हो।

सर्वसाधारणके लिये तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपदेष्टा उस संस्कृतिके रहस्योका ज्ञाता और व्याख्याता विद्वान ही होता है। अत कोई भी व्यक्ति अपनी सस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति अन्त करणमें समापन्न आस्थासे चलायमान न हो जावे तथा उसमे उपदिष्ट आचार-पद्धतिकी उपेक्षा करके अपने जीवनको उच्छृंखल न बना ले, इसका उत्तरदायित्व उस-उस सस्कृतिके मर्मको जाननेवाले विद्वानोपर ही स्वाभाविकरूपसे आकर पडता है, यह बात हम सभी विद्वानोको अच्छी तरह समझ लेना है।

जैनसस्कृतिका मूलभूत उद्देश्य जड पदार्थोके साथ बद्ध रहनेके कारण परतत्र हुये ससारी आत्माको उन जड पदार्थोसे मुक्त यानी स्वतत्र बनानेका है, लेकिन किसी भी ससारी प्राणीको जबतक आत्मस्वातंत्र्य प्राप्तिके साधन प्राप्त न हो जावे, तथा साधनोके प्राप्त हो जानेपर भी वह प्राणी जबतक अपनी जीवनप्रवृत्तियो-को आत्म-स्वातत्र्य प्राप्तिकी दिशामे मोड न दे दे, तबतक उसे अपना लक्ष्य जीवनको सही ढगसे सुख-पूर्वक व्यतीत करनेका बनाना चाहिये।

---

१. सन् १९६५ मे सिवनी (म० प्र०) में आयोजित भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्के दशम अधिवेशनके अध्यक्ष पदसे दिया गया अभिभाषण।

जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करनेका सही ढग क्या हो सकता है ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको जब तक अन्य मनुष्यका आवश्यक सहयोग प्राप्त नही होगा तबतक उसे अपने जीवनका सचालन करना दु साध्य ही रहेगा। यह बात प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह समझता है कि उसके जीवनकी जितनी आवश्यकतायें है या हो सकती है, उनकी पूर्तिमें उसे अन्य मनुष्योका सहयोग अनिवार्यरूपसे अपेक्षित होता है। ग्राहकको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए दुकानदार चाहिये और दुकानदारको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ग्राहक चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोकी व्यवस्था हमें मानवजीवनकी पर-सहयोग-निर्भरताकी सूचना दे रही है। जैन-सस्कृतिमें तो प्रत्येक प्राणीके जीवन-यापनके लिये पचेन्द्रिय मनुष्यसे लेकर एकेन्द्रिय प्राणि तकके सहयोगकी भूमिका प्रतिपादित की गई है। आचार्य उमास्वातिका "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" सूत्रवाक्य हमारे समक्ष इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहा है।

एक मानवके जीवनमे दूसरे मानवके सहयोगकी अपेक्षा होना ऐसा कारण है, जिसके आधारपर लोक-मे मानव-जीवनको सुखी और सुन्दरतम बनानेके लिये कौटुम्बीय, नागरीय और राष्ट्रीय सगठनोको स्थान प्राप्त हो गया है और आज तो उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्रत्येक समझदार व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्रोंके एक सगठन-को भी महत्त्व देने लगा है। सयुक्तराष्ट्र महासघका निर्माण इसीका परिणाम है। आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह भी सोचता है कि उपर्युक्त सभी संगठन वदस्तूर बने रहे, इसलिये उसे हमेशा इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि किसी भी सगठनमे किसी भी प्रकार कहीसे दरार न पड जावे।

किसी भी सगठनमे दरार व्यक्तियोके, कुटुम्बोके, नगरोके और राष्ट्रोके पारस्परिक सघर्षोसे पडती है और ये सघर्ष तब पैदा होते हैं जब एकके स्वार्थ दूसरेसे टकरा जाते है। स्वार्थोकी इस टकराहटमे एक व्यक्ति, एक कुटुम्ब, एक नगर और एक राष्ट्र, दूसरे व्यक्ति, दूसरे कुटुम्ब, दूसरे नगर और दूसरे राष्ट्रपर आई हुई विपत्तिके मेटनेमे समर्थ होते हुए भी उदासीनतापूर्वक उसकी तरफसे मुख मोड लेता है। इतना ही नही, बल्कि इससे भी आगे स्वार्थोकी इस टकराहटमें व्यक्ति व्यक्तिके साथ, कुटुम्ब कुटुम्बके साथ, नगर नगरके साथ और राष्ट्र राष्ट्रके साथ सहिष्णुतारहित, अपमानपूर्ण और अविश्वसनीय व्यवहारतक करनेपर उतारू हो जाता है। इस तरह एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिके साथ, एक कुटुम्बका दूसरे कुटुम्बके साथ, एक नगरका दूसरे नगरके साथ और एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके साथ सघर्ष होने लगता है।

इस सघर्षको समाप्त करने तथा उक्त सगठनोको सुदृढ बनानेके लिये जैन सस्कृतिमें यह उपदेश मिलता है कि जो व्यक्ति या जो कुटुम्ब, अथवा जो नगर या जो राष्ट्र, सुखी रहकर जिन्दा रहना चाहता है उसे "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" अर्थात् "जो प्रवृत्ति अपने लिये प्रतिकूल हो उसका आचरण दूसरो के प्रति भी नही करना चाहिये" इस सिद्धान्तके अनुसार दूसरे व्यक्तियो, दूसरे कुटुम्बो, दूसरे नगरो और दूसरे राष्ट्रोंके साथ असहिष्णुता समाप्त कर सहिष्णुताका वर्ताव करना चाहिये, यानी कि क्षमाधर्म अपनाना चाहिये। उनके जीवनको अपने जीवनसे हीन न समझकर उनके जीवन-अधिकारोकी अपने साथ समानता स्वीकार करना चाहिये यानी मार्दवधर्म अपनाना चाहिये। उनके साथ स्वप्नमें भी अविश्वसनीय वर्ताव एवं धोखा-धडी करनेकी कल्पना न करते हुए सतत प्रामाणिक व्यवहार ही करना चाहिये यानी आर्जवधर्म अप-नाना चाहिये और उनके ऊपर आयी हुई विपत्तियोकी उपेक्षा न करते हुए उन्हे आवश्यकतानुसार यथा-शक्ति निःस्वार्थ सहायता भी देना चाहिये यानी सत्यधर्मको भी स्वीकार करना चाहिये। ये चारो ही धर्म जैन सस्कृति मे अहिंसाकी प्रकृतिके रूपमें स्वीकार किये गये है।

आप तत्त्वदृष्टिसे विचार करें तो मालूम होगा कि आज प्रत्येक व्यक्तिने, प्रत्येक कुटुम्बने, प्रत्येक नगर-ने और प्रत्येक राष्ट्रने उक्त प्रकारके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यरूप अहिंसा धर्मको अपनी नासमझीके कारण अपने जीवनसे उपेक्षित कर रखा है, सर्वत्र इनके विरुद्ध असहिष्णुता, असमानता, अप्रामाणिकता और असहयोग-रूप विविध प्रकारकी दूषित प्रवृत्तियोके रूपमे हिंसाका ही प्रसार किया है। स्वय जैन समाज हा अपनी संस्कृति-के आधारभूत उक्त उपदेशोको भूल चुका है। इतना ही नही जैन सस्कृतिके रहस्यके ज्ञाता और प्रवक्ता हम जैसे विद्वानोकी जीवन-प्रवृत्तियोमे भी उक्त प्रकारकी हिंसाका रूप ही देखनेमे आ रहा है तथा अहिंसाधर्मके उल्लिखित रूपोका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। कहना चाहिये कि जैन संस्कृतिका प्रकाश तो अब लुप्त ही हो चुका है, केवल नाममात्र ही जैन सस्कृतिका शेष रह गया है।

सर्वत्र जैन और जैनेतर सभी वर्गोके लोगोकी जीवन-प्रवृत्तिया जो इतनी कलुषित हो रही है उसका कारण यह है कि प्राय सभी लोग भोग और सग्रह इन दो पापोके वशीभूत हो रहे है। यदि आप गहराईके साथ सोचनेका प्रयत्न करेगे तो आपको मालूम हो जायगा कि इनकी पूर्तिके लिये ही लोग हिंसामे प्रवृत्त होते है, चोरी करते है तथा विविध प्रकारके असत्याचरण भी करते है। यह आश्चर्यजनक बात है कि भोग और संग्रहकी वशीभूतताके कारण लोगोका विवेक भी समाप्त हो गया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि पाप होते हुए भी उन्होने पुण्यका ठाठ मान लिया है, भले ही उस भोग और सग्रहके लिये उन्ह हिंसाका मार्ग अपनाना पडा हो, चोरी करनी पडी हो या असत्याचरण करना पडा हो। जैन सस्कृतिमे भोग और सग्रहको ही मुख्य पाप बतलाया गया है "लोभ पापका बाप बखाना" का पाठ जैनके बच्चेको भी भली भाँति याद है।

यद्यपि यहापर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि भोजन, वस्त्र और आवास आदिका उपयोग मानव-जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी है तथा इन भोजनादिकी प्राप्तिके लिये धनादि वस्तुओका सग्रह भी मानव-जीवनके लिये उपयोगी है। अत भोग तथा सग्रहको पाप मानना कैसे उचित कहा जा सकता है ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि जहाँतक और जिस प्रकारसे भोजनादि हमारे जीवनके लिये उपयोगी सिद्ध होते है वहातक उनको उपभोग करनेका हमे अधिकार है और वहाँतक उनका उपभोग हमारे लिये पाप भी नही है। इसी प्रकार जीवनोपयोगी भोजनादि सामग्रीकी प्राप्तिके लिये यदि हम धनादिका सग्रह करते है तो वहाँ तक हमें धनादिकके सग्रह करनेका अधिकार है और वहाँतक यह भी पाप नही है, परन्तु हम भोजनादिकका उपभोग तथा धनादिकका सग्रह जीवनके लिये उपयोगी समझकर करते कहाँ है ? हम तो अपने इस अधिकारके बाहर भोजनादिके उपभोग और धनादिके सग्रहकी बात सोचने लगे है। जैसे यदि भोजनका उपभोग हम अपनी भूख मिटानेके लिये करते है और वस्त्रका उपभोग शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये करते है तो ऐसा करना हमारा अधिकार है और यह पाप नही है, लेकिन यदि हमारा मन भोजनके स्वादमे रम जाय या वस्त्रकी किनार, डिजायन, रंग अथवा पोतपर हमारा मन ललचा जाय तो हमारा भोजन या वस्त्रका वह उपभोग पापमे गर्भित हो जायगा। इसी प्रकार धनके सग्रहमे जीवनकी आवश्यकताओकी पूर्ति तक ही यदि हमारा लक्ष्य सीमित रहता है तो ऐसा धन सग्रह करना हमारा अधिकार है, पाप नही है। लेकिन यदि अमीर बननेके लिये हम धन सग्रह करनेका प्रयत्न करने लगते है तो हमारा वह धन सग्रह पापमे गर्भित हो जायेगा।

जैन संस्कृतिके इस सूक्ष्मतम तत्त्वज्ञानको समझकर हम विद्वानोको अपने जीवनमे उतारना तथा पथभ्रष्ट जैन समाजको सही मार्गपर लाकर पतनोन्मुख जैनसस्कृतिका सरक्षण करना है और मानवमात्रको इस तत्त्व-ज्ञानको शिक्षा देकर सपूर्ण विश्वमे जैनसस्कृतिका प्रसार भी करना है। इसलिये इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कोई योजनाबद्ध प्रचारात्मक ढंग हमे निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैनसंस्कृतिके सरक्षण और विस्तारके लिये

और विश्वमें शान्ति तथा सुखका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये हमारा यह सबसे बडा कार्यक्रम होगा।

द्वितीय समस्या तत्त्वचर्चा द्वारा गुत्थियाँ सुलझायें

दि० जैनसमाजमे जैनसस्कृतिके अध्येता, अध्यापयिता और व्याख्याता विद्वान विद्यमान हैं। परन्तु प्राय देखनेमे आ रहा है कि सस्कृतिके तत्त्वज्ञान और आचार सबन्धी बड़ी-से-बडी और छोटी-से-छोटी ऐसी बहुतसी-गुत्थियाँ है जो विद्वानोके पारस्परिक विवादका स्थल बनी हुई हैं। इनके अतिरिक्त सैकडो ही नही, हजारो सास्कृतिक गुत्थिया आगमग्रन्थोमे ऐसी विद्यमान हैं जिनके ऊपर अभी विद्वानोका लक्ष्य ही नही पहुँच पाया है। लेकिन उनका सुलझ जाना सास्कृतिक दृष्टिसे और मानवकल्याणकी दृष्टिसे बडा उपयोगी हो सकता है।

यदि विद्वानोका समझमे यह बात आ जाय कि सांस्कृतिक गुत्थियोको सुलझाना हमारा परम कर्त्तव्य है और यह भी समझमे आ जाय कि सब विद्वान एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्भावनापूर्ण विचार-विमर्श द्वारा ही सरलतापूर्वक इस कार्यको सम्पन्न कर सकते हैं तो फिर मेरा सुझाव है कि हम अपने कार्यक्रमकी एक ऐसी स्थायी योजना बनावे, जिसके आधारपर वर्षमे कम-से-कम एक बार प्राय सभी विद्वान एक स्थलपर बैठें तथा सस्कृतिके गूढतम रहस्योकी खोज करें और विवादग्रस्त विषयोको भी सुलझानेका प्रयत्न करें। गत वर्ष सास्कृतिक रहस्योकी खोजके लिये जयपुर-खानियामे विद्वानो द्वारा की गयी सद्भावनापूर्ण तत्त्वचर्चाने यह सिद्ध कर दिया है कि परस्पर-विरुद्ध विचारधारा वाले विद्वान भी एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्‌भावनापूर्ण ढगसे तात्त्विक गुत्थियोको सुलझानेका प्रयत्न कर सकते है। वास्तवमें जयपुर-खनियामे जो तत्त्वचर्चा हुई उसका ढङ्ग आदर्शात्मक रहा और उससे जो सामग्री प्रकाशमें आनेवाली हैं वह जैन-सस्कृतिके लिये ऐतिहासिक महत्त्वकी होगी। इसलिये तत्त्वचर्चाओकी इस परम्पराको इसी ढङ्गसे आगे चालू रखनेका हमे ध्यान रखना ही चाहिये।

उल्लिखित प्रकारकी तत्त्वचर्चाओका महत्त्व इसलिये और है कि पुरातन सास्कृतिक विद्वान हमारे बीचमेसे धीरे-धीरे कालकवलित होते जा रहे हैं और आगे सास्कृतिक विद्वान तैयार होनेके आसार ही दृष्टिगोचर नही हो रहे हैं। ऐसी हालतमे यदि मौजूदा विद्वान अपने बीच उत्पन्न सस्कृति-सम्बन्धी विवाद नही सुलझा सके, तो जैन समाजकी भावी पीढीके समक्ष हम अपराधी सिद्ध होगे तथा जैन सस्कृतिके बहुतसे मानवकल्याणकारी गूढतम रहस्य हमेशाके लिये गुप्त ही बने रहेंगे।

जैन सस्कृतिका तत्त्वज्ञान तथा आचार-पद्धति सर्वज्ञताके आधारपर स्थापित होनेके कारण विज्ञान-समर्थित हैं। षट्‌द्रव्यो और सप्ततत्त्वोकी अपने-अपने ढङ्गसे व्यवस्था, आत्मामें ससार और मुक्तिकी व्यवस्था, ससारके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तथा मुक्तिके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, उन्नति और अवनतिकी सूचक गुणस्थानव्यवस्था, कर्मसिद्धान्त, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, प्रमाण और नयकी व्यवस्था, निश्चय और व्यवहार नयोका विश्लेषण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय, नैगम आदि नयोकी स्थापनाका आधार तथा इनमे अर्थनय और शब्द नयोकी कल्पना आदि-आदि जैन सस्कृतिका तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध-विवेचन वैज्ञानिक और दूसरी सस्कृतियोकी तुलनामे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार जैन सस्कृतिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्थाएँ भी समझदार लोगोके गले उतरने वाली हैं। हाथसे कूटे गये और मिलोसे साफ किये गये चावलमे, हाथ-चक्कीसे और मशीन-चक्कीसे पीसे गये आटेमे पोषक तत्त्वोकी हीनाधिकताके कारण उपादेयता और अनुपादेयताका प्रचार महात्मा गाधीने भी किया था। इसी प्रकार रात्रिभोजन-त्याग तथा पानी छानकर पीनेकी व्यवस्था, आटे आदिका कालिक मर्यादाके भीतर ही उपयोग करनेका उपदेश आदि जितना भी आचार-पद्धतिसे सम्बन्ध रखने वाला जैन सस्कृतिका विषय है वह भी

मानवजीवनके लिये कितना हितकर है, इसे आज प्रत्येक व्यक्ति सरलतासे समझ सकता है। हमे इन सब-बातोको प्रकाशमे और प्रचारमे लाना है, इसलिये इसे भी हमे अपने कार्यक्रमका अंग बनाना चाहिये।

उल्लिखित सम्पूर्ण कार्योको सम्पन्न करनेके लिये एक उपाय यह भी हो सकता है कि विद्वत्परिषद्का अपना एक सास्कृतिक पत्र हो, जिसके माध्यमसे विद्वान जैनसस्कृतिके गूढतम रहस्योको प्रकाशमे लायें, परस्परके तात्त्विक विवादोको सुलझाएँ और आचार-पद्धतिकी वैज्ञानिक ढङ्गसे जनताके लिये उपयोगिता समझाएँ। अभी जैन समाजमे जितने पत्र निकलते है उनकी पद्धति प्राय स्वार्थपूर्ण और सघर्षात्मक है। मैं नही समझता हूँ कि उनके द्वारा जनताका या संस्कृतिका कुछ भला हो रहा है, वे तो केवल व्यक्तिगत कषाय-पुष्टिके ही साधन हो रहे है, इसलिये हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि विद्वत्परिषद्का पत्र मौजूदा पत्रोमे दिखाई देनेवाली बुराइयोसे परे हो।

तृतीय समस्या : विद्वानोका सगठन और उनकी कठिनाइयाँ

कलकत्तेमे वीरशासन महोत्सवके अवसरपर जब विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी उस समय वहाँ नरम और गरम, सुधारक और स्थितिपालक आदि परस्परविरोधी विचारधाराओ वाले बहुतसे सास्कृतिक विद्वान उपस्थित थे। उक्त अवसरपर अकस्मात् एक ऐसी घटना घट गयी थी, जिससे प्रभावित होकर उपस्थित सभी सास्कृतिक विद्वानोने अपना सगठन बनानेका दृढ सकल्प किया था और उसी सकल्पके बलपर उन्होने अपनी पारस्परिक विचार-भिन्नताको गौण करके तत्काल इस विद्वत्परिषद्की स्थापना कर डाली थी। यह विद्वत्परिषद् आज भी उसी आधारपर चल रही है यानी इसमें आज भी पारस्परिक विचारभेद रखने वाले विद्वान सम्मिलित है, उन्हें इससे ममता है और इसके कार्योंमे बराबर हाथ बटा रहे है।

इतना होते हुए भी जब तक हम सब मिलकर सामूहिक ढङ्गसे सर्व-साधारण विद्वानोकी कठिनाइयो-पर गौर नही करेगे तब तक हमारा यह सगठन सुदृढ नही रह सकता है। विद्वत्परिषद्की स्थापनाके अवसर-पर मुख्यरूपसे इस बातपर बल दिया गया था कि विद्वानोकी कठिनाइयोको समझा जाय और उनके निराकरण करनेके सुन्दरतम उपाय भी खोज निकाले जावे।

यद्यपि विद्वत्परिषद्ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया है परन्तु अभी तक इसमें वह पूर्णरूपसे सफल नही हो पायी है। विद्वानोके सामने विद्वत्परिषद्की स्थापनाके समय जिस रूपमें कठिनाइयाँ विद्यमान थी, इस समय उनका रूप कई गुणा अधिक हो गया है, इसलिये हमे विद्वानोकी कठिनाइयोके निराकरण करनेकी ओर पुन ध्यान देना है, अत इसके लिये कैसी योजना उचित हो सकती है, इसपर विचार करें।

चतुर्थ समस्या : विद्वत्परिषद् और शास्त्रीपरिषद्का एकीकरण

दिगम्बर जैन समाजमे सास्कृतिक विद्वान तो है, परन्तु उनकी सख्या विशेष अधिक नही कही जा सकती है फिर भी विद्वानोके नामपर विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद् दो सस्थाये वर्तमानमे कार्य कर रही है। मेरा अपना ख्याल है कि यदि दोनो सस्थाओका एकीकरण हो जाय तो मिली हुई कार्यशक्तिसे कार्य भी अधिक और उत्तम हो सकता है। एक बात और है कि अलगावसे पारस्परिक सघर्षको भी प्रोत्साहन मिलता है। यदि मेरा इन दोनोके एकीकरणका सुझाव आपको मान्य हो, तो एकीकरणकी क्या भूमिका हो सकती है ? इसपर भी आपको विचार करना चाहिये।

पचम समस्या · सास्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षा

अभी भी दिगम्बर जैन समाजके अन्दर सस्कृतिका अध्ययन कराने और सास्कृतिक विद्वान तैयार

करनेके लिये बडे-बडे विद्यालय मौजूद है, समाजका आर्थिक सहयोग भी उन्हे मिल रहा है, बहुतसे विश्व-विद्यालयोकी परीक्षाओमे जैन संस्कृतिका कोर्स रख दिया गया है और पठन-पाठनके लिये अध्यापकोकी नियुक्तियाँ भी कर दी गयी हैं। परन्तु शिक्षण लेने वालोकी अत्यधिक कमी दृष्टिगोचर हो रही हैं। इसका मूल कारण यह है कि सभी प्रकारकी शिक्षाका उद्देश्य आज नौकरी करना हो गया है और नौकरीमें भी अधिक-से-अधिक अर्थलाभकी दृष्टि बन चुकी है, जिसकी पूर्तिकी आशा सास्कृतिक शिक्षासे कभी नही की जा सकती है। इस तरह सास्कृतिक शिक्षण लेनेवालोकी कमी हो जानेके कारण भविष्यमें सास्कृतिक ज्ञानके लुप्त हो जानेकी आशंका होने लगी हैं।

यद्यपि यह प्रसन्नताकी बात है कि हमारे विद्यालयोने भविष्यमें सास्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षाकी दृष्टिसे अपनी शिक्षणपद्धतिमें कुछ सुधार किये है तथा उनका लाभ इन विद्यालयोमे पढने वालोको मिला भी है, जिसका परिणाम यह हुआ हैं कि ऐसे विद्वान सामाजिक क्षेत्रसे बाहर अच्छे क्षेत्रोमें कार्य कर रहे हैं। परन्तु साथमें इसका यह भी परिणाम हुआ है कि ऐसे बहुतसे विद्वानोका सामाजिक और सास्कृतिक कार्योसे प्राय सम्पर्क समाप्त हो चुका हैं। विद्वत्परिषद्का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित करे और उनके अन्दर सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्योंके प्रति रुचि जागृत करे। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाकी दृष्टिसे कुछ ठोस उपाय भी आपको सोचना है।

इस विषयमें मेरा सुझाव है कि त्यागमार्गकी ओर बढ़ने वाले व्यक्तियोमेंसे बुद्धिमान् व्यक्तियोको चुनकर उनमें सास्कृतिक तत्त्वज्ञानके अध्ययनकी रुचि जागृत की जावे तथा उनको विद्यालयोमे छात्रके रूपमें रहनेकी उचित सुविधा दिलायी जावे। यदि इस परम्पराके चलानेमे विद्वत्परिषद् सफल हो जाती है तो सास्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाका प्रश्न सुदूर भविष्य तकके लिये हल हो सकता हैं।

एक जिस बातके ऊपर विद्वत्परिषद्का ध्यान जाना जरूरी है वह यह हैं कि सास्कृतिक अध्ययन-अध्यापनको जो पद्धति अभी चल रही हैं उससे छात्रोको ग्रथोका अभ्यास तो हो जाता हैं परन्तु विषयके समझनेमे वे अन्त तक कमजोर रहा करते हैं। पढनेमे भी उन्हे अधिक श्रम करना पडता हैं अत. सास्कृतिक पठन-पाठनके विषयमे वैज्ञानिक पद्धति निकालनेकी योजना बनानेकी ओर भी हमारा लक्ष्य जाना चाहिये। इससे पढने वाले छात्रोको विषय सरलताके साथ समझमें आने लगेगा। साथ ही उनके श्रममे भी कमी आ जायगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि अभी जो सास्कृतिक अध्ययन करने वाले छात्र अरुचि-पूर्वक सास्कृतिक अध्ययन करते है यह बात न रहकर वे रुचिपूर्वक अध्ययन करने लगेंगे।

एक बात यह भी प्रसन्नता की है कि हमारे सास्कृतिक विद्वान जैन सस्कृतिके साहित्यके विषयमें ऐति-हासिक दृष्टिसे बहुत कुछ सोचने और लिखने लगे हैं। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ है कि जैनेतर विद्वानोकी रुचि जैन सस्कृतिके साहित्यका अध्ययन करनेकी ओर उत्पन्न हुई है, जैन सस्कृतिके प्रसारकी दृष्टिसे यह उत्तम बात हैं। इसके साथ ही हमें अपने प्राचीनतम साहित्यके आधारपर लोकभाषा हिन्दी आदि भाषाओमें भी सास्कृतिक मौलिक साहित्यका निर्माण करना चाहिये। हमारे पुरातन महर्षियोने जैन संस्कृतिके साहित्य-निर्माणमे जिस प्रकार तत्कालीन लोकभाषाओका समादर किया था, ठीक उसी प्रकार आज हमें भी करना चाहिये। यद्यपि हमारे बहुतसे विद्वानोने पुरातन साहित्यका हिन्दी आदि भाषाओमे अनुवाद किया है और कर रहे हैं परन्तु इतनेसे ही हमे सतोष नही कर लेना चाहिये।

मैंने जिन बातोका ऊपर सकेत किया है वे सब बातें विद्वत्परिषद्के उद्देश्यसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं और इसके कर्त्तव्यक्षेत्रमे आती है। इनके अतिरिक्त आपके मस्तिष्कमे भी बहुत-सी बातें होगी उन्हे आप भी

यहाँपर रखेंगे । मैं चाहता हूँ कि इन सब बातोपर यहाँ गम्भीर मथन किया जाय और उनके विषयमे यथा-शक्ति कार्यक्रम निर्धारित किया जाय । कार्यक्रम भले ही छोटा हो परन्तु ठोस होना चाहिये ।

उपसंहार

विद्वत्परिषद्‌का यह अधिवेशन सिवनी जैसी सास्कृतिक नगरीमे हो रहा है । यह नगरी जैन समाजकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण रही है और आज भी इसका वही महत्त्व है । यहाँ जैन सस्कृतिके अच्छे ज्ञाता और अनुभवी व्यक्ति रहे है और आज भी हैं । यहाँके बडे-बडे गगनचुम्बी जैन मदिर मध्यप्रदेशके ख्यातिप्राप्त मन्दिरोमे हैं । इस समय मगलमय पचकल्याणकजिनविम्ब प्रतिष्ठा भी यहाँपर हो रही है । सभी तरहकी सुन्दर और आरामदेह व्यवस्था यहाँकी समाजने बाहरसे आये हुए जनसमूहके लिये की है और स्वागत समितिने हमारा स्वागत और आतिथ्य करनेमे कोई कमी नही रहने दी है ।

इसके पूर्व विद्वत्परिषद्‌के जितने अधिवेशन हुए है उन सबमे प्रात स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजको प्रत्यक्ष या परोक्ष छत्र-छाया हमे प्राप्त होती रही है । परन्तु दु ख है कि यह दशम अधिवेशन उनकी छत्रछायाके बिना सम्पन्न हो रहा है । पूज्य वर्णीजीके हृदयमे प्रत्येक विद्वान्‌के अभ्युत्थानकी उदात्त भावना थी । उन्होने जैन समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिमे जो कार्य किया है उसे कभी भुलाया नही जा सकता । उनके द्वारा प्रचारित जिनवाणीके अध्ययन-अध्यापनको हमें निरन्तर जारी रखना है । अच्छा हो कि उनकी स्मृतिमें जगह-जगह 'वर्णी स्वाध्याय-शालाएँ' स्थापित की जावे और उनके माध्यमसे हमारे विद्वान् समाजमे सम्यग्ज्ञानका प्रचार करें ।

अपना भाषण समाप्त करते हुए विद्वत्परिषदके माननीय सदस्यो, सिवनीकी जैन समाज और सभी उपस्थित जनसमुदायसे प्रार्थना है कि अज्ञान और कार्यशक्तिकी अल्पताके कारण जो त्रुटियो रही हो, आप सब उनपर ध्यान न देंगे ।

जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान[1]

तीन भुवनमे सार वीतरागविज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारिके ॥

गत वर्ष विद्वत्परिषद्का साधारण अधिवेशन मध्यप्रदेशकी सिवनी नगरीमे त्रैलोक्याधिपति श्री १००८ जिनेन्द्रदेवके पञ्चकल्याणक महोत्सवके अवसरपर इसी फरवरी मासमे हुआ था। उसके एक वर्ष पश्चात् यहाँ-पर उसका यह नैमित्तिक अधिवेशन हो रहा है।

सिवनीमे हुए साधारण अधिवेशनके अवसरपर मैंने अपने अध्यक्षीय भाषणमे विद्वत्परिषद्के उद्देश्योके अनुकूल कुछ अवश्य विचारणीय समस्यायें प्रस्तुत की थी। प्रसन्नता की बात है कि उनको लक्ष्यमें रखकर उस अधिवेशनमें माननीय सदस्यो द्वारा कुछ निर्णय भी लिये गये थे। उन निर्णयोके आधारपर विद्वत्परिषद्ने गत एक वर्षमें क्या प्रगति की है ? इसकी जानकारी विद्वत्परिषद्के सुयोग्य मंत्री जी आपको देंगे।

सर्वप्रथम यह निवेदन करना चाहता हूँ कि एक वर्षके अनन्तर हमे पुन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन जैन संस्कृतिकी प्राचीनतम और गौरवपूर्ण पवित्र तीर्थभूमि इस श्रावस्ती नगरीमें हो रहे पञ्चकल्याणक महो-त्सवके अवसरपर नैमित्तिकरूपसे करनेका उत्तम योग प्राप्त हुआ है। भावना है कि हमारी श्रमशक्तिका अधिक-से-अधिक उपयोग विद्वत्परिषद्की गतिशीलताको जीवित रखकर उसको सुदृढ बनाने और उसके उद्देश्यो-की पूर्ति करनेमे हो सके।

विद्वत्परिषद्का वर्तमानमे जो कार्यक्रम चालू है उसके विषयमें विद्वत्परिषद्के सिवनी अधिवेशन द्वारा निर्णीत किये गये महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव आधार है। उन प्रस्तावोको आपके समक्ष दुहरा देना उचित समझता हूँ व आशा करता हूँ कि आप उन्हे सावधानीसे श्रवण करेंगे तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

"विद्वत्परिषद्का यह अधिवेशन अनुभव करता है कि जैनतत्त्वज्ञान और सस्कृतिको आधुनिक ढंगसे प्रकट करनेके लिये आवश्यक है कि विद्वत्परिषद् ऐसी गोष्ठियोका अधिवेशनपर आयोजन करे, जिनमे जैन विषयोपर शोधपूर्ण एव परिचयात्मक निबन्ध पढे जाये और उन निबन्धोको एक स्मारिकाके रूपमे प्रकट किया जाय।" (प्रस्ताव ६)

"दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् यह प्रस्ताव पास करती है कि जो अग्रेजीके विद्वान होनेके साथ ही सस्कृत एव धर्मके ज्ञाता विद्वान् हैं उनसे सम्पर्क बनाया जाय और उनसे अनुरोध किया जाय कि वे विद्वत्परिषद्से सम्बन्धित होकर सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रमें कार्य करे, ताकि जैन सस्कृति अक्षुण्य बनी रहे।" (प्रस्ताव ७)

"विद्वत्परिषद्के द्वारा प्रयास किया जावे कि रेडियोपर प्रसारित करने योग्य प्राचीन पद तथा अन्य सामयिक भाषण आदि अच्छी और उपयुक्त सामग्री उपलब्ध की जासके तथा प्रचारमत्रालयको इस दिशामें प्रेरित भी किया जावे।" (प्रस्ताव ९)

"समाजमें विद्वानोकी परम्पराको अक्षुण्ण रखनेके लिये विद्वत्परिषद् प्रस्ताव करती है कि गृहविरत त्यागियोंके हृदयमें भी ज्ञानवृद्धिकी भावनाको जाग्रत करके किसी विद्यालयमें उनके शिक्षणकी व्यवस्था की जावे व विद्यालय इसके लिये त्यागियोंके उपयुक्त सब व्यवस्थाका उत्तरदायित्व लेकर ज्ञानप्राप्तिका सुअवसर प्रदान करें।" (प्रस्ताव १०)

---

१ श्रावस्तीमे १९६६ में आयोजित वि० प० के नैमि० अधिवेशनपर अध्यक्षपदसे दिया गया भाषण।

"जैन साहित्यके विविध अगोपर राष्ट्रभाषा हिन्दीमे रचित गद्य और पद्यकी मौलिक रचनाओको प्रतिवर्ष पुरस्कृत करनेकी योजना कार्यान्वित करके विद्वत्परिषद्के द्वारा ऐसे साहित्यसृजनको विशिष्ट प्रेरणा और गति दी जावे।" (प्रस्ताव ११)

"विद्वत्परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमे समाजके योग्यतम विद्वानोको सार्वजनिक रूपसे सम्मानित किया जावे। यह सम्मान सबन्धित विद्वान्की समाजसेवा, साहित्यसेवा तथा अन्य धर्महितकारी गतिविधियोके आधारपर प्राप्त साधनोके अनुसार परिचय-ग्रन्थ, अभिनन्दन-ग्रन्थ अथवा प्रशस्तिपत्रके द्वारा किया जावे।" (प्रस्ताव १२)

ये छहो निर्णय यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र वैशिष्ट्यको रखते हुए अलग-अलग ढगके है। लेकिन इन सभीमे विद्वत्परिषद्का एक ही ध्येय गर्भित है और वह है जैन सस्कृतिका सरक्षण, विकास तथा प्रसार।

जैन सस्कृतिके सरक्षण, विकास और प्रसारकी आवश्यकतापर मैंने सिवनी अधिवेशनके अवसरपर पठित अपने भाषणमे विस्तारसे चर्चा की थी। उसमे मैंने बतलाया था कि विश्वकी सम्पूर्ण मानवसमष्टिके जीवनपर यदि दृष्टि डाली जाय तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रत्येक मानव-हृदयमे अनधिकारपूर्ण और न करने योग्य असीमित भोग व सग्रहकी आकाक्षाये उद्दीप्त हो रही हैं तथा इनकी पूर्तिके लिये ही सम्पूर्ण विश्व अहिंसाके मार्गसे विमुख होकर परस्परके सघर्षमे रत हो रहा है। यद्यपि इस तरहकी आकाक्षाये व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वके लिये अहितकर हैं, तो भी इनके उन्मादमे मानवमात्रका विवेक समाप्त हो चुका है और इस तरह सम्पूर्ण मानवसमष्टिका जीवन त्रस्त है व प्रत्येक मानवहृदयमे अशान्ति तथा आकुलतायें बढती ही चली जा रही है। जैन सस्कृतिके पुरस्कर्ता महर्षियोने इन सब प्रकारकी बुराईयोको मानवसमष्टिसे हटानेके लिये अपने अनुभवके बलपर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मानवजीवनके सचालनके लिये स्थिर किये थे, जिनके प्रति हमारी उपेक्षाबुद्धि हो जानेके कारण यह समस्त पृथ्वीतल नरकका महाविकराल-रूप धारण किये हुए दृष्टिगोचर हो रहा है। लेकिन यदि अब भी उन सिद्धान्तोको समझकर हम अपने जीवन-में उन्हे ढाल लें तो यही पृथ्वीतल स्वर्गका सौन्दर्यपूर्ण अनुपम रूप भी धारण कर सकता है।

विचारकी बात है कि जब भरतक्षेत्रके इस आर्यखण्डमे भोगभूमिका वर्तमान था, तो उस समय सम्पूर्ण मानवसमष्टि सुख और शान्तिपूर्वक रहती थी। इसका कारण यह था कि उस समय प्रत्येक मानव अपना जीवन आकाक्षाओके आधारपर सचालित न करके आवश्यकताओंके आधारपर ही संचालित करता था। आवश्यकतायें भी प्रत्येक मानवके जीवनकी कम हुआ करती थी, इसलिये एक तो उसका उपभोग्य पदार्थोंका उपभोग कम हुआ करता था। दूसरे, उसके हृदयमें उपभोग्य पदार्थोंके प्रति आकर्षणका अभाव होनेसे वह उनके संग्रहसे भी सदा दूर रहा करता था। इस प्रकार उस समय सभी मानव परस्पर घुलमिलकर समानरूपसे ही रहा करते थे, उनमे परस्पर कभी भी सघर्षका अवसर नही आ पाता था।

आज हालत बिलकुल विपरीत है। प्रत्येक व्यक्तिने अपनी आवश्यकतायें अप्राकृतिक ढंगमें अधिका-धिकरूपमे वढा रखी है और वह बढती ही चली जा रही है। इसके अलावा सभी प्रकारकी उपयोगी वस्तुओंके अमर्यादित सग्रहकी ओर भी प्रत्येक व्यक्ति झुका चला जा रहा है। इस तरह सम्पूर्ण मानव-समष्टि-का जीवन परस्परकी विषमताओसे भरा हुआ है। ऐसी हालतमे सघर्ष होना अनिवार्य ही समझना चाहिये।

जैन सस्कृतिके तत्त्वज्ञानमे ऐसे सभी संघर्षोंको समाप्त करनेकी क्षमता पायी जाती है, कारण कि वह मानवमात्रको न्यायोचित मार्गपर चलनेकी शिक्षा देता है। इतना ही नहीं, वह उसे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मो

व शरीरादि नोकर्मोंके साथ अपृथक्भावको प्राप्त आत्माको इनसे पृथक् करके स्वतन्त्र बनानेके मार्गपर भी चलनेकी शिक्षा देता है। इस तरह जाना जा सकता है कि जैन संस्कृतिका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान दो भागोंमें विभक्त है। उनमेसे एक भाग तो प्राणियोंके जीवनको सुखी बनाने समर्थ लौकिक तत्त्वज्ञानका है जिसे जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थो मे—

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव!॥"

के रूपमे प्रतिपादित किया गया है और दूसरा भाग आत्माको स्वतन्त्र बनानेमें समर्थ आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानका है, जिसे आगमग्रन्थोंमे 'अहमिक्को खलु सुद्धो' इत्यादि वचनो द्वारा आत्मतत्त्वकी पहिचान करके उसे प्राप्त करनेके मार्गके रूपमे प्रतिपादित किया गया है।

जैन संस्कृतिके लौकिक तत्त्वज्ञानका मूल आधार उल्लिखित पद्य द्वारा निर्दिष्ट "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त है। अत. जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता तीर्थंकरों, विकासकर्ता गणधरदेवो और प्रसारकर्ता आचार्योंने उद्घोषणा की है कि भो! मानव प्राणियो! यदि तुम अपना जीवन सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहते हो तो जैन संस्कृतिके "जियो और जीने दो" इस सिद्धान्तको हृदयगम करो, क्योकि इसमें मनके संकल्पोको पवित्र तथा वाणीको अमृतमयी बनानेकी क्षमता विद्यमान है व इसके प्रभावसे प्राणियोकी जीवन-प्रवृत्तियाँ भी एक-दूसरे प्राणियोके जीवनको अप्रतिघाती बन जाती है। यही कारण है कि भगवज्जिनेन्द्रके पुजारीको अपने जीवनमे "जियो और जीने दो"का सिद्धान्त अपनानेके लिये प्रतिदिन पूजाकी समाप्तिपर यह उद्घोष करनेका जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोंमे उपदेश दिया गया है कि—

"क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल:
काले काले च सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्मभूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि॥"

इसके अर्थको प्रकट करनेवाला सर्वसाधारणकी समझमे आने योग्य हिन्दी पद्य निम्न प्रकार है—

"होवे सारी प्रजाको सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा
होवै वर्षा समय पै, तिलभर न रहै व्याधियोंका अदेशा।
होवे चोरी न जारी, सुसमय वर्तै, हो न दुष्काल भारी
सारे ही देश धारैं जिनवरवृषको, जो सदा सौख्यकारी॥"

इससे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है कि प्रत्येक मानवको अपने जीवनमे सुख और शान्ति लानेके लिये सम्पूर्ण मानव-समष्टिके जीवनमे सुख और शान्ति लानेका ध्यान रखना परमावश्यक है।

जैन संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानकी विशेषता यह है कि इसे पाकर यह तुच्छ मानव देहधारी प्राणी अपनी जन्म और मरणकी प्रक्रियाको समाप्त करके हमेशाके लिये अजर-अमर बनकर नित्य और निरामय स्वातन्त्र्य-सुखका उपभोक्ता हो जाता है। इस तत्त्वज्ञानके आधारपर मानव-जीवनके विकासके अनुसार आत्मविकासकी प्रक्रियाका विवेचन जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोमे निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

जब कोई बिरला मनुष्य "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसारी लौकिक धर्ममार्गपर चलकर उपलब्ध किये गये जीवनसम्बन्धी (लौकिक) सुखकी पराधीनता और विनशनशीलताको समझकर उसके प्रति

अपने अन्त करणमें विरक्तिभाव जागृत कर लेता है तथा "नित्य और निरामय सुख आत्माके स्वतन्त्र हो जाने-पर ही प्राप्त हो सकता है" ऐसा जानकर वह मुमुक्षु बन जाता है तो उसके उस विरक्तिभावसे भरे हुए अन्तःकरणसे यह आवाज अनायास ही निकलने लगती है कि—

"मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी–
तन, बिन बसन, असन बिन, वनमें निवसो, नासादृष्टि धरी"

अर्थात् वह विचारने लगता है कि मुझे कब उस दिनका शुभ अवसर प्राप्त हो, जिस दिन मैं नग्न दिगम्बर-मुद्राको धारण करके वनको अपना निवास स्थल बना लूँ ? और अपनी इस भावनाको सुदृढ करता हुआ वह आगे चलकर जब वास्तवमें वनवासी हो जाता है तब उसके परिणामोकी वृत्ति भी—

"अरि-मित्र, महल-मसान, कचन-काच, निन्दन-थुतिकरन,
अर्घावतारण-असिप्रहारणमे सदा समता धरन ।"

—के रूपमे चमक उठती है। इतना ही नही, वह इतने मात्रसे सन्तुष्ट न होकर आगे अपनी प्रवृत्तियोकी बहिर्मुखताको समाप्त करके उन्हे अन्तर्मुखी बनाकर मन, वचन और काय सम्बन्धी योगोकी निश्चलता प्राप्त करता हुआ आत्माका इस तरह ध्याता बन जाता है कि मृग भी उसे पाषाण समझकर निर्भयताके साथ उसके पास आकर अपनी खाज खुजलाने लग जाता है और अन्तमे उसकी यहाँ तक स्थिति बन जाती है कि उसे इतना भी पता नही रह जाता है कि कौन तो ध्याता है ? किसका ध्यान किया जा रहा है ? और वह ध्यानक्रिया भी कैसी हो रही है ? अर्थात् उस समय वह केवल शुद्धोपयोगरूप ऐसा निश्चलदशाको प्राप्त हो जाता है, जिसके होनेपर वह यथायोग्य क्रमसे कर्मों तथा नोकर्मोके साथ विद्यमान आत्माकी परतन्त्रताको समूल नष्ट करके अन्तमे अपना चरमलक्ष्यभूत परमपद अर्थात् आत्मस्वातत्र्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

लौकिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रकारके तत्त्वज्ञानोमेसे लौकिकतत्त्वज्ञान तो जैन सस्कृतिको बाह्य आत्मा है क्योकि इससे हमें अपने जीवनको सुखी बनानेका मार्ग प्राप्त होता है और आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान उसकी (जैन सस्कृतिकी) अन्तरग आत्मा है क्योकि इससे हमें आत्माको स्वतन्त्र बनानेका मार्ग प्राप्त होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह आत्माको स्वतन्त्र बनानेके मार्गकी प्राप्तिको अपने जीवन-का मुख्य लक्ष्य निर्धारित करे तथा मुमुक्षु बनकर वह अपने शरीरको अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी बनानेका प्राकृतिक ढगसे प्रयास करे और इस तरह उसका शरीर जितना-जितना स्वावलम्बी बनता जाय उतना-उतना ही वह अणुव्रतो व इससे भी आगे महाव्रतोके रूपमे क्रमश शरीरसरक्षणके लिये तब तक आवश्यक पर-वस्तुओका अवलम्ब छोडता चला जाय, परन्तु अन्त करणमे मोक्षप्राप्तिकी भावनाका जागरण न होनेसे जो अभी तक मुमुक्षु नहीं बन सके अथवा मोक्षप्राप्तिकी भावनाका अन्त करणमे जागरण हो जानेपर भी जो अपने शरीरको स्वावलवी बनानेमे असमर्थ हैं उन्हे भी "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण मानवसमष्टिके संरक्षणकी चिन्ता रखते हुए उसके साथ घुलमिलकर समानरूपमे रहनेका अपना जीवनमार्ग निश्चित करना परमावश्यक है क्योकि इसके बिना न तो उनका जीवन उदात्त और सुख-शान्तिमय हो सकता है और न वे अपने जीवनको आध्यात्मिकताकी ओर मोड सकते हैं। जिन महापुरुषोंने पूर्वमे जब भी आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चलनेकी ओर कदम बढाया है तो उन्होने अपने जीवनमार्गको "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार परिष्कृत करनेका सर्व प्रथम प्रयत्न किया है।

मैंने इस भाषणके प्रारम्भमें श्रद्धेय पं० दौलतरामजी कृत छहढालाके जिस मगलमय पद्यके द्वारा

मङ्गलाचरण किया है उससे मेरे उल्लिखित कथनका ही समर्थन होता है। उस पद्यमें वीतराग-विज्ञानताको तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ प्ररूपित करते हुए उसके समर्थनके लिये जो 'शिवस्वरूप' और 'शिवकार' ये दो पद निक्षिप्त किये गये हैं उनमेंसे 'शिवस्वरूप' पदसे तो वीतरागविज्ञानताको स्वयं आनन्दस्वरूप बतला दिया गया है और 'शिवकार' पदसे उस वीतराग-विज्ञानताको आनन्दका कारण भी प्ररूपित कर दिया गया है। जहाँ वीतरागविज्ञानताको आनन्दस्वरूप कहा गया है वहाँ तो उसका आशय मानवजीवनके आध्यात्मिक चरमोत्कर्षसे लिया गया है और उस वीतरागविज्ञानताको जहाँ आनन्दका कारण स्वीकार किया गया है वहाँ उसका आशय मूलतः अन्तःकरणमें उद्भूत विवेक या सम्यग्दर्शनके साथ यथायोग्यरूपमें पाये जानेवाले उस ज्ञानसे लिया गया है जिसे "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तकी आधारभूमि कहा जा सकता है। अब इससे मेरे उल्लिखित कथनका समर्थन किस प्रकार होता है, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

वीतराग शब्दमें जो रागशब्द गर्भित है वह द्वेषका भी उपलक्षण है। इस प्रकार जो ज्ञान राग अथवा द्वेषसे प्रभावित न हो उस ज्ञानको ही जैन संस्कृतिमें 'वीतरागविज्ञान' शब्दसे पुकारा गया है। जीवमें राग और द्वेष दोनोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे हुआ करती है। उन दोनों प्रकारोंमेंसे एक प्रकार तो दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाला मोहपरिणाम यानी जीवका परपदार्थोंमें अहंभाव या ममभाव है और दूसरा अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाली जीवनसम्बन्धी भोग, उपभोग आदि परपदार्थोंकी अधीनता यानी परवशता या मजबूरी है। यद्यपि राग और द्वेष दोनों चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले आत्मपरिणाम हैं। परन्तु ये दोनों ही परिणाम जीवमें या तो उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते हैं या फिर जीवकी जीवनसम्बन्धी भोगादिपरवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते हैं।

मनमें उत्पन्न होनेवाली अनधिकारपूर्ण और अकरणीय आकांक्षाओंकी पूर्तिके कारणोंके प्रति होनेवाले प्रीतिरूप आत्मपरिणामका नाम मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होने वाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी उन आकांक्षाओंकी पूर्तिमें बाधा पहुचाने वाले कारणोंके प्रति होनेवाले अप्रीति व आत्मपरिणामका ही नाम उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव है। इसी प्रकार जीवके भोग और उपभोग आदि परवस्तुओंकी अधीनताको प्राप्त जीवनकी जो भी आवश्यकतायें हों उनकी पूर्तिके कारणोंका उपयोग करने रूप आत्मपरिणामका नाम अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयसे उत्पन्न परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें बाधा पहुचानेवाले कारणोंका प्रतिरोध करने रूप आत्मपरिणामका नाम उक्त परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेष भाव है।

दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले उक्त मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष और अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली उक्त परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेषके अन्तरको सरलतासे समझनेके लिये उदाहरणके रूपमें यह बात कही जा सकती है कि अभी कुछ मास पूर्व जो पाकिस्तान और भारतके मध्य भयकर युद्ध हुआ था उसने पाकिस्तानके राष्ट्रपतिकी इच्छा भारतको पददलित करनेकी थी इसलिये उनका वह युद्ध करने रूप परिणाम मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था और चूँकि जब पाकिस्तानका भारतपर आक्रमण हो गया तो भारतको भी परवश युद्धमें कूदना पडा। इसलिये भारतके तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्रीका परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था। उन दोनोंके द्वेषभावमें अन्तर विद्यमान रहनेके कारण ही विवेकशील देशोंने

पाकिस्तानके पक्षको अन्यायका और भारतके पक्षको न्यायका पक्ष माना है।

मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोंके जीवनको अशान्त और संघर्षमय बनाते हैं जबकि परवशता (पराधीनता) के कारभ उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोके जीवनकी सुखशान्तिमें बाधक न होकर केवल आध्यात्मिक जीवनके विकासमे बाधक होते हैं। इसको जैनागमके आधारपर यो कहा जा सकता है कि मोहके कारण होनेवाले राग और द्वेप अनन्तानुबन्धी कपायरूप होते है, इसलिये वे जीवोको विवेकी या सम्यग्दृष्टि बननेसे रोकते है अर्थात् इससे उनका (जीवोका) जीवन अशात और सघर्पमय बना रहता है। इसी तरह परवशता (पराधीनता) के कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायरूप होते है। इसलिये वे जीवोको चारित्रकी ओर बढनेसे रोकते हैं अर्थात् इसके कारण वे अपना जीवन भोजन, वस्त्र, आवास आदिके विना सुरक्षित रखनेमे असमर्थ रहा करते हैं।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जिस जीवके मोहका अभाव हो जानेसे उसके कारण उत्पन्न होनेवाले अनन्तानुबन्धी कषायरूप राग और द्वेप ममाप्त हो जाते हैं उस जीवमे वीतरागविज्ञानताका प्रारम्भिक रूप आ जाता है और फिर इसके पश्चात् एक ओर तो धीरे-धीरे अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोके उदयका अभाव होते हुए वह पूर्णतया नष्ट हो जावे तथा दूसरी ओर उत्तरोत्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कपायके क्रमसे राग और द्वेप भी धीरे-धीरे घटते हुए अन्तमे पूर्णतया नष्ट हो जावे व इसके अलावा ज्ञान भी इसके बाधक समस्त ज्ञानावरण कर्मका अभाव हो जानेसे पूर्णतया प्रकट हो जावे, तो ऐसी स्थिति जब बन जाती है तब उस जीवमे वीतरागविज्ञानता अपने चरमउत्कर्प पर पहुँच जाती है।

वीतरागविज्ञानताका उक्त प्रारम्भिकरूप प्रकट हो जानेसे जब जीव विवेकी या सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब अशाति व सघर्पका बीज समाप्त हो जानेके कारण उसको भावनामें, उसकी वाणीमे और उसके प्रत्येक कार्यमे "जियो और जीने दो" के सिद्धान्तकी झलक दिखाई देने लगती है। लौकिक धर्म इसीका नाम है। यही जीव जब आगे चलकर अप्रत्याख्यानावरण कषायकी किंचित् हानि हो जानेपर मोक्षप्राप्तिके प्रति उत्सुकतारूप दर्शनप्रतिमाका धारी हो जाता है तब वह सर्वप्रथम "मुमुक्षु" संज्ञाको प्राप्त होता है और वह जीव वहीसे आध्यात्मिक धर्मके मार्गमें प्रवेश करता है। यहाँसे लेकर जिस जीवमें अध्यात्मिक धर्मका मार्ग जैसा-जैसा विकसित होता जाता है उसके लौकिक धर्मके मार्गका दायरा वैसा-वैसा ही सकुचित होता जाता है। अर्थात् इसके लिये उक्त क्रमसे जीवनसरक्षणका प्रश्न गौण व आत्मविकासका प्रश्न मुख्य हो जाता है। इस तरह उस हालतमें जो कुछ वह सोचता है और जो कुछ वह करता है उसका मेल वह मुख्यतया अपने आत्मविकासके साथ ही बिठलाने लगता है।

इस विपयको इस तरह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि लौकिक धर्म प्रवृत्ति-परक धर्म है और आध्यात्मिक धर्म निवृत्तिपरक धर्म है। जिस व्यक्तिके सामने केवल जीवनके सरक्षणका प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रवृत्तिपरक लौकिकधर्मके मार्गपर चले। अर्थात् वह अपनी प्रवृत्ति ऐसा निर्णय करके करे कि वह प्रवृत्ति किस दृष्टिसे और कहाँ तक न्यायोचित है तथा स्वके लिये व समाज, राष्ट्र एवं विश्वके लिये किसी भी प्रकार विघातक नही है। परन्तु लौकिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिके लिये स्व, तथा समाज एवं राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त यदि कदाचित् आवश्यक हो जावे, तो न्यायोचित तरीकेसे शस्त्रका उपयोग करना भी जैन सस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार अहिंसाकी परिधिमें आता है। इसलिये भारत पर पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किये जानेपर भारतको अपनी रक्षाके लिये जो युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा उससे भारतको किसी भी प्रकार हिंसक नही माना जा सकता है और न इससे उसकी (भारतकी) अहिंसक नीतिमे कोई अन्तर ही उत्पन्न होता है।

उक्त लौकिक धर्मके मार्ग पर चलनेके लिये मनुष्यको मनोवलकी बडी आवश्यकता है। जिस व्यक्ति-मे मनोबलका अभाव है उसका मन कभी उसके नियन्त्रणमे रहनेवाला नही है और अनियन्त्रित मनवाला व्यक्ति हमेशा लोकमे अन्याय और अत्याचार रूप अनुचित तथा जीवन-सरक्षणके लिये अनुपयोगी व अनावश्यक प्रवृत्तियाँ किया करता है जिससे उसके जीवनमे सुख और शाति सही अर्थोंमे कभी आ ही नही सकती है। ऐसे व्यक्तिको जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार मिथ्यादृष्टि या अधर्मात्मा कहा जाता है। जो व्यक्ति अपनेको मनोवलका धनी बना लेता है उसका मन उसके नियत्रणमें हो जाता है तव वह व्यक्ति उक्त प्रकार-की अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक प्रवृत्तियोको समाप्त कर केवल उचित उपयोगी और आवश्यक प्रवृ-त्तियो तक हो अपना प्रयास सीमित कर लेता है। व्यक्तिके इस प्रकारके प्रयाससे लोकमे सघर्ष समाप्त होकर शाति स्थापित हो सकती है तथा व्यक्तिके जीवनमे सुख और शान्ति आ सकती है। जो व्यक्ति जब उचित, उपयोगी और आवश्यक प्रवृत्तियो तक ही अपना व्यपार सीमित कर लेता है तव जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्व-ज्ञानके अनुसार उसे सम्यग्दृष्टि या लौकिक दृष्टिसे धर्मात्मा कहा जा सकता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति जव अपने जीवन-संरक्षणके प्रश्नको गौणकर आत्मस्वातत्र्यके प्रश्नको प्रमुख बना लेता है तव उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यथाशक्ति निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चले। आध्यात्मिक मार्गपर चलनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको मनोवलके साथ-साथ जीवनकी भोगादि वस्तुओकी परा-धीनताको समाप्त करनेवाले शारीरिक वल और आत्मवलकी भी आवश्यकता है। जैनागममें वर्णित वाह्यतप-शारीरिकवलकी वृद्धिके और अन्तरग तप आत्मबलकी वृद्धिके कारण है। जिस व्यक्तिके अन्दर ये दोनो ही बल जितनी वृद्धिको प्राप्त होते जावेंगे उस व्यक्तिके सामने जीवनसरक्षणका प्रश्न उतना ही गौण होता जायगा। इस तरह वह व्यक्ति धीरे-धीरे प्रवृत्ति कर लौकिकधर्मके मार्गसे ऊपर उठता हुआ क्रमश अणुव्रत और महाव्रत आदिके रूपमे निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर अग्रसर होता जायगा और इसके एक सीमा तक पहुँच जानेपर वह इतना आध्यात्मिक दृष्टिसे धर्मात्मा वन जाता है कि वह अपने जीवनसरक्षणके लिये शस्त्रादिकका उपयोग करना तो दूरकी बात है, अपितु इससे भी आगे वह ऐसी प्रवृत्तियोका भी त्यागी बन जायगा, जिन प्रवृत्तियोका साक्षात् या परपरया आत्मविकाससे सम्बन्ध न हो अथवा जिनका त्याग करना उसे थोडा भी सम्भव हो। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मविकासके लिये नि स्पृहतापूर्वक जीवनको तुच्छ समझकर अवसर आनेपर निर्द्वंद्वतापूर्वक मृत्युको भी वरण कर लेगा। जैन सस्कृतिमे प्रवृत्तिपरक लौकिक धर्म और निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मध्य यही अन्तर प्रतिपादित किया गया है।

इस तरह जैन सस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानको जो विवेचना यहाँ पर की गई है उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने जीवनकी सुरक्षाके लिए अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक भोग तथा संग्रहरूप प्रवृत्तियो (जिन्हें अधर्मके नामसे पुकारा गया है) का सर्वथा त्यागकर उचित, उपयोगी और आव-श्यक भोग तथा सग्रहरूप प्रवृत्तियो (जिन्हे लौकिक धर्मके नामसे पुकारा गया है) को स्वीकार करना ही उत्तम मार्ग है और जिनके अन्त करणमे आत्मस्वातत्र्य प्राप्त करनेकी उत्कट भावना जाग्रत हो चुकी है अर्थात् जो मुमुक्षु बन चुके है उन्हें लौकिक धर्मके नामसे पुकारो जानेवाली प्रवृत्तियोको भी त्यागकर निवृत्तिरूप आध्या-त्मिक धर्मको अपनाना ही उत्तम मार्ग है।

जैन सस्कृतिके इस धार्मिक तत्त्वज्ञानके सरक्षण, विकास और प्रसारके लिए ही विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें उपर्युक्त छह प्रस्ताव पारित किये थे। इसलिये उन्हें क्रियात्मकरूप देनेके लिये हमे अपनी पूरी शक्ति लगानेकी आवश्यकता है। उनमेसे प्रस्ताव सख्या ६ व ७ को क्रियात्मकरूप दिया जा चुका है जिससे अनुमान होता है कि इनकी सफलता असदिग्ध है।

प्रस्ताव सख्या ९ को कार्यान्वित करनेके लिये जो उपसमिति सिवनी अधिवेशनमे बनायी गयी थी उसने, मुझे जहाँ तक मालूम है, अभी तक अपना कार्य प्रारम्भ नही किया है। मेरा उस उपसमितिके सयोजक श्री नीरज जैन सतनासे अनुरोध है कि वे इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप देनेके लिये उचित कार्यवाही करे।

प्रस्ताव संख्या १० इस दृष्टिसे पारित किया था कि समाजमे सास्कृतिक विद्वानोकी सख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है और नवीन विद्वान तैयार नही हो रहे है, इसलिये दि० जैन सस्कृतिके सरक्षणकी जटिल समस्या सामने उपस्थित है। इसको हल करनेका यह उपाय उत्तम था कि गृहविरत त्यागीजन सस्कृतिके सरक्षणकी चिन्ता करने लगें व इस तरह वे अपने जीवनका अमूल्य समय संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययनमें लगायें। परन्तु ऐसे गृहविरत त्यागियोका मिलना दुर्लभ हो रहा है, जिनकी अभिरुचि सस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययन की हो। अभी तीन-चार माह पूर्व श्रीमहावीरजीमें व्रती-विद्यालयकी स्थापना हुई थी, लेकिन जनवरी-के अन्तिम सप्ताहमे श्री महावीरजी जानेपर देखा तो उस व्रती-विद्यालयमे व्रतियोका अभाव-सा देखनेको मिला। दो-चार व्रती है भी, तो एक तो उनमें अध्ययनकी रुचि नही देखी गयी। दूसरे, वे वहाँ पर स्थिर होकर अध्ययन करेंगे—यह कहना कठिन है। इन्दौरका उदासीनाश्रम तो लम्बे समयसे स्थापित है, परन्तु वहाँसे एक भी उदासीन सस्कृतिका सर्वांगीण विद्वान बनकर बाहर आया है, यह नही कहा जा सकता है। इसी तरह और कई व्रती-विद्यालयोकी स्थापना तथा समाप्तिके उदाहरण दिये जा सकते है।

गृहविरत त्यागियोकी अध्ययनकी ओर रुचि क्यो नही ? इसका एक ही कारण है कि वे अपना लक्ष्य अध्ययन करनेका नही बनाते है। पुरातन कालमे हमारे महर्षियोका लक्ष्य सस्कृतका अध्ययन-अध्यापन रहता था, इसलिये उनकी बदौलत ही आज हमे सस्कृतके महान् ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे है। यदि अभी भी हमारे महर्षियोका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बननेकी ओर हो जाय, तो सस्कृतके सरक्षणकी समस्या हल होनेमे देर न लगे, परन्तु इसके लिये हमारे महर्षियोंमे एक तो अनुशासनकी भावना हो। दूसरे, ऐसे व्यक्तियोंको ही गृहविरत त्यागी, ब्रह्मचारी या मुनि बननेकी छूट होना चाहिये, जिनका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बनना हो।

प्रस्ताव सख्या ११ को सफल बनानेके लिये समाजके लब्धप्रतिष्ठ श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजी ने १०००) वार्षिक विद्वत्परिषद्को देनेकी स्वीकारता दी है। इसके लिये विद्वत्परिषद् उनका प्रसन्नतापूर्वक आभार मानती है और विद्वानोंसे आशा करती है कि वे इससे समुचित लाभ लेकर सस्कृतिके सरक्षणमे अपना योगदान करेंगे।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें ही सख्या ५ का एक प्रस्ताव स्व० प० गुरु गोपालदासजी वरैयाकी सौवी जयन्ती उच्चस्तरपर मनानेके सम्बन्धमें पारित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये बनायी गयी उपसमिति तत्परताके साथ कार्य कर रही है। इसके लिये यह उपसमिति और इसके सयोजक डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य आरा अधिक-अधिक धन्यवादके पात्र है। समाज व विद्वानोने भी इस कार्यमे काफी दिलचस्पी दिखाकर आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तथा इनसे आगे भी अत्यधिक आर्थिक सहयोग मिलनेकी आशा है। प्रत्येक विद्वानको भी अपना कर्तव्य समझकर इसमें आर्थिक सहयोग देना चाहिये।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनके प्रस्ताव सख्या ८ द्वारा लेखक व वक्ता विद्वानोंसे अनुरोध किया था कि वे लेखों और प्रवचनोमें शिष्टसम्मत शैलीका पालन करें और व्यक्तिगत आक्षेपसे बचें। गत जनवरी मासके अन्तिम सप्ताहमें श्रीमहावीरजी तीर्थक्षेत्रपर भी उक्त विषयके सम्बन्धमें विद्वानों और श्रीमानोंसे

एक सम्मेलन हुआ था। उसमें प्रभावक ढङ्गमे हुए निर्णयसे आशा बँधती है कि उससे लाभ होगा। वे महानुभाव धन्यवादके पात्र है। जिन्होने श्रीमहावीरजीके सम्मेलनका आयोजन किया और उसे सफल बनाया।

इन्दौरमे तेरहपथ और बीसपथका सघर्ष सुननेमे आया है तथा कतिपय स्थानोपर सोनगढसे नियन्त्रित मुमुक्षुमण्डलो और पुरातन समाजके बीच भी सघर्ष सुननेमे आये है। यह बडे दु खकी बात है। ऐसी घटनाओसे समाज कलकित होती है। मै समझता हू कि धर्मके सरक्षण अथवा प्रचारके लिये कषायपूर्ण सघर्ष होना धर्मके ही महत्त्वको कम करते है। इसलिये परस्पर-विरोधी आस्था रखनेवाले व्यक्तियोको केवल धर्माराधनपर ही दृष्टि रखना चाहिये, उनका कल्याण उसीमें है।

इस प्रसगमें एक बातमें यह कहना चाहता हूँ कि समाजमें विद्यमान सहनशीलताके अभावसे ही प्राय ऐसे या अन्य प्रकारके सामाजिक सघर्ष हुआ करते हैं। इसलिये हमारी सामाजिक सस्थाओको अपनी स्थिति इतनी सुदृढ बनानी चाहिये, ताकि वे सहनशीलताको अपना सकें व समाजको संगठित कर सके।

श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रके विषयमें विहार सरकार और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाजके मध्य जो इकरार हुआ है उससे दिगम्बर समाजके अधिकारोका हनन होता है। अत इस इकरारको समाप्त करवानेका जो प्रयत्न अ० भा० तीर्थक्षेत्र कमेटी द्वारा किया जा रहा है वह स्तुत्य है। इसमे सन्देह नही कि उक्त कमेटीने गतवर्ष समाजमे श्रीसम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्र की रक्षा करनेके लिये जो चेतना जाग्रत की, उसके कारण वह अत्यन्त प्रशसाकी पात्र है। परन्तु अब वह क्या कर रही है, इसकी जानकारी समाचारपत्रो द्वारा होते रहना चाहिए।

हम मानते है कि तीर्थक्षेत्र कमेटीके सामने कार्यको तत्परतापूर्वक सम्पन्न करनेमे कुछ कठिनाईयाँ सम्भव है और हम उसके पदाधिकारियोको यह विश्वास दिला देना चाहते है कि समाजको कमेटीके ऊपर पूर्ण विश्वास है, फिर भी उससे हमारा अनुरोध है कि समाजमें क्षेत्रके विषयमे जो चिन्ता और बेचैनी हो रही है उसको ध्यानमे रखते हुए वह यथासम्भव अधिक-से-अधिक तत्परतापूर्वक समस्याको सन्तोषप्रद ढगसे शासनसे शीघ्र हल करवानेका प्रयत्न करे।

'सरिता' पत्रमे जैनसस्कृतिके विरुद्ध "कितना महँगा धर्म" शीर्षकसे प्रकाशित लेखसे जैन समाजका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। लेखका लेखक और पत्रका सम्पादक दोनो यदि यह समझते हो कि उन्होने उत्तम-कार्य किया है तो यह उनकी आत्मवञ्चना ही सिद्ध होगी। इसका जैसा प्रतिरोध जैन समाजकी तरफसे किया गया है या किया जा रहा है वह तो ठीक है परन्तु जैन समाज और उसकी साधुसस्थाको सस्कृतिके वैज्ञानिक और आध्यात्मिक महत्त्व व उसकी उपयोगिताकी लोकको जानकारी देनेके लिये सस्कृतिके अनुकूल कुछ विधायक कार्यक्रम भी अपनाना चाहिये।

वाराणसीमे विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठकके अवसरपर ऐसी चर्चा उठी थी कि विद्वत्परिषद्के उद्देश्य और कार्यक्रमके साथ भारतीय जैन साहित्यससद्के उद्देश्य और कार्यक्रमका सुमेल बैठता है, अत क्यो न उसे विद्वत्परिषद्के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाय ? इस चर्चाको यदि सार्थकरूप दिया जा सके तो मेरे ख्यालसे सास्कृतिक लाभकी दृष्टिसे यह अत्यधिक उत्तम बात होगी।

मैं पुन विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद्के एकीकरणकी बातको दुहराता हूँ और कहना चाहता हूँ कि इसके लिये यदि विद्वत्परिषद्को पहल भी करना पडे तो करना चाहिये। श्रीमहावीरजीमे हुए सम्मेलनसे निर्मित वातावरण इस एकीकरणके लिए सहायक हो सकता है। इसके अलावा मेरा दृष्टिकोण अब भी यह बना हुआ है कि विद्वत्परिषद्का एक सास्कृतिक पत्र अवश्य होना चाहिए।

अब मैं ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयपर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिसके सम्बन्धमे समस्त जैन समाजको रुचि और उत्साह प्रसन्नतापूर्वक दिखलाना चाहिए। वह है इस श्रावस्ती तीर्थक्षेत्रका विकासकार्य। श्रावस्ती भारतवर्षकी एक प्राचीनतम सास्कृतिक एव प्रसिद्ध नगरी रही है। सास्कृतिक दृष्टिसे इसका विशेप महत्त्व रहा है। यही कारण है कि इसको भारतवर्पकी सभी सस्कृतियोके प्रवर्तकोने अपने-अपने समयमे अपनाया है। जैन समाजसे तो इसका सम्बन्ध अतिप्राचीनतम कालसे है। जैन सस्कृतिके मुख्य प्रवर्तक २४ तीर्थंकरोमेसे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथके अनन्तर जो तृतीय तीर्थंकर श्री शंभवनाथ हुए है उनके गर्भ, जन्म, तप और केवल ये चारो कल्याणक इसी श्रावस्ती नगरीमे ही हुए है और तभीसे वह नगरी अपने वैभवपूर्ण सौंदर्यके कारण इतिहासप्रसिद्ध है। साथ ही ऐतिहासिक कालके पूर्व भी यह महती वैभवशालिनी रही है—इसकी जानकारी हमे पुराणग्रन्थोमे प्रचुरताके साथ पायी जाने वाली विवेचनासे प्राप्त होती है। "जगत्की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु अस्थिर और अनित्य है" इसका अपवाद यह नगरी भी नही बन सकी और इसलिये आज यह इस भग्नकायाके रूपमे दृष्टिगोचर हो रही है। बहराइचकी दि० जैन समाज और श्री श्रावस्ती दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीको हम इसलिये साधुवाद देना चाहते है कि इन्होने उसे सम्पूर्ण जैन समाजके दृष्टिपथ पर लानेके लिये यह पञ्चकल्याणक महोत्सव कराया है। श्री भारतवर्पीय दि० जैन विद्वत्परिपद् यहाँ अधिवेशन करके अपनेको कृतार्थ समझती है। मुझे आशा है कि भारतवर्षकी सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज—

"शानदार था भूत, भविष्यत् भी महान् है।
अगर सम्हालो आज उसे, जो वर्तमान है॥"

—इस पद्यकी भावनाके अनुसार इस क्षेत्रके सास्कृतिक उत्थानमे अपना पूर्ण योगदान करेगी तथा उपस्थित जन समुदायके इस क्षेत्रके विकासमे यथाशक्ति आर्थिक योगदान किये बिना यहाँसे नही लौटेगा।

सन् १९६६ का वर्ष प्रारम्भ राष्ट्रकी दृष्टिसे बडा दुखदायी सिद्ध हुआ है। राष्ट्रके प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्रीका अकल्पित वियोग एक ऐसी घटना है जिससे ससार स्तब्ध रह गया है। भारत और पाकिस्तानके मध्य १८ वर्षसे चले आ रहे झगडेका ताशकन्द (रूस) मे सुखद अन्त श्री शास्त्रीजीके द्वारा होना और फिर करीब ८–९ घन्टेके अनन्तर ही वहीपर उनका स्वर्गवास हो जाना इत्यादि बाते हृदयविदारक है। श्री नेहरूजीके स्वर्गवासके अनन्तर ये भारतके प्रधानमत्री बने। परन्तु यह भारतका दुर्भाग्य था कि इन्हे अपने डेढ वर्षके कार्यकालमे विरासतमे प्राप्त और कुछ नवीन जटिल सघर्षोसे ही जूझना पडा। इसमे सन्देह नही कि संघर्षोके साथ जूझना शास्त्रीजीका अजेय वीर योद्धा जैसा युद्ध था। उन्होने अपने कार्यकलापके डेढ वर्षके अल्पसमयमें ही भारतका मस्तक विश्वमे ऊँचा कर दिया और स्वय विश्वके श्रद्धाभाजन बन गये।

सन् ९६६ का प्रारम्भ हमे सामाजिक दृष्टिसे भी दु खदायी सिद्ध हुआ है। श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी कलकत्ताका वियोग सास्कृतिक और सामाजिक दोनो दृष्टियोसे जैन समाजके लिये हानिकारक है। जैन-साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वका जितना कार्य आपने किया है वह सब स्वर्णाक्षरोमे लिखा जाने लायक है। कितना दुर्बल शरीर और कितना अटूट श्रम उनका था, किन्तु कभी उनका उत्साह भग नही हुआ। ऐसे महान् व्यक्तिके प्रति हमारे श्रद्धा-सुमन अर्पित है।

मेरा भाषण विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष पदका भाषण है। अत इसमे सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानकी पुट रहना स्वाभाविक था। मैंने इसे बहुत कुछ सरल और स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न किया है।

अन्तमें स्वागत समिति द्वारा किये गये आतिथ्यके लिये अपनी ओरसे और विद्वत्परिपदकी ओरसे आप सबका आभार प्रकट करता हुआ अपना भाषण समाप्त करता हूँ।

युगधर्म बननेका अधिकारी कौन ?

अर्वाचीन युगके इस द्वितीय महायुद्धमे मानव-जगत काफी उत्पीडित हुआ है। बमो, उडनबमो और अणुबमोके द्वारा निरीह और निरपराध जनतासे आबाद अनेक शहर बर्बाद कर दिये गये है, बहुतसे छोटे-छोटे देश परस्परके शत्रु बडे देशोके बीचमें पड जानेके कारण चक्कीके दो पाटोके बीचमे पडे हुए अनाजके दानोकी तरह पिस गये है, युद्धरत देशोके लाखो मनुष्य युद्धके मैदानमे मारे गये है और भारत जैसे कृषिप्रधान देशमे भारत सरकारकी गैर जवाबदारीपूर्ण अव्यवस्थाके कारण अर्घ कोटिके करीब मनुष्य अकालके उदरमें समा गये है।

यद्यपि आज युद्ध समाप्त हो गया है, परन्तु उसकी छाया आज भी मौजूद है। विजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रोका बदला लेनेकी भावनाके शिकार हो रहे हैं, उन्हें (विजित राष्ट्रोको) कुचल दिया गया है, परतन्त्र बना लिया गया है और अभी भी दमनकी चक्कीमे पीसा जा रहा है। युद्धापराधियोकी सूचीमे आये हुए या तो स्वय आत्मघात कर रहे है या फिर उन्हें कानूनी न्यायके आधारपर गोलीसे उडाया जा रहा है। बहुतसे देशोमे शासनकी बागडोर सम्हालने वाली पार्टी अपने ही देशवासियोको न्यायका ढोग रच-रच कर खत्म कर रही है और बडे-बडे राष्ट्रोके साम्राज्यवादके शिकार हुए देश युद्धकालमे किये गये बायदोके आधारपर स्वतन्त्र होनेके लिये छटपटा रहे है, उनका हर तरहमे दमन किया जा रहा है।

इस युद्धमे जिन लोगोके कुटुम्बीजनोका विनाश हो गया है और जिन्हें जबर्दस्त आर्थिक क्षति उठानी पडी है उन लोगोको तो इसकी याद करके जिंदगी भर रोना ही है। परन्तु युद्धकी समाप्तिसे सपूर्ण मानवजातिमे वही पुराना शातिका जीवन प्राप्त करनेकी जो आशा उदित हो गयी थी उसकी पूर्तिके आसार नजर नही आ रहे हैं। युद्धके दरम्यान जिन कानूनी कठिनाइयोका उसे सामना करना पड रहा था वे कठिनाइयाँ आज भी मौजूद है, मँहगाई, चोर बाजार और घूसखोरीसे छोटेसे लेकर बडे तक हजारो, लाखो और करोडो तककी दौलत कमाने वाले लोग, जिनके सौभाग्यसे ही मानो युद्धकी भट्टी धधक उठी थी, आनन्दविभोर होते हुए आज भी अपनी आदतोसे बाज नही आये है। इसके अतिरिक्त बेकारीकी समस्या भी प्रत्येक देशमे धीरे-धीरे घर करती जा रही है।

इन सब बातोके परिणाम-स्वरूप दुनियाके इस छोरसे उस छोर तक मानवजातिकी एक ही चाह है और एक ही आवाज है कि ऐसे उपाय किये जाने चाहिये कि भविष्यमे कभी भी युद्धका मौका आनेकी सम्भावना जाती रहे। परन्तु दुनियाँकी बडी-बडी ताकतोकी साम्राज्य-लिप्सा, विजित राष्ट्रोका दमन और आपसमें बर्ती जानेवाली दाव-पेंचकी अविश्वासपूर्ण नीतिको देखते हुए यह कहना कठिन है कि निकटभविष्यमे ही युद्धका मौका नही आ सकता है।

वास्तवमे सम्पूर्ण मानव जाति अब इस किस्मके अमानवीय युद्धोमे यदि नही फँसना चाहती है तो इसे युद्धको प्रोत्साहन देनेवाली स्वार्थपूर्ण दूषित मनोवृत्तियो और प्रवृत्तियोको छोडकर धार्मिकताकी ओर कदम बढानेका प्रयत्न करना होगा। विजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रो द्वारा बलपूर्वक दबा लिये जाँय, इसकी अपेक्षा विजित राष्ट्रोके प्रति सहृदयता और प्रेमका व्यवहार करनेकी जरूरत है ताकि विजेता राष्ट्र सम्पूर्ण मानवजातिके प्रति सहृदयता और प्रेमका व्यवहार करना सीख जायँ, शक्तिसे युद्धको दबाया तो जा सकता है परन्तु उसके बीजोको समूल नष्ट नही किया जा सकता है। पहला महायुद्ध शक्तिसे ही तो दबाया गया था। जिससे अल्पकालमें ही हमे उससे भी भयकर दूसरा युद्ध देखना पडा है। धार्मिकताके आधारपर कायम की गयी शान्ति

ही स्थायित्वको प्राप्त हो सकती है। परन्तु धर्म क्या ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। विश्वके रग-मचपर धर्मके नामपर हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुस्लिम और ईसाई आदि बहुतसे धर्म अपने-अपने भेदो और प्रभेदो सहित देखनेमें आ रहे है। क्या इन सभीको धर्म मान लिया जाय या इनमेसे किसी एकको धर्म नामसे पुकारा जा सकता है ? अथवा इनमेसे कोई भी धर्म, धर्म नामका अधिकारी नही हो सकता है ?

धर्मतत्त्वके सही अर्थको समझनेकी इसलिये जरूरत है कि उल्लिखित तथा कथित धर्मोके जरिये संपूर्ण मानवजाति अनेक अनिष्टकर वर्गोमे विभक्त हो गयी है और मानवजातिके ये वर्ग अपने-अपने तथाकथित धर्मको दूसरे तथा कथित धर्मोकी अपेक्षा न केवल अधिक महत्त्व ही देना चाहते है बल्कि अपने तथाकथित धर्मको ही धर्म और दूसरे तथाकथित धर्मोको अधर्म कहनेमें भी इन्हे संकोच नही होता है। और आश्चर्य यह है कि इन तथाकथित धर्मोमेसे प्रत्येक धर्मको मानने वाले इन अनेक वर्गोने धार्मिकताको एक निश्चित दायरेमे बाँध रखा है। हिन्दू धर्मको मानने वाला हिन्दूवर्ग यज्ञ, हवन आदि वैदिक क्रियाकाण्ड और गंगा आदि नदियोमे स्नान आदिको ही धर्म मानता है, साधुओका जटा बढाना, पचाग्नि तप करना और भग, गाँजा आदि मादक वस्तुओका सेवन करना आदिको भी वह धर्ममे शुमार करता है। जैनधर्मको माननेवाला जैन वर्ग जैन-धर्मके प्रसारक तीर्थंकरोकी पूजा वदना और ध्यान करना पुराणोका ही स्वाध्याय करना ओर उनमे उपदिष्ट व्रत आदिका अनुष्ठान करना आदिको ही धर्म मानता है। बौद्ध, सिख और पारसी आदि धर्मोको माननेवाले बौद्ध, सिख और पारसी आदि वर्ग अपने-अपने नियत क्रियाकाण्डोको ही धर्म समझते हैं, मुस्लिम धर्मका उपासक मुसलमानवर्ग मसजिदमे जाकर समाज पढना आदिको धर्म मानता है और दूसरे धर्म वालोको काफिर समझकर तकलीफ देना आदि बातोको भी धर्मकी कोटिमे शुमार करनेका साहस करता है तथा ईसाई धर्मका धारक ईसाई भाई गिरजामे जाना और अपने धर्म गुरु (पादरी)का उपदेश सुनना आदि बातोको ही धर्म मानता है। उक्त प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी उक्त धार्मिकतामे कभी भी अपूर्णता, सदोषता और निरर्थकताका अनुभव नही करता है। इस प्रकार उक्त प्रत्येक वर्ग जहाँ अपने तथाकथित धर्मको धर्म और उसको माननेवाली मानवसमष्टिको धर्मात्मा मानता है वहाँ वह अपने इस कथित धर्मको राष्ट्र-धर्म और यहाँ तक कि विश्व धर्म कहनेका दु.साहस भी करता है।

जहाँ तक मै सोच सका हूँ उससे इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि उक्त तथाकथित धर्मोमे कोई भी धर्म, धर्म नही है क्योकि धर्म एक ही हो सकता है, दो नही, और अधिक भी नही। धर्मका प्रतिपक्षी यदि कोई हो सकता है तो वह अधर्म ही होगा, धर्म-धर्ममें प्रतिपक्षिता कभी भी सम्भव नही मानी जा सकती है। दुनियाँके किसी भी छोरपर जाया-जाय, धर्मके प्रचार और रग-रूपमे कोई भी भेद नजर नही आयेगा और यदि भेद नजर आता है तो उसे धर्म समझना ही भूल है। इस प्रकार धर्म जिस तरह सार्वत्रिक है उसी तरह वह शाश्वत भी है, उसकी युगधर्मता अपरिवर्तनीय है, वह हमेशा युगधर्मके रूपमे एक-सा प्रकाशमान होता रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपने सीमित बुद्धिबलसे धर्म और अधर्मका विश्लेषण सहजमे ही कर सकता है। इसके लिये बडे-बडे ग्रन्थोको टटोलने व परिश्रमके साथ उनका अध्ययन और मनन करनेकी जरूरत नही है और न बड़े-बडे विद्वानोंकी शरण लेना भी इसके लिये आवश्यक है।

अपने अन्त करणमे क्रोध, दुष्ट विचार, अहंकार, छल-कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना तथा सरलता, नम्रता और आत्म गौरवके साथ-साथ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया और सहानु-भूति आदि सद्भावनाओको जाग्रत करना धर्म है और अपनी वाचनिक और कायिक बाह्य प्रवृत्तियोमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवृत्तिको मानवताके धरातलपर यथायोग्य स्थान देते हुए समता और परोपकारको स्थान देना भी धर्म है।

इस धर्मको न तो क्षेत्रीय और कालिक किसी भी मर्यादामे बाँधा जा सकता है और न ऊपर बतलायी गयी हिन्दू, जैन बौद्ध, सिख, पारसी, मुसलमान और इसाई आदि किसी खास समष्टिसे ही इसका ताल्लुक है। यह धर्म हिंदू आदि किसी भी समष्टिके किसी भी व्यक्तिका धर्म हो सकता है। इस धर्मकी प्राप्तिमे ब्राह्मण और भगी, पुरुष और स्त्री विद्वान और मूर्ख, अमीर और गरीबका भेद कहीपर भी कभी भी बाधक नही हो सकता है और इसकी उपयोगिता कही भी, कभी भी, कैसी भी हालत क्यो न हो, मानवसमाजके लिये बनी हुई है।

हम देखते हैं कि उल्लिखित तथाकथित धर्मोंके आधारपर अपनेको धार्मिक समझनेवाली किसी भी समष्टिमे सामूहिकरूपसे यह धर्म नही पाया जाता है। प्रत्येक समाजमे स्वार्थका पोषण सर्वोपरि है और इसके लिये छल-कपट, बेईमानी, असत्यताका व्यवहार और भाई-भाई तथा पिता-पुत्रके लड़ाई-झगडे तो जीवनके अनिवार्य अग बन गये हैं। इन सबके विद्यमान रहते हुए भी मनुष्य केवल मनुष्य बना रहता है बल्कि वह धर्मात्मा भी बना रहता है। और तो क्या, चोरबाजार और घूँसखोरी जैसे राक्षसी कृत्य करनेवाले तथा उचित-अनुचित तरीको द्वारा निर्दयतापूर्वक व्यापकरूपसे मानवसमष्टिका सहार करनेवाले युद्धोके प्रवर्तक और संचालक लोग भी अपनेको धर्मात्मा ही मानते है। हम पूछते है कि इस विश्वयुद्धको क्या एक ही धर्मके मानने-वालोके बीचका युद्ध नही कहा जा सकता है और आज कौनसी तथाकथित धार्मिक समाज गर्वके साथ इस बातका दावा कर सकती है कि उसके अन्दर चोरबाजार और घूँसखोरी जैसे राक्षसी कृत्य करनेवाले व्यक्ति अधिकाधिकरूपमे मौजूद नही है ?

तात्पर्य यह है कि धार्मिकताके आधारपर निर्मित हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी, मुसलमान और ईसाई आदि सभी समष्टियोमे जब न केवल अधर्म ही बल्कि मनुष्यताका भी अभाव मौजूद है तो उन्हे धार्मिक समष्टि और उनकी उस धार्मिकताको धर्म नामसे कैसे पुकारा जा सकता है ? लेकिन इस सिलसिलेमें यहाँपर एक और प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उल्लिखित तथाकथित धर्म धर्म नही हैं तो क्या वे सब अधर्म है ? और यदि वे सब अधर्म हैं तो उन्हें कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

इस विषयमे मेरी मान्यता है कि उल्लिखित तथाकथित धर्म यदि धर्म नही है तो वे सर्वथा अधर्म भी नही है। परन्तु इस सबके परिष्कृत रूपोको धर्म-प्राप्तिके उपायोके रूपमे स्वीकार किया जाना चाहिये और इसके परिष्कृतरूपोको मैं हिन्दू सस्कृति, जैन सस्कृति, बौद्ध सस्कृति, सिख सस्कृति, पारसी सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति और ईसाई संस्कृति आदि नाम देना उपयुक्त समझता हूँ।

प्रत्येक सस्कृतिको दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है—एक तत्त्वज्ञान और दूसरा आचार। इन दोनो विभागोसे सजी हुई सस्कृतिको मैं धर्म न मानकर उल्लिखित धर्मकी प्राप्तिका साधन मानता हूँ। मेरा तो यह निश्चित विचार है कि सस्कृतिको धर्मका साधन न मानकर उसे ही धर्म मान लेनेसे प्रत्येक सस्कृतिके अन्दर ढोग, कई किस्मके अनर्थकारी विकार और रूढिवादको प्रश्रय मिला है तथा मनुष्यमे अहकार, पक्ष-पात, हट और परस्रर विद्वेष तथा घृणाको अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिला है। अपने धर्मको और अपनेको सच्चा और ईमानदार तथा दूसरोके धर्मोको और दूसरोंको मिथ्या और बेईमान समझनेकी जो प्रवृत्ति मानव-प्रकृतिमें पायी जाती है उसका आधार भी धर्मकी साधनभूत सस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी हमारी मान्यता है। यदि हम इस मान्यताको छोड दें और सस्कृतिको धर्मप्राप्तिका साधन समझकर उसके जरिये अपने जीवनको धार्मिक जीवन बनानेका प्रयत्न करने लग जायें, तो निश्चित ही वर्तमान प्रत्येक सस्कृतिके अन्दरसे ढोग, अनर्थकारी विकार और रूढिवादका खातमा हो जायगा तथा किसी भी सस्कृतिको अपनानेवाला मनुष्य

अहकार, पक्षपात, हठ और परस्पर-विद्वेष तथा घृणाका शिकार न हो सकेगा। प्रत्येक मनुष्यके अन्दरसे अपने धर्मको और अपनेको सच्चा और ईमानदार तथा दूसरोके धर्मोको और दूसरोको मिथ्या और बेईमान समझनेकी प्रवृत्ति उठ जायगी।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने ऐहिक जीवनमे भी सुखसे ही रहना चाहता है। मनुष्य चूँकि सामाजिक प्राणी है अर्थात् उसका जीवन पशुओ जैसा आत्मनिर्भर न होकर, प्राय सामाजिक सहयोगपर ही निर्भर है। इसलिये संबद्ध मानवसमष्टिका ऐहिक जीवन जबतक सुखी नही हो जाता है तबतक सवद्ध मानव-व्यक्तिका भी ऐहिक जीवन सुखी नही हो सकता है। सबद्ध मानवममष्टिका ऐहिक जीवन सुखपूर्ण बने, इसके लिये मानवव्यक्तिके जीवनमे ऊपर बतलाई गयी अतरग और बाह्य धार्मिकताको लानेकी जरूरत है।

मानवजीवनमे उक्त धार्मिकताको लानेके लिये ही भिन्न-भिन्न महापुरुपोने अपने-अपने समयमें ऊपर बतलायी गयी हिन्दू, जैन आदि भिन्न-भिन्न सस्कृतियोको जन्म दिया है अर्थात् वर्तमानमे हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी, मुस्लिम और ईसाई आदि जितनी सस्कृतियाँ पायी जाती है इन सबका उद्देश्य उन-उन संस्कृतियोके उपासक मनुष्योको पूर्वोक्त प्रकारसे धार्मिक बनाना ही है। लेकिन सस्कृतिको ही धर्म मान लेनेसे जब केवल भिन्न-भिन्न सस्कृतिकी उपासना मात्रसे मनुष्य धर्मात्मा माना जा सकता है तो उसे अपने जीवनमे उक्त धार्मिकताके लानेकी आवश्यकता ही नही रह गयी है। इसीका यह परिणाम है कि एक ओर तो प्रत्येक सस्कृति ढोग, कई किस्मके अनर्थकारी विकार और रूढिवादसे परिपूर्ण होते हुए भी इन विकारोको नष्ट करनेकी ओर उसके उपासकोका यथायोग्य ध्यान नही जा रहा है और दूसरी ओर अपनेको धर्मात्मा तथा सच्ची और सर्वहितकारी संस्कृतिकी उपासक समष्टिका अग मानते हुए भी उनमें (प्रत्येक सस्कृतिके उपासक व्यक्तियोमें) मानवताको कुचलने वाली स्वार्थपूर्ण असीमित दुराकाक्षाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ वे-रोक-टोक बढती ही जा रही है। इसलिये आज सबसे बडी आवश्यकता इस बातकी है कि प्रत्येक सस्कृतिकी उपासक समष्टि और उस समष्टिका अगभूत प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सस्कृतिको धर्म न मानकर धर्मका साधन समझने लग जाय। इसका यह परिणाम होगा कि प्रत्येक संस्कृतिके उपासक समाज और इसका अगभूत व्यक्ति अपनेको धर्मात्मा और अपनी संस्कृतिको सच्ची और उपयोगी सिद्ध करनेके लिये अपने जीवनमे पूर्वोक्त प्रकारकी धार्मिकताको लानेका ही प्रयत्न करने लगेगा और जिस समाजका लक्ष्य इस ओर न होगा उसकी सस्कृति निश्चित ही केवल इतिहासके पत्रोमे रह जायगी।

मेरी मान्यताके अनुसार वर्तमान सभी सस्कृतियाँ मानवसमाजके लिये उपयोगी है। परन्तु जैन संस्कृतिको मैं उपयोगी होनेके साथ-साथ अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक भी मानता हूँ। उसका तत्त्वज्ञान और उसका आचार अधिक-से-अधिक वास्तविकताको लिये हुए है।

इसलिये दूसरी सस्कृतियोकी अपेक्षा जैन सस्कृति अधिक स्थायी और अधिक व्यापक वनायी जा सकती है। यदि इस विश्वयुद्धके दौरानमे जैन समाज अपनी मनोवृत्तिका सतुलन बनाये रखता और दूसरे समाजोके साथ व्यापारमे चोरबाजारको स्थान नही देता तो जैन सस्कृति निश्चित ही अपने लायक स्थानपर खडी दिखाई देती। यह जैन सस्कृतिका उत्थान चाहने वालोके लिये असीम दु खका विपय है और सम्पूर्ण जैन समाजके लिये लज्जाका विपय है कि व्यापारी जैन समाजने जैन सस्कृतिको आज इस रूपमें कलकित किया है। क्या यह आशा करना उचित न होगा कि जैन सस्कृतिको युगका धर्म (सस्कृति) वनानेके लिये जैन समाज ही पहले अपनेको युगका समाज वनायेगा।

●

ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति

प्रायः धर्मकी सभी मान्यताओमे अमर्यादित कालको मर्यादित अनन्तकल्पोके रूपमें विभक्त किया गया है, लेकिन किन्ही-किन्ही मान्यताओमे जहां इस दृश्यमान् जगत्की अस्तित्वस्वरूप और अभावस्वरूप प्रलय-को आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है, वहां जैन मान्यतामे प्राणियोके दु खके साधनोकी क्रमिक हानि होते-होते सुखके साधनोकी क्रमिक वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण और प्राणियोके सुखके साधनोकी क्रमिक हानि होते-होते दुःखके साधनोकी क्रमिक वृद्धिस्वरूप अवसर्पणको आधार मानकर एक कल्पकी सीमा निर्धारित की गई है ।

तात्पर्य यह कि धर्मकी किन्ही-किन्ही जैनेतर मान्यताओके अनुसार उनके माने हुए कारणो द्वारा पहले तो यह जगत् उत्पन्न होता है और पश्चात् यह विनष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके अनन्तर जबतक जगत्का सद्भाव बना रहता है उतने कालका नाम सृष्टिकाल और विनष्ट हो जानेपर जबतक उसका अभाव रहता है उतने कालका नाम प्रलयकाल माना गया है। इस तरहसे एक सृष्टिकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक प्रलयकालको मिलाकर इन मान्यताओके अनुसार एक कल्पकाल हो जाता है। जैन मान्यतामें इन मान्यताओकी तरह जगत्का उत्पाद और विनाश नही स्वीकार किया गया है। जैन मान्यतामे जगत् तो अनादि और अनिधन है, परन्तु रात्रिके बारह बजेसे अन्धकारका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दिनके बारह बजे तक प्रकाशकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान जैन मान्यतामे जितना[1] काल जगत्के प्राणियोके दु खके साधनोका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते सुखके साधनोकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप उत्सर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम उत्सर्पिणीकाल और दिनके बारह बजेसे प्रकाशका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते रात्रिके बारह बजे तक अन्धकारकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिके समान वहाँपर (जैन मान्यतामें) जितनाकाल[2] जगत्के प्राणियोंके सुखके साधनोका क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दु खके साधनोकी क्रमपूर्वक होनेवाली वृद्धिस्वरूप अवसर्पणका बतलाया गया है उतने कालका नाम अवसर्पिणीकाल स्वीकार किया गया है। एक उत्सर्पिणीकाल और उसके अनन्तर होनेवाले एक अवसर्पिणीकालको मिलाकर जैन मान्यताका एक कल्पकाल हो जाता है।[3] चूंकि उक्त दूसरी मान्यताओमे सृष्टिकाल और प्रलयकालकी परम्पराको पूर्वोक्त सृष्टिके बाद प्रलय और प्रलयके बाद सृष्टिके रूपमें तथा जैनमान्यतामें उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकालको परम्पराको पूर्वोक्त उत्सर्पणके बाद अवसर्पण और अवसर्पणके बाद उत्सर्पणके रूपमे अनादि अनन्त स्वीकार किया गया है, इसलिए उभय मान्यताओमें (जैन और जैनेतर मान्यताओमे) कल्पोकी अनन्तता समानरूपसे मान ली गई है।

जैन मान्यतामे प्रत्येक कल्पके उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालको उत्सर्पण और अवसर्पणके खड करके निम्नलिखित छह-छह विभागोमे विभक्त कर दिया गया है—(१) दु पम[4]–दु पमा (अत्यन्त दु:खमय

---

१ यह काल जैन ग्रन्थोके आधारपर दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण है। कोटी (करोड)को कोटी (करोड)से गुणा कर देनेपर कोटी-कोटीका प्रमाण निकलता है और सागरोपम जैनमान्यताके अनुसार असख्यात वर्षप्रमाण कालविशेषकी सज्ञा है।

२ यह काल भी जैन ग्रन्थोमें दश कोटी-कोटी सागरोपमसमयप्रमाण ही बतलाया गया है।

३ आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १४-१५।

४, इक्कीस हजार वर्षप्रमाण।

काल), (२) दु षमा[1] (साधारण दु:खमय काल), ३—दु षम-सुषमा[2] (दु ख प्रधान सुखमय काल), ४—सुषम-दु षमा[3] (सुखप्रधान दु:खमय काल), ५—सुषमा[4] (साधारण सुखमय काल) और ६—सुषम-सुषमा[5] (अत्यन्त सुखमय काल)। ये छह्[6] विभाग उत्सर्पिणी कालके तथा इनके ठीक विपरीत क्रमको लेकर अर्थात् १—सुषम-सुषमा[7] (अत्यन्त सुखमय लाल), २—सुषमा[8] (साधारण मुखमय काल), ३—सुषम-दु षमा[9] (सुखप्रधान दु ख-मय काल), ४—दुषमा-सुषमा[10] (दु खप्रधान सुखमय काल), ५—दु षमा[11] (साधारण दु खमय काल) और ६—दु षम-दु षमा[12] (अत्यन्त दु:खमय काल) ये छह्[13] विभाग अवसर्पिणी कालके स्वीकार किये गये है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यकी गतिके दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणकी ओर होनेवाले परिवर्तनके आधारपर स्वीकृत वर्षके उत्तरायण और दक्षिणायन विभाग गतिक्रमके अनुसार तीन-तीन ऋतुओमे विभक्त होकर सतत चालू रहते हैं उसी प्रकार एक दूसरेसे बिलकुल उलटे पूर्वोक्त उत्सर्पण और अपसर्पणके आधारपर स्वीकृत कल्पके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी विभाग भी उत्सर्पणक्रम और अवसर्पणक्रमके अनुसार पूर्वोक्त छह्-छह् विभागोमे विभक्त होकर अविच्छिन्न रूपसे सतत चालू रहते हैं।[14] अथवा रात्रिके बारह् बजे से दिनके बारह् बजेतक अन्धकारकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली प्रकाशकी वृद्धिके आधार पर और दिनके बारह् बजेसे रात्रिके बारह् बजेतक प्रकाशकी क्रमसे हानि होते-होते क्रमसे होनेवाली अन्धकारकी वृद्धिके आधारपर जिस प्रकार चार-चार प्रहरोकी व्यवस्था पाई जाती है उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालमें भी पूर्वोक्त छह्-छह् विभागोकी व्यवस्था जैन मान्यतामें स्वीकृत की गई है।

जैनमान्यताके अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तीसरे[15] और प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चौथे दु षमा-सुषमा नामक विभागमे धर्मको प्रकाशमे लानेवाले एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा इस प्रकार क्रमसे नियमपूर्वक चौबीस तीर्थंकर (धर्मप्रवर्तक महापुरुष) उत्पन्न होते रहते हैं। इस समय जैनमान्यताके अनुसार

---

१. वही।
२ व्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटी, सागरोपमसमयप्रमाण।
३. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
४. तीनकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
५ चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
६, अवसर्पिणी कालके समाप्त हो जानेपर जब उत्सर्पिणी कालका प्रारम्भ होता है उस समयका यह वर्णन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महा अधिकार, गाथा १५५५, १५५६।
७. चारकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
८. तीनकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
९. दोकोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
१०. व्यालीस हजार वर्ष कम एककोटीकोटीसागरोपमसमयप्रमाण।
११ इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१२ इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।
१३. आदिपुराण पर्व ३, श्लोक १७, १८।
१४ आदिपुराण पर्व ३, श्लोल २०, २१।
१५ उत्सर्पिणी कालके तीसरे दु षमसुषमा कालका वर्णन करते हुए यह कथन है—
—तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा १५७८।

कल्पका दूसरा विभाग अवसर्पिणीकाल चालू है और उसके (अवसर्पिणी कालके) पाँचवे दु षमा नामक विभाग-मेंसे हम गुजर रहे हैं ।[1] आजसे करीब ढाई हजार (२५००) वर्ष पहले इस अवसर्पिणीकालका दु षमा-सुषमा नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ है । उस समय धर्मको प्रकाशमे लानेवाले और इस अवसर्पिणीकालके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस धरातलपर मौजूद थे तथा उनके भी पहले पूर्वपरम्परामे तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तक तेईस तीर्थंकर धर्मका प्रकाश कर चुके थे ।

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यतामे उत्सर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठे तथा अवसर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोके समुदायको भोगयुग एव अवसर्पिणीकालके चौथे, पाँचवें और छठवें तथा उत्सर्पिणीकालके पहले, दूसरे और तीसरे विभागोंके समुदायको कर्मयुग बतलाया गया है ।[2] भोगयुगका मतलब यह है कि इस युगमें मनुष्य अपने जीवनका सचालन करनेके लिए साधन-सामग्रीके सचय और सरक्षणकी ओर ध्यान देना अनावश्यक ही नही, व्यर्थ और यहाँतक कि मानवसमष्टिके जीवन-निर्वाहके लिए अत्यन्त घातक समझता है । इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनका सचालन निश्चिन्तता और सतोषपूर्वक सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनो द्वारा बिना किसी भेद-भावके समान रूपसे किया करता है । उस समय मानव-जीवनके किसी भी क्षेत्रमें आजकल जैसी विषमता नही रहती है । उस कालमें कोई मनुष्य न तो अमीर और न गरीब ही रहता है और न ऊँच-नीचका भेद ही उस समयके मनुष्योमें पाया जाता है । आहार-बिहार तथा रहन-सहनकी समानताके कारण उस कालके मनुष्योमे न तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताएँ ही पाई जाती है और न हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार तथा पदार्थोका सचय रूप परिग्रहमें ही उनकी प्रवृत्ति होती है । लेकिन उत्सर्पिणी कालमे जीवन-सचालनकी साधनसामग्रीमे उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते उसके पराकाष्ठापर पहुँच जानेके बाद जब इस अवसर्पिणीकालमे उसका ह्रास होने लगा और वह ह्रास जब इस सीमा तक पहुँच गया कि मनुष्योको अपने जीवन-सचालनमे कमीका अनुभव होने लगा तो सबसे पहिले मनुष्योमे साधन-सामग्रीके संग्रह करनेका लोभ पैदा हुआ तथा उसका सवरण न कर सकनेके कारण धीरे-धीरे माया, मान और क्रोधरूप दुर्बलताएँ भी उनके अन्त करणमे उदित हुई और इनके परिणामस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और परिग्रह इन पाँच पापोकी और यथासभव उनका झुकाव होने लगा । अर्थात् सबसे पहले जीवन-सचालनकी साधनसामग्रीके सचय करनेमे जव किन्ही-किन्ही मनुष्योकी प्रवृत्ति देखनेमे आई[3] तो उस समयके विशेषविचारक व्यक्तियोने इसे मानव-समष्टिके जीवन-सचालनके लिए जबरदस्त खतरा समझा । इसलिए इसके दूर करने लिए उन्होने जनमतकी सम्मतिपूर्वक उन लोगोंके विरुद्ध 'हा[4]' नामक दण्ड कायम किया । अर्थात् उस समय जो लोग जीवन-सचालनकी साधन-सामग्रीके सचय करनेमें प्रवृत्त होते थे उन्हें इस दण्डविधानके अनुसार ''हमें खेद है कि तुमने मानव-समष्टिके हितके विरुद्ध यह अनुचित कार्य किया है ।''— इस प्रकार दडित किया जाने लगा और उस समयका मानव-हृदय बहुत ही सरल होनेके कारण उसपर इस दड-

---

१ भगवान ऋषभदेवसे लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकालके चौथे दु षम-सुषमा कालमे ही हुए हैं ।

२ भोगयुग और कर्मयुगका विस्तृत वर्णन आदिपुराणके तीसरे पर्वमे तथा तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ महाधिकार मे किया गया है ।

३. तिलोयपण्णत्ती, चौथा महाधिकार, गाथा ४५१ ।

४. वही, गाथा ४५२ ।

विधानका यद्यपि बहुत अशोमे असर भी हुआ। लेकिन धीरे-धीरे ऐसे अपराधी लोगोकी संख्या बढती ही गई। साथ ही उनमें कुछ धृष्टता भी आने लगी। तब इस दडविधानको निरुपयोगी समझकर इससे कुछ कठोर "मा[1]" नामक दंडविधान तैयार किया गया। अर्थात् खेद प्रकाश करने मात्रसे जब लोगोने जीवन सचालनकी साधन-सामग्रीका सचय करना नही छोडा, तो उन्हे इस अनुचित प्रवृत्तिसे शक्तिपूर्वक रोका जाने लगा। अन्तमे जब इस दडविधानसे भी ऐसे अपराधी लोगोकी बाढ न घटी तो फिर 'धिक्[2]' नामका बहुत ही कठोर दंड-विधान लागू कर दिया गया। अर्थात् ऐसे लोगोको उस समयकी सामाजिक श्रेणीसे बहिष्कृत किया जाने लगा, लेकिन यह दंडविधान भी जब असफल होने लगा, साथ ही इसके द्वारा ऊँच और नीचके भेदकी कल्पना भी लोगोके हृदयमें उदित हो गई तो इस विषम परिस्थितिमे राजा नाभिके पुत्र भगवान् ऋषभदेव इस पृथ्वीतल-पर अवतीर्ण हुए। इन्होने बहुत ही गम्भीर चिन्तनके बाद एक ओर तो कर्मयुगका प्रारम्भ[3] किया अर्थात् तत्कालीन मानव-समाजमे वर्णव्यवस्था कायम करके परस्पर सहयोगकी भावना भरते हुए उसको जीवन-सचालन-के लिए यथायोग्य असि[4], मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि कार्योंके करने की प्रेरणा की तथा दूसरी ओर लोगोकी अनुचित प्रवृत्तिको रोकनेके लिए धार्मिक दडविधान चालू किया। अर्थात् मनुष्योको स्वय ही अपनी—क्रोध, मान, माया और लोभरूप-मानसिक दुर्बलताओको नष्ट करने तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्तिको अधिक-से-अधिक कम करनेका उपदेश दिया। जैन-मान्यताके अनुसार धर्मोत्पत्ति का आदि समय यही है।

धर्मोत्पत्तिके बारेमे जैन-मान्यताके अनुसार किये गये इस विवेचनसे इस निष्कर्षपर पहुँचा जा सकता है कि मानव-समाजमें व्यवस्था कायम करनेके लिए यद्यपि सर्वप्रथम पहले प्रजातत्रके रूपमे और बादमें राजतत्रके रूपमे शासनतत्र ही प्रकाशमे आया था। परन्तु इसमे अधूरेपनका अनुभव करके भगवान ऋषभदेवने इसके साथ धर्मतंत्रको भी जोड दिया था। इस तरह शासनतत्र और धर्मतत्र ये दोनो तबसे एक दूसरेका बल पाकर फूलते-फलते हुए आज तक जीवित है।

यद्यपि भगवान ऋषभदेवने तत्कालीन मानव-समाजके सम्मुख धर्मके ऐहिक और आध्यात्मिक दो पहलू उपस्थित किये थे और दूसरे (आध्यात्मिक) पहलूको पहले से ही स्वय अपना कर[5] जनताके सामने महान् आदर्श उपस्थित किया था—आज भी हमें भारतवर्षमे साधुवर्गके रूपमे धर्मके इस आध्यात्मिक पहलू-की झाकी देखनेको मिलती है। परन्तु आज मानव-जीवन जब धर्मके ऐहिक पहलूसे ही शून्य है तो वहाँपर उसके आध्यात्मिक पहलूका अंकुरित होना असम्भव ही है। यही कारण है कि प्राय सभी धर्मग्रथोमे आजके समयमें मुक्ति प्राप्तिकी असभवताको स्वीकार किया गया है। इसलिए इस लेखमे हम धर्मके ऐहिक पहलूपर ही विचार करेंगे।

धर्मके आध्यात्मिक पहलूका उद्देश्य जहाँ जन्म-मरणरूप ससारसे मुक्ति पाकर अविनाशी अनन्तसुख

---

१. ति० प०, गाथा ४७४।

२ आदिपुराण, पर्व ३, श्लोक २१४, २१५।

३ वही, पर्व १६, श्लोक १८३।

४. (क) वही, पर्व १६, श्लोक १७९, १८०।

(ख) प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषू शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ॥—स्वयभूस्तोत्र।

५ विहाय य सागरवारिवासस वधूमिवेमा वसुधावधू सतीम्।

मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ॥—स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ३, ४।

प्राप्त करना है वहाँ उसके (धर्मके) ऐहिक पहलूका उद्देश्य अपने वर्तमान जीवनको सुखी बनाते हुए आध्यात्मिक पहलूकी ओर अग्रसर होना है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव-समाजमे सुख और शान्तिका साम्राज्य हो। कारण कि मनुष्य स्वभावसे समष्टिगत प्राणी है। इसलिए उसका जीवन मानव-समाजके साथ गुथा हुआ है। अर्थात् व्यक्ति तभी सुखी हो सकता है जबकि उसका कुटुम्ब सुखी हो, कुटुम्ब भी तब सुखी हो सकेगा जबकि उसके मुहल्लेमे अमन-चैन हो। इसी क्रमसे आगे भी मुहल्लेका अमन-चैन ग्रामके अमन-चैनपर, ग्रामका अमन-चैन प्रान्तके अमन-चैनपर और प्रान्तका अमन-चैन देशके अमन-चैनपर ही निर्भर है तथा आज तो प्रत्येक देशके ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो चुके है कि एक देशका अमन-चैन दूसरे देशके अमन-चैनपर निर्भर हो गया है। यही कारण है कि आज दुनियाके विशेषज्ञ विश्व-सघकी स्थापनाकी बात करने लगे है, लेकिन विश्वसघ तभी स्थापित एव सार्थक हो सकता है जबकि मानव अपनी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मानसिक दुर्बलताओको नष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझ ले। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहताको अपने जीवनमे समाविष्ट कर ले। इसके बिना न तो विश्वसघकी स्थापना हो सकती है और न दुनियामे सुखशान्तिका साम्राज्य ही कायम हो सकता है। महात्मा गाँधीजीने विश्वमे शान्ति स्थापित करनेके लिए इसी बातको आज विश्वके सामने रखा है, परन्तु यह विश्वका दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य अभी इस ओर नही है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेवने जिस धर्मको आत्मकल्याण और विश्वमे व्यवस्था कायम करनेके लिए चुना था, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोसे शून्य मानसिक पवित्रता तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता विशिष्ट बाह्यप्रवृत्ति स्वरूप है। हम देखते है कि आज भी इसकी उपयोगिता नष्ट नही हुई है और भविष्यमें तो मानव-समष्टिमें मानवताके विकासका यही एक अद्वितीय चिह्न माना जायगा। भगवान ऋषभदेवसे लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरोने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इसी धर्मका प्रकाश एवं समुत्थान किया है। इनके अतिरिक्त आगे या पीछे जिन महापुरुषोने धर्मके बारेमे कुछ शोध की है वह भी इससे परे नही है। अर्थात् न केवल भारतवर्षके, अपितु विश्वके किसी भी महापुरुष द्वारा जब कभी धर्मकी आवाज बुलन्द की गई, उस धर्मकी परिभाषा भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्मकी परिभाषासे भिन्न नही है। इसका कारण यह है कि एक ही देशमें रहनेवाली भिन्न-भिन्न मानवसमष्टियोकी तो बात ही क्या, दुनियाके किसी भी कोनेमें रहने वाले मनुष्योकी जीवनसम्बन्धी आवश्यकताओमे जब भेद नही किया जा सकता है तो उनके धर्ममें भेद करना मानवसमष्टिके साथ घोर अन्याय करना है। इसलिए धर्मके जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन इत्यादि जो भेद किये जाते है, ये सब किसी हालतमे धर्मके भेद नही माने जा सकते है। धर्मरूप वस्तु तो इन सबके अन्दर एक रूप ही मिलेगी और हमे इनके अन्दर जो कुछ भेद दिखलाई देता है वह भेद या तो धर्मका प्रतिपादन करने या उसके प्राप्त करनेके तरीकोका है या फिर वह अधर्म ही कहा जायगा।

इस तरह अपने जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेके उद्देश्यसे मानव-समष्टिमे सुख-शान्तिका वातावरण लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यको जिस प्रकार अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक दुर्बलताओको कम करना तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रहस्वरूप प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक है उसी प्रकार परस्पर सौहार्द्र, सहानुभूति और सहायता आदि बातें भी आवश्यक हैं। इसलिए इन सब बातोका समावेश भी धर्मके ही अन्दर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने जीवनको सुखी बनानेमे शारीरिक स्वास्थ्यको भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अत शारीरिक स्वास्थ्य-सम्पादनके लिए जो नियम-उपनियम उपयोगी सिद्ध होते

है उन्हें भी जैन-मान्यताके अनुसार धर्मकी कोटिमे रखा गया है। जैसे पानी छानकर पीना, रात्रिमें भोजन नही करना, मद्य, मास और मधुका सेवन नही करना, असावधानीसे तैयार किया हुआ भोजन नही करना, भोजनमे ताजा और ससत्त्व आटा, चावल, साग-फल आदिका उपयोग करना, उपवास या एकाशन करना, उत्तम सगति करना आदि इन सब प्रवृत्तियोंको धर्मरूप ही मान लिया गया है तथा ऐसी प्रवृत्तियोको अधर्म या पाप मान लिया गया है, जिनके द्वारा साक्षात् या परंपरासे हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो या जो हमारे जीवनको लोकनिंद्य और कष्टमय बना रही हो। जुआ खेलना, शिकार खेलना और वेश्यागमन आदि प्रवृत्तियाँ इस अधर्मकी ही कोटिमे आ जाती है। जैन मान्यताके अनुसार अभक्ष्यभक्षण-को भी अधर्म कहा गया है और अभक्ष्यकी परिभाषामे उन चीजोको सम्मिलित किया गया है, जिनके खानेसे हमे कोई लाभ न हो अथवा जिनके तैयार करनेमे या खानेमे हिंसाका प्राधान्य हो अथवा जो प्रकृतिविरुद्ध हो या लौकिक दृष्टिसे अनुपसेव्य हो। जैन मान्यताके अनुसार अधिक खाना भी अधर्म है और अनिच्छापूर्वक कम खाना भी अधर्म है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्तिको जैन-मान्यतामे धर्म और अधर्म-की कसौटीपर कस दिया गया है। आज भले ही पचडा कहकर इन सब बातोके महत्त्वको कम करनेकी कोशिश की जाय, परन्तु इन सब बातोकी उपयोगिता स्पष्ट है। पूज्य गाँधीजीका भोजनमे हाथ-चक्कीसे पिसे हुए ताजे आटेका और हाथसे कूटे गये चावलका उपयोग करनेपर जोर देना तथा प्रत्येक व्यक्तिको अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आवश्यकता, सादगी, स्वच्छता, सच्चाई आदि बातोपर ध्यान रखनेका उपदेश देना इन बातोकी उपयोगिताका ही दिग्दर्शन है।

इस प्रकार जैन समाज जहाँ इस बातपर गर्व कर सकती है कि उसकी मान्यतामे मानव-जीवनको छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी प्रत्येक प्रवृत्तिको धर्म और अधर्मकी मर्यादामे बाँधकर विश्वको सुपथपर चलनेके लिए सुगमता पैदा की गई है, वहाँ उसके लिए यह बडे सन्तापकी बात है कि इन सब बातोका जैन समाजके जीवनमें प्राय अभाव-सा हो गया है और दिन-प्रतिदिन होता जा रहा है तथा जैन समाजकी क्रोधादि कषायरूप परिणति और हिंसादि पापमय प्रवृत्ति आज शायद ही दूसरे समाजोकी अपेक्षा कम हो। जो कुछ भी धार्मिक प्रवृत्ति आज जैन समाजमे मौजूद है वह इतनी अव्यवस्थित एव अज्ञानमूलक हो गई है कि उस प्रवृत्तिको धर्मका रूप देनेमें संकोच होता है।

जैन समाजमे पूर्वोक्त धर्मको अपने जीवनमे न उतारनेकी यह एक बुराई तो वर्तमान है ही, इसके अतिरिक्त दूसरो बुराई जो जैन समाजमें पाई जाती है, वह है खाने-पीने इत्यादिके छुआ-छूतके भेद की। जैन समाजमे वह व्यक्ति अपनेको सबसे अधिक धार्मिक समझता है, जो खाने-पीने आदिमे अधिक-से-अधिक छुआ-छूतका विचार रखता हो। परन्तु भगवान ऋषभदेवने द्वारा स्थापित और शेष तीर्थंकरो द्वारा पुनरु-ज्जीवित धर्ममें इस प्रकारके छुआछूतको कतई स्थान प्राप्त नही है। कारण कि धर्म मानव-मानवमे भेद करना नही सिखलाता है और यदि किसी धर्मसे ऐसी शिक्षा मिलती हो तो उसके बराबर अधर्म दुनियामे दूसरा कोई नही हो सकता। हम गर्वपूर्वक कह सकते है कि जैन तीर्थंकरो द्वारा प्रोक्त धर्म न केवल राष्ट्रधर्म ही हो सकता है, अपितु वह विश्वधर्म कहलानेके योग्य है। परन्तु छुआछूतके इस सकुचित दायरेमे पडकर वह एक व्यक्तिका भी धर्म कहलाने योग्य नही रह गया है, क्योकि यह भेद न केवल राष्ट्रीयताका ही विरोधी है, बल्कि मानवताका भी विरोधी है और जहाँ मानवताको स्थान नही, वहाँ धर्मको स्थान मिलना असम्भव ही है।

यद्यपि ये सब दोष जैन समाजके समान अन्य धार्मिक समष्टियोमें भी पाये जाते है, परन्तु प्रस्तुत

लेख केवल जैन मान्यताके अनुसार प्रतिपादित धर्मके बारेमें लिखा गया है। इसलिए दूसरी धार्मिक समष्टियों-की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हमें आश्चर्य होता है कि क्या जैन समष्टि और क्या दूसरी धार्मिक समष्टियाँ, सभी अपने द्वारा मान्य धर्मको ही राष्ट्रधर्म तथा विश्वधर्म कहनेका साहस करती हैं, परन्तु उनका धर्म किस ढंगसे राष्ट्रका उत्थान एवं विश्वका कल्याण करनेमें सहायक हो सकता है और हमें इसके लिए अपनी वर्तमान दुष्प्रवृत्तियोंको दूर करनेके लिये कितने प्रयासकी जरूरत है, इसकी ओर किसीका भी लक्ष्य नहीं है।

संस्कृति और समाज

संस्कृति और समाज

●

हमारी द्रव्य-पूजाका रहस्य

पूजाका अर्थ भक्ति, सत्कार या सम्मान होता है और वह छोटो द्वारा बडो (पूज्यो) के प्रति प्रकट किया जाता है। इसका मूल कारण पूजकको अपनी लघुता और पूज्यकी महत्ताको स्वीकार करना है तथा उद्देश्य अपनी लघुताको नष्ट कर पूज्य जैसी महत्ताकी प्राप्तिमे प्रयत्न करना है। इसके प्रकट करनेके साधन मन, वचन और काय तो है ही, परन्तु कही-कही बाह्य सामग्री भी इसमे साधनभूत हो जाया करती है। जहाँ पर मन, वचन और कायके साथ-साथ वाह्य सामग्री इसमे साधनभूत हो, उसका नाम द्रव्यपूजा है तथा जहाँ केवल मन, वचन और कायसे ही भक्ति-प्रदर्शन किया जाय उसे भावपूजा समझना चाहिए। वैसे जो मनके द्वारा भक्तिप्रदर्शन भावपूजा तथा वचन और कायके द्वारा भक्तिप्रदर्शन द्रव्यपूजा कही जा सकती है, परन्तु यहाँपर इस प्रकारकी द्रव्यपूजा और भावपूजाकी विवक्षा नही है। शास्त्रोमे जो द्रव्यपूजा और भावपूजा-का उल्लेख आता है वह क्रमसे बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा और अनपेक्षामें ही आता है।

उल्लिखित द्रव्यपूजाका लोकव्यवहारमे समावेश तो परपरागत कहा जा सकता है। अपनेसे बडे पुरुषो-को उनकी प्रसन्नताके लिये उत्तमोत्तम सामग्री भेट करना शिष्टाचारमे शामिल है। भगवदाराधनमें भी कबसे इसका उपयोग हुआ, इसकी गवेपणा यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे की जा सकती है। लेकिन यहाँपर इसकी आवश्यकता नही है, यहाँ तो सिर्फ इस बातको प्रकट करना है कि हमारे यहाँ ईश्वरोपासनामे द्रव्यपूजाका जो प्रकार है वह किस अर्थको लिये हुए है। यद्यपि मेरे विचारोके अनुसार शास्त्रोमे स्पष्ट उल्लेख तो जहाँ तक है, नही मिलता है। परन्तु पूजापाठोके अवतरण, अभिषेक व जयमाला आदि भागोंमे, मेरे इन विचारोका आभास जरूर है। और फिर यह तो ध्यानमे रखना ही चाहिये कि जो विचार युक्ति और अनुभव विरुद्ध नही, वे शास्त्रबाह्य नही कहे जा सकते। इसी विचारसे मैं अपने विचारोको प्रकट करनेके लिये बाध्य हुआ हूँ।

शास्त्रोमे द्रव्यपूजाका अष्टद्रव्यसे करनेका विधान पाया जाता है और हमारा श्रद्धालु समाज विना किसी तर्क-वितर्कके नि सकोच अर्हन्त, सिद्ध, गुरु, शास्त्र, धर्म, व्रत, रत्नत्रय, तीर्थस्थान आदिकी पूजा करते समय निश्चित अष्टद्रव्योको उपयोगमे लाता है। समाजके उदार हृदयमे यह विचार ही पैदा नही होता कि ये वस्तुये जिसके लिये अर्पण की जा रही है वह जड है या चेतन है अथवा आत्माकी अवस्थाविशेष है। अरहत, सिद्ध, शास्त्र, धर्म, व्रत, रत्नत्रय व तीर्थस्थानोको जलादि अष्टद्रव्यका अर्पण करना बुद्धिगम्य कहा जा सकता है या नही ? परन्तु तर्कशील लोगोने इसके ऊपर हमेशासे आक्षेप उठाये है और वे आज भी उठाते चले जा रहे है। उन आक्षेपोका यथोचित समाधान न होनेके कारण ही एक सप्रदायमे मूर्तिमान्यताके विरोधी दलोका आविष्कार हुआ है। जैनियोके श्वेताम्बर सम्प्रदायमे ढूंढिया पथ और दिगम्बर सम्प्रदायमें तारण पंथ इन आक्षेपोके समाधान न होनेके ही फल है। केवल जैनियोमे ही नही, जैनेतरोमे भी इस प्रकारके पथ कायम हुए है, परन्तु यह संभव है कि जैनेतरोमे विरोधके कारण जैनियोसे भिन्न है।

कुछ भी हो, परन्तु जैन सिद्धान्त इस बातको नही मानता कि जो द्रव्य भगवानके लिये अर्पण किया जाता है वह उनकी तृप्तिका कारण होता है, कारण कि उनमे इच्छाका सर्वथा अभाव है। इसलिये कोई भी वाह्य वस्तु उनकी तृप्तिका कारण नही हो सकती, उनकी तृप्ति तो स्वाभाविक ही है। इसलिये अपने विचारो व आचरणोको पवित्र व उन्नत बनानेके लिये भगवानके गुणोका स्मरण (भावपूजा) ही पर्याप्त है। भगवान-के गुणस्मरणमे मूर्ति सहायक है, मूर्तिको देखकर गुणस्मरणमें हृदयका झुकाव सरलतासे हो जाता है। इसलिये भगवानके गुणोका स्मरण करते समय मूर्तिका अवलम्बन युक्ति और अनुभव विरुद्ध नही, परन्तु ऊपर बतलाये

हुये उद्देश्यकी सिद्धिमे जब बाह्य सामग्रीका कोई उपयोग नही, तब भगवदाराधनमें बाह्य सामग्रीका समावेश क्यो किया गया है ? इस आक्षेपका यथोचित समाधान न मिलनेके कारण जैनियोमे द्रव्यपूजाके बजाय मूर्ति-मान्यताके विरोधी पंथ बन गये हैं।

तात्पर्य यह कि मूर्तिकी मान्यताको अनिवार्य रूपसे प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमे स्थान है। यह निश्चित है कि मूर्तिमान्यताके विरोधी स्वय मूर्तिकी मान्यताको छोड नही सकते, बल्कि आवश्यकतानुसार उसका उपयोग ही करते रहते है। मूर्ति मुख्य वस्तुका प्रतिनिधि होती है, जो हमको मुख्य वस्तुके किसी निश्चित उद्दिष्ट स्वरूप तक पहुँचानेमे समर्थ है। किसी वस्तुका प्रतिनिधि आवश्यकता व उद्देश्यके अनुकूल सचेतन व अचेतन दोनो पदार्थ हो सकते है। एक वस्तुके समझनेमें जो दृष्टान्त वगैरहका उपयोग किया जाता है उससे मूर्ति मान्यताका अकाटच समर्थन होता है। परन्तु द्रव्यपूजाके विपयमे कई तरहके आक्षेप उठाये जा सकते हैं, जिनका समाधान हो जानेपर ही द्रव्यपूजा उपयोगी मानी जा सकती है। नीचे सम्भवित आक्षेपोके समाधान करनेका ही प्रयत्न किया जाता है।

आक्षेप १—जबकि भगवानमे इच्छाका सर्वथा अभाव है तो उनके उद्देश्यसे मूर्तिके समक्ष मन्त्रोच्चारण-पूर्वक नाना उत्तमोत्तम पदार्थ रख देनेपर भो वे उनको तृप्तिके कारण नहो हो सकते, मूर्ति तो स्वय अचेतन पदार्थ है, इसलिये उसके उद्देश्यसे इन पदार्थोके अर्पण करनेकी भावना ही पूजकके हृदयमे पैदा नही हो सकती और न वह इस अभिप्रायसे ऐसा करता ही है। इसलिये भगवानकी पूजा अष्टद्रव्यसे (द्रव्यपूजा) नही करनी चाहिए।

इस आक्षेपका समाधान कई प्रकारसे किया जाता है। परन्तु वे प्रकार सन्तोषजनक नही कहे जा सकते। जैसे—

समा० १—जिनेन्द्र भगवान तृषा आदि दोषोंके विजयी है। इसलिये वे हमारे तृषा आदि दोषोंके नष्ट करनेमें सहायक हो, इस उद्देश्यसे पूजक उनकी मूर्तिके समक्ष अष्टद्रव्य अर्पण करता है।

आलोचना—यह तो माना जा सकता है कि जिनेन्द्र भगवान तृषा आदि दोषोंके विजयो है, परन्तु उनको अष्टद्रव्य चढा देने मात्रसे हमारे दोष भी नष्ट हो जायेंगे, यह बात तर्क और अनुभवकी कसौटीपर नही टिक सकती।

समाधान २—जिनेन्द्र भगवानको अष्टद्रव्य इसलिए चढाये जाते है कि इसके द्वारा पूजकमे बाह्य वस्तुओसे रागपरिणति घटकर त्यागबुद्धि पैदा हो जाती है जो कि तृषा आदि दोषोके नाश करनेका प्रधान कारण है।

आलोचना—यह समाधान भी ठीक नही, कारण कि शास्त्रोका स्वाध्याय विद्वानोके उपदेश व जिनेन्द्र भगवानके गुणोका स्मरण आदि ही बाह्य वस्तुमे हमारी रागपरिणति घटाने व त्यागबुद्धि पैदा करनेके यथोचित कारण हो सकते है।

समाधान ३—दानकी परिपाटी चलानेके लिए यह एक निमित्त है।

आलोचना—ऐसे निरर्थक दान (जिनका कि कोई उपयोग नही) की कोई सराहना नही करेगा। वास्तविक दान बाह्य वस्तुओमे अपनी ममत्वबुद्धिको नष्ट करना हो सकता है। यह तो हम करते नही। और न इस तरहसे यह नष्ट की भी जा सकती है। यह तो शास्त्रस्वाध्याय, उपदेश व जिनेन्द्र भगवानके गुण-स्मरण आदिसे ही होगी, ऐसा पहले बतलाया जा चुका है। व्यावहारिक दान दूसरे प्राणियोकी आवश्यकताओ-

की यथाशक्ति पूर्ति करना कहा जाता है। जिनेन्द्र भगवान कृतकृत्य है उनकी कोई ऐसी आवश्यकता नही, जिसकी पूर्ति हमारे अष्टद्रव्यके अर्पण करनेसे होती हो, इसलिए ऐसा दान निरर्थक ही माना जायगा।

समाधान ४—भगवानके गुण स्मरणमे बाह्य सामग्रीसे सहायता मिलती है, इसलिये पूजक भगवानको अष्टद्रव्य अर्पण करता है।

आलोचना—गुणस्मरणका अवलम्बन मूर्ति तो है ही तथा स्तोत्रपाठ वगैरहसे गुण-स्मरण किया जाता ही है, बाह्य सामग्रीकी उपादेयता इसमें कुछ भी नही है। बल्कि जब पूजक भगवानके लिये अष्टद्रव्य अर्पण करता है तो द्रव्यपूजा यह उनकी वीतरागताको नष्ट कर उनको सरागी सिद्ध करनेकी ही कोशिश है।

समाधान ५—पूजक भक्तिके आवेशमे यह सब किया करता है, इसका ध्यान इसकी हेयोपादेयता तक पहुँचता ही नही और न भक्तिमे यह आवश्यक ही है, इसलिये द्रव्यपूजाके विषयमे किसी तरहके आक्षेपोका उठाना ही व्यर्थ है।

आलोचना—भक्तिमे विवेक जाग्रत रहता है, विवेकशून्य भक्ति हो ही नही सकती। जहाँ विवेक नही है उसको भक्ति न कहकर मोह ही कहा जायगा, इसलिये यह समाधान भी उचित नही माना जा सकता है।

इसके पहले कि इस आक्षेपका समाधान किया जाय, दूसरे आक्षेपोपर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

आक्षेप २—प्रतिमामे जब भगवानकी स्थापना की जा चुकी है और वह पूजकके सामने है तो फिर अवतरण, स्थापन और सन्निधिकरणकी क्या आवश्यकता रह जाती है ?

समाधान—जिनकी प्रतिमा पूजकके सामने है उनकी पूजा करते समय अवतरण, स्थापन और सन्निधिकरण नही करना चाहिये, लेकिन जिनकी पूजा उनकी प्रतिमाके अभावमे भी यदि पूजक करना चाहता है तो उनकी अतदाकारस्थापना पुष्पोमें कर लेना आवश्यक है, इसलिये अवतरण स्थापना और सन्निधिकरणकी क्रिया करनेका विधान बतलाया गया है।

आलोचना—एक तो यह कि किन्ही भी भगवानकी पूजा करते समय—चाहे उनकी प्रतिमा सामने हो, या न हो—समान रूपसे अवतरण आदि तीनो क्रियायें की जाती है, इसलिये बिना प्रबल आधारके यह मानना अनुचित है कि जिनकी प्रतिमा न हो, उनकी पूजा करते समय ही पुष्पोमे अतदाकारस्थापनाके लिए अवतरण आदि क्रियायें करनी चाहिये।

दूसरे यह कि जब पूजक भावोकी स्थिरताके लिए केवल भगवानकी पुष्पोमें अतदाकारस्थापना करता है, तो इतना अभिप्राय स्थापन और सन्निधिकरणमेंसे किसी एक क्रियासे ही सिद्ध हो सकता है। इन दोनोमेसे कोई एक तथा अवतरणकी क्रिया निरर्थक ही मानी जायगी। इस समाधानको माननेसे स्थापन और सन्निधिकरण दोनोका एक स्थानमे प्रयोग लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी अनुचित मालूम पडता है। लोकव्यवहारमें जहाँ समानताका व्यवहार है वहाँ तो पहले "आइये बैठिये" कहकर, "यहाँ पासमे बैठिये" ऐसा कहा जा सकता है परन्तु अपनेसे बडोके प्रति ऐसा व्यवहार कभी नही किया जायगा।

बहुतसे लोग "मम सन्निहितो भव" इस वाक्यका अर्थ करते है "हे भगवान मेरे हृदयमे विराजो"। लेकिन यह अर्थ भी ठीक मालूम नही पडता है, कारण कि एक तो इधर हम पुष्पोमें भगवानका आरोप कर रहे है और उधर उनको हृदयमे स्थान दे रहे है ये दोनो बातें विरोधी है। दूसरे पूजक हृदयमे स्थापित

भगवानको लक्ष्य करके द्रव्य नही चढाता, उसका लक्ष्य तो उस समय प्रतिमाकी ओर ही रहता है। इसलिये दूसरे आक्षेपका भी समाधान ठीक-ठीक नही होता है।

आक्षेप ३--भगवान क्या हमारे बुलानेसे आते हैं और हमारे विसर्जन करनेपर चले जाते हैं ? यदि हाँ, तो जैन सिद्धान्तसे इसमें जो विरोध आता है उसका क्या परिहार होगा ? यदि नही, तो फिर अवतरण व विसर्जन करनेका क्या अभिप्राय है ?

आक्षेप ४--आजकल जो प्रतिमायें पायी जाती है उनको यदि हम अरहन्त व सिद्ध अवस्थाकी मानते है तो इन अवस्थाओमे अभिषेक करना क्या अनुचित नही माना जायगा ? यह आक्षेप अभी थोडे दिनं पहले किसी महाशयने जैनमित्रमे भी प्रकट किया है।

ये चारो आक्षेप बडे महत्त्वके है, इसलिये यदि इनका समाधान ठीक तरहसे नही हो सकता है, तो निश्चित समझना चाहिये कि हमारी द्रव्यपूजा तर्क एव अनुभवसे गम्य न होनेके कारण उपादेय नही हो सकती है। परन्तु उद्देश्यकी सफलताके लिये रत्नत्रयवाद, पदार्थोकी व्यवस्थाके लिए निक्षेपवाद तथा उनके ठीक-ठीक ज्ञानके लिए प्रमाणवाद और नयवाद तथा अनेकान्तवाद, सप्तभगीवाद आदिका तर्क और अनुभवपूर्ण व्यस्थापक जैनधर्म इस विषयमें अधूरा ही रहेगा, यह एक आश्चर्यकी बात होगी। इसलिये मेरे विचारसे जैन सिद्धान्तानुसार द्रव्यपूजाका रहस्य होना चाहिये, वह नीचे लिखा जाता है।

द्रव्यपूजा निम्नलिखित सात अगोमे समाप्त होती है--१ अवतरण, २ स्थापन, ३ सन्निधिकरण, ४ अभिषेक, ५ अष्टक, ६ जयमाला और ७ विसर्जन। शान्तिपाठ व स्तुतिपाठ जयमालाके बाद उसीका एक अग समझना चाहिये। यद्यपि अभिषेककी क्रिया हमारे यहाँ अवतरणके पहलेकी जाती है। परन्तु यह विधान शास्त्रोक्त नही। शास्त्रोमे सन्निधिकरणके बाद ही चौथे नबर पर अभिषेककी क्रियाका विधान मिलता है। द्रव्यपूजाके ये सातो अंग हमको तीर्थकरके गर्भसे लेकर मुक्ति पर्यन्त माहात्म्यके दिग्दर्शन कराने, धार्मिक व्यवस्था कायम रखने व अपना कल्याणमार्ग निश्चित करनेके लिये है—ऐसा समझना चाहिये।

यह निश्चित बात है कि ससारमें जिसका व्यक्तित्व मान्य होता है वही व्यक्ति लोकोपकार करनेमे समर्थ होता है, उसीका प्रभाव लोगोके हृदयको परिवर्तित कर सकता है, अतएव तीर्थंकरके गर्भमे आनेके पहलेसे उनके विषयमे असाधारण घटनाओका उल्लेख शास्त्रोमे पाया जाता है। १५ मास असख्य रत्नोकी वृष्टि, जन्म समय पर १००८ बडे-बडे कलशो द्वारा अभिषेक आदि क्रियायें उनके आश्चर्यकारी प्रभावकी द्योतक नही तो और क्या हे ? वर्तमानमें हमलोग भी उनके व्यक्तित्वको समझनेके लिये तथा आचार्यों द्वारा शास्त्रोमें गूँथे हुए उनके उपदिष्ट कल्याणमार्गपर विश्वास करने व उसपर चलनेके लिए और "परपरामें भी लोग कल्याणमार्गसे विमुख न हो जावें" इसलिए भी साक्षात् तीर्थकरके अभावमे उनकी मूर्ति द्वारा उनके जीवनकी असाधारण घटनाओ व वास्तविकताओका चित्रण करनेका प्रयत्न करे, यही द्रव्यपूजाके विधानका अभिप्राय है। हमारा यह प्रयत्न नित्य और नैमित्तिक दो तरहसे हुआ करता है। नैमित्तक प्रयत्नमें तीर्थंकरके पंचकल्याणकोका बडे समारोहके साथ विस्तारपूर्वक चित्रण किया जाता है तथा प्रतिदिनका हमारा यह प्रयत्न सक्षेपसे आवश्यक क्रियाओमे ही समाप्त हो जाता है।

१—हमारी द्रव्यपूजा नित्य प्रयत्नमे शामिल है। इसमे सबसे पहले अवतरणकी क्रिया की जाती है। इस समय पूजक यह समझकर कि तीर्थंकरपर्यायको धारण करनेके सन्मुख विशिष्ट पुण्याधिकारी देव स्वर्गसे अवरोहण करनेवाला है, प्रतिमामें तीर्थंकरके प्राग्रूपका दर्शन करता हुआ अपरिमित हर्षसे 'अत्र अवतर-अवतर' कहता हुआ पुष्प वर्षा करके अवतरण महोत्सव मनावे।

२—दूसरी क्रिया स्थापनकी है। इस समय पूजक यह समझकर कि तीर्थंकर माताके गर्भमें आ रहे है। प्रतिमामें गर्भप्रवेशोन्मुख तीर्थंकरके रूपको देखता हुआ बडे आनन्दके साथ "अत्र तिष्ठ-तिष्ठ" कहता हुआ पुष्पवर्षा करके गर्भस्थिति-महोत्सव मनावे।

३—तीसरी क्रिया सन्निधिकरणकी है। जिस प्रकार तीर्थंकरका जन्म हो जानेपर अभिषेकके लिए सुमेरु पर्वतपर ले जानेके उद्देश्यसे इन्द्र उनको अपनी गोदमे लेता है उसी प्रकार इस क्रियाके करते समय पूजक यह समझकर कि "तीर्थकरका जन्म हो गया है" प्रतिमामे जन्मके समयके तीर्थकरकी कल्पना करता हुआ उनके जन्म-अभिषेककी क्रिया सम्पन्न करनेके लिये "मम सन्निहितो भव-भव" कहकर पुष्पवर्षा करते हुए प्रतिमाको यथास्थानसे उठाकर अपनी गोदीमे लेता हुआ बडे उत्साहके साथ सन्निधिकरण-महोत्सव मनावे।

इसके अनन्तर वह कल्पित सुमेरु पर्वतकी कल्पित पाडुक शिलापर इस प्रतिमाको स्थापन करे।

४—चौथी क्रिया अभिषेककी है। इस समय पूजक घटा, वादित्र आदिके शब्दोके बीच मंगलपाठका उच्चारण करता हुआ बडे समारोहके साथ प्रतिमाका अभिषेक करके तीर्थंकरके जन्माभिषेककी क्रिया सम्पन्न करें।

यह चारो क्रियाये तीर्थकरके असाधारण महत्त्वको प्रकट करनेवाली है। इनके द्वारा पूजकके हृदयमे तीर्थंकरके असाधारण व्यक्तित्वकी गहरी छाप लगती है। इसलिये इनका समावेश द्रव्यपूजामे किया गया है। इसके बाद तीर्थंकरके गार्हस्थ्य जीवनमे भी कुछ उपयोगी घटनायें घटती है। परन्तु असाधारण व नियमित न होनेके कारण उनका समावेश द्रव्यपूजामे नही किया गया है।

५—यह क्रिया अष्टद्रव्यके अर्पण करनेकी है। पूजकका कर्त्तव्य है कि वह इस समय प्रतिमामें तीर्थकर-की निर्ग्रंथ-मुनि-अवस्थाकी कल्पना करके आहारदानकी प्रक्रिया सम्पन्न करनेके लिए सामग्री चढावें। तीर्थङ्करकी निर्ग्रथ-मुनि-अवस्थामें इसी तरहकी पूजा उपादेय कही जा सकती है। इसलिए बाह्यसामग्री चढानेका उपदेश शास्त्रोमे पाया जाता है। इस क्रियाके द्वारा पूजकके हृदयमें पात्रोके लिए देनेकी भावना पैदा हो। इस उद्देश्यसे ही इस क्रियाका विधान किया गया है।

किसी समय हम लोगोमे यह रिवाज चालू था कि जो भोजन अपने घर पर अपने निमित्तसे तैयार किया जाता था उसीका एक भाग भगवानकी पूजाके काममे लाया जाता था, जिसका उद्देश्य यह था कि हम लोगोका आहार-पान शुद्ध रहे, परन्तु जबसे हम लोगोमे आहारपानकी शुद्धताके विपयमे शिथिलाचारी हुई, तभी से वह प्रथा बन्द कर दी गई है। और मेरा जहाँ तक खयाल है कि कही-कही अब भी यह प्रथा जारी है।

६—छठी क्रिया जयमालाकी है। जयमालाका अर्थ गुणानुवाद होता है। गुणानुवाद तभी किया जा सकता है जबकि विकास हो जावे। केवलज्ञानके हो जानेपर तीर्थंकरके गुणोका परिपूर्ण विकास हो जाता है। इसलिए जयमाला पढते समय पूजक प्रतिमामे केवलज्ञानी-सयोगी-अर्हन्त तीर्थकरकी कल्पना करके उनके गुणोका अनुवाद करे। यही उस समयकी पूजा है। तीर्थकरके सर्वज्ञपने, वीतरागपने और हितोपदेशपनेका भाव पूजकको होवे, यह उद्देश्य इस क्रियाके विधानका समझना चाहिए। यही कारण है कि जयमालाके बाद शान्तिपाठके द्वारा जगतके कल्याणकी प्रार्थना करते हुए पूजकको तदनन्तर प्रार्थना पाठके द्वारा आत्मकल्याणकी भावना भगवानकी प्रतिमाके सामने प्रकट करनेका विधान पूजाविधिमे पाया जाता है। जयमाला पढनेके बाद अर्घ चढानेकी जो प्रवृत्ति अपने यहाँ पायी जाती है वह ठीक नही, क्योकि अरन्त अवस्थामे तीर्थंकर कृतकृत्य सर्वाभिलाषाओसे रहित होनेके कारण हमारे द्वारा अर्पित किसी भी वस्तुको ग्रहण नही करते है। अतएव केवल

गुणानुवाद करके ही पूजकको यह क्रिया समाप्त करना चाहिए। इसके बाद वह जगतके कल्याणकी भावनासे शान्तिपाठ व इसके बाद आत्मकल्याणकी भावनासे स्तुतिपाठ पढ़े। ये दोनो बातें तीर्थंकरकी अरहंत अवस्थामे ही सम्भव हो सकती है, कारण कि तीर्थंकरका हितोपदेशीपना इसी अवस्थामे पाया जाता है।

७—सातवी क्रिया विसर्जनकी है। इस समय पूजक यह समझ कर कि भगवानकी मुक्ति हो रही है, अपरिमित हर्षसे पुष्पवर्षा करता हुआ विसर्जनकी क्रियाको समाप्त करें। जयमाला पढते हुए भी यदि पुष्पवर्षा की जाय तो अनुचित नही, क्योकि उससे हर्पातिरेकका बोध होता है, परन्तु अर्घ चढाना तो पूर्वोक्त रीतिसे अनुचित ही है।

यह हमारी द्रव्यपूजाकी विधिका अभिप्राय है। और पूजकको प्रतिदिन इसी अभिप्रायसे द्रव्यपूजामे भाग लेना चाहिये। ऐसी प्रक्रिया तर्क और अनुभव विरुद्ध नही कही जा सकती है। तथा जो चार आक्षेप पहले बतला आये हैं उनका समाधान भी इसके जरिये हो जाता है कारण कि प्रतिमा तीर्थंकरकी किसी अवस्था विशेषकी नही है वह तो सामान्यतौरपर तीर्थंकरकी प्रतिमा है, उसका अवलम्बन लेकर हमलोग अपने लिए उपयोगी तीर्थंकरकी स्वर्गावतरणसे लेकर मुक्तिपर्यन्तकी जीवनीका चित्रण किया करते है। यदि हम अवतरण करते हैं तो तीर्थंकरके स्वर्गसे चय कर गर्भमे आते समय, यदि अभिषेक करते हैं तो तीर्थङ्करके जन्मके समय, यदि सामग्री चढाते है तो तीर्थङ्करकी साधु अवस्थामें, जिस तरह अवतरण द्वारा मुक्त तीर्थङ्करको हम बुलाते नही, उसी प्रकार विसर्जनके द्वारा भेजते भी नही, केवल विसर्जनके द्वारा मोक्ष कल्याणकका उत्सव मनाया करते है। इस तरह पूर्वोक्त आक्षेपोंके होनेकी सम्भावना भी हमारी द्रव्यपूजाको प्रक्रियामें नही रह जाती हैं।

ऐसा मान लेनेपर हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि सिद्धोंकी पूजा उनकी प्रतिमाका अवलम्बन लेकर केवल उनके स्वरूपका अनुवाद व चिन्तवनमात्रसे करे, तीर्थङ्करके समान अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्तकी क्रियाओका समारोह न करें क्योकि यह यह प्रक्रिया तो सिर्फ तीर्थङ्करकी पूजामें ही सम्भव है। हमारे शास्त्र एक दूसरे प्रकारसे भी उस अभिप्रायकी पुष्टि करते है—

प्रतिमा जितनी बनाई जाती है वे सब तीर्थंकरोकी बनायी जाती है और प्रतिष्ठा करते समय तीर्थंकरके ही पाँच कल्याणकोका समारोह किया जाता है, क्योकि तीथकर ही मोक्षमार्गके प्रवर्तक है और उन्हीके जीवनमें वह असाधारणता (जिसका कि समारोह हम किया करते है) पायी जाती है। सामान्यकेवलियोकी इस तरहसे प्रतिमायें प्रतिष्ठित नही की जाती, क्योकि वे मोक्षमार्गके प्रवर्तक नही माने जाते और न उनका जीवन हो इतना असाधारण रहता है। केवल उन्होने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर ली है। उनकी त्यागवृत्तिका ध्येय भी उनके जीवनमे आत्मकल्याण रहा है, इसके लिये उनकी पूजा केवल सिद्ध-अवस्थाको लक्ष्य करके की जाती है। यही कारण है कि सिद्ध-प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा पचकल्याणकरूपसे न करके केवल मोक्षकल्याणक रूपसे की जाती है। अरहन्त और सिद्धको छोडकर अन्य किसीकी प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा करनेका रिवाज हमारे यहाँ नही है। इसका कारण यह है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये तीनो सामान्य तौरसे मुनि ही है। मुनियोका अस्तित्व शास्त्रोमे पचमकालके अन्त तक बतलाया है, इसलिये हमारे कल्याणमार्गका उपदेश, जो साक्षात्‌रूपसे विद्यमान है, उसकी मूर्तिकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्योकि मूर्ति-प्रतिष्ठाका उद्देश्य तो अपने कल्याणमार्गकी प्राप्ति ही है। पूजा करते समय पूजकका कर्त्तव्य यह अवश्य है कि वह जिन तीर्थङ्करकी प्रतिमा अपने समक्ष हो उनकी द्रव्यपूजा ऊपर कहे अभिप्रायको लेकर करे, जिनकी प्रतिमा न हो, उनकी पूजा यदि वह करना चाहता है तो उनको कल्पना दूसरे तीर्थंकरकी

प्रतिमामे करके उनकी द्रव्यपूजा करे, क्योकि जब हमारी पूजा ही कल्पनामय है तो दूसरे तीर्थङ्करकी प्रतिमामे दूसरे तीर्थङ्करकी कल्पना अपने भावोंकी विशुद्धिके लिये अनुचित नही कही जा सकती।

तथा जिस प्रकार सिद्धोकी पूजा उनके स्वरूपका अनुवाद व चितनमात्र ही युक्ति-अनुभवगम्य कही जा सकती है उसी प्रकार शास्त्रकी पूजा केवल उसकी बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय करना ही है। तीर्थक्षेत्रोकी पूजा उनका अवलवन लेकर भगवानके गुणोकी भावना मानना, रत्नत्रयकी पूजा उनकी प्राप्तिका प्रयत्न करना, धर्म व व्रतोकी पूजा उनका यथाशक्ति पालन करना समझना चाहिये। तीर्थकरोके समान उनकी अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्त सात प्रकारसे द्रव्यपूजा करना तो केवल हमारी तर्क और अनुभवकी शून्यताका द्योतक है। मुझे विश्वास है कि समाज इस तरहसे पूजाके रहस्यको समझ कर इसमे सुधार करनेका प्रयत्न करेगा।
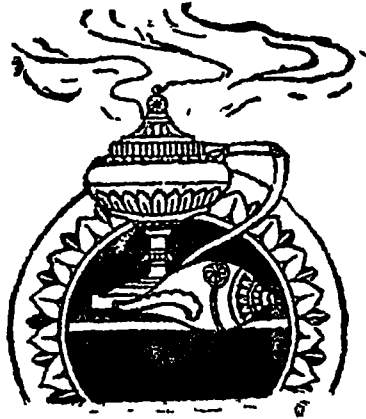
गुणानुवाद करके ही पूजकको यह क्रिया समाप्त करना चाहिए। इसके बाद वह जगतके कल्याणकी भावनासे शान्तिपाठ व इसके बाद आत्मकल्याणकी भावनासे स्तुतिपाठ पढे। ये दोनो बाते तीर्थकरकी अरहत अवस्थामे ही सम्भव हो सकती हैं, कारण कि तीर्थंकरका हितोपदेशीपना इसी अवस्थामे पाया जाता है।

७—सातवी क्रिया विसर्जनकी है। इस समय पूजक यह समझ कर कि भगवानकी मुक्ति हो रही है, अपरिमित हर्षसे पुष्पवर्षा करता हुआ विसर्जनकी क्रियाको समाप्त करे। जयमाला पढते हुए भी यदि पुष्पवर्षा की जाय तो अनुचित नही, क्योकि उससे हर्षातिरेकका बोध होता है, परन्तु अर्घ चढाना तो पूर्वोक्त रीतिसे अनुचित ही है।

यह हमारी द्रव्यपूजाकी विधिका अभिप्राय है। और पूजकको प्रतिदिन इसी अभिप्रायसे द्रव्यपूजामे भाग लेना चाहिये। ऐसी प्रक्रिया तर्क और अनुभव विरुद्ध नही कही जा सकती है। तथा जो चार आक्षेप पहले बतला आये हैं उनका समाधान भी इसके जरिये हो जाता है कारण कि प्रतिमा तीर्थंकरकी किसी अवस्था विशेषकी नही है वह तो सामान्यतौरपर तीर्थंकरकी प्रतिमा है, उसका अवलम्बन लेकर हमलोग अपने लिए उपयोगी तीर्थंकरकी स्वर्गावतरणसे लेकर मुक्तिपर्यन्तकी जीवनीका चित्रण किया करते है। यदि हम अवतरण करते हैं तो तीर्थकरके स्वर्गसे चय कर गर्भमे आते समय, यदि अभिषेक करते है तो तीर्थङ्करके जन्मके समय, यदि सामग्री चढाते है तो तीर्थङ्करकी साधु अवस्थामें, जिस तरह अवतरण द्वारा मुक्त तीर्थङ्करको हम बुलाते नही, उसी प्रकार विसर्जनके द्वारा भेजते भी नही, केवल विसर्जनके द्वारा मोक्ष कल्याणकका उत्सव मनाया करते है। इस तरह पूर्वोक्त आक्षेपोंके होनेकी सम्भावना भी हमारी द्रव्यपूजाको प्रक्रियामें नही रह जाती है।

ऐसा मान लेनेपर हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि सिद्धोकी पूजा उनकी प्रतिमाका अवलम्बन लेकर केवल उनके स्वरूपका अनुवाद व चिन्तवनमात्रसे करें, तीर्थङ्करके समान अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्तकी क्रियाओका समारोह न करें क्योकि यह यह प्रक्रिया तो सिर्फ तीर्थङ्करकी पूजामें ही सम्भव है। हमारे शास्त्र एक दूसरे प्रकारसे भी उस अभिप्रायकी पुष्टि करते है—

प्रतिमा जितनी बनाई जाती है वे सब तीर्थंकरोकी बनायी जाती है और प्रतिष्ठा करते समय तीर्थंकरके ही पाँच कल्याणकोका समारोह किया जाता है, क्योकि तीथकर ही मोक्षमार्गके प्रवर्तक है और उन्हीके जीवनमे वह असाधारणता (जिसका कि समारोह हम किया करते है) पायी जाती है। सामान्यकेवलियोकी इस तरहसे प्रतिमायें प्रतिष्ठित नही की जाती, क्योकि वे मोक्षमार्गके प्रवर्तक नही माने जाते और न उनका जीवन हो इतना असाधारण रहता है। केवल उन्होने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर ली है। उनकी त्यागवृत्तिका ध्येय भी उनके जीवनमे आत्मकल्याण रहा है, इसके लिये उनकी पूजा केवल सिद्ध-अवस्थाको लक्ष्य करके की जाती है। यही कारण है कि सिद्ध-प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा पचकल्याणकरूपसे न करके केवल मोक्षकल्याणक रूपसे की जाती है। अरहन्त और सिद्धको छोडकर अन्य किसीकी प्रतिमाओकी प्रतिष्ठा करनेका रिवाज हमारे यहाँ नही है। इसका कारण यह है कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये तीनो सामान्य तौरसे मुनि ही है। मुनियोका अस्तित्व शास्त्रोमे पचमकालके अन्त तक बतलाया है, इसलिये हमारे कल्याणमार्गका उपदेश, जो साक्षात्‌रूपसे विद्यमान है, उसकी मूर्तिकी आवश्यकता ही क्या रह जाती हैं ? क्योकि मूर्ति-प्रतिष्ठाका उद्देश्य तो अपने कल्याणमार्गकी प्राप्ति ही है। पूजा करते समय पूजकका कर्त्तव्य यह अवश्य है कि वह जिन तीर्थङ्करकी प्रतिमा अपने समक्ष हो उनकी द्रव्यपूजा ऊपर कहे अभिप्रायको लेकर करे, जिनकी प्रतिमा न हो, उनकी पूजा यदि वह करना चाहता है तो उनको कल्पना दूसरे तीर्थंकरकी

प्रतिमामे करके उनकी द्रव्यपूजा करे, क्योकि जब हमारी पूजा हो कल्पनामय है तो दूसरे तीर्थङ्करकी प्रतिमामें दूसरे तीर्थङ्करकी कल्पना अपने भावोकी विशुद्धिके लिये अनुचित नही कही जा सकती।

तथा जिस प्रकार सिद्धोकी पूजा उनके स्वरूपका अनुवाद व चितनमात्र ही युक्ति-अनुभवगम्य कही जा सकती है उसी प्रकार शास्त्रकी पूजा केवल उसकी वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय करना ही है। तीर्थक्षेत्रोकी पूजा उनका अवलबन लेकर भगवानके गुणोकी भावना मानना, रत्नत्रयकी पूजा उनकी प्राप्तिका प्रयत्न करना, धर्म व व्रतोकी पूजा उनका यथाशक्ति पालन करना समझना चाहिये। तीर्थकरोके समान उनकी अवतरणसे लेकर विसर्जन पर्यन्त सात प्रकारसे द्रव्यपूजा करना तो केवल हमारी तर्क और अनुभवकी शून्यताका द्योतक है। मुझे विश्वास है कि समाज इस तरहसे पूजाके रहस्यको समझ कर इसमे सुधार करनेका प्रयत्न करेगा।

साधुत्वमें नग्नताका महत्त्व

पृष्ठभूमि :

एक लेख "दिगम्बर जैन साधुओका नग्नत्व" शीर्षकसे जैन जगत (वर्धा, फरवरी १९५५का अक) में प्रकाशित हुआ है। लेख मूलत: गुजराती भाषाका था और "प्रबुद्ध जीवन" श्वे० गुजराती पत्रमें प्रकाशित हुआ था। लेखके लेखक "प्रबुद्ध जीवन"के सम्पादक श्रीपरमानन्द कुवरजी कापडिया है तथा जैनजगतवाला लेख उसी लेखका श्रीभवरलाल सिंघी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है।

जैन जगतके सपादक भाई जमनालाल जैनने लेखकका जो परिचय सम्पादकोय नोटमें दिया है उसे ठीक मानते हुए भी हम इतना कहना चाहेंगे कि लेखकने दिगम्बर जैन साधुओके नग्नत्वपर विचार करनेके प्रसगसे साधुत्वमेसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका जो प्रयत्न किया है उसे उचित नही कहा जा सकता है।

इस विषयमें पहली बात तो यह है कि लेखकने अपने लेखमे मानवीय विकासक्रमका जो खाका खीचा है उसे बुद्धिका निष्कर्ष तो माना जा सकता है, परन्तु उसकी वास्तविकता निर्विवाद नही कही जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि सभ्यताके विषयमें जो कुछ लेखमें लिखा गया है उसमे लेखकने केवल भौतिक-वादका ही सहारा लिया है, जबकि साधुत्वकी आधारशिला विशुद्ध अध्यात्मवाद है। अत भौतिकवादकी सभ्यताके साथ अध्यात्मवादमे समर्थित नग्नताका यदि मेल न हो, तो इसमे आश्चर्य नही करना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि बदलती हुई शारीरिक परिस्थितियाँ हमे नग्नतासे विमुख तो कर सकती है, परन्तु सिर्फ इसी आधार पर हमारा साधुत्वमेंसे नग्नताके स्थानको समाप्त करनेका प्रयत्न सही नही हो सकता है।

साधुत्वका उद्देश्य

प्राय सभी सस्कृतियोमे मानववर्गको दो भागोमें बाटा गया है—एक तो जन-साधारणका वर्ग गृहस्थवर्ग और दूसरा साधुवर्ग। जहाँ जनसाधारणका उद्देश्य केवल सुखपूर्वक जीवनयापन करनेका होता हैं वहाँ साधुका उद्देश्य या तो जनसाधारणको जीवन के कर्तव्यमार्गका उपदेश देनेका होता है अथवा बहुतसे मनुष्य मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गका अवलबन लिया करते है। जैन सस्कृतिमे मुख्यत मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गके अवलबनकी बात कही गयी है।

"जीवका शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाना" मुक्ति कहलाती है परन्तु यह दिगम्बर जैन सस्कृतिके अभिप्रायानुसार उसी मनुष्यको प्राप्त होती है जिस मनुष्यमे अपने वर्तमान जीवनकी सुरक्षाका आधारभूत शरीरकी स्थिरताके लिये भोजन, वस्त्र, औषधि आदि साधनोकी अवाश्यकता शेष नही रह जाती है और ऐसे मनुष्यको साधुओका चरमभेद स्नातक (निष्णात्) या जीवन्मुक्त नामसे पुकारा जाता है।

साधुत्वमे नग्नताको प्रश्रय क्यो ?

सामान्यरूपसे जैन सस्कृतिकी मान्यता यह है कि प्रत्येक शरीरमें उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व रहता है। परन्तु वह शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके रूपमें ही उसका अस्तित्व समझमे आता है और जीवके अन्दर जो ज्ञान करनेकी शक्ति मानी गयी है वह भी शरीरका अगभूत इन्द्रियो-

के सहयोगके बिना पशु बनी रहती है, इतना ही नही, जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरता पर ही अवलबित रहती है। जीवकी शरीरावलबनताका यह भी एक विचित्र फिर भी तथ्यपूर्ण अनुभव है कि जब शरीरमे शिथिलता आदि किसी किस्मके विकार पैदा हो जाते है तो जीवको क्लेशका अनुभव होने लगता है और जब उन विकारोको नष्ट करनेके लिये अनुकूल भोजन आदिका सहारा ले लिया जाता है तो उनका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भोजनादि पदार्थ शरीरपर ही अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु शरीरके साथ अनन्यमयी पराधीनताके कारण सुखका अनुभोक्ता जीव होता है।

दिगम्बर जैन संस्कृतिकी यह मान्यता है कि जीव जिस शरीरके साथ अनन्यमय हो रहा है उसकी स्वास्थ्यमय स्थिरताके लिये जबतक भोजन, वस्त्र, औषधि आदिकी आवश्यकता बनी रहती है तबतक उस जीवका मुक्त होना असभव है और यही एक कारण है कि दिगम्बर जैन सस्कृति द्वारा साधुत्वमे नग्नताको प्रश्रय दिया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि हम इस बातको ठीक तरहसे समझ ले कि साधुत्वकी भूमिका मानव जीवनमे किस प्रकार तैयार होती है ? तो सम्भवतः साधुत्वमे नग्नताके प्रति हमारा आकर्पण बढ़ जायगा।

साधुत्वकी भूमिका

जीव केवल शरीरके ही अधीन है, सो बात नही है, प्रत्युत वह मनके भी अधीन हो रहा है और इस मनकी अधीनताने जीवको इस तरह दबाया है कि न तो वह अपने हितकी बात सोच सकता है और न शारीरिक स्वास्थ्यकी बात सोचनेकी ही उसमे क्षमता रह जाती है। वह तो केवल अभिलाषाओकी पूर्तिके लिये अपने हित और शारीरिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल ही आचरण किया करता है।

यदि हम अपनी स्थितिका थोडासा भी अध्ययन करनेका प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि यद्यपि भोजन आदि पदार्थोकी मनके लिये कुछ भी उपयोगिता नही है, वे केवल शरीरके लिये ही उपयोगी सिद्ध होते है। फिर भी मनके वशीभूत होकर हम ऐसा भोजन करनेसे नही चूकते है जो हमारी शारीरिक प्रकृतिके बिल्कुल प्रतिकूल पडता है और जब इसके परिणामस्वरूप हमे कष्ट होने लगता है तो उसका समस्त दोष हम भगवान या भाग्यके ऊपर थोपनेकी चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार वस्त्र या दूसरी उपभोगकी वस्तुओके विषयमे हम जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचते है उतनी शारीरिक स्वास्थ्यकी अनुकूलताकी बात नही सोचते। यहाँ तक कि एक तरफ तो शारीरिक स्वास्थ्य बिगडता चला जाता है और दूसरी तरफ मनकी प्रेरणासे हम उन्ही साधनोको जुटाते चले जाते है जो साधन हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको बिगाडनेवाले होते हैं। इतना ही नही, उन साधनोके जुटानेमे विविध प्रकारकी परेशानीका अनुभव करते हुए भी हम परेशान नही होते बल्कि उन साधनोके जुट जाने पर हम आनन्दका ही अनुभव करते है।

मनकी आधीनतामे हम केवल अपना या शरीरका ही अहित नही करते है, बल्कि इस मनकी अधीनताके कारण हमारा इतना पतन हो रहा है कि बिना प्रयोजन हम दूसरोका भी अहित करनेसे नही चूकते है और इसमे भी आनन्दका रस लेते है।

दिगम्बर जैन सस्कृतिका मुक्ति प्राप्तिके विषयमें यह उपदेश है कि मनुष्यको इसके लिए सबसे पहले अपनी उक्त मानसिक पराधीनताको नष्ट करना चाहिए और तब इसके बाद उसे साधुत्व ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आजकल प्राय. सभी सम्प्रदायोमें उक्त मानसिक पराधीनताके रहते हुए ही प्राय साधुत्व ग्रहण करने की होड लगी हुई है, परन्तु नियम यह है कि जो साधुत्व मानसिक पराधीनतासे छुटकारा पानेके

बाद ग्रहण किया जाता है वही सार्थक हो सकता है और उसीसे ही मुक्ति प्राप्त होनेकी आशा की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि उक्त मानसिक पराधीनताकी समाप्ति ही साधुत्व ग्रहण करनेके लिए मनुष्यकी भूमिका काम देती है। इसको (मानसिक पराधीनताकी समाप्तिको) जैन सस्कृतिमे सम्यग्दर्शन नामसे पुकारा गया है और क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और सयम ये छह धर्म उस सम्यग्दर्शनके अग माने गए हैं।

मानव-जीवनमे सम्यग्दर्शनका उद्भव

प्रत्येक जीवके जीवनकी सुरक्षा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्रमें प्रतिपादित दूसरे जीवोके सहयोग पर निर्भर है। परन्तु मानव जीवनमे तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट रूपमे दिखाई देती है। इसीलिए ही मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है, जिसका अर्थ यह होता है कि सामान्यतया मनुष्य कौटुम्बिक सहवास आदि मानव समाजके विविध सगठनोके दायरेमें रहकर ही अपना जीवन सुखपूर्वक विता सकता है। इसलिए कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, देश और विश्वके रूपमे मानव सगठनके छोटे-बडे जितने रूप हो सकते है उन सबको सगठित रखनेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको सतत करते रहना चाहिए। इसके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"का सिद्धान्त अपनानेकी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसका अर्थ यह है कि "जैसा व्यवहार दूसरोसे हम अपने प्रति नही चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोके साथ भी न करें और जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते है वैसा व्यवहार हम दूसरोके साथ भी करें।"

अभी तो प्रत्येक मनुष्यकी यह हालत है कि वह प्राय दूसरोको निरपेक्ष सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नही होता है। परन्तु अपनी प्रयोजन सिद्धिके लिए प्रत्येक मनुष्य न केवल दूसरोसे सहयोग लेनेके लिए सदा तैयार रहता है। बल्कि दूसरोको कष्ट पहुँचाने, उनके साथ विषमताका व्यवहार करने और उन्हे धोखेमे डालनेसे भी वह नही चूकता है। इतना ही नही, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि अपना कोई प्रयोजन न रहते हुए भी दूसरोके प्रति उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार करनेमे उसे आनन्द आता है।

जैन सस्कृतिका उपदेश यह है कि 'अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी किसीके साथ उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार मत करो। इतना ही नही, दूसरोको यथा-अवसर निरपेक्ष सहायता पहुँचानेको सदा तैयार रहो' ऐसा करनेसे एक तो मानव सगठन स्थायी होगा दूसरे प्रत्येक मनुष्यको उस मानसिक पराधीनतासे छुटकारा मिल जायेगा, जिसके रहते हुए वह अपनेको सभ्य नागरिक तो दूर मनुष्य कहलानेतकका अधिकारी नही हो सकता है।

अपना प्रयोजन रहते न रहते दूसरोको कष्ट नही पहुँचाना, इसे ही क्षमाधर्म, कभी भी दूसरोके साथ विषमताका व्यवहार नही करना व इसे ही मार्दव धर्म, कभी भी दूसरोको धोखेमे नही डालना, इसे ही आर्जव धर्म, और यथा-अवसर दूसरोको निरपेक्ष सहायता पहुँचाना, इसे ही सत्यधर्म समझना चाहिए। इन चारो धर्मोको जीवनमे उतार लेनेपर मनुष्यको मनुष्य, नागरिक या सभ्य कहना उपयुक्त हो सकता है।

यह भी देखते है कि बहुत मनुष्य उक्त प्रकारसे सभ्य होते हुए भी लोभके इतने वशीभूत रहा करते है कि उन्हें सम्पत्तिके सग्रहमे जितना आनन्द आता है उतना आनन्द उसके भोगनेमे नही आता। इसलिए अपनी शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिमे वे बडी कजूसीसे काम लिया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसी तरह दूसरे बहुतसे मनुष्योकी प्रकृति इतनी लोलुप रहा करती है

कि वे सपत्तिका उपभोग आवश्यकतासे अधिक करते हुए भी कभी तृप्त नही होते। इसलिए ऐसे मनुष्य भी अपना स्वास्थ्य बिगाड कर बैठ जाते है।

जैन सस्कृति बतलाती है कि भोजन आदि सामग्री शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए बडी उपयोगी है इसलिए इसमे कजूसीसे काम नही लेना चाहिए। लेकिन अच्छी बातोका अतिक्रमण भी बहुत बुरा होता है, अत भोजनादि सामग्रीके उपभोगमे लोलुपता भी नही दिखलाना चाहिये, क्योकि शारीरिक स्वास्थ्यरक्षाके लिए भोजनादि जितने जरूरी है उतना ही जरूरी उनका शारीरिक प्रकृतिके अनुकूल होना और निश्चित सीमातक भोगना भी है। इसलिए शरीरके लिए जहाँ तक इनकी आवश्यकता हो, वहाँ तक इनके उपभोगमें कंजूसी नही करना चाहिए और इनका उपभोग आवश्यकतासे अधिक भी नही करना चाहिए।

आवश्यकता रहते हुए भोजनादि सामग्रीके उपभोगमे कजूसी नही करना, इसे ही शौचधर्म और अनर्गल तरीकेसे उसका उपभोग नही करना इसे ही सयमधर्म समझना चाहिए।

इस प्रकार मानव जीवनमे उक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यधर्मोके साथ शौच और संयम-धर्मोका भी समावेश हो जानेपर सम्पूर्ण मानसिक पराधीनतासे मनुष्यको छुटकारा मिल जाता है और तब उस मनुष्यको विवेकी या सम्यग्दृष्टि नामसे पुकारा जाने लगता है क्योकि तब उस मनुष्यके जीवनमे न केवल "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"का सिद्धान्त समा जाता है, बल्कि वह मनुष्य इस तथ्यको भी हृदयगम कर लेता है कि भोजनादिकका उपयोग क्यो करना चाहिये और किस ढगसे करना चाहिये ?

सम्यग्दृष्टि मनुष्यकी साधुत्वको ओर प्रगति

इस प्रकार मानसिक पराधीनताके समाप्त हो जानेपर मनुष्यके अन्त करणमें जो विवेक या सम्यग्दर्शनका जागरण होता है उसकी वजहसे, वह पहले जो भोजनादिकका उपभोग मनकी प्रेरणासे किया करता था, अबसे आगे उनका उपभोग वह शरीरकी आवश्यकताओको ध्यानमे रखते हुए ही करने लगता है।

इस तरह साधुत्वकी भूमिका तैयार हो जानेपर वह मनुष्य अपना भावी कर्त्तव्य-मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शारीरिक पराधीनतासे भी छुटकारा पा सके।

वह सोचता है कि 'मेरा जीवन तो शरीराश्रित है ही, लेकिन शरीरकी स्थिरताके लिये भी मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और कौटुम्बिक सहवासका सहारा लेना पडता है, इस तरह मैं मानव सगठनके विशाल चक्करमे फँसा हुआ हूँ।'

इस डोरीको समाप्त करनेका एक ही युक्ति सगत उपाय जैन सस्कृतिमे प्रतिपादित किया गया है कि शरीरको अधिक-से-अधिक आत्म निर्भर बनाया जावे। इसके लिए (जैन सस्कृति) हमे दो प्रकारके निर्देश देती है—एक तो आत्मचिंतन द्वारा अपनी (आत्माकी) उस स्वावलम्बन शक्तिको जाग्रत करने की, जिसे अन्तरायकर्मने दबोचकर हमारे जीवनको भोजनादिकके अधीन बना रखा है और दूसरा व्रतादिकके द्वारा शरीरको सबल बनाते हुए भोजनादिककी आवश्यकताओको कम करनेका। इस प्रयत्नसे जैसे-जैसे शरीरके लिये भोजनादिककी आवश्यकतायें कम होती जायँगी (याने शरीर जितना-जितना आत्म-निर्भर होता जायगा) वैसे-वैसे ही हम अपने भोजनमे सुधार और वस्त्र, आवास तथा कौटुम्बिक सहवासमें कमी करते जावेंगे जिससे हमे मानव सगठनके चक्करसे निकलकर (याने समष्टि गत जीवनको समाप्त कर) वैयक्तिक जीवन बितानेकी क्षमता प्राप्त हो जायगी।

आत्माकी स्वावलवन शक्तिको जाग्रत करने और शरीर सम्बन्धी भोजनादिककी आवश्यकताओको

कम करनेके प्रयत्नोको जैन सस्कृतिमे क्रमश अन्तरग और बाह्य दो प्रकारका तपधर्म तथा भोजनादिकमे सुधार और कमी करनेको त्यागधर्म कहा गया है ।

साधु मार्गमे प्रवेश

जीवनमें तप और त्याग इन दोनो धर्मोकी प्रगति करते हुए विवेक या सम्यग्दर्शन सम्पन्न मनुष्य जब जन साधारणके वर्गसे बाहर रहकर जीवन बितानेमे पूर्ण सक्षमता प्राप्त कर लेता है और शारीरिक स्वास्थ्य-की रक्षाके लिये उसकी वस्त्र ग्रहणकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है तब वह नग्न दिगम्बर होकर दिगम्बर जैन सस्कृतिके अनुसार साधुमार्गमे प्रवेश करता है । नग्न दिगम्बर बनकर जीवन बितानेको दिगम्बर जैन सस्कृतिमें आकिंचन्य धर्म कहा गया है । आकिंचन्य शब्दका अर्थ है, पासमे कुछ नही रह जाना, अर्थात् अब तक मनुष्यने जो शरीर रक्षाके लिये वस्त्र, आवास, कुटुम्ब और जन साधारणसे सम्बन्ध जोड रखा था, वह सब उसने समाप्त कर दिया है केवल शरीरकी स्थिरताके लिये भोजनसे ही उसका सम्बन्ध रह गया है और भोजन ग्रहण करनेकी प्रक्रियामें भी उसने इस किस्मसे सुधार कर लिया है कि उसे पराश्रयताका लेशमात्र भी अनुभव नही होता है । इतनेपर भी कदाचित् पराश्रयताका अनुभव होनेकी सम्भावना हो जाय तो पराश्रयता स्वीकार करनेकी अपेक्षा सन्यस्त होकर (समाधिमरण धारण करके) जीवन समाप्त करनेके लिये सदा तैयार रहता है । भोजनसे उसका सम्बन्ध भी तब तक रहता है जब तक कि शरीर रक्षाके लिये उसकी आवश्यकता बनी रहती है, इसलिये जब शरीर पूर्णरूपसे आत्म निर्भर हो जाता है तब उसका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और फिर शरीरकी यह आत्मनिर्भरता तब तक बनी रहती है जब तक कि जीवका उस शरीरसे सम्बन्धविच्छेद नही हो जाता है । शरीरका पूर्ण रूपसे आत्म निर्भर हो जानेसे मनुष्यका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जानेको आकिंचन्य धर्मकी पूर्णता कहते है और इस तरह आकिंचन्यधर्मकी पूर्णता हो जानेपर उसे साधु वर्गका चरमभेद स्नातक नामसे पुकारने लगते है । जैन सस्कृतिमे यही जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है । यह जीवन्मुक्त परमात्मा आयुकी समाप्ति हो जानेपर शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जानेके कारण जो अपने आपमे स्थिर हो जाता है यही ब्रह्मचर्य धर्म है और यही मुक्ति है । इस ब्रह्मचर्य धर्म अथवा मुक्ति-की प्राप्तिमे ही मनुष्यका साधुमार्गके अवलम्बनका प्रयास सफल हो जाता है ।

यहाँपर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते है कि दि० जैन सस्कृतिमे साधुओको जन-साधारणके वर्गसे अलग परस्पर समूह बनाकर अथवा एकाकी वास करनेका निर्देश किया गया है । अत जब उन्हें भोजन-ग्रहण करनेकी आवश्यकता महसूस हो, तभी और सिर्फ भोजनके लिये ही जनसाधारणके सम्पर्कमे आना चाहिये । वैसे जनसाधारण चाहे, तो उनके पास पहुँच कर उनसे उपदेश ग्रहण कर सकते है ।

अन्तिम निष्कर्ष

इस लेखमे साधुत्वके विषयमे लिखा गया है वह यद्यपि दि० जैन सस्कृतिके दृष्टिकोणके आधारपर ही लिखा गया है परन्तु यह समझना भूल होगी कि साधुत्वके विषयमें इससे भिन्न दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कारण कि साधुत्व ग्रहण करते समय मनुष्यके सामने निर्विवाद रूपसे आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको उत्तरोत्तर बढाना और शरीरमें अधिकसे-अधिक आत्मनिर्भरता लाना ही एक मात्र लक्ष्य रहना उचित है । अत किसी भी सम्प्रदायका साधु क्यो न हो, उसे अपने जीवनमे दिगम्बर जैनसस्कृति द्वारा समर्थित दृष्टिकोण ही अपनाना होगा अन्यथा साधुत्व ग्रहण करनेका उसका उद्देश्य सिद्ध नही होगा ।

वर्तमानमे सभी सम्प्रदायोके साधु-जिनमे दि० जैन सम्प्रदायके साधु भी सम्मिलित है, साधुत्वके स्वरूप, उद्देश्य और उत्पत्तिक्रमकी नासमझीके कारण बिल्कुल पथभ्रष्ट हो रहे है । इसलिए केवल सम्प्रदाय विशेपके

साधुओंकी आलोचना करना यद्यपि अनुचित ही माना जायगा फिर भी जिस सम्प्रदायके साधुओकी आलोचना की जाती है उस सम्प्रदायके लोगोको इससे रुष्ट भी नही होना चाहिये कारण कि आखिर वे साधु किसी-न-किसी रूपमे पथभ्रष्ट तो रहते ही है अत रुष्ट होनेकी अपेक्षा दोषोको निकालनेका ही उन्हे प्रयत्न करना चाहिए। अच्छा होता, यदि भाई परमानन्द कुँवरजी कापडिया साधुत्वमेसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका प्रयत्न न करके केवल दि० जैन साधुओके अवगुणोकी इस तरह आलोचना करते, जिससे उनका मार्ग-दर्शन होता।

प्रश्न—जिस प्रकार पीछी, कमण्डलु और पुस्तक पासमे रखनेपर भी दि० जैन साधु अकिंचन (निर्ग्रन्थ) बना रहता है उसी प्रकार वस्त्र रखनेपर भी उसके अकिंचन बने रहनेमे आपत्ति क्यो होना चाहिये ?

उत्तर—दि० जैन साधु कमण्डलु तो जीवनका अनिवार्य कार्य मलशुद्धिके लिए रखता हैं, पीछी स्थान शोधनके काममे आती है और पुस्तक ज्ञानवृद्धिका कारण हैं अत अकिंचन साधुको इनके पासमे रखनेकी छूट दि० जैन सस्कृतिमे दी गयी है परन्तु इन वस्तुओको पासमे रखते हुए वह इनके सम्बन्धमे परिग्रही ही है, अपरिग्रही नही। इसी प्रकार जो साधु शरीर रक्षाके लिए अथवा सभ्य कहलानेके लिए वस्त्र धारण करता है तो उसे कम-से-कम उस वस्त्रका परिग्रही मानना अनिवार्य होगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु वस्त्र रखते हुए भी अपनेको साधुमार्गी मानते है या लोक उन्हें साधुमार्गी कहता है तो यह विषय दि० जैन सस्कृतिके दृष्टिकोणके अनुसार विवादका नही है क्योकि दि० जैन संस्कृतिमे साधुत्वके विषयमे जो नग्नतापर जोर दिया गया है उसका अभिप्राय तो सिर्फ इतना ही है कि सवस्त्र साधुमे नग्न साधुकी अपेक्षा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकास और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी उतनी कमी रहना स्वाभाविक है जिस कमीके कारण उसे वस्त्र ग्रहण करना पड रहा है। इस प्रकार वस्त्र त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए वस्त्रका धारण करना निदनीय नही माना जा सकता है प्रत्युत वस्त्र-त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए भी नग्नताका धारण करना निन्दनीय ही माना जायेगा क्योकि इस तरहके प्रयत्नसे साधुत्वमे उत्कर्ष होनेकी अपेक्षा अपकर्ष ही हो सकता है यहा कारण है कि दिगम्वर जैनसस्कृतिमें नग्नताको किसी एक हदतक साधुत्वका परिणाम ही माना गया है साधुत्वमे नग्नताको कारण नही माना गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये कि साधुत्व ग्रहण करनेकी योग्यता रखनेवाले, पहले तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती मनुष्योमें जब साधुत्वका उदय होता है तो उस हालतमे उनके पहले सातवाँ गुणस्थान ही होता है छठा गुणस्थान तो इसके बादमें ही हुआ करता है इसका आशय यही है कि जब मनुष्यकी मानसिक परिणतिमे साधुत्व समाविष्ट हो जाता है तभी बाह्यरूपमे भी साधुत्वको अपनाते हुए वह नग्नताकी ओर उन्मुख होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्तम गुणस्थानका आधार साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और षष्ठ गुणस्थानका आधार साधुत्वकी बहिर्मुख प्रवृत्ति है। साधुत्वकी ओर अभिमुख होनेवाले मनुष्यकी साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति पहले हो जाया करती है, इसके बाद ही जब वह मनुष्य बहि:प्रवृत्तिकी ओर झुकता है तब वस्त्रोका त्याग करता है अत यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधुत्वका कार्य नग्नता है नग्नताका कार्य साधुत्व नही। यद्यपि नग्नता अतरग साधुत्वके बिना भी देखनेमे आती है परन्तु जहाँ अन्तरग साधुत्वकी प्रेरणासे बाह्य वेशमें नग्नता को अपनाया जाता है वहीं सच्चा साधुत्व है।

प्रश्न—जब ऊपरके कथनमे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यके सातवाँ गुणस्थान प्रारम्भमें सवस्त्र हालत

मे ही हो जाया करता है और इसके बाद छठे गुणस्थानमे आनेपर वह वस्त्रको अलग करता है । तो इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सातवे गुणस्थानकी तरह आठवा आदि गुणस्थानोका सम्बन्ध भी मनुष्यकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे होनेके कारण सवस्त्र मुक्तिके समर्थनमे कोई बाधा नही रह जाती है और इस तरह दि० जैनसस्कृतिका स्त्रीमुक्ति निषेध भी असगत हो जाता है ।

उत्तर—यद्यपि सभी गुणस्थानोका सम्बन्ध जीवका अन्तरग प्रवृत्तिसे ही है, परन्तु कुछ गुणस्थान ऐसे हैं जो अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ बाह्यवेशके आधारपर व्यवहारमे आने योग्य है । ऐसे गुणस्थान पहला, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा और तेरहवाँ ये सब है । शेष गुणस्थान याने दूसरा, सातवाँ, आठवाँ, नववाँ, दशवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और चौदहवाँ ये सब केवल अन्तरग प्रवृत्तिपर ही आधारित है । इसलिए जो मनुष्य सवस्त्र होते हुए भी केवल अपनी अन्त.प्रवृत्तिकी ओर जिस समय उन्मुख हो जाया करते है उन मनुष्योके उस समयमे वस्त्रका विकल्प समाप्त हो जानेके कारण सातवेसे बारहवे तकके गुणस्थान मान लेनेमे कोई आपत्ति नही है । दि० जैन सस्कृतिमे भी चेलोपसृष्ट साधुओका कथन तो आता ही है । परन्तु दि० जैनसस्कृतिकी मान्यतानुसार मनुष्यके छठा गुणस्थान इसलिये सम्भव नही है कि वह गुणस्थान ऊपर कहे अनुसार साधुत्वकी अन्तरग प्रवृत्तिके साथ उसके बाह्य वेशपर आधारित है, अत जबतक वस्त्रका त्याग बाह्यरूपमे नही हो जाता है तबतक दि० जैनसस्कृतिके अनुसार वह साधु नही कहा जा सकता है । इसी आधारपर सवस्त्र होनेके कारण द्रव्यस्त्रीके छठे गुणस्थानकी सम्भावना तो समाप्त हो जाती है । परन्तु पुरुषकी तरह उसके भी सातवाँ आदि गुणस्थान हो सकते है या मुक्ति हो सकती है इसका निर्णय इस आधारपर ही किया जा सकता है कि उसके सहनन कौन-सा पाया जाता है । मुक्तिके विषयमे जैन सस्कृतिकी यही मान्यता है कि वह वज्रवृषभनाराचसहनन वाले मनुष्यको ही प्राप्त होती है और यह सहनन द्रव्यस्त्रीके सम्भव नही है । अत उसके मुक्तिका निषेध दि० जैनसस्कृतिमे किया गया है । मनुष्यके तेरहवे गुणस्थानमे वस्त्रकी सत्ताको स्वीकार करना तो सर्वथा अयुक्त है क्योकि एक तो तेरहवाँ गुणस्थान षष्ठगुणस्थानके समान अन्तरग प्रवृत्तिके साथ-साथ बाह्य प्रवृत्तिपर अवलम्बित है, दूसरे वहाँपर आत्माकी स्वालम्बन शक्ति और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी पूर्णता हो जाती है, इसलिए वहाँ वस्त्रस्वीकृतिकी आवश्यकता ही नही रह जाती है । दि० जैनसस्कृतिमे द्रव्यस्त्रीको मुक्ति न माननेका यह भी एक कारण है ।

जिन लोगोका यह ख्याल है कि साधुके भोजन ग्रहण और वस्त्र ग्रहण दोनोमे कोई अन्तर नही है उनसे हमारा इतना कहना ही पर्याप्त है कि जीवनके लिए या शरीर रक्षाके लिए जितना अनिवार्य भोजन है उतना अनिवार्य वस्त्र नही है, जितना अनिवार्य वस्त्र है उतना अनिवार्य आवास नही है और जितना अनिवार्य आवास है उतना अनिवार्य कौटुम्बिक सहवास नही है ।

अन्तमें स्थूल रूपसे साधुका लक्षण यही हो सकता है कि जो मनुष्य मनपर पूर्ण विजय पा लेनेके अनन्तर यथाशक्ति शारीरिक आवश्यकताओको कम करते हुए भोजन आदिको पराधीनताको घटाता हुआ चला जाता है वही साधु कहलाता है ।

●

जैनदृष्टिसे मनुष्योंमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार

जैन सस्कृतिमे समस्त ससारी अर्थात् नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—इन चारो ही गतियोमे विद्यमान सभी जीवोंको यथायोग्य उच्च और नीच दो भागोमे विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते है उनके उच्चगोत्र कर्मका और जो जीव नीच होते है उनके नीचगोत्र कर्मका उदय विद्यमान रहा करता है।

यद्यपि जैन सस्कृतिके माननेवालोके लिये यह व्यवस्था विवाद या शकाका विषय नही होना चाहिए। परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक ससारी जीवमे उच्चता अथवा नीचताकी व्यवस्था करनेवाले साधनोका जबतक हमें परिज्ञान नही हो जाता, तबतक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीवको उच्चगोत्रकर्मके उदयके आधारपर उच्च और दूसरे जीवको नीचगोत्रकर्मके उदयके आधारपर नीच कहनेमे क्या आपत्ति है ? तो इसपर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञताकी हालतमे हम लोगोके लिये जीवोमे यथायोग्यरूपसे विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयका परिज्ञान न हो सकनेके कारण एक जीवको उच्चगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्च और दूसरे जीवको नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर नीच कहना शक्य नही है।

माना कि जैन संस्कृतिके आगम-ग्रन्थोके कथनानुसार नरकगति और तिर्यग्गतिमे रहनेवाले संपूर्ण जीवोमे केवल नीचगोत्रकर्मका तथा देवगतिमे रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोमे केवल उच्चगोत्रकर्मका ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है। इसलिए यद्यपि सपूर्ण नारकियो और सपूर्ण तिर्यंचोमे नीचगोत्रकर्मके उदयके आधारपर केवल नीचताका तथा सम्पूर्ण देवोमे उच्चगोत्रकर्मके उदयके आधारपर केवल उच्चताका व्यवहार करना हम लोगोके लिये अशक्य नही है। परन्तु उन्ही जैन आगमग्रन्थोमे जब सपूर्ण मनुष्योमेसे किन्ही मनुष्योके तो उच्चगोत्रकर्मका और किन्ही मनुष्योके नीचगोत्रकर्म का उदय होना बतलाया है तो जबतक सपूर्ण मनुष्योमे पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूपसे विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनो ही प्रकारके गोत्रकर्मोंके उदयका परिज्ञान नही हो जाता तबतक हम यह कैसे कह सकते है कि अमुक मनुष्योमे चूँकि उच्चगोत्र-कर्मका उदय विद्यमान है इसलिए उन्हे तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्योमे चूँकि नीचगोत्र-कर्मका उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्योंमे जब गोत्र-परिवर्तनकी बात भी उन्ही आगम-ग्रन्थोंमे स्वीकार की गयी है तो जबतक उनमे (मनुष्योमे) यथासमय रहनेवाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्मके उदयका परिज्ञान हमे नही हो जाता, तबतक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्यको कब हमें नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है। जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार सातो नरकोके सम्पूर्ण नारकियोमे परस्पर तथा एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तककी सम्पूर्ण तिर्यग्-जातियो और इनकी उपजातियोमे रहनेवाले सम्पूर्ण तिर्यंचोमें परस्पर उच्चता और नीचताका कुछ न कुछ भेद पाया जानेपर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्यकी अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्यकी अपेक्षा नीच गोत्र-कर्मके उदयके आधारपर नीच माने जा सकते है तो, और इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नामकी सम्पूर्ण देव जातियो और इनकी उपजातियोमे रहनेवाले सम्पूर्ण देवोमे परस्पर उच्चता और नीचताका कुछ न कुछ भेद पाया जानेपर भी यदि सभी देव देवगति सामान्यकी अपेक्षा उच्चगोत्र कर्मके उदयके आधार पर

उच्च माने जा सकते हैं तो, फिर मनुष्यगतिमें रहनेवाले सम्पूर्ण मनुष्योंमें भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकारकी समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनोंके अभावमें केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर पृथक्-पृथक् क्रमश उच्चता और नीचताका व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ हैं जिनका जबतक यथोचित समाधान प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक जैन संस्कृतिके अनुयायी होने पर भी हम लोगोंके मस्तिष्कमें मनुष्योंको लेकर उच्चता और नीचता सम्बन्धी संदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है ।

षट्खण्डागमके सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र-की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखनेसे मालूम पडता है कि मनुष्योंकी उच्चता और नीचताके विषयमें आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके समयमें भी विवाद था, इतना ही नहीं आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी-के उस व्याख्यानसे तो यहाँ तक भी मालूम पडता है कि उनके समयके कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्य-गतिमें माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मोंके उदयके सम्बन्धमें निर्णयात्मक समाधान न मिल सकनेके कारण उच्च और नीच दोनो भेदविशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्मके अभाव तकको माननेके लिये उद्यत हो रहे थे, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीका वह व्याख्यान निम्न प्रकार है :

> "उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापार. ? न तावद् राज्यादिलक्षणाया सम्पदि, तस्या. सद्वेद्यतः समुत्पत्ते नापि पंचमहाव्रतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येपु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येपु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसगात्, न सम्यग्ज्ञानोत्पत्ती व्यापारः ज्ञानावरणक्षयोपशसहाय सम्यग्दर्शन-तस्तदुत्पत्ते । तिर्यग्नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदय स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्, नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापारः, तेपा नामत समुत्पत्ते , नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेपा परमार्थतो-ऽसत्त्वात्, विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्, न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्ती तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसगात्, नाणुव्रतिभ्य समुत्पत्तौ तद्व्यापार , देवेष्वौ-पपादिकेपु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसगात्, नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च, ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, तत एव न तस्य कर्मत्वमपि, तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्, ततो गोत्र-कर्माभाव इति ।"

इस व्याख्यानमे प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र-कर्मके कार्य पर प्रकाश डालनेवाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओंका निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण अन्तमें निष्कर्षके रूपमे गोत्र-कर्मके अभावको प्रस्थापित किया गया है, व्याख्यानका हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है ।

शका—जीवामे उच्चगोत्र-कर्मका किस रूपमें व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका कार्य क्या है ?

१. समाधान—जीवोंमें उच्चगोत्र-कर्मका कार्य उनको राज्यादि सम्पत्तिको प्राप्ति होना है ।

खण्डन—यह समाधान गलत है क्योंकि जीवोको राज्यादि सम्पत्तिकी प्राप्ति उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे न होकर सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही हुआ करती है ।

२ समाधान—जीवोमे पच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यताका प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म-का कार्य है ।

खण्डन—यदि जीवोमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे पंचमहाव्रतोके ग्रहण करनेकी योग्यताका प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालतमे देवोमें और अभव्य जीवोमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव स्वीकार करना होगा, जबकि उन दोनो प्रकारके जीवोमे, जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार, उच्चगोत्र-कर्मके उदयका तो सद्भाव और पंचमहाव्रतोके ग्रहण करनेकी योग्यताका अभाव दोनो ही एक साथ पाये जाते है।

३. समाधान—जीवोमे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति उच्चगोत्र-कर्मके उदयसे हुआ करती है।

खण्डन—यह समाधान भी सही नही है क्योकि जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार जीवोंमे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति उच्चगोत्र-कर्मका कार्य न होकर ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी सहायतासे सापेक्ष सम्यग्दर्शनका ही कार्य है, दूसरी बात यह है कि जीवोमे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यंचो और नारकियोमे भी उच्चगोत्रकर्मके उदयका सद्भाव माननेके लिये हमे बाध्य होना पडेगा, जो कि अयुक्त होगा, क्योकि जैनशास्त्रोकी मान्यताके अनुसार जिन तिर्यंचो और जिन नारकियोमे सम्यग्ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है उनमे उच्चगोत्र कर्मके उदयका अभाव ही रहा करता है।

४.समाधान—जीवोमें आदेयता, यश और सुभगताका प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवोमे आदेयता, यश और सुभगताका प्रादुर्भाव उच्चगोत्र-कर्मके उदयका कार्य न होकर क्रमश' आदेय, यश'कीर्ति और सुभग सज्ञा वाले नामकर्मोका ही कार्य है।

५. समाधान—जीवोका इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोमे जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।[1]

खण्डन—यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्नका उत्तर नही हो सकता है क्योकि इक्ष्वाकुकुल आदि जितने क्षत्रियकुलोको लोकमे मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होनेसे एक तो असद्रूप ही है, दूसरे यदि इन्हें वस्तुतः सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नही समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्मका उदय केवल इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोमे ही पाया जाता है; कारण कि जैन सिद्धान्तकी मान्यताके अनुसार उक्त क्षत्रियकुलोके अतिरिक्त वैश्यकुलो और ब्राह्मणकुलोमे भी तथा सभी तरहके कुलोसे बन्धनमे मुक्त हुए साधुओमे भी उच्चगोत्र-कर्मका उदय पाया जाता है।[2]

६ समाधान—सम्पन्न (धनाढ्य) लोगोमें जीवोकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी सही नही है क्योकि सम्पन्न (धनाढ्य) लोगोमे जीवोकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो ऐसी हालतमे म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकमे भी हमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयका सद्भाव स्वीकार करना होगा, कारण कि म्लेच्छराजकी सम्पन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होनेके नाते निर्विवाद है, परन्तु समस्या यह है कि जैन-सिद्धान्तमे म्लेच्छजातिके सभी लोगोके नियमसे नीचगोत्र-कर्मका ही उदय माना गया है।

---

१ 'नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ'का हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ मे 'इक्ष्वाकुकुल आदिकी उत्पत्तिमे इसका व्यापार नही होता' किया गया है जो गलत है, इसका सही अर्थ 'इक्ष्वाकुकुल आदि क्षत्रियकुलोमे जीवोकी उत्पत्ति होना इसका व्यापार नही है' होना चाहिए।

२. यहाँ पर षट्खण्डागम पुस्तक १३ मे 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि' वाक्यका हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओमे' किया गया है जो गलत है, इसका सही अर्थ 'वैश्यो, ब्राह्मणों और साधुओमे' होना चाहिए।

७ समाधान—अणुव्रतोको धारण करनेवाले व्यक्तियोंसे जीवोकी उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है।

खण्डन—यह समाधान भी निर्दोष नही है क्योंकि अणुव्रतोंको धारण करनेवाले व्यक्तिमे जीवकी उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माना जायगा तो ऐसी हालतमें देवोमें पुन उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव प्रसक्त हो जायगा, जो कि अयुक्त होगा। देवोमे एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्मका उदय जैनधर्ममें स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगतिमें अणुव्रतोंके धारण करनेकी असंभवताके साथ-साथ मात्र उपपादशय्यापर ही देवोकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है। जीवोकी अणुव्रतियोंसे उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्मका कार्य माननेपर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरहसे तो नाभिराजके पुत्र भगवान् ऋषभदेवको भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योंकि नाभिराजके समयमें अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियोंका मार्ग खुला हुआ नही होनेसे जैन-संस्कृतिमें उन्हे अणुव्रती नही माना गया है।

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्मके कार्यपर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातो समाधानोंमेसे जब कोई भी समाधान निर्दोष नही है तो इनके आधारपर उच्चगोत्र-कर्मको सफल नही कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जानेपर उच्चगोत्र-कर्मको कर्मोंके वर्गमे स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्मका) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्मके अभावमे फिर नीचगोत्र-कर्मका भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनो ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरेसे सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रखते हुए है। इस प्रकार अतिम निष्कर्षके रूपमे सम्पूर्ण गोत्र-कर्मका अभाव सिद्ध होता है।

उक्त व्याख्यानपर बारीकीसे ध्यान देनेपर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके समयके विद्वान् एक तरफ तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियो और तिर्यंचोंमें नीचता-की व्यवस्थाको तथा देवोमे उच्चताकी व्यवस्थाको निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्योमे जैन-शास्त्रो द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता सम्बन्धी उभयरूप व्यवस्थाको वे शंकास्पद स्वीकार करते थे। नारकियो और तिर्यंचोमे नीचताकी व्यवस्थाको और देवोमे उच्चताकी व्यवस्थाको निर्विवाद माननेका कारण यह जान पडता है कि सभी नारकियो और सभी तिर्यंचोंमे सर्वथा नीचगोत्र-कर्मका तथा सभी देवोंमे सर्वदा उच्चगोत्र-कर्मका उदय ही जैन आगमो द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्योमे उच्चता तथा नीचता उभयरूप व्यवस्थाको शकास्पद माननेका कारण यह जान पडता है कि चूकि मनुष्योमे नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्मका उदय छद्मस्थो (अल्पज्ञो) के लिये अज्ञात ही रहा करता है। अत उनमे नीचगोत्र-कर्मके आधारपर नीचताका और उच्चगोत्र-कर्मके उदयके आधारपर उच्चताका व्यवहार करना हम लोगोके लिये शक्य नही रह जाता है।

यद्यपि धवलाशास्त्रकी पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचोमें भी उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका कथन किया गया है इसलिए मनुष्योकी तरह तिर्यंचोमे भी उच्चता तथा नीचताकी दोनो व्यवस्थायें शकास्पद हो जाती है परन्तु वहीपर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचोमें उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका सद्भाव माननेका आधार केवल उनके (तिर्यंचोके) द्वारा सयमासयमका परिपालन करना ही है। वह कथन निम्न प्रकार है

'तिरिक्खेसु णीचागोदस्स चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविद, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा। तेण पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु सजमासजमपरि-

पालयंतेषु उच्चागोत्तुवलभावो, उच्चागोदे देससयलसजमणिबंधणे सते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्ज, तत्थवि उच्चागोदजणिदसजमजोगतावेक्खाए उच्चागोदत्त पडि विरोहाभावादो'।

यह व्याख्यान शका और समाधानके रूपमे है। इसमे निर्दिष्ट जो शका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरणमे इस व्याख्यानके पूर्व ही तिर्यग्गतिमे भी उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणाका प्रतिपादन किया गया है।[1] व्याख्यानका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

शका—तिर्यंचोमें नीचगोत्रकर्मकी उदीरणा होती है यह तो आगममे सर्वत्र प्रतिपादित की गई है, लेकिन इस प्रकारमे उनके उच्चगोत्रकर्मकी उदीरणाका भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगममे पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है।

समाधान—यह शंका ठीक नही, क्योकि सयमासयमका पालन करनेवाले तिर्यंचोमे ही उच्चगोत्रकी उपलब्धि होती है।

शंका—यदि जीवोमे देशसयम और सकलसयमके आधारपर उच्चगोत्रका सद्भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियोमें उच्चगोत्रका अभाव मानना हागा जबकि जैनसिद्धान्तकी मान्यताके अनुसार उनमे उच्च-गोत्रका भी सद्भाव पाया जाता है।

समाधान—यह शका ठीक नही, क्योकि मिथ्यादृष्टियोमें देशसयम और सकलसंयमकी योग्यताका पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रताके प्रति आगमका विरोध नही रह जाता है।

यद्यपि धवलाके उक्त शका-समाधानसे तिर्यग्गतिमें उच्चगोत्रकी उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसयम और सकलसंयमको उच्चगोत्रकर्मके उदयके सद्भावमे कारण माननेसे पंचम गुणस्थानमे जैनदर्शनके कर्म-सिद्धान्तके अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्मके उदयका सद्भाव मानना अस-गत होगा और दूसरे मनुष्यगतिकी तरह तिर्यग्गतिमे भी देशसयम धारण करनेकी योग्यताका परिज्ञान अल्पज्ञो के लिये असम्भव रहनेके कारण उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्र-कर्मके उदयकी व्यवस्था करना मनुष्यगतिकी तरह जटिल ही होगा।

उक्त दोनो ही प्रश्न इतने महत्त्वके है कि जबतक इनका समाधान नही होता तबतक तिर्यग्गतिमे भी उच्चगोत्र और नीचगोत्रकी व्यवस्था सम्बन्धी समस्याका हल होना असंभव ही प्रतीत होता है। विद्वानोको इनपर अपना दृष्टिकोण प्रकट करना चाहिए। हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है—

प्रथम प्रश्नके विषयमें हम ऐसा सोचते है कि आगम द्वारा तिर्यग्गतिमे उच्चगोत्रकर्मकी उदीरणाका जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद-सिद्धान्त स्वीकार कर, यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यंच—जो देशसयम धारण करनेकी किसी विशेष योग्यतासे प्रभावित हो—उसीके उक्त आगमके आधारपर उच्चगोत्र-कर्मका उदय रह सकता है। इस तरह सामान्यरूपसे देशसयमको धारण करनेवाला तिर्यंच नीचगोत्री ही हुआ करता है।

दूसरे प्रश्नके विषयमे हमारा यह कहना है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगतिके जीवोको जीवन-वृत्तियोमे समानरूपसे प्राकृतिकताको स्थान प्राप्त है, इसलिए तिर्यञ्चोमे उच्चता और नीचताजन्य भेदका सद्भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियोकी उस प्राकृतिकताके कारण नारकियो और देवोके समान ही सभी तिर्यंचो

---

१. तिरिक्खगईए 'उच्चागोदस्य जहण्णट्ठिदिउदीरणा सखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया।
—धवला, पुस्तक १५, पृष्ठ १५२।

मे परस्पर जीवनवृत्तिजन्य ऐसी विषमताका पाया जाना सम्भव नही है जिसके आधारपर उनमे यथायोग्य दोनो गोत्रोके उदयकी व्यवस्था स्वीकार करनेसे व्यावहारिक गडवडी पैदा होनेकी सम्भावना हो। केवल मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जहाँ जीवनवृत्तिके लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्थाकी स्वीकृतिके आधारपर गोत्रकर्मके उच्च तथा नीचरूप उदयभेदका व्यावहारिक उपयोग होता है। तात्पर्य यह है कि नरकगति, तिर्यंगति और देवगतिके जीवोकी जीवनवृत्तियोमें प्राकृतिकताको जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्योंकी जीवनवृत्तियोमें प्राकृतिकताको प्राप्त नही है। यही कारण है कि मनुष्यको सामान्यरूपसे कौटुम्बिक सगठन, ग्राम्य सगठन, राष्ट्रीय संगठन और यहाँतक कि मानव सगठन आदिके रूपमें सामाजिक व्यवस्थाओके अधीन रहकर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्तिका सचालन करना पडता है। परन्तु यह सब तिर्यंचोंके लिये आवश्यक नही है।

यद्यपि हम मानते हैं कि भोगभूमिगत मनुष्योकी जीवनवृत्तियोमे प्राकृतिकताके ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्योमें सामाजिक व्यवस्थाओका सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसके अलावा, उनमें केवल उच्चगोत्रकर्मका ही उदय सर्वउदित विद्यमान रहता है। इसलिए उनके जीवनमें व्यावहारिक विषमता-को स्थान प्राप्त नही होता है लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्योकी जीवनवृत्तियोमे जो अप्राकृतिकता स्वभावत पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्तिकी सम्पन्नताके लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओकी अधीनतामें पुरुषार्थका उपयोग करना पडता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्तिके सचालनके लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोमें उच्चता और नीचताका वैषम्य स्वभावत हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवनवृत्तियाँ भी उच्च और नीचके भेदसे दो वर्गोमे विभाजित हो जाती है। यद्यपि कर्मभूमि-गत मनुष्योमे जीवनवृत्तियोकी बहुत-सी विविधतायें पायी जाती है और जीवनवृत्तियोकी इन्ही विविधताओंके आधारपर ही उनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोकी तथा इन्ही वर्णोके अन्तर्गत जीवन-वृत्तियोंके आधारपर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियोकी स्थापनाको जैनसस्कृतिमे स्वीकार किया गया है। परन्तु जीवनवृत्तियोके आधारपर स्थापित सभी वर्णों और उनके अन्तर्गत पायी जानेवाली उक्त प्रकारकी सभी जातियोको भी जीवनवृत्तियोमे पायी जानेवाली उच्चता और नीचताके अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गोमे सग्रहीत कर दिया गया है। इस प्रकार उच्च और नीच दोनो प्रकारकी जीवनवृत्तियोको ही क्रमश उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्मके उदयका जैन सस्कृतिमे मापदण्ड स्वीकार किया गया है।

जीवोमे उच्चगोत्र कर्मका किस रूपमे व्यापार होता है ? अथवा जीवोमे उच्चगोत्र कर्मका क्या कार्य होता है ? इस प्रश्नका जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने स्वय किया है और जिसे उन्होने स्वय ही निर्दोष माना है उसमे मनुष्योकी इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्तिको आधार प्ररूपित किया है। आचार्य श्रीवीरसेन स्वमीका वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है।

> 'न, जिनवचनस्यासत्यत्वविरोधात्। तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते। न च केवल-ज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषा ज्ञानानि प्रवर्तन्ते, येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्व-मुच्येत्। न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणा साध्वाचारै कृतसंबन्धाना आर्यप्रत्यया-भिधानव्यवहारनिबन्धनाना पुरुषाणा संतान उच्चगोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतु कर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषा सभवन्ति, विरोधात्, तद्विपरीत नीचैर्गोत्रम्। एव गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवत।"

पहले जो समूचे गोत्रकर्मके अभावकी आशका इस लेखमे उद्धृत धवलाशास्त्रकी पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यानमे प्रकट कर आये है, उसीका समाधान करते हुए आगे वही पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने किया है। उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

"गोत्रकर्मके अभावकी आशका करना ठीक नही है क्योकि जिनेन्द्र भगवानने स्वय ही गोत्रकर्मके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन कभी असत्य नही होते हैं, असत्यताका जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनके साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान्‌के हो और दूसरी ओर वे असत्य भी हो—यह बात कभी सभव नही है, ऐसा इसलिए मानना पडता है कि जिन भगवान्‌के वचनोको असत्य माननेका कोई कारण ही दृष्टिगोचर नही होता है।

जिन भगवान्‌ने यद्यपि गोत्रकर्मके सद्भावका प्रतिपादन किया है किन्तु हमे उसकी (गोत्रकर्मकी) उपलब्धि नही होती है, इसलिए जिनवचनको असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नही है, क्योकि केवलज्ञानके विपयभूत सम्पूर्ण पदार्थोंमे हम अल्पज्ञोके ज्ञानकी प्रवृत्ति ही नही होती।

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्मको निष्फल मानना भी ठीक नही है क्योकि जो पुरुप स्वय तो दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले है ही तथा इस प्रकारके साधु आचारवाले पुरुषोके साथ जिनका सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमें 'आर्य' इस प्रकारके प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकारके शब्द-व्यवहारकी प्रवृत्तिके भी जो निमित्त है, उन पुरुपोके सतान[1] अर्थात् कुलकी जैन सस्कृतिमे उच्चगोत्र सज्ञा स्वीकार की गयी है[2] तथा ऐसे कुलोमे जीवके उत्पन्न होनेके कारणभूत कर्मको भी जैन सस्कृतिमें उच्चगोत्र-कर्मके नामसे पुकारा गया है।

इस समाधानमे पूर्व प्रदर्शित दोपोमेसे कोई भी दोष सम्भव नही है क्योकि इसके साथ उन सभी दोषो का विरोध है। इसी उच्चगोत्रकर्मके ठीक विपरीत ही नीचगोत्रकर्म है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ है।

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने जीवोमे उच्चगोत्र-कर्मका किस रूपमे व्यापार होता है, इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये जो ढग अपनाया है उसका आशय उन सभी दोपोका परिहार करना है, जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्षके व्याख्यानमे आचार्य महाराजने स्वय किया है। वे इस समाधानमें यही बतलाते है कि दीक्षाके योग्य साधु-आचारवाले पुरुपोका कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल-मे जीवकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्रकर्मका कार्य है। इस प्रकार मनुष्य-गतिमे दीक्षाके योग्य साधु-आचारके आधारपर ही जैन सस्कृति द्वारा उच्चगोत्र या उच्चकुलकी स्थापना की गयी है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगतिमें तो जिन कुलोका दीक्षाके योग्य साधु आचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है, 'गोत्र' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्दके निम्नलिखित विग्रहके आधार पर होता है—

"गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम्"

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधारपर जीवोका उच्चता अथवा नीचताका लोकमे व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है। इस प्रकार जैन सस्कृतिके अनुसार मनुष्योकी उच्च और नीच जीवनवृत्तियोके आधारपर निश्चय किये गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ ये सब गोत्र, कुल आदि नामोसे पुकारने योग्य है। इन सभी गोत्रो या कुलोमेसे जिन कुलोमे पायी जाने वाली मनुष्योकी जीवनवृत्तिको लोकमें उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलोमें पायी जाने वाली मनुष्योकी जीवनवृत्तिको लोकमे नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है, इस

१ सत तर्गोत्र जननकुलान्यभिजनान्वयौ। वशोऽन्वाय सतान।—अमरकोष, ब्रह्म वर्ग।

२ 'दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणा' आदि वाक्यका जो हिन्दी अर्थ पट्खण्डागम पुस्तक १३ में किया गया है, वह गलत है, हमने जो यहाँ अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए।

तरह उच्चगोत्र या कुलमे जन्म लेने वाले मनुष्योको उच्च तथा नीच गोत्र या कुलमें जन्म लेने वाले मनुष्योको नीच कहना चाहिए। आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीके उल्लिखित व्याख्यानसे यह बात विलकुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्रमे पैदा होनेवाले मनुष्योके नियमसे उच्चगोत्र-कर्मका तथा नीचगोत्रमें पैदा होनेवाले मनुष्योंके नियमसे नीचगोत्र-कर्मका ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् विना उच्चगोत्र-कर्मके उदयके कोई भी जीव उच्च कुलमे और विना नीचगोत्र-कर्मके उदयके कोई भी जीव नीच कुलमे उत्पन्न नही हो सकता है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे उसके आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च' (सूत्र १२) सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपादने भी यही प्रतिपादन किया है कि—

"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्।
यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्मके उदयसे जीवोका लोकपूजित (उच्च) कुलोमे जन्म होता है उस गोत्रकर्मका नाम उच्चगोत्र कर्म है और जिस गोत्रकर्मके उदयसे जीवोका लोकगर्हित (नीच) कुलोंमें जन्म होता है उस गोत्र कर्मका नाम नीचगोत्र कर्म है।

जैन सस्कृतिके आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोगसे यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यञ्च नीचगोत्री ही होते है, परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्मकी उदीरणा करने वाले तिर्यचोका कथन किया गया है उन्हे इस नियमका अपवाद समझना चाहिए, मनुष्योंमे भी केवल आर्यखण्डमे वसने वाले कर्मभूमिज मनुष्य ही ऐसे है जिनमे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनो प्रकारके वर्गोंका सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्म-भूमिज मनुष्योमेसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों और इन वर्णोके अन्तर्गत जातियोके सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं, इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्णके अन्तर्गत जातियोके मनुष्य पाये जाते है वे सब तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्थासे वाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक है, वे सव नीचगोत्री ही माने गये है। आर्यखण्डमें वसनेवाले इन कर्मभूमिज मनुष्योको छोडकर शेष जितने भी मनुष्य लोकमे वतलाये गये है उनमेसे भोगभूमिके सभी मनुष्य उच्चगोत्री तथा पाँचो म्लेच्छखण्डोंमें वसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते है, आर्यखण्डमे वसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिकको तथा पाँचो म्लेच्छखण्डोंमे ओर अन्तर्दीपोमे वसने वाले मनुष्योको जैन सस्कृतिमे म्लेच्छ सज्ञा दी गयी है और यह वतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छोको भी उच्चगोत्री समझना चाहिए, जिनका दीक्षाके योग्य साधु आचारवालोंके साथ सम्वन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमें 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो। इसमे जैन सस्कृतिमे मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्तकी पुष्टि होती है, गोत्रपरिवर्तनके सिद्धान्तको पुष्ट करने वाले वहुतसे लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त है। जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातियाँ पहले किसी समयमे क्षत्रिय वर्णमें थी वे आज पूर्णत वैश्य वर्णमें समा चुकी है, जैनपुराणोंमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाहोका उल्लेख है, वे उल्लेख स्त्रियोके गोत्र-परिवर्तनकी सूचना देते है। आज भी देखा जाता है कि विवाहके अनन्तर कन्या पितृपक्ष-के गोत्रकी न रहकर पतिपक्षके गोत्रकी हो जाता है। इस सपूण कथनका अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्रमे उत्पन्न हुई कन्या उच्चगोत्रकी वन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्रमें उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्रकी बन जाती है और परिवर्तित गोत्रके अनुसार ही नारीके यथायोग्य नीचगोत्र कर्मका उदय न रहकर उच्चगोत्र कर्मका उदय तथा उच्चगोत्रका उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्मका उदय आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यमे जीवनवृत्तिका परिवर्तन न होनेपर

भी गोत्र परिवर्तन हो जाता है। जैसा कि अग्रवाल आदि जातियोका उदाहरण ऊपर दिया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने 'उच्चगोत्र-कर्मका जीवोमे किस रूपमे व्यापार होता है' इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये जो ढग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषोका परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्षके व्याख्यानमे किया है। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने उच्चगोत्रका निर्धारण करके उसमें जीवोंकी उत्पत्तिके कारणभूत कर्मको उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है। उन्होंने बतलाया है कि दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले पुरुषोका कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुल-में जीवकी उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्मका कार्य है। इसमें पूर्वोक्त दोषोका अभाव स्पष्ट है क्योकि इससे जैन संस्कृति द्वारा देवोंमे स्वीकृत उच्चगोत्र-कर्मके उदयका और नारकियो तथा तिर्यचोमें स्वीकृत नीचगोत्र-कर्मके उदयका व्याघात नही होता है, क्योकि इसमें उच्चगोत्रका जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्य-गतिसे ही सम्बन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्मके कार्यका यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगतिमे ही सम्भव है, दूसरी गतियोमे याने देव, नरक और तिर्यक्‌न इनकी गतियोमे, कहाँ किस गोत्र-कर्मका, किस आधारसे उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है। इस समाधानसे अभव्य मनुष्योंके भी उच्चगोत्र-कर्मके उदयका अभाव प्रसक्त नही होता है क्योकि अभव्योको उच्च माने जानेवाले कुलोमे जन्म लेनेका प्रतिबन्ध इससे नही होता है। म्लेच्छखण्डोमे बसनेवाले मनुष्योके नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि इस समाधानसे होती है क्योकि म्लेच्छखण्डोमे जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव विद्यमान रहनेके कारण दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले उच्चकुलोका सद्भाव नही पाया जाता है। इसी आधारपर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छके भी केवल नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है। आर्यखण्डके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञावाले कुलोमे जन्म लेनेवाले मनुष्योके इस समाधानसे केवल उच्च-गोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है क्योकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञावाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचारवाले उच्चकुल ही माने गये हैं। साधुवर्गमे उच्चगोत्र-कर्मके उदयका व्याघात भी इस समाधानसे नही होता है क्योकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचारवाले कुलो तकको उच्चता प्राप्त है वहाँ जब मनुष्य, कुल-व्यवस्थासे भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमे केवल उच्चगोत्र-कर्मके उदयका रहना ही स्वाभाविक है, शूद्रोमे इस समाधानसे नीचगोत्र-कर्मके उदयकी ही सिद्धि होती है क्योकि उनके कौलिक आचारको जैन संस्कृतिमे दीक्षायोग्य साधु आचार नही माना गया है। यही कारण है कि पूर्वमे उद्धृत धवलाशास्त्रकी पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्' वाक्यमे वैश्यो, ब्राह्मणो और साधुओके साथ शूद्रोका उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामीने नही किया है। यदि आचार्यश्रीको शूद्रोके भी वैश्य, ब्राह्मण और साधु पुरुषोकी तरह उच्चगोत्रके उदयका सद्भाव स्वीकार होता तो शूद्रशब्द-का भी उल्लेख उक्त वाक्यमे करनेसे वे नही चूक सकते थे। उक्त वाक्यमें क्षत्रियशब्दका उल्लेख न करनेका कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगोकी मान्यताके खण्डनमे प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र-कर्म-का उदय केवल क्षत्रिय कुलोमे मानना चाहते थे।

यदि कोई यहाँ यह शका उपस्थित करे कि भोगभूमिके मनुष्योमें भी तो जैन संस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्मका ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्रका लक्षण तो उनमे घटित नही होता है, क्योकि भोगभूमिमे साधुमार्गका अभाव ही पाया जाता है, अत. वहाँके मनुष्य-कुलोको दीक्षा-योग्य साधु-आचारवाले कुल कैसे माना जा सकता है? तो इस शकाका समाधान यह है कि भोगभूमिके मनुष्य उच्चगोत्री ही होते है, यह बात हम पहले ही बतला आये है, जैन-संस्कृतिकी भी यही मान्यता है। इसलिये

वहाँ मनुष्योंकी उच्चता और नीचताका विवाद नही होनेके कारण केवल कर्मभूमिके मनुष्योको लक्ष्यमें रखकर ही उच्चगोत्रका उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार पट्खण्डागमकी धवला टीकाके आधारपर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थोके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्चगोत्री मनुष्यके उच्चगोत्र-कर्मका और नीचगोत्री मनुष्योंके नीचगोत्र-कर्मका ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीच-गोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है, उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र-कर्मका उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्मका उदय हो जाया करता है।

षट्खण्डागमकी धवलाटीकाके आधारपर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षाके योग्य साधु आचारवाले जो कुल होते है याने जिन कुलोका निर्माण दीक्षाके योग्य साधु-आचारके आधारपर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचारके आधारपर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए, गोम्मटसार कर्मकाण्डमे तो स्पष्ट-रूपसे उच्चाचरणके आधारपर एक मनुष्यको उच्चगोत्री और नीचाचरणके आधारपर दूसरे मनुष्यको नीचगोत्री प्रतिपादित किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्डका वह कथन निम्न प्रकार है।

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ १३॥

जीवका संतानक्रमसे अर्थात् कुलपरम्परासे आया हुआ जो आचरण है उसी नामका गोत्र समझना चाहिए, वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्रको भी उच्च ही समझना चाहिए, और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्रको भी नीच ही समझना चाहिए।

गोम्मटसार कर्मकाण्डकी उल्लिखित गाथाका अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनो ही कुलोका निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरणके आधारपर ही हुआ करता है। यह कुलगत आचरण उस कुलकी निश्चित जीवनवृत्तिके अलावा और क्या हो सकता है? इसलिये कुलाचरणसे तात्पर्य उस-उस कुलकी निर्धारित जीवनवृत्तिका ही लेना चाहिये, कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरणको इसलिए उच्च और नीच गोत्रोका नियामक नही माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-सस्कृतिकी मान्यताके अनुसार नोचगोत्री हो सकता है। इस प्रकार कर्मभूमिके मनुष्योमे ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्तिको जैन-सस्कृतिकी मान्यताके अनुसार उच्चगोत्रकी नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्तिकी नीचगोत्रकी नियामक समझना चाहिए।

एक बात और है कि वृत्तियोके सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्तिको सात्त्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्तिको राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्तिको तामस कहना भी अयुक्त नही है। जिस वृत्तिमें उदात्त गुणकी प्रधानता हो वह सात्त्विकवृत्ति, जिस वृत्तिमे शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार-की प्रधानता हो वह राजसवृत्ति और जिस वृत्तिमे हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरताकी प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मणवृत्तिमे सात्त्विकता, क्षात्रवृत्तिमें शौर्य, वैश्यवृत्तिमे प्रामाणिकता, शौद्रवृत्तिमे दीनता और म्लेच्छवृत्तिमे क्रूरताका ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है। इन तीन प्रकारकी वृत्तियोमेसे सात्त्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनो ही उच्चताकी तथा तामसवृत्ति नीचताकी निशानी समझना चाहिए।

इस लेखमें हमने मनुष्योंकी उच्चता और नीचताके विषयमे जो विचार प्रकट किये है उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझमें आना कठिन है। अत विद्वानोसे हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषयका चिन्तन करें और अपनी विचारधाराके निष्कर्षको व्यक्त करें।

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी विचार किया जाना था, परन्तु लेखका कलेवर इतना बढ चुका है कि प्रस्तुत लेखमे मैंने जो कुछ लिखा है उसमे भी संकोचकी नीतिसे काम लेना पडा है। अत अतिरिक्त विषय कभी प्रसगानुसार ही लिखनेका प्रयत्न करूँगा।
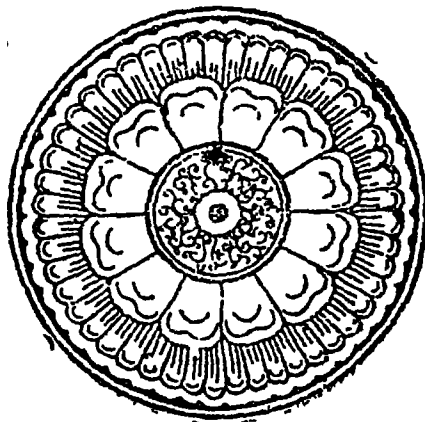
भगवान महावीरका समाजदर्शन

इसमें सदेह नही, कि वर्तमान युगमें जहाँ एक ओर मनुष्यकी आध्यात्मिक विचारधारा समाप्त हुई है वहाँ दूसरी ओर विज्ञानकी भौतिक चकाचौंधमे बिलासता जीवनकी आवश्यकताओका रूप धारण करके मनुष्यके सरपर नाचने लगी है। आज मनुष्यके लिये इतना ही वस नही है, कि पेट भरनेके लिए उसे खाना मिल जाय और तन ढकनेके लिये वस्त्र, किन्तु मनुष्यकी आवश्यकताओके बढ जानेसे धोबीके रहनेकी झोपडी आज 'वाशिंग शाप' बनी हुई है, नाईकी बाल बनानेकी मामूली पेटीने 'हेयर कटिंग सैलून'का रूप धारण कर लिया है, दर्जी केवल दर्जी न रहकर 'टेलर मास्टर' कहे जाने लगे है और बजारू होटल तथा सिनेमा घर भी मनुष्यकी आवश्यकताओकी पूर्ति करनेवाले ही माने जाने लगे है। आज साधारण-से-साधारण व्यक्तिके व्यक्तिके घर जाया जाय, तो वहाँ भी कम-से-कम बाल बनानेके लिए एक रेजर, नहानेके लिए बढिया साबुन, बाल सवारनेके लिये सुगन्धित तेलकी शीशी, कघा और दर्पण, चाय पीनेके लिये कप-रकाबी और बाजारमें घूमते समय हाथमें लेनेके लिए अच्छी लम्बी-चौडी बेटरी आदि चीजें अवश्य ही देखनेको मिलेंगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्यके अन्त करणमे सुन्दर विलास-भवन, बिजलीकी रोशनी, बिजलीके पखे, हारमोनियम, ग्रामोफोन, रेडियो, टीबी, रेफ्रिजरेटर, मोटर आदि विलासकी सैकडो चीजें पानेकी कल्पनायें निर्बाध गतिसे अपना स्थान बनाती जा रही हैं।

मनुष्यकी उक्त आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए अटूट पैसेकी आवश्यकता है। जिस मनुष्यके पास जितना अधिक पैसा होगा वह मनुष्य विलासकी उतनी ही अधिक सामग्री आवश्यकताके नामपर सग्रहीत कर सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्यकी दृष्टि न्याय और अन्यायका भेदरहित छल-बल आदि साधनो द्वारा पैसा संग्रह करनेकी ओर ही झुकी हुई है। भिखारी, मजदूर, किसान, जमीदार, साहूकार, मुनीम, क्लर्क, आफीसर, व्यापारी, राजा, पुजारी, शिक्षक, धर्मोपदेशक, धर्मपालक और साधु-सन्त आदि किसीको भी आज इस दृष्टिका अपवाद नही माना जा सकता।

गत द्वितीय महायुद्धने तो प्रत्येक मनुष्यकी उक्त दृष्टिको और भी कठोर बना दिया है, जिसके परिणामस्वरूप आज मानवसमष्टि बिलकुल अस्त-व्यस्त हो चुकी है और कोई भी व्यक्ति अपनेको सुखी अनुभव नही कर रहा है। पैसा संग्रह करनेकी भावनाने ही मानवसमाजमें जबर्दस्त आर्थिक विषमता उत्पन्न कर दी है, क्योकि पैसा कमानेके बडे-बडे साधन पैसेके बलपर ही खडे किये जा सकते है, इसलिए सम्पत्तिके उत्पादनमे पैसेको ही महत्त्वपूर्ण साधन मान लिया गया है और परिश्रमका इस विषयमें कुछ भी मूल्य नही रह गया है। यही कारण है कि जिन लोगोंके पास पैसा है उन लोगोने पैसा कमानेके बडे-बडे साधन खडे कर लिये है और उन साधनोके जरिये वे विश्वकी समस्त सम्पत्तिको केवल अपने पास ही सग्रहीत कर लेनेके प्रयत्नमे लगे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर जहाँ पैसे वालोके खजाने दिन-प्रतिदित बिना परिश्रमके भरते चले जा रहे है वहाँ दूसरी ओर उनके इस कार्यमे अपने खून और पसीनाको एक कर देनेवाले मजदूर पेट भरनेको भोजन और तन ढकनेको वस्त्र तक पानेके लिये तरसा करते है।

मानवसमष्टिको भस्मसात् कर देनेवाली वर्तमान विषम परिस्थितिसे आजके विचारशील लोगोंके मस्तिष्कमे विचारोकी क्राति उत्पन्न कर दी है और उस परिस्थितिका खात्मा करनेके लिये साम्यवादी और समाजवादी आदि भिन्न-भिन्न दल कायम हो चुके है और होते जा रहे है। ये सभी दल अपने-अपने दृष्टिकोणके आधारपर मानवसमष्टिकी वर्तमान विषय परिस्थितिका शीघ्र ही अन्त कर देना चाहते है। उक्त दलोके दरम्यान नीतिसम्बन्धी मतभेद कितने ही क्यो न हों, फिर भी जहाँतक मानवसमष्टिकी वर्तमान आर्थिक विषमताका सवाल

है वहाँतक इन दलोंकी विचारधारामे प्राय कुछ भी भेद नही है। रूसकी साम्यवादी सरकारकी नीतिमें मूलत आर्थिक समानताको स्थान प्राप्त ही है परन्तु भिन्न-भिन्न देशोकी समाजवादी सरकारे भी आर्थिक विषमताको दूर करनेकी दृष्टिसे ही उद्योग-धन्धोका राष्ट्रीयकरण करनेकी ओर अग्रसर होती जा रही है।

यद्यपि वर्तमान विकासके युगमे मानवसमष्टिसे आर्थिक विषमताको नष्ट कर देना असम्भव नही है, परन्तु इतना निश्चित है कि केवल शासनतन्त्रकी कानूनी व्यवस्थाके आधारपर ही इसे नष्ट नही किया जा सकता। इसको नष्ट करनेके लिये कानूनी व्यवस्थाके साथ-साथ प्रत्येक मानवको अपने कर्त्तव्यको समझनेकी भी अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना शासनतन्त्रकी विशुद्ध कानूनी व्यवस्था बिल्कुल बेकार है। साम्यवादी रूसको पहले निश्चित किये गये अपने दृष्टिकोणमे अब इसलिये कुछ परिवर्तन करना पडा है और यही कारण है कि कानूनी विश्वके सभी देशोमे प्रजातन्त्र अथवा राजतन्त्रके रूपमे स्थापित शासनतन्त्रके साथ-साथ धर्मतन्त्र की भी स्थापना की गयी है। भारतवर्षमे तो सामाजिक सुव्यवस्थामे शासनतन्त्रकी अपेक्षा धर्मसंघको ही अग्रिम स्थान मिला हुआ है। विश्ववन्द्य महात्मा गाधीने विशुद्ध राजनीतिको नगण्य और तुच्छ मानते हुए विश्वके सामने और विशेषकर भारतवर्षके सामने धर्मतन्त्रकी महत्ताके इस आदर्शको पुन स्थापित कर दिया है। तात्पर्य यह है कि साम्यवादी अथवा समाजवादी सरकारो द्वारा उद्योगधन्धोका राष्ट्रीयकरण कर देनेके बाद भी मानवसमष्टिसे आर्थिक विषमताको दूर करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ जवाबदारी अवश्य ही शेष रह जाती है, जिसे व्यक्ति मानवसमष्टिके प्रति निश्चित किये गये अपने कर्त्तव्यज्ञान द्वारा ही पूरा कर सकता है और उसको इस प्रकारका कर्त्तव्यपना धर्मतन्त्रके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भगवान महावीरने धर्मतन्त्रकी महत्ताके इस तथ्यको भली प्रकार समझ लिया था, इसीलिये उन्होने अपने युगकी सामाजिक दुर्व्यवस्थाको ठीक करनेके लिये अर्थात् मानवसमष्टिसे शोषक और शोष्यके भेदको नष्ट करनेके लिये धर्मतन्त्रके आधारपर प्रत्येक मानवको अपरिग्रहवादके अपनानेका उपदेश दिया था। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मार्थी लोकोत्तर महापुरुष साधु-सन्त वगैरह आत्मकल्याणके उद्देश्यसे आध्यात्मिकताके उच्चतम शिखरपर पहुँचते हुए जहाँ परिग्रहका सर्वथा त्याग कर दिया करते थे वहा समाजके बीचमे रहनेवाले गार्हस्थ्यमार्गके पथिक जन-साधारणके लिये उक्त अपरिग्रहवाद' के आधारपर 'अ—ईषत्—(अल्प), अर्थात् आवश्यकतानुसार परिग्रह रखनेकी छूट भी प्रदान की गयी थी और इसको भगवान महावीरकी धार्मिक परिभाषामें "परिग्रहपरिमाणव्रत" नाम दिया गया था।

तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीरका युग इस समय जैसा भौतिक विज्ञानका युग नही था, उस युगमे कोई भी उद्योगधन्धा कल-कारखानोसे 'सम्बद्ध नही था, प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक धन्धा केवल मनुष्यके हस्तकौशलमे ही सीमित था। इसलिये एक तो इस प्रकारकी आर्थिक विषमता—"एक ओर तो करोडोकी सम्पत्ति तिजोरियोंके अन्दर बन्द रहे और दूसरी ओर भूखे तथा नगे नरकगाल आम रास्तोपर मारे-मारे फिरे; एक ओर पूंजीपति लोग हजारो मजदूरोको अपना आर्थिक गुलाम बनाकर बिना परिश्रमके ही लाखो रुपया कमायें और दूसरी ओर मजदूर कडी-से-कड़ी-मेहनत करनेके बाद भी पौष्टिक भोजन, अच्छे वस्त्र और बच्चो की शिक्षाके साधन भी न जुटा पायें" उस समय न थी। दूसरे, उक्त परिग्रहपरिमाणव्रतके जरिये भगवान महावीरने प्रत्येक मानवको अपने पुरुषार्थसे पैदा किये गये द्रव्यका भी समष्टिके हितमें उपयोग करना सिखलाया था। भगवान महावीरने अहिंसावादके जरिये "दूसरोको जीने दो" के प्रचारके साथ-साथ "अपरिग्रहवादके जरिये दूसरोंको जीवित रखनेका प्रयत्न भी करो" का भी प्रचार किया था।

भगवान महावीर चूंकि परलोकको मानते थे इसलिये उन्होंने मानव समष्टिको अपरिग्रहवादकी ओर

पहली दलीलके बारेमे यही कहूँगा कि जैन हिन्दू रहे है और रहेगे। जैनियोका हित इसीमें है कि वे एक स्वरसे अपने आपको हिन्दू घोषित करे। जैनियोका यह भय बिलकुल निराधार है कि हिन्दू शब्द वैदिक सस्कृतिपरक होनेके कारण जैन संस्कृति केवल वैदिक सस्कृतिकी शाखा मात्र रह जाती है। वास्तवमें "हिन्दू शब्द वैदिक सस्कृतिपरक है" यह बात असत्य है।

अब तक वैदिको और जैनोंके परस्पर जो सामाजिक सम्बन्ध बने चले आ रहे है उन्हें और अधिक सुदृढ करनेकी आवश्यकता है और ऐसा होनेपर भी यह तो सर्वथा असभव है कि ईश्वरकर्तृत्ववाद तथा वर्णाश्रमव्यवस्थाको लेकर परस्पर पूर्व और पश्चिम जैसा मौलिक भेद रखनेवाली वैदिक और जैन सस्कृतियोमेसे एक सस्कृतिको दूसरी संस्कृतिकी शाखामात्र मान लिया जायगा। भारतोय राज्यके असाम्प्रदायिक राज्य घोषित हो जानेपर ऐसा होना और भी असंभव है।

दूसरी दलीलका बहुत कुछ उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। विशेष यह कि "एक भी हरिजन जैनधर्मका माननेवाला नही है" यह जैन समाजके लिये शोभाकी चीज नही है। इससे तो जैन समाजकी कट्टर अनुदारता ही प्रकट होती है और इसीका यह परिणाम है कि जैनोकी सख्या अगुलियोपर गिनने लायक रह गई है। दूसरी बात यह है कि यदि कदाचित् कोई हरिजन जैनधर्ममे आज दीक्षित होनेको तैयार हो तो जैन लोग अपनी मर्जीसे उसे मदिरके अन्दर जाने देने व पूजा करनेकी इजाजत देनेको कहाँ तैयार है ? जिससे इस दलीलके आधारपर जैन मन्दिरोको हरिजनमदिरप्रवेश बिलसे अलग कराकर हरिजनोको जैन मदिरमे न आने देनेकी अपनी चतुराईको जैन समाज सफल बना सके। हरिजन जैनमदिरमें प्रवेश न करे, यदि हमारी ऐसी इच्छा है, तो इसका एक ही उपाय हो सकता है कि अजैन मात्रको जैन-मदिरमे न आने दिया जाय, परन्तु जैन समाजका एक भी व्यक्ति यहाँ तक कि जैन मन्दिरमें हरिजनोंके प्रवेशका विरोधी भी इतना मूर्ख नही हो सकता है जो यह कहनेको तैयार हो कि जैन मन्दिरमें कोई भी अजैन प्रवेश पानेका अधिकारी नही है। इसलिए जैन समाजको चाहिए कि बिलकी मन्शाके मुताबिक वह अजैन हरिजनोको भी दूसरे अजैनोकी तरह जैन मन्दिरमे उदारतापूर्वक आनेकी इजाजत दे दे।

तीसरी दलीलके बारेमे मैं इतना ही कहूँगा कि यदि जनता स्वय अपने अन्दरसे राष्ट्रीयताके घातक तत्त्वोको निकाल दे तो निश्चय ही शासनको इसके लिए कानून बनानेकी आवश्यकता नही है। परन्तु दुर्भाग्यसे जनतामें अभी इतनी जागृत ही कहाँ पैदा हुई है ? इसलिए छोटी-छोटी बातोके लिये भी कानून बनानेमे बडी मजबूतीके साथ सरकारको अपनी अमूल्य शक्ति खर्च करनी पड रही है। रही धार्मिक बातोमें शासनके हस्तक्षेपकी बात, सो इसके बारेमे यही कहा जा सकता है कि जो तत्त्व राष्ट्रीयताका घातक है वह धर्मक्षेत्रकी मर्यादामे कभी भी नही आ सकता है।

कुछ लोग बिना सोचे समझे यह कहा करते है कि जैन भाइयोने देशको स्वतत्र करानेमे काग्रेसको अपने त्याग और बलिदान द्वारा जो सहयोग दिया है उसका पुरस्कार जैनियोको उनके धार्मिक अधिकारोका अपहरण करके दिया जा रहा है। मैं ऐसे लोगोंसे पूछता हूँ कि यदि जैन भाई देशकी स्वतत्रताके लिए काग्रेसके साथ लडाईमे सम्मिलित न होते तो क्या देशद्रोहका काम उन्हें शोभा दे सकता था ? और जैनोंके योग न देनेसे क्या देशको स्वतन्त्रता मिलना कठिन हो जाता ? इन दोनो प्रश्नोका उत्तर 'हाँ' में देना जैन समाजके किसी भी व्यक्तिके लिए कठिन ही नही, असभव है। मैं तो यह कहता हूँ कि उक्त प्रकारके शासनके बारेमें आक्षेप करना समस्त जैन समाजको कलकित करनेके सिवाय और कुछ नही है।

आशा है जैन बन्धु इसपर विचार कर समुचित मार्ग अपनायेंगे।

[२]

अव तक काग्रेसका और हिन्दू महासभाका भी यही दृष्टिकोण रहा है कि जैन हिन्दुओसे पृथक् नही हैं, इसलिए मध्यप्रान्तीय सरकारने प्रान्तीय असेम्बलीमे जब हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल विचारार्थ उपस्थित किया था तब उस बिलमे निर्दिष्ट 'हिन्दू' शब्दकी व्याख्यामे जैनियोका भी समावेश था, जिससे जैन मन्दिर भी उक्त बिलके दायरेमे आते थे, लेकिन जैन समाजको यह सह्य नही था, इसलिए उसकी ओरसे उक्त बिलमें निर्दिष्ट 'हिन्दू' शब्दकी व्याख्यामेसे जैन शब्दके निकलवानेके लिये काफी प्रयत्न किया गया था। यद्यपि जैन समाजके इस रवैयेका उस समय 'सन्मार्ग प्रचारिणी समिति'की ओरसे मैंने विरोध किया था। परन्तु जैन समाजको उसके अपने प्रयत्नमे सफलता मिली और हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलके दायरेमे जैन मन्दिरोको मध्यप्रातीय सरकारने पृथक् कर दिया। हो सकता है कि जैन समाजको अपनी इस तात्कालिक सफलतापर गर्व हो, परन्तु मुझे आज भी मध्यप्रान्तीय सरकारके दृष्टिकोणमे यकायक परिवर्तनपर आश्चर्य और जैन समाजकी राजनीतिक अदूरदर्शिता और सास्कृतिक अज्ञानतापर दु ख हो रहा है।

जैन समाजकी आम धारणा यह है कि हिन्दू संस्कृतिका अर्थ वैदिक संस्कृति होता है और चूकि जैन सस्कृति अपनी अनूठी मौलिक विशेषताओके कारण वैदिक सस्कृतिसे बिलकुल निराला स्थान रखती है। इसलिए उसकी (जैनसमाजकी) रायमे उसकी इच्छाके अनुसार सरकारको जैनियोका हिन्दुओसे पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। जबसे हमारे देशमे राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना हुई है तभीसे जैन समाजके नेता और समाचारपत्र इस बातका अविराम प्रयत्न करते आ रहे हैं कि जैन हिन्दुओसे पृथक् अपना स्वतन्त्र आस्तित्व रखते हैं।

जैन ससाजके सामने सबसे पहले विचारणीय बात यह है कि जैन सस्कृतिके अनुसार मानवजातिमें अछूत या हरिजन नामका पृथक् वर्ग कायम ही नही किया जा सकता है। जैनग्रन्थोमे जो शूद्रोके एक वर्गको अछूत बतलाया गया है वह जैन सस्कृतिके लिये वैदिक सस्कृतिकी ही देन समझना चाहिये। जिस प्रकार परिस्थितिवश किसी समय वैदिक संस्कृतिमें जैन सस्कृतिके सिद्धात प्रविष्ट कर लिये गये थे उसी प्रकार जैन सस्कृतिमे भी परिस्थितिवश एक समय वैदिक सस्कृतिके कतिपय सिद्धान्त प्रविष्ट कर लिए गये थे, उन सिद्धातोमे शूद्रोंके एक वर्गको अछूत मानना भी शामिल है। इसलिये हरिजनोका मदिर-प्रवेश स्वीकार कर लेनेसे वैदिक सस्कृतिका तो ह्रास कहा जा सकता है परन्तु इससे जैन सस्कृतिका तो कलक ही दूर होता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मानवसमष्टिमें छूत और अछूतका भेद भारतवर्षके लिये अभिशाप ही सिद्ध हुआ है। इसलिये सरकार इस भेदको शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहती है। ऐसी हालतमें जैन समाज अपने वर्तमान रवैयेपर कायम रह सकेगा, यह असंभव बात है। बल्कि आज इसका मतलब यह लिया जा रहा है कि नगण्य जैन समाज इस तरहसे एक बडी संख्यावाली जातिके साथ ऐसी दुश्मनी मोल लेना चाहती है जो उसके अस्तित्वके लिये खतरा सिद्ध हो सकती है। 'जैनमित्र' २९ जनवरी सन् ४८ के अकमे जो डॉ० हीरालालजी नागपुरका वक्तव्य प्रकट हुआ है उससे इसी बातकी पुष्टि होती है। अभी उस दिन सिवनीमें जैन समाजकी ओरसे दिये गये अभिनन्दनपत्रके उत्तरमे मध्यप्रान्त और बरारके मुख्यमन्त्री श्रीमान् पं० रविशकरजी शुक्लने कहा था कि—"मुसलमानोको जैनियोसे सबक सीखना चाहिये। जिस तरहसे इनने भारतको अपनी भूमि समझा है और जिस प्रकार मिलजुल कर रहते है उसी प्रकार मुसलमानोंको भी रहना चाहिये।" हम मुख्यमन्त्रीकी नियतपर हमला नही करना चाहते है, परन्तु इतना अवश्य निवेदन करेंगे कि महापुरुषोको अपने भाषणोमे नपे-तुले शब्दोका ही प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि कौन कह सकता है कि भविष्य-

में इस प्रकारके शब्दोंका दुरुपयोग नही किया जायगा और जैनियोंके साथ अभारतीयो जैसा व्यवहार नही किया जायगा। मैंने यहाँपर इसका निर्देश किया है कि अभी तक जो लोग जैनियोका हिन्दुओसे पृथक् अस्तित्व स्वीकार नही करते थे उन्हें भी जैन समाजके प्रचारने उसके हिन्दुओंसे पृथक् अस्तित्वको स्वीकार करनेके लिये मजबूर कर दिया है और ऐसी हालतमे जैन समाज अपने स्वत्वोकी भली प्रकार रक्षा कर लेगी, इसमे सदेह है। अब तक जैन नेता और जैन समाचारपत्र जैन सस्कृतिके खत्म होनेका भय दिखलाकर ही जैनियोको हिन्दुओसे पृथक् रहनेके लिये प्रेरित करते आये है। परन्तु उनके पास इस बातकी क्या गारटी है कि वे इस तरहसे जैन सस्कृतिकी रक्षा कर ही लेंगे, जब कि खतरा निर्विवाद सामने है।

इस समय जैनियोंको बहुत ही सावधानीके साथ लिखने, बोलने और कार्य करनेकी जरूरत है। जैनियोको सोचना चाहिये कि भगवान् महावीरके बाद जैन सस्कृतिका महत्तम उद्धारक यदि किसीको माना जा सकता है तो वह महात्मा गाधी हैं। इनकी क्रान्तिसे जितना बल जैन सस्कृतिको मिला है उतना दूसरी सस्कृतिको नही। परन्तु जैनियोमें जिनसेनाचार्य जैसे प्रभावक-नेताओका अभाव होनेसे जैनी महात्मा गाधीकी क्रान्तिका जैन सस्कृतिके लिये उचित उपयोग नही कर सके है। महात्मा गाधीके जीवनका अन्तिम जो लेख १ फरवरी सन् १९४८ के हरिजन सेवकमें प्रकाशित हुआ है उसमे उन्होने जैन मन्दिरोमें हरिजनोको जाने देनेकी बात कही है। उनकी दलील यह है कि यदि जैन मन्दिरोमे अजैन ब्राह्मण प्रवेश पा सकता है तो भगीको इसलिये रोकना अन्याय है कि वह अछूत है। यह बात दूसरी है कि जैन विनयका समुचित रीतिसे सरक्षण करनेके लिये जैन मन्दिरोंके व्यवस्थापको द्वारा नियम बनाये जा सकते है। प्रसन्नताकी बात है कि बीनाकी जैन समाजने सर्व-सम्मतिसे हरिजनोंके लिये अपने यहाँका जैन मन्दिर खोल देनेका निर्णय किया है। जबलपुरके कुछ प्रमुख जैन सज्जनोसे अभी कुछ दिन हुए बरुआसागरमें मेरी इस विषयपर चर्चा हुई थी वे हरिजनोको जैन मन्दिर खोल देनेके पक्षमे है। पूज्य पण्डित गणेशप्रसाद जी वर्णी जैन मन्दिर हरिजनोको खोल देनेमे कोई बुराई नही समझते है और वे चाहते है कि बहुत शीघ्र जैन मन्दिर हरिजनोंके लिये खोल दिये जाना चाहिये।

मेरा जैन समाजसे निवेदन है कि वह उदारतापूर्वक जैन मन्दिर हरिजनोके लिये खोल देनेका सर्वसम्मत फैसला करे। इसीमे जैन समाज और जैन सस्कृतिका फायदा है और बीनाकी जैन समाजने जैन विनयका सरक्षण करनेके लिये जैसी नियमावली बनाई है वैसी नियमावली बनाकर मन्दिरके दरवाजेपर टाक देना चाहिये। जैन मन्दिरोमें शृंगारका जो सामान प्रदर्शनके लिये लगा रहता है उसे अलग कर देना चाहिये और ऐसे साधन जुटा देना चाहिये, ताकि लोगोको मन्दिरोमे वीतरागताका अच्छा परिचय मिल सके।

ता० १२ फरवरीके 'जैन मित्र'मे 'विचित्रता' शीर्षकसे एक लेख श्री राजमल जैन बी० काम, 'राजेश' कलकत्ताका प्रकट हुआ है उस लेखसे उनका जैनत्वके प्रति श्रद्धानकी अपेक्षा दम्भ ही प्रकट होता है। मैं ऐसे लेख लिखनेवालोंसे प्रार्थना करूँगा कि हमलोग केवल भावुकताके ही शिकार न बने, आपके ऊपर जैन सस्कृतिके भविष्यकी जबाबदारी है। यदि हम इस तथ्यको न समझ सके और समयका उचित उपयोग न कर सके तो भावी पीढीके सामने हमलोग मूर्ख सिद्ध होगे। अन्तमे मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि किसी तरफसे जैन सस्कृतिको खत्म कर देनेकी ही साजिश की जाती है तो उसके विरुद्ध हमारा सर्वदा तैयार रहना अनुचित न होगा। मैं ऐसे किसी भी उचित प्रयत्नका स्वागत करूँगा और इसके लिये 'सन्मार्ग प्रचारिणी समिति' आगे करती हुई दिखाई देगी।

भारतीय संस्कृतिके सन्दर्भमें 'हिन्दू' शब्दका व्यापक अर्थ

उक्त विधेयकके सम्बन्धमे जैन समाजकी ओरसे हिन्दू धर्मसे जैन धर्मकी पृथक् सत्ताको लेकर जो आन्दोलन चल पडा है, वह आन्दोलन गलत दृष्टिकोणपर आधारित है, ऐसा मेरा ख्याल है।

"जैन हिन्दू नही है" या "वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) का ही दूसरा नाम हिन्दू धर्म है" ये दोनों मान्यता-में भ्रान्त है क्योकि ऐतिहासिक तथ्य हमे इस बातको माननेके लिये बाध्य करते है कि जिन जातियो और जिन धर्मोको जन्मभूमि भारतवर्ष है, वे मब जातियाँ और वे सब धर्म हिन्दू शब्दके वाच्य अर्थमें समा जाते है।

अत जैन समाजके लिये इस प्रकारका आन्दोलन करना उपयोगी नही हो सकता है कि "जैन हिन्दू नही है" या "जैनधर्म हिन्दू धर्म नही है।"

जैन समाजसे मै तो यही निवेदन करता हूँ कि वह इस प्रकारके गलत दृष्टिकोणको बदले और इस आधारपर आन्दोलन करे कि सार्वजनिक और सरकारी क्षेत्रोमें जो हिन्दू शब्दका सकुचित अर्थ प्रचलित है, वह बन्द हो जावे तथा सभी क्षेत्रोमे हिन्दू शब्द भारतीयताके ही अर्थमें प्रयुक्त होने लग जावे।

सन्मार्ग प्रचारिणी समितिके मत्रीकी हैसियतमें जो पत्र मैंने भारत सरकारके पास भेजा है, उसकी नकल समाजकी जानकारी और मार्ग दर्शनके लिये यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मान्यवर !

विषय—नियमका नाम अस्पृश्यता। अपर विधेयक।

क्रमाक—बिल नं० १४ बी सन् ५४ का।

विवादग्रस्त—धारा ३ की व्याख्या।

अस्पृश्यता अपराध विधेयकके पारित होने और भारतवर्षके समस्त धर्मावलम्बियोके साथ जैन-धर्मावलम्बियोपर भी उसे लागू करनेका मैं इसलिये स्वागत करूँगा कि यह विधेयक जैनधर्म और जैन संस्कृतिकी सैद्धान्तिक परम्पराके अनुरूप है।

इस पत्र द्वारा मैं आपका ध्यान केवल हिन्दू धर्मकी व्याख्यामे जो कमी रह गयी है, उसकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

ऐतिहासिक तथ्योपर दृष्टिपात करनेसे यह बात स्पष्ट रूपसे ज्ञात हो जाती है कि हिन्दू शब्दका प्रयोग भारतीयताके ही अर्थमे करना चाहिये परन्तु आजकल साधारणतया हिन्दू शब्दका प्रयोग वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) को मानने वाले वर्गके लिये किया जाने लगा है जो कि भ्रान्त है और विधेयककी धारा ३ में जो हिन्दू धर्मकी व्याख्या की गयी है, उससे भी न केवल उक्त भ्रान्त धारणाका निराकरण नही होता, प्रत्युत उसकी पुष्टि ही होती है।

अत निवेदन है कि धारा ३ मे हिन्दू धर्मकी व्याख्यामे निम्न प्रकार परिवर्तन कर दिया जावे।

१—विधेयकमे हिन्दू शब्दके स्थानपर भारतीय शब्दका प्रयोग कर दिया जावे।

यदि किसी कारणवश विधेयकमें हिन्दू शब्दका रखना अभीष्ट ही हो तो धारा ३ में "हिन्दू धर्मके विकास या रूप" के स्थानपर "समस्त हिन्दू धर्मों" ऐसा परिवर्तन कर दिया जावे।

२—व्याख्यामे सिख, बौद्ध, जैन आदि धर्मोके साथ वैदिक धर्मका भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया जावे।

ऐसा करनेसे जैनधर्म और बौद्धधर्मकी वैदिक धर्मकी अपेक्षा स्वतन्त्र सत्ता, जो वास्तविक तथ्योपर आधारित है—में कोई आँच नही आने पावेगी।

मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह उचित निवेदन स्वीकार कर लिया जावेगा और इस तरह जैन समाजमें विधेयकके प्रति जो विरोधकी लहर उठ खड़ी हुई है, वह या तो समाप्त हो जावेगी या उसका महत्त्व ही कुछ नही रह जायेगा।

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याकरणाचार्यके जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ पूर्व प्रकाशित सामग्री दी गयी है, उसके पूर्व प्रकाशित शीर्पक आदिका विवरण इसमे प्रकाशित शीर्पकोके साथ यहाँ दिया जाता है—

इस ग्रन्थमें प्रकाशित शीर्षक	अन्यत्र प्रकाशित शीर्षक आदि विवरण
धर्म और सिद्धान्त	
१ तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व देशना	तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व सम्बन्धी देशना, जैन सिद्धान्त भास्कर किरण–१,२ १९७४।
२. जैन-दर्शनमें आत्मतत्त्व	: जैन दर्शनमे आत्मतत्त्व, ब्र० प० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९५४।
३. निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग	निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्गका विशलेपण, श्री भँवरीलाल वाकलीवाल स्मारिका, १९६८।
४. निश्चय और व्यवहार धर्ममे साध्य-साधकभाव	निश्चय और व्यवहार धर्ममें साध्य-साधकभाव, श्री सुनहरीलाल अभिनन्दन-ग्रन्थ, १९८२।
५. निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थाख्यान	जैनागममे प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दोका अर्थाख्यान-मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्रीलालजी महाराज अभिनन्दन-ग्रंथ, १९६८।
६. व्यवहारकी अभूतार्थताका अभिप्राय	व्यवहारकी अभूतार्थताका अभिप्राय, दिव्यध्वनि वर्ष–१, अक्तूबर-नवम्बर १९६६।
७. संसारी जीवोकी अनन्तता	. जीवोकी अनन्तता (अप्रकाशित)
८. जैनदर्शनमे भव्य और अभव्य	भव्य और अभव्य (अप्रकाशित)
९. जीवदया एक परिशीलन	जीव दयाका विश्लेषण, आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, १९८७।
१० जैनागममे कर्मबन्ध	कर्मबन्धपर विचार (अप्रकाशित)
११ कर्मबन्धके कारण	आगममे कर्मबन्धके कारण, वीर-वाणी वर्प–४१, अक १२,१३ मार्च-अप्रैल, १९८८।
१२. गोत्र कर्मके विषयमें मेरा चिन्तन	गोत्र कर्मके विपयमें मेरी दृष्टि (अप्रकाशित)
१३. भुज्यमान आयुमे अपकर्षण और उत्कर्षण	भुज्यमान आयुमे अपकर्षण और उत्कर्षण, जैनदर्शन १६ सितम्बर १९३३।
१४ क्या असज्ञी जीवोमें मनका सद्भाव है ?	क्या असज्ञी जीवोके मनका सद्भाव मानना आवश्यक है, अनेकान्त वर्ष–१३, किरण–९, १९५५।
१५ मम्यग्दृष्टिका स्वभाव	सम्यग्दृष्टिका स्वभाव, दिव्यध्वनि अप्रैल, १९६८।
१६ पर्यायें क्रमबद्ध भी होती है और अक्रमबद्ध भी।	(अप्रकाशित)
१७ जयपुर खानियाँ तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षाके अन्तर्गत उपयोगी प्रश्नोत्तर १, २, ३, ४ की सामान्य समीक्षा	. जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा पुस्तकसे १९८२।
दर्शन और न्याय	
१ भारतीय दर्शनोका मूल आधार	; भारतीय दर्शनोका मूल आधार, वीर १९४५।

२. जैनदर्शनमे प्रमाण और नय	प्राक्-कथन, डॉ० कोठियाजी द्वारा संपादित न्यायदीपिकाका प्रकाशन, १९४५ ।
३. ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार	ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोका आधार, ज्ञानोदय, जून १९५१ ।
४ जैनदर्शनमें नयवाद	: जैनदर्शनमे नयवाद, गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ १९६७ ।
५. अनेकान्तवाद और स्याद्वाद	वीरशासनके मूलतत्त्व अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, अनेकान्त वर्ष–२ किरण–१, १९३८ ।
६. स्याद्वाद दर्शन और उसके उपयोगका अभाव	स्याद्वादका जैनधर्ममे स्थान व उसके क्रियात्मक उपयोगका अभाव, जैनदर्शन १९ सितम्बर १९३४ ।
७. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेपण	. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगका विश्लेपण–आचार्य शिवसागर स्मृतिग्रन्थ वी० नि० सं० २४९९ ।
८. जैनदर्शनमे दर्शनोपयोगका स्थान	जैनदर्शनमे दर्शनोपयोगका स्थान, ज्ञानोदय, अप्रैल १९५१ ।
९. जैनदर्शनमे वस्तुका स्वरूप	एक दार्शनिक विश्लेषण–जैनदर्शनकी मान्यतामें वस्तु अनन्त-धर्मात्मक भी है और अनेकान्तात्मक भी है, दिव्यध्वनि वर्ष–१ अंक ९, १९६६ ।
१०. जैनदर्शनमें सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य	जैनसस्कृतिकी सप्तत्त्व और षट्द्रव्य व्यवस्थापर प्रकाश, अनेकान्त वर्ष–८, किरण ४, ५, १९४६ ।
११. अर्थमें भूल और उसका समाधान	: अर्थमे भूल (अप्रकाशित)

साहित्य और इतिहास

१. वीराष्टकम् . समस्या–कान्ता-कटाक्षाक्षत' (क्षता) ।	वीराष्टकम् समस्या–कान्ताकटाक्षाक्षतः (क्षता') । दिगम्बर जैन, अंक १–२ ।
२ समयसारकी रचनामे आचार्य कुन्द-कुन्दकी दृष्टि	समयसारकी रचनामे आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि, महावीर जयन्ती स्मारिका १९८८ ।
३. तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व	. तत्त्वार्थसूत्रका महत्त्व, अनेकान्त वर्ष–१२ किरण–४ सितम्बर १९५३ ।
४. जैन व्याकरणकी विशेषताएँ	जैन व्याकरणमे इतर व्याकरणोसे विशेपता व उसका महत्त्व, जैनसिद्धान्त भास्कर, वर्ष–११ अक–४ वी० नि० सं० २४५७ ।
५. षट्खण्डागमके 'संजद' पद पर विमर्श	षटखण्डागमकी सत्प्ररूपणाका ९३वाँ सूत्र, सनातन जैन बुलन्दशहर, अक्तूबर १९४५ ।
६ सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता	अभिभाषण सिवनी विद्वत्परिषद अधिवेशन सन् १९६५ ।
७ जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान	अभिभाषण श्रावस्ती विद्वत्परिषद अधिवेशन ?
८. युगधर्म बननेका अधिकारी कौन ?	युगधर्म बननेका अधिकारी कौन, खण्डेलवालहितेच्छु युगधर्मांक वर्ष २६, अक १, २ ।
९. ऋषभदेवसे वर्तमान तक जैनधर्मकी स्थिति	जैन मान्यतामें धर्मका आदि समय और उसकी मर्यादा, प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ १९४६ ।

सस्कृति और समाज

१. हमारी द्रव्य पूजाका रहस्य	हमारी द्रव्य पूजाका रहस्य, जैनदर्शन, दिसम्बर १९३६।
२. साधुत्वमे नग्नताका महत्त्व	साधुत्वमे नग्नताका स्थान, अनेकान्त, अप्रैल १९५५।
३, जैनदृष्टिसे मनुष्योमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार	जैनदृष्टिसे मनुष्योमें उच्च-नीच व्यवस्थाका आधार, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ १९६५।
४. भगवान महावीरका समाज दर्शन	भगवान महावीरका अपरिग्रहवाद, वीर, ५ अप्रैल १९४७।
५. जैन मदिर और हरिजन	जैन मदिर और हरिजन, ज्ञानोदय नवम्बर १९४९। 'वीर' २८ फरवरी १९४८, वर्ष २३।
६. भारतीय सस्कृतिके सन्दर्भमें हिन्दू शब्दका व्यापक अर्थ	अस्पृश्यता अपराध विधेयकके सम्बन्धमें जैन समाजको सही दृष्टिकोण अपनानेकी आवश्यकता, जैनसन्देश, २४ फरवरी १९५५।

●

सम्पादक मंडल परिचय

प्रस्तुति–डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', दमोह

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य :

श्रद्धेय डॉ० कोठिया जी भारतीयदर्शन और जैन न्यायविद्याके प्रथम पक्तिके अग्रगण्य मनीषी है। वे सहृदयवाग्मी, कुशल सयोजक, सफल संचालक एवं उदारमना विद्वान् है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के रचयिता, सपादक तथा अनुवादक डॉ० कोठियाजीका जन्म जून १९११ ई० में मध्यप्रदेशके छतरपुर मण्डलके श्री रेशिंदीगिरमें हुआ। अनेक शिक्षा-संस्थाओमे शिक्षादान करते हुए डॉ० कोठिया काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमे १४ वर्षों तक प्राध्यापक और उसके बाद रीडरके पद पर कार्यरत रहे। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला तथा वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्टके मत्री एवं देशकी अनेक सस्थाओके संचालक डॉ० कोठियाका अनेक बार सम्मान हुआ है। सन् १९८२ ई० मे उन्हें एक भव्य अभिनन्दन-ग्रंथ' समर्पित करके अखिल भारतीय सम्मानसे अलंकृत किया गया है।

डॉ० कोठियाके संपादकत्वमे डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ तथा अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। आपकी प्रमुख कृतियाँ—(१) सपादित ग्रन्थ—न्याय-दीपिका, आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, स्याद्वाद-सिद्धि, प्रमाण-प्रमेय कलिका, अध्यात्म-कमलमार्तण्ड आदि तथा—(२) मौलिक-कृतियाँ—जैन-दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, जैन-तर्कशास्त्रमे अनुमान विचार आदि है।

प्रस्तुत 'अभिनन्दन ग्रन्थ'के अथसे इति तक यशस्वी सूत्रधार और 'प्रधानसपादक' आप ही है।

डॉ० (पं०) पन्नालालजी, साहित्याचार्य :

परम-प्रातिभ, लब्ध-प्रतिष्ठ-आचार्य, निष्णात वाग्मी, मनीषी कवि, कुशल सचालक और सफल सगठक डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्यका जन्म ५ मार्च १९११ ई० को हुआ। वे सस्कृत तथा हिन्दीके अनेक मौलिक ग्रन्थोंके प्रणेता तथा शताधिक ग्रन्थोके यशस्वी सम्पादक और अनुवादक है। मध्यप्रदेश शासन, महामहिम राष्ट्रपति महोदय तथा विभिन्न सामाजिक एव सास्कृतिक सस्थानो द्वारा सम्मानित साहित्याचार्यजीका कार्यक्षेत्र पूज्य वर्णीजी द्वारा संस्थापित श्री गणेश जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर रहा है। वे अखिल-भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के मत्री, अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष एव सरक्षकके पदो पर (क्रमश) अनवरत ४० वर्षसे सेवारत है। उनका अखिल-भारतीय अभिनन्दन ८६१ पृष्ठीय अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करके किया जा रहा है। वे प्राचीन वाङ्मय विशेषत जैन-साहित्य और दर्शनके मूर्धन्य मनीषी है।

पं० पन्नालालजी द्वारा प्रणीत 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' पर संस्कृतमे एक लघु शोध-प्रबन्ध भी सागर विश्वविद्यालयमे लिखा गया है।

प्रस्तुत 'अभिनन्दन ग्रन्थ' की सम्पादनाविधामे आपका प्रशस्य योगदान है।

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल :

राजस्थानके जैन ग्रन्थ भण्डारोमें सुरक्षित महनीय साहित्यको उजागर करके प्राचीन वाड्मय, विशेषत' जैन अनुसन्धानके अनेक संभावित पक्षोका उद्घाटन करनेवाले डॉ० कासलीवालका जन्म आठ अगस्त १९२० ई० को जयपुरके निकट हुआ। सस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके ५०० से अधिक ग्रन्थोका परिचय तथा प्रशस्ति प्रकाशित करके उन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आप इतिहासरत्न, विद्यावारिधि आदि उपाधियोंसे सम्मानित किये गये हैं। अनेक ग्रन्थोके प्रणेता महावीर ग्रन्थ अकादमीके माध्यमसे अलम्य-अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करनेवाले डॉ० कासलीवालजी अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थोका कुशलतापूर्वक सपादन कर चुके है।

विवेच्य 'अभिनन्दन ग्रन्थ' की सामग्री-संचयन, साक्षात्कार आयोजन और सम्पादन कार्यमें आपके सुदीर्घ अनुभव तथा सहज प्रकृतिका लाभ निरन्तर प्राप्त हुआ है।

पं० बलभद्रजी जैन, न्यायतीर्थ :

प्रभावक-पत्रकारिता, समीक्षा प्रधान पैनीदृष्टि, यशस्वी लेखक, कुशल सचालक प० बलभद्रजी अग्रगण्य विद्वान् है। प्राकृत भापाओ और उनके हार्दको जन-जन तक पहुँचानेके लिए कृतसकल्प प० बलभद्रजीका प्रत्युत्पन्नमतित्व सर्वत्र विश्रुत है। वे इस समय 'कुन्द-कुन्द-भारती' के यशस्वी निदेशक है। जैनधर्मकी तत्त्वमीमासाको उसके मौलिक रूपमे प्रस्तुत और विवेचक तथा भारतके दि० जैनतीर्थ आदि ग्रन्थोंके लेखक आदरणीय पं० बलभद्रजीने इस ग्रन्थके सम्पादनमें गहरी दिलचस्पी ली है।

श्री नीरजजी जैन, एम० ए० :

३१ अक्टूबर १९२६ ई० को जबलपुर जिलेके रीठी नगरमें जन्में श्री नीरजजी सम्प्रति सतना निवासी है। वे हिन्दी, उर्दू, सस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजीके मनीषी विद्वान् है। साहित्य जगत्में उनका प्रवेश फरवरी १९४४ ई० से हुआ और अनेक पत्र-पत्रिकाओमे आपका लेखन गतिशील रहा। आपकी प्रकाशित पुस्तकोमे—अहिंसाके अग्रदूत, वर्णी-वन्दना, कुण्डलपुर, तुलादान, आजादीकी दुलहन, गोमटेश-गाथा, सोनगढ-समीक्षा, श्रवणबेलगोला आदि मुख्य है। आपको अनेक रचनाएँ अप्रकाशित भी है। भारतीय इतिहास, कला और पुरातत्त्वके क्षेत्रमें कुशल लेखक श्री नीरजजी प्रसादगुण-पूर्ण कवि भी है।

श्री नीरजजी साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक गतिविधियोंके सम्पादनमे निरन्तर सक्रिय मनस्वी विद्वान् है। वे जैनागमके अध्येता, प्रभावक वक्ता, प्रसाद गुण पूर्ण कवि और पुरातत्त्ववेत्ता है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादनमें श्री नीरजजीके दिशा निर्देश उपयोगी हुए है।

डॉ० राजारामजी जैन :

सम्प्रति प्राकृत भाषाओके अध्ययन-अनुशीलनके क्षेत्रमें (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यकी प्रवृत्तियोको गति-प्रदाता डॉ० राजारामजीका जन्म सागर जिलेके मालथौन ग्राममे फरवरी १९२९ ई० को हुआ था। उनका शिक्षण पपौराजी तथा वाराणसीके जैन विद्यालयोके अतिरिक्त बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें भी हुआ।

डॉ० जैनने (स्व०) डॉ० हीरालालजी जैनके निर्देशनमें शोध कार्य किया। सम्प्रति वे आराके एच० डी० जैन महाविद्यालयमे संस्कृत-प्राकृत विभागाध्यक्ष हैं। अपभ्रंश साहित्यके प्रसिद्ध कवि 'रइधू' के साहित्यका आपने विशेष अध्ययन किया है। वड्ढमाणचरिउ, महावीरचरिउ आदि आपकी प्रसिद्ध संपादित-साहित्यिक कृतियाँ हैं। सामाजिक और साहित्यिक जीवनमे आप निरन्तर सक्रिय है। गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसीके आप मंत्री है।

डॉ० राजारामजी इस अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादक मण्डलके वरिष्ठ सदस्य हैं।

डॉ० भागचन्द्रजी जैन 'भागेन्दु' :

लेखक—अनिलकुमार जैन अनुसन्धित्सु

जबलपुर जिलेके रीठी नगरमें जन्में डॉ० भागचन्द्रजी 'भागेन्दु' जैन समाजके उन मनीषियोंमेसे है जिन्होने अपने जीवनको सेवामय बना रखा है। प्राचीन वाङ्मय, भाषाशास्त्र, जैन-दर्शन-संस्कृति और कला-के क्षेत्रमे उनकी विशिष्ट सेवाएँ है। डॉ० भागेन्दुजीका अध्ययन सागर (म० प्र०) के श्रीगणेश जैन महा-विद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालयमे हुआ।

जैन-विद्याओ पर अनुसन्धान-निर्देशन हेतु विख्यात डॉ० 'भागेन्दु' जी सम्प्रति सागर विश्वविद्यालय-से सम्बद्ध शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय दमोहके संस्कृत-विभागके अध्यक्ष है। आपके निर्देशनमे पाँच शोधार्थियोको जैन विषयो पर पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त हो चुकी है। सात अन्य शोधार्थी सम्प्रति शोध-निरत है। डॉ० भागेन्दुजी अखिल भारतीय स्तरकी अनेक संस्थाओ, शोध-संस्थानो और विश्वविद्यालयोसे निकटत: सम्बद्ध है। आप कुशल लेखक, यशस्वी संपादक, सफल प्राध्यापक और अच्छे वक्ता हैं। आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ—देवगढ़की जैन कलाका सांस्कृतिक अध्ययन, भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, जैनधर्म-का व्यावहारिक पक्ष : अनेकान्तवाद, अतीतके वातायनसे आदि हैं। आपने अनेक कृतियोंका सम्पादन भी किया है।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रधान-सम्पादक और संयोजक डॉ० भागेन्दु-जी हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादनमें आपकी भूमिका नितरां प्रशंसनीय है।

डॉ० सुदर्शनलालजी जैन :

डॉ० सुदर्शनलालजीका जन्म अप्रैल १९४४ ई० मे हुआ। आपकी शिक्षा कटनी, सागर और बनारसके जैन विद्यालयोमे हुई। आपने संस्कृत और प्राकृत साहित्य तथा जैन-बौद्ध दर्शनका गहन अध्ययन किया और आचार्य एवं पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपका शोध-प्रबन्ध 'उत्तराध्ययनसूत्रका समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर है और प्रकाशित हो चुका है। आपके निर्देशनमें अनेक शोध-छात्र शोध-कर्ममें निरत हैं। सामाजिक गतिविधियोमें आपकी प्रशस्त अभिरुचि है।

डॉ० सुदर्शनलालजी सम्प्रति बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें संस्कृत विभागमें रीडर हैं।

इस अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादनमें आपका महनीय योगदान रहा है।

डॉ० फूलचन्द्रजी जैन 'प्रेमी' :

सागर (म० प्र०) जिलेके दलपतपुर ग्राममें जन्मे डॉ० 'प्रेमी' जी कुशल-वक्ता, यशस्वी-लेखक, सामाजिक चेतनाके धनी युवा विद्वान् हैं। इन्होंने कटनी एवं बनारसके जैन विद्यालयोंमें शिक्षा प्राप्त की। जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य एवं पी-एच० डी० उपाधिधारी डॉ० प्रेमी, जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान) में चार वर्ष प्राध्यापक रह चुके हैं। वे संस्कृत-प्राकृत भाषाओं तथा जैन-दर्शनके गंभीर अध्येता मनीषी हैं। इनका शोध विषय मूलाचारका समीक्षात्मक अध्ययन है। वह प्रकाशित है तथा इस पर इन्हें प्रशस्ति-पत्र एवं पाँच हजार रुपयेके साथ १९८८ का महावीर पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

वे सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैन-दर्शन-विभागाध्यक्ष हैं।

सामाजिक, साहित्यिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियोंमें सोत्साह निरत डॉ० प्रेमीजी इस अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलके मान्य सदस्य हैं।

डॉ० शीतलचन्द्रजी जैन :

डॉ० शीतलचन्द्रजी उ० प्र० के ललितपुर जिलेमें जन्में निरन्तर सक्रिय युवा विद्वान् हैं। बनारसमें अध्ययन-अनुशीलनके उपरान्त उन्होंने 'विद्यानन्दस्य दर्शनम् . एकाध्ययनम्'—विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की और श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय वाराणसीमें जैन-दर्शन विभागके अध्यक्ष पद पर सेवारत रहे। डॉ० जैन सम्प्रति श्री दि० जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुरके प्राचार्य हैं। वे यशस्वी लेखक, ओजस्वी वक्ता, कुशल संचालक तथा सफल कार्यकर्ता हैं। जैन विद्याओं पर शोध-खोजकी दिशामें आप निरन्तर सक्रिय हैं तथा आपके निर्देशनमें अनेक शोध-कर्ताओंने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थकी रूपरेखाको क्रियान्वित करने तथा संयोजित करनेमें डॉ० शीतलचन्द्रजीका सक्रिय योगदान रहा है।

श्री बाबूलालजी जैन फागुल्ल :

संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंके अधुनातन कलापूर्ण मुद्रण और प्रथम पंक्तिके जैन मनीषियोंके अभिनन्दन-ग्रन्थोंके लब्धप्रतिष्ठ मुद्रक श्री बाबूलालजी फागुल्लका जन्म सन् १९२६ ई० में बुन्देलखण्डके ललितपुर जिले-के मडावरा ग्राममें हुआ। श्रीवीर विद्यालय पपौरा और श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी आपके प्रशि-क्षण केन्द्र थे। मुद्रणके क्षेत्रमें श्री फागुल्लजीका प्रवेश भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापकके रूपमें हुआ। जहाँसे उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। सम्प्रति वे महावीर प्रेस, भेलूपुर वाराणसीके स्वत्वाधिकारी हैं। अपने मिलनसार व्यक्तित्व और कार्यक्षमताके आधार पर श्री फागुल्लजी सर्वत्र यश अर्जित कर सके हैं। श्रेष्ठ ग्रन्थोंके मुद्रण कार्यमें आप अनेक बार पुरस्कृत हो चुके हैं।

सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रबन्धनमें श्री फागुल्लजीकी भूमिका, क्षमता और दायित्वबोध निश्चय प्रशस्य है।